यूरी स्क्रीप्किन, मिखाईल मीलिछ

चार्म और रतिज रोग

Ю. К. Скрипкин, М. В. Милич

КОЖНЫЕ И ВЕНЕРИЧЕСКИЕ БОЛЕЗНИ

Издательство «Медицина» Москва

यूरी स्क्रीप्किन, मिखाईल मीलिछ

चार्म और रतिज रोग

मीर प्रकाशन, मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-३०२००१

Yu. K. Skripkin and M. V. Milich

SKIN AND VENEREAL DISEASES

На языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

ISBN 5-03-000452-1

© Издательство «Медицина», 1979
© हिन्दी अनुवाद, देवेंद्र प्र. वर्मा, 1989

विषय-सूची

प्राक्कथन 14

भाग 1. चर्मरोग

चर्मलोचन के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा . . 15
रूसी और सोवियत चर्मलोचनी स्कूल 18
सोवियत चर्मलोचनी स्कूल . . 24

सामान्य चर्मलोचन

चर्म की अनाटोमी और ऊतलोचन 26
अधिचर्म 28
सुचर्म या वास्तविक चर्म 30
चर्म का गहरा भाग (अधोचार्म वसीय ऊतक), अवचर्म . 31
चर्म में रक्तापूर्त्ति . 32
चर्म का लसीका-तंत्र 33
चर्म का नार्वग्राहक तंत्र 33
चर्म का ग्रंथिल उपकरण. वपाल और स्वेदक ग्रंथियां 35
लोम और लोमकूप 37
नख 39
बाल-चर्म की मुख्य अनाटोमिक और ऊतलोचनी विशेषताएं . 39

चर्म का शरीरलोचन 43
चर्म के रक्षी कार्य . . 43
ज्ञानेंद्रिय के रूप में चर्म . . . 44
चर्म द्वारा ताप-नियमन 46
चर्म के स्रावी और विसर्जक कार्य 46
चर्म द्वारा श्वसन और अवशोषण 48
द्रव्य-विनिमय में चर्म की भूमिका 48
चर्म और केंद्रिय नर्वतंत्र की व्यतिक्रिया 50
बच्चों में चर्म के कार्यों की मुख्य विशेषताएं . . . 51

चर्म में ऊतरूपलोचनी परिवर्तन 52

चर्मरोगों का हेतुलोचन और गदजनन (प्रमुख बातें) 55

चर्मरोगों का सामान्य लक्षणशास्त्र 59
आत्मगत लक्षण 59
वस्तुगत लक्षण 60
प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां 60
अंतर्स्यंदी प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां 61
रिसालु प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां 65
द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां 68

चर्मरोगी का परीक्षण 72
शरीर एवं अंगों की सामान्य अवस्था का वर्णन . . 74
चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों की क्षतियों का चित्रण . . . 76
विशेष चर्मलोचनी तथा प्रयोगशालिक परीक्षण-विधियां 77
रोगी बच्चे के परीक्षण की विशेषताएं 80
चर्मलोचक और रतिजलोचक के चिकित्सानुशीलन में अन्य आचारशास्त्र के सिद्धांत 82

बच्चों और बड़ों की चर्म-चिकित्सा के मूल सिद्धांत 95
सामान्य चिकित्सा 96
बाह्य (स्थलिक) चिकित्सा 103
चर्मलोचन में स्थलिक दवाओं की मुख्य प्रयोग-रीतियां 104
चिरकालिक परोर्जी चर्मक्लेशों से ग्रस्त रोगियों का संयम और उपचार (मूल सिद्धांत) 109
बच्चों व बड़ों का चर्म-हाइजिन 113
बच्चों व बड़ों की चिकित्सा के लिये भौतिकीय विधियां 115
वैद्युत थेरापी 115
प्राकृतिक घटकों से चिकित्सा 119
वायु-स्नान और सौर चिकित्सा 119
समुद्र-स्नान 120
गाह-चिकित्सा 120
पंक-चिकित्सा 121
नाफ्थालान तेल से चिकित्सा 121
पैराफिन एवं ओजोसेरीत से चिकित्सा 122

विशेष चर्मलोचन

चर्मपूयता 123
सामान्य सूचनाएं 123
स्ताफिलोकोकी चर्मपूयता 125
आस्यक मशिकाशोथ, या स्ताफिलोकोकी इंपेतिगो (स्ताफिलोजनित इंपेतिगो) . 126

गहरा मशिकाशोथ 127
सिकोस (सामान्य, सरल, स्ताफिलोजनित) 127
फुंसी . फ़ुंसीक्लेश 129
कोलफुंसी 133
स्वेदग्रंथिशोथ 135
वस्तिक पीपिका 137
पयोपा शिशु में बहुलित विद्रधि 137
नवजात शिशुओं में जानपदिक बुदबुदिया 139
रिट्टर का रोग (नवजात शिशु में अपशल्की चर्मशोथ) 141
नवजात में बुल्लेदार इंपेतिगो 143
स्त्रेप्तोकोकी चर्मपूयताएं (स्त्रेप्तोचर्मताएं) 144
स्त्रेप्तोकोकी (या स्त्रेप्तोजनित) इंपेतिगो 144
बुल्लेदार इंपेतिगो 145
पेर्लेख (कोणिक पैठन या कोणिक मुखशोथ) . . 145
सरल बुसन 145
नख-पुटकों का इंपेतिगो (वलनिका) . . 145
घर्षज स्त्रेप्तोचर्मता 146
अपरदनोत्तर सीफिलवत्ता या पिटकीय सीफिलवत्ता इंपेतिगो 146
सामान्य एक्थीमा 147
बेधक एक्थीमा 148
चिरकालिक सतही विसर्पि [illegible]चर्मता . . 149
मिश्रित स्त्रेप्तो-स्ताफिलोकोकी चर्मपूयताएं 150
सामान्य इंपेतिगो, या स्त्रेप्तो[illegible]फिलोजनित इंपेतिगो, या छुतहा इंपेतिगो . . 150
चिरकालिक व्रण्य और व्रण-पैनू चर्मपूयता 151
कठव्रणरूपी चर्मपूयता . . . 154
पूयपरोर्जस (रक्तपूयस) 155
चर्मपूयता-निरोध संगठित करने के सिद्धांत . 155

कवकताएं, आदमी के कवकज रोग. . . 157
सामान्य सूचनाएं . 157
शृंगीकवकताएं 159
बहुरंगी बुसन 159
[illegible] 161
चर्मकवकताएं . 162
अधिचर्मतृणत्व 162
बड़े चर्मपुटकों का अधिचर्मतृणत्व . . 162
[illegible]ड़ का अधिचर्मतृणत्व 164
[illegible] कवकता या लाल तृणत्व 168

पैर (गोड़) की लाल कवकता 169
हाथ-पैर की लाल कवकता 170
नखों की लाल कवकता 170
सार्वदैहिक लाल कवकता 171
अधिचर्मतृणत्व और लाल कवकता के निरोध तथा नियंत्रण की युक्तियां 174
लोमतृणत्व 176
सतही लोमतृणत्व 176
चिरकालिक लोमतृणत्व 177
अंतर्स्यंदित पूयिक या जंतुप्रेमी लोमतृणत्व . 180
सूक्ष्मस्पोरता 182
मानुषप्रेमी मि. फेरूजीनेउम द्वारा उत्पन्न मिक्रोस्पोरता का तात्विक चित्र और प्रवाह . 182
जंतुमानुषप्रेमी मि. लानोजुम से उत्पन्न सूक्ष्मस्पोरता का तात्विक चित्र और प्रवाह . . 183
मोमिता 184
चर्मतृणम (चर्मकवकस) 186
लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता का सूक्ष्मदर्शी निदान 186
लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता की चिकित्सा 189
लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता पर नियंत्रण का संगठन . . निरोध . . 192
कांदीदक्लेश 193
सतही कांदीदक्लेश. चार्म कांदीदक्लेश . . . 195
श्लेष्मल झिल्लियों का कांदीदक्लेश 196
नख-पुटकों और नखों का कांदीदक्लेश 197
बच्चों में चिरकालिक सार्वदैहिक (कणार्बिक) कांदीदक्लेश . . . 198
अंतरंगी (तंत्रीय) कांदीदक्लेश 199
कांदीदक्लेश का प्रयोगशालीय निदान 200
कांदीदक्लेश की चिकित्सा . . . 201
कांदीदक्लेश का निरोध . . . 202
गहरी कवकताएं 203
अंशुकवकता 203
गहरी अंकुरकवकता 205
वर्णांकुरकवकता (वर्णकवकता) . . 207

जंतुक चर्मरोग (जंतुक परजीवियों से उत्पन्न चर्मरोग) . . 208
खाज . . . 208
युकार्त्ति 214

कुष्ठ 216
कुष्ठ का वर्गीकरण 217
कुष्ठार्बिक प्रकार का कुष्ठ 217

गंठिवत प्रकार का कुष्ठ . . . 222
अनिश्चित प्रकार का कुष्ठ 223

चर्म-यक्ष्मा (चर्म-गंठिक्लेश) . 226
सामान्य सूचनाएं 226
स्थानाबद्ध रूप (अधिकेंद्रिय चर्म-यक्ष्मा) . . 228
सामान्य वृका, या वृकीय चार्म गंठिक्लेश . 228
कंठमाल-चर्मता, या संगलक चर्म-यक्ष्मा . 232
मसेदार चर्म-यक्ष्मा 234
चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों का व्रणित यक्ष्मा . 236
बाजिन का रोग (कठललामी) . 237
प्रकीर्णित रूप 238
शैवाकवत गंठिक्लेश, या कंठमालीय शैवाक . . 238
पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा . . 239
बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा . 240
चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण का संगठन . . 241

चार्म लेइशमैनता या बोरोव्स्की-रोग . 241

वीरुसज चर्मक्लेश . . 244
सरल विसर्प . . 245
कटिबंधक विसर्प . 246
कीलक 248
नुकीला (या आर्द्र) कंडार्ब . . 250
छुतहा मोलुस्क . 250
विसर्पी दिनाइ . . . 251
टीकाक्लेश (वाक्सीनता) . . 252

भग का तीव्र व्रण . 253

जीनचर्मक्लेश,' या विरासती चर्मरोग . 254
सामान्य सूचनाएं . . 254
विरासती शृंगीक्लेश 255
बुल्लेदार अधिचर्मलय ग्रुप (विरासती बुल्लेदार अधिचर्मलय) . . 260

[illegible] ऊतकों के रोग (कोलाजनक्लेश) . 262
[illegible]क्लेशिक वृका (क्षतांकी ललामक्लेश) . 262
[illegible]क्षतांकी ललामक्लेश . . . 264
[illegible] या सार्वदैहिक, ललामक्लेशिक वृका . 266
[illegible] ललामक्लेशिक वृका . . 267

कठचर्मता 270
परिसीमित कठचर्मता 271
विसरित (प्रगामी सार्वदैहिक) या तंत्रिक कठचर्मता 273
चर्मपेशीशोथ 275
कठर्मता और कठशोफ 276

चर्मशोथ 277
सरल संसर्गज या कृत्रिम चर्मशोथ 278
परोर्जिक संसर्गज चर्मशोथ 284
चर्मगरण (चर्मगरलता) 285

दिनाइ (दद्रु) 286
सामान्य सूचनाएं 287
वास्तविक दिनाइ 288
जीवाणुज दिनाइ 290
वपास्रावी दिनाइ 292
पयोपा दद्रु 292
दिनाइ की चिकित्सा 294

वृत्तिज चर्मरोग 298
सामान्य सूचनाएं 298
रसायनज वृत्तिजनित चर्मरोग 299
भौतिकीय घटकों से उत्पन्न वृत्तिज रोग 301
पैठनजनित वृत्तिज चर्मरोग 302
चर्मशोणस या शूकर-चर्मशोण (रोजेनबाख का रोग) 302
ग्वाल-पर्विकाएं 303
वृत्तिज कवकताएं 303
वृत्तिज चर्मरोगों के निदान (मूल सिद्धांत) 304
वृत्तिज रोगों के निरोध (मूल सिद्धांत) 305

नार्वचर्मक्लेश 306
चर्म-खुजली 307
नार्वचर्मशोथ 309
कंडु 314
पित्ती 317

अधरशोथ 320

खर्जूक्लेश 322

लाल चौरस शेवाक 333

बुल्लेदार चर्मक्लेश 336
वास्तविक बुदबुदिया . 336
सामान्य बुदबुदिया . . 337
पनपुज बुदबुदिया . 339
पर्णिक बुदबुदिया 340
वपास्रावी या ललामक्लेशिक बुदबुदिया (सेनेआर-ऊशेर का सिंड्रोम) . . 341
ड्यूरिंग का रोग (बिसर्परूपी चर्मशोथ) 345

पैठनजनित और अपैठनजनित ललामी . . 348
बहुरूप रिसालु ललामी (हेब्रा-रोग) . 348
गुलाबी बुसन (जिबेर्ट-रोग) . 351

कुंभिशोथ (चर्मकुंभियों की गदलोचनी अवस्था) . 352
सामान्य सूचनाएं . . 352
कुंभिरुग्नता 353

चार्म जालिकाशोथ 358
प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश 359
गोट्रोन-निरूपित जालिका-क्रव्यार्बक्लेश 359
कापोजी-निरूपित कुंभी-जालिकाक्लेश या बहुसंख्य रक्तस्रावी क्रव्यार्ब . . . 360
खुमीवत कवकताएं 361

क्रव्यसता . . . 363

वलयाकार कणार्ब 365

वपास्राव 365
तैल (गीला) वपास्राव 366
शुष्क (सूखा) वपास्राव 366
बुसनवत या वपास्रावी खल्वाटता . . 367
सामान्य मुंहासा . . . 368
लाल मुंहासा 369

अपशल्की चर्मारुणता 371

बालों के रोग 372
सेल्सस निरूपित खोंतेदार खल्वाटता . 372

चर्म-वर्णकता की गड़बड़ियां . . . 374
श्वित्र 375

दुर्दम चर्म-अर्बुद 376
आधारार्ब, या आधार-कोशिकीय कर्काब, या आधार-कोशिकीय उपकलार्ब . . 376

कंटकोशिकीय उपकलार्ब 378
क्रव्यार्ब . . . 379

गर्म देशों के कुछ चर्मरोग . . 379

भाग II. रतिज रोग

सीफिलिस (उपदंश, आतशक, फिरंग-रोग) . 382
संक्षिप्त इतिहास 382
सोवियत संघ में सीफिलोलोचन का विकास . 386
सीफिलिस का हेतुलोचन 388
त्रोपोनेमा पालीडुम की प्रयोगशालाई पहचान . 391
सीफिलिस के पैठन की परिस्थितियां और मार्ग . 392
प्रायोगिक सीफिलिस 393
सीफिलिस का सामान्य प्रवाह . . . 394
सीफिलिस में इमूनता. अधिपैठन. पुनर्पैठन . 397
सीफिलिस का वर्गीकरण 399
प्राथमिक सीफिलिस (सीफिलिस का प्रारंभिक काल . 400
कठव्रण या प्राथमिक सीफिलार्ब . 401
अविशिष्ट कठव्रण . 402
कठव्रण की क्लिष्टताएं . 403
क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ 404
द्वितीयक सीफिलिस (सीफिलिस का द्वितीयक काल या चरण) . 407
चित्तीदार सीफिलिड या सीफिलिसी गुलाबिका . 410
पिटकीय सीफिलिड . 411
पीपिकीय सीफिलिड . . . 413
श्लेष्मल झिल्लियों का द्वितीयक सीफिलिड . 415
सीफिलिसी खल्वाटता 415
सीफिलिसी चर्मश्विति या वर्णकीय सीफिलिड 416
आंतर अंगों, नर्वतंत्र और गतिप्रेरक (मोटर) उपकरणों की आक्रांति . . . 417
तृतीयक सीफिलिस (सीफिलिस का तृतीय चरण) . 418
गंठिकीय सीफिलिड 419
सीफिलिसी रालार्ब या रालार्बिक सीफिलिस . 420
गुप्त (अव्यक्त) सीफिलिस 423
सीफिलिस में अस्थियों तथा संधियों की आक्रांति . 425
आंतर अंगों का सीफिलिस . . . 426
नर्वतंत्र का सीफिलिस . 428
जन्मजात सीफिलिस . . . 429
परवर्ती जन्मजात सीफिलिस 429

सामान्य सूचनाएं. गदजनन 429
जन्मजात सीफिलिस में जेर की आक्रांति . . . 431
भ्रूण का सीफिलिस 432
पयोपा बच्चों का जन्मजात सीफिलिस . 433
आरंभिक (पूर्व) बाल्यकाल का सीफिलिस . 437
परवर्ती जन्मजात सीफिलिस 438
जन्मजात सीफिलिस का निरोध 441
सीफिलिस में सीरमलोचनी (तक्रलोचनी) प्रतिक्रिया . 442
क्लासिकल तक्रलोचनी प्रतिक्रिया 442
ट्रे. पालीडुम का निश्चलकरण-परीक्षण (TPI) . 442
इमूनोसंदीप्ति परीक्षण (IFI) 444
सीफिलिस के विभिन्न रूपों में तक्रलोचनी परीक्षण . . 445
प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव का परीक्षण 447
सीफिलिसी थेरापी के सिद्धांत और रीतियां 448
स्वस्थ होने के निकष और पंजी से पूर्णतया स्वस्थ रोगों के नाम काटने के लिये सुसंकेत 453

मृदुव्रण . . 454

सूजाक (गनोरिया) 455
सामान्य सूचनाएं . 455
पुरुषों में सूजाक . . 458
लड़कियों में सूजाक 463
गनोरिक गदाशोथ और ग्रसनीशोथ . . . 463
प्रकीर्णित गनोरिक पैठन 464
गनोरिया का निदान 465

जननमूत्र-अंगों की ट्रीखोमोनिक आक्रांति . 467

पुरुषों में अगनोरिक (अविशिष्ट) मूत्रनलीशोथ . 470

लिंग-चर्म के रोग . . . 471

सोवियत संघ में चार्म-रतिजलोचनी जनसेवा का संगठन . 472

परिशिष्ट 476
विरल चर्मक्लेश 476
प्राक्कैंसरिक चर्मरोग 483

अनुवादकीय: आयुर में हिंदी शब्द; विदेशज शब्दों का उच्चारण 486

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली. अनुक्रमणिका 485

प्राक्कथन

बच्चों तथा बड़ों में चर्म तथा रतिज (venereal) रोगों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं। एक ही चर्म रोग की तल्पिक (clinical) गति बच्चे और बड़े में भिन्न होती है, क्योंकि उनमें शरीर की प्रतिकारिता (reactivity) भिन्न होती है, उनमें अंतस्त्रावी स्तर (endocrine status) तथा केंद्रीय नर्वतंत्र (nervous system) की अवस्थाएं भिन्न होती हैं; इसके अतिरिक्त बच्चे का शरीर तेजी से बढ़ने वाला होता है। अनेक अन्य बातें भी हैं, जिनके कारण उनमें समान प्रकार के रोग अलग-अलग विशेषताओं के साथ प्रकट होते हैं। इतना ही नहीं, कई चर्मक्लेश (dermatoses) सिर्फ बच्चों में होते हैं और कई सिर्फ बड़ों में।

उदाहरणार्थ, व्यावसायिक (व्यवसायजनित) चर्मरोग सिर्फ बड़ों में होते हैं, जबकि जनमारिक स्फोट, मिथ्या फुंसीक्लेश और अपशल्की चर्मशोथ सिर्फ नवजात शिशुओं में होते हैं; आरंभिक जन्मजात सीफिलिस चार वर्ष की उम्र में प्रकट होता है, जबकि विलंबित जन्मजात सीफिलिस अधिकांशतः 7 वर्ष से 16-18 वर्ष तक प्रकट होता है। अर्जित (acquired) सीफिलिस की विशेषताएं बच्चों में अलग होती हैं।

लेकिन अनेक चर्मरोग ऐसे भी हैं, जिनकी तल्पिक गति बच्चे और बड़े में समान होती है, या बहुत कम भिन्न होती है। इसीलिये इस एक ही पुस्तक में सामान्य थेरापी तथा बालचिकित्सा दोनों ही के छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया है (पहले उनके लिये अलग-अलग पुस्तकें लिखी जाती थीं)। लेखक-द्वय यह भी आशा करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक चर्मरतिजलोचन (dermato-venereology) के क्षेत्र में कार्यरत डाक्टरों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत पुस्तक पहली बार (रूसी में) मेदीत्सीना प्रकाशन द्वारा 1979 में प्रकाशित हुई थी; उस समय इसकी 75000 प्रतियां बहुत जल्द बिक गयी थीं।

अंग्रेजी अनुवाद (1981) के लिये लेखकों ने इसे संशोधित तथा संवर्धित किया था; प्रस्तुत हिंदी संस्करण को भी अद्यतन बनाने के लिये उन्होंने पूरा प्रयास किया है।

शीर्षक 'सीफिलिस' के अंतर्गत कुछ अनुच्छेद तथा चंद अन्य अध्याय मिखाईल मीलिछ द्वारा लिखे गये हैं (जैसा कि विषय-सूची तथा पाद-टिप्पणियों में इंगित है); वे केंद्रीय स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण संस्थान में सहायक प्रोफेसर हैं। कुष्ठ से संबंधित अध्याय गा. शारापावा, डी. एस-सी. (आयुर) के साथ मिल कर लिखा गया है। सोवियत जनता के लिये चर्मरतिजलोचनी सेवा के संघठन से संबंधित अध्याय प्रोफेसर नि. तुरानोव ने लिखा है।

भाग I

चर्मरोग

चर्मलोचन के विकास की एक ऐतिहासिक रूपरेखा

चर्मलोचन (dermatology) आयुर की एक शाखा है, जिसमें चर्मरोगों और उनकी चिकित्सा का अध्ययन होता है ('लोचन' का अर्थ है दर्शन, ईक्षण, निरीक्षण, अतः अध्ययन भी)। इसकी जड़ें अति प्राचीन काल में भी देखी जा सकती हैं। स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाले चर्मरोगों की ओर लोगों का ध्यान बहुत पुराने समय से आकर्षित होता रहा है। इन रोगों के वर्णन विभिन्न देशों के पुराने से पुराने लिखित साहित्य में मिल सकते हैं। यथा, 3000-2000 वर्ष ईसा पूर्व के चीनी आयुर-साहित्य में कुष्ठ, मोमिता (मोमी चर्म), खाज, मीनत्व (मीनचर्मता), निर्वर्णकता, दिनाइ, खल्वाटता, फुंसीक्लेश, कोलफुंसी, त्वचारुणता और अम्हौरी जैसे रोगों का कमोबेश रूप से सही वर्णन किया गया है। प्राचीन मिस्र की पांडुलिपियों में (3000-1000 वर्ष ई. पू.) दिनाइ, कुष्ठ, खाज, कोलफुंसी, कीलक, ठेला आदि रोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सुश्रुत संहिता (800-400 वर्ष ई. पू.) के अनुसार कुष्ठ, खल्वाटता, ठेला और बिवाई (पादक्षति) भारत में बहुत पुराने जमाने से ज्ञात हैं; उसमें खुजली की 14 दवाएं और पित्ती के 40 से अधिक उपाय वर्णित हैं। ईसा से बहुत पूर्व मूसा रचित ग्रंथों में मोमिता, कुष्ठ तथा अनेक अन्य चर्मरोगों के वर्णन मिलते हैं। बाद में चर्मलोचन विभिन्न देशों में वहां के ज्ञान-विज्ञान और प्रचलित रोगों के अनुसार विकसित होता रहा।

आयुर का महत्त्वपूर्ण विकास प्राचीन ग्रीस में हुआ। हिप्पोक्रात (Hippocrates, 460-375 ई. पू.) प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने आयुर को धार्मिक आचारों से अलग करने की कोशिश की। उन्होंने अनेक चर्मरोगों का वर्णन किया और उन्हें अंतर्जनित तथा वहिर्जनित (endogenous and exogenous) कारणों के आधार पर दो वर्गों में बाँटा। उनका सिद्धांत था कि रोग रसों – काले व पीले पित्त, रक्त और कफ – के अपसामान्य मिश्रण के कारण होते हैं (अंतर्जनित कारण)। रसों के अपसामान्य मिश्रण का सिद्धांत (रस-सिद्धात) चर्मलोचन में लंबे समय तक अपना स्थान बनाये रहा। हिप्पोक्रात ने अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया था, जो आज भी प्रचलित हैं: हेर्पेस (विसर्प), लेप्रा (कुष्ठ) आलोपेसिया (खल्वाटता), आफ्थे (श्वेतव्रण), कार्सीनोमा (कर्कार्बुद; -oma के लिये -अर्बुद की जगह संक्षेप में -अर्ब का भी प्रयोग करेंगे – अनु.), एक्थीमा, [illegible] आदि।

रोम के लेखक सेल्स (Celsus, 25ई.) ने अपनी कृति De medicina libri octo ('आठ खंडों में आयुर') में कई अध्याय चर्मरोगों को अर्पित किये हैं, जैसे – फुंसी, कोलफुंसी, रोमकूप-[illegible] (मीकोसिस), त्वचारुणता (एरीसीपेलास), खर्जूक्लेश (प्सोरिआसिस), नुकीला कंडार्बुद

(कोंदीलोमा), छत्तेदार खाज, गहन लोमतृणत्व (त्रिखोफीतोसिस) आदि को। वे चर्मक्लेशों के इलाज में धूप, गर्मी तथा व्यायाम के उपयोग की सलाह देते थे।

विख्यात फारसी विद्वान अबू-अली अल-हुस्सैन इब्न-सीना (लातीनीकृत नाम: आवीसेना, Avicenna) का जन्म 980 में हुआ था; वे कुछ समय तक बुखारा में रहे थे और अरबी में लिखते थे। उन्होंने बुदबुदिया, पित्ती, कंडु, गीनिया-कृमि का वर्णन किया था और श्लीपद तथा कुष्ठ में भेद बताया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'चिकित्सा के नियम' में इब्न-सीना ने चीनी, भारतीय तथा यूनानी चिकित्सा का ही वर्णन नहीं किया है, चिकित्सा के क्षेत्र में उन्होंने मौलिक योगदान भी किया है। उनकी अनेक अपेक्षाएं और नुस्खे आज भी सही हैं।

मध्ययुगीन सामंती राज में चर्च के बोलबाला के कारण चर्मलोचन समेत सभी प्रकृतिविज्ञानों के विकास में एक ठिराव आ गया था। सामंतवाद की तुलना में अधिक प्रगतिकारी समाज – पूंजीवाद – के विकास के बाद ही विज्ञान, कला और उद्योग में एक सामान्य प्रगति आरंभ हुई। यह प्रगति चर्मलोचन के क्षेत्र में भी आयी।

1571 में इटली के मेर्कूरिआलिस ने चर्मरोगों पर प्रथम पुस्तक (De morbis cutaneus) लिखी। चर्म की अनाटोमी और शरीरलोचन का भी तेजी से विकास होने लगा। मार्सेलो माल्पीगी ने अधिचर्म (epidermis) की शृंगी, श्लेष्मल तथा काँटल परतों में भेद किया, वसीय व स्वेदक ग्रंथियों तथा रोमकूपों का वर्णन किया और वसीय कोशिकाओं की खोज की।

18- वीं शती के अंत में विएना के प्रोफेसर जोसेफ प्लेंक ने चर्मलोचन की एक पाठ्यपुस्तक Doctrina de morbis cutaneus (1776) लिखी, जिसमें सभी चर्मरोग 14 वर्गों में बाँटे गये थे। इस वर्गीकरण का आधार रोगों की सिर्फ बाह्य समानताएं थीं; शरीर की सामान्य अवस्था, हेतुलोचनी (aetiological) तथा अन्य घटकों को ध्यान में नहीं रखा गया था। चर्मरोगों के अध्ययन में रूपलोचनी (morphological) चरण के इसी आरंभ से चर्मलोचन एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में उभरा, जिसकी अपनी विशिष्ट परीक्षण-विधियां थीं। चर्मलोचन में रूपलोचनी सिद्धांत का आगे चलकर विकास ब्रिटिश स्कूल की कृतियों में हुआ, जिसके जाने-माने प्रवर्तक रोबर्ट विलियम (1757-1812) और उनके शिष्य थोमस बेटमैन (1778-1821) थे। विलियम ने ही शब्द 'एक्जेमा' (दिनाइ) प्रस्तावित किया था, जो अब विस्तृत रूप से प्रचलित है; उन्होंने इस रोग का स्पष्ट वर्णन दिया, चर्मरोगों पर एक पाठ्यपुस्तक लिखी, जिसे बड़ी मान्यता प्राप्त हुई। बेटमैन ने प्रथम चर्मलोचनी ऐटलस तथा चर्मरोगों पर एक पाठ्यपुस्तक प्रकाशित की।

इसी समय फ्रांस में भी चर्मलोचनी स्कूल विकसित होने लगा; इसके प्रवर्तक जीन आलबेर्ट (1768-1837) थे। इन्होंने चर्मरोगों का वर्गीकरण एक वृक्ष के रूप में प्रस्तावित किया (तना चर्म था, मुख्य शाखाएं रोगों की जातियां थीं, छोटी शाखाएं उपजातियां और टहनियां उनके प्रकार थीं)। उनका विश्वास था कि चर्मरोगों की उत्पत्ति शरीर में सामान्य गड़बड़ियों, विशेष कुमिश्रणों (डिसक्रेजिया; रसों के कुमिश्रणों), गठनात्मक (constitutional) रोगों तथा पारश्लेषण (diathesis) के कारण होती है। लेकिन इन घटकों का सार एवं कारण अस्पष्ट था, उनका गहन अध्ययन नहीं होता था। उस समय फ्रांसीसी चर्मलोचनी स्कूल के एक अन्य मेधावी प्रतिनिधि भी थे: अंटुआन बाजी (Antoine Bazin, 1807-1878)। उन्होंने अपनी कृतियों अवधारणाएं प्रस्तुत कीं। इन विचारों का सार यह था कि चर्मरोग वास्तविकता में नही होता रोग पूरे शरीर का होता है और त्वचा पर क्षतियां इन रोगों की बाह्य अभिव्यक्ति हैं कोव, 1883)।

इस प्रकार, जिस समय विलियम तथा बेटमैन द्वारा प्रस्तावित रूपलोचनी (रूप के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण यूरोप में विशेष लोकप्रिय हो रहा था, इसके विरुद्ध फ्रांसीसी चर्मलोचनी स्कूल का वर्गीकरण आया, जो चर्मरोगों की उत्पत्ति के रस-सिद्धांत पर आधारित था।

फेर्डीनांड फोन हेब्रा (Ferdinand von Hebra, 1816-1880) विएना के चर्मलोचनी स्कूल के प्रवर्तक और मुख्य प्रतिनिधि माने जाते हैं। अपने आस्ट्रियाई शिष्य कापोजी (Kaposi, 1837-1902) के साथ मिलकर उन्होंने चर्मक्लेशों का रोगो-अनाटोमिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जो उस समय प्रगतिकारी था और चर्मरोगों के अध्ययन में एक नये चरण का सूचक था। हेब्रा ने चर्मक्लेशों की उत्पत्ति में मुख्य भूमिका बाह्य रसायनिक, भौतिकीय एवं अन्य क्षोभकों (stimuli) की मानी। उन्होंने कुछ रूपलोचनी क्षतियों के अन्य क्षतियों में विकसित होने की प्रक्रिया का अध्ययन किया, जैसे चित्ती का पिटक में, पिटक का फोड़िया में, फोड़िया का पीपिका में, आदि। हेब्रा और कापोजी ने चर्मलोचन पर पाठ्यपुस्तकें लिखीं, चर्मरोगों के ऐटलस बनाये और नये किस्म के चर्मक्लेशों का वर्णन किया, जिनमें निम्न के नाम आते हैं: बहुरूपी रिसालु सुर्खी (erythema multiforme exudativum), कंडु (prurigo), वर्णकीय चर्मशुष्कता (xeroderma pigmentosum), केशीय लाल बुसन (pityriasis rubra pilaris) आदि। उन्होंने चर्मरोगों की चिकित्सा की बाह्य विधियों की कारगरता बढ़ाने के लिये खोजें कीं। विएना स्कूल की मुख्य गलती थी: रोगकारी घटकों के आधार पर चर्मरोगों के वर्गीकरण के सिद्धांत का अवमूल्यांकन।

यहां तक चर्मलोचन के विकास का परिणाम यह है कि 19-वीं शती के अंत में और 20-वीं शती के आरंभ में इस विज्ञान को महत्त्वपूर्ण सफलताएं मिलीं। सैकड़ों अज्ञात चर्मरोग प्रकाश में आये, उनका अध्ययन एवं वर्णन किया गया, दर्जनों पाठ्यपुस्तकें एवं ऐटलस प्रकाशित हुए, अंतरंग एवं बहिरंग रोगियों के लिये चर्मलोचनी अस्पताल और तल्पालय खोले गये, आयुरी संस्थानों और विश्वविद्यालयों में चार्म और रतिज रोगों के लिये अलग से विभाग बनाये गये, चर्मलोचनी पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं, वैज्ञानिक चर्मलोचनी समाज संगठित होने लगे, आदि, आदि।

सूक्ष्मजीवलोचन की तीव्र प्रगति से चर्मलोचन में हेतुलोचनी विचारधारा विकसित हुई। अनेक चर्मरोगों के कारक प्रकाश में आये, जैसे – 1839 में मोमिता का, 1842 में परजीविज लोमकूपशोथ का, 1843 में सूक्ष्मस्पोरन का, 1844 में नरप्रेमी लोमतृणत्व का, 1846 में गुलाबी बुसन का। 1850 में कठोर कोलफुंसी और 1873 में कुष्ठ के कारक ज्ञात हुए। स्त्रेप्तोकोक और स्ताफिलोकोक 1880-1884 में वर्णित हुए, यक्ष्माकारी बासिल 1882 में, प्रथम निस्यंदी वीरुस 1892 में, गोनोकोक 1879 में, त्रेपोनेमा पालीडुम 1905 में, आदि। इन खोजों की सहायता से रोगों का हेतुलोचनी (कारण के अध्ययन पर आधारित) वर्गीकरण संभव हुआ। जल्द ही यह भी ज्ञात हो गया कि शरीर में जीवाणु की उपस्थिति का यह अर्थ नहीं होता कि रोग होगा ही; इसके अतिरिक्त यह भी पता चला कि एक ही जीवाणु अलग-अलग लोगों में एक ही रोग को विभिन्न रूपों में उत्पन्न कर सकते हैं। रोग का विकास प्रेरित करने वाले प्रवणकारी घटकों (predisposing factors) का गंभीरता के साथ अध्ययन होने लगा। और इस तरह चर्मलोचन में गदजनन [illegible] की प्रवृत्ति को महत्ता मिली।

[illegible] चर्मलोचकों (अ. पलतेब्नोव, अ. पस्पेलोव, पा. निकोल्स्की तथा अन्य) ने आयुर [illegible] दिशा में चर्मलोचन में गदजनन (pathogenesis) के अध्ययन की प्रवृत्ति के विकास में [illegible] योगदान किया है। चर्मक्लेशों के विकास में पनपू (vegetative) नर्वतंत्र की भूमिका का

गहरा अध्ययन होने लगा। परोर्जन (allergy; शरीर की परिवर्तित संवेदिता या संवेदनशीलता) की छान-बीन भी आगे बढ़ी – आर्थस-पिर्के (Arthus — Pirquet), याडास्सोन (Jadassohn) जुल्ट्सबेर्गेर आदि की कृतियों में। चर्मरोगों की उत्पत्ति और उनके कारणों पर अंतर्स्रावी (endocrine) क्रियाओं तथा अन्य घटकों के प्रभाव का अन्वीक्षण होने लगा।

रूसी तथा सोवियत चर्मलोचनी स्कूल

रूसी एवं सोवियत चर्मलोचनी स्कूल का जन्म से. बोत्किन, ई. मेचनिकोव, ई. सेचेनोव, ग्री. जाखारीन, अ. ओस्त्रोऊसोव तथा इ. पावलोव के प्रगतिकारी विचारों के प्रभाव से एक स्वतंत्र एवं मौलिक स्कूल के रूप में हुआ। इसीलिये यहां ब्रिटिश-विएना के रूपलोचनी तथा फ्रांस के रसवादी स्कूलों जैसे अतिवादों का विकास शुरू में ही रोका जा सका। रूसी वैज्ञानिकों ने अन्य देशों के चर्मलोचन में जो कुछ भी मूल्यवान था उसे ग्रहण किया पर फलनात्मक (functional) अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया।

रूसी चर्मलोचन का जन्म 19-वीं शती के सातवें-आठवें दशक में हुआ। इस समय चर्मरोगों के अध्ययन के लिये स्वतंत्र विभाग लगभग एक ही साथ तीन संस्थानों में खोले गये – वारसा विश्वविद्यालय में, मास्को विश्वविद्यालय में (1869 में) तथा सेंटपीटरबुर्ग की आयुरो-करोर्जिक (बाद में सैन्यायुर) अकादमी में (1871 में)। चर्म और रतिज रोगों के स्वतंत्र विभाग इसके बाद कजान (1872), खार्कोव (1876), कीएव तथा अन्य विश्वविद्यालयों में भी खुले। इसके पहले तक चार्मरतिज रोगों पर व्याख्यान सिर्फ आंतर रोगों (internal disease) के तल्पालयों (clinics) में दिये जाते थे।

रूसी चर्मलोचनी स्कूल के संस्थापक अलेक्सांद्र पलतेब्नोव (1838-1907) हैं। ये पहले सेर्गेई बोत्किन के अधीन चिकित्सा-कार्य करते थे, बाद में सेंट-पीटरबुर्ग की आयुरो-करोर्जिक अकादमी के चार्मरतिज रोगों के विभाग में सहायक प्रोफेसर बने। यहां वे चर्मलोचन विषय के व्याख्याता थे, 1876 से 1894 तक विभागाध्यक्ष रहे। हेब्रा के तल्पालय से प्रशिक्षण प्राप्त कर के लौटने के बाद उन्होंने 'वानस्पत-रूपलोचनी' (botanico-morphological) सिद्धांत की कटु आलोचना की, जिसका समर्थन विएना-स्कूल कर रहा था। पलतेब्नोव एक प्रतिभाशाली तल्पविद (clinician) थे, उन्हें मानव-शरीर के आंतर गदलोचन (pathology) का गहन ज्ञान था। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पश्चिम यूरोपीय स्कूलों द्वारा अपनाये गये आदर्शवादी एवं पराभौतिकीय अभिगम (approach) का कोई ठोस आधार नहीं है। उन्होंने चर्मलोचन के अध्ययन में एक नयी रूसी धारा को जन्म दिया, जो रूसी आयुर के संस्थापक विद्वानों की उन्नत अवधारणाओं पर आधारित थी। इन विद्वानों में सबसे पहले से. बोत्किन का नाम आता है।

अ. पलतेब्नोव द्वारा विकसित रूसी चर्मलोचनी स्कूल की मुख्य पूर्वधारणाएं निम्न हैं: (1) चर्मरोग पूरे शरीर के रोग हैं, इसलिये पूरे शरीर, इसके बाह्य तथा आंतरिक संबंधों और इसमें नर्वतंत्र की मुख्य भूमिका को ध्यान में रखकर ही चर्मरोगों का अध्ययन करना चाहिये; (2) चर्म में सिर्फ रोगलोचनी तथा रूपलोचनी ही नहीं, बल्कि फलनात्मक (functional) परिवर्तनों का भी अध्ययन होना चाहिये, क्योंकि चर्म के शरीरलोचनी कार्य हैं, जो पूरे शरीर के लिये अनिवार्य होते हैं; (3) चर्मलोचन को निरोधक दिशा में विकसित करना चाहिये, ताकि चर्मरोगों की रोक-थाम हो सके; (4) चर्मक्लेश में थेरापिक उपायों का पूरा संकुल प्रयोग में लाना चाहिये, जो पूरे शरीर

अ. पलतेब्नोव

त. पावलोव

पर भी प्रभाव डालते हों (नर्वतंत्र पर, अपक्रियाग्रस्त आंतर अंगों पर तथा सीधे चर्म पर, जहां रोग अभिव्यक्त हुआ है, ताकि रोग के कारणों को एक साथ हटाया जा सके या उनके प्रभावों का शमन हो सके)।

पलतेब्नोव इन विचारों का बड़ी अनुरक्ति से पालन करते थे। उन्होंने चर्मरोगों का संबंध पूरे शरीर की अवस्था के साथ सिद्ध किया और इसीलिये रोगी के शरीर में उत्पन्न सभी गादिक (morbid) परिवर्तनों के पूर्ण तल्पिक विश्लेषण (clinical analysis) की आवश्यकता पर जोर दिया। अपनी पुस्तक 'देर्मातोलोगीचेस्कीये इस्स्लेदोवानिया' (चर्मलोचनी अन्वीक्षण) तथा 'नेर्व्नीये बलेज्नी कोझी' (चर्म के नार्विक रोग) नामक निबंध-संग्रह में पलतेब्नोव तथा उनके निकटतम शिष्यों ने चंद चर्मरोगों (खर्जू, चौरस शैवाक आदि) के उद्भवन (गदजनन) का विश्लेषण कर के यह निष्कर्ष निकाला कि इनके मूल में नर्वतंत्र की क्रियात्मक गड़बड़ियां थीं। पलतेब्नोव जलवायवीय चिकित्सा, जलचिकित्सा तथा विद्युचिकित्सा के माहिर थे। उन्हीं की बदौलत रूसी चर्मलोचन चर्मक्लेश से पीड़ित रोगी के शरीरलोचनी परीक्षण का सही रास्ता शुरू से ही चुन सका।

पलतेब्नोव के विचारों को आगे चलकर विख्यात रूसी चर्मलोचक प्रोफेसर त. पावलोव (1880-1932) ने विकसित किया। वे सैन्यायुर अकादमी में 27 वर्ष तक चर्मरतिज-विभाग के अध्यक्ष रहे। अपनी खोजों में उन्होंने अंगों की क्रियाशीलता अध्ययन करने की विधियों पर अपना ध्यान केंद्रित किया था। उन्होंने कुछ चर्मरोगों, विशेषकर दिनाइ, में चर्म की विशिष्ट अवस्था को दर्शाया और दिनाइ के लिये सामान्य तथा बाह्य चिकित्सा के युक्तिसंगत मेल की विधियां बतायीं। चर्मलोचन में शरीरलोचनी (क्रियात्मक) तथा तल्पिक (clinical) अध्ययन की परंपरा ही उनकी खोजों का आधार बनी। पावलोव 'रूसी सीफिलोलोचनी (syphilological) और चर्मलोचनी समाज' (सेंट पीटरबुर्ग-लेनिनग्राद) के अध्यक्ष चुने गये थे; उन्होंने इस 'समाज' को लगभग तीस वर्षों (1903-1932) तक चलाया।

त. पावलोव द्वारा संस्थापित वैज्ञानिक स्कूल ने रूसी चर्मलोचन के विकास में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। इनके शिष्यों में व्ला. इवानोव का नाम लेना चाहिये, जो प्रतिभाशाली तल्पक तथा उत्तम व्याख्याता थे; चर्मलोचन पर उनकी कई कृतियां हैं, वे वैज्ञानिक पत्रिका 'देर्मातोलो-

ओ. पोद्विसोत्सकाया

अ. पोम्पेलोव

गिया' (चर्मलोचन) तथा 'रूस्की वेस्तनिक देर्मातोलोगीई' (रूसी चर्मलोचनी समाचार) के संस्थापक एवं संपादक थे। वे प्रथम मास्को आयुर संस्थान में 1917 से 1925 तक चर्मरतिज विभाग के अध्यक्ष थे। इस स्कूल के एक अन्य प्रतिनिधि के रूप में प्रोफेसर अ. चेंबेदेव का नाम आता है, जो चार्म ऊतरोगलोचन पर प्रथम रूसी पाठ्यपुस्तक के लेखक हैं। ये तुर्केस्तान आयुर संस्थान में चर्म-विभाग के अध्यक्ष थे। इसी तरह सम्मानित विज्ञान-कर्मी प्रोफेसर प. ग्रिगोरियेव का भी नाम आता है, जो सीफिलिस के हेतुलोचन और गदजनन के क्षेत्र में काम करते थे; इन्होंने चार्मरतिज रोगों पर एक पाठ्यपुस्तक भी लिखी थी, जिसका महत्त्व आज भी कुछ कम नहीं हुआ है। इन्होंने लहूचर्मक्लेशों (haemodermatoses) – चार्म रक्तश्वेतन (leukaemia cutis) और कापोजी के कव्यार्ब (Kaposi's sarcoma) – पर भी अनेक कार्य किये। त. पावलोव के पुत्र एवं शिष्य मे. पावलोव भी एक विख्यात चर्मलोचक हुए: वे सोवियत आयुर अकादमी के पत्र-सदस्य तथा सैन्यायुर अकादमी मे 1940 से 1968 तक चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष थे। वे चर्मलोचक-रतिजलोचक वैज्ञानिक समाज, लेनिनग्राद (और अखिल संघीय) के भी अध्यक्ष थे। इन्होंने दिनाइ, दिनाइ जैसे अन्य रोगों तथा कुंभिक चर्म-क्षतियों (vascular skin lesion) के गदजनन के अध्ययन में महत्वपूर्ण योग दिया है।

लेनिनग्राद-स्कूल के मुख्य प्रतिनिधियों के बीच ओ. पोद्विसोत्स्काया (1884-1959) का अपना एक विशिष्ट स्थान है। वे सोवियत विज्ञान-अकादमी की पत्र-सदस्य, सोवियत आयुर अकादमी की सदस्य और सम्मानित विज्ञान-कर्मी थीं। उनकी कृतियों को सोवियत संघ के बाहर भी ख्याति प्राप्त है। वे लेनिनग्राद के पावलोव प्रथम आयुर संस्थान और स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण संस्थान में चार्मरतिज विभाग की अध्यक्ष थीं, बीस वर्षों तक लेनिनग्राद चार्मरतिजलोचनी संस्थान में निदेशक भी थीं। चर्म का शरीरलोचन, सामान्य व गदलोचनी परिस्थितियों में चर्म की क्रियाशीलता का केंद्रीय नर्वतंत्र, आंतर अंगों तथा अन्य शरीर तंत्रों (body systems) के साथ संपर्क – इस विषयों से संबंधित उनके कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनके मुख्य कार्य खुमीज रोगों (fungus diseases) तथा चर्मयक्ष्मा के साथ भी संबंध रखते हैं: उन्होंने अधिचर्मतृणत्व के

तीव्र रूप की विशिष्टताएं निर्धारित कीं, लोमतृणत्व तथा सूक्ष्मस्पोरन के प्रसार में त्रिखोफीतोन विश्रोलासेउम (लोमतृण, बैगनी) की भूमिका ज्ञात की, चिरकाली लोमतृणत्व का अध्ययन किया; दूसरी ओर बच्चों में चर्मयक्ष्मा के तल्पिक चित्र का वर्णन दिया; सामान्य वृका, वार्षिक निस्यंदी वृका, चर्मयक्ष्मा के निदान तथा चिकित्सा की विधियों पर खोजें कीं। पोद्विसोत्स्काया लेनिनग्राद के बाहर वृकाश्रम (वृकाग्रस्त रोगियों के लिये अस्पताल; lupusorium) संगठित किया; वहां वे वैज्ञानिक दल की अध्यक्ष थीं। चर्मपूयता के चिरकाली रूपों के इलाज और रोगजनन के अध्ययन पर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया था। वे अखिल संघीय एवं लेनिनग्राद चर्मलोचक-रतिजलोचक वैज्ञानिक समाजों की भी लंबे समय तक मनोनीत अध्यक्ष थीं।

सोवियत आयुर अकादमी के पत्र-सदस्य तथा सम्मानित विज्ञान-कर्मी प्रोफेसर प्यो. कोझेव्निकोव (1898-1969) जीवन के अंतिम बीस वर्ष लेनिनग्राद के स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण संस्थान में चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष बने रहे। उनकी खोज व अध्ययन के विषय थे: विभिन्न चर्मक्लेशों में चर्म की शरीरलोचनी एवं रोगोशरीरलोचनी प्रतिक्रियाओं में नर्वतंत्र की भूमिका, चार्म लेइशमैन-क्लेश (leishmaniasis) (वर्गीकरण, टीका से उनकी चिकित्सा, जनमारी-ग्रस्त क्षेत्र में लोगों का सक्रिय इमूनन)। उन्होंने खुमीज तथा छुतहे चार्मरतिज रोगों को नियंत्रित करने की एक कारगर विधि विकसित की। वे पंद्रह वर्ष तक 'वेस्तनिक देर्मातोलोगीई ई वेनेरोलोगीई' (चर्मलोचन-रतिजलोचन समाचार) नामक पत्रिका की देखभाल करते रहे।

विख्यात चर्मलोचक प्रोफेसर अ. पोस्पेलोव (1846-1919) मास्को चर्मलोचनी स्कूल के प्रवर्तक थे। इनके द्वारा स्थापित तल्पालय (clinics) यूरोप में सबसे अच्छा माना जाता है, इन्होंने प्लास्टर की बनी चर्मरोगानुकृतियों का एक उत्कृष्ट संग्रहालय स्थापित किया। उनकी मौलिक पाठ्यपुस्तक 'रूकोवोद्स्त्वो क इजुचेनियु कोझ्निख बोलेज्न्येइ' (चर्मरोग निदर्शिका) के नौ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी कृतियां वर्धमान चर्म-अपोषण (पोस्पेलोव-लक्षण – मुड़े सिगरेटी कागज जैसी चमड़ी), सामान्य वृका (जोंड-लक्षण), चर्म में पोषण संबंधी क्षतियां आदि विषयों से संबंधित हैं और बहुत प्रसिद्ध हैं।

मास्को चर्मलोचनी स्कूल में प्रोफेसर व्ला. इवानोव तथा प्रोफेसर प्यो. ग्रिगोरियेव के अतिरिक्त [illegible]वियत चर्मलोचकों का एक पूरा दल भी आता है, जिसका योगदान इस विज्ञान में काफी प्रभाव-[illegible] रहा है।

1925 से 1936 तक प्रथम मास्को आयुर संस्थान के चार्मरतिज विभाग की अध्यक्षता प्रोफेसर [illegible] मेज्रेस्की (1874-1936) कर रहे थे। इन्हें सम्मानित विज्ञान-कर्मी की उपाधि प्राप्त थी। [illegible] चर्मलोचन की विभिन्न समस्याओं (व्यवसायजनित रोग, चर्मकठोरन आदि) से संबंधित अनेक [illegible] तथा चार्मरतिज रोगों की एक पाठ्यपुस्तक के लेखक हैं।

[illegible] नि. चेर्नोगूबोव (1883-1942) रूसी कवकलोचन (mycology) के जन्मदाता हैं। [illegible] लोमतृणत्व का वर्णन किया, जिसकी चपेट में चर्म के साथ-साथ अस्थियां और [illegible] भी आ जाते हैं। उन्होंने चर्मकवकताओं का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया और निर्लोमन [illegible] के लिये थैलियम का उपयोग करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने चिरकाली व्रणीय [illegible] चर्मपूयता का भी वर्णन किया। प्रोफेसर चेर्नोगूबोव 1933 से 1941 तक द्वितीय [illegible] संस्थान में चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष थे।

[illegible] आयुर अकादमी के पत्र-सदस्य प्रोफेसर नि. वेद्रोव (1891-1949) व्यावसायिक [illegible]। चर्मरोगों के क्षेत्र में काम के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने व्यावसायिक दिनाइ और

ले. माश्कीलेइजोन

व्ला. रुबमानोव

चर्मशोथ के गदजनन की समस्याओं पर तथा व्यावसायिक चर्मक्लेशों में बूंद-परीक्षण की विधि पर खोज की।

मि. देम्यानोविच (1879-1957) ने खाज के इलाज की एक त्वरित विधि प्रस्तावित की, जो बहुरंगी वृसन और ललौसी (erythrasma) के नियंत्रण में भी उपयुक्त होती है। उनकी निम्न पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं: 'एक्जेमा', 'ग्रिब्कोविये बलेज्नी कोझी' (चर्मरोगों की चिकित्सा और निरोध), 'इनफेक्त्सिओन्निये इ पाराजितार्निये बलेज्नी कोझी' (पैठी और परजीवित चर्मरोग) और 'चाम्त्नाया देर्मातोलोगिया' (विशेष चर्मलोचन). चर्मलोचकों के दैनंदिन कार्य में काम आती हैं।

प्रोफेसर व्ला. रुबमानोव (1901-1969) सोवियत आयुर अकादमी के पत्र-सदस्य हैं, सम्मानित विज्ञान-कर्मी हैं और मास्को चर्मलोचनी के एक प्रतिभाशाली प्रतिनिधि हैं। वे सेचेनोव प्रथम मास्को आयुर संस्थान में 25 वर्ष तक चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष रहे। वे व्यावसायिक चर्मक्लेशों, गोंदजना (collagenoses) और एक्सरेजनित चर्म-क्षतियों के क्षेत्रों में अपनी कृतियों के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने चिरकालीन आवर्ती चर्मक्लेशों के गदजनन में उदरस्थ आंतर अंगों (जठर, यकृत) की रोगलोचनी अवस्था की भूमिका पर विशेष ध्यान दिया था। ये अनेक वर्षों तक पत्रिका 'वेस्तनिक देर्मातोलोगीई' के संपादक तथा मास्को चर्मलोचक विज्ञानिक समाज के अध्यक्ष थे।

प्रोफेसर मि. झेल्ताकोव (1903-1968) पिरोगोव द्वितीय मास्को आयुर संस्थान में 16 वर्षों तक चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष थे। ये चर्मरोगों की स्वाप-चिकित्सा (hypnotherapy) के क्षेत्र में काम करते थे। अधिकांशतः इनका ध्यान चर्मरोगों के गदजनन के अध्ययन (विशेषकर नार्वचर्मक्लेशों में अधिवृक्क-वल्कुट और केंद्रिय नर्वतंत्र की भूमिका के अध्ययन) पर संकेंद्रित था। इन्हें कुछ चर्मक्लेशों की उत्पत्ति और प्रवाह में परोर्जिक प्रतिक्रियाओं (allergic reactions) के महत्त्व को स्पष्ट करने में सफलता मिली थी। प्रोफेसर झोल्ताकोव 'लेकार्स्त्वेन्नाया आलेर्गीया' (औषधजनित परोर्जन) नामक पुस्तक तथा चार्मरतिज रोग पर एक पाठ्यपुस्तक के लेखक हैं।

मि. झोल्ताकोव

अ. कार्तामीशेव

सम्मानित विज्ञान-कर्मी प्रोफेसर अ. कार्तामीशेव (1897-1973) बश्कीर तथा कीयेव आयुर संस्थानों में 40 से अधिक वर्ष तक चर्मलोचन-विभाग के अध्यक्ष थे। अंतिम 17 वर्ष वे स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण के केंद्रीय संस्थान में चर्मलोचन-विभाग के अध्यक्ष थे। वे बुल्लेदार (bullous) चर्मक्लेशों रजतप्रेमी तंतुओं (argentophile fibres; आयुर में इसका नया नाम रखा गया है fibrae reticulares, अर्थात् जालिका-तंतु। – अनु.) और चर्मलोचन में स्वापसंसूचक (hypnosuggestive) चिकित्सा के क्षेत्रों में अपने कार्यों के लिये प्रसिद्ध हैं। 1936 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'गिप्नोज़ व देर्मातोलोगीई' (चर्मलोचन में स्वापन) इस विषय पर सोवियत संघ में पहली पुस्तक थी। प्रोफेसर कार्तामीशेव ने 5 से अधिक ग्रंथ और उच्च एवं माध्यमिक आयुर विद्यालयों के लिये दो पाठ्यपुस्तकें लिखी हैं।

इस छोटी-सी ऐतिहासिक यात्रा के दौरान मास्को चर्मलोचनी स्कूल के सभी प्रतिनिधियों और उनके कार्यों से परिचय कराना संभव नहीं है। हमने छात्रों को इस स्कूल के सिर्फ प्रमुख प्रतिनिधियों और विचारधाराओं से अवगत कराने का प्रयास किया है।

मि. बोत्किन और अ. पलतेब्नोव के एक शिष्य मि. स्तुकोवेंकोव (1843-1897) रूसी चर्मलोचन के संस्थापकों में से एक थे; वे कीएव चर्मलोचनी स्कूल के प्रतिनिधि थे। वे आंतर (विशेषकर उदरस्थ) अंगों (viscera) के कार्य के साथ अनेक चर्मरोगों के संबंध पर बराबर जोर देते रहे थे और इस तरह वे चर्मलोचनी रोगी के सांगोपांग परीक्षण की अनिवार्यता पर जोर दिया करते थे। स्तुकोवेंकोव के तल्पालय में काम करने वाले प्रमुख रूसी चर्मलोचकों में एक उनके शिष्य छात्र प्रोफेसर प्यो. निकोल्स्की (1858-1940) भी थे, जिन्होंने चर्म के शरीरलोचनी अंगों के कार्य और विभिन्न चर्मक्लेशों के गदजनन की व्याख्या के लिये चर्मलोचन में नर्ववाद को विकसित किया। प्रोफेसर निकोल्स्की की दो मौलिक पाठ्यपुस्तकों 'ओबशाया तेराप्येव्तिचेस्काया कोझी' (चर्मरोगों की सामान्य चिकित्सा, 1910) और 'कोझ्नीये बलेज्नी' (चर्मरोग, 1927) के चार संस्करण निकल चुके हैं और वे आज भी बहुत लोकप्रिय हैं। उन्होंने पर्णिल बुद्बुदिया (pemphigus foliaceus) का एक विशिष्ट लक्षण निर्धारित किया (कि इसमें त्वचा निचली परतों में हल्का-सा अलग हो जाती है), जो आज विश्व में निकोल्स्की-लक्षण के नाम से मशहूर है।

पे. निकोल्स्की

अन्य नगरों के रूसी चर्मलोचकों में निम्न नाम उल्लेखनीय हैं: प्रोफेसर अ. गे (1842-1907), कजान विश्वविद्यालय के आयुर प्रभाग में चर्मरोग-विभाग के अध्यक्ष, रतिज रोगों की एक पाठ्यपुस्तक के लेखक (अबतक 8 संस्करण प्रकाशित); प्रोफेसर अ. बोगोलेपोव (1874-1941), सम्मानित विज्ञान-कर्मी, तोम्स्क विश्वविद्यालय के आयुर-प्रभाग में तत्पश्चात् नोवोसिबीर्स्क स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण संस्थान में चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष, चर्मकवकता और सीफिलिस के क्षेत्रों में खोज के लिये प्रसिद्ध; प्रोफेसर अ. क्रिचेव्स्की (1896-1956) उक्रेनी चर्मलोचकों के अगुआ थे, ये खर्जू, बुदबुदिया तथा अन्य चर्मक्लेशों की वीरुसी प्रकृति सिद्ध करने के लिये प्रसिद्ध हैं, उन्होंने चार्मरतिज रोगों के इलाज की समस्या पर बहुत काम किया है।

सोवियत चर्मलोचनी स्कूल

सोवियत चर्मलोचनी स्कूल अपने जीवन के आरंभिक चरण में मुख्यतः जार के रूस से विरासत में मिले छूतहे चर्मरोगों – खाज, चर्मकवकता, चर्मपूयता, कुष्ठ और चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण संगठित करने में लगा था। देश के विख्यात चार्मरतिजलोचकों की देखरेख में कार्यरत उच्च आयुर संस्थान और विश्वविद्यालयों के तदनुरूप विभाग इस दिशा में सक्रिय थे ही, पर पूरे देश के पैमाने पर इस कार्य-क्षेत्र में नेतृत्व तथा समन्वयन के लिये 1921 में राज्य रतिजलोचनी संस्थान की स्थापना हुई (जो बाद में केंद्रिय चार्मरतिजलोचनी शोध-संस्थान के रूप में पुनर्संगठित हुआ)। देश के अन्य नगरों में स्थित तत्संबंधित संस्थानों ने भी समस्या के समाधान में काफी योगदान किया।

अभी सोवियत संघ में निम्न शोध-संस्थान कार्यरत हैं: गोर्की तथा स्वेर्दलोव्स्क (रूसी संघ में स्थित), खार्कोव (उक्रैन), मिंस्क (बेलोरूसिया), ताश्कंद (उज्बेकिस्तान), अल्मा-आता (कजाख्स्तान), त्बीलीसी (ग्रूजिया या जार्जिया), आश्खाबाद (तुर्कमेनिया); आस्त्राखान कुष्ठ-संस्थान और मास्को सौंदर्यलोचनी संस्थान।

चार्मरतिजलोचनी आरोग्यशाला (dispensary) चार्मरतिज रोगों पर नियंत्रण के लिये एक सामान्य प्रतिष्ठान है। स्थानीय आबादियों के बीच भी जनसेवा को बेहतर बनाने के लिये सभी

पे. निकोल्स्की

अन्य नगरों के रूसी चर्मलोचकों में निम्न नाम उल्लेखनीय हैं: प्रोफेसर अ. गे (1842-1907), कजान विश्वविद्यालय के आयुर प्रभाग में चर्मरोग-विभाग के अध्यक्ष, रतिज रोगों की एक पाठ्यपुस्तक के लेखक (अबतक 8 संस्करण प्रकाशित); प्रोफेसर अ. बोगोलेपोव (1874-1941), सम्मानित विज्ञान-कर्मी, तोम्स्क विश्वविद्यालय के आयुर-प्रभाग में तत्पश्चात् नोवोसिबीर्स्क स्नातकोत्तर आयुर प्रशिक्षण संस्थान में चार्मरतिज विभाग के अध्यक्ष, चर्मकवकता और सीफिलिस के क्षेत्रों में खोज के लिये प्रसिद्ध; प्रोफेसर अ. क्रिचेव्स्की (1896-1956) उक्रेनी चर्मलोचकों के अगुआ थे, ये खर्जू, बुदबुदिया तथा अन्य चर्मक्लेशों की वीरुसी प्रकृति सिद्ध करने के लिये प्रसिद्ध हैं, उन्होंने चार्मरतिज रोगों के इलाज की समस्या पर बहुत काम किया है।

सोवियत चर्मलोचनी स्कूल

सोवियत चर्मलोचनी स्कूल अपने जीवन के आरंभिक चरण में मुख्यतः जार के रूस से विरासत में मिले छूतहे चर्मरोगों – खाज, चर्मकवकता, चर्मपूयता, कुष्ठ और चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण संगठित करने में लगा था। देश के विख्यात चार्मरतिजलोचकों की देखरेख में कार्यरत उच्च आयुर संस्थान और विश्वविद्यालयों के तदनुरूप विभाग इस दिशा में सक्रिय थे ही, पर पूरे देश के पैमाने पर इस कार्य-क्षेत्र में नेतृत्व तथा समन्वयन के लिये 1921 में राज्य रतिजलोचनी संस्थान की स्थापना हुई (जो बाद में केंद्रिय चार्मरतिजलोचनी शोध-संस्थान के रूप में पुनर्संगठित हुआ)। देश के अन्य नगरों में स्थित तत्संबंधित संस्थानों ने भी समस्या के समाधान में काफी योगदान किया।

अभी सोवियत संघ में निम्न शोध-संस्थान कार्यरत हैं: गोर्की तथा स्वेर्दलोव्स्क (रूसी संघ में स्थित), खार्कोव (उक्रैन), मिंस्क (बेलोरूसिया), ताश्कंद (उज्बेकिस्तान), अल्मा-आता (कजाख्स्तान), त्बीलीसी (ग्रूजिया या जार्जिया), आश्खाबाद (तुर्कमेनिया); आस्त्राखान कुष्ठ-संस्थान और मास्को सौंदर्यलोचनी संस्थान।

चार्मरतिजलोचनी आरोग्यशाला (dispensary) चार्मरतिज रोगों पर नियंत्रण के लिये एक सामान्य प्रतिष्ठान है। स्थानीय आबादियों के बीच भी जनसेवा को बेहतर बनाने के लिये सभी

अंतरंग एवं बहिरंग तल्पालयों में चार्मरतिज विभाग तथा मंत्रणा-कक्ष खोले गये हैं। इन प्रतिष्ठानों की सहायता से चार्मरतिजलोचकों तथा इस क्षेत्र के व्यावहरिक चिकित्सकों के बीच निकट संबंध बना रहता है।

मुख्य समस्याएं, जिन पर सोवियत चर्मलोचक काम करते रहे हैं, निम्न हैं: सामान्य चर्म-लोचन, चर्म-शरीरलोचन, चर्मरोगों में द्रव्य-विनिमय (metabolism), चर्मकवकता, चर्मपूयता, दिनाइ तथा अन्य परोर्जिक चर्मक्लेश. चर्म-यक्ष्मा, कुष्ठ, व्यावसायिक चर्मक्लेश, बच्चों के चर्म-क्लेश, और चर्मरोगों के इलाज।

चार्मरतिजलोचकों के अखिल संघीय अधिवेशनों (1923, 1925, 1929, 1937, 1959, 1973 1979) का भी सोवियत चर्मलोचन के विकास में विशेष योगदान रहा है, क्योंकि इनमें पूरे सोवियत संघ के चर्मलोचकों को ज्वलंत समस्याओं पर विचार-विमर्श का मौका मिलता है।

आज चर्मक्लेशों के निदान (diagnosis,), निरोध और चिकित्सा में एक गुणात्मक परिवर्तन आ चुका है, जिसमें निम्न घटक सहायक हुए हैं: हाल के दशकों में हुआ जीवलोचन (biology,) और आयुर का विकास; इमूनोलोचन (immunology), परोर्जन (allergy,) और जंतिकी (genetics) का गहरा अध्ययन (अंतिम का आण्विक एवं उपाण्विक स्तरों पर); शोध एवं प्रयोग की तकनीक में सुधार, नये तथा कारगर आयुरी प्रसाधनों की निरंतर खोज, आदि। सोवियत चर्मलोचनी स्कूल तीव्र, चिरकाली तथा आवर्ती चर्मक्लेशों के गदजनन (pathogenesis) में न्युरो-अंतस्त्रावी गड़बड़ियों, द्रव-विनिमय की गड़बड़ियों तथा इमूनो-परोर्जिक प्रतिक्रिया के अध्ययन को विशेष महत्व देता है।

सोवियत राज्य ने जनस्वास्थ्य-कल्याण के लिये एक एकीकृत तंत्र को संगठित एवं विकसित किया है, जो सोवियत समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

सोवियत जनता की स्वास्थ्य-रक्षा की समस्याओं के सफल हल के लिये आवश्यक मूल अनुबंध सोवियत संघ की कमुनिस्ट पार्टी तथा सोवियत राज्य द्वारा निर्धारित किये गये हैं।

सामान्य चर्मलोचन

[illegible] का स्वास्थ्य, शरीर में नार्विक (nervous,) अंतस्त्रावी (endocrine,), हृत्कुंभिक (vascular) तथा अन्य तंत्रों की कार्यशीलता, द्रव्य-विनिमय की सक्रियता और प्रवृत्ति [illegible] घटक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्म की भी अवस्था तथा कार्य पर असर डालते हैं। [illegible] की एक अखंड इकाई के रूप में सक्रियता और चर्म के बीच एक प्रत्यक्ष निर्भरता [illegible] चर्मलोचन का अध्ययन चर्म की अनाटोमी और शरीरलोचन से शुरू करते वक्त [illegible] जोर देना चाहिये कि चर्म शरीर का एक अभिन्न अंग है और शरीर के अन्य [illegible] घनिष्ठ संबंध रखता है।

चर्म की अनाटोमी और ऊतलोचन

चर्म-अनाटोमी (skin anatomy). आदमी का चर्म (चमड़ी, cutis) उसके शरीर का बाहरी आवरण है, वह शरीर के प्राकृतिक छेदों – मुंह, नाक, मुत्र-जननेंद्रिय और गुदा – के पास पहुँच कर श्लेषमल झिल्ली (mucous membrane) के साथ मिल जाता है। वयस्कों में चर्म की सतह 1.5 से 2m² तक होती है, जबकि मुटाई (अधोचार्म वसा (subcutaneous fat) को छोड़ कर) मिलिमीटर के कुछ अंशों से लेकर (पलक और बाह्य श्रवण-मार्ग पर) 4mm तक (हथेलियों और तलवों पर) होती है। अधोचार्म वसा की भी मुटाई जगह-जगह पर काफी भिन्न होती है: कुछ जगहों पर वह होती ही नहीं है और कुछ जगहों पर (जैसे मोटे आदमी के पेट और नितंबों पर) उसकी मुटाई कई सेंटीमीटर तक पहुंच सकती है। वयस्क में अकेले चर्म का द्रव्यमान (mass) पूरे शरीर के द्रव्यमान का लगभग 5 प्रतिशत अंश होता है, जबकि अधोचार्म वसा के साथ करीब 16 से 17.7 प्रतिशत होता है।

चर्म की सतह (त्वचा) पर अनेक खाँचे (खात, खातिकाएं सलवटें और अवनमन (गड्ढे) पाये जाते हैं, वह तीकोण और रोंबवत (rhomboid) क्षेत्रों के एक जटिल क्रम (चटाई) के रूप में दिखती है। चेहरे की झुर्रियाँ, हथेली, तलवे और फोते (अंडकोष) की सलवटें चर्म पर स्थूल खातिकाएं हैं। हथेली और तलवे पर एक-दूसरे के समांतर चलने वाली मेड़ें और खातिकाएँ तरह-तरह की आकृतियाँ बनाती हैं; इनका नमूना हर आदमी के लिये अपना व्यक्तिगत होता है, जो आदमी को पहचानने के लिये एक विश्वस्त चिन्ह है (उंगली की छाप के अध्ययन – अंगुली दर्शन या डाक्टिलोस्कोपी – में इसी का उपयोग होता है।)

त्वचा की ऊपरी झलक चटाई की बुनावट जैसी होती है। उसका अपना विशिष्ट रंग होता है, जो उसे बनाने वाले ऊतकों के रंग, शृंगी एवं कणमय परतों की मुटाई, चर्म के भीतर दिखने वाली रक्त-कुंभियों (blood vessels) और मेलानिन नामक वर्णक की उपस्थिति पर निर्भर करता है। त्वचा का रंग बदल भी सकता है, क्योंकि चर्म में उपस्थित वर्णक की मात्रा बाह्य और आंतर घटकों के प्रभाव से बढ़ती-घटती रहती है।

त्वचा का अधिकांश क्षेत्र बालों (लोमों) से आच्छादित रहता है। लोमरहित क्षेत्र निम्न हैं: होठ (सिंदूरी सीमा vermillion boarder), हथेलियां और तलवे (उंगलियों समेत), लिंग-पुंग (glans penis), वृहत भगोष्ठ की आंतर सतह और लघु भगोष्ठ (large and small pudendal lips)।

त्वचा में मुश्किल से दिखने वाले रंध्र होते हैं, जो स्वेद-मार्ग और वपाल ग्रंथियों (sebaceus glands,) के द्वार हैं। कुछ बीमारियों में (जैसे वपास्राव, seborrhoea में) ये रंध्र नंगी आँखों से भी दिखने लगते हैं।

अंगुलियों के अंतिम खंडों की पश्च सतह पर नख होते हैं।

चर्म का ऊतलोचन (skin histology). भववृत्ति (ontogenesis) में चर्म दो अंकुरदायी स्थलों से विकसित होता है:

1 बाह्य भ्रूणचर्म, जिसे बहिर्चर्म (ectoderm,), बहिरंकुर (ectoblast,) या अध्यंकुर (epiblast) कहते हैं; यह अधिचर्म में परिणत होता है;

(2) मध्य भ्रूणचर्म (mesoderm,) या मध्यांकुर (mesoblast), जिससे चर्म की दो परतें विकसित होती हैं – सुचर्म (वास्तविक चर्म, dermis) या मध्य परत और अधोचार्म वसा या अवचर्म (सबसे गहरी चर्म-परत) (चित्र 1)।

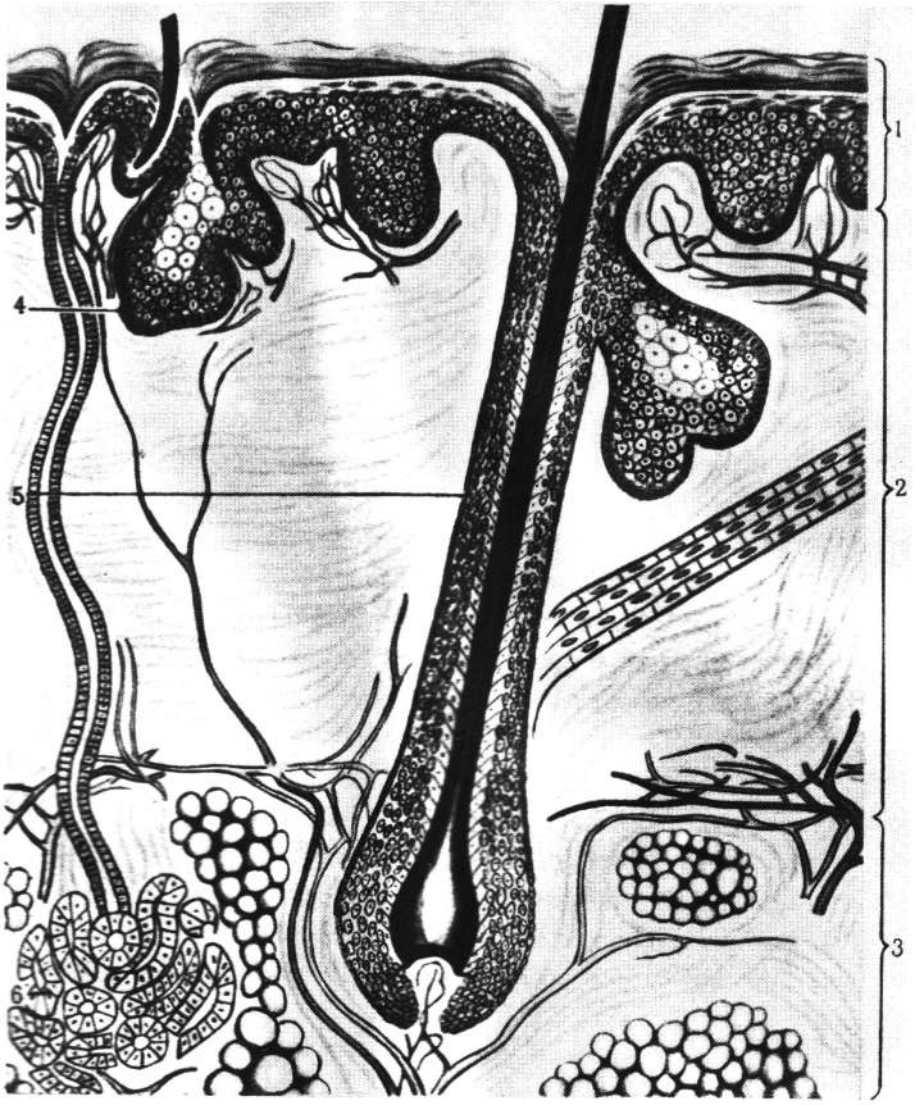

चित्र 1. सामान्य चर्म का ऊतलोचन (आरेख).

[illegible] 2. मुचर्म ; 3. अवचार्म वसा 4. वपाल ग्रंथि ; 5. लोमकूप (मशिका).
6. स्वेद-ग्रंथि

[illegible] और मुचर्म के बीच की सीमा (काट या अनुच्छेद पर) लहरदार रेखा के रूप मे [illegible] मुचर्म की सतह पर विशेष प्रकार के स्तंभाकार उभार (चुचिकाएं या पिटिकाएं , [illegible] रहते है जिनके बीच का अवकाश उपकलीय प्रवर्धों (epithelial processes) [illegible] रहता है

अधिचर्म

अधिचर्म (epidermis) चर्म की सबसे बाहरी परत है; यह पटलित (stratified) उपकला या पपड़ी (epithelium) है, जो शृंगीभवन (keratinisation) की प्रक्रिया में उत्पन्न होती है। अधिचर्म स्वयं भी पाँच परतों से बनी होती है:

(1) आधारीय या अंकुरक परत; (2) काँटल परत; (3) कणमय परत; (4) स्वच्छ परत; (5) शृंगी परत। हथेली और तलवे पर ये परतें अधिक स्पष्ट हैं: चेहरे, वक्ष और हाथ-पैर की आकोचनी सतहों (जहाँ ये अंग मुड़ते हैं, वहाँ की सतह; flexor surfaces) पर स्वच्छ परत अनुपस्थित होती है, लेकिन इन क्षेत्रों में कणमय परत कोशिकाओं की इकहरी कतार से बनी होती है, जो कहीं-कहीं टूटी भी होती है।

अधिचर्म में नर्व-सिराएं (nerve endings) अनेक होती हैं लेकिन रक्तवाही कुंभियां एक भी नहीं; कोशिकाओं का पोषण अंतराकोशिकीय झिरियों से बह कर आती लसीका (lymph) द्वारा होता है।

आधारीय या अंकुरक परत (stratum basale or germinativum) अधिचर्म की सबसे भीतरी (गहरी) परत है और सीधे मूचर्म पर टिकी होती है यह बल्लाकार कोशिकाओं की इकहरी परत से बनी होती है: इन कोशिकाओं के बीच झिरीनुमा स्थान (अवकाश) अंतराकोशिकीय सेतु कहलाता है। बड़े-बड़े गोल या अंडाकार नाभिक अधिकांशतः इन कोशिकाओं के ऊपरी भाग में ही दिखते हैं, जो क्रोमाटिन (chromatin) से काफी समृद्ध होते हैं और इससे गाढ़ा रंगे होते हैं। यही कारण है कि वे ऊपरी परत की कोशिका-नाभिकों की तुलना में अधिक काले नजर आते हैं।

अंकुरक परत में बल्लाकार कोशिकाओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर एक विशेष प्रकार की विशाखनरत (द्रुमाकार या वृक्षाकार, dendritic) कोशिकाओं में भी होती हैं, जिनका नाभिक नन्हा व काला होता है और प्राटोप्लाज्म (आदिरूप, आदिद्रव्य) बहुत हल्का होता है। इन कोशिकाओं के मुख्य कार्य बल्लाकार कोशिकाओं के ही स्तर पर होते हैं, लेकिन इनकी बहुसंख्य शाखाएं पड़ोसी कोशिकाओं को जकड़े रहती हैं और ऊपरी परत में कोशिकाओं के बीच-बीच बिंधी रहती हैं।

कार्य की दृष्टि से अंकुरक परत की कोशिकाओं में दो विशेषताएं हैं। एक तो वे परिचर्म के मुख्य अंकुरनशील तत्त्व – एधक (cambrium) – हैं जिनसे अधिचर्म की सभी ऊपरी परतों की कोशिकाएं बनती (पनपती) हैं। आधारीय झिल्ली पर उदग्र खड़ी बल्लाकार कोशिकाओं का विभाजन सूत्रण (mitosis) से होता है [सूत्रण या सूत्री विभाजन (mitotic division) – कोशिका का सामान्य विभाजन, जिसमें रंज्यकायों (chromosomes) का लंबाई के सहारे टूटना, उनके जोड़े बनना, तथा संतान-कोशिकाओं में जोड़ों का समान संख्या में वितरित होना आदि चरण आते हैं। – अनु.]। दूसरे, अंकुरक परत की कोशिकाओं के प्राटोप्लाज्म में विभिन्न आकार वाली भूरी गुलिकाओं के रूप में एक वर्णक – मेलानिन – उपस्थित रहता है। अब यह माना जाता है कि वर्णक बनने का काम सिर्फ आधारीय परत की द्रुमाकार कोशिकाओं में होता है, जो सही मायने में मेलानो-कोशिकाएं (melanocytes) हैं। अंदाज लगाया गया है कि 1mm² क्षेत्र में औसतन 1155 मेलानो-कोशिकाएं होती हैं। यह भी निर्धारित किया गया है कि काली चमड़ी में मेलानो-कोशिकाओं की संख्या गोरी चमड़ी से अधिक नहीं होती और त्वचा पर गाढ़े रंग के धब्बे वाले

स्थान पर मेलानो-कोशिकाओं की संख्या आस-पास की त्वचा की तुलना में 28.6 से 44.5 प्रतिशत ही होती है। इसीलिये अब सर्वमान्य है कि त्वचा की वर्णकता मेलानो-कोशिकाओं की संख्या पर नहीं उनकी कार्य-क्षमता पर निर्भर करती है। मेलानिन मेलानो-कोशिका के सीतोप्लाज्म (cyto-plasm – कोशिकाद्रव्य) में तीरोजीन (tyrosine) के आक्सीकरण से प्राप्त उत्पादों के बहुलकन से बनता है पूरी प्रक्रिया तीरोजीनाज (tyrosinase) नामक खमीर (ferment) के प्रभाव से चलती है जिसकी सक्रियता ताम्र-आयनों की उपस्थिति पर निर्भर करती है। अंतर्स्रावी ग्रंथियों का कार्य भी वर्णक बनने की क्रिया पर सक्रिय प्रभाव डालता है। अनुकंपी नर्वों (sympathetic nerves) का क्षोभ (या उद्दीपन, stimulation) वर्णक बनने की क्रिया को दमित करता है, लेकिन पराबैंगनी किरणें, आयनक विकिरण और कुछ रसायनिक द्रव्य इसे प्रोत्साहित करते हैं। विटामिन विशेषकर विटामिन C, वर्णक के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

काँटल परत (stratum spinosum) अंकुरक परत पर होती है; इसकी मुटाई में कोशिकाओं की 8 से 10 कतारें होती हैं, जो परत के गहरे भागों में घनवत (cuboid) होती हैं, पर ऊपर कणमय परत की ओर चपटी होती जाती हैं। काँटल परत की कोशिकाएं काँटों की तरह उभरी होती हैं और अंकुरक परत की कोशिकाओं के समान ही अंतराकोशिकीय सेतुओं से जुड़ी होती हैं वे एक-दूसरी को प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धों द्वारा छूती रहती हैं। इन कोशिकाओं के नाभिक गोल व बड़े होते हैं और उनमें एक या दो केंद्रिकाएं (जर्मन डाक्टर Th. Langhan, 1839-1915 के नाम से इन कोशिकाएं) दिखायी जा सकती हैं (स्वर्ण-रंजित करने पर)। इनके नाभिक न्यूक्लिक से रहित होते हैं और इनसे अनेक विस्तृत प्रवर्ध निकलते हैं, जो अन्य कोशिकाओं के बीच फैले रहते हैं इन कोशिकाओं में वर्णक नहीं होता, और ये हमेशा अंकुरक परत से ऊपर स्थित होती हैं लैंगहान-कोशिकाओं की प्रकृति अभी ज्ञात नहीं हुई है। कुछ विशेषज्ञ इन्हें तंत्रिका-तंत्र का मानते हैं कुछ इन्हें 'प्रवासी' श्वेतकोशिका (leucocytes) कहते हैं, कुछ मध्यस्रवा-तंतु (mesenchyma cells) का कहते हैं और कुछ इन्हें वर्णकहीन द्रुमाकार कोशिकाएं मानते हैं मध्यस्रवा भ्रूण-पिंड के प्राथमिक कोटर में अंगों व ऊतकों के अधिक घने अंकुरों के बीच का स्थान ढीले-ढाले रूप से भरने वाली कोशिकाओं को कहते हैं, जो रक्त-कोशिकाओं और अस्थीय तथा चिकने पेशीय ऊतकों को जन्म देती हैं। – अनु.) काँटल परत की कोशिकाओं में तानुतंतिकाएं (tonofibrils) भी पायी गयी हैं। ये कोशिका-द्रव्य में होती हैं और एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक फैली नहीं रहतीं, प्रोटोप्लाज्मिक प्रवर्धों में ही समाप्त हो जाती हैं। अंकुरक परत की बल्लाकार कोशिकाओं के कोशिका-द्रव्य में वे कम स्पष्ट दिखती हैं। जैसे-जैसे हम ऊपरी परत – कणमय परत – की ओर बढ़ते हैं, काँटल परत की कोशिकाएं चपटी तथा अधिचर्म की सतह के समांतर लंबी होती जाती हैं और ऊपरी परत के साथ कोई स्पष्ट सीमा बनाये बगैर उसमें मिल जाती हैं।

कणमय परत (stratum granulosum) की मुटाई में (अधिचर्म के समांतर) कोशिकाओं की 3 से 4 कतारें होती हैं (हथेली व तलवे पर चार तक होती हैं); इनके नाभिक क्रमशः चपटे होते हैं और प्रोटोप्लाज्म में मुख्य रंग से गाढ़ा रंजित असंख्य कण दिखने लगते हैं। कई वैज्ञानिक इन कणों को नाभिकीय अवजनन (degeneration) का उत्पाद मानते हैं, अन्य मानते हैं कि ये नाभिकाओं के टुकड़े-टुकड़े होने से बनते हैं। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये कण किसी विशेष द्रव्य केरातोहिआलिन (keratohyalin – शृंगीकाँच) से बनते हैं, पर बाद में यह पता चला कि यह द्रव्य न तो शृंगी है, न काँचर ही; संरचना के अनुसार यह DNA

से संबंधित है। 'शृंगीकाँचर' कणों की उपस्थिति अधिचार्म कोशिकाओं के शृंगीभवन (keratinisation) का प्रथम दृश्य चरण है।

अधिचर्म की अंकुरक, काँटल तथा कणमय परतों को अक्सर एक नाम – मालपीगी-परत – से पुकारते हैं (M. Malphighi, 1628-1694; इतालवी अनाटोमक)।

स्वच्छ परत (stratum lucidum) कणमय परत पर स्थित होती है; यह लमड़ी कोशिकाओं से बनी होती है, जिनमें प्रकाश को बहुत अधिक अपवर्तित करने वाला एक विशेष प्रोटीन-द्रव्य होता है। यह द्रव्य तेल की बूंद से मिलता-जुलता है, अतः इसे एलेइडिन कहते हैं (eleidin; ग्रीक elei = जैतून से)। मुख्य अवयव – एलेइडिन – के अतिरिक्त स्वच्छ परत में ग्लीकोजन (glycogen) तथा कुछ वसीय द्रव्य भी होते हैं, जैसे – लिपोइड (lipoids), ओलेइक अम्ल (oleic acid)।

सामान्य रंजन-विधियों (staining methods) के उपयोग से मोटी उपकलीय परत वाले चर्म-क्षेत्रों (जैसे हथेलियों और तलवों) की स्वच्छ परत एक रंगहीन धारी के रूप में दिखती है। कुछ रोगलोचनी प्रक्रियाओं (मीनत्व, रंध्रशृंगिता) में भी वह स्पष्ट दिखने लगती है। यह विचार अब प्रमाणित हो चुका है कि पानी और विद्युविश्लेषकों के लिये अधिचर्म की अबेध्यता स्वच्छ परत से ही संबंधित है: इसमें भी दो उप-परतें हैं; ऊपरी परत अम्लीय प्रतिक्रिया करती है और निचली – क्षारीय (alkaline)। इस प्रकार स्वच्छ परत अधिचर्म की बहुत जटिल परत है।

शृंगी परत (stratum corneum) अधिचर्म की सबसे ऊपरी परत है। यह बाह्य परिवेश के प्रत्यक्ष संपर्क में आती है और अनेक प्रकार के बाह्य घटकों का प्रतिरोध कर सकती है। यह सूक्ष्म, अनाभिकीय, शृंगीभूत व लमड़ी कोशिकाओं से बनी होती है। वे एक-दूसरी के साथ मजबूती से जुड़ी होती हैं और एक शृंगी द्रव्य (केरातिन, keratin) से भरी होती हैं, जिसकी रसायनिक संरचना अभी तक पूरी तरह निर्धारित नहीं हुई है। माना जाता है कि यह कोई अल्बूनोइड (albunoid) द्रव्य है, जिसमें पानी कम और गंधक अधिक होता है; इसमें वसाएं और पोलीसाखारीद भी पाये जाते हैं।

शृंगी परत का बाहरी भाग कम घना होता है; उसके मुख्य भाग से कभी-कभी और कहीं-कहीं पतली परत-सी अलग होती रहती है। इस प्रक्रिया को शरीरलोचनी विशल्कन (desquamation) कहते हैं। शृंगी परत की मुटाई चर्म में सर्वत्र समान नहीं है, वह हथेली व तलवे पर विशेष मोटी होती है और पलकों तथा बाह्य पुरुष-जनेंद्रिय पर बहुत पतली होती है।

सुचर्म या वास्तविक चर्म

सुचर्म (true skin, dermis, cutis या corium) अधिचर्म और अधोचार्म वसा के बीच होता है। इसमें दो परतें होती हैं – पिटिकामय (papillary) और जालिकामय (reticular) जालिकामय परत अधोचार्म वसा के साथ स्पष्ट सीमा नहीं बनाती, वरन् क्रमशः उससे घुल-मिल जाती है। पिटिकामय परत रक्तवाही कुंभियों के जाल के सीमातल से ऊपर और अधिचर्म के नीचे (अर्थात् दोनों के बीच) होती है। सुचर्म में अधिचर्म के पुलिन (बढ़े हुए सँकरे भाग, strands) फँसे रहते हैं, जिनके सिरे गोल होते हैं। पिटिकाएं papillae – चुचिकाएं) इन्हीं पुलिनों के बीच-बीच घुसी होती हैं। इस तरह के संगुंथन के कारण ही अधिचर्म और सुचर्म की सीमा लहरदार हो जाती है और वे आपस में अधिक मजबूती के साथ जुड़े रहते हैं। पिटिकाओं की ऊँचाई और आकृति एक

ही परत में स्थानानुसार भिन्न होती है। हथेलियों और तलवों पर पिटिकाएं बहुत ऊँची हो सकती हैं, लेकिन जहां परिचर्म बहुत ही पतला होता है, उन्हें देख पाना भी मुश्किल होता है: वे सिर्फ एक हल्की लहरदार रेखा बनाती हैं। पिटिकाओं की उपस्थिति से शायद अधिचर्म के पोषण की परिस्थितियां बेहतर हो जाती हैं, क्योंकि वे अधिचर्म के साथ सुचर्म के स्पर्श-तल का क्षेत्रफल बहुत अधिक बढ़ा देती हैं, जिससे पिटिकाओं की केशिकाओं (केश-नलियों, capillaries) से हो कर अधिचर्म में पोषक पदार्थों की आपूर्ति सरल हो जाती है। अधिचर्म और सुचर्म के बीच की अधारीय झिल्ली द्रव्य-विनिमय (metabolism) में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, यद्यपि इसकी [illegible] पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुई है। कुछ शोधकर्त्ताओं का विश्वास है कि झिल्लीय कोशिकाओं के [illegible] प्रवर्ध (protrusions) और सुचार्म (सुचर्म की) रजतप्रेमी तंतिकाएं (dermal [illegible] fibrils) मिल कर एक घना जाल बनाती हैं, जो झिल्ली जैसी लगती है। अन्य विशेषज्ञों की मान्यता है कि यह वास्तव में एक समज (एकसार, homogenous) झिल्ली है, जिसमें [illegible] द्रव्यों (lipoids) की अल्पमात्राएं तथा मूकोपोलीसाखारीद (मुख्यतः हिआल-उरोनिक तथा कोंड्रोइतिन-सल्फरिक अम्ल) होते हैं।

सुचर्म कोलाजन (collagen), प्रत्यास्थ (elastic), व रजतप्रेमी प्राक्कोलाजन (precollagen) तंतुओं और एक अन्य रूपरचनाहीन पदार्थ से बना होता है, जो योजक ऊत-तंतुओं के बीच पाया जाता है। सुचर्म की पिटिकामय परत कोलाजन-तंतुओं के पतले पुलिंदों और अनेक महीन प्रत्यास्थ व रजतप्रेमी तंतुओं से बनी होती है। जालिकामय परत में कोलाजन के पुलिंदे अधिक मोटे तथा [illegible] होते हैं और परतों का एक घना जाल बनाते हैं।

[illegible] कोलाजन-तंतुओं के पुलिंदों के बीच अनेक प्रत्यास्थ तंतु होते हैं, लेकिन ये पिटिकामय [illegible] तंतुओं से मोटे होते हैं और एक मोटी जालिका बनाते हैं। जालिकामय परत की संरचना ही चमड़े की मजबूती निर्धारित करती है, जो शरीर के भिन्न स्थलों पर भिन्न होती है।

सामान्य स्वस्थ चर्म की जालिकामय और विशेषकर पिटिकामय परतों में बहुत कम प्रकार की कोशिकाएं होती हैं: रेशाकुर (fibroblast), ऊतकोशिकाएं (histiocytes), लसकोशिकाएं (lymphocytes), आधारस्थ कोशिकाएं (basicytes), बल्लाकार कोशिकाएं (mast cells), प्लाज्मिक कोशिकाएं (plasmocytes) और एक विशेष वर्णक-कोशिकाएं – मेलानोभोजी (melanophages)।

[illegible] लोम), ग्रंथियां (चर्म के उपकलीय प्रवर्ध), पेशियां, कुंभियां, नर्व तथा नर्व-सिराएं [illegible] में होती हैं।

चर्म का गहरा भाग (अधोचार्म वसीय ऊतक), अवचर्म

[illegible] ऊतक (subcutaneous tissue) या अवचर्म (hypoderm) कोलाजन के मोटे-मोटे बंडलों [illegible] प्रत्यास्थ तंतुओं से बना होता है, जो सुचर्म की जालिकामय परत से शुरू होते हैं [illegible] की विस्तृत जालिका बनाते हैं। इस जालिका में वृहत चर्बिल कोशिकाएं (fat [illegible] – चर्बिल ऊतकों की लुंडिकाएं (lobules, नन्ही फाँके) – एकत्रित होती रहती हैं। चर्बिल [illegible] पूरी तरह चर्बी (वसा या मेद, fat) की एक बड़ी बूंद से बनी होती है, जो [illegible] को बिल्कुल एक किनारे विस्थापित कर देती है। कोशिका में प्रोटोप्लाज्म [illegible] चर्म-पट्टिका (skin fascia) योजक ऊतकों की मोटी पट्टी है और अवचर्म [illegible] यह अक्सर नीचे स्थित पर्यस्थिका (periosteum) या पेशियों की चौरस

कंडरा (aponeurosis) के साथ घुलमिल कर एक समान संरचना की हो जाती है। योजक ऊतक के तंतुओं के पुलिंदे पट्टिका (fascia) की ऊपरी सतह से शुरू हो कर सुचर्म तक फैले होते हैं और एक तरह की जाली बनाते हैं, जिसे चार्म बंधनी (retinaculum cutis) कहते हैं। प्रत्यास्थ तथा कोलाजनी तंतुओं की मुटाई और लंबाई ही निम्नस्थ ऊतकों और अंगों पर चर्म की चलनशीलता (mobility) निर्धारित करती हैं।

अवचर्म की मुटाई भिन्न आदमियों में और एक ही आदमी के चर्म में भिन्न स्थलों पर भिन्न होती है। कपाल (खोपड़ी) पर वह अक्सर 2mm होती है, पीठ पर 5 से 10mm होती है, लेकिन पेट और नितंबों पर कई सेंटीमीटरों तक पहुँच सकती है। पलकों पर, नखों के नीचे, और लिंगछद, अंडकोष तथा लघु भगोष्ठ पर अधोचार्म वसीय ऊतक नहीं होता; नाक, कान और होठों (सिंदूरी सीमा) पर थोड़ा-बहुत होता है।

अधोचार्म वसा शरीर को यांत्रिक क्षतियों से और ठंडा होने से बचाती है। नर्व तथा कुंभियां इसकी गहराई में होती हैं, लेकिन लोमकंद और स्वेद-ग्रंथियों की कुंडलियां इसके ऊपरी भाग में भी पनप सकती हैं।

चर्म-पेशियां, लोमहर्षक पेशियां (musculum arrectores pilorum) और कुंभियों तथा स्वेद-ग्रंथियों की दीवारों के पेशि-तंतु चर्म की चिकनी स्वैच्छिक पेशियां कहे जाते हैं। लोमहर्षक पेशियां लोम के साथ तिरछी लगी होती हैं। जब ये पेशियां सिकुड़ती हैं, बाल (लोम) खड़ी करती हैं और वपाल ग्रंथियों (sebocious glands) में से स्राव निचोड़ती हैं। ऐसी चिकनी पेशियों के रेशे, जो लोमकूप से संबंधित नहीं होते, कपाल (सर), ललाट तथा गालों पर और हाथ-पैर की पेशी सतहों पर पाये जाते हैं। इन तंतुओं की परतें का अधिकांश भाग अंडकोष, काँख, चूचुक, गुदा तथा लिंगछद को आच्छादित रखने वाले चर्म की पिटिकामय परत में होता है। चेहरे को हावभाव प्रदान करने वाली पेशियां रेखित (striated) होती हैं।

चर्म में रक्तापूर्त्ति

चर्म-ऊतकों में रक्त की आपूर्ति रक्तवाही कुंभियों के कई जालों के सहारे होती है। बड़ी धमनीय कुंभिया पट्टिका से अधोचार्म वसा में फैलती है और नन्ही शाखाओं में बँट कर चर्बिल लुंडिकाओं तक पहुँचती हैं। सुचर्म और अवचर्म की सीमा पर वे ऐसी शाखाओं में बँट कर क्षैतिज रूप से फैलती हैं, जो पुनः उन्हें आपस में मिलाती है (anastomose – दो कुंभियों, नलियों का आपस में शाखाओं द्वारा मिलना शाख-संगम)। चर्म में गहरा धमनीय गुंफ (जाला, बुनावट, plexus) उत्पन्न होता है, जिससे निकली हुई शाखाएं स्वेद-ग्रंथियों की कुंडलियों, लोमकूपों और चर्बिल लुंडिकाओं का पोषण करती है। इसके अतिरिक्त, गहरी धमनीय गुंफ से पर्याप्त बड़ी धमनियां भी फूटती हैं, जो अवपिटिकामय (subpapillary) परत में पहुँचती हैं और वहां सतही अवपिटिकामय धमनीय गुंफ बुनती है। इससे निकलने वाली नन्ही धमनीय शाखाएं पेशियों, वपाल ग्रंथियों, स्वेद-ग्रंथियों और लोमकूपों का पोषण करती हैं।

अवपिटिकामय गुंफ से ऐसी भी नन्ही धमनियां निकलती हैं, जो आपस में नहीं मिलती हैं (और इसीलिये वे अन्त्य धमनियां कहलाती हैं); ये कुछ दूर तक अधिचर्म के समांतर जाकर केशिकाओं (capillaries) में परिणत हो जाती है, जो पिटिकाओं में पहुँच कर नन्हे पाश बनाती

हैं। ये पाश क्रमशः शिरीय केशिकाओं के पाशों में परिणत हो जाते हैं। शिरीय केशिकाएं धमनीय केशिकाओं से कुछ चौड़ी होती हैं।

पिटिकाओं, वपाल ग्रंथियों, स्वेद-ग्रंथियों की निकास-नलियों, लोमकूपों और पेशियों से निकल कर शिरीय कोशिकाएं आपस में मिलती जाती हैं और प्रथम सतही अवपिटिकामय शिरीय गुंफ तैयार करती हैं। अधोचार्म वसा तक के क्षेत्र में चार शिरीय गुंफ हैं। चौथे गुंफ से निकली शिराएं अवचर्म से गुजरती हैं और अधोचार्म (चर्म से नीचे की) शिराओं से मिल जाती हैं।

अधिचर्म में रक्तकुंभियां (blood vessels) नहीं होतीं।

रक्तकुंभियों का सबसे शक्तिशाली जाल चेहरे, हथेलियों, होठों की चमड़ी में और गुदा के निकट चर्म में होता है।

चर्म का लसीका-तंत्र

चर्म में लसवाही कुंभियों (lymphatic vessels) के दो जाल होते हैं—सतही और गहरा। लसकुंभियों का सतही जाल पिटिकामय परत में बंद गोल विस्फारित मुंह वाली केशिकाओं से बनता है जो अनेक योजक केशिकाओं से परस्पर जुड़ी रहती हैं। लसकुंभियों का दूसरा जाल सुचर्म के निचले हिस्से में होता है; इनमें कपाट भी होते हैं। यह चौड़े पाशों का एक जाल है, जो लसकुंभियों के गुंफन के रूप में होता है; गहराई में जाकर यह लसकुंभियों की बड़ी शाखाओं से जा मिलता है।

चर्म का नार्वग्राहक तंत्र

चर्म में नर्व-तंतुओं और विशेष नर्वसिरा-उपकरणों (nerve end apparatus) की भरमार होती है। ये मिलकर चर्म का एक विस्तृत अभिग्राही (संवेदग्राही) क्षेत्र बनाते हैं, जिसकी बदौलत चर्म एक ज्ञानेंद्रिय का काम करने में समर्थ होता है।

चर्म के नर्वायन (innervation) में प्रमस्तिष्कमेरुक (cerebrospinal) और पनपू (vegitative, अनुकंपी, sympathetic) दोनों ही प्रकार के नर्व भाग लेते हैं। मुख्य नर्व-गुंफ अधोचार्म ऊतकों की गहराई में होता है। इससे निकलने वाले चार्म नर्व (skin nerves) सुचर्म को पार करते हुए असंख्य नन्ही शाखाएं छोड़ते हैं, जो लोमकूपों, वपाल और स्वेदक ग्रंथियों और चर्म की अन्य कुंभियों तक पहुँचती हैं।

इन नर्व-तंतुओं का एक गुंफ (plexus) अवपिटिकामय परत में होता है, जहां से अलग-अलग नर्व-तंतु पिटिकाओं और अधिचर्म में प्रविष्ट होती हैं। अधिचर्म पहुँच कर महीन नर्व-तंतु अपना मेदिल-आवरण (myelin sheath) खो देते हैं और अंकुरक एवं काँटल परतों के अंतराकोशिकीय स्थान में निर्मिएलिनित (demyelinated) अक्षीय बेलनों के रूप में प्रविष्ट होते हैं।

नर्व-सिरा (अभिग्राहक, receptor) दो प्रकार की होती हैं—कोषहीन (मुक्त) और कोषयुक्त (capsulated)। मुक्त नर्व-अभिग्राहक या तो द्रुमाकार (वृक्ष की तरह विशाखित) होते हैं या कुंडली-सदृश (coil-shaped), जो कभी-कभी सिरे की ओर बटन या शंकु की तरह फूले हुए बहुत महीन तंतु से बनी होती है। नर्व-सिरा (काय या कण) का कोष योजक ऊतक के संपुट (थैले) से बना होता है।

चर्म के संवेदी नर्वों और नर्व-सिराओं पर स्थित विशेष उपकरणों की सहायता से ही दर्द, गर्मी, ठंडक, दबाव और स्पर्श की अनुभूतियां प्राप्त होती हैं।

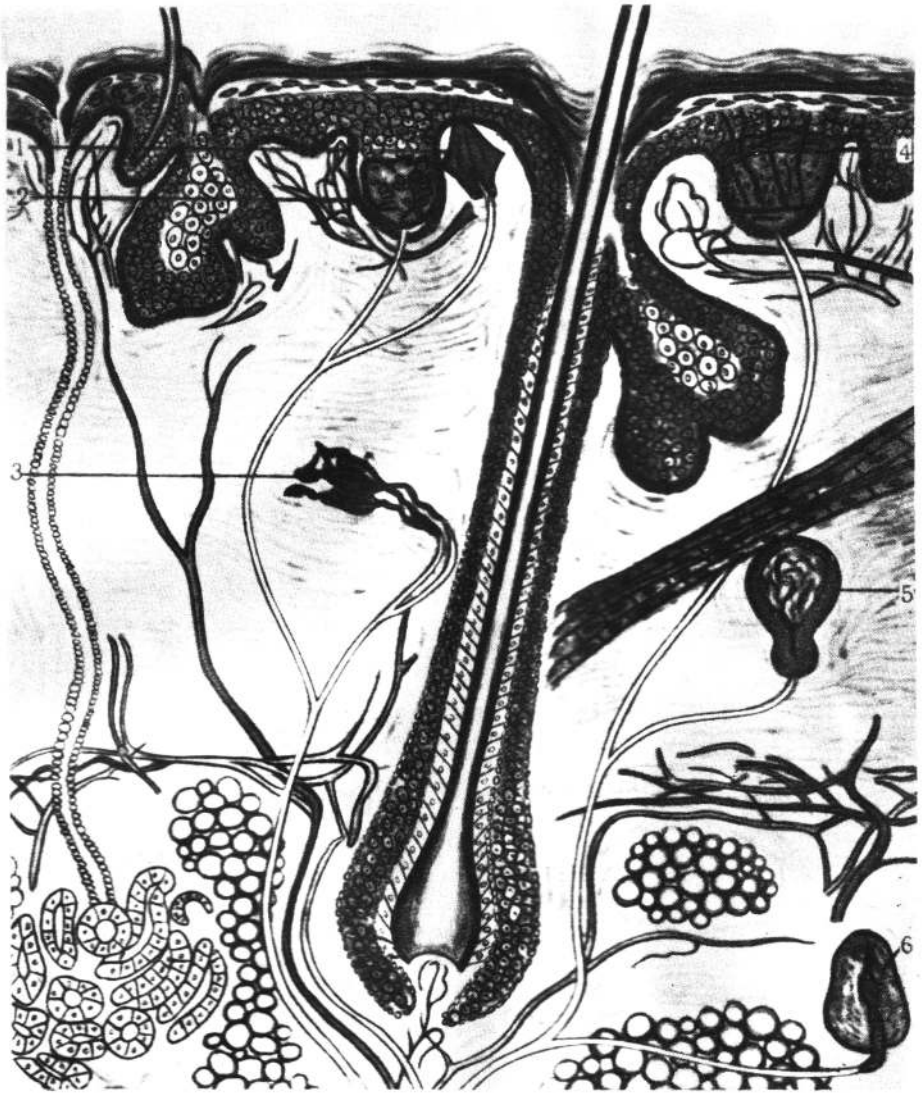

चित्र 2. चर्म के संवेदनाग्राही उपकरण की संरचना (आरेख)

1. माइस्नेर-कण ; 2. मेर्केल की स्पर्श-कोशिकाएं ; 3. रूफीनी-काय ; 4. मुक्त नर्व-सिराएं ; 5. क्राउज की घुंडी ; 6. पटलित (अस्तरित) काय

कोषयुक्त काय कई प्रकार के होते हैं ; यह नर्व-सिरा के विशाखन (आंतरिक घुंडी) और बाह्य खोल (संपुट) पर निर्भर करता है। मानव-चर्म में निम्न प्रकार के कोषयुक्त नर्वसिरा-उपकरण होते हैं : वाटेर-पासीनी के पटलित कण, गोल्गी-माजोनी के काय, माइस्नेर-कण, क्राउज-घुंडी और रूफीनी-काय। यद्यपि कुछ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि मानव-चर्म में रूफीनी-काय नहीं होता। चित्र 2 में चंद नर्वासिरा-उपकरणों के आरेख दिखाये गये हैं।

वाटेर-पासीनी के पटलित कण (laminated Vater-Pacini corpuscles) वृहत्तम कोषयुक्त अभिग्राहक हैं, जिनकी माप 3mm या इससे अधिक भी हो सकती है। ये अक्सर अधोचार्म वसा में स्थित होते हैं। यह माना जाता है कि ये आंतरिक दाब की अनुभूतियों (sensation) तथा अन्य अंतरानुभूतियों (proprioceptive sensations) का ज्ञान कराते हैं। (इन अनुभूतियों में पेशियों, संधियों, कंडराओं सदृश अवयवों के क्षोभ का ज्ञान शामिल है, जिससे शरीर के अंगों की पारस्परिक स्थिति, संधियों पर मोड़, पेशियों का तनाव आदि नियंत्रित होता है।—अनु.) ये अंतरस्थाग्राहक (या स्वामग्राहक, proprioceptor) हथेलियों, तलवों तथा जननेंद्रियों पर विशेष बड़ी संख्या में मिलते हैं। पटलित कणों के कोष योजक ऊतक की महीन परतों से बनते हैं, जिनके बीच लसीका-द्रव होता है। पटलित कोष में केंद्र पर एक बेलनाकार गुहा होती है (आंतरिक गुहा) रक्तवाही तथा लसीकावाही केशिकाएं कोष में आती हैं। नर्व-तंतु कोष की ओर आकर अपना आवरण खो देता है और कोष के केंद्र में निर्मिएलिनित (demyelinated) अक्षीय बेलन के रूप में प्रविष्ट होता है। यह पूरे आंतरिक कोष में फैला रहता है, इससे महिन पार्श्व शाखाएं फूटती हैं और इसका सिरा गदा की तरह मोटा होता है।

गोल्जी-माज़ोनी काय (Golgi-Mazzoni bodies) अब पटलित कणों का ही एक प्रकार माना जाता है, यद्यपि वह इन कणों से बहुत छोटा होता है और अवचर्म में नहीं बल्कि सुचर्म में ठीक पिटिकाओं के नीचे या पिटिकाओं में स्थित होता है।

माइस्नेर के स्पर्शवेदी कण (Meissner's tactile corpuscles) पिटिकाओं में स्थित होते हैं, इनका आकार लम्बे अंडे जैसा होता है। योजक ऊतक से बना हुआ इनका बाह्य कोष बहुत पतला होता है और उसके भीतर लंबे अक्ष के समानांतर विशेष 'स्पर्शवेदी कोशिकाएं' (tactile cells) अवस्थित रहती हैं। मिएलिनित नर्व-तंतु कोष के निचले ध्रुव तक आता है और यहां अपना आवरण खो कर कोष में नंगे अक्षीय बेलन के रूप में प्रविष्ट होता है। अंदर वह मेनिस्क (meniscus) जैसी मोटी सिराएं बनाता है, जो स्पर्शकोशिकाओं से जुड़ती हैं। माइस्नेर-कण विशेषकर उन व्यक्तियों में अच्छा विकसित रहते हैं, जिनके दैनंदिन जीवन में और विशेषकर काम में स्पर्श का अधिक महत्व रहता है। ये कण उंगलियों के पोरों, होठों और जीभ की श्लेष्मला में विशेष बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं।

क्राउज की घुंडियां ठंड की संवेदना अभिग्रहण करती हैं। ये पिटिकाओं में और उनके नीचे स्थित होती हैं और महीन योजक ऊतक के कोष में बनती हैं। इनका आकार अंडे जैसा होता है। नर्व-तंतु अपना आवरण खो कर कोष में प्रविष्ट होते हैं और वहां एक मोटी कुंडली (coil) बनाते हैं।

रूफिनी-काय (Ruffini's bodies) गर्मी की संवेदना अभिग्रहण करते हैं; इनकी संरचना क्राउज की घुंडियों जैसी ही होती है, पर ये और भी गहराई में, सुचर्म के गहरे भाग में और त्वचा के तल से ऊपर स्थित रहते हैं।

चर्म का ग्रंथिल उपकरण. वपाल और स्वेदक ग्रंथियां

त्वचा के ग्रंथिल उपकरण (grandular apparatus of skin) विविध प्रकार के होते हैं; इनमें त्वचा की स्वेदक ग्रंथियां आती हैं, जिनकी बनावट और कार्य-सिद्धांत में बहुत विविधता होती

वपाल ग्रंथियों (sebaceous glands) की गणना पूर्णस्रावी ग्रंथियों (holocrine glands) में होती है; ये ऐसी ग्रंथियां हैं, जिनका स्राव उनकी कोशिकाओं के शरीरलोचनी अवजनन (degeneration) और अवघटन (decomposition) से संबंधित होता है, अर्थात् जिनमें ग्रंथिकोशिकाएं (glandulocytes) स्वयं नष्ट होती हुई स्रावित होती हैं। इसकी प्रक्रिया निम्न है। वपाल ग्रंथि की तीव्र विभाजनरत उपकलीय कोशिकाएं ग्रंथि की थैली के परिसर पर इकहरी पंक्ति में व्यवस्थित होती हैं। वे ग्रंथि की दीवार से धीरे-धीरे केंद्र की ओर विस्थापित होती हैं और साथ-साथ शरीर-लोचनी रूप से अवजनित होती जाती हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें वसा-सदृश द्रव्य की अनेक बूंदें बनती हैं और साथ ही कोशिकाओं के नाभिक सिकुड़ने लगते हैं। जिन कोशिकाओं का वसीय अवजनन हो चुकता है, वे फूल कर फट जाती हैं और ग्रंथि का स्राव – वपा (sebum) – कोशिका के टुकड़ों समेत ग्रंथि की विस्तृत निकास-नली में पहुँच जाता है।

वपाल ग्रंथियां हथेलियों और तलवों को छोड़ कर चर्म के सभी क्षेत्रों में होती हैं। अधिकांशतः वे लोमकूपों से जुड़ी होती हैं – एक लोमकूप के गिर्द एक से अधिक (छे-आठ तक) वपाल ग्रंथियां पायी जाती हैं। उनका स्राव लोमहर्षक पेशियों के सिकुड़ने से 'निचुड़ कर' बाहर आता है। सिंदूरी सीमा, लिंगपूग, लिंगछद की आंतरिक सतह, लघु भगोष्ठों, चुचुकों तथा पलकों आदि पर लोम नहीं होते, अतः इन सतहों पर वपाल ग्रंथियों के खुलने लोमकूपों से जुड़े नहीं होते, वे खुद सतह पर खुलते हैं। लिंगछद की आंतरिक सतह पर की वपाल ग्रंथियों को टायजन-ग्रंथियां कहते हैं (अंग्रेज अनाटोमक E. Tyson, 1649-1708. के नाम पर); ये स्मेग्मा (smegma) उत्पन्न करती हैं। (ग्रीक 'स्मेग्मा': मुगं धित लेप, उबटन। – अनु.) पलकों की कोर में स्थित वपाल ग्रंथियों को माइबोमी ग्रंथियां कहते हैं (जर्मन अनाटोमक H. Meibomi 1638-1700, के नाम पर)। लोमकूप से असंबद्ध वपाल ग्रंथियां मानव-शरीर की सतह पर समरूपता से वितरित नहीं है। इन ग्रंथियों की मात्रा भी सर्वत्र समान नहीं होती: नाक व गाल पर, उरोस्थि (sternum) के क्षेत्र में और कंधुड़ों (shoulderblades) से नीचे व ऊपर के क्षेत्रों पर वे बहुत बड़ी-बड़ी होती हैं।

वपा (sebum) की संरचना जटिल है। इसमें मुक्त एवं अनुबंधित (bound) दोनों ही प्रकार के निम्नतर (सरलतर) एवं उच्चतर (जटिलतर) वसीय अम्ल, खोलेस्टेरोल एवं इजोखोलेस्टेरोल एस्टर (isocholesterol esters), लिपोइड, प्रोटीन-उत्पाद, फोस्फेट, क्लोराइड तथा अन्य घुलनशील द्रव्य है, जिनमें से कइयों का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। वातावरण के संपर्क में वपा गाढ़ी हो जाती है।

स्वेद ग्रंथियां (sweat glands) साधारण नलीरूपी (tubular) ग्रंथियां हैं, जिनसे स्वेद (पसीना) प्रतिवर्त-स्वरूप स्रावित होता है। ये ग्रंथियां ताप-नियमन (thermo-regulation) में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनकी संख्या 30 लाख से अधिक है।

स्राव की प्रकृति के अनुसार दो प्रकार की स्वेदक ग्रंथियां होती हैं: विस्रावी (eccrine) और अपस्रावी (apocrine)। विस्रावी ग्रंथि की कोशिकाएं स्रवण-प्रक्रिया में सुरक्षित बनी रहती हैं, जबकि अपस्रावी ग्रंथि की कोशिकाओं का शीर्ष-भाग (apical part) नष्ट होकर स्राव में परिणत हो जाता है।

स्वेद-ग्रंथियों से प्रति दिन 300 से 800ml स्वेद स्रावित होता है; अननुकूल परिस्थितियों में इसकी मात्रा 1500ml तक या इससे अधिक भी हो सकती है।

विस्रावी ग्रंथियां चर्म के सभी क्षेत्रों में पायी जाती हैं – सिर्फ सिंदूरी सीमा, लिंगपूग, लिंगछद की आंतरिक सतह तथा लघु भगोष्ठ की बाह्य सतह पर नहीं होतीं। हथेलियों और तलवों में उनकी संख्या विशेष बड़ी होती है; ललाट, वक्ष, पेट और प्रबाहु (कोहनी और कलाई के बीच)

भी बहुत अधिक होती हैं। विस्रावी ग्रंथि एक लंबी उपकलीय नली है, जिसका कुंडली-सदृश सिरा [illegible] ग्रंथि का काय) मुचर्म की गहरी परतों में होता है (अवचर्म की ऊपरी परतों में भी होता है, पर बहुत ही कम)। इसीलिये इसकी निकास-नली (draining duct) बहुत लंबी होती है। ग्रंथि के काय की दीवार (अर्थात् उसका स्रावी अंग) घन-सदृश या स्तंभाकार ग्रंथिक उपकला, एक आधारीय झिल्ली और एक योजक ऊतकीय कोष से बनी होती है। विश्रामावस्था में स्रावी कोशिका [illegible] होती है और उसमें विभिन्न मापों की गुलिकाओं (granules) के रूप में अनेक भस्म-[illegible] (basophil [illegible] भस्मीय रंगों से सरलतापूर्वक रंजित होने वाले) द्रव्य, वसा की बूंदें और [illegible] होते हैं। स्रवण के बाद वह पिचक जाती है। आधारीय एवं उपकलीय झिल्लियों के बीच [illegible] रूप से बिछे पेशि-तंतुओं की एक परत होती है। इन्हें पेशि-उपकलीय कोशिकाएं [illegible] है [illegible] जब ये नर्व-स्पंदों के प्रभाव से सिकुड़ते हैं, स्वेद-ग्रंथि 'निचुड़ती' है और स्राव निकास-नली से आता है।

[illegible] स्वेद-ग्रंथि की निकास-नली ग्रंथि-काय से ऊपर अधिचर्म के साथ लगभग अभिलंब दिशा में [illegible] है। मुचर्म में नली की दीवार उपकलीय घनवत कोशिकाओं से बनी होती है। अधिचर्म में [illegible] रूप में पेंठी होती है और अपनी दीवार सुरक्षित रखती है – यह पिंकुस (G. Pincus, [illegible] अमरीकी चर्मलोचक) और क. [illegible] कालांतायेव्स्काया ने परस्पर स्वतंत्र रूप से सिद्ध किया था।

[illegible] स्वेद-ग्रंथियां अधिकांशतः काँख में होती हैं (वहां उनकी परत 0.5 से 4mm तक [illegible] है [illegible] के गिर्द, चुचुक के क्षेत्र में, बाह्य स्त्री-जननेंद्रियों, जंघामूल व पशम [illegible] [illegible] umbilicus) के गिर्द भी वे बहुतायत में होती हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि इन ग्रंथियों के स्रवण से स्रावी कोशिकाओं के स्रावी अंग नष्ट हो जाते हैं। अपस्रावी [illegible] विकासी ग्रंथियों से बड़ी होती हैं, उनकी निकास-नलियां लोमकूपों में खुलती हैं, जबकि [illegible] अधिचर्म उस की गहराइयों में होते हैं। अपस्रावी ग्रंथियों के कार्य जनन-ग्रंथियों (sex [illegible] glands) से सम्बंधित होते हैं, इसीलिये यौन-परिपक्वता तक वे अविकसित रहते हैं। [illegible] के बाद इन ग्रंथियों के कार्य क्षीण हो जाते हैं।

स्वेद-ग्रंथियों का काय (कुंडली) अनेक केशिकाओं के घने जाल से घिरा होता है। उसका [illegible] अनुकंपी नर्व की शाखाओं से होता है, जो योजक ऊतक से बने कोष में स्थित [illegible] है।

लोम और लोमकूप

[illegible] कई प्रकार के हैं: लंबे (बाल: सर, दाढ़ी, मूंछ, पशम एवं जननेंद्रियों पर; [illegible] कड़े [illegible] पपनियां या बरूनियां; नाक में और बाह्य कर्ण पर); रोमल [illegible] (धड़ और हाथ-पैर पर)।

[illegible] के विभिन्न क्षेत्रों पर लोमों की लंबाई, घनापन, उनके बढ़ने और गिरने की दर बहुत [illegible] है। किरीट (crown, सर के उच्चतम हिस्से) के प्रति 1cm² क्षेत्र पर 300-320 [illegible] पर 200-240, ठुड्डी पर 44, प्रबाहु (forearm, कोहनी से कलाई [illegible] की पश्च सतह पर 24, और हथेली के पीछे सिर्फ 18 लोम। कपाल (सिर) पर [illegible] बाल होते हैं। उनका वर्धन-दर 0.1 से 0.5mm प्रति 24 घंटा [illegible] की सामान्य अवस्था, नर्वतंत्र तथा अंतस्रावी ग्रंथियों के कार्य,

पोषण और अनेक अन्य घटकों पर निर्भर करती है, जो ऊतकों के पोषण को प्रभावित करते हैं। लोमों की जिंदगी कुछ महीनों से लेकर चार वर्षों या इससे अधिक की भी हो सकती है। सामान्य परिस्थितियों में वयस्क व्यक्ति के 30-100 बाल प्रति दिन झड़ जाते हैं।

बाल के दो अंग हैं: चर्म की सतह से ऊपर निकला हुआ डंठल (लोम का बाहरी या मुक्त भाग) और चर्म में गड़ी हुई जड़ (लोम-मूल)। लोम-मूल झिल्लियों और योजक ऊतक के आवरण में बंद रहता है, जिसे लोमकूप (hair follicle या sacculus) कहते हैं। जड़ का निचला, मोटा भाग लोमकंद (hair bulb) कहलाता है; यही वह अंग है, जहां से बाल या लोम पनपता है। लोम-पिटिकाएं अपने साथ नर्व-तंतु तथा लोम की पोषक रक्त-कुंभियां लिये हुए लोम-कंद में ही प्रविष्ट होती हैं।

लोमकूप बेलनाकार होता है और चर्म की सतह पर शंकु या कीप की तरह विस्तृत हो जाता है; इस भाग को लोमकूप का मुख (लोम-छिद्र, infundibulum of hair) कहते हैं, जिससे बाल बाहर निकलता है। वपाल ग्रंथियों की निकास-नलियां लोमकूप के साथ इसकी ऊपरी और बिचली तिहाइयों की सीमा पर मिलती हैं। लोमकूप की दीवार पर उपकला का अस्तर होता है। लोम-छिद्र के पास इस अस्तर में उपकला की सारी परतें मौजूद रहती हैं, पर इससे नीचे सिर्फ आधारीय और काँटल परतें रह जाती हैं (बाह्य मूलावरण)। गहराई में लोमकंद की ओर जाते-जाते मूलावरण पतला होने लगता है और अंत में लोमकंद की कोशिकाओं के साथ घुल-मिल जाता है।

लोमकंद बहुकोणिक (polygonal) कोशिकाओं से बना होता है, जो निरंतर प्रजनित होती रहती हैं; उनमें वर्णक बहुत अधिक मात्रा में होता है। कंद की कोशिकाएं लोम को और लोम-मूल व बाह्य मूलावरण के बीच स्थित कोशिकाओं की कुछ परतों को जन्म देती हैं। ये आंतरिक मूलावरण बनाती है, जो लगभग उस स्थान तक पहुँच जाता है, जहां वपाल ग्रंथियों की नलियां खुलती हैं। इसमें तीन परतें होती हैं: (1) आंतरिक मूलावरण-चर्मिका (root-sheath cuticle), जो लोम-चर्मिका से सटी शृंगी कोशिकाओं की इकहरी परत से बनी होती है; ये कोशिकाएं काट (section) में मुश्किल से नजर आती हैं; (2) हक्सले-परत (बहुकोणिक कोशिकाओं की एक या दो कतारें; लोमकूप की गहरी परतों में स्थित कोशिकाओं के नाभिक सिकुड़े हुए व घनीभूत होते हैं, अर्थात् द्रव-अंश खो कर अधिक घनत्व वाले हो जाते हैं; ऊपरी हिस्सों की कोशिकाएं नाभिकहीन होती हैं); (3) हेनले-परत – नाभिकहीन शृंगी कोशिकाओं की इकहरी कतार से बनी बाह्य परत। वपाल ग्रंथि के मुहाने पर हक्सले तथा हेनले की परतें शल्की (squamous) हो जाती हैं और टूट-टूट कर वपा (sebum) के साथ मिलती रहती हैं।

लोम-मूल में भी तीन परतें होती है: (1) केंद्रिय परत जिसे मज्जा (medulla) कहते हैं; यह शृंगी बहुकोणिक (polygonal) कोशिकाओं से बनी होती है और सिर्फ लंबे लोमों (बालों) में पायी जाती है; (2) लोम का मुख्य भाग, वल्कुट (cortex), जो शृंगी खंडों से बना होता है; इनमें वर्णक की बहुत बड़ी मात्रा होती है; (3) लोम-चर्मिका (बाल की खाल – hair cuticle) शृंगी परतों से बनी होती है, जो ईंटों की तरह एक पर एक सजी होती हैं; इनमें वर्णक नहीं होता।

लोम-मूल और आंतरिक मूलावरण की चर्मिकाएं परस्पर जुड़ी होती हैं; जिससे लोम लोमकूप की दीवारों के साथ मजबूती से जुड़ा रहता है।

लोमकूप के योजक-ऊतकीय कोष में अनेक महीन, प्रत्यास्थ एवं रजतप्रेमी तंतु होते हैं, जो बाह्य मूलावरण की सीमा पर स्थित झिल्ली की आधार-भूमि (basement) बनाते हैं।

लोमकंदों की तरह लोमकूप भी अनेक नर्व-तंतुओं से घिरे रहते हैं। लोमों के साथ चिकनी पेशियां (smooth muscles) लगी होती हैं, जिनके बारे में ऊपर चर्चा हुई थी। ये पट्टी के आकार की होती हैं. इनका एक सिरा सघन (compact) मुचार्म परत में जड़ा होता है और दूसरा बाह्य योजक-ऊतकीय लोमावरण के साथ, वपाल ग्रंथि के मुहाने से थोड़ा नीचे। पेशी के सिकुड़ने से लोम खड़ा होता है, जिससे वपाल ग्रंथि संपीडित (compressed) होती है और वपा स्रवित होती है।

नख

नख (nail, unguis) अंगुलियों के दूरवर्ती (distal) खंड की पश्च (dorsal) सतह पर स्थित [illegible] पट्टे (horny plate) को कहते हैं: इस पट्टे के नीचे की सतह को नखसेज (nail bed) कहते हैं। नखों की निकटवर्ती (proximal) तथा पार्श्व किनारियां चमड़ी की सिलवट से ढकी होती है, जिसे नखचूण (nail fold) कहते हैं।

नख का काय (corpus) होता है: उसका मूल उसकी निकटवर्ती किनारी है। दूरवर्ती किनारी मुक्त होती है और निरंतर आगे की ओर पनपती (बढ़ती) रहती है। निकटवर्ती नखचूण नख की निकटवर्ती किनारी को एक मेहराब के रूप में ढकती है: वह अधिचर्म का एक महीन शृंगी [illegible] बनाती है जिसे नख-चर्मिका (nail cuticle) या अधिनख (eponychium) कहते हैं। नखसेज का जो भाग नखमूल से ढका होता है उसे नख का मातृक्स (matrix unguis) कहते हैं। नख [illegible] है। नख-काय के निकटवर्ती भाग (अर्थात् मातृक्स के दूरवर्ती भाग) पर एक [illegible] अर्धचंद्राकार क्षेत्र होता है, जिसे चंद्रक (lunula) कहते हैं। चंद्रक अंगूठों पर अधिक स्पष्ट होता है।

नख [illegible] शृंगी द्रव्य से बना होता है। इसकी बाहरी सतह चिकनी होती है, लेकिन भीतरी सतह [illegible] खुरदरी होती है; इसके उभार नख को नखसेज पर मजबूती से जड़ने में सहायक होते हैं।

मातृक्स के क्षेत्र में नख-मूल के निकट और नीचे बड़ी-बड़ी कोशिकाएं होती हैं; इनका प्रोटोप्लाज्म हल्का और समरूप (समरूप, एकसार) होता है, परिरेखा अस्पष्ट होती है और नाभिक [illegible] होते हैं। इन कोशिकाओं को नखांकुर (onychoblast) कहते हैं। यह माना जाता है कि वे नख के निर्माण से संबंधित हैं। यह भी माना जाता है कि मातृक्स के क्षेत्र में स्थित नखांकुर नख को मुक्त किनारी की ओर बढ़ाते हैं और नखसेज पर स्थित नखांकुर नख को मोटा करते हैं। नख निरंतर धीरे-धीरे नखसेज पर खिसकता रहता है और 90 से 115 दिन में बिल्कुल नया हो जाता है।

बाल-चर्म की मुख्य अनाटोमिक और ऊतलोचनी विशेषताएं

बच्चों में पूरे शरीर की तरह चर्म भी जन्म से तरुणाई (यौन परिपक्वता, puberty) तक [illegible] (functional) विकास की अवस्था में होता है। यह बात आरंभिक बाल्यावस्था [illegible] दुधमुंहे बच्चों) तथा अधिक परिपक्व उम्र में स्थित चर्म के शरीरलोचन तथा रोगलोचन में प्रतिबिंबित होती है। बाल्यावस्था के विभिन्न चरणों में आनुवंशिकता व गठनात्मक (constitutional) घटकों, बालशरीर की परोर्जिक एवं इमूनोलोचनी प्रतिकारिता (reac-

tivity), नार्व एवं अंतस्त्रावी तंत्रों की क्रियाशीलता और विकासरत शरीर में द्रव्य-विनिमय की क्रियाओं (metabolic processes) का चर्म के शरीरलोचन और उसकी रोगलोचनी अवस्था पर विशिष्ट (एक दूसरे से स्पष्टतः अलग) प्रभाव पड़ता है। सामाजिक एवं घरेलू (जीवन की) परिस्थितियां, बच्चों की देखभाल, भोजन के गुण और उसकी सुपाच्यता आदि भी ऐसे घटक हैं, जो बच्चे के चर्म में रोगलोचनी प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

चर्म गर्भस्थ जीवन के प्रथम सप्ताह से ही दो भ्रूणांकुरों से बनना शुरू हो जाता है। अधिचर्म बाह्य भ्रूण-चर्म की बाह्य अंकुरक परत (बहिर्चर्म) से विकसित होता है; सुचर्म और अधोचार्म वसा मध्यचर्म (mesoderm) से उत्पन्न होते हैं।

गर्भस्थ जीवन के दूसरे महीने के अंत तक अधिचर्म में बहुकोशिक कोशिकाओं की दो परतें हो जाती हैं, सुचर्म में प्रत्यास्थ कोलाजनी तंतुओं (collagen fibres) के अंकुर उत्पन्न हो चुकते हैं और लोमकूप, वपाल एवं स्वेदक ग्रंथियां अपना रूप ग्रहण करने लगती हैं। गर्भस्थ जीवन के चौथे महीने के अंत और पाँचवें महीने के आरंभ में अधिचर्म की सभी परतों की सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं, प्रत्यास्थ कोलाजनी तंतु बन चुकते हैं और अवचर्म में नख लोम व चर्बिल लुंडिकाओं का बनना शुरू हो जाता है।

स्वेद-ग्रंथियों के अंकुर चर्म में गर्भस्थ जीवन के दूसरे महीने में और अपस्त्रावी ग्रंथियों के अंकुर दूसरे-तीसरे महीने के बीच में स्पष्ट हो जाते हैं। वपाल ग्रंथियों के अंकुर दूसरे-तीसरे हफ्ते के बीच ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं और तीसरे या चौथे महीने तक पूर्णतया विकसित हो जाते हैं। यही कारण है कि नवजात शिशु की चमड़ी पूरी तरह से प्रचुर मात्रा में स्निग्ध होती है (पनीरी चिकनई – vernix caseosa – से चुपड़ी होती है)। प्रथम लोमांकुर गर्भस्थ जीवन के दूसरे या तीसरे महीने में भौंहों के क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। पूरी त्वचा पर लोमांकुरों की उत्पत्ति चौथे या छठे महीने में सम्पन्न होती है। पहली बार उत्पन्न लोम कुपोषित (atrophic) एवं मज्जाहीन (unmedulated) होते हैं और जल्द ही झड़ जाते हैं। नख का बनना भ्रूण-विकास के तीसरे महीने में आरंभ होता है, नख बहुत धीरे-धीरे बढ़ते हैं; उंगलियों के सिरे तक वे गर्भावस्था के अंत में ही पहुँचते हैं, इसीलिये नख की लंबाई के आधार पर नवजात शिशु की परिपक्वता का अंदाज लगाया जा सकता है।

चर्म के सभी मुख्य अनाटोमिक घटकों का पूर्ण संरचनात्मक निरूपण गर्भस्थ जीवन के उत्तरार्ध में ही संपन्न हो जाता है।

बच्चा बहुत तेजी से बढ़ता और विकसित होता है। उसके पूरे शरीर और उसके विभिन्न अंगों व तंत्रों की संरचनात्मक एवं फलनात्मक विशेषताएं वयानुसार इतनी भिन्न होती हैं कि शैक्षणिक दृष्टि से उसके विकास-काल को छे अवधियों में बाँटा जाता है: (1) जन्म से तीसरे या चौथे सप्ताह तक (पूर्व शैशव; नवजात शिशु की अवस्था); (2) तीन-चार सप्ताह से 12 महीने तक (मध्य शैशव; दूधमुहे बच्चे या पयोपा की अवस्था); (3) एक से तीन साल तक (उत्तर शैशव); (4) तीन से सात साल तक (पूर्व बालपन); (5) सात से बारह साल तक (उत्तर बालपन); (6) बारह से अठारह साल तक – यौन परिपक्वता की अवधि (कैशोर्य)।

केंद्रिय नर्वतंत्र का अपूर्ण विकास, सामान्य अस्थिरता, अपूर्ण इमूनता (imperfect immunity), द्रव्य-विनिमय की परिवर्तनशीलता आदि गुण शैशव में (अर्थात् साल की उम्र तक) विशेष रूप से अवलोकित होते हैं। ये और कुछ अन्य बातें – शिशु-चर्म में कुंभियों (vessels) की प्रचुरता, जल का ऊंचा अनुपात, कुंभियों और ऊतकों की वर्धित वेधिता (permeability) आदि – मिलजुल

कर बच्चों में (विशेषकर शैशव तथा पूर्व बालपन में) परोर्जिक प्रतिक्रियाओं का विकास अधिक प्रायिक और अधिक उग्र कर देते हैं।

नवजात शिशु का अधिचर्म एक चिकनई से आच्छादित होता है, उसमें परिचर्म (periderm) और सिर्फ तीन परतें (आधारीय, कांटल और शृंगी) होती हैं। (परिचर्म: भ्रूण के अधिचर्म की बाह्य रक्षी परत, जो सघनित उपकलीय कोशिकाओं से बनी होती है।—अनु.)। कणमय परत और स्वच्छ परत इस उम्र के बच्चों में सिर्फ हथेलियों और तलवों पर बननी शुरू होती है। बच्चों की हथेलियों और तलवों पर अधिचर्म वयस्कों की तुलना में बहुत पतला होता है, क्योंकि पिटिकाएं और अधिचार्म रेशे अभी पर्याप्त विकसित नहीं होते। यही कारण है कि बच्चे की त्वचा पूरे शरीर पर मखमल की तरह समसर्वत्र मुलायम और चिकनी लगती है।

बच्चों की अधिचार्म परतों में तेजी से शरीरलोचनी परिवर्तन होते हैं, ढीले क्रमबद्ध सजी कोशिकाओं का शृंगीभवन होता रहता है। इसका कारण यह है कि उनके अधिचर्म में मितोसिक विभाजन (mitotic division)—कोशिकाओं का मितोसन-विधि से प्रजनन—बहुत तीव्र होता है और यह सिर्फ आधारीय परत में ही नहीं, कांटल तथा कणमय परतों में भी होता है।

बच्चों में अधिचर्म की तरह सुचर्म की भी अपनी संरचनात्मक विशिष्टताएं होती हैं, जो वयस्कों में नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, बच्चे में कोशिकीय उपादानों की बहुलता होती है, पर प्रत्यास्थ और कोलाजनी तंतुओं का विकास अपूर्ण रहता है। संरचना, सघनता और तंतुक द्रव्यों के प्रसार में पूरे बचपन (छहों अवधियों) के दौरान परिवर्तन चालू रहते हैं। पिटिकामय परत चौरस या लहरदार रेखा जैसी होती है (हथेलियों, तलवों, हाथ-पैर की पश्च सतहों और होठों को छोड़ कर, क्योंकि इन स्थलों पर पिटिकाएं जन्मकाल तक अच्छी तरह विकसित हो चुकती हैं। बच्चे में सभी प्रकार के तंतु (प्रत्यास्थ, कोलाजनी, और रजतप्रेमी) बहुत कम विकसित होते हैं, उनके अग्र स्पष्ट नहीं होते हैं, वे छोटे, अस्पष्ट परिरेखा वाले तथा असामान्य रूप से पतले या मोटे होते हैं। उदाहरणार्थ पिटिकामय परत में प्रत्यास्थ तंतु, जिनकी यहां बहुतायत होती है, इतने पतली नलिकाओं की तरह होते हैं और चर्म-सतह के साथ लंब होते हैं। जालिकामय परत में कोलाजनी तंतु अव्यवस्थित रूप से बिखरे होते हैं, वे नियमित रोंबवत तथा त्रिभुजाकार ताना-बाना नहीं बनाते; वे भी नलिकीय संरचना रखते हैं और उनके बीच अनेक प्रत्यास्थ रजतप्रेमी तंतु पतले और हल्का सर्पिल (convoluted) होते हैं। यह बात उनके स्थूल (रुक्ष) होने की वजह से नहीं, बल्कि उनकी परिरेखा के अस्पष्ट होने से संबंधित मानी जाती है, क्योंकि सूक्ष्म तंतुओं के बहुत तक उनका विकास अभी पूरा नहीं होता; इस अवधि में कोलाजनी ऊतक भी अति पतले अहाइलीन पूलिकाओं (non-hyalinised fasciculi) से बना होता है; शरीर के क्रमिक विकास के साथ ही कोलाजनी तंतु मोटे और काँचरित होते हैं (वयस्क लोगों में इस प्रक्रिया से कोलाजनी तंतुओं का स्पष्ट कोलाजनीकरण (collagenisation) और कठोरन (sclerosis) होने लगता है। रजतप्रेमी तंतु उग्ररूप से पतले होने लगते हैं और एलास्टिक के एलासिन में परिणत होने वाले तंतुओं के जाल में तंतुओं की मोटी-मोटी पूलिकाएं (fasciculi) बनने लगती हैं; इसके अलावा ये प्रक्रियाएं अम्ल-भस्म-संतुलन अम्ल की दिशा में बिगड़ने की क्रिया से संबंधित हैं।

[illegible] शैशव की अवधिमें सुचर्म की विशेषता यह है कि उसमें तरह-तरह की [illegible]-उत्कीय कोशिकाएं बड़ी संख्या में पायी जाती हैं; इन कोशिकाओं में सामान्यतः [illegible] इतिकोशिकाएं (histiocytes), तंत्वांकुर (fibroblasts), जालिकोशिकाएं (re-[illegible]), लसकोशिकाएं (lymphocytes), कृष्णिकावाही (melanophores), कृष्णिकांकुर

(melanoblasts) और थूलकोशिकाएं (mastocytes)। अंतिम को एर्लिख (Ehrlich) की थूलकोशिकाएं भी कहते हैं। ये लंबी (दीर्घकालीन) परोर्जिक प्रतिक्रियाओं (delayed allergic reactions) में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्रतिजन-प्रतिकाय प्रतिक्रिया (antigen-antibody reaction) में ये बहुत बड़ी मात्रा में हिस्तामीन, हिआल-उरोनीदाज, प्रोतेआज तथा जीवलोचनी रूप से अन्य सक्रिय घटक उत्पन्न करने लगती हैं, जो कुंभिक भित्तियों और ऊतकों की सुवेधिता (permeability) बढ़ाने में संप्रेरक (conducive) होते हैं। इसी कारणवश परोर्जिक प्रतिक्रियाएं लंबी अवधियों तक बनी रहती हैं।

बच्चों में (विशेषकर शिशुओं में) चर्बिल लुंडिकाओं का प्राचुर्य होता है और इसी से उनका अवचर्म सुस्पष्ट और इतना ढीला-ढाला होता है। चर्बिल कोशिकाओं को अलग करने वाली योजक-ऊतकीय कूपिकाएं कोलाजनी तंतुओं के प्रवर्धों से बनी होती हैं; ये तंतु अभी अपरिपक्व होते हैं, इनकी पर्याकृति स्पष्ट नहीं होती। चर्बिल लुंडिकाएं नन्ही तथा अपूर्ण रूप से विभेदित चर्बिल कोशिकाओं से बनी होती हैं। वयस्कों की अपेक्षा बच्चों की चर्बिल कोशिकाओं में द्रव ओलेइक अम्ल (oleic acid) का अनुपात कम होता है, पर स्तेआरिक (stearic,) और पाल्मीटिक (palmitic) अम्लों जैसे शीघ्र द्रवित होने वाले अम्ल बहुत अधिक मात्रा में होते हैं, जिसके कारण अधोचार्म वसा की स्फीति और नवजात शिशु की कठोरता (sclerema) और चर्मकठोरन (scleroderma) में सुचर्म एवं अवचर्म की मुटाई बढ़ने लगती है।

बच्चे के रक्तसंचार-तंत्र की विशेषताएं निम्न हैं: अधिकांश कुंभियों की दीवार इकहरी अंतर्कलीय परत से बनी होती है और पतले अधीचर्म के पार झलकती कुंभियों की वेधिता (permeability) सामान्य से अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, सुचर्म पर्याप्त विकसित नहीं होता। इन विशेषताओं के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही नवजात शिशु में 'शरीरलोचनी अतिरक्तता' (physiological hyperaemia) अवलोकित होती है और थोड़ा बड़े शिशु की त्वचा मुक्ता-सीप की गुलाबी लिये होती है।

जन्म के समय तक बच्चे की स्वेदक (विस्रावी) ग्रंथियों की बनावट पूरी हो चुकती है, पर उनकी कार्यशीलता कम होती है, क्योंकि स्वेद की उत्पत्ति नियंत्रित करने वाले केंद्र (जो प्रमस्तिष्क में होते हैं) अभी पूर्णतया विभेदित नहीं होते और वल्कुटी एवं अधोवल्कुटी (cortical and subcortical) संरचनाओं के बीच संतुलन नहीं होता। स्वेदन जीवन के प्रथम दो वर्षों में धीरे-धीरे बढ़ता है। बच्चे में अदृश्य प्रकार के स्वेदन (या अदृश्य स्वेदन (perspiratio insensibiles) – त्वचा एवं फेफड़े के सहारे वाष्प के रूप में द्रव-हानि) की प्रधानता होती है। यह जीवन के प्रथम वर्ष में विशेष तीव्र होता है। इसका स्थान वयस्क प्रकार का स्वेदन यौन परिपक्वता की अवधि में लेता है। अपस्रावी स्वेद-ग्रंथियां जीवन के प्रथम वर्ष में पूर्णतया विकसित हो जाती हैं, पर काम करना यौन-परिपक्वता के समय ही शुरू करती हैं। बच्चों की वपाल ग्रंथियां वयस्कों की तुलना में बड़ी होती हैं और वे चेहरे, शिरोवल्क (scalp), पीठ, गुदा व जननेंद्रिय के क्षेत्रों में बहुत अधिक संख्या में पायी जाती हैं। उम्र के साथ-साथ इन ग्रंथियों के वपा-उत्पादन की तीव्रता धीमी होने लगती है और अंत में कुछ ग्रंथियां तो बिल्कुल ही सूख जाती हैं।

गर्भस्थ जीवन के तीसरे माह में जो लोम उत्पन्न होते हैं (प्राथमिक लोम या गर्भलोम, lanugo), जन्म के समय झड़ने लगते हैं और द्वितीयक या शैशव लोम उत्पन्न होते हैं। जन्म के समय होठ, हथेलियों, तलवों, उंगलियों की पार्श्व सतहों, दूरस्थ अंगुली-खंडों की पश्च सतहों,

चुचुकों, लिंगपृष्ठ, लिंगछद की आंतरिक सतह, शेफ (भगशेफ, clitoris) तथा लघु भगोष्ठों को छोड़ कर शिशु का सारा बदन गर्भलोम से ढका होता है। जीवन के प्रथम वर्ष के दौरान शरीर के मुलायम रोएं कई बार गिरते और उगते हैं। लंबे बाल शिशु के शिरोवल्क पर उगते हैं। कड़े बाल पलकों पर (पपनियां या बरूनियां) और भौंहों पर उगते हैं। यौन परिपक्वता के वक्त कांख में बाल तथा जघन पर बाल (पशम) उगते हैं; इसी अवधि में किशोरों के चेहरे पर भी बाल उगते हैं (दाढ़ी-मूछें)।

बच्चों में चर्म की पेशियां अविकसित होती हैं। उदाहरणतया, अंडकोष पर, गुदा के गिर्द, चुचुकों पर तथा कांख में चर्म की चिकनी पेशियों के तंतु पतले, ढीले-ढाले तथा कुछ कुपोषित [illegible] में होते हैं। उनका पूर्ण निर्माण यौन-परिपक्वता की अवधि में ही होता है।

बच्चों में अधिचर्म के पतलापन और सुचर्म के योजक-ऊतकीय तंतुओं के अपूर्ण विकास के कारण चर्म के विशेष नर्वशिरा-उपकरणों तथा नार्विक ग्राहकों की क्षोभिता (=क्षोभितता, irritability) बढ़ जाती है। उम्र के साथ-साथ चर्म का नार्विक उपकरण बाह्य उद्दीपकों (या क्षोभकों) की पहुंच के बाहर होने लगता है (बिल्कुल बाहर नहीं हो जाता) और इसके अतिरिक्त केंद्रिय नर्व-तंत्र का नियंत्रणकारी एवं समन्वयकारी प्रभाव भी स्पष्ट रूप से तीव्र होने लगता है।

चर्म का शरीरलोचन

चर्म की ग्रंथियां झिल्लियां शरीर को परिवेश से अलग रखती हैं और विविध कार्य संपन्न करती हैं। चर्म और इसके उपांगों की सामान्य क्रियाशीलता पूरे शरीर के कार्यकलापों के लिये बहुत बड़ा महत्व रखती है और उसकी सामान्य अवस्था पर अनुकूल प्रभाव डालती है।

चर्म प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं द्वारा सिर्फ़ बाह्य (बहिर्जनित) परिवेशी घटकों के विविध प्रभावों का [illegible] ही नहीं करता, बल्कि विभिन्न शरीरगत अंगों एवं तंत्रों में परिवर्तनों के प्रति भी काफ़ी संवेदनशील होता है। इसीलिये यद्यपि चर्म एक स्वतंत्र अंग है, वह परिवेश और शरीर के सभी [illegible] अंगों के साथ निरंतर एक प्रवेगिक (dynamic) संबंध बनाये रखता है। [illegible] के साथ चर्म का संपर्क नर्वतंत्र, रक्तसंचार एवं अंतस्त्रावी ग्रंथियों की सहायता से होता है। चर्म प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, घुलनशील खनिजों और विटामिन आदि द्रव्यों के विनिमय [illegible] में भी सक्रिय भाग लेता है।

चर्म के रक्षी कार्य

चर्म, अधोचर्म, वसा और अन्य चर्मांगों के अनेक ऐसे गुण हैं, जो बताते हैं कि चर्म विस्तृत [illegible] शरीर की रक्षा करता है। यह ऐसा कार्य है, जिससे रोगकारी एवं विविध परिवेशी घटकों से [illegible] अंगों व ऊतकों की रक्षा होती है।

चर्म यांत्रिक प्रभावों (संघात, घर्षण, संपीडन) का रोधक होता है। उसकी इस क्षमता का [illegible] आवरण का तनाव है और अधोचार्म वसा एवं बड़ी संख्या में गद्दीदार प्रत्यास्थ [illegible] तंतुओं की उपस्थिति है।

चर्म की सूखी परत ताप-कुचालक होती है, अतः निम्नस्थ तंतुओं को सूखने से बचाती हैं। [illegible] जितनी ही मोटी होगी, बिजली के करेंट से उतना ही अच्छा बचाव होगा। भीगी [illegible] के वैद्युत प्रतिरोधिता बहुत कम हो जाती है।

चर्म शरीर को सूर्य-किरणों के क्षतिकारी प्रभाव से भी बचाता है क्योंकि उसमें मेलानिन (कृष्णिका) नामक वर्णक होता है, जो पराबैंगनी किरणों को सोख लेता है। जिनके शरीर में मेलानिन अधिक होता है, वे अधिक काले दिखते हैं और उनका शरीर सौर किरणों से अधिक पृथक्कृत रहता है।

चर्म की सतह (त्वचा) पर अम्लीय (pH 5.0-6.0) जल और वसासमों (lipids, lipoids) की एक महीन परत फैली रहती है, जो रसायनिक द्रव्यों के प्रभाव को क्षीण या उदासीन करती है और चर्म में जीवाणुओं का पैठन रोकती है। क्षत चर्म पर पड़ा रसायनिक द्रव्य या उपकलीय वसासमों में घुलनशील रसायनिक द्रव्य चर्म को बेध कर गहरी परतों तक पहुँच जाते हैं और वहाँ से रक्तवाही एवं लसीकावाही कुंभियों के सहारे पूरे शरीर में फैलने लगते हैं। स्वेद एवं वपा के बैक्टेरियानाशक गुणों और शृंगी परत की ऊपरी पटलों के निरंतर निशल्कन के कारण ही चर्म में निष्कीटक गुण उत्पन्न होते हैं। यह माना जाता है कि मुख्यतः वपा (sebum) की ही रसायनिक संरचना में बैक्टेरियानाशक गुण होते हैं, अतः अल्कोहल या ईथर से चर्म को रुक्ष (निस्निग्ध) नहीं करना चाहिये। इसी कारणवश चर्म को ठंडा करने से भी उसके निष्कीटक गुण कम हो जाते हैं। इसके विपरीत, गर्म करने पर वे बढ़ जाते हैं।

शरीर में जीवाणुओं के पैठन पर नियंत्रण भी चर्म का एक रक्षी कार्य है।

ज्ञानेंद्रिय के रूप में चर्म

चर्म के अनाटोमी और ऊतलोचन से संबंधित अनुच्छेद में बताया गया था कि चर्म में असंख्य नर्वसिराएं होती हैं जो उसे एक विस्तृत अभिग्राहक क्षेत्र का रूप प्रदान करती हैं। यह क्षेत्र बाह्य परिवेश की ओर उन्मुख रहता है और विभिन्न परिवेशी घटकों से प्राप्त उद्दीपन केंद्रिय नर्वतंत्र को भेजता है।

चर्म को चार प्रकार की अनुभूतियां होती हैं: पीड़ा, स्पर्श, गर्मी, ठंड। अंतिम को एक नाम – तापीय अनुभूति – के अंतर्गत रखते हैं। स्पर्श-अनुभूतियों में दाब और कंपन की अनुभूतियां भी आती हैं।

चर्म में इन अनुभूतियों के अभिग्राहक अनियमित रूप से वितरित होते हैं। निर्धारित किया गया है कि चर्म के $1cm^2$ सतह पर करीब 100 से 200 तक पीड़ा के अभिग्राहक-बिंदु होते हैं, 25 बिंदु स्पर्श के, 12 या 13 बिंदु ठंड के और एक या दो बिंदु गरमी के अभिग्राहक होते हैं।

तापीय और स्पर्शीय संवेदनाएं चर्म पर विशेष क्षोभकों की अभिक्रिया से उत्पन्न होती हैं। पीड़ा का प्रभाव विभिन्न घटकों द्वारा अंतर्प्रेरित हो सकता है। जब ये घटक एक सीमा (पीड़ा की अवसीमा, दहलीज) से अधिक क्षोभ उत्पन्न करते हैं, तब पीड़ा की अनुभूति होती है। खुजली की अनुभूति को भी संवेदिता का एक रूप माना जा सकता है।

पीड़ा एक विशेष संवेदना है, जो अपने साथ एक सुस्पष्ट रागात्मकता भी लिये होती है। वह अधिचर्म और सुचर्म की खुली नर्वसिराओं द्वारा ग्रहित (अनुभूत) होती है। पीड़ानुभूति विविध रागात्मक रंग लिये होती है, जिनके आधार पर पीड़ा के निम्न भेद किये जाते हैं: तीव्र और कुंद, चुभन (शूल), टभका (टीस), लहरदार आदि। पीड़ा के फलस्वरूप एक प्रतिवर्त आचरण (reflex act) उत्पन्न होता है, जो रक्षी प्रकृति का होता है, क्योंकि वह पीड़ाकारी क्षोभक के विरुद्ध कार्यशील होता है। पीड़ा के प्रति संवेदिता विकारग्रस्त भी हो सकती है। पीड़ा के प्रति अत्यधिक संवेदनशीलता (या संवेदिता) को अतिपीड़िता (hyperalgesia) और अतिवेदिता

(hyperpathia) कहते हैं। अतिपीड़िता में आदमी को बहुत क्षीण उद्दीपक (क्षोभक) भी दर्द की अनुभूति देता है, क्योंकि उस पीड़ादायक क्षोभ का निम्नतम मान (अवसीमा, दहलीज) काफी नीचे होता है। अतिवेदिता अतिसंवेदनशीलता को कहते हैं, जिसमें कोई भी उद्दीपन दीर्घ-कालीन पीड़ा के ही रूप में अनुभूत होता है। पीड़ा के प्रति घटी हुई संवेदनशीलता को अवपीड़िता (hypalgesia) कहते हैं और बिल्कुल लुप्त हुई संवेदनशीलता को – अनपीड़िता (analgesia) कहते हैं। चर्म के विभिन्न क्षेत्रों में अतिपीड़िता अक्सर आंतर अंगों की किसी बीमारी से उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थितियों में चर्म की वर्धित संवेदिता शरीर के सिर्फ़ एक निश्चित परांश (metamere) में प्रेक्षित होती है, जो उसी मेरुखंड (spiral segment) से अभिवाही नर्वतंतु प्राप्त करता है जिसमें रोगी अंग के संवेदी तंतु होते हैं (यथा: हृदय और फेफड़ों की बीमारी में गरदन, सीना, वक्ष और पेट के ऊपरी भाग की त्वचा में अतिपीड़िता होती है; आंत्र-रोगों से निम्न कशेरुकी के क्षेत्र और पेट के निचले भाग की त्वचा में अतिपीड़िता होती है)। चर्म के इन क्षेत्रों को जखारिन-हेड के कटिबंध कहते हैं।

चर्मरोग के रोगी (जैसे किसी नर्वक्लेश से ग्रस्त रोगी) को अक्सर खुजली की अनुभूति होती है, जो कभी-कभी इतनी असह्य हो जाती है कि नोचने की इच्छा को रोकना असंभव हो जाता है। खुजली की अनुभूति अंतर्जनित एवं बाह्यजनित दोनों ही घटकों से अंतर्प्रेरित हो सकती है। खुजली अक्सर अंतर्जनित मूल की होती है। यदि चर्म का कोई भाग पहले अनपीड़िता से ग्रस्त था और वहां खुजली की अनुभूति होने लगती है, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि खुजली उन नर्वतंतुओं से संप्रेरित हुई है, जो पीड़ा की अनुभूति से संबद्ध नहीं होते।

चर्म की स्पर्शानुभूति दो प्रकार के अभिग्राहक उपकरणों द्वारा प्राप्त होती है: ऐसे नर्व-गुंफों (nerve plexuses) से जो लोमकूपों के गिर्द होते हैं (लोम-संवेदिता) और जो माइस्नेर कणों (Meissner's corpuscles) के गिर्द होते हैं (विशेषकर चर्म के लोमरहित क्षेत्रों पर)। स्पर्शानुभूति तब उत्पन्न होती है, जब त्वचा वस्तु के संपर्क में आती है और उसके साथ थोड़ी दबी होती है। इस तरह की अनुभूति के आधार पर वस्तु के गुणों का निर्णय किया जा सकता है और इसीलिये परिवेशिक स्थिति का ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। स्पर्श की तीव्रता परकार की नोकों की उस निम्नतम दूरी से (mm में) नापी जाती है, जिसपर दोनों नोकों से अलग-अलग स्पष्ट संवेदनाएं अनुभूत होती हैं। स्पर्श उंगलियों के सिरों पर (हथेली वाली सतह पर), जीभ के सिरे पर और सिंदूरी सीमा पर बहुत तीव्र होती है। स्पर्शीय क्षोभों में भेद स्पर्श की तीव्रता के आधार पर ही नहीं किया जाता (वेबेर के परकार से नाप कर), क्षोभों की शक्ति के अनुसार भी किया जाता है, जिसे विशेष औज़ारों से नापा जाता है। स्पर्श एवं दाब की अनुभूतियां गुण में समान होती है, पर बल में भिन्न होती हैं। अधिक दाब की अनुभूति स्तरित कणों द्वारा प्राप्त होती है।

तापानुभूति (गरमी और ठंडक की अनुभूति) आदमी के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, क्योंकि शरीर के तापक्रम का नियमन (regulation) इसी अनुभूति के सहारे प्रतिवर्त रूप से होता रहता है। यह माना जाता है कि रूफीनी-काय गरमी अनुभूत करते हैं और क्राउज़-घुंडियां ठंड अनुभूत करती हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि चर्म में ठंड अनुभूत करने वाले बिंदु बहुत अधिक हैं, बनिस्बत कि गरमी। उल्लेखनीय है कि तापानुभूति की शक्ति उतनी ही अधिक होती है, जितना बड़ा क्षोभित क्षेत्र होता है। निम्नतम तापक्रम-परिवर्तन का मान 0.5 से 0.7°C है, जिसे त्वचा अनुभूत कर सकती है। एक रोचक बात यह है कि यांत्रिक, रसायनिक या वैद्युत

क्षोभक जब तापानुभूति के बिंदुओं पर क्रिया करते हैं, तो गरम या ठंड की ही अनुभूति होती है।

तल्पिक अवलोकनों में संवेदिता का विघटन जैसी संवृत्ति भी पायी गयी है, जिसमें एक प्रकार की चर्म-अनुभूतियां लुप्त हो जाती हैं और दूसरे प्रकार की सुरक्षित बची रहती हैं।

केंद्रिय नर्वतंत्र में चर्म के संवेदी तंत्र (sensory system) का संवहन-पथ क्रियात्मक चिन्हों से निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, चर्म के तापक्रमीय या स्पर्शीय विश्लेषक का केंद्रीय या प्रमस्तिष्कीय भाग पश्च-केंद्रीय घाई (postcentral gyrus) है।

चर्म द्वारा ताप-नियमन

शरीर के तापनियमन में चर्म का भाग लेना इसका एक महत्त्वपूर्ण शरीरलोचनी कार्य है। स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में तापक्रम एक निश्चित स्तर पर स्थिर रहता है, भले ही परिवेश के तापक्रम में कमोबेश होता रहे। तापनियमन रसायनिक एवं भौतिक विधियों से होता है। जब द्रव्य-विनिमय से उत्सर्जित ऊर्जा शरीर में ताप उत्पन्न करती है, तो इस प्रक्रिया को रसायनिक तापनियमन कहते हैं। इसकी (विपरीत) प्रक्रिया है—ताप का उत्सर्जन। यह चर्म द्वारा तीन युक्तियों से संपन्न होता है, जो तापयिमन की भौतिक विधि से संबंधित हैं: ताप-विकिरण (अवरक्त किरणों के रूप में), ताप-संवहन (शरीर और परिवेश के तापक्रमों में अंतर के कारण शरीर का तापक्रम परिवेश में आ जाता है; यहां परिवेश—हवा, पानी—की ताप-चालकता मुख्य भूमिका निभाती है) और त्वचा से जल का वाष्पीकरण। विकिरण और संवहन की विधियों से शरीर अपना ताप परिवेश को तभी देता है, जब परिवेश का तापक्रम शरीर के तापक्रम से कम होता है। ताप का संवहन चर्म की रक्तवाही कुंभियों की स्थिति में परिवर्तन के कारण होता है: जब परिवेश का तापक्रम ऊँचा होता है, कुंभियां विस्फारित होती हैं, उनमें प्रवाहित रक्त की मात्रा बढ़ जाती है और तापोत्सर्जन तीव्र हो जाता है। वर्धित तापोत्सर्जन से स्वेदक ग्रंथियों की क्रियाशीलता भी काफी तीव्र हो जाती है और इसके फलस्वरूप स्वेद के वाष्पीकरण से और भी अधिक ताप उत्सर्जित होने लगता है। तीव्र स्वेदन की अवधि में त्वचा से 24 घंटे में 10 या इससे ज्यादा लीटर स्वेद वाष्पीकृत हो सकता है। जब परिवेश का तापक्रम कम होता है, चर्म में स्थित कुंभियां बहुत संकुचित हो जाती हैं, उनमें रक्त-प्रवाह कम हो जाता है (पर आंतर अंगों में बढ़ जाता है), जिसके फलस्वरूप तापोत्सर्जन भी कम हो जाता है।

ताप का उत्सर्जन प्रतिवर्त रूप से नियंत्रित होता है (चर्म में स्थित तापीय अभिग्राहकों के क्षोभ से) और मस्तिष्क के धूसर कंद (tuber cinereum) में स्थित ताप-नियंत्रक केंद्र तथा तृतीय निलय (third ventricle) की पार्श्व दीवार (अवचेनक—hypothelamus—के क्षेत्र) के प्रत्यक्ष क्षोभ से भी नियंत्रित होता है। तापोत्सर्जन के लिये आवश्यक प्रक्रियाएं—चर्म में स्थित कुंभियों की प्रतिक्रिया और स्वेद का स्राव—अनुकंपी गुच्छिकाओं (sympathetic ganglia) से निकले अनुकंपी नर्वों और तंतुओं द्वारा संचालित होती हैं।

चर्म के स्रावी और विसर्जक कार्य

स्वेदक ग्रंथियां (विस्रावी और अपस्रावी) तथा वपाल ग्रंथियां चर्म के स्रावी तथा विसर्जक कार्यों के लिये बहुत हद तक जिम्मेवार हैं।

विस्रावी स्वेदक ग्रंथिया स्वेद उत्पन्न करती हैं, जिसमें क्षीण अम्लीय प्रतिक्रिया का गुण होता है; इसका सापेक्षिक घनत्व 1.004-1.008 है। इसमें 98-99 प्रतिशत जल होता है और 1-2 प्रतिशत अकार्बनिक यौगिक (फोस्फेट, सल्फेट, सोडियम व पोटाशियम क्लोराइड, कैल्सियम के लवण) तथा कार्बनिक द्रव्य (यूरिक अम्ल, यूरिया, क्रेआतीनीन, क्रेआतीन, अमोनियम, अमीनो अम्ल, कार्बोहाइड्रेट) होते हैं, जो जल में घुले होते हैं। स्वेद की रसायनिक संरचना इसकी मात्रा और शरीर की सामान्य अवस्था पर निर्भर कर सकती है। द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ी से उत्पन्न होने वाले कुछ रोगों में ऐसे द्रव्य भी स्वेद में होते है, जो सामान्यतः नहीं होते। इसका एक उदाहरण है मधुमेह; इससे पीड़ित होने पर स्वेद में चीनी प्रेक्षित होती है। रोगी को दी जाने वाली अनेक दवाएं (संखिया, पारद, कुनैन, आयडीन, ब्रोमीन आदि) शरीर से स्वेद के साथ विसर्जित हो जा सकती हैं। यह स्वेद-ग्रंथियों का विसर्जक कार्य है। सामान्य परिस्थितियों में स्वेद-ग्रंथियों से जल का विसर्जन और उसका वाष्पन कमोबेश प्रकार से समरूप और अदृश्य होता है; इसे अदृश्य स्वेदन कहते हैं। तीव्र (या वर्धित) तापोत्सर्जन के समय स्वेदन दृश्य, विपुल और सतत होता है (सामान्य परिस्थितियों में स्वेद-विसर्जन स्पंदी प्रकृति रखता है)। तीव्र स्वेदन के समय ऊतकों से प्रचुर मात्रा में जल पहले तो रक्त में आता है, फिर स्वेद ग्रंथियों द्वारा त्वचा से विसर्जित होता है। मुंह की श्लेष्मला शुष्क हो जाती है और प्यास की अनुभूति होती है।

अपस्रावी स्वेद-ग्रंथियों के कार्य अंतस्रावी ग्रंथियों (विशेषकर जनन-ग्रंथियों) के साथ संबंधित है; उनके स्राव में स्वेद के सामान्य घटकों के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी होते हैं, जैसे – ग्लीकोजन, कोलेस्तेरोल, ईथर, लोह; इनके स्राव उदासीन होते हैं या क्षीण क्षारीय प्रतिक्रिया देते हैं। अपस्रावी ग्रंथियों की क्रियात्मक भूमिका अभी भी बहुत हद तक अज्ञात ही है। स्पष्ट है कि वे तापनियमन में महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लेती, पर शरीर में रागात्मक प्रतिक्रिया के समय हथेलियों और तलवों की स्वेदक ग्रंथियों की तरह ही अपनी क्रियाशीलता बहुत तीव्र कर लेती हैं।

वपाल ग्रंथियों के स्राव – वपा (sebum) – की रसायनिक संरचना बहुत जटिल है। इसके मुख्य घटक हैं: निम्न एवं उच्च वसीय अम्ल, उदासीन वसाएं, नाइट्रस एवं फोस्फोरस यौगिक, कार्बोहाइड्रेट, विभिन्न एन्जाइम, स्तेरोइड हर्मोन (steroid hormones), खोलेस्तेरोल यौगिक। त्वचा (चर्म की सतह) पर वपा स्वेद के साथ मिल जाती है और जल-वसा के इमल्सन की एक बहुत पतली झिल्ली बनाती है। यह झिल्ली चर्म की सामान्य शरीरलोचनी अवस्था को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वपाल ग्रंथियां भी वपा के साथ-साथ कुछ दवाएं (आयडीन, ब्रोमीन, सालीसीलिक अम्ल, एंटीपीरिन आदि) विसर्जित करती हैं, जो रोगी को दी जाती हैं। शरीर में (विशेषकर आंतों में) उत्पन्न गरलकारी द्रव्य (toxic substance) भी वपा के साथ निकलते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि विस्रावी ग्रंथियों का कार्य अनुकंपी (खोलिनोर्जिक) नर्वों द्वारा नियंत्रित होता है, जिनके केंद्र सुषुम्ना (मेरुमज्जा – medulla spinalis या मेरुरज्जू – spinal cord), सुषुम्ना-शीर्ष (लमड़ा मस्तिष्क – medulla oblongata), पारमस्तिष्क (diencephalon) में होते हैं (अंतिम में उच्च केंद्र होते हैं)। प्रमस्तिष्क-वल्कुट (cerebral cortex) भी स्वेद-ग्रंथियों के कार्य पर नियंत्रणकारी प्रभाव डालता है, इसीलिये भय, क्रोध आदि रागात्मक अनुभूतियों के समय पसीना छूटने लगता है। वपाल ग्रंथियों का स्राव नर्वतंत्र और जनद (gonadal),

पीयूष (pituitary) एवं अधिवृक्क-वल्कुटी ((adrenocortical)) ग्रंथियों से स्रावित हर्मोनों (hormones) द्वारा नियंत्रित होता है।

अधिचर्म के शृंगीभवन की प्रक्रिया, जिसमें कोशिका का प्रोटीनी द्रव्य क्रमशः केरातोहिआलिन (keratohyalin), एलेइडिन (eleidin) और केरातिन में परिणत होता है, अब अधिचर्म का स्रावी कार्य (secretory function) मानी जाती है।

चर्म द्वारा श्वसन और अवशोषण

चर्म श्वसन में (अर्थात् आक्सीजन के अवशोषण तथा कार्बन डायक्साइड के विलगन में) बहुत कम भाग लेता है। बच्चों में विस्फारित चर्म-केशिकाओं (dilated skin capillaries) के माध्यम से गैसों का विसरण (diffusion) अधिक स्पष्ट होता है। फेफड़े में गैस-विनिमय की तुलना में चर्म सिर्फ़ 1/180 भाग आक्सीजन अवशोषित करता है और 1/90-1/65 भाग कार्बन डायक्साइड विलगित करता हैं। इसके अतिरिक्त, चर्म जलवाष्प भी विसर्जित करता है (नित्य 800g तक, जो फेफड़े के काम से दुगुना-तिगुना अधिक है

स्वस्थ चर्म से जल या ठोस पदार्थों की शायद ही कोई मात्रा अवशोषित होती है। लेकिन वसा तथा वसाभ द्रव्यों (lipids) में घुलनशील पदार्थ (रेसोर्सीनोल, सल्फर, सालीसीलिक तथा बोरिक अम्ल, लीड आक्साइड, फेरिक क्लोराइड, आयडीन, पारद, क्लोरोफर्म, पीरोगालोल आदि) चर्म द्वारा तुरंत अवशोषित हो जाते हैं। चर्म के किसी क्षेत्र पर अवशोषण का स्तर वहां जलीय-वसाभ झिल्ली की अवस्था, त्वचा की क्षमता (buffer capacity) और वपाल पुटिकाओं की उपस्थिति पर निर्भर करता है। इसीलिये (उदाहरणार्थ) हथेलियों और तलवों की चमड़ी में अवशोषण-क्षमता बहुत कम होती है, क्योंकि वहां वपाल ग्रंथियां नहीं हैं और शृंगी परत बहुत घनी है। कुछ परिस्थितियों में अवशोषण बहुत तीव्र हो जाता है। इसके संप्रेरक घटक हैं: अधिचर्म का गीला होकर फूलना, महीन पिसे हुए द्रव्य को लंबे समय तक त्वचा पर रगड़ना, उड़नशील द्रवों में घुले हुए ठोस द्रव्यों (जैसे ईथर में घुले हुए सालीसीलिक अम्ल) का लेप लगाना, चर्म की अतिरक्तता (hyperaemia)।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ चर्मक्लेशों (दिनाइ खर्जूक्लेश; फोड़िया व अपरदन उत्पन्न करने वाले चर्मक्लेशों) में चर्म द्वारा रेसोर्सीनोल, टार, पीरोगालोल, खीजारोबिन, सालीसीलिक अम्ल तथा अन्य द्रव्यों के अवशोषण की क्षमता तेज़ी से बढ़ जाती है। इन स्थितियों में उच्च सांद्रता के साथ ये द्रव्य उपयोग करने की सलाह नहीं देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त, जब टार, खीजारोबिन, पीरागालोल और सालीसीलिक अम्ल का उपयोग चल रहा हो, पूरे शरीर और वृक्कों की अवस्था का निरंतर परीक्षण करते रहना चाहिये। सालीसीलिक अम्ल की बड़ी खुराक के उपयोग से छादिकीय (meningeal – मस्तिष्क के भीतरी आवरण से संबंधित) लक्षण (सरदर्द, चक्कर, वमन, मूर्छा) प्रकट होने लगते हैं।

द्रव्य-विनिमय में चर्म की भूमिका

चंद जीवरसायनिक प्रक्रियाएं सिर्फ चर्म में होती है। इनमें केरातिन (शृंगी द्रव्य), मेलानिन और विटामिन डी का बनना भी आता है। ये प्रक्रियाएं जटिल हैं और अभी तक इनका पर्याप्त अध्ययन नहीं हो पाया है।

चर्म शरीर में जल, खनिजों (सोडियम, पोटाशियम, कैल्सियम आदि), वसा, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट के विनिमय में सक्रिय भाग लेता है। यह हर्मोनों, खमीरों, विटामिनों और सूक्ष्म तत्त्व (trace elements, शरीर के लिये अत्यल्प मात्रा में आवश्यक तत्त्वों) के भी विनिमय के साथ संबंधित है, क्योंकि एक ओर तो वह एक बहुत बड़े गोदाम का काम करता है तथा दूसरे वह इनमें से कुछ द्रव्यों को वपाल एवं स्वेदक ग्रंथियों के स्राव के साथ विलग भी [illegible]

[illegible] व्यक्ति के शरीर में जल का अनुपात 60 से 65 प्रतिशत तक होता है, लेकिन चर्म में [illegible] प्रतिशत तक हो सकता है। पेशियों के बाद चर्म ही जल का सबसे बड़ा भंडार है। अधोचार्म [illegible] में जल का अनुपात बहुत कम होता है: 10 प्रतिशत तक)। कुछ चर्मक्लेशों (बुदबुदिया, [illegible] चर्मारुणता आदि) में जल का अंश चर्म में अधिक हो जाता है। जल कोशिकाओं के [illegible] बाहर दोनों ही जगह जमा रहता है; इसका कारण योजक-ऊतकीय कोशिकाओं, [illegible] कोलाजनी तंतुओं और अधोचार्म वसा की जलासक्ति (hydrophilia) है।

चर्म में खनिजों की कुल मात्रा चर्म के द्रव्यमान का करीब 1 प्रतिशत होती है; अवचर्म में इन द्रव्यों की मात्रा मृचर्म से आधी होती है। कुछ खनिजों की मात्रा बदलती रहती है और [illegible] की विभिन्न गड़बड़ियों के कारण उनका आपसी अनुपात बिगड़ जाता है। [illegible] (pemphigus) और डूरिंग विसर्पिनी चर्मशोथ (Duhring's dermatitis herpe- [illegible] चर्म में पानी के अंश की तरह सोडियम क्लोराइड का भी अंश काफी बढ़ [illegible] होने पर रोगग्रस्त तथा अक्षत (free of lesions) क्षेत्रों में पोटाशियम की [illegible] है।

चर्म के प्रोटीन-विनिमय कोलाजन (चर्म के कुल प्रोटीन का 98 प्रतिशत), ग्लोबूलिनों, [illegible] [illegible], केरातिन, और प्रोटीनी द्रव्य-विनिमय के मध्यवर्ती उत्पादों [illegible] के [illegible] होता है (इन उत्पादों में निम्न की गणना होती है: अमीनो अम्ल, [illegible] केटोनीन, यूरिक अम्ल, अमोनिया, यूरीनी भस्म और वर्णक)। अप्रोटीनी नाइट्रोजन के [illegible] से प्रोटीनी द्रव्य-विनिमय की तीव्रता का अंदाज लगाया जा सकता है (चर्म के तीव्र [illegible] अन्य रोगलोचनी प्रक्रियाओं में इस द्रव्य-विनिमय की तीव्रता बढ़ [illegible] है।

[illegible] चर्म में शक्कर 50 से 75 प्रतिशत तक होता है। मधुमेह (diabetes mellitus) [illegible] शक्कर रक्त की अपेक्षा चर्म में अधिक होती है। यह विश्वास किया जाता है कि कार्बोहाइड्रेट-विनिमय की गड़बड़ियों (प्रत्यक्ष या गुप्त) से कुछ चर्मक्लेशों का विकास या स्थायीकरण [illegible] है, जिनके नाम हैं: फुंसीक्लेश, अम्हौरी, लाल कवकता, पित्ती, दिनाइ, कांदिद- [illegible] candidiasis, जो कांदीदा (Candida – दूधिया श्वेत) जाति के [illegible] से उत्पन्न होता है (यह खमीर और कवक के बीच की एक जाति है)। अ. कार्तामीशेव [illegible] किया कि सम्मोहन (hypnosis) में प्रेरित दुखकर भावनाओं से भी चर्म में शक्कर का [illegible] बढ़ जाता है। इस तरह उन्होंने सिद्ध किया कि द्रव्य-विनिमय और विशेष कर कार्बोहाइड्रेट- [illegible] को सर्वत्र भी प्रभावित करता है।

चर्म की [illegible] प्रतिक्रियाओं में विटामिन-विनिमय की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। [illegible] विटामिन C मेलानिन के उत्पादन तथा ग्लूकोज की ग्लीकोजन में परिणति जैसी [illegible] में भाग लेता है। विटामिन A शृंगी द्रव्य के बनने में सहायक होता है। विटामिन A,E

तथा D अधिचर्म में प्रोटीन-विनिमय और गंधक आत्मसातन को उत्प्रेरित करते हैं। B संकुल के विटामिन (अर्थात् B_1 – थिआमीन, B_2 – रीबोफ्लावीन, B_5, B_6, B_{13} तथा अन्य) आक्सीकरण-अवकरण की प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं। विटामिन PP (निकोटीनिक अम्ल) यकृत के कार्यों को ठीक करता है और कुंभी-विस्फारण (vaso-dialation) तथा प्रकाश-असंवेदन (photodesensitization) जैसे प्रभाव उत्पन्न करता है। विटामिन A की कमी से भेकचर्मता (phrynoderma), मीनचर्मता (ichthyosis), शुष्कचर्मता (xeroderma), सामान्य पनसिका (अम्हौरी, acne vulgaris) तथा नख-कुपोषण होता है। चर्मरुक्षता (Pellagra), अधरशोथ (cheilitis), मुखशोथ (stomatitis) और रसनाशोथ (glossitis) B संकुल के (विटामिनों की कमी के साथ संबंधित हैं। विटामिन C की मात्रा कम होने से स्कर्वी विकसित होता है।

चर्म और केंद्रीय नर्वतंत्र की व्यतिक्रिया

आज किसी को भी यह संदेह नहीं होता कि केंद्रीय नर्वतंत्र (central nervous system) सामान्य और विभिन्न रोगलोचनी अवस्थाओं में चर्म और उसके उपांगों पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। पूरे शरीर के अंगों व तंत्रों की व्यतिक्रिया (interaction), परिवेश के साथ संबंधों और विविध बहिर्जनित एवं अंतर्जनित घटकों के साथ शरीर की प्रतिक्रियाओं के प्रति नर्वतंत्र ही उत्तरदायी होता है। सेचेनोव, पाव्लोव, व्वेदेंस्की तथा इनके वैज्ञानिक स्कूल ने प्रतिक्रिया के जिस प्रतिवर्त-सिद्धांत की खोज की है, वह पूरे शरीर के जीवन-कार्य में निर्णायक भूमिका अदा करता है। पाव्लोव की प्रयोगशाला में पेत्रोवा द्वारा प्राप्त परिणाम चर्मलोचन के लिये प्रत्यक्ष महत्त्व रखते हैं; उन्होंने कुत्ते पर प्रयोगों द्वारा दद्रुक अधिक्षेत्रों (eczematous foci) और विभिन्न स्थलों पर पोषणजनित व्रणों (trophic ulcers) के विकास में प्रमस्तिष्क गोलार्धों (cerebral hemispheres) के नार्विक चोट (nervous trauma) की भूमिका प्रदर्शित की।

रूसी एवं सोवियत चर्मलोचकों के बीच पोलोतेब्नोव, पोस्पेलोव, निकोल्स्की, कार्तामीशेव और झेल्ताकोव प्रथम अन्वीक्षक थे, जिन्होंने चंद चर्मक्लेशों की उत्पत्ति में प्रमस्तिष्कीय केंद्रों (cerebral centres) तथा अनुकंपी (sympathetic) नर्वतंत्र के प्रभाव पर बल दिया था। उन्होंने स्वापित (hypnotised) व्यक्तियों में चर्म की जीवरसायनिक प्रक्रियाओं, केशिकाओं की अवस्था, चर्म की रूपलोचनी संरचना, अधिचर्म व सुचर्म की नवजनक प्रक्रियाओं (regenerative processes), और शरीर में क्षोभ-प्रविष्टि के कारण चर्म की परोर्जिक एवं शोथी प्रक्रियाओं की प्रकृति पर द्वितीय संकेती तंत्र (second signalling system) का प्रभाव दिखाया। स्वापन व विद्युनिद्रा (electric-sleep) में शब्दाधान (suggestion) से या प्रत्यक्ष शब्दाधान से चिकित्सा की विधियां यह सिद्ध करती हैं कि द्वितीय संकेती तंत्र पर अभिक्रिया द्वारा लाल चौरस शैवाक, कीलक (wart) और कभी कभी पित्ती (urticaria) का इलाज संभव है, दिनाइ या नर्वचर्मशोथ के कुछ रूपों में रोगी को आराम पहुँचाया जा सकता है, किन्ही लक्षणों को (जैसे खुजली को) शांत किया जा सकता है (पोतोत्स्की, झेल्ताकोव, स्क्रीपकिन तथा अन्य)।

इसके विपरीत, चर्म की अवस्था भी, विशेषकर विविध रोगलोचनी प्रक्रियाओं में, अनेक नर्व-केंद्रों के और प्रमस्तिष्क-वल्कुट के कार्यों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है। स्थायी चर्मक्लेश (खासकर यदि उनके साथ-साथ तीव्र एवं संतापजनक खुजली और विभिन्न अप्रिय अनुभूतियां होती हैं) नर्वतंत्र के कार्य में विभिन्न स्तरों पर गड़बड़ियां उत्पन्न कर सकते हैं, नर्वक्लेशी अवस्थाएं

[illegible] states) और यहा तक कि नियत तीव्रता की मनोक्लेशी प्रतिक्रियाएं (psychotic [illegible] भी विकसित कर सकते हैं। इस तरह एक दुश्चक्र शुरू हो सकता है जिसे किसी [illegible] तोड़ने से पूरी गादिक (morbid) प्रक्रिया पर रोगी के लिये अच्छा प्रभाव पड़ता है।

बच्चों में चर्म के कार्यों की मुख्य विशेषताएं

बच्चे के चर्म में संरचनात्मक घटकों की अनाटोमिक अपूर्णता – योजक ऊतकों की कोशिकाओं का [illegible] विकास, अत्यधिक कुंभायन (vascularisation), जलासक्ति (hydrophilia), [illegible] – के कारण उसमें रक्षी घटकों की भी स्पष्ट अपूर्णता होती है। इसमें अन्य घटकों का भी [illegible] है। वपाल एवं स्वेदक ग्रंथियों के स्राव में बैक्टेरियानाशक गुणों की कमी, चर्म की [illegible] झिल्ली (water-lipid mantle) का उदासीन अथवा क्षारीय होना (वयस्कों में उसकी [illegible] होती है)। इन कारणों से बच्चों का (विशेषकर छोटे बच्चों का) चर्म [illegible] है, उसमें आसानी से दरार या खरोंच पड़ जाती हैं, रोग-प्रक्रियाएं शुरु हो [illegible] है [illegible] विस्तृत चर्मपूयता विकसित हो जाती है, जो कभी-कभी सांगोपांग सूपन [illegible] के लक्षण लिये होती है। इस सिलसिले में पीयुष-अधिवृक्कीय तंत्र की कमजोरी का [illegible] नहीं करनी चाहिये, जो बच्चे के ऊतकों में आक्सीकरण और अवकरण की [illegible] का [illegible] करती है। बच्चों में प्रमस्तिष्क-वल्कुटी कोशिकाओं की अपरिपक्वता और पनपू [illegible] non-differentiation) को भी ध्यान में रखना चाहिये। दूसरी ओर, [illegible] के चर्म का [illegible] कुंभायन (vascularisation), द्रव्य-विनिमय की उच्च तीव्रता और [illegible] की स्पष्ट कार्यशील नवजनक (regenerative) या सुरक्षात्मक [illegible] में सहायक होती है और साथ ही चर्म की अल्प तापचालकता बच्चे [illegible] को बहुत अधिक ठंडा या गर्म होने से बचाती है।

[illegible] पैठी [illegible]) रोगों (infectious diseases) के लिहाज से नवजात एवं [illegible] की अवधि भी हितकर हैं, क्योंकि नैसर्गिक इमूनता का स्तर मां की इमूनता एवं [illegible] के इमूनो-जीवजैविकी (immuno-biological) गुणों पर निर्भर करता है। पैठी रोगों की [illegible] भी शामिल है) एक से आठ वर्ष के बीच अधिक होती हैं, क्योंकि 12 [illegible] के बाद जन्मजात इमूनता कमजोर पड़ने लगती है और अर्जित (acquired) इमूनता अभी [illegible] नहीं [illegible] है।

बच्चे के चर्म की [illegible] क्रिया की एक विशेषता यह है कि उनकी वपाल ग्रंथियां खोलेस्टेरोल [illegible] स्वेदक ग्रंथियां कैल्शियम व फोस्फोरस के यौगिक वयस्क की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में [illegible] करती है। इसके साथ ही, नवजात एवं पयोपा में विटामिन डी का संश्लेषण और अधिचर्म का [illegible] अधिक [illegible] होता है, जिससे चर्म में रक्षी और विशेषकर जीवाणुनाशक गुण कम [illegible] है।

[illegible] की महीन श्रृंगी परत, विस्फारित रक्तवाही एवं लसवाही कुंभियों, और उनकी [illegible] की [illegible] वेधिता (permeability) के कारण बच्चे में जल-विसर्जन मुख्यतः अदृश्य स्वेदन की विधि से होता है। खनिज द्रव्य पानी के साथ विसर्जित होते हैं (फेफड़ों द्वारा विसर्जित मात्रा [illegible] कई गुना अधिक)। इस प्रक्रिया को युक्तिसंगत भोजनचर्या (जिसमें तरल आहार भी शामिल [illegible] और [illegible] द्वारा नियंत्रित करना चाहिये। बुखार में, या बच्चे को बहुत गर्म कपड़े

पहना कर रखने से प्रचुर स्वेदन के रूप में बहुत अधिक जल-हानि होती है, जिससे अक्सर अम्हौरी (heat rash या miliaria crystalina) हो जाती है। जीवन के प्रथम महीनों में यह विशेष अक्सर प्रेक्षित होता है।

ये ही घटक (महीन अधिचार्म शृंगी परत, विस्फारित कुंभियां और उनकी दीवारों की वर्धित वेधिता) इस बात के लिये भी उत्तरदायी हैं कि बच्चों के चर्म द्वारा गैस-विनिमय शरीर के कुल गैस-विनिमय का सिर्फ 1 प्रतिशत अंश है। इसके अतिरिक्त, बच्चे के चर्म की अवशोषण-क्षमता काफी अधिक होती है तथा शोथ-प्रक्रिया के दौरान और भी बढ़ जाती है।

वयस्क की अपेक्षा बच्चे के चर्म में द्रव्य-विनिमय की प्रक्रियाएं अधिक तेज होती हैं और इस लिहाज़ से यह तथ्य – कि वयस्क की अपेक्षा बच्चे के चर्म में जल अधिक होता है – महत्त्वपूर्ण है (द्रव्य-विनिमय की सभी प्रक्रियाएं जलीय प्रावस्था में ही चलती हैं)। उदाहरणार्थ, पयोपा के शरीर के द्रव्यमान का तीन चौथाई अंश जल ही होता है, लेकिन वयस्क के शरीर में जल उसके भार का सिर्फ तीन बटा पाँच अंश होता है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ चर्म में जल का प्रतिशत अंश घटता है (वैसे ही, जैसे पूरे शरीर में)। शरीर के प्रति किलोग्राम द्रव्यमान के लिये जल की आवश्यकता भी तदनुरूप बदलती जाती है। नवजात शिशु में उसकी मात्रा 150-200 ml है। प्रथम छे महीनों में वह 100-150ml होती है; 12 महीने की उम्र में 80-90ml, पाँच वर्ष के अंदर तक 60-70ml, दस वर्ष के अंदर तक 50-60ml और 15 वर्ष के अंदर तक 40-50ml होती है (सारी मात्राएं शरीर के प्रति किलोग्राम द्रव्यमान के प्रति हैं)।

बच्चे का चर्म सर्दी-गरमी अनुभव कर सकता है, इसमें स्पर्शानुभूति भी होती है, फिर भी पयोपा में तंत्रि-सिरों का विकास पूर्ण नहीं होता, अधिचर्म और सुचर्म भी अविकसित होते हैं। परिसरीय विश्लेषकों तथा मस्तिष्क-केंद्रों के अपर्याप्त विभेदन के कारण बच्चे में नार्विक क्षोभ (nerve stimulation) सचेत एवं स्पष्ट रूप से स्थानबद्ध अनुभूति में परिणत नहीं हो पाता। इसीलिये क्रियात्मक तथा रचनात्मक अपरिपक्वता अभिग्राहकों, क्षोभवाही पथों और वल्कुटी कोशिकाओं की विशिष्टता है। परिवेश से आने वाले अपर्याप्त रूप से विभेदित चर्म-क्षोभक स्पंदों का भारी प्रवाह बच्चे के केंद्रिय तंत्रतंत्र में एक रक्षी तनाव की अवस्था अंतर्प्रेरित करता है, जो निद्रा की लंबी अवधियों के रूप में अवलोकित होती है (विशेषकर पयोपा में)।

चर्म में ऊतरूपलोचनी परिवर्तन

अनेक चर्मरोग शोथी (inflamatory) प्रकृति रखते हैं। शोथ विभिन्न बाह्य एवं आंतर क्षोभों की जवाबी प्रतिक्रिया है, जिसकी तीव्रता और कालावधि के अनुसार तीव्र, अवतीव्र तथा चिरकालिक शोथों में भेद किया जाता है। क्षोभ की अभिक्रिया का शरीर और चर्म की ओर से कैसा प्रत्युत्तर (response) होगा, यह अनेक घटकों (factors) पर निर्भर करता है, जिनमें से मुख्य हैं: अभिग्राहक उपकरण की अवस्था, विचाराधीन व्यक्ति में उच्च नार्विक कार्यशीलता (higher nervous activity), शरीर की प्रतिकारिता (reactivity), आदि। पूरे शरीर के एक अंग के रूप में चर्म क्षोभ का कैसा प्रत्युत्तर देगा, इसमें परोर्जिक प्रतिक्रियाओं (allergic reactions) की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

क्षोभों के मेल या संचय (combinations) और शरीर (विशेषकर चर्म) के प्रत्युत्तर से एक शोथी प्रतिक्रिया विकसित हो सकती है, जिसकी तीव्रता और कोपकाल (duration) अनेक

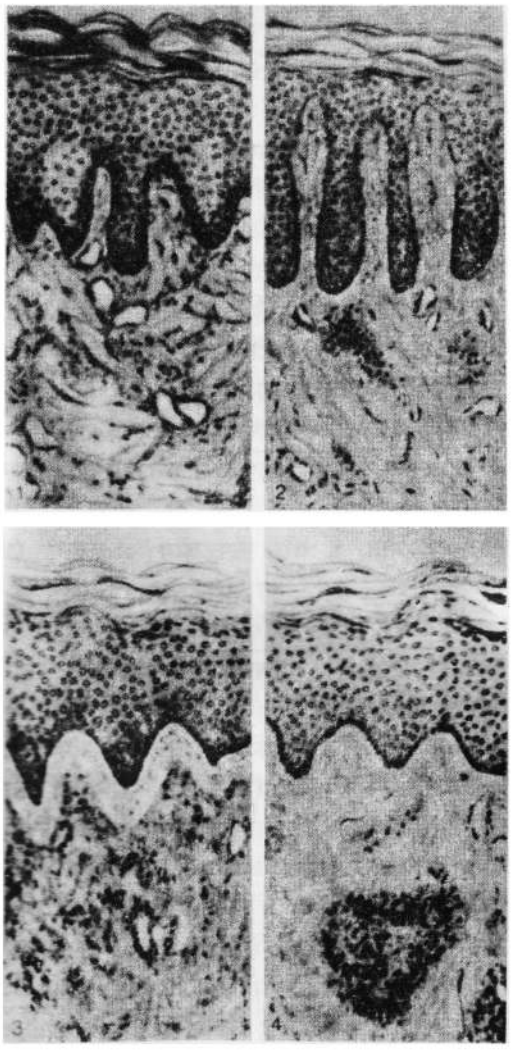

चित्र 3. मुचर्म में रोगलोचनी परिवर्तन (आरेख)
I – तीव्र शोथ: 1. मुचर्म एवं अधिचर्म का शोफ, 2. विटिकार्बक्लेश; II – अतीव्र शोथ: 3. चिरकालिक शोथ, 4. पैठी (पैठनजनित) कणार्ब

पन्न घटकों पर निर्भर कर सकता है। हर शोथ के सूक्ष्मदर्शीय चित्र में अलग-अलग स्तरों के कुपरिवर्तन, रिसाव और बहुलन अवलोकित होते हैं। कुपरिवर्तन (alteration) ऊतक में क्षति (कोशिकाओं के कुपोषण और उनकी मृत्यु) की अभिव्यक्ति है; रिसाव (exudation) कुंभियों की दीवारों की वेधिता बढ़ी होने के कारण कुंभियों से द्रव एवं अन्य नवोत्पन्न तत्त्वों का निकास है, बहुलन (proliferation) ऊतक बनाने वाली कोशिकाओं का अतिप्रजनन है। [illegible] तीव्र (acute) शोथ में रिसाव की प्रक्रिया हावी रहती है और शोथ-प्रक्रिया प्रबल होती है, चिरकालिक (chronic) शोथ में, जिसका कोपकाल लंबा होता है, बहुलन की संवृत्ति होती रहती है, रिसाव कम दिखता है और शोथ की प्रक्रिया प्रबल नहीं होती। तीव्रता के अनुसार [illegible] (subacute) शोथ का स्थान तीव्र शोथ और चिरकालिक शोथ के बीच है।

अधिचर्म की अनाटोमिक विशेषताओं के कारण उसमें रोगलोचनी प्रक्रिया का प्रवाह (course) भी विशिष्ट होता है। अधिचर्म में मुख्यत: तीन प्रकार के शोथज परिवर्तन होते हैं (चित्र 3)।

प्रथम-कोटिक सीरमी शोथ (serous inflamation) का लक्षण अंतर्कोशिकीय शोफ या रसधानी-अवजनन (vacuolar degeneration) है, जिसमें मालपीगी परत कोशिकाओं के प्रोटोप्लाज्म (आदिद्रव्य) में बनी रसधानियां (विभिन्न रसायनिक संरचना वाले द्रवों से भरी गुहिकाएं) नाभिक के पास या उसके गिर्द जमा होती हैं और उसे (नाभिक को) कोशिका के परिसरीय भाग में विस्थापित कर देती हैं। ऐसी स्थितियों में नाभिक विकृत हो जाता है, अक्सर उसमें घनार्ति (pyknosis) के लक्षण दिखने लगते हैं (घनार्ति – नाभिक या पूरी कोशिका का सब ओर पिचक कर घना होना); शोफ-द्रव धीरे-धीरे कोशिका को घुलाने लगता है और उसकी मृत्यू का कारण बनता है। यदि रसधानी (vacuole) नाभिक के भीतर बन जाती है, तो वह शोफित होकर द्रव से भरी गोल वस्तिका (vesicle) में बदल जाता है, जिसमें कभी-कभी केंद्रिका (nucleolus) बची रह जाती है।

द्वितीय प्रकार के सीरमी शोथ का लक्षण स्पंजिता (spongiosis) या अंतरकोशिकीय शोफ (oedema) है, जिसमें शोफकारी द्रव मालपीगी परत में अंतराकोशिकीय अवकाशों को पृथक कर देता है और अंतराकोशिकीय सेतुओं को तोड़ देता है, जिसके फलस्वरूप कोशिकाओं का पारस्परिक संपर्क टूट जाता है और उपकलीय वस्तिकाएं (vesicles) बनने लगती हैं। स्पंजिता दिनाई तथा चंद अन्य चर्मक्लेशों का एक विशेष लक्षण है।

तृतीय प्रकार का अधिचार्म शोथ फुलावरत अवजनन (degeneration) को कहते हैं, जो मालपीगी परत की कोशिकाओं में जैवमरणात्मक [(necrobiotic) एवं अवजनक परिवर्तनो कारण होता है। उपकलीय (epithelial) कोशिकाओं में गहन परिवर्तनों के अतिरिक्त अंतराकोशिकीय सेतुओं के नष्ट होने से कोशिकाओं के बीच कोई संपर्क नहीं रह जाता और वे वस्तिका (vesicle) के सीरमी-तंतुक (serofibrinous) द्रव्य में तैरती हुई गोल आकृति ग्रहण कर लेती हैं। इस तरह के परिवर्तन (उदाहरणतया) विसर्प (herpes) में होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय प्रकार के सीरमी शोथों का मेल अक्सर उन चर्मरोगों में अवलोकित होता है, जिनमें शोथ-प्रक्रिया स्पष्ट होती है।

तीव्र शोथ में निस्यंद्य (infiltrate) के रूप में न्यूट्रोफील तथा एओजीनोफील जैसे बहुरूपनाभिकीय श्वेतकोशिकाओं (polymorphonuclear leucocytes) की अधिकता होती है। चिरकालिक शोथ के निस्यंद्य में अधिकांशतः लसकोशिकाएं (lymphocytes) पायी जाती हैं, जो कुंभी के गिर्द बिखरी या सजी होती हैं। निस्यंद्य में अनेक ऊतकोशिकाएं (histiocytes) भी होती हैं, जो अविभेदित गोल कोशिकाओं से रेशांकुरों (fibroblasts) तक के विभिन्न संक्रमण-चरणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। जालिकामय कोशिकाएं भी वे ही ऊतकोशिकाएं हैं, पर वे आकार में बड़ी होती हैं।

प्लाज्मिक कोशिकाओं (plasma cell) में सुविकसित भस्मप्रेमी (basophil) प्रोटोप्लाज्म और एक्केंद्रिक नाभिक होता है; वे लसकोशिकाओं से बड़ी होती हैं। उपकलावत (epithelioid) कोशिकाएं लमड़ी होती हैं और उनमें बड़ा-सा गोल या अंडाकार नाभिक और प्रचुर आदिद्रव्य (protoplasm) होता है। वृहत गोल या अंडाकार बहुनाभिकित कोशिकाएं, जिनकी परिरेखाएं अनियमित होती हैं, दैत्य कोशिकाएं कहलाती हैं।

अधिचर्म में सीरमी शोथ के अतिरिक्त निम्न रोगलोचनी परिवर्तन भी पाये जाते हैं।

कंटक्लेश (acanthosis) कांटल परत की कोशिकाओं का तीव्र बहुलन (proliferation) है, जो सुचर्म की विभिन्न गहराइयों में प्रक्षेपों (projections) की तरह अवलोकित होता है। कंटक्लेश में आधारीय परत की कोशिकाओं की मितोसन-संख्या (number of mitoses) बढ़

जाती है और और उनके अनुरूप सुचर्म की योजक-ऊतकीय पिटिकाएं लमड़ जाती हैं। इस अवस्था को पिटिकार्ति (papillomatosis) कहते हैं। कंटक्लेश दिनाइ तथा खर्जूक्लेश में अवलोकित होता है।

कंटलय (acantholysis) उपकलीय अंतराकोशिकीय सेतुओं के गलने की क्रिया को कहते हैं। इससे उपकलीय कोशिकाओं के दृढ़ आपसी संबंध की क्षति होती है, जिसके फलस्वरुप वे सरलतापूर्वक अलग हो जाती हैं और अधिचर्म की छोटी-बड़ी विशल्की परतों में परिणत होने लगती हैं। ऐसी प्रक्रिया बुदबुदिया (pemphigus) में अवलोकित होती है।

कुश्रृंगन (dyskeratosis) अधिचार्म कोशिकाओं के अपसामान्य श्रृंगीभवन की प्रक्रिया है। इसके निम्न रुप हैं: अतिश्रृंगन (hyperkeratosis), अर्थात् श्रृंगी परत का मोटा होना (कोशिकीय संरचना में बिना किसी परिवर्तन के) और पराश्रृंगन (parakeratosis), अर्थात् अधिचर्म की श्रृंगी परत में छड़ाकृतिक रंजित नाभिक वाली कोशिकाओं की उपस्थिति (इन स्थितियों में कणमय एवं स्वच्छ परतें अनुपस्थित रहती हैं)।
कणार्ति (granulosis) अधिचर्म की कणमय परत के मोटे होने की प्रक्रिया है।

चर्मरोगों का हेतुलोचन और गदजनन (प्रमुख बातें)

हेतुलोचन (aeticlogy) रोग के कारणों का विज्ञान है। गदोजनन (रोगोद्भवन, pathogenesis) रोग के उद्भव और विकास की युक्तियाँ (mechanisms) को कहते हैं, गादिक (morbid) प्रक्रियाओं के प्रसार-पथों (routes of spread) को कहते हैं। रोगमोचन (sanogenesis) शरीर को रोग के प्रभावों से मुक्त कराने की आंतरिक युक्तियों को कहते हैं।

विभिन्न चर्मरोगों के विकास के अनेक कारण हैं। कभी-कभी ये कारण (घटक) अपरिस्थितिज क्षोभ (unconditional stimuli) से संबंधित हो सकते हैं, क्योंकि इनकी क्रिया से चर्म का व्यक्ति में हमेशा एक निश्चित प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। यह प्रतिक्रिया क्षोभक के क्षतिकारी प्रभाव के विरुद्ध पूरे शरीर का स्थानिक प्रत्युत्तर (local response) है। ऐसे क्षोभकों के उदाहरण हैं: सांद्र अम्लीय या क्षारीय घोल, जिनसे रसायनिक दग्ध (झुलसन) उत्पन्न होता है, किसी ऊर्जा (जैसे एक्सरे) की बड़ी खुराक, जो चर्म में एक विशिष्ट प्रकार की क्षति उत्पन्न करती है; चर्म की सीमित सतह पर अति उच्च या अति निम्न तापक्रमों की अभिक्रिया, ऊष्मीय दग्ध (thermal burn) या तुषारण (frostbite) होता है।

अधिकांश स्थितियों में किसी चर्मरोग के विकास हेतु एक साथ कई रोगकारी घटकों की क्रिया आवश्यक होती है। उदाहरणतया, यह सभी जानते हैं कि चर्म पर अनेक सूक्ष्म जीवों के समुदाय निवास करते हैं, जिनमें एक स्ताफीलोकोक (staphylococcus) भी है। स्ताफीलोकोक जाति की विभिन्न में बहुत ही विपाक्त होती है, फिर भी चर्मपूयता (pyoderma) विकसित होने के लिए कई अन्य घटक भी अवश्यक हैं, यथा: चर्म के रक्षी गुणों में गड़बड़ी (चर्म की जल-वसीय परतों के परिवर्तन, सूक्ष्म चोटें) या अल्पविटामिनता (hypovitaminosis), पारमेह (diabetes) का अन्य अन्तर्जात घटकों (endogenous factors) के कारण पूरे शरीर की प्रतिकारिता में गड़बड़ी। लातीनी (diabetes) का शाब्दिक अर्थ पारगमन या पारमेह है क्योंकि यह मूत्र को पार करती है, फिर भी आयुर (medicine) में इस शब्द से बहुमूत्र (या

अतिमेह) को द्योतित करते हैं; मधुमेह के लिये शब्द है (diabetes mellitus) (शब्दशः – शर्करातिमेह – अनु.) ।

इसीलिये ऐसी स्थितियों में चर्मरोगों के हेतुलोचनी (aetiological) घटकों को बहिर्जनित एवं अंतर्जनित में बाँटना कुछ हद तक औपचारिक (conditional) ही होगा। बहिर्जनित घटकों का प्रभाव तभी गादिक प्रक्रियाएं उत्पन्न करता है, जब अंतर्जनित घटक जीव की शरीरलोचनी (physiological) रक्षी युक्तियों को कमजोर कर देते हैं और इस प्रकार चर्मरोग के विकास की एक पृष्ठभूमि तैयार कर देते हैं, जो मानो पहले से थी ('प्रवणता', 'predisposition')।

यह याद रखना चाहिये कि मानव-शरीर जीवन तथा श्रम की परिस्थितियों पर बहुत अधिक आश्रित होता है। अतः किसी भी रोग को एक सामाजिक संवृत्ति (social phenomenon) मानना गलत नहीं होगा।

चर्मरोगों के बहिर्जनित (exogenous) रोगलोचनी घटकों में भौतिकीय, रसायनिक एवं बाक्तेरिक (bacterial) क्षोभक और परजीवक (पादप व जंतु – दोनों प्रकार के) आते हैं। .

1. बहिर्जनित भौतिकीय हेतुलोचनी घटकों में यांत्रिक क्षोभ, यांत्रिक क्षति और किरणी ऊर्जा के प्रभाव की गणना होती है। दीर्घकालीन दाब, घर्षण, धमन (contusion) तथा अन्य यांत्रिक प्रभाव विभिन्न तीव्रताओं वाली शोथ-प्रक्रियाएं तथा रक्तस्राव शुरू कर सकते हैं, ठेले (corns) और घट्टे (callosity) के विकास को प्रोत्साहित कर सकते हैं। तापीय घटक चर्म पर निम्न व उच्च तापक्रमों की अभिक्रिया (action) को कहते हैं, जिसके फलस्वरूप शीतशोथ (chilblain), तुषारण (frostbite), दग्ध आदि विकसित हो सकते हैं। चर्म पर किरणी ऊर्जा (विशेषकर पराबैंगनी किरणें, एक्सरे, आयनक विकिरण आदि) के पड़ने से विभिन्न तीव्रता वाले चर्मशोथ ही नहीं, बल्कि तीव्र कुरूपताजनित परिवर्तन भी उत्पन्न हो सकते हैं, जिसके साथ-साथ चर्म के क्षत क्षेत्र की मृत्यु भी प्रेक्षित होती है। इनकी चिकित्सा बहुत कठिनाई से होती है।

2. चर्मक्लेश उत्पन्न करने वाले रसायनिक घटक विविध हैं। वे व्यवसाय से भी संबंधित हो सकते हैं (व्यवसायिक रसायनिक क्षोभक) और दैनंदिन जीवन में काम आने वाले द्रव्य (जैसे विभिन्न आयुर्वेदिक प्रसाधन) भी आ सकते हैं।

इन द्रव्यों के कारण होने वाले चर्मक्लेशों के गदजनन (pathogenesis) में शरीर की संवेदनशीलता और इसकी परोक्षिक अवस्था (allergic condition) की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, इसीलिये मूर्त्त स्थितियों में गदजनन की व्याख्या कभी-कभी कठिन हो जाती है।

3. बाक्तेरिक घटकों अर्थात् रोगकारी या गदजनक सूक्ष्म जीवों (जीवाणुओं) से चर्मपूयता, चर्मयक्ष्मा, कुष्ठ रोग होते हैं; प्रोतोजोआ (protozoa) से लैइशमैनता (leishmaniasis) होती है; छन्य (filterable) वीरसों से बुदबुदियानुमा चौरस शैवाक (lichen planus pemphigoides), कटिबंधक विसर्प (herpes zoster), कीलक (मांसकीलक, warts), नुकीला कंडार्बुद (pointed condylomata), छुतहा मोलुस्क (molluscum contagiosum) आदि रोग होते हैं।

4. पादप-जाति के परजीवक (रोगकारी कवक या खुमी) लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरक्लेश, मोमिता तथा अन्य चर्मकवकताएं उत्पन्न करते हैं।

5. जंतु-जाति के परजीवक, जैसे चिंचड़ी (scabies mite) या कुकुरमाछी (gadfly) के लार्वा, चर्म के भीतर प्रविष्ट हो कर विकसित होने लगते हैं। कुछ जंतु, जैसे पिस्सू (flea), जूँ

(louse), खटमल, मच्छड़, कुटकी (tick) काट कर खुजली की अनुभूति देते हैं; इससे खरोंच और चर्मपूयता हो सकती है।

अंतर्जनित हेतुलोचनी घटक बहिर्जनित घटकों की तुलना में और भी विविध हैं, इनके नाना प्रभाव अभी तक पूरी तरह नहीं समझाये जा सके हैं। उदरस्थ अंगों (viscera) की अपसमान्य क्रियाशीलता से चर्म पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव पड़ सकता है। कुछ स्थितियों में यह एक प्रतिवर्त प्रक्रिया होती है, कुछ स्थितियों में प्रभाव रसों के माध्यम से कार्यान्वित होते हैं (द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ी, अंतस्त्रावी ग्रंथियों की अपक्रिया आदि में), कुछ अन्य स्थितियों में चर्म पर रोगलोचनी प्रभाव की नार्वरसीय युक्तियां (neurohumoral mechanism) भी देखने को मिलती हैं। कुछ चर्मरोग चर्म में जीवित ऊतक-उपादानों (live tissue elements) के स्थानांतरण से भी विकसित होते हैं, जो रक्तजनक या लसजनक पथ (haematogenous or lymphogenous route) से होता है। ऐसे स्थानांतरण को अपवहन (metastasis) कहते हैं; यह दुर्दम गुल्मों (malignant tumours) में प्रेक्षित होता है। अंततः, चर्म तक रोगलोचनी प्रक्रिया per continuitatem. (किसी रोग के सतत संचार या प्रसार से) भी पहुंच सकती है; ऐसी प्रक्रिया लसपर्वों की यक्ष्मा (tuberculosis of the lymph nodes) में देखने को मिलती है।

तल्पकों (clinicians) ने बहुत पहले ही इस बात पर ध्यान दिया है कि दिनाई, नार्वचर्मशोथ (neurodermitis), लाल चौरस शैवाक आदि जैसे कुछ चर्मरोग मानसिक एवं रागात्मक (psychic and emotional) विक्षोभों के प्रभावाधीन उत्पन्न होते हैं। अन्ततः, ये रोग केंद्रीय नर्वतंत्र (central nervous system) की अपक्रिया के फलस्वरुप उत्पन्न होते हैं। नर्वतंत्र के क्रियात्मक परिवर्तन कभी-कभी चर्म में रोगलोचनी प्रक्रिया के मुख्य हेतुलोचनी घटक बन जाते हैं – यह तथ्य शरीरलोचकों के, विशेषकर इ. पाव्लोव के शिष्य मि. पेत्रोव के प्रयोगों से सिद्ध हुआ। केंद्रीय और परिसरीय नार्विक केंद्रों की अंतर्भूत बीमारियों से भी कई प्रकार के चर्मरोग उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, नेरुमुपिरता (syringomyelia), मेरुकृशता (tabes dorsalis), अल्कोहलजनित नर्वशोथ (alcoholic neuritis) आदि में बेधक व्रण (perforating ulcer) विकसित हो जा सकते हैं और सिआटिक (sciatic) तथा अन्य नर्वों की क्षति से कुपोषणजनित व्रण (trophic ulcer) हो सकता है।

अंतस्त्रावी कार्यों की अनेक गड़बड़ियां भी अक्सर चमड़ी में विभिन्न रोगलोचनी प्रक्रियाओं के [illegible] में हेतुलोचनी घटक की भूमिका निभाती हैं। उदाहरणार्थ, यौवनारंभ में पीयूष (pituitary) [illegible] जनक (sex) ग्रंथियों के स्राव में गड़बड़ी वपास्राव और मुहासे का कारण होती है; ढालवत [illegible] की अपूर्णता (अपूर्ण कार्य) से श्लेष्मल शोफ (myxoedema) – चर्म से एक विशेष श्लेष्मावत [illegible] रिसाव – उत्पन्न होता है; अधिवृक्कीय ग्रंथि की गड़बड़ी से एडीसन की कीमारी [illegible] disease) हो जाता है, जिसमें त्वचा का रंग कांसे जैसा होता है। इन उदाहरणों [illegible] का मुख्य रोगलोचनी घटक अंतस्त्रावी गड़बड़ियां ही हैं, पर अधिकांशतः इनके साथ-[illegible] गड़बड़ियां भी पायी जाती हैं (नार्विक-अंतस्त्रावी गड़बड़ियां), जो चिरकालिक परोजी [illegible] dermotoses) – विभिन्न नार्वचर्मक्लेशों (neurodermatoses), दिनाइ आदि – के [illegible] प्रवणकारी (predisposing) पृष्ठभूमि को जन्म देती हैं।

[illegible] खनिजों, कार्बोहाइड्रेट, वसीय पदार्थों आदि के विनिमय में गड़बड़ियां भी विभिन्न [illegible] के विकास में प्रवणकारी घटकों का काम करती हैं; जैसे – मधुमेह (diabetes [illegible] या फुंसीक्लेश के विकास में। ऐसे चर्मक्लेशों की प्रायिकता अपेक्षाकृत कम

है, जिनमें द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां मुख्य रोगलोचनी भूमिका निभाती हैं; इनका एक उदाहरण है: खोलेस्टेरोल-विनिमय में गड़बड़ी के कारण पीतार्ब (xanthoma) का विकास।

कुछ चर्मरोग अविटामिनता के कारण भी होते हैं। उदाहरणार्थ, शरीर में विटामिन C की कमी से चर्म पर एक विशेष लक्षण से युक्त स्कर्वी विकसित होता है – स्कर्विक रक्तस्राव (scurvy haemorrhage)। विटामिन PP की कमी से चर्मरुक्षता (pellagra) उत्पन्न होती है। विटामिन A की कमी से अपसामान्य शृंगीभवन (keratinisation) – भेकचर्मता – शुरू होता है। इसके अतिरिक्त, शरीर में विटामिनों के असंतुलन से अन्य हेतुलोचन के चर्मक्लेशों के प्रति प्रवणता बढ़ जाती है।

कुछ चर्मरोग प्रबल (dominant) या अवगामी (recessive) प्रकार से विरासतित होते हैं। एक समूह जन्मजात रोगों के साथ संबंधित होता है, क्योंकि वे गर्भावस्था में भ्रूण की क्षतियों से उत्पन्न होते हैं, जैसे – गर्भकाल में रोगाणु-पैठन (infection) या [illegible] (intoxicosis) से। अक्सर ऐसी बीमारियां अगली संतति को विरासत में नहीं मिलती।

दैहिक तंत्रों से संबंधित रोगों – तंत्रीय रोगों (systemic diseases) – के विकास से चर्म भी रोगलोचनी प्रक्रियाओं की चपेट में आ सकता है, जिनके उदाहरण हैं: कोलाजनक्लेश (collagenoses), जालिकाक्लेश (reticulosis), आदि। रक्त और लसीका के संचार में गड़बड़ी से नीलपर्यगता (acrocyanosis), श्लीपद आदि हो सकते हैं। निष्पंदता (asphyxia), के लक्षण प्रकट हो सकते हैं; कुंभिक भित्तियों (vascular walls) की एक बीमारी – अपरोधक अंतर्धमनीशोथ (endarteritis obliterans) – से पैरों में चार्म विगलन (gangrene) और व्रण उत्पन्न हो सकते हैं।

यकृत (liver), जठर (stomach) आँत तथा अन्य उदरस्थ अंगों की बीमारियों से अक्सर दिनाइ [illegible] विकसित होती है; अन्य पक्षों (जैसे अंतस्रावी गड़बड़ियों, नर्वतंत्र की अस्थिरता) के साथ मिलकर वे चिरकालिक परोजी चर्मक्लेशों को जन्म दे सकती हैं। कृमियों के पैठन से कुछ चर्मक्लेश लंबी अवधियों तक बनी रह सकती हैं।

उनके विकास के दौरान बाह्य-बाह्य के सामान्य तीव्र (स्कार्लेट ज्वर) और चिरकारी (यक्ष्मा, सीफिलिस आदि) पैठी रोगों में चर्म पर विभिन्न शोथी (inflammatory) लक्षण भी उत्पन्न होते हैं, जिससे अक्सर निदान में सहायता मिलती है। कुछ चर्मक्लेशों के विकास में आजकल स्थानाबद्ध पैठन (localized infection) या रोगप्रसार-केंद्र (focus) की उपस्थिति को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। रोगाणुओं के खोंत की उपस्थिति चिरकालिक गलशुंडी (tonsilitis), चिरकालिक उंडुकशोथ (appendicitis), दंतीय कणार्ब (dental granuloma) आदि में होती है; ये खोंत शरीर को अधिक संवेदी बना देते हैं और जटिल [illegible] युक्तियों से त्वचा पर विभिन्न रोगलोचनी प्रक्रियाओं को (यहां तक कि तीव्र शोथी अवजनक परिवर्तनों को भी) जन्म देने की क्षमता रखते हैं।

अनेक चर्मक्लेशों के गदजनन में शरीर की परोर्जिक प्रतिक्रियाशीलता (allergic reactivity) की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जो अतिसंवेदिता (hypersensitivity) को जन्म देती है – या तो परोर्जक (allergen) के साथ बार-बार होने वाले संपर्क के फलस्वरूप, या दिये हुए क्षोभक के प्रति जन्मजात संवेदिता के फलस्वरूप अंतिम स्थिति में अतिसंवेदिता को विमेल (विलक्षण मेल, idiosyncracy) कहते हैं।

नयी इमूनो-परोर्जिक (immunoallergic) विधियों से परोर्जिक रोगों की इमूनोलोचनी युक्तियों का अध्ययन एक नये गुणात्मक स्तर पर संभव हुआ है।

चर्मरोगों का सामान्य लक्षणशास्त्र

चर्मरोग से पीड़ित व्यक्ति आयुरी परामर्श के लिये अक्सर तभी जाता है, जब वह त्वचा या श्लेष्मल झिल्ली के दृश्य भाग पर कोई वस्तुगत परिवर्तन देखता है, जिसके साथ कभी-कभी आत्मगत गड़बड़ियों का भी बोध होता है। फिर भी, चर्मरोगों का तल्पिक चित्र (clinical picture) लक्षणों का एक जटिल संकुल होता है, जिसकी अभिव्यक्तियां अधिकांशतः असमान होती हैं और रोगी को उनका ज्ञान नहीं होता। किसी भी रोग के लक्षणों को दो समूहों में बाँटा जाता है – आत्मगत और वस्तुगत। आत्मगत लक्षण वे हैं, जिन्हें रोगी अनुभव करता है; वस्तुगत लक्षण त्वचा या दृश्य श्लेष्मल झिल्ली पर उत्पन्न उन परिवर्तनों को कहते हैं, जिनका पता डाक्टर निरीक्षण या परिस्पर्शन से लगाता है। लेकिन चूँकि चर्म के अनेक परिवर्तन पूरे शरीर के किसी रोग की अभिव्यक्ति होते हैं, इसलिये स्फोटों (eruption) के साथ सार्वदैहिक लक्षण होते हैं, जैसे – अस्वस्थता, क्लांति, सामान्य कमजोरी, ज्वर, आदि। ये सारी बातें समझ में आने वाली हैं, क्योंकि अनेक चर्मरोग नर्वतंत्र, जठरांत्र मार्ग, अंतस्त्रावी ग्रंथियों, रक्तोत्पादक अंगों आदि की बीमारियों से संबंधित होते हैं।

आत्मगत लक्षण

चर्मलोचनी रोगी खुजली (जो चर्मक्लेशों में विशेषकर अक्सर होती है), जलन या चुभन की अनुभूति, दर्द आदि की शिकायत करते हैं। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि आत्मगत लक्षण रोग की तीव्रता पर ही नहीं निर्भर करते, वे रोगी की व्यक्तिगत विशेषताओं, उसके नर्वतंत्र की प्रतिक्रियाशीलता पर भी निर्भर करते हैं (इ. पाव्लोव के अनुसार: उच्चतर नार्विक सक्रियता के प्रकारों पर निर्भर करते हैं)। इसीलिये कुछ रोगी रोग की क्षीण अभिव्यक्तियों के प्रति भी बहुत दर्दनाक प्रतिक्रिया करते हैं, जबकि दूसरे रोगी संयत रहते हैं और चर्म की तीव्र रोगलोचनी अवस्था में भी बहुत कम शिकायत करते हैं। यह बात विशेषकर खुजली की अनुभूति के साथ लागू होती है; खुजली की तीव्रता चर्मक्लेश के प्रकार पर ही नहीं, बल्कि कुछ स्थितियों में मुख्यतः रोगी की प्रतिक्रियाशीलता पर भी निर्भर करती है। खुजली के वस्तुगत चिन्ह हैं – जगह-जगह छिलन, खरोंच, नखों की मुक्त किनारी का चिकना होना (रगड़ से), चमकदार होना।

खुजली की उपस्थिति या अनुपस्थिति का निश्चित नैदानिक महत्त्व होता है। कुछ चर्मक्लेशों में खुजली अनिवार्य रूप से होती है (खाज, पित्ती, विभिन्न प्रकार के कंडुओं, नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक, तथा दिनाइ के लगभग सभी रूपों में); अन्य चर्मक्लेशों में खुजली नहीं होती है या बहुत कम होती है (खर्जूक्लेश, चर्मदृढ़ता, सामान्य मुहासा, लाल मुहासा आदि में)। कुछ चर्मक्लेशों में खुजली के साथ-साथ दरक भी होती है (खाज, जूँ-क्लेश, कंडु आदि में) तथा कुछ चर्मक्लेशों में तीव्र खुजली के बावजूद भी दरक नहीं होती (पित्ती, चौरस शैवाक आदि में)। इसके अतिरिक्त, कंडुक चर्मक्लेशों वाले रोगियों में खुजली अक्सर रात को तीव्र हो जाती है, जब कंबल के नीचे त्वचा गर्म हो जाती है; यह बात खाज के रोगियों पर विशेष रूप से लागू होती है।

वस्तुगत लक्षण

रोगलोचनी चर्म-प्रक्रिया चर्म की रूपलोचनी क्षतियों (morphological lesions) के रूप में प्रकट होती है, अतः उसे ठीक-ठीक निर्धारित करने के लिये चर्मलोचक (dermatologist) को रोगी के पूरे शरीर पर चर्म की अवस्था का, उसके रंग, ताजगी (turgor), आर्द्रता, चमक, स्थानीय तापक्रम आदि का मूल्यांकन करना चाहिये। वस्तुगत खोजें देख और छू कर निरीक्षण से प्राप्त होती हैं।

त्वचा पर विस्फुटी (efforscence; skin rash) की क्षतियों को पहचानने की क्षमता रोगलोचनी प्रक्रिया के सही निर्धारण और चर्मक्लेश के शुद्ध निदान में सहायक संभव होती है। कई स्थितियों में त्वचा पर स्फोट-क्षतियों द्वारा उत्पन्न तल्पिक चित्र और उनकी क्रम-व्यवस्था से ही निदान सुलभ हो जाता है, जिसके बाद इलाज शुरू किया जा सकता है। कुछ स्थितियों में निदान के लिये परीक्षण की अतिरिक्त विधियों का प्रश्रय लेना पड़ता है (जैसे प्रयोगशाला की परीक्षा-विधियों का)। इनसे संबंधित तथ्य एवं आँकडे इस पाठ्यपुस्तक के विशिष्ट भाग में निरूपित किये गये हैं, जहां चर्मक्लेशों के वर्गीकृत रूपों का वर्णन दिया गया है।

चर्म-स्फोट शोथी और अशोथी दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन अधिकांश विस्फुटियों की प्रकृति शोथी ही होती है। वर्णकित चित्तियां या धब्बे (pigmented spots), गुल्म, सुखौरी (atrophy), अतिशृंगणता (hyperkeratosis) आदि अशोथी चर्मक्लेशों के उदाहरण हैं।

सभी चर्म-स्फोटों की क्षतियों को प्राथमिक तथा द्वितीयक में बाँटते हैं। स्वस्थ दिखने वाली त्वचा पर प्राथमिक शोथी रूपलोचनी क्षतियां किसी अंतर्जनित या बहिर्जनित क्षोभ के विरुद्ध प्रथम व प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होती हैं। द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां प्राथमिक क्षतियों के स्वतःस्फूर्त विकास या प्रयुक्त चिकित्सा के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां अंतर्स्यंदी और रिसालु प्रकार की होती हैं।

प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां

शोथ-प्रक्रिया के पाँच क्लासिकल लक्षण हैं: लाली, शोफ (गुल्म), वेदना, उच्च तापक्रम (या जलन), कार्यात्मक क्षति। इन लक्षणों की उत्पत्ति शोथी प्रतिक्रिया की डिग्री पर निर्भर करती है। शोथी प्रतिक्रिया तीव्र या अतीव्र होती है। तीव्र शोथी प्रतिक्रिया में शोथ के कुछ क्लासिकल लक्षण बहुत स्पष्ट होते हैं: लाली या अतिरक्तता (रक्ताधिक्य) तीव्र और रसालु (succulent) होती है; उपद्रव-केंद्रों (foci of affection) के शोफ की सीमा-रेखाएं अस्पष्ट होती हैं, क्योंकि रिसालु प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप कोटर (सीरमी या पूयिक) बन जाते हैं। खुजली या जलन और स्थानीय तापक्रम का ऊँचा होना बहुत स्पष्ट होता है, कभी-कभी दर्द भी महसूस होता है। इन बातों से क्रियात्मक गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है।

अशोथी या चिरकालिक प्रतिक्रिया में शोथ के लक्षण कम स्पष्ट होते हैं; रोगी क्षेत्र में रक्ताधिक्य के कारण उसका रंग नीला, नीलाभ या भूरी आभा लिये होता है; अलग-अलग उपद्रव-केंद्र अच्छी तरह सीमांकित (demarketed) होते हैं। कोशिकीय अंगों के बहुजनन के साथ-साथ शोथ का अंतर्स्यंदी घटक (infiltrative component) प्रबल होता है। ऐसे रोगियों को पीड़ा या जलन की अनुभूति नहीं होती, पर कभी-कभी खुजली बहुत उग्र होती है।

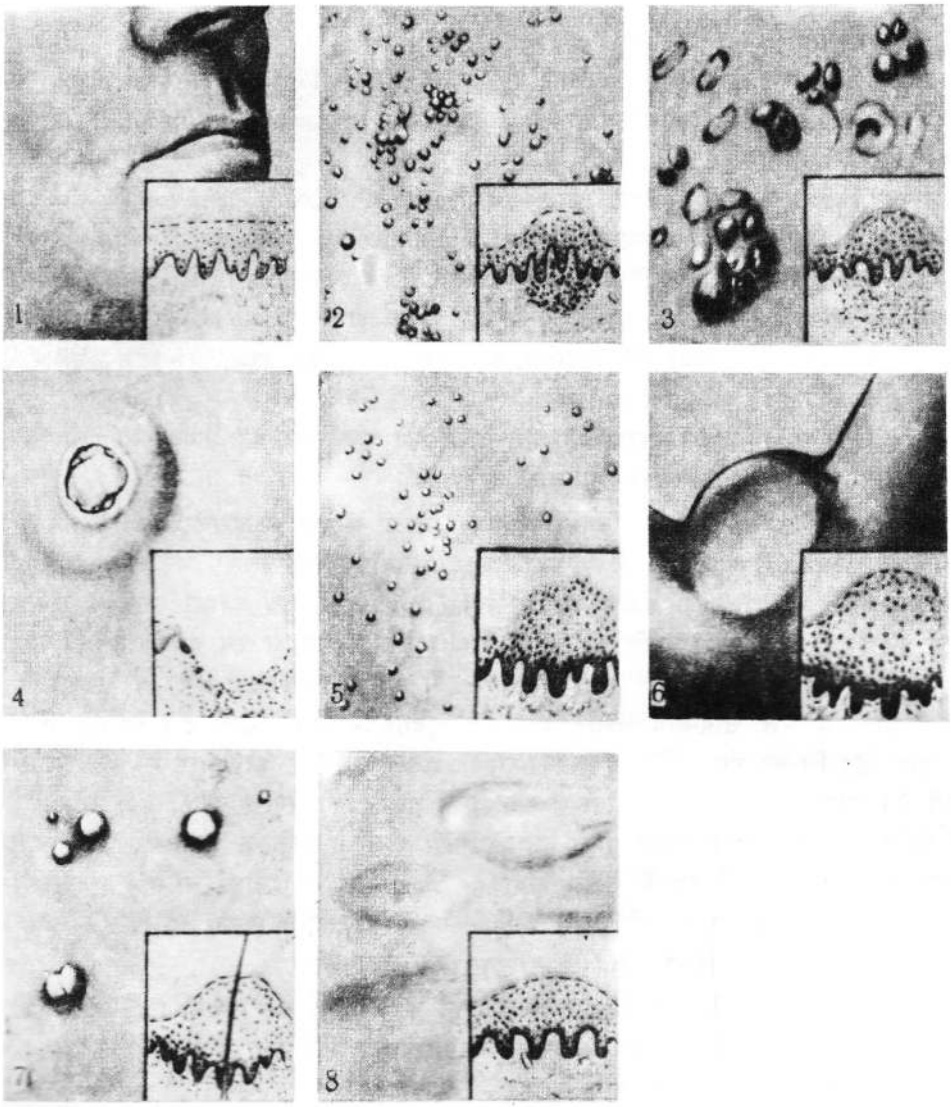

चित्र 4. प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां (आरेख)
चित्ती : 2. पिटक : 3. गंठिका ; 4. व्रण की अवस्था में पर्विका ; 5. वस्तिका ; 6. बुल्ला ;
7. पीटिका ; 8. ददौड़ा

[illegible] व अतीव्र शोथ में ऊतरूपलोचनी अंतर के अनुसार प्राथमिक क्षतियों को रिसालु तथा [illegible] में बाँटा जाता है। चित्ती, पिटक, गंठिका और पर्विका निस्यंदी क्षतियां हैं; वस्तिका, [illegible] पीटिका और ददौड़ा रिसालु क्षतियां हैं (चित्र 4)।

अंतस्यंदी प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां

चित्ती (macula) त्वचा या श्लेष्मल झिल्ली पर सीमित (क्षेत्रों में) रंग-परिवर्तन को कहते [illegible] वह त्वचा से ऊपर नहीं उठी होती और घनापन (consistency) में उससे भिन्न [illegible]

उत्पत्ति के कारण के अनुसार चित्तियां दो प्रकार की होती हैं—कुंभिक (vascular), जिनमें रक्तस्रावी (haemorrhagic) भी आती हैं, और वर्णिक (pigmentation maculae), जो बहुत कम अवलोकित होती हैं।

कुंभिक चित्तियां सतही कुंभिक जाल (superficial vascular network) की कुंभियों (vessels) के विस्फारण के फलस्वरूप तल्पिकतः (clinically) त्वचा पर परिसीमित लाली के रूप में व्यक्त होती है। ये शोथी और अशोथी होती हैं। शोथी कुंभिक चित्ती त्वचा पर विभिन्न आकार की परिसीमित लाली को कहते हैं, जिसका कारण कोई बाह्य या आंतरिक क्षोभ होता है। चित्तियों का रंग रक्त-कुंभियों की आपूर्णता के अनुसार भिन्न हो सकता है—लाल, गुलाबी या नीला (रक्तस्फीतिज, congestive)।

चर्म में स्थित कुंभियों के विस्फारण से बनी चित्ती को दबाने पर वह गायब हो जाती है, लेकिन दाब हटाने पर पुनः प्रकट हो जाती है।

छोटी शोथी गुलाबी चित्तियां, जिनका आकार कनिष्ठा के नख के बराबर तक हो सकता है, गुलाबिका (roseola) कहलाती हैं। यह विस्फुटी द्वितीयक सीफिलिस, मसूरिका (measles) शोणज्वर (scarlet fever), तंद्राभ ज्वर (typhoid fever), कुछ दवाओं आदि के प्रभाव से होती है। चित्ती तीव्र शोथी प्रकृति की भी हो सकती है; तब इनका रंग चमकीला गुलाबी होता है, परिरेखा अस्पष्ट होती है। ऐसी चित्तियों में संलयन (coalescence) व अपशल्कन की प्रवृत्ति होती है और साथ-साथ अक्सर शोफ और खुजली भी देखी जाती है। अशोथी चित्तियां भी होती हैं, जिनका रंग फीका गुलाबी (pale-rose) होता है और साथ में भूरी आभा भी होती है। इनकी परिरेखाएं स्पष्ट होती हैं और इनमें संलयन की प्रवृत्ति नहीं होती। इनमें खुजली भी नहीं होती। तीव्र शोथी प्रकृति वाली गुलाबी चित्ती बच्चों में उपरोक्त पैठनजनित रोगों के फलस्वरूप प्राथमिक क्षति के रूप में उत्पन्न होती है (इन रोगों में दिनाइ, चर्मशोथ गुलाबी बुसन के नाम हैं)। अशोथी प्रकृति की चित्तियां द्वितीयक (विरलतः तृतीयक) सीफिलिस, ललौंसी (erythrasma), बहुरंगी बुसन आदि के रोगियों को होती हैं।

बच्चे की हथेली के बराबर या उससे बड़ी कुंभिक चित्तियों को ललामी (erythema) कहते हैं। वे शोफित (swollen) हो सकती हैं, उनकी परिरेखाएं अनियमित होती हैं और उनका रंग चमकीला लाल होता है। उनके साथ खुजली भी होती है और उनका कारण कुंभियो का तीव्र शोथी विस्फारण हैं, जो दिनाइ, चर्मशोथ, प्रथम कोटि की झुलसन, चर्मशोणिक (erysipelatous) शोथ और बहुरूपी रिसालु ललामी के रोगियों में होता है।

रागात्मक उद्दीपन (emotional excitation) और नर्वकेशिक प्रतिक्रिया (neurotic reaction) में वृहत संस्रावी (confluent) अशोथी चित्तियां प्रकट होती हैं, जिनमें खुजली या अपशल्कन नहीं होता; इनका कारण सतही कुंभिक जाल की कुंभियों का अल्पकालीन विस्फारण है। ऐसी चित्तियों को क्षणिक ललामी (erythema fugax) कहते हैं (संभ्रांति या अकबकाहट, क्रोध, लज्जा आदि से उत्पन्न ललामी)।

सतही चर्म-कुंभियों (केशिकाओं) के स्थायी अशोथी विस्फारण से उत्पन्न चित्तियों को दूर-कुंभी-विस्फारण (telangiectasias) कहते हैं। दबाने पर ये भी अस्थायी रूप से गायब हो जाती हैं और दाब हटाने पर पुनः प्रकट हो जाती हैं। दूरकुंभी-विस्फारण अर्जित (acquired) चित्तियां हैं, जो स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होती हैं या लाल मुहासा (acne rosacea), दागी लला-

मक्लेश (cicatrizing erythematosis) तथा कुछ अन्य रोगों के तल्पिक चित्र का एक अंग होती हैं। अशोथी कुंभिक जन्म-चिन्ह, अर्थात् तिल (naevus) जन्मजात चित्ती है।

चर्म में रक्त की निस्सृति कुंभिक भित्तियों की वर्धित वेधिता (permeability) के कारण हो सकती है, जिसके फलस्वरूप रक्तस्रावी (haemorrhagic) चित्ती बनती है; यह दबाने पर गायब नहीं होती। निस्सृति के बाद जितना समय बीतता है, उसके अनुसार चित्तियां लाल, लाल-नीली, लोहित, हरी या पीली हो सकती हैं (उनका रंग हेमोग्लोबिन के क्रमशः हेमोसीदेरिन और हेमातोइदिन में रूपांतरण के कारण बदलता है)। ऐसी चित्तियों में आकार के अनुसार भी भेद किया जाता है: पिन के सर जितने बड़े रक्तस्राव को पेतेखिया (petechiae) कहते हैं, छोटे-छोटे गोल और अक्सर एक से अधिक रक्तस्राव को पुरपूरा (purpura) कहते हैं, वृहत रैखिक रक्तस्राव को वीबेक्स (vibex) कहते हैं (शब्दशः पेतेखिया – नन्हा धब्बा; पुरपूरा – नीलारुण; वीबेक्स – चोट से पड़ा हुआ नीला निशान। –अनु.)। अनियमित रेखा वाले बड़े क्षेत्र पर रक्त-निस्सृति से बनी चित्ती निस्सृतिक्लेश (ecchymosis) कहलाती है। बहुत अधिक रक्तस्राव से चर्म में उत्पन्न शोफ और उभार को रक्तार्बुद ((haematoma) कहते हैं। रक्तस्रावी चित्ती चर्म में परोर्जिक कुंभीशोथ (vasculitis), स्कर्वी (विटामिन C की कमी से क्लेश) तथा कुछ अन्य पैठी रोगों – तंद्रिका ज्वरों (typhuses), रूबेलिया (rubella), शोण ज्वर आदि – में होती है।

वर्णिक चित्तियां (pigmentation spots) चर्म में मेलानिन नामक वर्णक के बढ़ने या घटने से बनती हैं। ये अतिवर्णकता या अपवर्णकता के धब्बों के रूप में होती हैं। वर्णिक चित्तियां जन्मजात हो सकती हैं (तिल, जन्म-चिन्ह निरंजता) या अर्जित – झौंरिकाएं (ephelides, freckles), क्लोआज्मा (chloasma), श्वित्र (vitiligo)।

अतिवर्णकता-जनित चित्तियों में निम्न की गणना होती है: झौंरिकाएं (कुछ तीव्र पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से बने हल्के भूरे या भूरे रंग के नन्हे क्षेत्र), तिल (अतिश्रृंगणता-युक्त अतिवर्णकता का अधिकेंद्र क्लोआज्मा – अतिवर्णकता के बड़े-बड़े क्षेत्र, जो एडीसन-रोग, घेघा (अतिढालवत्ता, hyperthyroidism) तथा कुछ अन्य गादिक अवस्थाओं में उत्पन्न होते हैं।

अपवर्णिकता के छोटे-छोटे धब्बों को चर्मश्विति (leucoderma) कहते हैं। सच्ची चर्मश्विति द्वितीयक आवर्ती सीफिलिस के रोगियों में होती है, जब अपवर्णकता की ये चित्तियां अतिवर्णकता की पृष्ठभूमि में बनती हैं। मिथ्या या द्वितीयक चर्मश्विति (pseudoleucoderma) भूतपूर्व रूपलोचनी चित्तियों के स्थलों पर दिखती हैं – अक्सर अपशल्कनजनित चित्तियों (macula-desquamative) की जगह; ये अन्य चर्मक्लेशों (बहुरंगी बुसन, खर्जूक्लेश आदि) में भी बन जाती हैं, जब इर्द-गिर्द की स्वस्थ त्वचा के क्षेत्रों पर पराबैंगनी किरणें पड़ती हैं (सौर दग्ध, sunborn)। श्वित्र पूर्णतया वर्ण-विहीन क्षेत्रों को कहते हैं, जो विभिन्न आकारों के हो सकते हैं; इनके निम्न कारण हैं – नार्व-अन्तःस्रावी गड़बड़ियां (neuroendocrine disorders) तथा खमीरी अपक्रिया (enzymatic dysfunc-tion) हैं।

चर्म में वर्णक की जन्मजात अनुपस्थिति और साथ ही भौंहों, बरौनियों और सर के बालों का सफेद (उड़ा हुआ) रंग निरंजता (albinism) कहलाता है।

पिटक एक ठोस और कमोबेश रूप से कठोर अति है, जो त्वचा से उभरा होता है। इसके बाद न तो कोई निशान बचता है, न इससे द्वागी मुखौरी (cicatricial atrophy) ही बनती है। अधिचर्म में उत्पन्न पिटक को अधिचार्म (epidermal) पिटक कहते हैं (जैसे चौरस कीलक); त्वचा में बनने वाले को सुचार्म (dermal) पिटक कहते हैं (जैसे द्वितीयक सीफीलिस में)।

पिटक सामान्यतः अधिचर्म व सुचर्म तक ही सीमित होते हैं (जैसे चौरस शैवाक, खर्जूक्लेश, नार्वचर्मशोथ में)।

शोथी तथा अशोथी पिटकों में भी भेद किया जाता है। शोथी पिटक बहुत अक्सर अवलोकित होते हैं (खर्जूक्लेश, दिनाइ, द्वितीयक सीफीलिस, चौरस शैवाक, नार्वचर्मशोथ तथा अन्य रोगों में)। इनके लक्षण हैं: सुचर्म की पिटिकामय परत में शोथी अंतर्स्यंदन, कुंभियों का विस्फारण और गोल परिसीमित शोफ। दबाने पर पिटक पीला पड़ जाता है, लेकिन अपना रंग पूर्णतया नहीं खोता। अशोथी पिटक अधिचर्म का बहुलन है (जैसे कीलक) या सुचर्म में द्रव्य-विनिमय के अपसामान्य उत्पादों का जमाव (जैसे पीतार्ब)। यह चर्मोत्कों का बहुलन भी हो सकता है (पिटिकार्ब)। कुछ चर्मलोचक तीव्र शोथी प्रकृति के पिटकों को पृथक करते हैं (दिनाई या चर्म-शोथ के रोगियों में रिसालु पिटकों को), जो सुचर्म की पिटिकामय परत में तीव्र विस्फारण के क्षेत्रों में रिसाव के जमा होने और सतही केशिका-जाल की कुंभियों की परिवर्धित वेधिता के कारण उत्पन्न होते हैं।

पिटकों का आकार बाजरे के दाने से ले कर सिक्के से बड़ा भी हो सकता है। बाजरे (वर्जरी, millet) के दाने के बराबर पिटक वर्जरिक (miliary) कहलाते हैं; ये चौरस शैवाक में या शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा (tuberculosis cutis lichenoides: lichen scrofulosorum) में होते हैं। मसूर (lentil) के बराबर पिटक मसूरी (lenticular) कहलाते हैं (खर्जूक्लेश, द्वितीयक सीफीलिस आदि में होते हैं)। सिक्के के बराबर पिटकों को नौद्रिक (nummular) कहते हैं। वृहत (आतिपोषित) पिटक मुख्यतः द्वितीयक आवर्ती सीफीलिस (विस्तृत कंडार्ब, condyloma latum) में होते हैं। संस्रावी (confluent) पिटक चकत्ता (plaque) कहलाते हैं (हथेली के आकार तक के)।

पिटक अक्सर स्पष्टता के साथ परीसीमित होते हैं, लेकिन उनकी आकृतियां भिन्न हो सकती हैं – वर्तुलाकार (spherical), अंडाकार (oval) चौरस बहुभुजाकार (polygonal), नुकीली, नाभि जैसी, गुंबजाकार; इनकी सतहें चिकनी या रुखड़ी हो सकती हैं। पिटकों का घनापन भी तरह-तरह का होता है: मुलायम, कठोर, रबड़ की तरह, दृढ़ आदि। रंगों की भी बहुलता है – सामान्य चार्म, पीला, गुलाबी, लाल, लोहित, नीला-भूरा, भूरा, आदि।

संलग्न त्वचा पर बढ़ते हुए पिटक की सतह का घर्षण के कारण अपरदन (erosion) हो सकता है; श्लेष्मल झिल्ली पर उत्पन्न पिटकों की सतह का अपरदन लार (saliva), स्राव, भोजन आदि की क्षोभक-क्रिया से भी हो सकता है (इन्हें अपरदक पिटक कहते हैं)। पिटक जब बड़ा होता रहता है, उसका अतिपोषण होता रहता है। लोमाङ्कुरित सतह वाले पिटक को पिटकार्ब (papilloma) कहते हैं।

पिटिकाओं में अधिचर्म के रूपलोचनी चित्र की विशिष्टताएं हैं: अतिशृंगन, कणार्ति, कंटक्लेश, पराशृंगन। विभिन्न अंतर्स्यंदी का जमाव सुचर्म की पिटिकामय परत में पाया जाता है।

गंठिका (tubercle) चर्म पर ठोस अंतर्स्यंदी उभार को कहते हैं; इसकी प्रकृति अतीव्र शोथी है। यह अक्सर व्रण में परिणत हो जाती है और किण या किणिक अपोषण के रूप में खत्म हो जाती है। रूपलोचनी दृष्टि से गंठिका और पर्विका में भेद करना कठिन होता है, विशेषकर विकास के आरंभिक चरण पर। दोनों ही के आकार, आकृति, सतह, रंग और घनापन समान हो सकते हैं। गंठिकाओं में शोथी कोशिकीय अंतर्स्यंदन पिटिकामय परत तक ही नहीं, बल्कि मुख्यतः सुचर्म की जालिकामय परत तक फैल जाता है; ऊतलोचनी दृष्टि से यह एक पैठी कणार्ब

(infectious granuloma) है, जो या तो व्रण में परिणत हो जाती है और बाद में किण (चिन्ह, scar) छोड़ जाती है, या अवशोषित हो कर किणिक अपोषण-चिन्ह छोड़ जाती है। गंठिका और पर्विका में यह मुख्य तात्पिक भेद है, जिससे प्रक्रिया समाप्त होने के अनेक वर्ष बाद भी यह निर्धारित किया जा सकता है कि रोगी को (उदाहरणार्थ) तृतीयक सीफिलिस था या सामान्य वृका (इसमें किणों या अपोषण-चिन्हों की उपस्थिति ही नहीं, उनके क्रम को भी देखा जाता है, उदाहरणतया: सीफिलिस में किणों का क्रम पच्चीकारी-सा लगता है, सामान्य वृका में उनके बीच मेनु-से होते हैं; अन्य लक्षणों पर भी ध्यान दिया जाता है)।

कुछ स्थितियों में गंठिकाओं का अपना लंछक रंग भी होता है: तृतीयक सीफिलिस में लाल-भूरा, सामान्य वृका में लाल-पीला, कुष्ठ में जंक जैसा भूरा।

भिन्न रोगों में गंठिकाओं की ऊतलोचनी संरचना भी भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, चर्म-यक्ष्मा में उत्पन्न गंठिकाओं में मुख्यतः उपकलीय कोशिकाएं और भिन्न संख्याओं में लांगहांस की वृहत कोशिकाएं (Langhans' giant cells,) हैं: उनके केंद्रों में यक्ष्माजनक कवकी बैक्टेरिया (mycotuberculosis bacterium) विरले ही मिलते हैं, लसकोशिकाएं अक्सर उनकी परिरेखाओं पर होती हैं। सीफिलिस में गंठिकाएं प्लाज्मिक कोशिकाओं, लसकोशिकाओं, उपकलावत कोशिकाओं तथा रेशांकुरों से बनी होती हैं; गंठिका में ट्रेपोनेमा (treponema अक्षरशः – मुरमुन) नहीं मिलते, लेकिन उनमें कुछेक वृहत कोशिकाएं मिल सकती हैं।

नियमतः गंठिकाएं चर्म के सीमित क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं; वे या तो एक समूह बनाती हैं या परस्पर संलग्न होकर एक संहत अंतर्स्यंदन (compact infiltration) बनाती हैं; छिटके रूप में वे कम ही मिलती हैं।

पर्विका (nodule) प्राथमिक अंतर्स्यंदी रूपलोचनी क्षति है, जिसमें तीव्र शोथ नहीं होता। यह बड़ी होती है (मटर के दाने से ले कर अखरोट के बराबर, या इससे भी बड़ी) और अधोचार्म ऊतक में स्थित होती है। पर्विका शुरू-शुरू त्वचा पर उभरी हुई नहीं भी हो सकती है (इस स्थिति में वह परिस्पर्शन से जानी जाती है)। लेकिन वर्धन के साथ-साथ वह अक्सर काफी उभर जाती है। पर्विकाएं व्रण में परिणत होती हैं, फिर किणित हो जाती हैं। इनका घनापन भी अलग-अलग होता है: मुलायम से ले कर (संगलनीय गंठिक्लेश में) दृढ-प्रत्यास्थ (firm-elastic) तक (कुष्ठ और तृतीयक सीफिलिस में)। कुछ रोगों में पर्विकाओं की अपनी विशिष्टताएं होती हैं (रंग, आकृति, सतह, घनापन और स्राव की प्रकृति अनुसार), जिनके आधार पर उन्हें भिन्न श्रेणियों में रखा जाता है: संगलनीय गंठिक्लेश (tuberculosis collequativa) में चर्म-गंडमाला (scrofulsderma), तृतीयक सीफिलिस में रालार्ब (gumma), कुष्ठ में कुष्ठार्ब (lepro-ma)।

रिसालु प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां

पीटिका रिसालु (या निस्स्रावी) प्रकृति की प्राथमिक रूपलोचनी क्षति है। यह थोड़ी उभरी [illegible] इसमें द्रव से भरा कोटर होता है। यह द्रव सीरम हो सकता है या रक्त-मिश्रित सीरम। [illegible] होती है और ऊपर से आवरण होता है। वस्तिका शृंगी परत के नीचे, अधिचर्म [illegible] अधिचर्म व मुचर्म के बीच स्थित हो सकती है। वह एकल कोटरीय या बहुकोट-[illegible] हो सकती है। अन्तिम स्थिति में आभास होता है कि रोगी बुल्ला से पीड़ित है, पर बुल्ला [illegible] (septa) होती हैं। वस्तिका का आकार पिन के सर से लेकर मसूर के

दाने के बराबर तक हो सकता है। वस्तिका का द्रव स्वच्छ, सीरमी और कभी-कभी रक्त-मिश्रित होता है। वह अक्सर धुंधला एवं पूयिक (purulent) हो जाता है (जब वस्तिका पीपिका में परिणत होने लगती है)। वस्तिका से निकला हुआ द्रव सूख कर खट्ठी बन जाता है। अन्य स्थिति में वस्तिका का आवरण फट जाता है, स्थल अपरदित होता है और रिसता रहता है; यह (उदाहरणार्थ) दिनाई के उग्र चरण पर होता है। वस्तिका सामान्य चर्म में भी हो सकती है, पर ऐसी स्थिति में अक्सर उसका आधार-तल शोथी व ललामिक (erythematous) होता है। मुख-श्लेष्मला (oral mucosa) व रगड़ खाने वाली त्वचा पर वस्तिका जल्द ही फट जाती है और वहां अपरदित सतह रह जाती है। मोटी चमड़ी वाले स्थलों पर (जैसे हथेलियों, तलवों पर अपरस में) वस्तिकाएं देर तक बनी रह सकती हैं। वस्तिका या तो बिना कोई निशान छोड़े गायब हो जाती है, या अस्थायी वर्णकता छोड़ जाती है, जैसे ड्यूरिंग के विसर्परूपी चर्मशोथ में।

वस्तिका के विरचन में ऊतलोचनी चित्र की निम्न विशेषताएं हैं: स्पंजिता (spongiosis)—दिनाइ व चर्मशोथ में; फुलायमान अवजनन (ballooning degeneration)—चौरस बुदबुदिया-नुमा शैवाक, कटिबंधक विसर्प व छोटी शीतला (chickenpox) में; अंतराकोशिकीय रसधानी-जनन (vaculation)—अपरसी दिनाई व अधिचार्म तृणत्व (epidermophytosis) में।

बुल्ला (bulla) एक रिसालु कोटरीय क्षति है; इसका आकार नन्ही गोली से अंडे तक के बराबर हो सकता है। वस्तिका की भाँति इसमें भी एक आवरण सीरमयुक्त कोटर और तली होती है। शृंगी परत के नीचे स्थित बुल्ला को अधोशृंगी (subcorneal) कहते हैं, काँटल परत में स्थित बुल्ला को अंतराधिचार्म (intraepidermal) कहते हैं, अधिचर्म और सुचर्म के बीच स्थित बुल्ला को अधो-अधिचार्म (subepidermal) कहते हैं। बुल्ला गोल, अर्धगोल या अंडाकार होते हैं; उनका अंतर्य स्वच्छ या धुंधला होता है, कभी-कभी धुंधला या रक्तमिश्रित भी होता है। उसके द्रव में श्वेत कोशिकाएं (leucocytes), एओजीनोफिल तथा उदासीन कोशिकाएं भी भिन्न मात्राओं में उपस्थित रहती हैं। चर्मक्लेश के निदान (diagnosis) में बुल्ला-द्रव के लेप और उसकी तली की खुरचन के कोशिकालोचनी परीक्षण का कभी-कभी व्यावहारिक महत्त्व होता है, क्योंकि कुछ चर्मक्लेशों में भिन्न कोशिकाओं का अनुपात विशिष्ट होता है।

रगड़ खाने वाली त्वचा और श्लेष्मल झिल्ली पर बुल्ला जल्द ही फट जाता है, उसकी जगह पर अपरदन और बुल्ला का कटा-छँटा आवरण रह जाता है।

बुल्ला निम्न रोगों में होता है: सामान्य बुदबुदिया, जन्मजात बुदबुदिया, नवजात शिशु में तीव्र अधिचार्म बुदबुदिया, बहुरूप रिसालु ललामी दग्ध, औषधज चर्मशोथ (drug dermatitis), जैसे सुल्फानीलामीदी ललामी, आदि।

बुल्ला अक्सर ललामिक चित्ती की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न होता है, तथापि वह अपेक्षाकृत स्वस्थ त्वचा पर भी मिल सकता है (सामान्य बुदबुदिया के रोगियों में)।

बाह्य सूक्ष्म जीवों द्वारा चर्म-बेधन की प्रक्रिया में बुल्ला पैठी जीवाणु (जैसे स्त्रेप्तोकोक) या उसके गरल (toxin) से अधिचर्म की क्षति के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकता है। दग्ध में सीरमी रिसाव मृत अधिचार्म क्षेत्र को उभार देता है। कई अन्तर्जनित घटक भी हैं, जो अंतराधिचार्म बुल्ला विकसित करने में सहायक होते हैं; ऐसी स्थितियों में अंतराकोशिकीय आबंधों में टूटन (कंटलय, acantholysis) तथा अधिचार्म कोशिकाओं में अवजन्य परिवर्तन अवलोकित होते हैं। आधारीय झिल्ली की संरचना में गड़बड़ी होने पर कुंभियों से परास्राव (transudate) या निस्स्राव (exudate) अधिचर्म को ढीला कर देता है (अधिचर्मलय. epidermolysis) और अधो-

अधिचर्म बुल्ला बनता है; यथा – रिसालु बहुरूप ललामी में। बुदबुदिया का लक्षण है – अंतराधिचर्म में ही बुल्ला का सीमित होना (काँटल परत में) और कंटलयक कोशिकाओं का अलग-थलग या जमातों में उपस्थित होना।

पीपिका (pustula) एक रिसालु कोटरीय क्षति है जिस में पूय (या पीप) होता है। पूयिक रिसाव (या निस्राव) में श्वेत कोशिकाएं काफी बड़ी संख्या में होती हैं, उसमें अल्बूमिन और ग्लोबूलिन भी काफी होते हैं। जीवाणुओं (मुख्यतः स्ताफीलोकोक और स्त्रेप्तोकोक) की जीवन-क्रिया के उत्पादों के प्रभाव से उपकलीय कोशिकाएं मृत हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप पीपिका का कोटर अधिचर्म में बनता है। अधिचर्म की मुटाई में स्थित पीपिका, जिसकी प्रवृत्ति खट्ठी बनाने की होती है इम्पेटीगो कहलाती है। खट्ठी गिरने के बाद ग्रस्त क्षेत्र पर एक अस्थायी वर्णकता रह जाती है। रोमकूप के गिर्द पीपिकाएं बनने की अवस्था को रोमकूपशोथ कहते हैं। जब पूय रोमकूप के मुंहाने से प्रविष्ट हो जाता है, पीपिका का केंद्र रोम को बेधता है और आस्यक रोमकूपशोथ (ostial folliculitis) विकसित होता है। रोमकूपशोथ सतही हो सकता है, जिसके बाद क्षति का कोई चिन्ह नहीं रह जाता। वह गहरा भी हो सकता है, जिसमें सुचर्म की गहराई में स्थित कूप का हिस्सा ग्रस्त होता है, इस स्थिति में क्षतांक रह जाता है। रोमकूपशोथ अधिकांशतः स्ताफीलोकोक नामक जीवाणुओं की चर्या से होता है। सुचर्म में उत्पन्न गहरी अ-रोमकूपी पीपिका के स्फोट को एक्थीमा कहते हैं। इसके विघटन के बाद व्रण बनता है, जो ठीक होने पर दाग छोड़ जाता है। एक्थीमा स्त्रेप्तोकोक नामक जीवाणुओं से होती है। स्त्रेप्तोकोक-जनित सतही पीपिका (डीली, चपटी) को फ्लिक्टेना कहते हैं।

पीपिका सदा शोथित ऊतक के गुलाबी प्रभामंडल से घिरी होती है। कभी-कभी वह द्वितीयक प्रकृति की होती है – जब वह सहवर्ती (concomitant) पिओकोकिक (पूयकारी) पैठन के कारण वस्तिका और बुल्ला से विकसित होती है।

ददौड़ा (wheal) एक रिसालु अकोटरीय क्षति है, जो पिटिकामय चर्म-परत में परिसीमित तीव्र स्थानीय शोफ के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यह अपेक्षाकृत कठोर गद्दी जैसा उभार होता है, इसकी आकृति गोल या कभी-कभी अंडाकार होती है; इसमें तीव्र खुजली भी होती है। ददौड़ा एक अल्पदिवसीय (ephemeral) क्षति है, अर्थात् अक्सर वह बहुत जल्द गायब हो जाता है (कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों में) और इसका कोई दाग नहीं रह जाता। इसका आकार मटर के दाने से लेकर हथेली के बराबर या इससे भी बड़ा हो सकता है। इसका रंग फीका गुलाबी होता है क्योंकि कुंभियों का विस्फारण पिटिकाओं के शोफ के साथ-साथ शुरू हो जाता है। उग्र शोफ में कुंभियां संपीडित हो जाती हैं और ददौड़े का रंग पोर्सलेन की तरह हो जाता है।

ददौड़ा मक्खी-मच्छड़ तथा अन्य कीड़े-मकोड़ों के दंश-स्थल पर होता है, दंश-पादपों के संपर्क में आने से त्वचा में अनावृतन से होता है (ये सब बाह्य घटक हैं)। इसके अतिरिक्त, ददौड़ा आंतरिक घटकों के प्रभाव से भी हो सकता है, जैसे तीव्र रागावेश, गरलक्लेश, अंगों के संवेदीकरण (sensitization) आदि से। ददौड़ा औषधज, आहारजनित एवं बाक्तेरी-जनित परोर्जन से भी हो सकता है जैसे पित्ती, कुंभिक नर्वक्लेशिक शोफ (angioneurotic oedema), सीरमी क्लेश आदि। ददौड़े का कारण यांत्रिक क्षोभ (mechanical irritation) भी हो सकता है, जैसे वर्णकीय पदार्थों से त्वचा के यांत्रिक क्षोभ से बड़े और दीर्घकालीन ददौड़े उत्पन्न हो सकते हैं (कृत्रिम ददौड़ा या डर्मेटोग्राफ – dermatography – में)।

ददौड़ा विकसित होने पर तीव्र खुजली होती है, पर त्वचा पर कोई दरक नहीं पड़ता।

द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां

द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियों के विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न होती हैं। इनमें निम्न की गणना होती है: वर्णकीय चित्ती, शल्क, खट्टी, सतही व गहरे दरक (fissures), निस्त्वचन, व्रण, दाग, शैवाकीकरण (lichenisation) और पनपाव (vegetation)।

वर्णकता. प्राथमिक वर्णकता (जैसे झौरिकाएं, [illegible] आदि) के बारे में ऊपर बताया जा चुका है। यहां अतिवर्णकता की बात चल रही है, जिसमें ग्रस्त स्थल पर मेलानिन नामक वर्णक अत्यधिक मात्रा में जमा हो जाता है। इसका कारण भिन्न है: प्राथमिक चर्म-क्षतियों (पिटक, गंठिका, वस्तिका, बुल्ला, पीपिका) और द्वितीयक चर्म-क्षतियों (अपरदन, व्रण) के अपचोषण के बाद चर्म के हेमोसीडेरिन-क्लेश (haem siderosis) में रक्त-वर्णक हेमोसीडेरिन का जमा होना। द्वितीयक अतिवर्णकता चर्म के अलग-अलग क्षेत्रों में [illegible] की कमी के साथ संबंधित है; इसे द्वितीयक चर्मश्विति नाम से जाना जाता है। द्वितीयक वर्णकीय चित्ती की आकृति और परिरेखा उस क्षति जैसी होती है, जिसके स्थान पर वह बनती है।

शल्क (squame; scales) उघड़ी हुई (वियुक्त) शृंगी परत को कहते हैं। सामान्य परिस्थितियों में शृंगी परत के चटों (पटलों) का उखड़ना अनवरतित रूप से निरंतर चलता रहता है; यह एक शरीरलोचनी प्रक्रिया है। ये पटल नहाते वक्त या त्वचा के साथ कपड़ों की रगड़ के कारण शरीर से अलग होते रहते हैं। कुछ गदलोचनी अवस्थाओं में उत्पन्न शल्क नंगी आँखों से भी देखे जा सकते हैं। वे असामान्य अपशल्कन की प्रक्रिया लंछित (characterise) करते हैं। चोकर जैसे नन्हे शल्कों को रूसी कहते हैं और इनके अलग होने की प्रक्रिया को रूसीदार अपशल्कन कहते हैं। यह (उदाहरणतया) बहुरंगी बुसन में होता है। बड़े शल्कों को पटलिकाएं (lamellae) कहते हैं और इनके अलग होने की प्रक्रिया को पटलिक अपशल्कन कहते हैं। यह खर्जूक्लेश (psoriasis) में होता है।

कुछ चर्मरोगों में (जैसे चर्मरोग और शोणरूपी चर्मरोग में) शृंगी परत बड़े-बड़े पत्तरों के रूप में अलग होती है। मीनचर्मता जैसे रोगों में शल्क एक स्थायी वस्तुगत लक्षण की भूमिका निभाते हैं।

शल्क का रंग सफेद, भूरा, पीलापन या कत्थाभ हो सकता है।

असामान्य अपशल्कन अक्सर परपोषण (शृंगन में गड़बड़ी) के फलस्वरूप होता है, जब अधिचर्म में कणमय परत नहीं रह जाती और शृंगी परत में कोशिकाओं के अवशेष मिलने लगते हैं। अपशल्कन कभी-कभी अतिशृंगन या शृंगनक्लेश के कारण होता है (अतिशृंगन: सामान्य शृंगी कोशिकाओं का असामान्य रूप से तीव्र विकास, शृंगनक्लेश: शुष्क, कठोर शृंगी द्रव्य का जमाव, जैसा कि ठेला में होता है)।

अपशल्कन के रूप और शल्कों के प्रकारों का ज्ञान कुछ चर्मक्लेशों के निदान में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, रजत-श्वेत शल्क खर्जूक्लेश में होते हैं, काले शल्क मीनचर्मता के कुछ रूपों में पाये जाते हैं। तैल वपास्राव (oleosa seborrhoea) में शल्क पीले होते हैं। खर्जूक्लेश में शल्क सरलतापूर्वक अलग होते हैं, दागी ललामक्लेश में उन्हें अलग करना कभी-कभी कष्टकर भी होता है, क्योंकि वे शरीर से कस कर जुड़े होते हैं: शल्कों की निचली सतह पर शृंगी उत्वर्ध होते हैं, जो चर्म के रोमकूप के मुहानों में प्रविष्ट रहते हैं। गुलाबी बुसन में खपरैल की तरह लहरदार

शल्क होते हैं, सीफिलिसी पिटक गुच्ची की तरह व्यवस्थित शल्कों से लछित होता है (बिएट का पट्टा या कौलर), पराखर्जूकलेश में पपड़ी जैसे शल्क होते हैं (केंद्रीय अपशल्कन); कुछ खुमीज रोगों (fungus diseases) में परिसरीय अपशल्कन पाया जाता है।

खट्ठी (crustae) निस्स्रावित सीरम, पूय या रक्त के सूख कर जमने पर बनती है (कभी-कभी प्रयुक्त दवा के अधिमिश्रण के साथ)। इसीलिये सीरमी, पूयिक, सीरमी-पूयिक, रक्तपूयिक तथा अन्य प्रकार की खट्ठियों में भेद किया जाता है। वह वस्तिका, वुल्ला व पीपिका के सूखने से, गंठिकाओं व पर्विकाओं के व्रण (ulceration) से और गहरी पीपिकाओं के पूयिक गलन और विमरण (necrosis) से बनती है। घोंघे की तरह बड़ी व पटलित (laminated) खट्ठी को चट्टानी (rupia) कहते हैं; इसका ऊपरी भाग सबसे पुराना होता है और साथ ही सबसे छोटा होता है।

खट्ठी का रंग उस स्राव की प्रकृति पर निर्भर करता है, जिसके सूखने से वह बनती है। सीरमी स्राव से बनने पर वह पारदर्शक या [illegible] हो सकती है, पूय-स्राव से – पीली या पीली-हरी, रक्त-स्राव से – [illegible] या भूरी, आदि। जब स्राव मिश्रण के रूप में होता है, तब खट्ठी का रंग उसके अनुसार बदलता है और भिन्न [illegible] ग्रहण करता है।

खट्ठिया अक्सर होंठों पर पड़ती हैं (बुद्बुदिया, बहुरूप रिसालु [illegible] बुद्बुदियानुमा चौरस शैवाक तथा विभिन्न प्रकार के अधरशोथों में [illegible] चर्म पर खट्ठी निम्न [illegible] में भी पड़ती है: खाज, कवकता, चर्मपूयता, दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, विभिन्न सीफीलीदों आदि में। (सीफिलिस की किसी भी बाह्य अभिव्यक्ति को सीफीलीद कहते हैं – अनु.)

चर्म पर शल्कों तथा खट्ठियों की मिश्रित [illegible] को पर्पटिक शल्क कहते हैं; ये वपास्राव में तथा चिपचिपा खर्जू के कुछ प्रकारों में पाये जाते हैं।

सतही दरक (fissura) अधिचर्म से गहरी नहीं होती और बिना कोई निशान छोड़े ठीक हो जाती है।

गहरी दरक (rhagas) अधिचर्म और सुचर्म में पहुँच जाती है तथा कभी-कभी तो और भी गहरे ऊतकों को ग्रस्त कर लेती है। इसके ठीक होने के बाद दाग रह जाता है।

रैखिक दरक (त्वचा का ऐब) तब उत्पन्न होती है, जब चर्म के लमड़ने वाले क्षेत्रों (होंठों के मिलन-स्थल, उंगलियों के बीच की सलवटें, अस्थि-संधियों के ऊपर स्थित चर्म, पृष्ठद्वार के [illegible] आदि) पर शोथी अंतर्स्यंदन (inflammatory infiltration) के कारण चर्म अपनी प्रत्यास्थता खो बैठता है। वे निम्न चर्मक्लेशों में भी उत्पन्न हो सकती हैं: चिरकालिक दिनाई, पैरों के घर्षज अधिचर्म कुत्व (intertriginous epidermophytosis) होंठों के मिलन-स्थल पर [illegible] या खुमीज [illegible], तथा घर्षज चर्मशोथ (intertrigo) में। वे शुष्क [illegible] परत वाले चर्म के लमड़ने से भी बन सकती हैं। गहरी दरकें आरंभिक जन्मजात सीफिलिस में पायी जा सकती हैं। वे प्राकृतिक मुहाने के गिर्द बनती हैं और सरलतापूर्वक रक्तस्राव करती हैं। दरक की गहराई के अनुसार सीरमी या रक्त-मिश्रित सीरमी स्राव उत्पन्न होता है, जो सूख कर दरक की सतह की खट्ठी बनाता है।

निस्त्वचन (excoriation) खरोंच या किसी अन्य चोटज क्षति से होता है। खरोंच से अधिचर्म ही नहीं सुचर्म की पिटिकामय परत भी क्षत हो सकती है। और गहरा निस्त्वचन होने पर [illegible] और [illegible] या निर्वर्णकता रह जाती है। निस्त्वचन अति तीव्र खुजली होने का वस्तुगत

चिन्ह (लक्षण) है। निस्त्वचन के स्थान और उसकी आकृति से कभी-कभी निदान में भी सहायता मिल जाती है, जैसे खाज में।

अपरदन (erosion) अधिचर्म के अंतर्गत सतही चर्म-क्षति है। यह वस्तिका, बुल्ला, पीपिका आदि के फटने पर उत्पन्न होता है और इसका आकार और आकृति उन्ही प्राथमिक रूपलोचनी कोटरीय क्षतियों जैसी होती है, जिनकी जगह पर यह बनता है। यह अक्सर लाल या गुलाबी होता है, इसकी सतह आर्द्र और रिसालु होती है। चर्म या श्लेष्मला के बड़े-बड़े क्षेत्र बुदबुदिया में अवलोकित होते हैं। छोटे अपरदन दिनाइ, बुदबुदियानुमा शैवाक, कटिबंधक विसर्प, अपरस तथा पैर के अपरसी अधिचार्म तृणत्व के रोगियों में वस्तिकाओं के फटने से होते हैं। अपरदित सीफीलिसी पिटक अक्सर मुंह में और घर्षणरत त्वचा पर पाये जाते हैं। कठव्रण भी अपरदन का रूप ग्रहण कर सकता है। अपरदन बिना दाग छोड़े ठीक हो जाते हैं।

व्रण (ulcer, ulcus) ऐसी चर्म-क्षति है जो अधिचर्म, सुचर्म तथा कभी-कभी और भी गहरे स्थित ऊतकों को ग्रस्त करती है। व्रण गंठिका व पर्विका से और कभी-कभी गहरी पीपिका के फटने से विकसित होता है। सिर्फ कुपोषज व्रण ऐसे हैं, जो स्वस्थ दिखने वाले ऊतक के पोषण में गड़बड़ी के कारण उसके प्राथमिक विमरण के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। व्रण गोल (वर्तुल), अंडाकार या अनियमित आकार का होता है। इसके सतह का रंग चमकदार लाल से रक्तस्फीतिज नीला तक हो सकता है। उसकी तली सीरमी, पूयिक या रक्तमिश्रित स्राव से समरूपता या असमरूपता के साथ ढकी होती है और उसका थोड़ा (या बहुत) कणिकायन हुआ रहता है। व्रण की किनारियां नियमित अपरदित हो सकती हैं चौरस, दबी हुई या उभरी हुई और कठोर या मुलायम हो सकती हैं।

पूयिक शोथी प्रक्रिया में व्रण की किनारियां शोफित तथा मुलायम होती हैं और व्रण के गिर्द प्रचुर पूयिक स्राव और विसरित (diffused) रक्तातिरेक होता है। पैठी कणार्बुद (जैसे सीफीलिस में गोदार्व) के विघटन में व्रण के गिर्द कठोर परिसीमित (circumscribed) अंतर्स्यंदन उत्पन्न होता है, जिसके परिसर में रक्तस्फीति अवलोकित होती है।

व्रण के ठीक होने पर निशान रह जाता है, जिसकी प्रकृति के आधार पर पूर्ववर्ती गदलोचनी प्रक्रियाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

क्षतांक (दाग निशान, cicatrix) चर्म की गहरी क्षतियों के स्थलों पर बनता है; इन स्थलों पर चर्म की जगह रुक्ष रेशेदार योजक ऊतक (कोलाजनी तंतु) ले लेते हैं। ऐसी स्थितियों में चर्म-पिटिकाएं मिट जाती हैं और उनकी जगह चिकनी सतह रह जाती है। अंतरापिटिकीय उपकलीय प्रक्रियाएं रुक जाती हैं, जिसके फलस्वरूप अधिचर्म और सुचर्म के बीच विभाजन-रेखा एक क्षैतिज सरल रेखा के रूप में दिखती है। क्षतांक पर न तो चर्म की बनावट होती है, न रोम-कूप या स्वेद-मार्ग का मुहाना होता है। दागी (cicatricial) ऊतकों में न तो रोम होते हैं, न वपाल या स्वेदीय ग्रंथियां ही, और न कुंभियां या प्रत्यस्थ तंतु ही। क्षतांक गहरे दग्ध, जख्म, व्रणित गंठिकाओं, पर्विकाओं या गहरी पीपिकाओं के स्थल पर बनता है। यह बिना व्रणन के 'सूखे ढंग' से भी बन सकता है, जैसे चर्म के पिटकोमृत्विक (papulonecrotic) यक्ष्मा में और तृतीयक गंठिकीय सीफीलिस की कुछ स्थितियों में।

नये (ताजे) क्षतांक लाल या गुलाबी होते हैं; पुराने क्षतांक अतिवर्णकित या निर्वर्णकित होते हैं। अतिपोषित क्षतांक रेशेदार ऊतकों की अत्यधिक मात्रा के कारण त्वचा से ऊपर उभरा होता है; इसे गुल्मवत दाग कहते हैं।

दागी कुपोषण ऐसी अवस्था है, जिसमें महीनतर योजक ऊतक बनते हैं, लेकिन क्षतांक की तुलना में बहुत कम। ऐसी स्थितियों में चर्म का ग्रस्त क्षेत्र बहुत पतला हो जाता है, उसके अधिकांश भाग में सामान्य बनावट नहीं रह जाती और वहां सतह अक्सर अवतल रहती है (इर्द-गिर्द की त्वचा के मुकाबले)। कुपोषण अक्सर बिना व्रणन के ही अर्थात् 'शुष्क ढंग' से विकसित होता है (यथा, चर्मकठोरन और ललामक्लेश में)। उंगलियों से ऐसी त्वचा को दबाने पर उस पर सिगरेटी कागज जैसी चुन्नियां पड़ जाती हैं।

क्षतांकों के स्थान, आकृति, संख्या, आकार और रंग के आधार पर निदान किया जा सकता है कि आदमी किस गदलोचनी प्रक्रिया से ग्रस्त था। उदाहरणार्थ, सीफीलिसी रालार्व का निशान गहरे मरोड़ के साथ और तारे की आकृति का होता है; चर्म के संद्रवित गंठिकाक्लेश के दाग लसपर्वों के क्षेत्र में अनियमित आकृति के सेतुओं जैसे और थोड़ा मरोड़े हुए (आकुंचित) ऊबर-खाबर होते हैं। इस तरह के निशान चर्म के अन्य क्षेत्रों में गंठिकाक्लेश ही नहीं, चिरकालिक गहरी चर्मपूयता से भी हो सकते हैं। चर्म के पिटकोमृतिक गंठिका-क्लेश के दाग सतही और स्पष्ट रूप से परिसीमित होते हैं, मानों मूहर लगाया गया हो, जबकि तृतीयक सीफीलिस के गंठिकीय सीफीलिद के क्षतांक रंग-बिरंगी पच्चीकारी की तरह होते हैं, उनकी परिरेखा सीप जैसी लहरदार होती है। चर्म का चिकना, चमकदार कुपोषण सामान्य वृक्क के अंत-स्थल पर विकसित होता है।

शैवाकीकरण (lichenization या lichenification) में चर्म मोटा और कठोर हो जाता है; इसके अतिरिक्त निम्न लक्षण दिखते हैं: चर्म की सामान्य बनावट की अतिरंजना (exaggeration), अतिवर्णकता, शुष्कता, रुक्षता, कीमुख (shagreen) जैसा रंग। शैवाकीकरण प्राथमिक हो सकता है, जो चर्म को खुजलाते रहने से उसमें दीर्घकालीन क्षोभ के कारण उत्पन्न होता है (जैसे नार्वचर्मशोथ के रोगी में)। द्वितीयक शैवाकीकरण पिटकीय क्षतियों के साथ-साथ होता है (जैसे खर्जूक्लेश, चौरस शैवाक, चिरकालिक दिनाइ, नार्वचर्मशोथ–विसरित, पिटकीय अंतर्म्यदन–आदि में)। शैवाकीकरण में अधिचर्म की कांटल-कोशिकीय परत (prickle-cell layer) अतिपोषित होती है और अंतरापिटकीय उपकलीय उत्वर्ध (inter papillary epithelial processes) बहुत बड़े होकर सुचर्म में गहरे धँस जाते हैं (कंटलय); सुचर्म का ऊपरी भाग चिरकालिक शोथी अंतर्म्यदन से ग्रस्त रहता है और पिटिकाएं लंबी हो जाती हैं।

पनपाव (vegetation) स्थायी शोथी प्रक्रिया के क्षेत्र में अधिचार्म कांटल परत के तीव्र बहुलन के फलस्वरूप होते हैं। ये देखने में रोमल (villous) सुचार्म पिटिकाओं की तरह होते हैं, जिनके कारण ये ऊबर-खाबर पर्विकीय प्रकृति के लगते हैं, मानो मुर्गे की कलगी हों। जिन पनपावों की सतह मोटी शृंगी परत से ढकी होती है, वे कड़े, शुष्क व भूरे होते हैं। घर्षणरत त्वचा पर अंतर्वेशों के कारण अक्सर बनने वाले अपरदित पनपाव मुलायम, रसालु और गुलाबी-लाल या लाल होते हैं; उनसे रक्त आसानी के साथ निकल आता है और सीरम अथवा रक्तमिश्रित सीरम का स्राव होता रहता है। द्वितीयक पैठन के विकास से कोमलता व परिसर पर रक्तातिरेक की पट्टी के साथ-साथ पूय-सीरमी स्राव उत्पन्न होता है।

चर्म-रोगों में स्फोट एकरूपिक (monomorphic) हो सकता है (ऐसे स्फोट में सिर्फ एक प्रकार की प्राथमिक रूपलोचनी क्षति होती है, जैसे–खर्जूक्लेश व सीफीलिस में पिटक, सीफीलिस में गुलाबिका, कीलक आदि)। इस दृष्टि से एकरूपिक चर्मक्लेश इतरित किये जाते हैं: खर्जूक्लेश, चौरस शैवाक, पित्ती, सामान्य बुदबुदिया, फुंसीक्लेश, स्वेदग्रंथिशोथ, नवजात में सौम्य बुदबुदिया, आदि। यदि कई प्रकार की प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियां (एक ही स्थल

पर) होती हैं, तो ऐसी अवस्था को सच्ची बहुरूपिकता (true polymorphism) कहते हैं। सच्ची बहुरूपिकता वाले चर्मक्लेशों में निम्न की गणना होती है: दिनाइ, कुष्ठ, ड्यूरिंग का विसर्परूपी चर्मशोथ, बहुरूपिक रिसालु ललामी, सीफीलिस की द्वितीयक अवधि आदि। मिथ्या बहुरूपिकता (false polymorphism) में एक प्राथमिक तथा कुछेक द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां एक साथ होती हैं। उदाहरणार्थ, बुल्लेदार अधिचर्मलय से ग्रस्त रोगी में तेजी से फटने वाले बुल्ले बन जाते हैं। ऐसी स्थितियों में सूख कर खठ्ठी बनने वाले रिसाव से युक्त अपरदित सतह दिखने लगती हैं; खठ्ठी गिरने के बाद वर्णकता का धब्बा बना रहता है। देखने पर लगता है कि स्थल पर तल्पिक लक्षणों की विविधता है। इससे स्फोट की बहुरूपिकता का अनुमान लगता है और इसीलिये इसे मिथ्या बहुरूपिकता कहते हैं।

एकरूपिक या बहुरूपिक स्फोटों की, अथवा मिथ्या बहुरूपिकता की सही पहचान से रोग का निदान सरल हो जाता है।

चर्मरोगी का परीक्षण

चार्म अथवा रतिज रोग से ग्रस्त व्यक्ति के परीक्षण की रीति किसी अन्य (जैसे आंतर अंगों के) रोगी के परीक्षण की रीति से भिन्न होती है, उसकी अपनी विशेषताएं होती हैं। चर्मलोचक या रतिजलोचक (venereologist) अपने रोगी से पूछता है कि उसे क्या शिकायत है और उसे आयुरी सलाह की आवश्यकता क्यों पड़ी है। यदि रोगी बताता है कि उसकी त्वचा या श्लोष्मला पर स्फोट (दाने) निकल आये हैं, तो डाक्टर ग्रस्त क्षेत्र को दिखाने के लिये कहता है। इसीलिये चर्मलोचक व रतिजलोचक के चिकित्सानुशीलन में (विशेषकर अनावासी तल्पालय की परिस्थितियों में) परीक्षण करते वक्त दृश्य-निरीक्षण को ही प्राथमिकता दी जाती है, रोगी के आयुरी इतिहास से संबंधित तथ्यों के संग्रह, उसकी आयु और जीविका के विश्लेषण को बाद में महत्त्व दिया जाता है। इसका रहस्य क्या है।

प्राथमिक और द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियों के ज्ञान का महत्त्व हम पहले ही बता चुके हैं; यह चर्मलोचन का क ख है, जिसकी सहायता से रोगी के चर्म पर निदान को 'पढ़ा' जा सकता है। जब कोई चर्मक्लेश स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त रहता है और किसी अतिरिक्त परीक्षण-रीति की आवश्यकता नहीं रह जाती, तब डाक्टर निदान करता है। लेकिन इसके बाद भी वह आयुरी इतिहास के तथ्य संग्रह करना रहता है, जिससे उसे रोगी के जीवन और कार्य की परिस्थितियों के विषय में जानकारी मिलती है; वह रोगी के आंतर अंगों व नर्वतंत्र की अवस्था तथा अन्य तथ्यों का भी अध्ययन करता है। इन बातों से उसे विशिष्ट चिकित्सा सुझाने और रोग-पुनरावर्तन के विरुद्ध कदम उठाने में सहायता मिलती है। डाक्टर जितना ही सक्षम होगा, जितना ही समृद्ध उसका तल्पिक अनुभव होगा, जितनी ही उसकी दृश्य-स्मृति विकसित होगी, उतनी ही सरलता के साथ वह स्फोट की प्रकृति (रूपलोचनी क्षतियों का रूप, शरीर पर उनका वितरण, स्थिति, आकृति, परिरेखा, परिसर, सतह, उनके संबंध, उनके घनापन आदि) के आधार पर रोग का निदान कर सकेगा। विशिष्ट प्रवाह वाले सभी चर्मक्लेशों के तल्पिक चित्रों की सूची यहां देना संभव नहीं है, अतः हमलोग उदाहरण के लिये सिर्फ कुछेक चार्म एवं रतिज रोगों के नाम बताएंगे, जिनका तल्पिक निदान उनकी बाह्य अभिव्यक्ति मात्र से ही अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

फुंसी, कोलफुंसी, स्वेदग्रंथिशोथ, सामान्य एक्थीमा, बहुरंगी बुसन, ललौंसी, पाद-कीट (tinea pedis), वलय-कृमि, मोमिता का शल्की रूप, बुदबुदियानुमा शैवाक, कटिबंधक विसर्प, लला-

मक्लेश, कठचर्मता, दिनाइ, पित्ती, खर्जूक्लेश, चौरस शैवाक, कठव्रण, द्वितीयक सीफीलिसी अवधि का विस्तृत कंडार्ब, आदि अनेक चार्म तथा रतिज रोग हैं, जिनका प्रवाह 'क्लासिकल' रूप में होता है; इनका निदान अनुभवशील डाक्टर सरलतापूर्वक कर सकता है। फिर भी कुछ स्थितियों में दृश्य-निदान कठिन होता है, क्योंकि अनेक चर्मक्लेशों में रूपलोचनी समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं और 'क्लासिकल' चर्मक्लेशों के तल्पिक चित्र तथा प्रवाह में भी अक्सर ऐसे लक्षण अवलोकित होते हैं, जो उनके लिये विशिष्ट नहीं होते (अविशिष्ट लक्षण, atypical features)। ऐसी स्थितियों में, जब स्फोट के रूप से और यहां तक कि अन्य सहायक परीक्षण-विधियों (परिस्पर्शन, पारदर्शन, स्फोटित क्षति के खुरचन आदि) से भी निदान में सफलता नहीं मिलती, तब डाक्टर को रोगी का आयुर-वृत्त अधिक सविस्तार जमा करना चाहिये और उसकी शिकायतों को अधिक स्पष्ट करना चाहिये। आवश्यकतानुसार उसे आंतर अंगों और नर्वतंत्र का परीक्षण करना चाहिये (जरूरत पड़ने पर अन्य विशेषज्ञों के साथ मिलकर, रक्त व मूत्र का रूपलोचनी अवयवानुपात निर्धारित करने के लिये परीक्षण करना चाहिये तथा अन्य सामान्य एवं विशेष चार्मरतिजलोचनी परीक्षण करने चाहिये (जैसे विग्रोप्टिक सामग्रियों का गदोतलोचनी परीक्षण, कवकों की उपस्थिति की जाँच, त्रेपोनेमा पालीदुम, गोनोकोकस, मीकोबाक्तेरिउम तुबेरकुलोसिस, मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे तथा कंटलयक कोशिकाओं की जाँच, सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण, इमूनोपरोक्सिक परीक्षण आदि) ताकि निर्णायक निदान किया जा सके और रोग की हेतुलोचनी व गदजनक विकृतियां निर्धारित किये जा सकें।

नीचे एक चर्मलोचनी रोगी के परीक्षणों का उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

चार्म या रतिज रोग के निदान में सावधानीपूर्वक संग्रहित आयुर-वृत्त (medical history) का महत्त्व बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वृत्तिज रोग की आशंका हो, तो रोगी के काम की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है: बूचड़खाने तथा खाद्य-संरक्षक कारखाने में काम करने वालों को अक्सर चर्मशोथ होता है; कच्चे मांस (विशेषकर सूअर के मांस) और मछली संसाधित करने वालों के साथ भी यही बात है; ग्वालों (दूध दूहने वालों) को ग्वाल-ग्रंथिका और बूचड़ों और चर्मकारों को सिवीरी व्रण होता है; पशु-करोजकों, साईसों तथा कनार-ग्रस्त पशुओं की देख-भाल करने वालों को कनार (glanders) होता है। गरणकारी चर्मकृष्णिकता (toxic melanoderma) उन लोगों को होता है, जिन्हें अक्सर हाइड्रोकार्बन (तेल-परिष्करण, गैस आदि के उत्पादों) के संपर्क में काम करना पड़ता है। यदि चार्म लेइशमानता, कुष्ठ, फ्लेबोतोम-दंश (phlebotomoma) या किसी अन्य चर्मक्लेश की आशंका हो, तो यह पता करना चाहिये कि रोगी किसी ऐसे इलाके में तो नहीं रहा है (अल्पकाल के लिये भी), जहां ये रोग अवलोकित होते हैं (उदाहरणार्थ, मध्य एशिया या काकेशस में, यदि लेइशमानता की आशंका है; मदूरा-कवकता, उष्णकटिबंधीय त्रेपोनेमा-रोग आदि की आशंका होने पर गर्म जलवायु वाले देशों में)। यदि रोगी मूत्रमार्ग से स्राव और जननांग पर अपरदक व व्रणित क्षतियों की उत्पत्ति की शिकायत करता है, तो निदान के लिये पिछले सांयोगिक यौन संसर्गों के समय का ज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है।

मौसमी प्रकृति के चर्मरोगों का निदान अक्सर सरल होता है। उदाहरणार्थ, वसंत व पतझड़ (शरद) ऋतुओं में बहुरूपी रिसालु ललामी, गुलाबी बुसन, पार्विक ललामी व कटिबंधक विसर्प का विशेष कोप रहता है। प्रकाश-चर्मक्लेशों, ललामक्लेश, फ्लेबोतोम-दंश, शाद्वल चर्मशोथों, उग्र

अधिचार्म तृणत्व आदि के रोगी डाक्टरी सलाह के लिये पहली बार बसंत या गर्मी में आते हैं; शीतशोथ के रोगी सीलन और ठंड भरे मौसम में शिकायत करते हैं।

कभी-कभी निदान में इस बात से भी सहायता मिलती है कि कुछ चर्मक्लेश पुनरावर्ती होते हैं (दिनाइ, खर्जूक्लेश, पादकीट, रिसालु ललामी, ड्यूरिंग-चर्मशोथ, सरल विसर्प आदि), या इसके विपरीत, कुछ में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती है (गहन कीट, गुलाबी बुसन, कटिबंधक विसर्प, आदि)।

औषधज स्फोट की शंका होने पर रोगवृत्त और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है: रोगी ही बताता है कि किसी नियत दवा को मुंह (या किसी अन्य तरीके) से ग्रहण करने पर स्फोट पुनः प्रकट हो जाते हैं। यदि उसने इस तरह के संबंध अवलोकित नहीं किये हैं, तो भी स्फोट की औषधजता को एकदम से नकारा नहीं जा सकता। सावधानीपूर्वक संग्रहित आयुर-वृत्त से स्पष्ट किया जा सकता है कि स्फोट तभी पुनरावर्तित होता है, जब रोगी चौकलेट, स्ट्राबेरी, चिंगट (lobster) या कोई फल खाता है, जो इनके प्रति अतिसंवेदनशील व्यक्तियों में चर्मगरणता, पित्ती आदि संप्रेरित करता है। यदि परीक्षण के समय रोगी के उपदंश सीफीलिस आदि रोगों, यकृत, जठरांत्र-मार्ग व रक्त की बीमारियों, अथवा नर्वतंत्र लसकीय ग्रंथों की गड़बड़ियों का वृत्तांत ज्ञात हो या यह पता हो कि रोगी इनमें से किसी बीमारी से ग्रस्त है, तो निदान में सहायता मिलती है।

रोगी से पूछताछ करने पर कभी-कभी रोग की खानदानी प्रकृति स्पष्ट होती है, जिसके आधार पर खाज, चर्मकवकता, आनुवंशिक व जन्मजात चर्मक्लेश (शृंगीक्लेशों के कतिपय रूपों, डारियो रोग आदि) का निदान किया जा सकता है। खुजली की उपस्थिति (या अनुपस्थिति), तीव्रता, स्थल तथा उग्रता-काल (दिन में या रात में उग्र होता है?) से संबंधित सूचनाएं भी प्राप्त की जानी हैं।

यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ रोग सिर्फ पुरुषों या सिर्फ स्त्रियों को होते हैं। उदाहरणार्थ, पर्विका-कंडु, चिरकालिक लोमतृणत्व, क्रमिक कठचर्मता और पार्श्विक ललामी ज्यादातर स्त्रियों में पायी जाती है जबकि गुट्ठल नाक, गुलाबी मुहासा आदि अक्सर पुरुषों को होते हैं।

स्वाभाविकतः आयुर-वृत्त में निम्न विषयों से संबंधित बिल्कुल सही सूचनाएं संनिहित होनी चाहिये: रोग के प्रथम (बाह्य) लक्षण कब प्रकट हुए, उनका स्थान व जीवन-काल, उनमें कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं (प्रक्रिया की प्रकृति), बारंबारता, पुनरावर्तन और उपशमन (शैथिल्य या विमोचन) की अवधि (यदि ऐसा होता है), भोजन, स्थल और विगत चिकित्सा पर स्फोट की निर्भरता, चिकित्सा की कारगरता (effectiveness).

चर्मलोचनी रोगी से रोगवृत्त से संबंधित जीवन-वृत्त की पूछताछ वैसी ही होती है, जैसी आंतर रोगों के तलपालय में।

रोगी के परीक्षण में अगला कदम है: उसकी सामान्य अवस्था और अलग-अलग अंगों व शरीर तंत्रों (body systems) की अवस्था का वर्णन।

शरीर एवं अंगों की सामान्य अवस्था का वर्णन

स्वास्थ्य की अवस्था का मूल्यांकन रोगी की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था और उसकी आयु एवं बाह्य रूप के बीच सामंजस्य के आधार पर किया जाता है। परीक्षण के नियम सभी

तल्पालयों के लिये समान (सामान्य) हैं, इसीलिये यहाँ उनका सिर्फ आरेखात्मक सार प्रस्तुत किया जा रहा है। सभी परिस्पर्शनीय लसपर्वों की परिमाप, कठोरता, सुचलता और कोमलता निर्धारित की जाती है। अस्थि-पेशीय तंत्र का निरीक्षण किया जाता है और पेशियों की तानता निर्धारित की जाती है। श्वसन-अंगों की अवस्था का निर्धारण रोगी से इनकी शिकायतें पूछ कर के, नाक व नासाग्रसनी का निरीक्षण कर के और ठोक व सुन कर के किया जाता है। रोगी से पूछा जाता है कि उसे रक्त-संचार संबंधी शिकायत है या नहीं; हृदय की सीमा निर्धारित की जाती है, उसकी धड़कन सुनी जाती है, रक्तदाब नापा जाता है, नाड़ी-स्पंद की प्रकृति निर्धारित की जाती है। यही प्रक्रिया पाचन-अंगों के साथ भी की जाती है: शिकायतें सुनी जाती हैं, मुख-कोटर तथा उदर का निरीक्षण किया जाता है, उदर, यकृत व प्लीहा का परिस्पर्शन किया जाता है। जननमूत्र-तंत्र के परीक्षण में निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है: मूत्रोत्सर्जन की बारंबारता, मूत्र का रंग-रूप, पास्तरनात्स्की-लक्षण, जननांगों का विकास, रजोस्राव की प्रकृति और अवधि। अन्तःस्रावी तंत्र तथा नर्व-मानसिक क्षेत्र की अवस्था निर्धारित की जाती है (रागात्मक सुचलता, कार्य-क्षमता नींद, प्रमस्तिष्क-मेरुक नर्वों की क्रियाशीलता, चार्म व कंडराई प्रतिवर्तों की प्रकृति)।

चर्मलोचनी अवस्था (dermatological status). चर्म के स्वस्थ क्षेत्रों, श्लेष्मल झिल्ली तथा चर्म के उपांगों के निरीक्षण से चर्म की क्षतियों के अध्ययन में सहायता मिलती है। इस काम में और साथ ही मस्तिष्क के निरीक्षण में प्रकीर्णित दिवा-प्रकाश का या ऐसा प्रकाश देने वाले साधनों का उपयोग होता है। निरीक्षण में निम्न बातें निर्धारित करनी चाहिये: त्वचा तथा दृश्य श्लेष्मल झिल्लियों का रंग, रोमों व अधोचार्म वसा की मात्रा, वपाल एवं स्वेदक ग्रंथियों, नखों और बालों की अवस्था, वर्णक की प्रकृति, तिल, अर्बुद आदि की उपस्थिति। स्वस्थ त्वचा में एक फीकी कांति होती है, वह बहुत चमकती नहीं है। त्वचा के रंग में परिवर्तन कुछ अंगों व तंत्रों के कार्य में विभिन्न गड़बड़ियों से संबंधित हो सकता है (उदाहरणार्थ, एडीसन-रोग तथा गरण-कारी चर्मकृष्णिकता में त्वचा का रंग अधिक काला हो उठता है, पैठी यकृतशोथ में तथा मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड दवा के दीर्घकालीन उपयोग से पीला हो जाता है, रक्तस्फीतिज संवृत्तियों में नीला हो जाता है)। चर्म की लचीलता और प्रत्यास्थता उसे छूकर तथा उसे चुन्नियों में बटोर कर जाँची जाती है। नीचे स्थित ऊतकों के साथ अभिसंजन की उपस्थिति या अनुपस्थिति चर्म को विस्थापित (displaced) कर के देखते हैं।

चर्मग्राफी (dermatographia) के लिये भी परीक्षण का महत्त्व कम नहीं होता। चर्मग्राफी यांत्रिक क्षोभों के प्रति चर्म के नर्वकुंभिक उपकरण के प्रत्युत्तर को कहते हैं: यह रोगी के चर्म के कुंभीप्रेरक नर्वायन के गुणों को दिखाता है। कुंद वस्तु (चम्मच के मोटे सिरे, नर्वलोचनी हथौड़ी की मूठ के सिरे) से चर्म पर ठोकने से यदि एक लाल रेखा उत्पन्न होती है, जो दो या तीन मिनट में बिल्कुल गायब हो जाती है, तो यह सामान्य चर्मग्राफी का प्रमाण है। लाल विसरित चर्मग्राफी दिनाइ और खर्जूक्लेश में मिलती है, श्वेत चर्मग्राफी कंडु तथा निशल्की चर्म-शोथ में होती है, स्थायी श्वेत या श्वेत में शीघ्र परिणत होने वाली चर्मग्राफी नार्वचर्मशोथ में नजर आती है, पित्तिक चर्मग्राफी (विस्तृत, शोफी, स्पष्ट उभरी हुई लाल रेखाएं, जो क्षीण यांत्रिक क्षोभ से भी उत्पन्न हो जाती हैं और कभी-कभी 40 से 60 मिनट तक बनी रहती हैं) पित्ती व कंडु के रोगियों में होती है।

रोमप्रेरक प्रतिवर्त (pilomotor reflex) ठंडी वस्तु से चर्म पर ठोकने से उत्पन्न होता है।

सामान्य परिस्थितियों में यह 5 से 10 सेकेंड तक रहता है, फिर बिना कोई निशान छोड़े गायब हो जाता है। इस प्रतिवर्त की अनुपस्थिति अनुकंपी नर्वायन की गड़बड़ी का प्रमाण है, जो मीन-चर्मता और हेब्रा-कंडु (Hebra's prurigo) में होता है। केंद्रीय एवं पनपू नर्वतंत्र की क्रियात्मक गड़-बड़ी से युक्त विसरित या बिखरे हुए नार्वचर्मशोथ में यह प्रतिवर्त अतिशय हो उठता है।

कुष्ठ, मेरूसुषिरता या गदस्वांग (pathomimesis) का संदेह होने पर निदान में निर्णायक महत्त्व चर्म में स्पर्श, पीड़ा व तापक्रम के प्रति संवेदनशीलता के परीक्षणों का होता है।

चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों की क्षतियों का चित्रण

चर्म व श्लेष्मल झिल्लियों के चित्रण में एक सुनिश्चित क्रम का अनुसरण करना चाहिये, जिससे यह कठिन काम भी अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। पहले यह देखना चाहिये कि स्फोटों (eruptions) की प्रकृति शोथी है या नहीं। ध्यातव्य है कि चार्म व [illegible] रोगों की अधिकाश अभि-व्यक्तियां शोथी प्रकृति की ही होती हैं। इसके बाद दर्ज करना चाहिये कि शोथ की कोटी क्या है: तीव्र (जब शोथ के रिसालु घटक बहुतायत में होते हैं) या [illegible] (जब शोथ के बहुलनरत घटक हावी होते हैं)।

इसके बाद स्फोटों का स्थान और अन्य सभी पाये गये तत्त्वों का स्थानानुसार मुख्य वितरण दर्ज किया जाता है। अनेक चर्मक्लेशों का शरीर पर अपना सुनिश्चित स्थान होता है, फिर भी निदान में स्थल-[illegible] का सिर्फ सहायक महत्त्व ही होता है। उदाहरणार्थ, अंगों को मोड़ने से सलवट पड़ने वाले चर्म-स्थलों पर स्फोटों का वितरण निम्न रोगों के लिये लंछक है—खर्जूक्लेश, पिटकोत्पत्तिक चर्म-[illegible] और हेब्रा-कंडु। चेहरे पर क्षतियों की उत्पत्ति सामान्य वृका, ललामक्लेश, मुहासे, आदि रोगों के लिये लंछक है। जीवाणुक व वारिक्सी (varicose) दिनाइ, पार्विक लसामी, [illegible] कठलसामी), कुपोषणजनित व चिरकाली पूय-व्रण आदि में क्षति का सामान्य स्थल पैर का [illegible] है। मुंह के भीतर (मुख-कोटर में) बुदबुदिया, व्रण्य गंठिकाक्लेश आदि की क्षतियां उत्पन्न होती हैं। कोप (effection) के प्रसार (spread) पर भी ध्यान देना चाहिये। वह स्थानबद्ध हो सकता है या बिखरा हुआ पूरे शरीर पर (जैसे चर्मारुणता में); सममित (symmetrical) या असममित।

इसके बाद प्राथमिक व द्वितीयक लक्षणोचनी क्षतियां दर्ज की जाती हैं, उनकी विशेषताएं वर्णित होती हैं: रंग, सीमा, आकृति, व्यौम, विन्यास, [illegible] घनापन (कठोरता) और आपसी संबंध। अनुभवी चर्मलोचक क्षतियों के रंग पर ही नहीं उनकी आभाओं पर भी ध्यान देता है, जो निदान के लिये बहुमूल्य होता है। लक्षणोचनी क्षतियों की सीमा-रेखाएं स्पष्ट या अस्पष्ट, तीक्ष्ण कोणयुक्त या सपाट वक्र हो सकती हैं। व्यौम विन्यास की जांच में डाक्टर देखता है कि पिटक फुलावयुक्त हैं या चपटे-चौरस हैं, शंक्वाकार हैं या [illegible], आदि। क्षतियों की आकृति गोल, अंडाकार, बहुभुजाकार या बहुवृत्ताकार, सूक्ष्म या बड़े सीपों जैसी हो सकती है। घनापन के अनुसार वे काठ की तरह कठोर, दृढ़-प्रत्यास्थ, मुलायम, या सने आटे की तरह हो सकती हैं। उनकी सतहें चिकनी, रुखड़ी, गांठों से भरी आदि हो सकती है। पारस्परिक संबंध के अनुसार क्षतियां एक-दूसरे से पृथक होती हैं या भीतर-भीतर संलग्न; प्रथम स्थिति में कहते हैं कि स्फोट की बनावट अधिकेंद्रयुक्त (focal arrangement) है। यदि स्फोट वृत्तों, अर्धवृत्तों, अंडाकार क्षेत्रों, चापों आदि के रूप में व्यवस्थित होते है, तो कहा जाता है कि वे नियमित जमघट (re-

gular grouping) बनाते हैं। अनियमित जमघट में स्फोट एक निश्चित क्षेत्र पर जमा होते हैं, जो कोई निश्चित ज्यामितिक आकृति नहीं बनाता। प्रणालीबद्ध स्फोट वे हैं, जो नर्वों, रक्त-कुंभियों, चर्माकुरों (dermatomeres) के प्रशाखन के सहारे-सहारे उत्पन्न होते हैं (जैसे कटिबंधक विसर्प में)। जब रूपलोचनी क्षतियां सांयोगिक क्रम में स्थित होती हैं, तो कोई नियमित विन्यास नहीं मिलता।

प्राथमिक व द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियां और उनकी तल्पिक विशेषताएं (clinical characteristics) चर्मलोचनी निदान का आधार बनाती हैं। फिर भी अक्सर तल्पिक एवं प्रयोगशालिक परीक्षण की विधियों का सहारा लेना पड़ता है। आगे हम इन्हीं का वर्णन करने जा रहे हैं।

विशेष चर्मलोचनी तथा प्रयोगशालिक परीक्षण-विधियां

विशेष चर्मलोचनी विधियां निम्न हैं: खुरचना, परिस्पर्शन, पारदर्शन (diascopy), तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया (isomorphic reaction) की जाँच: चर्मग्राफी, रोमप्रेरक प्रतिवर्त और चर्म की जाँच।

चर्मलोचनी रोगों के परीक्षण की प्रयोगशालिक विधियों में निम्न की गणना होती है: सामान्य परीक्षण-कार्य (रक्त की जाँच, मूत्र-विश्लेषण, उदर-रस की जाँच, वक्ष का एक्स-रे आदि) और विशेष परीक्षण-कार्य (कोष-क्षेत्र से निकाले गये चर्म के सीरमलोचनी, सूक्ष्मदर्शीय, ऊत्तलोचनी तथा ऊतरसायनिक परीक्षण)।

चर्मलोचनी अनुशीलन में क्षतियों को खुरचकर देखने का काम मुख्यतः तभी किया जाता है, जब खर्जू या पराखर्जू का संदेह होता है। यह काँच की पट्टी या नन्ही छूरी आदि से किया जाता है। खर्जूक्लेश के कुछ विशिष्ट लक्षण निम्न क्रम में ज्ञात होते हैं: 'स्तेआरिन का धब्बा', 'खर्जुक झिल्ली' और 'रक्त-बिंदु' (बिंदु-बिंदु के रूप में रक्तस्राव)। बूंदिक पराखर्जूक्लेश (guttate parapsoriasis) में अव्यक्त (latent) अपशल्कन का लक्षण होता है। ललामक्लेश में शल्कों पर रोमल प्रक्षेप (follicular projection) होता है और उन्हें हटाने पर पीड़ा होती है (बेस्नीर का लक्षण; Besnier's sign)। क्षति का घनापन परिस्पर्शन से ज्ञात किया जाता है; घनापन की चरम अवस्थाएं शीघ्र पहचान में आ जाती हैं, लेकिन बीच की अवस्थाओं को निर्धारित करने के लिये विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है। पारदर्शन, अर्थात काँचपीडन (vitropression) में चर्म के विचाराधीन क्षेत्र को काँच की एक पट्टी से दबाते हैं, जिससे वह स्थल रक्तहीन हो जाता है: इसके फलस्वरूप वे क्षतियां दिखने लगती हैं, जो प्रतिकारी शोथ से उत्पन्न अतिरक्तता के रूप में छिपी होती हैं। इस विधि से (उदाहरणतया) सामान्य वृक्का के लक्षण पहचाने जा सकते हैं, जो पारदर्शन में विशिष्ट भूरी-पीली आभा ग्रहण करते हैं ('सेब की जेली' संवृत्ति)। कुछ चर्मक्लेशों में, विचाराधीन रोग की विशिष्ट क्षतियां चर्म के स्वस्थ प्रतीत होने वाले क्षेत्र पर उसके क्षोभ के प्रत्युत्तर में उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रतिक्रिया को तुल्यरूपिक क्षोभ (isomorphic irritation) की संवृत्ति कहते हैं। यह डाक्टर द्वारा कुछ करने से पहले ही स्वतःस्फूर्त रूप से उत्पन्न हो सकती है—रगड़ खाने वाले या मसले जाने वाले, कड़ी धूप में पड़ने वाले क्षेत्रों पर, जैसे दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक के रोगियों में। उक्त प्रक्रिया को कृत्रिम रूप से भी क्षोभ द्वारा उत्प्रेरित किया जा सकता है, जैसे खर्जूक्लेश में (केब्नेर-संवृत्ति) और चरम शैवाक के प्रगतिमान चरण पर। पित्ती में लिनिक चर्मग्राफी तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया का ही एक उदाहरण है। चर्मलोचनी रोगी के परीक्षण में चर्मग्राफी और रोमप्रेरक प्रतिवर्त का वर्णन

ऊपर किया जा चुका है। वाजेलीन तैल से शृंगी-परत को साफ करने की विधि कभी-कभी चौरस शैवाक रोग में प्रयुक्त होती है, ताकि 'विकहैम के खाँचे' (Wickham's stria) नामक जालिकारूपी संरचना अच्छी तरह दिख सके।

कई चर्म-परीक्षण परोर्जिक रोगों, विशेषकर जीविकापरक (वृत्तिज) परोर्जिक रोगों तथा कुछ पैठनजनित रोगों (विशेषकर यक्ष्मा या गंठिकाक्लेश) के निदान की सत्यता जाँच करने में प्रयुक्त होते हैं। ये परीक्षण तीन प्रकार के हैं: परित्वक (epicutaneous) – लेप (application) द्वारा; क्षतांकन (scarification) द्वारा; अंतर्त्वक (intracutaneous) या अंतर्चर्मी (intradermal)। याडासोन-ब्लोख (Jadassohn-Bloch) की विधि से परीक्षण या इवानोव एवं वेद्रोव द्वारा प्रस्तावित बूंदिक परीक्षण (drop test) का बहुत विस्तृत उपयोग है। कुछ स्थितियों में क्षतांकन तथा लेप की विधियां मिला कर प्रयुक्त होती हैं। कक्ष और झिल्ली की विधियां भी सुझायी गयी हैं।

चर्म एवं अंतर्चर्मी तूबेरकूलिन-परीक्षण (पिर्के, मांतू, [illegible]) चर्म में यक्ष्माजनक (गंठिकीय) क्षति होने पर किये जाते हैं। इन परीक्षणों से ऋणात्मक परिणाम मिलने पर भी विशिष्ट प्रक्रिया की उपस्थिति की संभावना को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। बाजिन की कठललामी, बेक की क्रव्यार्ववत्ता और शीतशोथिक वृका (lupus pernio) में परीक्षण के ऋणात्मक परिणाम का कारण शरीर की धनात्मक अनूर्जिता (positive anergy) हो सकती है; तीव्र सामान्य वृका, संगलक गंठिक्लेश और चर्म व [illegible] झिल्ली के वर्जरिक गंठिक्लेश में ऋणात्मक परिणाम अनूर्जिता (शरीर की प्रतिक्रियाहीनता) के फलस्वरूप मिल सकता है। परीक्षण का परिणाम धनात्मक तब माना जाता है, जब अति तनु तूबेरकूलिन के प्रति भी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। कुछ चर्मरक्तताओं में कवकी निस्यंद्यों तथा वाक्सीनों से अंतर्चर्मी परीक्षण संपन्न किये जाते हैं पर इनसे कभी-कभी अविशिष्ट धनात्मक परिणाम भी मिलते हैं। विशिष्ट एंटीजनों से अंतर्चर्मी परीक्षण का उपयोग कुष्ठ में (लेप्रोमिन से), उपामूलीय या रतिज लसकणार्ब (lymphogranuloma) में [illegible]-परीक्षण), तूलारेमिया में [illegible] से), कनार में (मालेइन से) होता है।

संभावित आहारिक परोर्जकों से अंतर्चर्मी परीक्षण चर्मरोचनी अनुशीलन में बहुत विरले ही प्रयुक्त होता है (दिनाइ, नार्वेचर्मशोथ आदि में)। रोगियों को अक्सर तल्पिक प्रेक्षण के अंतर्गत रखा जाता है, इस शर्त के साथ कि जिस खाद्य पदार्थ पर रोग की परोर्जिक पृष्ठभूमि को जन्म देने का संदेह हो, उसे उसके आहार से निकाल दिया गया हो। यही युक्ति चंद कीटमारक साधनों (डी. डी. टी., या डीकोफान व पीरेथ्रम) और फूलों के संबंध में अपनायी जाती है, जिन्हें घरेलू परोर्जक माना जाता है।

विभिन्न रसायनों से अंतर्चर्मी परीक्षणों का विस्तृत उपयोग वृत्तिज चर्मक्लेशों का हेतुलोचन स्पष्ट करने में होता है।

यदि संदेह हो कि चर्मक्लेश की प्रकृति औषधज है तो उससे मुक्त होने के बाद शंकाधीन दवा (परोर्जक) की अति अल्प मात्रा परीक्षण हेतु मुखमार्ग से (orally) या परांत्रमार्ग से (parenterally) दी जाती है। ऐसी दवाओं में अक्सर सुल्फानीलामीद के प्रसाधनों तथा प्रतिजीवकों के नाम आते हैं और यह परीक्षण निरोध हेतु रोगी की सहमति से ही करने की सलाह दी जाती है। परोर्जी औषधज चर्मशोथ में परित्वक परीक्षण से अक्सर ऋणात्मक परिणाम ही मिलते हैं।

परोर्जिक रोगों के निदान में चर्म-परीक्षणों का उपयोग अब अक्सर गलत सिद्ध होने लगा है। ये परीक्षण गंभीर जटिलताएं उत्पन्न कर सकते हैं, जो सार्वदैहिक तथा स्थानीय दोनों ही प्रकार की प्रतिक्रियाओं से संबंधित होती हैं। यह विशेषकर उन रोगियों में होता है, जिनमें परोर्जिक अवस्था सुव्यक्त होती है। यही नहीं, चर्म-परीक्षण संवेदीकरण को तीव्र करने तथा प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में संप्रेरक सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अतिरिक्त परोर्जक के प्रवेश से प्रतिजन-प्रतिकाय की प्रतिक्रिया से जीवलोचनी रूप से सक्रिय द्रव्य मुक्त होने लगते हैं। इसीलिये परोर्जन के निदान में अब परोक्ष विधियों का उपयोग अधिक होने लगा है। इनमें प्रमुख विधियां निम्न हैं: रक्त में तथा [illegible] (फेफड़े से गले तक के) श्वसन-मार्ग के स्राव में एओजिनोफिल की वर्धित सख्या का अनुवेदन (detection), बीटा (beta) व गामा ग्लोबूलिनों की वर्धित मात्रा का निर्धारण, सीरमलोचनी-परीक्षण और कोशिकालोचनी संवृत्तियों की जाँच। सीरमलोचनी परीक्षणों से तात्पर्य है: कूंब परीक्षण (Coomb's test), रक्ताभिग्लूतन-जाँच, फेल्नेर (Felner) और बेरे (Behre) द्वारा निरूपित अभिग्लूतन-जाँच, अवक्षेपन-जाँच, संपूरक स्थिरण की जाँच (complement-fixation test), इमूनो अभिसंजक प्रतिक्रिया की जाँच, आदि। कोशिकालोचनी संवृत्तियों में निम्न की गणना होती है: फ्लेक्स (Flex) द्वारा निरूपित श्वेतकोशिकाओं के अभिलुंदन (agglomeration) की प्रतिक्रिया, शेल्ली (Shelley) निरूपित बाजोफिल-निर्कषण की जाँच, श्वेतकोशलय-प्रतिक्रिया (leucocytolysis reaction), श्वेतल्पता-परीक्षण (leucopenia test), अर्थात् श्वेतकोशिकाल्पता-परीक्षण, स्कंदकोशिकाल्पता-सूचक (thrombocytopenic index) के लिये परीक्षण। परोर्जन की स्थिति में सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं और कोशिकालोचनी संवृत्तियां तदनुरूप अनुच्छेदों में सविस्तार चर्चित हैं।

चर्मलोचनी रोगों के परीक्षण में प्रयुक्त सामान्य प्रयोगशालिक रीतियों में रक्त-परीक्षण का निदानिक महत्त्व बहुत अधिक है। चर्म-अभिव्यक्तियों वाली रक्तश्विति से संबंधित रोगों में इसका महत्त्व निर्णायक होता है। डूरिंग-निरूपित विस्फोटी चर्मशोथ का संदेह होने पर, और विशेषकर बुदबुदिया से इसे इंगित करने के लिये रक्त तथा वस्तिका में एओजिनोफिल की संख्या में वृद्धि का भी निदानिक महत्त्व होता है।

चर्मलोचन और रक्तलोचन में प्रयुक्त विशिष्ट प्रयोगशालिक रीतियों के नाम इस अनुच्छेद के आरंभ में गिनाये जा चुके हैं। उदाहरणतया, सीफिलिस का संदेह होने पर कई सीरमलोचनी परीक्षण संपन्न किये जाते हैं, जैसे: विभिन्न एंटीजनों के साथ वासरमान-निरूपित परीक्षण, [illegible]-निरूपित प्रतिक्रिया, फीकी त्रेपोनेमा (Treponema pallidum) का निश्चलकरण-परीक्षण (immobilisation test), इमूनोसंदीप्ति-प्रतिक्रिया (immunofluorescence reaction) आदि। [illegible]दर्शन (कवकों, खमीर-कोशिकाओं, फीकी त्रेपोनेमा, गोनोकोक तथा त्रीखोमोनिक जीवों के अनुवेदन के लिये) और बाक्तेरीलोचनी परीक्षणों का भी विस्तृत उपयोग होता है। रोग के हेतु-[illegible] (aetiology) की सही पहचान के लिये कभी-कभी रोगी से ली गयी गदलोचनी सामग्री [illegible] में संरोपण (inoculation) किया जाता है (उदाहरणार्थ, चर्म-यक्ष्मा का संदेह होने [illegible] सामग्री का गीनिया चूहों में कृत्रिम पैठन कराया जाता है; अंकुरी कवकता—[illegible]sis—का संदेह होने पर चूहों में कृत्रिम पैठन कराया जाता है; बुदबुदियावत शैवाक [illegible] के अंतर्य को खरगोश की शृंगिका में संरोपित करने से होती है)। [illegible] के निदान में चर्म या श्लेष्मल झिल्ली के रोगग्रस्त क्षेत्रों अथवा रूपलोचनी [illegible] के [illegible]लोचनी परीक्षण के साथ-साथ जीवदर्शन (biopsy) का भी अत्यधिक महत्त्व होता

है। यह बात विशिष्ट ऊतलोचनी चित्र वाले रोगों पर खास तौर से लागू होती है; ऐसे रोग निम्न हैं: चौरस शैवाक, छल्लाकार कणार्ब, कुष्ठ, वर्णकीय पित्ती, चर्म के नौवर्ध (new growth; neoplasma), आदि। कुछ रोगों के गदोतलोचनी चित्र समान होते हैं (गंठिक्लेश, सीफिलिस, आदि में), अतः निदान परीक्षण-परिणामों के पूर्ण संकुल के आधार पर ही संभव है; इन परीक्षणों में जीवदर्शन का विशेष महत्व होता है।

पिछले दशकों में बुदबुदिया के निदान में और तंत्रिक लाल वृका (lupus erythematosus) की पहचान के लिये लाल वृका की कोशिकाओं (LE कोशिकाओं) को देखने में वस्तिका के अंतर्य या लेप-छाप (impression smears) का कोशिकालोचनी परीक्षण विकसित हुआ है, जैसे – त्सांक परीक्षण (Tzanck test), कंटलयिक (acantholytic) कोशिकाओं का अनुवेदन।

रोगी बच्चे के परीक्षण की विशेषताएं

जब चर्मक्लेश से ग्रस्त बच्चे को आवासी या अनावासी तल्पालय में लाया जाता है, डाक्टर को उसकी शिकायतें ज्ञात करने तथा आयुर-वृत्त जमा करने में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बच्चे की उम्र बहुत कम होने पर उसका काम और कठिन हो जाता है। डाक्टर के यहां बच्चे के साथ उसी व्यक्ति को जाना चाहिये, जो बच्चे के साथ अधिक समय गुजारता हो और जिसकी प्रेक्षण-क्षमता तीव्र हो। डाक्टर की तल्पिक विचारधारा अक्सर उनके उत्तरों की शुद्धता पर ही निर्भर करती है (हमें ऐसा एक भी केस नहीं मिला है, जिसमें रोग का निदान रोगी की त्वचा पर लिखा हो)। इसके अतिरिक्त, बाल-चर्मरतिजलोचक के चिकित्सानुशीलन में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके कारण उसकी परीक्षण-रीतियां वयस्क की परीक्षण-रीतियों से भिन्न हो जाती हैं। इसीलिये स्वाभाविक है कि हम उन्हीं परीक्षणों पर निर्भर नहीं करते, जो पिछले अनुच्छेदों में बताये गये हैं।

सामान्य बाल-विशेषज्ञ की तरह बाल-चर्मलोचक को भी बच्चे की जीवन-परिस्थितियों से संबंधित सूचनाएं संकलित करनी चाहिये। बच्चा और उसके माता-पिता को अतीत में जो रोग हो चुके हैं, उन्हें दर्ज कर लेना चाहिये, विशेषकर प्रलंबित चिरकालिक पैंठी रोगों को (जैसे – गंठिक्लेश, सीफिलिस आदि), रसायनों, अल्कोहल आदि से उत्पन्न चिरकालिक गरणताओं (toxicoses) को, नार्वचर्मशोथ, खर्जक्लेश आदि को। माँ की गर्भकालीन अवस्थाओं पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये। अभिभावक से बच्चे के रोग-वृत्तांत से संबंधित सूचनाएं प्राप्त करते वक्त बच्चे के आहार और उसकी देखभाल के साथ चर्म-स्फोटों का संबंध स्पष्ट करने की कोशिश करनी चाहिये (यदि ऐसा संबंध है, तो)। उदाहरणार्थ अम्हौरी अत्यधिक गर्मी से हो सकती है और इसकी पृष्ठभूमि पर चर्मपूयता विकसित हो सकती है; घर्षज चर्मशोथ (intertrigo) से कांदिदक्लेश विकसित हो सकता है।

जीवन-वृत्तांत निम्न आरेख के अनुसार ज्ञात किया जाता है।

1. रोगी बच्चे की माँ की सगर्भता-संख्या, सगर्भता-अवधि, उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की अवस्थाएं। गर्भकाल में माँ का आहार, उसकी दिनचर्या, टहलना (कितना अक्सर और कितने समय तक)। गर्भकाल में कौन-से रोग हुए थे, उनकी चिकित्सा। गर्भकालीन छुट्टी। स्त्री-परामर्शक तल्पालय में जाने की नियमितता और आंतरविद (internist) के साथ परामर्शों के परिणाम।

2. प्रसव। पूर्व प्रसवों की संख्या, प्रत्येक गर्भ की अवधि (सप्ताहों में)। प्रसवकाल (प्रथम व

द्वितीय चरण) और इसकी विशिष्टताएं। उद्दीपकों (stimulant) या प्रसूतिक साधनों का उपयोग। नवजात का प्रथम क्रंदन। संजीवन (resuscitation) की आवश्यकता पड़ी थी या नहीं। नवजात शिशु के लंछक (भार, कद, सर की परिधि), ऐपगार-पैमाने के अनुसार बच्चे की अवस्था। नाड़ा झरने और नाभि का घाव ठीक होने की अवधि। जच्चाघर में व्यतीत अवधि, वहां से निकलते वक्त बच्चे का भार।

3. पोषण। प्रथम स्तनपान का समय। पकड़ और चौषण। आहार-क्रम (प्रथम तीन महीने तक हर तीन घंटे पर, छे महीने की उम्र तक हर साढ़े तीन घंटे पर, इसके बाद हर चार घंटे पर)। फलों के रस, विटामिन D_2, मछली के तेल के उपयोग का निदेश। बच्चे की भूख और मल।

4. पालन (देखभाल)। बच्चे की देखभाल कौन करता है। टहलने का समय (बच्चे को नित्य करीब छे घंटे तक खुली हवा में टहलना चाहिये)। आरोगिक-क्रियाएं (नहलाना ; धोना ; आँखों, श्लेष्मल झिल्लियों, नाक और जननांगों की आरोगिक देखभाल)। बच्चे के कपड़ों की प्रचुरता, उनकी धुलाई।

5. बच्चे का विकास। जीवन के प्रथम वर्ष में भार-वर्धन का क्रम (प्रथम छे महीने में 600 ग्राम, अगले छे महीने तक 500 ग्राम प्रति माह। प्रथम वर्ष के अंत में बच्चे का भार तिगुना बढ़ कर करीब 11 किलोग्राम हो जाता है। इसके बाद भार-वर्धन औसतन 2 किलोग्राम प्रति वर्ष की दर से होता है। बच्चे का आदर्श भार निम्न सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है: 10kg—2kg · (कुलवर्ष – 1)। बच्चे का कद एक वर्ष में औसतन 25cm तक बढ़ता है: वर्ष के प्रथम चतुर्थांश (तीन महीने) में 3cm प्रति माह, द्वितीय चतुर्थांश में 2,5cm प्रति माह, तृतीय चतुर्थांश में 1cm प्रति माह। एक वर्ष बाद बच्चे का कद औसतन 5cm प्रति वर्ष बढ़ता है, अतः उसका कद निम्न सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है: 75cm+5cm · (कुलवर्ष – 1)। स्थैतिक फलनों (static function) का विकास: ढाई महीने में सिर उठाये रख सकता है, छे महीने में बैठने लगता है, 9 महीने में खड़ा होने लगता है, एक वर्ष से चलने लगता है। दाँत आने का क्रम निम्न तथ्य पर आधारित है: दाँतों की संख्या बराबर है बच्चे की आयु (महीनों में) घटाव चार। अतः साल के अंत तक आठ दाँत सुविकसित हो चुकते हैं – चार ऊपर और चार नीचे।

6. पूर्व रोग, उनके प्रवाह की प्रकृति, उनकी चिकित्सा। इमूनन (BCG, DPT, मसूरिका, पोलिओमिएलित के प्रति इमूनन) और इसके प्रति सहनशीलता।

परीक्षण के आरंभ में चर्मलोचक किसी क्षोभक के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया (किसी आवाज के प्रति, किसी चटकीली चीज के प्रति, आदि), उसकी चंचलता और मनोदशा को देखता है (वह हँस रहा है, रो रहा है या मुस्कुरा रहा है)। अस्थि-पेशीय तंत्र का परीक्षण करते वक्त सुखंडी (rickets) और इसकी डिग्री दर्ज की जाती है। रक्तदाब नापते वक्त ध्यान रखना चाहिये कि स्वस्थ बच्चे का उच्चतम रक्तदाब निम्न सूत्र के अनुरूप होता है: 80+2n , जहाँ n बच्चे की उम्र (वर्षों में) है। स्वस्थ बच्चे का निम्नतम रक्तदाब महत्तम दाब का दो तिहाई अंश होता है। बच्चे की पोशाक पर भी ध्यान देना चाहिये: यदि बहुत गर्म कपड़े हैं, तो इससे अधिक स्वेदन होगा, जिससे अम्हौरी उत्पन्न हो सकती है: फिर अम्हौरी से निम्न रोग संप्रेरित हो सकते हैं – चर्मपूयता, कांदिदक्लेश, घर्षज चर्मशोथ तथा स्पर्शज चर्मशोथ। बच्चे की त्वचा का निरीक्षण करते वक्त तलवों तथा हथेलियों पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि बहुत छोटे बच्चों में कुछ

चर्मरोग इन्हीं जगहों पर अधिक व्यक्त रूप में होते हैं (अपरसी अधिचार्म तृणत्व, सीफिलिसी बुद-बुदिया, आदि)।

परोर्जिक प्रतिक्रियाएं वयस्कों की अपेक्षा बच्चों में अधिक प्रचलित हैं। प्रायिक एवं प्रलंबित श्वसन-रोग, चिरकालिक स्थानाबद्ध पैठन के अधिकेंद्र, आहार व देखभाल की प्रकृति (यथा, भोजन में कार्बोहाइड्रेट की बहुलता, हवा में धूल या ऊनी रेशों की भरमार) – ये सब संप्रेरक घटक हैं।

चर्मलोचक और रतिजलोचक के चिकित्सानुशीलन में आयुरी आचारशास्त्र के सिद्धांत

चर्मलोचक अच्छी तरह जानते हैं कि केंद्रीय नर्वतंत्र के फलनात्मक कार्य को अव्यवस्थित करने वाले चर्मक्लेश या चर्मक्लेश जैसी अवस्थाएं अनेक चर्मक्लेशों के [illegible] में यदि मुख्य नहीं, तो महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य निभाती हैं (उदाहरण: दिनाइ के कुछ रूपों, खुजली, नार्वचर्मशोथों चौरस शैवाक, खर्जूक्लेश की कुछ स्थितियों, आदि में)। नर्वक्लेशिक प्रतिक्रियाओं के कारण भी विभिन्न होते हैं, जैसे काम पर या परिवार में झगड़ा, यौनउत्तेजनी घटक, आदि। इसीलिये सामान्य (सार्वदैहिक) तथा स्थानिक चिकित्सा निर्देश करने के अतिरिक्त डाक्टर को बहुत सावधानी और शालीनता के साथ उन कारणों का पता लगाना चाहिये, जिनसे रोगी के नार्विक कार्य में गड़बड़ी उत्पन्न हुई है। यह कोई आसान बात नहीं है क्योंकि इनमें से अनेक घटक रोगी के अंतर्तम, गोपनीय जीवन से संबंधित होते हैं। प्रथम दृष्टि में निजी और अंतर्तम प्रतीत होने वाले प्रश्नों पर रोगी से खुलकर बातचीत करने की आशा वही डाक्टर कर सकता है, जो अपने व्यवहार, आंतरिक शालीनता, गंभीर रूख, बातचीत के अच्छे, सम्मानपूर्ण तौर-तरीके, अपने बाह्य रूप और शब्दों से रोगी के मन में अपना विश्वास जमाने में सफल होता है। यदि रोगी की जीवन-परिस्थितियों के बारे में डाक्टर का ज्ञान मात्र औपचारिक नहीं है, तो वह विभिन्न मनोथेरापिक साधनों का भी पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है।

आयुरी आचारशास्त्र मानवता, ईमानदारी, दयालुता, सहानुभूति और निःस्वार्थता पर आधारित है; ये गुण आयुर-कर्मियों को विश्वास कर्तव्यपरायण डाक्टरों के जीवन से सीखने चाहिये। हमारे यहाँ ऐसे अनेक रूसी व सोवियत डाक्टर हैं, जिनकी जीवन-शैली हरेक के लिये अच्छा उदाहरण हो सकती है, जैसे – नि. मुद्रोव, से. बोत्किन, नि. पिरोगोव। ऐसी त्यागपूर्ण नर्सें भी हुई हैं, जिनके जीवन से सीख लेना हमारा पुनीत कर्तव्य है: मा. नीछीपोछुर्कोवा तीनों डिग्री के यश-पदक से सम्मानित हैं, मा. इशांखोजायेव को अंतर्राष्ट्रीय रेड क्रौस सोसाइटी ने मानव-प्रेम और त्याग-भावना के लिये विशेष पदक से सम्मानित किया है। अपना कर्त्तव्य निभाते वक्त आयुर-कर्मी को नम्र, संयत और धैर्यवान होना चाहिये। उसे अपने में इन गुणों का विकास करने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

चर्मलोचनी रोगी की मनोथेरापी (मनोचिकित्सा) उसी क्षण शुरू हो जाती है, जब वह तल्पालय में भरती होता है या अनावासी तल्पालय में डाक्टर के पास आता है। मनोथेरापिक प्रभाव आयुर-कर्मियों की रोगी के साथ बात करने, उसे सांत्वना देने और सही चिकित्सा और उसके ठीक होने में विश्वास दिलाने की कुशलता पर निर्भर करता है। किसी भी अनुचित वाक्य या रोग के भविष्य से किसी असंबद्ध बात से रोगी की अवस्था बदतर हो जा सकती है। यह

विशेषकर उन रोगियों में होता है, जो अपनी दशा के प्रति बहुत चिंतित और संवेदनशील होते हैं। अनेक चर्मक्लेशों में शब्द एक समर्थ थेरापिक घटक होता है, लेकिन वह प्रतिकूल भावनाएं भी उत्पन्न कर सकता है। यह हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि शब्द का मूर्त्त अर्थ ही नहीं होता, उसकी रागात्मक आभा भी होती है। एक ही शब्द भिन्न लहजे में कहने पर उसका थेरापिक प्रभाव भी भिन्न होता है।

उपरोक्त बातें वयस्क रोगियों के साथ संपर्क बनाने में तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, बच्चों के साथ संपर्क बनाने में विशेष महत्त्व रखती हैं। वयस्क रोगी उपेक्षा और लापरवाही के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं, परंतु आवासी तल्पालय में माता-पिता के प्यार से वंचित बच्चे और भी अधिक संवेदनशील होते हैं। ऐसी स्थिति में आयुर-कर्मी को अपने प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व के अतिरिक्त बच्चे का विश्वास और स्नेह पाने की समस्या का भी सामना करना पड़ता है, क्योंकि अनेक चर्मक्लेशों पर बहुत शीघ्र इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है (निस्संदेह, दिये हुए चर्मरोग के लिये अनुयुक्त अन्य सभी थेरापिक उपायों के संकुल में)।

चर्मलोचकों, आंतरविदों तथा अन्य विशेषज्ञों के आयुरी आचारशास्त्र की समस्याओं में कोई खास अंतर नहीं होता, फिर भी रतिजलोचन के चिकित्सानुशीलन में कुछ विशेष बातें होती हैं, जिनका ज्ञान इस क्षेत्र में कार्यरत डाक्टर को होना चाहिये। नीचे हमलोग आयुरी आचारशास्त्र की कुछ समस्याओं को देखेंगे, जिनका संबंध सीधा रतिजलोचकों के व्यावहारिक कार्य के साथ है। पैठन-स्रोत (source of infection) बन चुके रोगी के अनुवेदन, परीक्षण तथा उसकी चिकित्सा के लिये और साथ ही उसके दैनंदिन एवं यौन संपर्क के लोगों का पता लगाने के लिये रतिजलोचक को उसकी अंतर्तम जीवन-परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ता है। रतिज रोग का और आगे प्रसार यथासमय रोकने के लिये रतिजलोचन आरोग्यशालिक सेवा की रीतियां इसी बात पर आधारित हैं। यह पूरे समाज के लिये चिंता की बात है। लेकिन अक्सर रोगी के निजी हित समाज के हितों के विरुद्ध चले जाते हैं; वह अपने अंतर्तम जीवन की बातें डाक्टर से छिपाने लगता है, जिसके अनेक विभिन्न कारण हो सकते हैं। डाक्टर को चाहिये कि वह पहले रोगी को अच्छी तरह समझा दे कि प्रश्न मात्र कौतूहलवश नहीं पूछे जा रहे हैं, उनके सही उत्तरों की वास्तविक आवश्यकता है; यह भी समझाना चाहिये कि क्या आवश्यकता है, फिर कुशलतापूर्वक 'श्रेष्ठ समझौता' की स्थिति बना लेनी चाहिये।

रतिज रोगी का आयुरी वृत्तांत प्राप्त करने में 'श्रेष्ठ समझौता' क्या है? प्रथमतः, वार्त्ता के लिये विश्वास का वातावरण तैयार करना चाहिये। इसीलिये अन्य आयुर-कर्मियों या आयुर-छात्रों की उपस्थिति अवांछनीय है; इससे रोगी व डाक्टर के बीच खुली बातचीत और विश्वास का वातावरण नहीं बन पाता। दूसरे, 'यौन' वृत्तांत निदान और रोग का चरण (stage) निर्धारित होने के बाद ही ज्ञात करना चाहिये। उदाहरणार्थ, सीफिलिस के सक्रिय रूप वाले रोगी से सभी यौन-संपर्कों की सूचनाएं नहीं, बल्कि एक नियत अवधि के अंतर्गत बने संपर्कों की सूचनाएं ज्ञात करनी चाहिये। रतिज रोगी से उसके यौन जीवन के बारे में सावधानीपूर्वक तल्पिक परीक्षण के बाद ही, और आवश्यकता पड़ने पर प्रयोगशालिक परीक्षणों के परिणाम ज्ञात होने के भी बाद पूछताछ करनी चाहिये। ऐसा अभिगम (approach) समाज के भी हित में होता है और रोगी की मानसिक दशा के साथ रियायत भी करता है। 'श्रेष्ठ समझौते' के सिद्धांत का इसी तरह पालन होता है।

यदि निदान ज्ञात है, तो रोगी के यौन जीवन का वृत्तांत अनावासी तल्पालय, आरोग्यशाला

या आवासी तल्पालय के भरती-विभाग में लिया जा सकता है। यदि निदान आवासी तल्पालय में ही निर्धारित किया गया है (सहायक परीक्षण-रीतियों मे), तो पैठन-स्रोत और संपर्क ज्ञात करने की जिम्मेवारी तल्पालय के डाक्टर पर ही होती है।

कभी-कभी रोगी द्वारा दी गयी सूचनाओं का तल्पिक एवं प्रयोगशालिक परीक्षणों के साथ मेल नहीं बैठता। कुछ स्थितियों में इसका कारण यह होता है कि रोगी जानबूझ कर डाक्टर को गलत लीक पर लाने की कोशिश करता है और कुछ स्थितियों में – रोगी को खुद कोई गलतफहमी रह सकती है, जैसे अमुक यौन संपर्क मे ही पैठन (infection) हुआ होगा और दूसरे से नही (क्योंकि साथी 'अच्छे' परिवार का था या उसके साथ लंबे समय से अंतर्तम संबंध रहे हैं)। ऐसी स्थिति में डाक्टर को शालीनता के साथ पेश आना चाहिये, रोगी का मजाक नहीं उड़ाना चाहिये, उसके गर्व को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिये; उसकी कुछ सूचनाओं की आधारहीनता प्रमाणित करनी चाहिये और तब आवश्यक सूचना प्राप्त करनी चाहिये

आयुरी वृत्तांत प्राप्त करना एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके प्रति रतिज रोगी उदासीन नहीं रह सकता। इस महत्त्वपूर्ण समस्या के प्रति अपर्याप्त अभिगम से रोगी को अतिरिक्त मानसिक चोट पहुँच सकती है।

डाक्टरी गोपनीयता को सुरक्षित रखने का अभिगम रतिजलोचक के कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। ऐसी स्थिति में रोगी और समाज के हित परस्पर जुड़े होते हैं और अक्सर परस्पर विरुद्ध होते हैं। आयुरी क्षेत्र के किसी भी विशेषज्ञ की भाँति रतिजलोचक को भी डाक्टरी गोपनीयता सुरक्षित रखने को प्रतिबद्ध होना है (उन परिस्थितियों को छोड़ कर, जब यह समाजिक हित के विरुद्ध नहीं होता और उनका रहस्योद्घाटन करने पर उसे कानून के समक्ष जवाब देना पड़ता है। फिर भी कुछ स्थितियों में डाक्टर को रोग का रहस्य तदनुरूप सगठन या व्यक्तियों के सामने खोलना पड़ता है, ताकि अन्य लोगों को दैनंदिन या यौन संपर्क के माध्यम से होने वाले पैठन से बचाया जा सके। यह विशेषकर उस स्थिति में करना पड़ता है, जब रोगी अपने संपर्क छिपाने पर अड़ा रहता है। ऐसी कार्रवाई उस रोगी के प्रति भी ग्राह्य एव न्यायसंगत होती है, जिसे (उदाहरणार्थ) सीफिलिस का सुजाक छुतहे रूप में होता है, लेकिन सीफिलिस के प्रलंबित रूपों से ग्रस्त रोगी को सबसे पहले (और अधिकांशतः) समझा-बुझा कर ही मनाने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि वह परिवेशी लोगों के लिये जनमारिक खतरा नहीं होता। डाक्टरी की नैतिकता और आचार-संहिता का उल्लंघन सीफिलिस या सुजाक के नाम पर भी नहीं करना चाहिये। डाक्टरी गोपनीयता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता पर (यदि इससे समाज के हितों को चोट नहीं पहुँचती) 'सोवियत समाजवादी गणराज्य-संघों एवं स्वायत्त गणराज्यों के स्वास्थ्य विधान के मूल सिद्धांतों' में भी जोर दिया गया है, जिसे सोवियत संघ के उच्च सोवियत में 1 जुलाई 1970 को अनुमोदित किया गया था।

डाक्टरी गोपनीयता का प्रश्न रतिजलोचक के लिये कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, बनिस्बत कि किसी आंतरविद या करोर्जक के लिये। आयुरी आचारशास्त्र इस संबंध में सभी विशेषज्ञों के अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है। लेकिन रतिजलोचक के लिये यह रोगी के ही नहीं, समाज के भी हितों से जुड़ा हुआ है; पैठन उस परिवार तक ही सीमित रहे, इसका खयाल रतिजलोचक को ही रखना पड़ता है। यदि पति (या पत्नी) किसी सांयोगिक गलती से रुग्न हो जाता (जाती) है और वह हृदय से पश्चाताप करता (करती) है, फिर उनके बच्चे भी हैं, तो रतिजलोचक को सच्चाई छिपाने का पूरा अधिकार है (परिवार की भलाई के लिये झूठ)। इस

तरह वह परिवार को विघटित होने से बचाता है, उसमें शांति स्थापित करता है, जिससे लंबे चिकित्सा-काल के दौरान रोगी की भी नार्विक व मानसिक अवस्था बेहतर रहती है; इसके बाद रोग-नियंत्रण का काम भी सरल रहता है।

रतिज रोग ऐसी गदिक (morbid) अवस्था है, जिसे अक्सर रोगी अपने सगे-संबंधियों और मित्रों से छिपाता है। वह मितभाषी हो जाता है, वह एक तरह से रोग के कारण अपने आप में घुटने लगता है. उसे भीतिक अनुभूतियां (phobic experiences) भी हो सकती हैं। इसीलिये डाक्टर का ही नहीं, विभाग, आरोग्यशाला या तल्पालय के सभी सहकर्मियों का यह कर्त्तव्य है कि वे रोगी पर अनुकूल एवं शांतिदायक प्रभाव डालने वाला वातावरण बनाये रखें। इसके लिये रोगी के व्यक्तित्व और बौद्धिक स्तर को, रतिज रोगों की समस्याओं के बारे में उसके ज्ञान को भी ध्यान में रखना चाहिये।

आयुरी आचारशास्त्र के पालन से वैद्यज (iatrogenic) रोगों और भीतिक प्रतिक्रियाओं से बचा जा सकता है। सीफिलो-भीति और सुजाक-भीति रोगी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाल सकती है, इसलिये रतिजलोचक और अन्य विशेषज्ञों को चिकित्सा के मानसिक पक्ष (अर्थात् उपरोक्त बातों) का कठोरता के साथ पालन करना चाहिये।

बच्चों और बड़ों की चर्म-चिकित्सा के मूल सिद्धांत

आधुनिक आयुर्विज्ञान में विकास के साथ-साथ चर्मलोचन में भी काफी प्रगति हुई है। उदाहरणार्थ, सामान्य बुद्बुदिया पहले बिल्कुल घातक रोग माना जाता था, लेकिन अब स्टेरोइड हर्मोनों की सहायता से रोगी की जान बचा ली जाती है। फिर भी मूर्त्त रोगी की मूर्त्त स्थिति में चिकित्सा कभी-कभी बहुत जटिल और कठिन हो जाती है।

कुछ चर्मक्लेशों में हेतुलोचनी (जीवाणुक) कारक ज्ञात होते हैं (चर्मपूयता के विभिन्न तल्पिक रूपों, रोगकारकों की विभिन्न प्रजातियों से उत्पन्न विभिन्न रूपों वाली चर्मकवकताएं, गंठिक्लेश, लेइशमैनता वीरुसज चर्मक्लेश, कुष्ठ, खाज, आदि)।

प्रयोगशाला में रोगकारियों को असंपृक्त (isolate) करना, उनका अध्ययन करना, प्रयोगाधीन जंतुओं में उन्हें संरोपित करना – ये बातें कई बार ऐसे थेरापिक प्रसाधनों के विकास और उपयोग में सहायक हुई हैं, जो जीवाणुओं पर विशेष प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार पैठनजनित या परजीवज चर्मक्लेश का इलाज सरल कर देते हैं। इसे चर्मक्लेश की हेतुताड़क (aetiotropic) या हेतुलोचनी (aetiological) चिकित्सा कहते हैं। लेकिन अपने 'शुद्ध रूप' में इस प्रकार की चिकित्सा बहुत कम ही कारगर होती है (अपवाद है: खाज, लेइशमैनता, आदि)। यह सभी जानते हैं कि जीवाणु किसी व्यक्ति पर निश्चित परिस्थितियों में ही असर डालते हैं और हर व्यक्ति के अपने विशिष्ट शारीरिक लंछक होते हैं (जैसे आंतर अंगों, नार्विक तथा अन्य तंत्रों की अवस्थाएं), जो जीवाणु की क्रिया के विरुद्ध शरीर की प्रतिक्रिया निर्धारित करते हैं। यही नहीं, परिवेशिक परिस्थितियों का असर रोगी के शरीर और जीवाणुक घटक, दोनों पर पड़ता है। उन्हीं बातों के कारण एक ही रोग से पीड़ित व्यक्तियों पर एक ही दवा का थेरापिक प्रभाव अलग-अलग होता है। इसीलिये अधिकांश पैठनजनित चर्मक्लेश सिर्फ हेतुताड़क चिकित्सा से वशीभूत नहीं हो पाते, उनके विरुद्ध हेतुगदजनन (aetiopathogenesis) की चिकित्सा करनी पड़ती है, अर्थात् मुख्य कारण – हेतु – के अतिरिक्त रोग के जन्म व विकास में हाथ बटाने वाले असंख्य अन्य घटकों को भी दूर करने के उपाय प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार, सिद्धांततः यह निष्कर्ष सही प्रतीत

हो सकता है कि समान प्रकार के पैठनजनित रोग समान प्रकार की चिकित्सा से ठीक हो सकते हैं, लेकिन व्यवहार में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब कोई अड़ियल रोग चिकित्सा से सिर्फ दब जाता है और अक्सर पुनरावर्तित हो जाता है। यह भी याद रखना चाहिये कि इस ग्रुप में ऐसे रोग भी हैं (जैसे वीरुसी या वीरुसज रोग), जिनके विरुद्ध आज भी कोई स्पष्ट साधन नहीं है।

विभिन्न विशेषज्ञों (चर्मलोचकों, पैठज एवं वृत्तिज रोगों के विशेषज्ञों, बाल-विशेषज्ञों, परोर्जी-लोचकों आदि) के वृत्तिकर्म में कुछ बहुत ही दुर्दम रोग मिल जाते हैं। ये रोग अंतर्जनित एवं बहिर्जनित क्षोभों के प्रति शरीर और विशेषकर चर्म की परिवर्तित प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं (बहिर्जनित क्षोभों में आहार, दवाओं, रसायनों, घरेलू एवं वृत्तिक घटकों आदि की गणना होती है)। दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, पित्ती आदि जैसे चर्मक्लेशों का एक बहुत बड़ा ग्रुप वस्तुतः अतिसंवेदिता से, अर्थात् शरीर की वर्धित संवेदिता से उत्पन्न होता है। यदि डाक्टर रोग-कारी घटक (जैसे वृत्तिज चर्मक्लेश के उदाहरण में किसी निश्चित रसायन) की पहचान कर लेता है, जिसने अभी तक बहुसंवेदिता (एक से अधिक द्रव्य के प्रति अतिसंवेदिता) को जन्म नहीं दिया है, तो उसे हटा देने पर रोग अपेक्षाकृत अल्प समय में ही ठीक हो जाता है। लेकिन आयुरकर्म में अधिकांशतः ऐसे रोग मिलते हैं, जिनमें डाक्टर उन्हें जन्म देने वाले परोर्जक की प्रकृति नहीं निर्धारित कर पाते, अथवा रोगी आनुवंशिक या अर्जित बहुसंयोजी संवेदिता के कारण अनेकों क्षोभकों के प्रति अपसामान्य रूप से प्रचंड प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगता है। ऐसी स्थितियों में निर्णायक भूमिका निम्न की होती है: सामान्य चिकित्सा की; अवसंवेदीकारक एवं लक्षण-प्रधान चिकित्सा की; और आंतर (उदरस्थ) अंगों, नर्वतंत्र या अंतस्त्रावी ग्रंथियों के उन चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रों व निदानित (diagnosed) रोगों के इलाज की भी, जो चर्मक्लेशों का पोषण करते हैं। चिरकालिक परोर्जिक चर्मक्लेशों से ग्रस्त बच्चों की चिकित्सा विशेष कठिन होती है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि अलग-अलग कारणों से भी चर्मक्लेश का मिलता-जुलता तलिपक चित्र प्राप्त हो सकता है, जैसे औषधज चार्मशोथवत्ताओं में, या एक ही घटक (जैसे नर्वजनित) बिल्कुल भिन्न तलिपक चित्र वाले रोगों को भी जन्म दे सकता है, जैसे चौरस शैवाक, दिनाई, पित्ती, नार्वचर्मशोथ आदि को। इसीलिये अधिकांश सामान्य चर्मरोगों की एकमात्र चिकित्सा गदजनकों की चिकित्सा है (चर्मक्लेश के रूप, चरण और प्रसार को ध्यान में रखते हुए)।

शुद्ध लक्षण-प्रधान चिकित्सा आजकल चर्मलोचन में बहुत कम निर्दिष्ट की जाती है; अधिकांशतः हेतुलोचनी (हेतुताड़क) और गदजनकीय चिकित्सा का निर्देश दिया जाता है, जिसके साथ-साथ लक्षण-शामक उपाय भी जोड़ दिये जाते हैं।

चिकित्सा की एक योजना बना लेनी चाहिये और आयुरी वृत्तांत तैयार करने तथा तलिपक व प्रयोगशालिक परीक्षणों के परिणाम अध्ययन करने के बाद प्राप्त बहुसंख्य आँकड़ों के आधार पर योजना में सुधार भी करते जाना चाहिये। इसमें डाक्टर का तलिपक चिंतन, अनुभव, कुशलता और अंतर्ज्ञान विशेष भूमिका निभाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं का नियमित पठन और आयुर के अन्य क्षेत्रों के नर्वलोचकों द्वारा की गयी नयी खोजों का ज्ञान बहुत बड़ा महत्त्व रखता है।

सामान्य चिकित्सा

शैक्षणिक उद्देश्य से सामान्य थेरापी की रीतियां कई ग्रुपों में बाँटी गयी हैं, यद्यपि यह वर्गी-करण औपचारिक है क्योंकि हर घटक के कई भिन्न प्रभाव होते हैं। यह बात हार्मोनों, वटामिनों

और दवाओं पर भी लागू होती है। हम यहां चर्मरोगियों पर लागू होने वाले चंद मुख्य थेरापिक सिद्धांतों को देखेंगे, क्योंकि आंतर रोगों के शमन में प्रयुक्त दवाएं और रीतियां वस्तुतः विभिन्न चर्मरोगों में भी काम आती हैं।

नर्वतंत्र पर प्रभाव डालना (शांतिद चिकित्सा). इवान पाव्लोव के शरीरलोचनी सिद्धांत के आधार पर सोवियत चर्मलोचक कुछ चर्मरोगों (दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक आदि) का सफल उपचार स्वापक निद्रा द्वारा (कारामीशेव, आरुत्युनोव) या स्वापन के साथ-साथ विद्यु-निद्रा द्वारा (जेल्लाकोव, स्क्रीप्किन) करते हैं। दीर्घकृत शरीरलोचनी निद्रा और परिस्थितिज प्रतिवर्त से उत्पन्न निद्रा (अर्थात् तंद्रापकों का उपयोग करने और भुकभुकाती बत्ती, तालमापी, विशेष रूप से चुने हुए संगीत आदि की सहायता से तदनुरूप परिस्थिति बनाने) के मेल का भी बहुत अक्सर उपयोग होता है। औषध-प्रेरित निद्रा, विशेषकर यदि वह दीर्घकृत और बाधापूर्ण है, भिन्न कोटि के अनेक अवांछनीय परिणाम भी दे सकती है। स्वापक निद्रा में ऐसी कोई त्रुटि नहीं है। मनोपचार (जैसे, शब्दाधान से चिकित्सा) अनेक चर्मक्लेशों के उपचार में बहुमूल्य सिद्ध होती है; इसे अधिकांश चर्मरोगियों पर अन्य थेरापिक उपायों के संकुल में प्रयुक्त करना चाहिये। कुछ रोग मनोपचार से ही ठीक हो जाते हैं (चौरस कीलक; सामान्य कीलक कम ठीक होते हैं; खुजलियों के कुछ रूप)।

परिस्थितिज प्रतिवर्त से उत्पन्न निद्रा या विद्युनिद्रा के साथ स्वापन और शब्दों के माध्यम से स्वस्थ रोगों (emotions) का आधान बड़ों तथा स्कूली बच्चों के लिये प्रयुक्त होता है। बाल-चर्मलोचन के अनुभव से मनोपचार, स्वापन और यहां तक कि विद्युनिद्रा के भी उपयोग में तत्परता दिखाने का कारण यह है कि चर्मरोग से ग्रस्त बच्चे बहुत चिड़चिड़े हो जाते हैं, ठीक से सो नहीं पाते, विशेषकर ऐसे बच्चे, जिन्हें तीव्र खुजली होती है (दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, पित्ती, चौरस शैवाक आदि से)। इन बच्चों में अक्सर तनु नर्वों की गड़बड़ियां होती रहती हैं, उनका मन हर समय चोटग्रस्त रहता है, विशेषकर जब वे अन्य बच्चों के साथ होते हैं।

बच्चों को नर्वक्लेशिक गड़बड़ियों, अनिद्रा और खुजली (जैसे दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, खर्जू-क्लेश) से राहत दिलाने के लिये सहायक रीति के रूप में स्वापथेरापी का निर्देश अवसंवेदक एवं एंटीहिस्टामीनिक साधनों के साथ-साथ दिया जाता है। मुख्य थेरापिक रीति के रूप में स्वापन की सलाह चौरस शैवाक, चर्मशोथ, व चौरस कीलक में दी जाती है। यह प्रतिदिष्ट होता है, यदि चर्मरोगी साथ-साथ मनश्छिन्नता, रगडंबरता या किसी अन्य मनोक्लेश से ग्रस्त होता है।

विद्युनिद्रा नर्वतंत्र के कार्य में अनुकूल बदलाव उत्पन्न करती है और रोगी की सामान्य दशा में सुधार लाती है। इसमें बच्चों के लिये कम वोल्टता का उपयोग करना चाहिये। धारा-शक्ति 8-10 मिलिएंपियर से अधिक नहीं होनी चाहिये, स्पंद-काल 0.3 सेकेंड और आवृत्ति 1 से 10 स्पंद प्रति सेकेंड तक होनी चाहिये। विद्युनिद्रा नित्य या एक दिन छोड़ कर 30-40 मिनट तक देनी चाहिये; अधिकतम समय 60 मिनट है। चिकित्सा 15 से 20 सत्रों (sessions) में संपन्न होती है। बिजली ऑफ करने के बाद रोगी 2-3 घंटे तक सोता है। विद्युनिद्रा नार्वचर्मशोथ और दिनाइ के रोगियों के लिये सबसे अधिक कारगर होती है। द्वितीय मास्को आयुर-संस्थान में चर्म-लोचन-विभाग के प्रेक्षण यह दिखाते हैं कि इससे रोगी का चिड़चिड़ापन, रोनापन, उसकी चिंता व हताशा बहुत जल्द दूर हो जाती है (पाँच या छे बार में)। दिन और रात दोनों ही समय नींद गाढ़ी और शांत रहती है। रोगी खुद कहते हैं कि छे-सात विद्युनिद्रा के बाद अपने को बेहतर

महसूस करते हैं। विद्युनिद्रा उन लोगों के लिये प्रतिदिष्ट है, जिन्हें आंगिक अंतस्त्रावी रोग और नर्वतंत्र की चोटजनित क्षति होती है।

चूँकि नर्वतंत्र की क्रियात्मक गड़बड़ियां विभिन्न (विशेषकर खुजलीयुक्त) चर्मक्लेशों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, इसलिये चर्मलोचन में विभिन्न शांतिद साधनों का विस्तृत उपयोग होता है। इनमें निम्न की गणना होती है: ब्रोमीन, वालेरिआन व मदरवर्ट (motherwort), प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, कैल्सियम के लवणों आदि से बने प्रसाधन, अन्य प्रशामक।

बच्चों को खिलाने के लिये दवा की मात्रा निम्न सूत्र से ज्ञात की जा सकती है (कोष्ठक में उम्र और भार रोगी बच्चे के लंछक हैं):

वयस्क खुराक का (2× उम्र-वर्ष + भार-किलोग्राम +12) प्रशिशन

ब्रोमीन के निम्न प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं: सोडियम ब्रोमाइड, पोटाशियम ब्रोमाइड, कैंफर ब्रोमाइड। सोडियम ब्रोमाइड मुख से घोल या टिकियों के रूप में दी जाती है या अंतर्शिरीय मार्ग से। वयस्क के लिये ब्रोमीन की खुराक 0.1 से 1g तक प्रति दिन तीन या चार बार तक हो सकती है (नर्वक्लेश की तीव्रता के अनुसार)। नर्वतंत्र जितना ही कमजोर हो, खुराक भी उतनी ही कम होनी चाहिये। बच्चों के लिये औसत खुराकें हैं: 0.15-0.1g (साल भर से कम उम्र के लिये); 2 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.15g; 3-4 वर्ष के बच्चे के लिये 0.2g; 5-6 की उम्र में 0.25g; 7-9 की उम्र में 0.3g; 10-14 की उम्र में 0.4-0.5g।

सोडियम ब्रोमाइड अक्सर वेस्टेरेव द्वारा निरूपित मिक्सचर के रूप में दिया जाता है [संक्षेपण: Rp — Recipe: (लो); Inf — infusum (अर्क, उबलते पानी में चाय की तरह डाल कर प्राप्त); MDS — misce: Da, Signa (मिलाओ, दो द्योतित करो); rad. — radix (जड़); T-ra(e) — Tinctura(e) (टिंचर); ×3 दिन – तीन बार प्रति दिन; मझले चम्मच से तात्पर्य है चाय का चम्मच]:

Rp: Inf. herbae Adonidis vernalis 6.0 : 180.0
Natrii bromidi 6.0
Codeini phosphatis 0.2
MDS बड़ा चम्मच ×3/दिन वेस्टेरेव मिक्सचर)

Rp: Inf. rad. Valerianae ex 1.0-200.0
Kalii bromidi 2.0
Medinali 1.0
T-rae Leonuri 30.0
MDS. मझला (या बड़ा चम्मच ×3/दिन खाने के बाद।

Rp: Inf. rad. Valerianae ex 5.0-200.0
Kalii bromidi 1.0 (2.0)
T-rae Leonuri 20.0
MDS. मझला (या छोटा) चम्मच ×2-3/दिन खाने के बाद।

उग्र खुजली के साथ तीव्र व विसरित चर्म-प्रक्रियाओं में सोडियम ब्रोमाइड का ताजा तैयार या ऐंपुल में सुरक्षित 10 प्रतिशतीय घोल वयस्क को 2 से 10ml तक की मात्रा अंतर्शिरीय मार्ग से नित्य या एक दिन छोड़ कर दी जाती है (आठ से दस या अधिक आधान)। कैंफर ब्रोमाइड

मुखमार्ग से चूर्ण या टिकिये के रूप में वयस्क को 0.15-0.25-0.5g की मात्रा में दो या तीन बार प्रति दिन दिया जाता है; 2 वर्ष तक के बच्चे को 0.05g की मात्रा में, 3.6 वर्ष में 0.1g, 7-9 वर्ष में 0.15 और 10-14 वर्ष में 0.15-0.25g की मात्रा। ब्रोमीनों से चिकित्सा नियत अंतरालों पर ही करना चाहिये, क्योंकि उससे अवांछित परिणाम भी उत्पन्न हो सकते हैं (ब्रोमाइड जनित मुहासा, नाकशोथ या नक्रता, युतिकाशोथ, ब्रोमीनता नामक सामान्य कमजोरी)।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड मुखमार्ग से 0.25-0.15 प्रतिशतीय घोल के रूप में प्रलिखित किया जाता है – वयस्क के लिये नित्य दो या तीन बड़ा चम्मच (बच्चे के लिये छोटा चम्मच) भोजन के बाद, चार से छे सप्ताह तक; यह अंतर्शिरीय मार्ग से 0.5 प्रतिशतीय घोल के रूप में भी दिया जाता है, (2-6ml की सूई प्रति दिन या एक दिन छोड़ कर; कुल छे या आठ सूइयां)। प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, पित्ती तथा खुजली के कुछ रोगियों के लिये प्रलिखित किया जाता है। इससे निम्न जटिलताएं उत्पन्न हो सकती हैं: चक्कर (सर चकराना), मतली, सामान्य कमजोरी, और कुछ उदाहरणों में अमर्षण (intolerance), जो करोर्जकों, मुखलोचकों तथा नर्सों के लिये व्यवसाय वृत्तिज रोग हो जाता है। प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड अब अधिकांशतः आवासी तल्पालयों में और ऐसे रोगियों के लिये प्रलिखित किया जाता है, जिन्हें अवसाद या दवा के प्रति परोर्जन नहीं होता।

वालेरिआन की जड़ का टिंचर (Tinctura rad. Valerianae) 200ml पानी में 6 से 10g घुला कर बनाया जाता; वयस्क की खुराक एक बड़ा चम्मच तीन बार प्रतिदिन है और बच्चे की – एक छोटा या मझला चम्मच तीन बार प्रति दिन। वालेरिआन का 20 प्रतिशतीय टिंचर 70 डिग्री अल्कोहल में तैयार किया जाता है और 20-30 बूंद चार बार प्रति दिन मुख-मार्ग से दिया जाता है।

Rp: T-rae. Valeriane 30.0
DS. 20-30 बूंद × 3/दिन, भोजन के बाद

कैल्सियम के प्रसाधन (ग्लीसेरोफोस्फेट, ग्लूकोनात, लाक्तात, पांतोथेनात, क्लोराइड) चर्म-लोचन में बहुत प्रयुक्त होते हैं। वे अनुकंपी नर्वतंत्र को प्रभावित करते हैं और शरीर की कुपरि-वर्तित प्रतिकारिता को सामान्य कर देते हैं, जिसके कारण उन्हें परोर्जिक चर्मरोगों में अविशिष्ट अवसंवेदीकारी साधन के रूप में प्रलिखित किया जाता है। कैल्सियम के प्रसाधन निम्न रूपों में प्रलिखित किये जाते हैं: चूर्ण, टिकिया, मिक्स्चर (द्रव मिश्रण), जल में कैल्सियम क्लोराइड का 10 प्रतिशतीय घोल (अंतर्शिरीय आधान के लिये), कैल्सियम ग्लूकोनात का 10 प्रतिशतीय घोल (अंतर्पेशिक सूई के लिये)। वे अनुकंपतान और श्वेत चर्मग्राफिता के रोगियों के लिये प्रति-दिष्ट हैं। सोडियम थिओसुल्फात (थायोसल्फेट) भी अवसंवेदीकारी प्रभाव डालता है; इसका 20-30 प्रतिशत जलीय घोल 5-10ml की मात्रा में अंतर्शिरीय मार्ग से आधान कराने पर कोशोथी, प्रतिगारक तथा अवसंवेदीकारी प्रभाव डालता है (ऊतकीय अम्लता कम करते हुए)।

गुच्छिका-रोधक प्रसाधन – जैसे क्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड (हिद्रोक्लोरीद), नानोफिन (2.6 द्विमेथिल पीपेरीदीन हाइड्रोक्लोराइड) – कंडुक चर्मक्लेशों की चिकित्सा के काम आते हैं, विशेषकर नर्वक्लेशित रोगियों में। ये प्रसाधन नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां दूर करते हैं, खुजली शांत करते हैं और इसीलिये रोगी की सामान्य अवस्था में सुधार लाते हैं। चर्मलोचनी वृत्ति में वे बहुत

छोटी खुराकों में प्रलिखित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, वयस्क के लिये ख्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड (अमीनाजिन) की एकल खुराक 25mg से अधिक नहीं होती; दिन भर (24 घंटे) की खुराक 50-75-100mg हो सकती है। बच्चों के लिये 24 घंटों की खुराक 1-2mg/kg है, जिसे तीन छोटी खुराकों में बाँटा जाता है और सात से दस दिनों तक दिया जाता है; इसे किसी एंटीहिस्टामिन के साथ देना बेहतर होता है। 20kg वजन वाले पाँच वर्ष के एक बच्चे के लिये ख्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड की खुराक के कलन का एक उदाहरण देखें: चौबीस घंटे में उसे $20 \times 1\text{-}2mg = 20\text{-}40mg$ देना चाहिये – 0.01g की दर से दिन में तीन बार। नानोफिन 0.1g की टिकियों या 2-5 प्रतिशतीय घोल की 1ml मात्रा वाले ऐंपुलों में होते हैं। वयस्क को एक टिकिया (बच्चे को आधी या तिहाई टिकिया) दिन में दो या तीन बार देते हैं, या 2 प्रतिशतीय घोल का 1-2 (बच्चे को 0.5) ml की मात्रा शाम को अधोचार्म सूई द्वारा देते हैं। चिकित्सा 10 से 21 दिन तक चलती है। मेप्रोथान (मेप्रोबामात) वयस्क के लिये 0.2g की दर से दिन में दो या तीन बार प्रलिखित करते हैं 3 से 8 वर्ष के बच्चे को 0.1 की खुराक और 8 से 14 वर्ष के बच्चे को 0.2g की खुराक दिन में एक या दो बार देते हैं। ख्लोरदिआजेपोक्सीद (एलेनिउम) वयस्क को 5-10mg की दर से एक या दो बार प्रति दिन देते हैं और बच्चे को 2.5-5.0mg की दर से। त्रिमेप्रोजीन (त्रिमेटोजीन) की खुराक वयस्क के लिये एक टिकिया (0.3g) की दर से एक या दो बार प्रति दिन है और बच्चे के लिये चौथाई से आधी टिकिया की दर से दिन में एक या दो बार है।

अवसंवेदीकरण से चिकित्सा. चर्मलोचक को चर्म पर परोर्जिक अभिव्यक्तियों के केस कहीं अधिक मिलते हैं बनिस्बत कि आयुर के किसी अन्य क्षेत्र में कार्यरत डाक्टर को, और इसीलिये चर्मलोचन में विभिन्न अवसंवेदीकारी साधनों का कहीं अधिक प्रयोग होता है। ऐसे केसों में पहले परोर्जक की पहचान की जाती है; इसके बाद उपाय किये जाते हैं कि रोगी उसके संपर्क में न आये, या रोगी पर उसका प्रभाव सीमित रहे। यदि परोर्जक पहचाना जा चुका है और अभी तक बहुसंवेदीकरण विकसित नहीं हुआ है, तो विशिष्ट अवसंवेदीकरण अवश्य करना चाहिये; यह आहार जनित परोर्जक और पदार्थों के प्रति संवेदिता (परागक्लेश) में लाभकर होता है।

विशिष्ट अवसंवेदीकरण का विस्तृत उपयोग चिरकालिक और पुनरावर्ती चर्मपूयता में होता है। इसके लिये स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद, स्ताफिलोकोकी पेनिसिलिन, निस्यंद या बाक्तेरियाभोजी, और स्त्रेप्तोकोक या स्ताफिलोकोक के वाक्सीन दिये जाते हैं स्ताफिलोकोकी वाक्सीन (1ml में 1 अरब मृत जीवाणु-शरीर) सूई के सहारे अधोचार्म या अन्तर्पेशिक मार्ग से हफ्ते में दो बार दिये जाते हैं; प्रत्येक खुराक की मात्रा 0.2 से 1.0ml होती है और कुल 8 से 12 सूइयां लगायी जाती हैं। स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद कंधे के पँखुड़े (shoulder-blades) के बीच में 2-3 बार प्रति सप्ताह दिया जाता है; एक खुराक 0.3 से 1.5ml हो सकती है और पूरी चिकित्सा सात या आठ सूइयों में संपन्न होती है। हम लोगों ने स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद की अधोचार्म सूई की भी एक विधि प्रस्तावित की है, जो दो या तीन दिनों में एक बार दी जाती है। सलाह दी जाती है कि पहली खुराक 0.1ml से शुरू करनी चाहिये और धीरे-धीरे 0.2-0.25ml तक बढ़ानी चाहिये; सूइयां बाँह की पार्श्व सतह पर दी जाती है, ताकि वहां 'नीबू के छिलके' (lemon peel) की तरह बन जाये। एक बिंदु पर 0.25ml की खुराक से अधिक नहीं पड़नी चाहिये। परागक्लेश में विशिष्ट अवसंवेदीकरण परोर्जन उत्पन्न करने वाली वस्तु (पराग, पुष्प) के प्रति तनु घोल द्वारा संपन्न होता है, खुराक क्रमशः और बहुत धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है।

अविशिष्ट अवसंवेदीकरण उसी समय शुरू कर दिया जाता है, जब चर्मक्लेश उत्पन्न करने वाली परोर्जक वस्तु की पहचान के लिये प्रयत्न शुरू हो जाते हैं, या जब बहुसंवेदीकरण विकसित हो जाता है, या जब परोर्जक वस्तु का पता ही नहीं चल पाता (अंतिम स्थिति अधिक प्रायिक है)। ऐसे अनेक प्रसाधन और रीतियां हैं, जो अविशिष्ट संवेदीकरण में प्रयुक्त हो सकती हैं। ये हैं: कोर्तिकोस्तेरोइद (देखें 'हर्मोनिक चिकित्सा'), विटामिन C व P, कैल्सियम क्लोराइड, सोडियम थायोसल्फेट, कैल्सियम ग्लुकोनात, प्रतिहिस्टामीनिकों का एक बड़ा ग्रुप तथा अविशिष्ट इमूनी अवसंवेदीकारी चिकित्सा (स्वानुरूप रक्त या दूध, सुरक्षित रक्त या प्लाज्मा, ज्वरदों, गामा ग्लोबूलिन, हिस्तोग्लोबिन आदि से उपचार)।

कैल्सियम क्लोराइड मुखमार्ग से दिया जाता है – वयस्क को 10 प्रतिशतीय घोल का एक बड़ा चम्मच (बच्चे को 5 प्रतीशतीय घोल का एक मंझला या छोटा चम्मच), दिन में तीन या चार बार खाने के बाद। इसे शिराधान से भी (बहुत धीरे-धीरे!) दिया जा सकता है – दस प्रतिशतीय घोल 5-10-15ml की खुराकों में। कैल्सियम ग्लुकोनात खाने से पहले मुखमार्ग से दिया जाता है – एक (0.5g) या तीन टिकियां दो-तीन बार प्रति दिन (बच्चे की खुराक उम्र के अनुसार घटा लेनी चाहिये); वयस्क को अंतर्पेशिक सूई के रूप में भी दिया जा सकता है (10 प्रतिशतीय घोल का 5-10ml) लेकिन बच्चों को इसकी सलाह नहीं दी जाती क्योंकि इससे विमृति (ऊतकों की मृत्यु, necrosis) शुरू हो जा सकती है। सोडियम थायोसल्फेट (हाइपो-सल्फेट) अंतर्शिरीय मार्ग से आधान कराया जाता है (10-30 प्रतिशतीय घोल 5-10ml प्रति खुराक)।

प्रतिहिस्टामीनिक प्रसाधन का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है, क्योंकि हिस्टामीन और इस जैसा प्रभाव उत्पन्न करने वाले अन्य द्रव्य परोर्जक चर्मरोगों की उत्पत्ति में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं (जैसे एसेटिलखोलीन, सेरोटोनिन, ब्रादीकीनिन, आदि)। प्रतिहिस्टामीनिक प्रसाधन हिस्टामीनिक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न ललाई, शोफ तथा खुजली को कम करते हैं। अक्सर प्रलिखित किये जाने वाले प्रतिहिस्टामीनिक प्रसाधन निम्न हैं: सुप्रास्टिन (हालोपीरामीन) (0.025g प्रति टिकिया), प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड (डिप्राजिन) (0.025-0.05g), द्विफेनिलहिद्रामीन हाइड्रोक्लोराइड (दिमेद्रोल) (0.03-0.05g), डिआजोलीन (मेबहिद्रोलिन, नापाडीसिलेट) (0.1-0.2g), फेनिनद्रामीन टार्ट्रेट (पेर्नोविन), एथीजीन (फेनेथाजोल) (0.1g प्रति टिकिया); आधी टिकिया खाने के वक्त या बाद दिन में दो या तीन बार ली जाती है: पेर्नोविन 0.02g, दाइजोलीन 0.02-0.05g; डिप्राजिन 0.008-0.01g (6 वर्ष उम्र तक), 0.02-0.015g (अधिक उम्र में); दिमेद्रोल 0.005-0.01g (2 से 5 वर्ष की उम्र में) 0.015-0.03g (6 से 12 वर्ष की उम्र में); ये दवाएं दिन में एक बार या तीन बार दी जाती हैं। दिमेद्रोल अंतर्पेशीय सूई द्वारा 1 प्रतिशतीय घोल (1-5ml) के रूप में भी प्रलिखित किया जा सकता है और सुप्रास्टिन – 2 प्रतिशतीय घोल (1-2ml) के रूप में। प्रतिहिस्टामीनिक कैल्सियम के प्रसाधनों के साथ देने पर अधिक कारगर होते हैं। पिछले समय में फेनकारोल (0.01g प्रति टिकिया), तावेगिल मिन. क्लेमास्टिन फूमेरात (0.001g प्रति टिकिया), पेरीतोल साइप्रोहेप्टाडीन हाइड्रोक्लोराइड, 4.0mg प्रति टिकिया) से भी अच्छा प्रभाव प्राप्त किया गया है। ये दिन में टिकिया तक की मात्रा में दिये जाते हैं; इन प्रसाधनों में प्रतिहिस्टामीनिक [illegible] होते हैं।

प्रतिहिस्टामीनिक और निरुत्तेजक प्रसाधनों के अतिरिक्त चर्मलोचन में संजीवक, नर्वशामक, म्लानिहर, तथा प्रशांतकारी प्रसाधनों का भी विस्तृत उपयोग है।

संजीवक (analeptic) प्रसाधन एथीमीजोल 0.1 g की टिकियों में बनाया जाता है। इसकी एक खुराक 0.05g (आधी टिकिया) की मात्रा में प्रलिखित की जाती है, जिसे दिन में दो या चार बार ग्रहण करते हैं; इसका 1.5 प्रतिशतीय घोल 1.5-3ml (अर्थात् आधे आंपुल) की मात्रा में अंतर्पेशीय सूई से भी दिया जाता है – दिन में एक या दो बार, चार से छे सप्ताह तक। यह निरुत्तेजक प्रभाव डालता है और रक्त में अंतर्जनित कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन के स्राव को प्रोत्साहित कर के अवचेतकी-अधोवर्ध-अधिवृक्कीय तंत्र (hypothalamo-hypophyseal-adrenal system) को सक्रिय करता है।

अवांछित प्रभाव (सामान्य कमजोरी, चक्कर, मतली, सिर में भारीपन) विरल हैं और प्रसाधन की खुराक कम करने पर गायब हो जाते हैं।

नर्वशामक प्रसाधन (neuroleptics). टेरालेन नार्वचर्मशोथ, [illegible] व दिनाइ में हल्का नर्वशामक, प्रतिपरोर्जिक, प्रतिहिस्टामीनिक और प्रतिकंडुक प्रभाव दिखाता है।

एथापेराजीन (पेर्फेनाजीन), मेटेराजीन (प्रोक्लोरपेराजीन) और प्रोपाजीन शामक एवं प्रतिकंडुक प्रभाव उत्पन्न करते हैं और वे हल्के तंद्रापक हैं। वे क्लीमाक्टेरिक (रजोनिवृत्तिक) सिंद्रोम तथा कंडुक चर्मक्लेशों में प्रलिखित किये जाते हैं।

फेनोलोन (मेटोफेनाजाट) नर्वशामक एवं निरुत्तेजक प्रभाव उत्पन्न करता है, खुजली कम करता है।

न्यूरेप्टिक (पेर्फेनिआजीन) और साथ ही लेवोमेप्रोमाजीन (मेथोत्रिमेप्राजीन), थिओप्रोपेराजीन तथा [illegible] निरुत्तेजक व प्रतिकंडुक गुण होते हैं; ये हल्के तंद्रापक का भी काम करते हैं। ये अनाबासी तन्त्रान्त्र के रोगियों में कंडुक चर्मक्लेशों के इलाज में महत्त्वपूर्ण होते हैं।

म्लानिहर (antidepressant या thymoleptic). क्लोरप्रोथिक्सेन केंद्रीय नर्वतंत्र पर स्पष्ट दमनकारी प्रभाव डालता है, साथ ही म्लानिहर, प्रतिकोलिनोर्जिक, प्रतिसेरोटोनिन तथा प्रतिकंडुक कार्य करता है।

इमीजिन (इमीप्रामीन) निरुत्तेजक एवं स्फूर्तिदायक (stimulating) प्रभाव डालता है।

अमीत्रिप्तीलीन तथा थिओरिदाजीन दोनों ही म्लानिहर निरुत्तेजक तथा हल्का प्रोत्साहक प्रभाव डालते हैं।

प्रशांतकारी (tranquillizer). मेथामीजिल (मेथिलफेनाजीन) तथा अमीजिल स्पष्ट शांतिदायक, प्रतिहिस्टामीनिक, अपतानलयकारी खोलिनलयकारी तथा प्रतिकंडुक प्रभाव डालते हैं। वे अन्य प्रतिहिस्टामीनिक एवं निरुत्तेजक प्रसाधनों के बिना अकेले भी प्रलिखित किये जा सकते हैं। क्लोरडिआजेपोक्सीड, ताजेपाम, त्रिओक्साजिन, मेप्रोतान (मेप्रोबामात) तथा ओक्साजेपाम अन्य प्रसाधनों के साथ प्रलिखित किये जाते हैं।

स्वरक्तचिकित्सा (autohaemotherapy) का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है, क्योंकि यह स्पष्ट अवसंवेदक प्रभाव डालती है और शरीर की इमूनोलोचनी प्रतिकारिता बढ़ाती है। रोगी की कफोणिक शिरा से सिरिंज द्वारा लिया गया रक्त उसकी नितंबिक पेशी में आधानित किया जाता है; मात्रा: 2 से 10ml रक्त दो या तीन दिन में एक बार; चिकित्सा छे से दस सूइयों में संपन्न होती है। स्वरक्तचिकित्सा ऐसे रोगियों के लिये प्रलिखित नहीं किया जाता है, जिन्हें निम्न रोग होते हैं: सक्रिय यक्ष्मा (गंठिक्लेश), हृत्कुंभिक रोग, वृक्क-रोग। वयोवृद्ध रोगियों के लिये भी

यह प्रतिसंकेतित है। माता या पिता से लिये गये रक्त की अंतर्पेशीय सूई अधिकांशतः बच्चों के परोर्जिक चर्मक्लेशों की चिकित्सा में प्रयुक्त होती है। इस तरह की चिकित्सा विशिष्ट एवं अविशिष्ट दोनों ही प्रकार के अवसंवेदक प्रभाव उत्पन्न करती है।

रक्ताधान (100-200ml) या प्राकृतिक प्लाज्मा (70-100ml) का अंतर्शिरीय आधान कुछ केसों में नित्य या एक दिन छोड़ कर कराया जाता है (कुल आधान: दो या तीन बार), जिससे पूर्वबालपन में विशेष अनुकूल प्रभाव उत्पन्न होते हैं। पहले रोगी का रक्त-ग्रुप परीक्षण द्वारा ज्ञात कर लिया जाता है, ताकि प्लाज्मा-आधान के विरुद्ध प्रतिक्रिया से बचा जा सके। प्राकृतिक प्लाज्मा अवसंवेदक तथा अवगारक प्रभाव उत्पन्न करती है, इमूनलोचनी प्रतिरोध को बेहतर बनाती है, रक्त की अवप्रोटीनता (dysproteinaemia: रक्त में प्रोटीनों के अनुपात की अपसामान्यता) कम करती है; वह रोगी के शरीर में प्रोटीनों, हर्मोनों, खमीरों, लवणों, विटामिनों और इमूनी कायों की संपूर्त्ति करती है। इन्हीं कारणों से तीव्र चर्मक्लेशों (चिरकालिक चर्मपूयता, दिनाइ, नार्वचर्म-शोथ, खर्जूक्लेश आदि) में प्लाज्माधान बहुत वांछनीय होता है। दुग्ध-चिकित्सा आजकल बहुत कम प्रयुक्त होने लगी है, क्योंकि इससे तीव्र सरदर्द, कमजोरी आदि जैसे अवांछनीय प्रभाव उत्पन्न होने लगते हैं। यह चिरकालिक पुनरावर्ती दुर्मक्लेशों तथा चर्मशोथ आदि में सुसंकेतित होता है।

स्वरक्त-चिकित्सा तथा दुग्ध-चिकित्सा की गणना स्फूर्तिदायक विधियों (stimulating methods) के ग्रुप में होती है, जिसमें वाक्तेरिक ज्वरकारियों (पीरोगेनाल, प्रोडीगिओजान, आमेतोक्सान) की सहायता से संपन्न ज्वरज चिकित्सा (pyrexial therapy) का भी नाम आता है। चूँकि वाक्तेरिक ज्वरकारी प्रमाधन जीवाणुक लीपोपॉलीसेकेराईड होते हैं, इसलिये वे अवसंवेदक प्रभाव डालते हैं और इमूनलोचनी रक्षा-तंत्र को स्फूर्ति देते हैं। नार्वचर्मशोथ में तथा अतीव्र चरण पर खर्जूक्लेश व दिनाई में ज्वरकारी दवा देने से रोगी के अधोवृक्क-अधिवृक्कीय तंत्र का काम बढ़ जाता है। ज्वरकारी प्रमाधन अंतर्पेशीय सूई से दिया जाता है: 50 से 1000MPD (minimum pyrogenic doses) प्रति खुराक – दो या तीन दिनों के अंतराल पर। तीन वर्ष से ऊपर के बच्चों के लिये भी यह चिकित्सा प्रलिखित की जाती है: पहले 5-10MPD की सूई दी जाती है, फिर खुराक की मात्रा धीरे-धीरे 50-80-100MPD तक बढ़ायी जाती है। खुराक में वृद्धि सामान्य, स्थानीय एवं अधिकेंद्रीय प्रतिक्रियाओं की उग्रता पर आधारित होनी चाहिये।

प्रोडीगिओजान और आमेतोक्सान अंतर्पेशीय सूई से भी दिये जाते हैं – तीन या चार दिन में एक बार; चिकित्सा 25-50 μg (बच्चों के लिये 5-10 μg से शुरू की जाती है और धीरे-धीरे खुराक 100 μg (बच्चों के लिये 20-50 μg) तक बढ़ायी जाती है (प्रतिक्रिया को देखते हुए)। चिकित्सा पाँच या छे सूइयों में संपन्न होती है। यदि प्रतिक्रिया (सामान्य या स्थानिक) उग्र है तो अगली सूई में भी वही (पिछली) खुराक ही देनी चाहिये और सूइयों के बीच का अंतराल बढ़ा देना चाहिये। वाक्तेरिक ज्वरकारी प्रमाधन बुखार वाले रोगों में अथवा कमजोर रोगियों के लिये प्रलिखित नहीं करना चाहिये। अविशिष्ट स्फूर्तिदायन में aloe या placenta के अंतर्पेशीय सूई देने की विधि भी आती है।

अंतर्पेशीय हिस्टाग्लोबूलिन, पेंटोक्सील, मेथिलउरासिल और पराबैंगनी किरणों से चर्म का विकिरण की विधि का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है, विशेषकर परोर्जिक चर्मक्लेशों से ग्रस्त रोगों की चिकित्सा में, क्योंकि एक ओर तो वे अविशिष्ट अवसंवेदन के उपाय हैं और दूसरी ओर शरीर की इमूनलोचनी प्रतिरोधिता बढ़ाते हैं।

अंतर्पेशीय हिस्टाग्लोबूलिन की अधिकांश वयस्क जंतुओं के सीरम में पाये जाते हैं, प्रतिकायों (antibodies)

के वाहक होते हैं; ये परोर्जन तथा इमूनलोचन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परोर्जिक स्थिति में गामा ग्लोबूलिन की कार्य-विधि निम्न है: वह प्रतिकायों को निष्प्रभावित करता है, उन्हें खत्म करता है, प्रतिजनक-प्रतिकाय की प्रतिक्रिया को दमित करता है, जीवलोचनी सक्रिय द्रव्यों (हिस्टामीन, सेरोटोनिन, एसेटिलखोलीन, ब्राडीकीनिन आदि) की सक्रियता को कम करता है। गामा ग्लोबूलिन अंतर्पेशीय सूई से 0.5ml/kg प्रति खुराक तीन या चार दिन में एक बार दिया जाता है (कुल 5 से 8 सूइयां); अंतर्चर्मी सूई से भी दिया जाता है: 0.1-0.15-0.2-0.25-0.3 से लेकर 0.5ml तक, तीन से पाँच दिन के अंतराल पर (कुल 10 सूइयां)। सूइयों की संख्या परोर्जिक चर्मक्लेश की प्रकृति और प्रवाह के अनुसार निर्धारित की जाती है, जबकि सूइयों के बीच का अंतराल सामान्य, स्थानिक एवं अधिकेंद्रीय प्रतिक्रियाओं की प्रचंडता द्वारा निर्धारित किया जाता है। हर अगली सूई तभी दी जाती है, जब ये तीनों प्रकार की प्रतिक्रियाएं अच्छी (पूरी) तरह दब जाती हैं। वयस्क को गामा ग्लोबूलिन की अंतर्पेशीय सूई हफ्ते में दो बार 1.5-3.0ml प्रति खुराक ($^1/_2$-1 खुराक) दी जाती है, ताकि शरीर के रक्षात्मक इमूनोजैवलोचनी गुण बेहतर हो सकें। कुल 9 से 20ml की मात्रा सूई से दी जाती है

हिस्टाग्लोबूलिन (हिस्टामीन और ग्लोबूलीन का एक संकुल प्रतिहिस्टामीनिक प्रतिकाय का विरचन उत्प्रेरित कर के परोर्जिक चर्मक्लेशों में स्पष्ट अवसंवेदक प्रभाव उत्पन्न करता है; इस प्रक्रिया में वह चर्म-संवेदक प्रतिकायों (अनस्थलिक प्रतिकायक atopic reagins) को प्रभावहीन करता है और रक्त-सीरम में हिस्टामीन को निष्प्रभावित करने के गुण बढ़ाता है। इसकी सूई पेशियों या चर्म में दी जाती है। पहले 0.1ml की सूई दी जाती है, फिर हर खुराक में 0.1-0.2ml से 1.0-2.0ml तक की वृद्धि की जाती है चिकित्सा 10 से 20 सूइयों में संपन्न होती है। हिस्टाग्लोबूलिन की सूइयां सप्ताह में ज्यादा से ज्यादा दो बार दी जाती हैं और बाँह की पार्श्व सतह के किसी भी बिंदु पर अंतर्चर्मी मार्ग से 0.25ml से अधिक की मात्रा नहीं दी जाती, ताकि 'नीबू के छिलके' जैसा रूप बन जाये

पेंटोक्सिल (0.15-0.25g प्रति टिकिया), मेथिलउरासिल (0.5g प्रति टिकिया) और डेकारिस या लेवामीजोल (dekaris syn. levamisole; 0.15 या 0.15g प्रति टिकिया) श्वेतकोशिकाओं की सक्रियता बढ़ाते हैं, रक्षी प्रतिकायों की विरचन बढ़ाते हैं; वे लीसोजीम की सक्रियता व प्रोटीन का संश्लेषण संपूरित करते हैं, जिससे शरीर के रक्षी एवं अवसंवेदक गुण बढ़ जाते हैं। खाने के बाद एक टिकिया दिन में तीन बार की दर से 15-18 दिनों तक ली जाती है। बच्चों को $^1/_4$-$^1/_3$-$^1/_2$ टिकिया (उम्र के अनुसार) दिन में दो या तीन बार दी जाती है। डेकारिस वयस्कों को 0.15g की खुराक में एक या दो बार प्रति दिन की दर से सात-आठ दिनों तक दिया जाता है। बच्चों के लिये दैनिक (दिन भर की) खुराक 2mg/kg है; यह पाँच से आठ दिनों तक दी जाती है।

पराबैंगनी विकिरण (ललामिक एवं उपललामिक खुराकों में) अवसंवेदन के लिये तथा श्वेतकोशिकाओं की जीवाणुभोजी (या भोजीकोशिकीय, phagocytic) सक्रियता बढ़ाने के लिये तीन या चार दिन में एक बार प्रलिखित करते हैं (अर्थात् अगली खुराक तभी दी जाती है, जब चर्म पर से विकिरणजनित ललामी दूर हो जाती है)। ललामिक खुराक (ललामी उत्पन्न करने वाली खुराक) हर बार चर्म के अलग-अलग क्षेत्रों पर दी जाती है; उपललामिक खुराक पूरी चर्म-सतह पर दी जाती है; चिकित्सा 10 से 15 बार विकिरणों में समाप्त होती है।

चर्मरोगों में विटामिन-चिकित्सा. कुछ चर्मक्लेश अल्पविटामिनता या अविटामिनता के कारण

विकसित होते हैं, जैसे – स्कर्वी, चमरुक्षता, भेकचर्मता। ऐसी स्थितियों में विटामिनी चिकित्सा का विशिष्ट प्रभाव खुद रोग पर भी पड़ता है और चर्म में विकसित उसकी अभिव्यक्तियों पर भी। यद्यपि अनेक चर्मरोगों में शरीरगत विटामिनी संतुलन में कोई खास गड़बड़ी अवलोकित नहीं होती, फिर भी विटामिनी चिकित्सा का विस्तृत उपयोग होता है। ऐसी स्थितियों में विटामिन शरीर में आक्सीकरण-अवकरण तथा द्रव्य-विनिमय की विभिन्न प्रक्रियाओं पर अनुकूल प्रभाव डालते हुए एक विशिष्ट औषधलोचनीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यह सोपाधिक है, क्योंकि शरीर पर विटामिनों के विशिष्ट एवं अविशिष्ट प्रभावों में भेद करना संभव नहीं होता। यहां हम उन्हीं विटामिनों के बारे में बतायेंगे, जिनका उपयोग चर्मलोचन में प्रचलित है और जो मुख्यतः शरीर में द्रव्य-विनिमय की प्रक्रियाओं पर अनुकूल असर डालते हैं।

विटामिन A (रेटीनोल) शृंगन की प्रक्रिया में गड़बड़ी (अतिशृंगन, चर्म की शुष्कता आदि) में और चर्म उपांगों के रोगों में दिया जाता है (चर्म के उपांग: वसीय एवं स्वेद ग्रंथियां, लोम, नख)। यह मुखद्वार से प्रति दिन 50000-100000U की खुराक में दिया जाता है (खाने के समय राई-ब्रेड के टुकड़े पर 10 से 30 बूंदें)। इलाज कई महीनों तक चलता है। विटामिन A गोलियों या कैप्सुलों में भी होते हैं (1.0-3.0mg या 3300 से 9900U प्रत्येक में)। प्रकीर्णित विटामिन A (1g चूर्ण में 20000U) बच्चों के लिये अधिक प्रयुक्त होता है, क्योंकि आँतों में अच्छी तरह अपचोषित होने के कारण वह अधिक अच्छा थेरापिक प्रभाव उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त, इसमें मछली के तेल की महक नहीं रहती और इसीलिये बच्चे इसे अच्छी तरह सहन कर लेते हैं। विटामिन A की एक खुराक 3 वर्ष के बच्चे के लिये 0.5g की मात्रा है, 5 वर्ष तक के लिये 1.0g और 10 वर्ष तक के लिये 1.5g; इसे दिन में दो या तीन बार देते हैं। 10 वर्ष से अधिक के बच्चों को 2.0-2.5g दिन में दो बार दिया जाता है। इलाज 30 से 40 दिन तक चलता है।

विटामिन C (आस्कोर्बिक अम्ल) का चर्मलोचन में बहुत विस्तृत उपयोग है, क्योंकि मानव-शरीर पर यह बहुत ही विभिन्न एवं अनुकूल प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ, यह क्रेब-चक्र (Kreb's cycle) में आक्सीकरण-अवकरण की प्रक्रिया नियंत्रित करता है, निर्गारक एवं अवसंवेदक प्रभाव डालता है, पैठन के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता बढ़ाता है, रक्तोत्पादन बेहतर बनाता है, रक्त के स्कंदन की क्षमता बढ़ाता है, आदि। विटामिन C पैठनजनित, गरलजनित तथा परोर्जिक चर्मरोगों में दिया जाता है, साथ ही रक्तस्रावी चर्मक्लेशों (सतही कुंभीशोथों) तथा चार्म हेमोसीडेरिनक्लेश में भी दिया जाता है (रूटिन के साथ)। आस्कोर्बिक अम्ल मुखमार्ग से 0.05-0.2g की खुराक में तीन बार प्रति दिन दिया जाता है; अंतर्शिरीय आधान (5 प्रतिशतीय घोल का 5-10ml) या अंतर्पेशीय सूई (5 प्रतिशतीय घोल का 2-5ml) से भी दिया जाता है। बच्चों को विटामिन C निम्न खुराकों में दिया जाता है: 5 वर्ष तक की उम्र में 0.05g की दर से दो बार प्रति दिन, 10 वर्ष तक – 0.1g की दर से दो बार प्रति दिन, बड़े बच्चों को 0.1-0.15 से 2 बार प्रति दिन)। यह विटामिन कम से कम एक महीने तक देना चाहिये। आस्कोर्बिक अम्ल विटामिन C से सांद्रित जंगली गुलाब-फल (brier, cynarrhodium) के उपक्वाथ (infusion, उबलता पानी ढाल कर चाय की तरह निकाले गये सत्व) या सुचिपर्णों के उपक्वाथ के रूप में भी प्रलिखित किया जाता है। ताजी सब्जियों, बेरियों तथा फलों में भी विटामिन C की बहुतायत होती है।

विटामिन P (रूटिन) वर्धित केशिकीय भंगुरता तथा बेधिता की स्थिति में दिया जाता

है (जैसे चर्म रक्तस्रावी कुंभीक्लेश, पराखर्जूक्लेश आदि होने पर)। इसे विटामिन C के साथ देना अच्छा होता है। वयस्कों को 0.05g (× 3 बार प्रति दिन) दिया जाता है और बच्चों को: 3 वर्ष तक की उम्र में 0.02g, 5 वर्ष तक 0.03g, 10 वर्ष तक 0.04g (× 2 बार प्रति दिन)। सोवियत प्रसाधन आस्कोरूटिन में विटामिन C तथा P दोनों के गुण होते हैं।

विटामिन B-संकुल प्रतिहिस्टामीनिक (प्रतिकंडुक) तथा प्रतिपरोर्जिक प्रभाव डालते हैं और ऊतकों में अवाक्सी (redox)* प्रतिक्रिया को बेहतर करते है ; इनमें से कई गारक संवृतियों से छुटकारा दिलाते हैं, जैसे स्टेरोइड हर्मोनों के दीर्घकालीन उपयोग मे उत्पन्न गरणता में। इस ग्रुप के मुख्य विटामिनों के बारे में संक्षिप्त सूचनाएं निम्न हैं। विटामिन B_1 (थिअमीन), B_2 (रीबोफ्लावीन), B_5 (कैल्सियम पांटोथेनाट) विशेषकर बच्चों के दिनाइ, नार्वचर्मशोथ और खर्जूक्लेश में प्रयुक्त होते हैं (बच्चों के लिये एक खुराक: 1 से 3 वर्ष – 0.05-0.1g, 3 से 14 वर्ष – 0.1-0.2g; दिन भर की खुराक – 0.2 से 0.4g)। विटामिन B_6 (पीरिडोक्सीन) दिनाई और नार्वचर्मक्लेशों में कारगर होता है। विटामिन H (विओटिन), विटामिन B_{12} (सिआनोकोबालामिन), विटामिन B_{13} (ओरोटिक अम्ल) और विटामिन B_{15} (पन्तामिक अम्ल) का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण है। विटामिन PP (निकोटीनिक अम्ल या विटामिन B_3) चर्मरुक्षता में हेतुपर्ययी (या हेतुताड़क) प्रभाव डालता है और चर्मलोचन में इसका कुंभीविस्कारक के रूप में भी विस्तृत उपयोग है। यह प्रसाधन प्रतिकंडुक एवं फोटो-अवसंवेदक प्रभाव भी डालता है, यकृत का प्रतिगारक (antitoxic) कार्य भी बढ़ाता है।

विटामिन B_1 5-6 प्रतिशतीय घोल के रूप में अंतर्पेशीय सूई से 1ml प्रति दिन, या मुखमार्ग से 0.02-0.03g की खुराक में तीन बार प्रति दिन दिया जाता है। विटामिन B_2 मुखमार्ग से 5-10mg की खुराकों में तीन बार प्रति दिन दिया जाता है। विटामिन B_6 अंतर्पेशीय सूई से 5 प्रतिशतीय घोल के 1ml की मात्रा में या मुखमार्ग से पीरिडोक्साल-5-फोस्फेट की 0.01-0.02g की टिकियों के रूप में तीन या चार बार प्रति दिन दिया जाता है – तीन या चार सप्ताह तक। विटामिन B_{12} 30-100μg या अधिक की मात्रा में अन्तर्पेशीय सूई से दिया जाता है। निकोटीनिक अम्ल मुखमार्ग से 0.05-0.1g की खुराकों में दो या तीन बार प्रति दिन खाने के बाद दिया जाता है (इसे खाली पेट ग्रहण करने पर तीव्र सार्वदैहिक कुंभिक प्रतिक्रिया शुरू हो सकती है); इसका 1 प्रतिशतीय घोल के रूप में 2-5ml अन्तर्पेशीय आधान भी किया जा सकता है।

विटामिन E (टोकोफेरोल) विटामिन A की सक्रियता बढ़ाता है। यह दागी ललामक्लेश, सामान्य मुहासा, नार्वचर्मशोथ और खर्जूक्लेश में सुसंकेतित है। सोवियत प्रसाधन एविट के 1ml में 100000U विटामिन A और 100mg विटामिन E होता है ; यह अंतर्पेशीय सूई से 1ml प्रति दिन या एक दिन छोड़ कर दिया जाता है। सूई पीड़ादायक होती है, इसीलिये बच्चों को 12 वर्ष के बाद ही दी जाती है। कैप्सुलों में भी एविट का सफलतापूर्वक उपयोग हो रहा है ; एक कैप्सुल मुखमार्ग से दिन में एक या तीन बार दिया जाता है। बच्चों के लिये टोकोफेरोल की नित्य खुराक 50 से 150mg है (उम्र के अनुसार ; चिकित्सा दो या तीन महीने चलती है)। टोकोफेरोल शरीर में प्रोटीनी विनिमय (protein metabolism) नियंत्रित करता है, जनद-कार्य को स्फूर्ति देता है, एस्ट्रोगेन (oestrogen) का स्राव बढ़ाता है और प्रतिशोथी प्रभाव एवं हल्का

---

* (oxydation-reduction) (आक्सीकरण-अवकरण या आक्सी-अवकरण) का संक्षेपण (शब्दों को उलट कर)। – अनु.

प्रकाश-अवसंवेदक प्रभाव डालता है। यह यकृत के रोगों, ढालवत ग्रंथि के अतिकार्य (thyrotoxicosis, थीरोतोक्सीकोसिस, ढालगरणता) और हृत्कुंभिक कार्यों के असंतुलन आदि स्थितियों में प्रतिसंकेतित है।

विटामिन D (कैल्सीफेरोल या एर्गोकैल्सीफेरोल, विगांतोल) और वीदेइन (Videin, कैल्सीफेरोल व काजेइन का संकुल) प्रतिसुखंडिक प्रसाधन हैं। ये प्रतिशोथी प्रभाव डालते हैं (रसायनिक सूत्र और कार्य-रीति के अनुसार ये कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों की तरह होते हैं), बालों में वृद्धि करते हैं, तैल वपास्राव तथा मुंहासा में वपा और स्वेद का स्राव कम करते हैं। बच्चों के लिये विटामिन D_2 5000-10000U की खुराकों में दो या तीन बार दिन में प्रलिखित किया जाता है (30 से 60 दिनों तक), इसके बाद नित्य 1000-3000U की अनुरक्षक खुराक लेते हैं। विटामिन D_2 सामान्य वृका तथा चद शोथी चर्मरोगों में सुसंकेतित होता है, लेकिन अतितान के साथ-साथ स्पष्ट धमनीकठोरन, जठर-व्रण, यकृत तथा वृक्क के रोगों और सक्रिय फुप्फुसी यक्ष्मा (अंतस्यंदन या अपघटन की प्रावस्था में) प्रतिसंकेतित होता है।

विटामिन K (विकासोल, फार्नोक्विनोन फिलोक्वीनोन) गरणात्मक व परोर्जिक कुंभीशोथों, पराखर्जूक्लेश और चौरस शैवाक में 0.002g (साल भर तक के बच्चे की खुराक) से 0.015g (वयस्क की खुराक) दो या तीन बार प्रति दिन तीन से पांच दिनों तक दिया जाता है और इसके बाद चार दिन का अंतराल खाली रखा जाता है। चिकित्सा रक्त-प्रोथ्रोम्बिन को देखते हुए चलायी जाती है।

हर्मोनिक चिकित्सा (hormonal therapy) जिस समय से आद्रेनोकोर्टिकोट्रोपिक (पीयुष) हर्मोन और विशेषकर कोर्टिकल स्टेरोइड (अधिवृक्कीय वल्कुट के हर्मोन) थेरापिक चर्मलोचन में प्रयुक्त हुए थे, हर्मोनिक चिकित्सा का उपयोग कुछ चर्मरोगों के शमन में विस्तृत होता जा रहा है। फिर भी चर्मक्लेशों की सक्रिय हर्मोनिक चिकित्सा के प्रथम 10-15 वर्ष खोज, परीक्षण, और सुसंकेतों व प्रतिसंकेतों की छानबीन से सम्बन्धित थे। अब हमारे पास अधिक शुद्ध आँकड़े हैं, जिसके आधार पर हम हर्मोनिक चिकित्सा से इतरित अभिगम का उपयोग कर सकते हैं और निश्चित चर्मरोगों में हर्मोनों, ग्लूकोकोर्टोइडों तथा खनिज-कोर्टिकोइडों की श्रेष्ठ (और कुछ स्थितियों में अधिकतम) खुराक निर्धारित कर सकते हैं।

चर्मरोगों का एक गुट अलग कर लेना चाहिये (सामान्य बुदबुदिया, तीव्र ललामक्लेशिक वृका, चर्मपेशीशोथ, पार्विक परिधमनीशोथ, तीव्र चर्मारुणता, खर्जुक चर्मारुणता, संधार्तिक खर्जुक्लेश आदि), जिनमें कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों का प्रलेखन जीवनावश्यक होता है (उस स्थिति में भी, जब रोगी के लिये ये प्रसाधन अपेक्षाकृत प्रतिसंकेतित होते हैं)। स्वाभाविक है कि अवांछनीय परिणामों और जटिलताओं (संविकारों) को रोकने या दूर करने के लिये उपाय और रीतियां भी प्रयुक्त होनी चाहिये।

पीयुष ग्रंथि के हर्मोन (ACTH) और अधिवृक्कीय हर्मोनों (ग्लूकोकोर्टिकोइड स्टेरोइड हर्मोनों) से स्पष्ट प्रतिशोथी तथा प्रतिपरोर्जिक (अवसंवेदक) परिणाम प्राप्त होते हैं, इसीलिये इनका उपयोग अधिक विस्तृत है; इनका उपयोग सिर्फ उन्हीं परिस्थितियों में नहीं होता जब ये आवश्यक रूप से सुसंकेतित होते हैं (जैसे प्रथम ग्रुप के चर्मक्लेशों में), बल्कि अन्य रोगों (दिनाई, नार्वेजीय आदि) में भी होता है, जिनमें इनका निर्देश पसंदगी पर निर्भर करता है। ऐसी स्थितियों में चर्मलोचक आजकल इन प्रसाधनों को प्रलिखित करने से टालते हैं या, यदि अन्य थेरापिक विधियां सफल नहीं होतीं, इनका उपयोग अल्प समय के लिये अल्प खुराक में करते हैं। ऐसे

अभिगम का संबंध इस तथ्य के साथ है कि कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन एक गदोस्थैतिक प्रभाव डालते हैं और तभी तक फायदा करते हैं, जबतक प्रयुक्त होते हैं; इसलिये इनकी अनुरक्षक खुराकें लंबे समय तक देनी पड़ती हैं। साथ ही, अवांछनीय प्रभावों की संभावना और अक्सर भयप्रद जटिलताओं का विकास (जिनकी संख्या व तीव्रता इन दवाओं की खुराक और सेवनकाल के साथ-साथ बढ़ती है) डाक्टरों को इस बात के लिये विवश करते हैं कि वे हर्मोनों (विशेषकर कोर्टिकोस्टेरोइडों) के प्रलेखन के लिये सुसंकेतों और प्रतिसंकेतों के निर्णय में उपरोक्त नीतियों का ही अनुसरण करें। यदि कोर्टिकोस्टेरोइड थेरापी को ही वरण किया गया है, तो दैनिक मूत्र में 17-केटोस्टेरोइडों, 17-हाइड्रोक्सीस्टेरोइडों और 11-ओक्सीस्टेरोइडों की मात्रा का परीक्षण करा लेना चाहिये, जिससे कुछ हद तक अधिवृक्कीय वल्कुटी कार्य का मूल्यांकन संभव हो जाता है और इसीलिये स्टेरोइडों का प्रलेखन और भी युक्तिसंगत हो जाता है।

लंबे समय मे प्रयुक्त हर्मोनिक प्रसाधनों में निम्न नाम उल्लेखनीय है: आड्रेनालीन (अधिवृक्क के मज्जा-भाग मे स्रावित हर्मोन), जो कुंभि-संकोचक प्रभाव डालता है और अनुकंपी नर्वतंत्र की तान बढ़ाता; थीरोइडिन (ढालवत ग्रंथि का हर्मोन); पाराथीरोइडिन (पराढालवत ग्रंथि का हर्मोन), जो कुछ परोर्जिक रोगों में अवसंवेदक प्रभाव डालता है; स्त्री-पुरुष की जनद ग्रंथियों के हर्मोन, आदि।

थीरोइडिन द्रव्य-विनिमय को बढ़ाता है, वसा और कार्बोहाइड्रेट के पाचन को सामान्य बनाता है, प्रमस्तिष्कवल्कुट की उद्दीप्यता बढ़ाता है और इस तरह प्रतिवर्त-कार्य बेहतर बनाता है, सोडियम और क्लोराइडों का उत्सर्जन ठीक करता है, जिसके फलस्वरूप मूत्रोत्सर्जन बढ़ता है और ऊतकीय [illegible] घटता है। बच्चे और विशेषकर पर्योपा थीरोइडिन को वयस्कों की अपेक्षा बेहतर सहन करते हैं। दवा पाँच-पाँच दिनों तक दी जाती है और उनके बीच अंतराल भी पाँच दिनों के रखे जाते हैं। खुराकें: 12 महीने की उम्र तक 0.005g (दो बार प्रति दिन); 1 से 3 वर्ष की उम्र में [illegible]g (×2/दिन); 3 से 5 की उम्र में 0.02g (×2/दिन); किशोर-वय में [illegible]g [illegible] 2 दिन); वयस्कों के लिये 0.05-0.1g (×2-3/दिन)। थीरोइडिन [illegible], [illegible], वपास्राव से केशों का पतला होना, मीनचर्मता, कुछ प्रकार के मूत्रल्पता, [illegible] तथा नार्वचर्मक्लेशों में विशेष रूप से सुसंकेतित है। पराढालवत्ता (घेघा), क्षय* या क्षयित्व (cachexia) और [illegible] में प्रतिसंकेतित है।

आड्रेनोकोर्टिकोट्रोपिक हर्मोन (ACTH, सीनाक्थेन) अधिवृक्कीय वल्कुट के हर्मोन का स्राव बढ़ाता है (यदि आरंभिक एवं सभाविक कार्य-क्षमता सुरक्षित है): इस हर्मोन के बिना अधिवृक्कीय वल्कुट बिल्कुल काम नहीं कर पाता। ACTH मुख्यतः ग्लूकोकोर्टिकोइडों का विरचन और स्राव तीव्र करता है, जो फिर पीयुष पर प्रभाव डालते हैं और अंतर्जनित ACTH की उत्पत्ति को दमित करता है और इस तरह अधिवृक्कों का आगे स्फूर्तिकरण कम करते हैं। वयस्कों को ACTH का 20-20U दिन में तीन या चार बार अंतर्पेशीय सूई से दिया जाता है; कुल खुराक

---

*'क्षय' शब्द का मूल अर्थ है—ह्रास, अवस्था का बदतर होना, कृशकाय होते जाना ('सूखते जाना'); ये सभी लक्षण कई रोगों में मिलते हैं, जैसे कैंसर (विशेषकर जठर के), यक्ष्मा (टीबी), सीफिलिस (उपदंश) और दीर्घकालीन मंद आगरण या गराक्रांति में (पारा, संखिया, लेड आदि से)। इसीलिये इस शब्द को तपेदिक या यक्ष्मा के पर्यायरूप में उपयोग करना युक्तिसंगत नहीं लगता।—अनु.

300-2000U है। ACTH को बच्चे वयस्कों की तुलना में अधिक अच्छी तरह सहन करते हैं। छोटे बच्चों के लिये इसकी दिनभर की खुराक 5-10U है, बड़े बच्चों के लिये 15-20U है। कुल खुराक 200-1500U हो सकती है। पयोपा (दुधमुहें) बच्चे की ACTH से चिकित्सा करने की सलाह नहीं दी जाती, क्योंकि उनके अधिवृक्कीय वल्कुट कार्यात्मक रूप से विकसित नहीं होते। ACTH-जिंक-फोस्फेट एक चिरकारी (लंबे समय तक कार्य करने वाला) प्रसाधन है ; इसकी एक सूई साधारण ACTH की तीन या चार सूइयों की बराबरी कर सकती है ; इसका असर 24 से 32 घंटे तक बना रहता है। इनमें प्रोटीनी अंश नहीं होते, इसलिये ये एंटीजनिक सक्रियता नहीं उत्पन्न करते।

ACTH की सूइयां सामान्य बुदबुदिया, ड्यूरिंग-रोग, पीपिकीय खर्जूक्लेश, संधार्तिक खर्जूक्लेश और दीर्घकालीन दिनाइ के रोगियों के लिये सुसंकेतित होती हैं। ACTH के सेवन से परोर्जिक प्रतिक्रिया, जैसे रक्त में शक्कर की वृद्धि, कुशिंगवत्ता आदि विकसित हो सकते हैं। फिर भी संश्लिष्ट ग्लूकोकोर्टिकोइड हर्मोनों के सेवन से जो अस्थि-सरंध्रता, जठर-व्रण या पेप्टिक व्रण का विक्षोभन, पेशी-कुपोषण आदि जटिलताएं विकसित होती हैं, वे ACTH-चिकित्सा से सामान्य तौर पर नहीं होतीं। ACTH तभी प्रलिखित किया जाता है (यदि अधिवृक्कीय वल्कुट की कार्य-क्षमता सुरक्षित रहती है) जब कोर्टिकोस्टेरोइड प्रतिसंकेतित होते हैं।

अधिवृक्क-वल्कुटी हर्मोन – ग्लूकोकोर्टिकोस्टेरोइड – कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, और कुछ हद तक वसा के भी विनिमय को सक्रिय रूप से प्रभावित करते हैं, जबकि खनिजकोर्टिकोइड जल तथा लवणों के विनिमय पर अधिक सक्रिय प्रभाव डालते हैं।

अधिक प्रचलित संश्लिष्ट (कृत्रिम) कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन निम्न हैं: प्रेद्नीज़ोलोन, मेथिलप्रेद्नीज़ोलोन (उर्वीज़ोन), डेक्सामेथाज़ोन, त्रिआम्सीनोलोन। प्रेद्नीज़ोलोन 0.001g, 0.025g तथा 0.005g की टिकियों तथा 30mg प्रति 1.0ml घोल के आंपुलों में मिलता है ; मेथिलप्रेद्नीज़ोलोन 5mg की टीकियों में मिलता है। डेक्सामेथाज़ोन 0.5 व 1.0mg की टिकियों में और त्रिआम्सीनोलोन 0.004g की टिकियों में मिलता है।

डेक्सामेथाज़ोन, मेथिलप्रेद्नीज़ोलोन और त्रिआमसीनोलोन अधिक स्पष्ट प्रभाव डालते हैं और इसलिये अपेक्षाकृत नन्ही खुराकों में प्रयुक्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप अवांछनीय प्रभावों एवं जटिलताओं की तीव्रता कम रहती है। नन्ही खुराकों से सोडियम का अनिस्सरण नहीं होता और रक्तदाब नहीं बढ़ता, न अतिमिठरक्तन तथा अस्थि-सरंध्रता विकसित कर देते हैं (यद्यपि प्रेद्नीज़ोलोन से कम ही) यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रेद्नीज़ोलोन की एक टिकिया (5mg) समतुल्य में त्रिआमसीनोलोन की एक टिकिया (4mg) या डेक्सामेथाजोन (0.5 या 0.75mg) के समतुल्य होती है।

स्टेरोइड हर्मोनों की दैनिक वयस्क खुराक चर्मक्लेश के निदान, प्रकृति और तीव्रता पर निर्भर करती है। प्रेद्नीज़ोलोन की खुराक 10-15 से 30-40mg तक होती है, त्रिआम्सीनोलोन की 12 से 16mg तक और डेक्सामेथाजोन की 1.5 से 4.0mg तक। प्रेद्नीज़ोलोन की ऊपरी (अधिकतम) मात्रा प्रलिखित होने पर रोगी को 24 घंटों में 60-80-100mg तक का सेवन करना पड़ सकता है।

[illegible]-चकत्तों की चिकित्सा में कोर्टिकोस्टेरोइड का उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये। [illegible] दुःसाध्य चर्मरोगों के लिये ही प्रलिखित करना चाहिये और पयोपा बच्चों का [illegible] अत्यावश्यक स्थितियों में ही करना चाहिये। खुराक 2 वर्ष तक के बच्चों के [illegible] के अनुसार निर्धारित की जाती है और बड़े बच्चों के लिये उम्र के अनुसार। 2

वर्ष से कम के बच्चे के लिये हर्मोनों की दैनिक खुराक कलन करने की विधि निम्न है: प्रेद्नीज़ोलोन और मेथिलप्रेद्नीज़ोलोन 1.0-1.5mg/kg, त्रिआम्सीनोलोन 0.75-1.0mg/kg, डेक्सामेथाज़ोन 0.1-0.2। बड़े बच्चों के लिये कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों की खुराक रूदनेव द्वारा प्रस्तुत सारणी से ज्ञात की जा सकती है:

बच्चों के लिये खुराक (mg)

दवा	2-5 वर्ष	5-10 वर्ष	10 वर्ष से अधिक
प्रेद्नीजोलोन	10-15	15-20	20-25
डेक्सामेथाजोन	1.0-1.5	1.5-2.0	2.5-2.0
त्रिआम्सीनोजोल	6-8	8-12	12-16

तीव्र चर्मक्लेशों में स्टेरोइड हर्मोन छोटी अवधि (एक या दो सप्ताह) के लिये दिये जाते हैं, चिरकालिक चर्मक्लेशों में एक से तीन महीने तक और उग्र रोगों (सामान्य बुदबुदिया, ललामक्लेशिक तंत्रिक वृका, चर्मपेशीशोथ) में कई वर्षों तक दिये जाते हैं।

स्टेरोइड दवाओं को एकदम से हठात नहीं रोकना चाहिये क्योंकि इससे उग्र जटिलताएं (विराम-सिंद्रोम) उत्पन्न हो सकती हैं; खुराक धीरे-धीरे घटानी चाहिये। कोर्टिकोस्टेरोइड चिकित्सा की अवधि और दवा की खुराक जितनी ही बड़ी होगी, खुराक कम करते जाने की अवधि भी उतनी ही लंबी होनी चाहिये।

कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों के साथ-साथ सैलीसीलेटों, कैल्सियम-प्रसाधनों, विटामिन C, A तथा B-संकुल के भी सेवन की सलाह दी जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइड-चिकित्सा के दरम्यान साधारण नमक कम खाना चाहिये, आहार में प्रोटीनों और विटामिनों की मात्रा अधिक होनी चाहिये।

स्टेरोइड हर्मोन शरीर से पोटाशियम का निकास (विसर्जन) बढ़ा देते हैं, इसीलिये लंबी अवधि तक इनसे चिकित्सा में बच्चों और बड़ों दोनों ही को प्रथम दिन से ही पोटाशियम के प्रसाधन देने चाहिये (जैसे पोटाशियम क्लोरेट, पोटाशियम क्लोराइड, पानांगिन)।

स्टेरोइड हर्मोनों द्वारा लंबी चिकित्सा में, विशेषकर यदि दैनिक खुराक भी ऊँची है, उग्र जटिलताएं तथा अवांछनीय प्रभाव विकसित हो सकते हैं। इनमें से सामान्यतम जटिलता है— कुशिंग-सिंद्रोम या कुशिंगवत्ता। इसमें वसा (चर्बी) के असमान निक्षेप से चेहरा चांद की तरह गोल-मटोल हो जाता है, अधिजवृक ग्रंथि चर्बी से भर जाते हैं, पेट निकल आता है। हाथ-पैर पर अधोचार्म वसा की परत पतली हो जाती है, बाल बड़ी से बढ़ते हैं, मुँहासे निकलते हैं, त्वचा पर कुपोषणजनित पट्टियां दिखती हैं। इसके अतिरिक्त धमनी-दाब ऊंचा हो सकता है ('स्टेरोइड-जनित अतितान') और मधुमेह के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं ('स्टेरोइड-जनित मधूमेह')। अन्य जटिलताएं हैं: पेप्टिक व्रण का खुलना (विक्षोभन), कभी-कभी तो पेप्टिक व्रण द्वारा आंत्र-बेधन से रक्तस्राव ('कोर्टीजोन-जनित बेधन'), फेफड़े में गंठिक्लेशिक प्रक्रियाओं की शुरूआत और तीव्र या चिरकालिक पैठनों के स्थानिक या सार्वदैहिक अधिकेंद्रों की सक्रियता। उपरोक्त सभी जटिलताओं का कारण यह है कि स्थूलजारीरिक इमूनोजीवलोचनी रक्षक शक्तियां दब जाती हैं। कुंभियों के स्कंदक्लेश (रक्त के स्कंदन से रक्त-संचार में रोध) के कारण रक्त में प्रोथ्रोंबिन की मात्रा बढ़ जा सकती है; रजोरोध, मानसिक विकार (पहले सुखभ्रांति, फिर

म्लानि), अस्थि-सरंध्रता (अक्सर रीढ़ में) तथा अन्य गादिक अवस्थाएं विकसित हो सकती हैं। इसीलिये कोर्टिकल हर्मोनों से चिकित्सा के दौरान रोगी की भूख, धमनी-दाब, शरीर के भार पर दृष्टि रखनी चाहिये, मूत्र और रक्त में शर्करा, पोटाशियम, कैल्सियम, सोडियम, स्कंदन की मात्रा तथा थ्रोंबोसीतों (स्कंदकोशिकाओं) की संख्या व प्रोथ्रोंबिन-सूचकांक आदि के लिये परीक्षण करवाना चाहिये।

उत्पाचक हर्मोन (anabolic hormones) नाइट्रोजन-विनिमय पर अनुकूल प्रभाव डालता है, प्रोटीन-संश्लेशण के लिये आवश्यक तत्त्वों (पोटाशियम, गंधक और फोस्फोरस) को शरीर में रोककर रखता है, कैल्सियम को अस्थियों में फिक्स करने में सहायक होता है। उत्पाचक हर्मोनों के सेवन से रोगी की भूख और सामान्य अवस्था में सुधार होती है, अस्थियों का निक्षेप (अस्थि-सरंध्रता में) त्वरित होता है, इसीलिये स्टेरोइड हर्मोनों से दीर्घकालीन चिकित्सा में साथ-साथ ये हर्मोन भी सुसंकेतित हैं। बच्चों को नेरोबोलिल (Nerobolil: Nandrolone phenpropionate) की 1.0mg की एक या दो टिकियां दिन में दो या तीन बार देते हैं। मेथानड्रोस्टेनोलोन (मेतादिएनोन ; Metandienone) और फेनोबोलिन (5.0mg प्रति टिकिया) निम्न खुराकों में प्रलिखित किये जाते हैं: बच्चों को $^1/_3$-^{1} टिकिया और बड़ों को एक टिकिया दिन में दो या तीन बार। मेथानड्रोस्टेनोलोन की खुराक दो वर्ष से कम उम्र के बच्चे के लिये 0.1mg/kg है। बड़ों के लिये एक बार की अधिकतम खुराक [illegible]1g है और दिन भर की अधिकतम खुराक 0.05g है। दवा 17 से 20 दिन तक दी जाती है फिर दो या तीन हफ्तों तक छोड़ दी जाती है। दीर्घ अभिकारी प्रसाधान अंतर्पेशी सूई से दिये जाते हैं, जैसे – फेनोबोलिन (25mg/ml) की सूई पाँच या सात दिनों में एक बार दी जाती है: अन्य ऐसी दवाएं निम्न हैं: दूराबोलिन (नांद्रोलोन फेनप्रोपिओनान), देकादूराबोलिन (नांद्रोलोन देकानोएट) और रेताबोलिल। उत्पाचक हर्मोन पुंसज (पुरुष जनन-ग्रंथि से उत्पन्न , या पुंस्त्रैण । हर्मोनों का सा प्रभाव रखते हैं, इसीलिये पुरस्थार्ब-ग्रस्त पुरुषों और रजोचक्र की मदजनक अवस्था में स्थित स्त्रियों को इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

प्रतिजीवक चिकित्सा (antibiotic treatment). आज अनेक प्रतिजीवक ज्ञात हैं, लेकिन पैठनजनित चर्मरोगों (अधिकांशतः चर्मपूयताओं) से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा में पेनीसिलिन और इसके व्युत्पाद आज भी मुख्य दवा का काम करते हैं। प्रतिजीवक दवाएं चर्म-यक्ष्मा, चर्मशोणवत्ता, सिबीरी व्रण, रतिज रोगों और अब तक अज्ञात हेतुलोचन वाले कुछ रोगों (कठचर्मता, तीव्र एवं उपतीव्र ललामक्लेशिक वृक्का, गिल्बर्ट-बुसन, चौरस शैवाक, आदि) में भी प्रयुक्त होती हैं।

पेनीसिलिन अक्सर अंतर्पेशीय मार्ग से प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 0.25-0.5-1.0 प्रतिशतीय घोल की 2.0-3.0ml मात्रा के साथ 100000-200000U की खुराक में दिया जाता है ; सूई 24 घंटे में चार से छे बार दी जाती है। इसकी जगह एक्मोनोवोसिलिन (एक्मोलिन के जलीय घोल में बेंजिलपेनीसिलिन प्रोकेन के निलंबन) की एक सूई (600000U) दिन में एक बार दी जाती है। एक्मोनोवोसिलिन दो चरणों में दिया जाता है: पेनीसिलिन के अर्धसंश्लिष्ट (या अर्धकृत्रिम) व्युत्पाद (आंपीसिलिन, ओक्सासिलिन, मेथीसिलिन) और साथ ही सेपोरिन (सेफालोरीदीन), लिंकोमीसिन, कानामीसिन आदि भी पिछले समय से सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो रहे हैं।

चर्म-यक्ष्मा के रोगियों की चिकित्सा स्त्रेप्तोमीसिन से की जाती है – 500000U की एक खुराक दिन में दो बार। स्त्रेप्तोमीसिन की जगह डिहाइड्रोस्त्रेप्तोमीसिन (सल्फेट, पांटोथेनाट या आस्को-

बिनेट) भी प्रलिखित किया जाता है (उसी खुराक में)। शीशी के एक ग्राम चूर्ण में 1000000U स्त्रेप्तोमीसिन या डिहाड्रोस्त्रेप्तोमीसिन होता है। इसे प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 0.25 प्रतिशतीय घोल या सोडियम क्लोराइड के निष्कीटित तुल्यतानी घोल के 4 या 5ml में घुलाया जाता है।

क्लोरांफेनीकोल 0.5g की खुराक में तीन या चार बार प्रति दिन प्रलिखित किया जाता है; ख्लोरतेत्रासिक्लीन हिद्रोख्लोरीद (बिग्रोमीसिन), ग्रोक्सीतेत्रासिक्लीन दीहिद्रात, तेत्रासिक्लीन मेथासिक्लीन (रोंडोमीसिन), तेत्राग्रोलेग्रान, ग्रोलेतेत्रीन – ये सब 0.25g की खुराक में चार या पाँच बार दिन में दिये जाते हैं; बच्चों की दैनिक खुराक 25000U/kg है, जिसे चार छोटे खुराकों में बाँटते हैं। एरीथ्रोमीसिन 250000-500000U प्रति चार या छे घंटे पर दिया जाता है (5-6-10-12 दिन तक); 5 वर्ष से कम के बच्चे की खुराक 5000-8000U/kg है, 5 से 6 वर्ष के बच्चे की एक खुराक 100000U है, 7 से 9 वर्ष के बच्चे की 150000U ग्रौर 10 से 14 वर्ष के बच्चे की 200000U है।

ग्रोक्सीतेत्रासिक्लीन, मोनोमीसिन, ग्रौर नेग्रोमीसिन सल्फेट (मिसेरिन) ग्रंतर्पेशी सूई से या टिकियों के रूप में मुखमार्ग से दिये जाते हैं। मोनोमीसिन की ग्रन्तर्पेशीय सूई की या खाने की खुराक 0.25g (250000U) है, जो 24 घंटे में तीन बार दी जाती है; बच्चों के लिये इसकी एक खुराक 0.004-0.005g (4000-5000U) प्रति किलोग्राम (शरीर के भार का) है ग्रौर ग्राठ-ग्राठ घंटे पर, ग्रर्थात् 24 घंटे में तीन बार दी जाती है (पाँच-सात दिनों से ग्रधिक नहीं)। मोनोमीसिन कर्णगारक (ग्रोटोटोक्सिक) है, ग्रतः श्रवण-स्नायु के शोथ ग्रौर वृक्करोग से ग्रस्त व्यक्तियों को यह नहीं देना चाहिये।

3 वर्ष तक के बच्चों को मिसेरिन ग्रंतर्पेशीय मार्ग से प्रति दिन 25000U/kg की खुराक में दिया जाता है। प्रतिजीवक दवा सेपोरिन का उपयोग हाल ही में शुरू हुग्रा है ग्रौर वह दीर्घकालीन चर्मपूयता, क्लोमसता (क्लोम, ग्रर्थात् फेफड़े में शोथ) तथा सृपन (सेप्सिस) में ग्रच्छे परिणाम दे रहा है।

ग्रीजेग्रोफुल्विन-फोर्टे (0.125g, चार से ग्राठ बार दिन में) का उपयोग चर्मकवकता के इलाज में होता है; निस्तातिन का उपयोग कांदिदक्लेश में होता है (250000-500000U की टिकियों में; दिन भर की खुराक 4000000-8000000U तक)।

प्रतिजीवक दवाएं (पेनीसिलिन, स्त्रेप्तोमीसिन तथा विशेषकर ख्लोरांफेनीकोल) ग्रवांछित प्रभाव एवं जटिलताएं भी उत्पन्न कर सकते हैं (गरम-ग्रन्तर्जिक चर्मशोथ, पित्ती, प्रतिरक्षावत प्रतिक्रिया, खुजली ग्रादि)। ऐसी स्थितियों में प्रतिजीवक दवाएं रोक दी जाती हैं, या प्रतिहिस्तामीनिक प्रसाधन व विटामिनों (विशेषकर B-समूह) के साथ दी जाती हैं।

रसायनिक चिकित्सा (chemotherapy). चर्मलोचन में निम्न रसायनिक दवाएं प्रयुक्त होती हैं: सुल्फोनामीद, प्रतिजूड़िक दवाएं (क्विनोलोन क्रम के व्युत्पाद), ईजोनिकोटीनिक ग्रम्ल हिद्राजीद ग्रौर सुल्फोन क्रम के प्रसाधन।

प्रतिजीवकों का उपयोग शुरू होने के बाद से चर्मलोचन में सुल्फोनामीदों का उपयोग कम हो गया क्योंकि प्रतिजीवक ग्रक्सर ग्रधिक स्पष्ट थेरापिक प्रभाव डालते हैं ग्रौर ग्रवांछित प्रभाव व जटिलताएं (विशेषकर ग्रौषधज विस्फुटी) उत्पन्न होने की घटनाएं कम होती हैं। सुल्फोनामीद का उपयोग चर्मपूयता में (ग्रौर चर्मशोण व चर्मशोणवत्ता में भी) होता है। सुल्फाथिग्राजोल, सुल्फादीमीजीन, सुल्फाएथिग्रोडोल ग्रादि मुखमार्ग से 0.3-1.0g की खुराकों में तीन से छे बार तक प्रति दिन दिये जाते हैं (छे से दस दिनों तक)। सुल्फामेथोक्सीपीरीदाजीन (कीनेक्स) ग्रौर

सुल्फादिमेथोक्सीन (माद्रीवोन) लंबे समय तक प्रभाव देने वाले सुल्फानामीद हैं ; ये 1.5-2.0g की खुराकों में एक बार प्रति दिन की दर से 7-14 दिनों तक दिये जाते हैं : इन दवाओं के उपयोग से उत्पन्न सबसे खतरनाक जटिलता है – निर्कणिलता (रक्त में कणों की तरह दिखने वाली श्वेतकोशिकाओं की कमी, फिर बिल्कुल लोप)। गरण-परोर्जिक स्थिर ललामी (सुल्फेरीथेमा) विकसित हो सकती है।

संश्लिष्ट प्रतिजूडिक प्रसाधन (रेजोक्वीन, क्लोरोक्वीन, डेलागिल, प्लाक्वेनिल आदि) चर्मलोचन में मुख्यतः ललामकेशिक वृका के विरुद्ध प्रयुक्त होते हैं।

ईजोनिकोटिनिक अम्ल हिद्रोजीद (पथीवाजिद आदि) चार्म गंठिक्लेशिक रोगों (tuberculous skin diseases) के विरुद्ध अब मुख्य दवा के रूप में विरले ही प्रयुक्त होते हैं।

सुल्फोन (डिआमिनो दिफेनिलसुल्फोन, या DDS, आव्लोसुल्फोन, दाप्जोन, सुल्फेव्रोन, सुल्फातिन, आदि) कुष्ठग्रस्त रोगियों के लिये मुख्य और सबसे कारगर दवाएं हैं ; ये ड्यूरिंग-रोग की चिकित्सा में भी लाभदायक होते हैं।

बाह्य (स्थलिक) चिकित्सा

बाह्य दवाएं भी रोगी के शरीर पर कुछ हद तक सामान्य (सार्वदैहिक) प्रभाव डालते हैं ; इसमें चर्म का सर्वग्राही उपकरण सहायक होता है।

स्थलिक चिकित्सा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि डाक्टर निम्न घटकों को कहां तक ध्यान में रख सकता है : चर्मक्लेश की प्रकृति (तीव्र, अवतीव्र, चिरकालिक), प्रक्रिया का चरण (प्रगामी, स्थावर, अवगामी), रोग की गहराई और स्थलबद्धता, प्रलिखित दवा के औषधलोचनी गुण, इसके प्रयोग के सुसंकेत व प्रतिसंकेत, दवा की सांद्रता, अन्य प्रयुक्त उपायों का संकुल, स्थलिक प्रसाधन का औषधीय रूप आदि। इसका सबसे अच्छा उदाहरण दिनाई है, जिसकी स्थलिक चिकित्सा रोग के रूप, चरण, स्थल तथा अन्य घटकों पर निर्भर करती है। स्थलिक चिकित्सा हर व्यक्ति के लिये विशिष्ट होनी चाहिये, और रोगी पर निरंतर निगरानी भी रखनी चाहिये, क्योंकि अक्सर दवा बदलनी पड़ती है (यदि वह सहन नहीं होती या शरीर उसके प्रति आदी हो जाता है) या खुराक बदलनी (घटानी या बढ़ानी) पड़ती है।

सामान्य नियम यह है कि शोथी प्रक्रिया जितनी ही तीव्र होती है चयित औषध-रूप और इसमें मिश्रित प्रतिशोथी द्रव्य उतना ही प्रभाव डालते हैं। उदाहरणतया, लोशन, चूर्ण, शेक लोशन का प्रभाव अधिक सतही होता है, बनिस्बत कि पेस्ट का ; और पेस्ट का प्रभाव अधिक सतही होता है बनिस्बत कि मलहम और पुल्टिस का। औषध-रूपों में निहित दवा की सांद्रता भी महत्त्वपूर्ण होती है। प्रभाव की गहराई के अनुसार स्थलिक दवाएं निम्न क्रम में रखी जा सकती हैं (शुरू में सबसे सतही प्रभाव वाली दवा है) : चूर्ण, लोशन, शेक लोशन, पेस्ट, मलहम, पुल्टिस, सेरम, प्लास्टर, वार्निश।

कुछ स्थितियों में बाह्य चिकित्सा का उद्देश्य अपेक्षाकृत सीमित होता है, जैसे – सतही कवकों और परजीवकों द्वारा त्वचा की क्षति में निष्पैठक साधनों का उपयोग।

कोई भी स्थलिक दवा लगाने से पहले उपद्रवकेंद्र (focus of affection) से पीप, खट्ठी, शल्क, वस्तिका व बुल्ला के अवशेष आदि साफ कर देने चाहिये। शल्क, खट्ठी तथा मलहम के अवशेष हटाने के लिये बल नहीं लगाना चाहिये। ऐसे क्षेत्रों पर सूरजमुखी का या कोई अन्य तेल छोप देते हैं और 15 से 20 मिनट बाद केंद्र-स्थल को पुनः साफ करते हैं, या तैल पट्टी अधिक

लंबे समय के लिये छोड़ देते हैं। संदूषित अपरदन तथा व्रण को हाइड्रोजन पेरोक्साइड के 3 प्रतिशतीय घोल से साफ करते हैं। चर्मपूयता तथा अन्य पैठज चर्मक्लेशों में क्षतिग्रस्त क्षेत्र के गिर्द त्वचा को कैंफर से, या सैलीसीलिक (या बोरेसिक) अम्ल के 2 प्रतिशतीय घोल से पोंछते हैं।

चर्मलोचन में स्थलिक दवाओं की मुख्य प्रयोग-रीतियां

चूर्ण (Powder) रोग-ग्रस्त क्षेत्र पर पतली समरूप परत की तरह लगाते हैं। वे सूख कर त्वचा को निस्स्नेहित करते हैं (क्योंकि वे जलशोषी होते हैं), त्वचा को शीतल करते हैं (क्योंकि वे ताप-निस्सरण को तीव्र करते हैं) और सतही चार्म कुंभियों को संकुचित करते हैं। तीव्र चर्मशोथ में चूर्ण प्रलिखित करने का उद्देश्य शोफ और रक्तातिरेक को कम करना (विशेषकर चर्म में सलवटें पड़ने वाली जगहों पर) और जलन व खुजली की अनुभूति से छुटकारा दिलाना होता है। स्रावरत सतह पर चूर्ण का उपयोग नहीं किया जाता, क्योंकि वह रिसाव के साथ मिलकर खट्ठी बनाता है, जिससे शोथी प्रक्रिया तीव्र हो जाती है और त्वचा अधिक क्षोभित होता है। लेकिन स्वेद एवं वपा के अतिस्राव में चूर्णों का उपयोग लाभप्रद होता है।

चूर्ण खनिज या वनस्पतिज द्रव्यों से बनाया जाता है। चूर्ण के अत्यधिक प्रचलित खनिज घटक मैग्नेशियम सिलिकेट (टैल्कम) और जिंक आक्साइड हैं, वनस्पतिज घटक के रूप में अधिकांशतः गेहूं के स्टार्च (Amylum tritici) का उपयोग होता है। स्टार्च का खमीरन शुरू हो जा सकता है, इसीलिये अत्यधिक स्वेदन में इसका उपयोग नहीं करना चाहिये (विशेषकर चर्म में सलवटों वाली जगहों पर)। अपरदनों एवं व्रणों की चिकित्सा में प्रयुक्त चूर्ण के घटक निम्न हैं: सुल्फानीलामाइड चूर्ण, ब्रोमोफोर्म (बिस्मथ त्रिब्रोमफेनात) और देर्मातोल (बिस्मथ सबगैलेट या सुबगालात)।

Rp: Talci veneti
Zinci oxydi āā 15.0
Bismuthi subnitrici 10.0
MDS. स्थलिक प्रयोग के लिये।

Rp: Zinci oxydi
Talci veneti āā 15.0
Dermatoli
Bolus albae āā 10.0
MDI. स्थलिक प्रयोग के लिये।

लोशन (Lotion) जलीय या अल्कोहलिक घोल हैं, जो चर्मलोचन में अक्सर प्रतिशोथी, कसैल और निष्पैठक प्रभावों के लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रयोग-रीति: मुलायम कपड़े या गजी की पाँच या छे तहें शीतल (-कृत) घोल में तर कर के निचोड़ लेते हैं, रोग-ग्रस्त स्रावरत क्षेत्र पर फैला देते हैं। जैसे ही वे सूख जायें या गर्म हो जायें (अक्सर 5 से 15 मिनट पर), उन्हें बदल दिया जाता है; यह क्रम एक-डेढ़ घंटे तक चलाया जाता है। यह प्रक्रिया दिन में कई बार दुहरायी जाती है। अधिकतम प्रयुक्त लोशन निम्न हैं: तान्निन का 1 या 2 प्रतिशतीय घोल, सिल्वर नाइट्रेट का 0.25-0.5 प्रतिशतीय घोल, बोरिक अम्ल का 2-3 प्रतीशतीय घोल, अमीदोपीरीन का 0.25-0.3 प्रतिशतीय घोल, सीसा-जल (Aq. Plumbi 2%)।

जब तीव्र शोथी क्षति के केंद्र में पूयस पैठन उपस्थित होता है, तब निष्पैठक लोशन का उपयोग किया जाता है: एथोक्सीदिअमिनोअक्रीदीन लाक्तात का 0.1 प्रतिशतीय घोल (रीवानोल), निव्रोफुराजोन घोल (1:5000), पोटाशियम परमैंगनेट का 0.05 प्रतिशतीय घोल, रेज़ोर्सिन का 1-2 प्रतिशतीय घोल।

बोरिक अम्ल के घोल वाले लोशन बच्चों के लिये अत्यंत सावधानी से प्रलिखित करने चाहिये, क्योंकि इसका गारक प्रभाव हो सकता है। रीवानोल (दे० ऊपर) और निव्रोफूराजोन के लोशनों का उपयोग बहुत कम है क्योंकि ये परोर्जिक प्रभाव डालते हैं।

गीली पुल्टिस (wet dressing). यह पट्टी वैसे ही तैयार की जाती है, जैसे लोशन की; लेकिन इसमें रुई की अधिक तहें होती हैं (8 से 12) और पुल्टिस इतनी जल्दी-जल्दी नहीं बदली जाती (आधे से एक घंटे या इससे भी अधिक समय तक; जब वह सूख जाती है)। गीली पुल्टिस को जलशोषी रूई से ढक कर पट्टी से बांध देते हैं। ऐसी पुल्टिस से तीव्र शोथ के लक्षण दूर होते हैं क्योंकि धीरे-धीरे वाष्पित होने वाला घोल त्वचा को शीतल करता है (यद्यपि इसकी शीतकारी क्रिया लोशन से कम ही होती है)।

परिरंजक (paints) पीड़ाग्रस्त क्षेत्र पर लेपे जाते हैं; इसके लिये निम्न के जलीय या अल्कोहलिक घोल प्रयुक्त होते हैं: अनीलीन अभिरंजकों (अर्थात् चमकदार हरा) के 1-2 प्रतिशतीय, कार्बोलिक अम्ल का 1.0-1.5 प्रतिशतीय, तूतिये का जलीय 2-10 प्रतिशतीय या सिल्वर नाइट्रेट का जलीय 2-10 प्रतिशतीय घोल।

शेक लोशन (shake lotion) जलीय या तैल घोल होते हैं। ये चूर्ण ही होते हैं, लेकिन पानी व ग्लीसेरिन में निलंबित अवस्था में रहते हैं, ताकि इन्हें लगाने पर ये लंबे समय तक त्वचा से गिरें नहीं। जब जल वाष्पित हो जाता है, चूर्ण (लोशन में इनका अंश 30 से 45 प्रतिशत तक होता है) त्वचा पर पतली एवं समरूप परत बना लेते हैं और ग्लीसेरिन के कारण लंबे समय तक वहां चिपके रहते हैं। लोशनों की तरह ये भी प्रतिशोथी एवं शुष्कर प्रभाव डालते हैं।

चूर्ण द्रव्य के रूप में अधिकांशतः जिंक आक्साइड, टैल्कम, काओलिन तथा स्टार्च का उपयोग होता है। जलीय शेक लोशनों का प्रभाव चूर्णों जैसा ही होता है: प्रतिशोथी, प्रतिकंडुक, और जलन की अनुभूति में छुटकारा। जलीय-अल्कोहलिक शेक लोशनों में 96 प्रतिशत एथिल अल्कोहल होता है।

Rp. Zinci oxydi
Talci veneti
Amyli tritici āā 30.0
Glycerini
Sp. vini rectif. 96% āā 25.00
Aq. destill. ad 220.0
MDS. स्थलिक प्रयोगार्थ (जलीय शेक लोशन)

तैल शेक लोशन चूर्ण द्रव्य और कोई तरल तेल मिलाने से बनते हैं। इसमें सूरजमुखी के बीज का तेल, अंडे के बीज का या वाजेलीन का तेल प्रयुक्त होता है। लोशन में 30 प्रतिशत जिंक आक्साइड और 70 प्रतिशत वनस्पति-तेल होता है। तैल शेक लोशन त्वचा को मुलायम करते हैं, जलन की अनुभूति दूर करते हैं, शल्क व खट्टी हटाने में सहायक होते हैं।

Rp: Zinci oxydi 30.0
Ol. Helyanthi 70.0
MDS. स्थलिक प्रयोगार्थ (तैल शेक लोशन)

शेक लोशनों में सल्फर, इख्थाम्मोल, टार, मेंथोल आदि के प्रसाधन भी मिलाये जा सकते हैं। उपयोग से पहले जलीय या तैल निलंबनों को खूब अच्छी तरह हिला लेते हैं, फिर ललामी से ग्रस्त स्थल पर लेपते हैं। लोशन चर्म पर शीघ्र ही सूख जाता है। इन्हें स्रावरत सतह या शिरोवल्क पर नहीं लगाना चाहिये।

पेस्ट (pastes) भारानुसार समान अनुपात में लिये गये चूर्णों को किसी तैल द्रव्य (लानोलिन, पेट्रोलियम जेली, अर्थात् वाजेलीन आदि) में सान कर बनाये जाते हैं। अधिकृत जिंक-पेस्ट का अवयवानुपात निम्न है:

Rp: Zinci oxydi
Amyli tritici āā 10.0
Vaselini 20.0
MDS. स्थलिक प्रयोग के लिये

Rp: Zinci oxydi
Talci pulverati
Lanolini
Vaselini āā 10.0
MDS.स्थलिक प्रयोग के लिये

पेस्ट शेक लोशनों से अधिक गहराई में पहुँचते हैं पर वे मलहमों से कम सक्रिय होते हैं; इनका प्रभाव [illegible] होता है। गुंथे हुए आटे की तरह का गाढ़ापन होने के कारण ये बिना पट्टी के भी लगाये जा सकते हैं। इन्हें शिरोवल्क पर नहीं लगाया जाता, यदि वहां किसी प्रकार का स्राव होता है। पेस्ट को त्वचा पर दिन में एक या दो बार लगाया जाता है और तीन दिन में एक बार उसे वनस्पति तेल में भीगी रूई से साफ करते हैं।

मुलायम (या नर्म) पेस्ट चूर्ण कम मात्रा में चूर्ण द्रव्य डालने से बनते हैं। यदि सुसंकेतित हो, तो नाफ्थालान, इख्थामोल, सल्फर के प्रसाधन और टार मिलाये जा सकते हैं।

मलहम (ointment) किसी तैल पदार्थ (पेट्रोलियम जेली, नाफ्थालान, लानोलिन, लार्ड, आदि) में एक या अधिक दवाएं समरूपता से सान कर बनाये जाते हैं; सभी घटक रसायनिक रूप से परस्पर उदासीन होने चाहिये, ताकि त्वचा पर क्षोभ न उत्पन्न करें; उनमें नर्म, प्रत्यास्थ गाढ़ापन होना चाहिये, जो शारीरिक तापक्रम के प्रभाव से परिवर्तित न हों।

मलहम के आधार के रूप में आजकल संश्लिष्ट (कृत्रिम) द्रव्यों का प्रचलन बढ़ रहा है; इनमें मुख्य हैं: एथीलीन ओक्सीद (आक्साइड) के बहुलक, सेलुलोज के व्युत्पाद, सोर्बितोल के एस्टेर, तथा उच्चतर वसीय अम्ल आदि। इस प्रकार के आधार वाले मलहम त्वचा को अधिक अच्छी तरह बेध पाते हैं और उनमें मिश्रित दवाओं से सरलतापूर्वक अलग हो सकते हैं; उनका आक्सीकरण या विघटन नहीं होता और वे त्वचा पर अच्छी तरह सहन हो जाते हैं।

मलहमों का प्रभाव गहरा होता है, इसीलिये वे चिरकालिक एवं अवतीव्र रोगों में, चर्म में शोथी अंतर्स्यंदन की स्थिति में प्रलिखित किये जाते हैं (विघटक या केराटोप्लास्टिक मलहम)। नाफ्थालान, टार, तथा इख्थाम्मोल – ये द्रव्य केराटोप्लास्टिक हैं। शृंगी परत को अलग करने वाले द्रव्य (केराटोलीटिक या शृंगलयकारी द्रव्य) सालीसीलिक अम्ल (मलहम में इसकी सांद्रता 3 प्रतिशत से ऊपर), बेंजोइक व लाक्तिक (लैक्टिक) अम्ल हैं। इन द्रव्यों के बारे में सविस्तार अधिचार्म तृणत्व की चिकित्सा से संबंधित अनुच्छेद में बताया गया है।

प्रचलित मलहम निम्न हैं: 2-10 प्रतिशत सल्फर-युक्त, 2-3 प्रतिशत टार-युक्त, 1-3 प्रतिशत अमोनित पारा युक्त, 2 प्रतिशत सालीसीलिक अम्ल से युक्त, 2-5 प्रतिशत इख्थाम्मोल-युक्त, 2-3 प्रतिशत नाफ्थालान-युक्त मलहम। प्रतिजीवकों से युक्त मलहम भी होते हैं: 2.55 प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन [illegible] आदि से युक्त। इंटरफेरोन-मलहम, फ्लोरेनाल व ओक्सालान के मलहम, गोस्सीपोल आदि बुदबुदियावत शैवाक तथा कटिबंधक विसर्प की चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

कोर्टिकोस्टेरोइड-प्रस्तुतों के मलहम भी बहुत लोकप्रिय हैं, जैसे: फ्लूसीनार (0.025 प्रतिशत फ्लुओसीनोल [illegible] से युक्त), फ्लोरोकोर्त (0.1 प्रतिशत त्रिआमसिनोलोन आसेतानीद से युक्त), प्रेद्नीजोलोन मलहम, उल्ट्रालान (0.25 प्रतिशत फ्लुओकोर्तोलिन-युक्त), सेलेस्टोदेर्म (या सेलेस्तोन [illegible] 0.1 प्रतिशत बेता मेथाजोन 17-वालेरिआनात से युक्त), हिद्रोकोर्तीजोन मलहम, डिपेरजोलोन मलहम, कोर्टिकोस्टेरोइडों व प्रतिजीवकों के मलहम – ओक्सीकोर्त (1 प्रतिशत ओक्सीतेत्रामिक्लीन [illegible] और 1 प्रतिशत हिद्रोकोर्तीजोन आसेतात से युक्त), हिओक्सीजोन (3 प्रतिशत ओक्सीतेत्रामिक्लीन हिद्रोक्लोरीद और 1 प्रतिशत हिद्रोकोर्तीजोन आसेतात से युक्त) जिसमें नेओमीसिन के साथ विओफोर्म या टार भी मिला होता है, देर्मोजोलोन (प्रेद्नीजोलोन-युक्त), लोरिदेन [illegible] प्रेद्नीजोलोन-युक्त, मोनोमीसिन-प्रेद्नीजोलोन का मलहम (10mg मलहम में 1[illegible] प्रतिजीवक तथा 0.1g प्रेद्नीजोलोन होता है)।

मलहम त्वचा पर [illegible] जाता है, ऊपर से कोई पट्टी वगैरह नहीं बांधी जाती। कभी-कभी कपड़े पर उसकी पतली [illegible] फैला कर पैठन-केंद्र के ऊपर लगा कर पट्टी बांधा जाता है, पर इस रीति का उपयोग बहुत कम होता है। मलहम दिन में एक या दो बार लगाया जाता है। बहुतेरे बुरुश और [illegible] से त्वचा पर मलहम कस कर मलते हैं।

क्रीम (cream) का उपयोग शुष्क त्वचा पर होता है, जिसकी लोच (प्रत्यास्थता) लुप्त हो [illegible] है और जो [illegible] शोथग्रस्त होती है। क्रीम में निहित जल त्वचा को शीतल रखता है [illegible] प्रकार प्रतिकूल प्रभाव डालता है। क्रीमों को त्वचा अच्छी तरह सहन करती है, लेकिन [illegible] में इससे [illegible] उत्पन्न होता है, उनके लिये वाजेलीन की जगह अंडी या सूरजमुखी [illegible] का, या लानोलिन (Lanolini, Vaselini, Aq. Calcis aā) [illegible] के उद्योग द्वारा उत्पादित अन्य क्रीम भी विस्तृत रूप से प्रचलित हैं। [illegible] क्रीम में [illegible] की जगह वनस्पति-तेल (जैतून, आड़ू, सूरजमुखी, एरंड) का उपयोग [illegible] Heyanthi, Aq. destill. aā.

[illegible] प्लास्टर का आधार तैल (या वसीय) द्रव्य के साथ-साथ मोम [illegible] कभी-कभी [illegible] काउचुक (कच्चा रबड़, रबड़-वृक्षों का रस) आदि भी होते हैं। [illegible] प्लास्टर में [illegible] होती हैं: पूरिया, सालीसीलिक अम्ल, फेनोल आदि। सालीसीलिक [illegible] प्लास्टर [illegible] की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है (Ac. Salicylici, Am-

plastri plumbi āā 50.0)। प्लास्टर मलहम की तुलना में अधिक गाढ़ा और चिपकदार होता है और अधिक गहराई पर पहुँचता है। प्रयोग से पहले इसे गर्म करते हैं और यह त्वचा से कस कर चिपका रहता है।

वार्निश (varnish) ऐसा घोल होता है, जो त्वचा पर बहुत जल्द सूख कर एक पतली झिल्ली में परिणत हो जाता है। वार्निश में अक्सर कोलोडिओन (collodii 97.0, Ol. Ricini 3.0) होता है, जिसके साथ कोई दवा मिलायी जाती है (सालीसीलिक अम्ल, रेजोरसीनोल, ग्रीज़ोफुल्विन, आदि)। वार्निश का उपयोग तभी किया जाता है, जब सीमित क्षेत्र में गहराई पर स्थित ऊतकों पर प्रभाव डालना वांछित होता है।

Rp: Ac. lactici
Ac. Salicylici
Resorcini āā 10.0
Ol. Ricini 3.0
Collodii ad 100.0
MDS. तलवों पर ठेला, साधारण मसा तथा कवकग्रस्त नरव पर लेप के लिये।

अभिक्रिया की प्रकृति के अनुसार स्थलिक दवाएं निम्न ग्रुपों में बाँटी जाती हैं: प्रतिशोथी, कसैल द्रव्य, कवकमारक, आदि। इस तरह का विभाजन शैक्षणिक दृष्टि से लाभकर होता है, फिर भी यह औपचारिक तथा परंपरागत है, क्योंकि किसी भी दवा का प्रभाव उसके रूप और उसकी सांद्रता पर भी निर्भर करता है। इस संदर्भ में रेजोरसिनोल का उदाहरण दिया जा सकता है: इसके केराटोप्लास्टिक (अल्प सांद्रता होने पर), शृंगलयकारी (कुछ अधिक सांद्रता पर) तथा कसैले (और भी ऊंची सांद्रता पर) प्रभाव होते हैं। टार एक सामान्य केराटोप्लास्टिक द्रव्य है, लेकिन यह प्रतिशोथक तथा प्रतिकंडुक प्रभाव भी डालता है। 3 प्रतिशतीय सालीसीलिक अम्ल हल्के केराटोप्लास्टिक साधन का काम करता है, जबकि कुछ ऊँची सांद्रता पर यह शृंगलयकारी प्रभाव डालता है।

लोशन, चूर्ण, जेल, लोशन, पेस्ट तथा साथ ही कॉर्टिकोस्तेरोइद-मलहम में प्रयुक्त सभी दवाएं प्रतिशोथी साधन होती हैं।

केराटोप्लास्टिक, या अवकारी साधन भी अल्पसांद्रता पर प्रतीशोथी प्रभाव डालते हैं। इनमें निम्न की गणना होती है: इक्थामोल, सल्फर के प्रसाधन, टार, पारा, नाफ्थालान-तेल, नाफ्थालान आदि; ये सब मुख्यतः बिना तीव्र शोथ वाली चिरकालिक चर्म-क्षतियों में मलहम और पेस्ट के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

शृंगलयकारी (केराटोलीटिक) साधनों में मुख्यतः विभिन्न अम्लों की गणना होती है (सालीसीलिक, लाक्तिक, बेंजोइक अम्ल अधिकतम प्रचलित हैं); इन साधनों के रूप में क्षारों का भी उपयोग होता है – 3-10-15 प्रतिशत सांद्रता पर, शृंगी परत के सतही भाग पर शल्कन के लिये।

प्रतिकंडुक साधन दो ग्रुपों में बाँटे जाते हैं। प्रथम ग्रुप में वे साधन आते हैं, जो घोल, मलहम या क्रीम में प्रयुक्त हो कर सिर्फ प्रतिकंडुक प्रभाव डालते हैं, जसे: मेंथोल, अनेस्थेजिन (बेंजोकेइन benzocaine), ख्लोरेतोन (ख्लोरबूतानोल), विनेगार का घोल, थीमोल, प्रतिहिस्टामीनिक प्रसाधन, ख्लोरल हाइड्रेट, आदि। दूसरे ग्रुप के साधन प्रतिशोथी या केराटोप्लास्टिक प्रभाव डालते

है और इसी की बदौलत खुजली से भी राहत देते हैं; इनमें निम्न की गणना होती है: टार और सल्फर के प्रसाधन, सालीसीलिक अम्ल, कोर्तिकोस्तेरोइद (मलहमों व क्रीमों में)।

निष्पैठक (प्रतिसूपक) तथा प्रतिपरजीवक दवाएं ऐसे साधनों के घटक हैं, जो सिर्फ निष्पैठक प्रभाव डालते हैं, या सिर्फ प्रतिपरजीवक प्रभाव डालते हैं। इन साधनों का ग्रुप बहुत बड़ा है: ग्लिसरीन, अल्कोहल, बोरिक अम्ल, एथोक्सीडिआमीनोआक्रीदीन लाक्तात, अनीलीन अभिरंजक, हाइड्रोजन पेरक्साइड, सालीसीलिक अम्ल, रेजोरसीनोल, थीमोल, बेंजोइक अम्ल, सल्फर व टार के प्रसाधन प्रतिजीवक, सुल्फोनामीद, देर्मातोल (बिस्मथ सुबगालात या सबगैलेट), क्सेरोफोर्म, बेंजिल बेंजोएत (बेंजोइक अम्ल बेंजिल ईथर), आदि।

कस्टिक व काउस्टिक साधनों में निम्न की गणना होती है: सालीसीलिक अम्ल और रेजोरसीनोल (उच्च सान्द्रण के साथ), सिल्वर नाइट्रेट, लाक्तिक अम्ल, पोडोफिलिन का घोल, आर्सेनिक, ट्रिक्लोरो-आर्सेनिक (ऐसेटिक) एवं त्रिक्लोरो-आर्सेतिक अम्ल, काउस्टिक क्षार, आदि।

चिरकालिक परोर्जी चर्मक्लेशों से ग्रस्त रोगियों का संयम (मूल सिद्धांत)

परोर्जिक चर्मरोगों की चिकित्सा व निरोध में पथ्य की भूमिका। अनेक परोर्जिक चर्मरोगों की चिकित्सा और विज्ञान-सम्मत निरोध तभी सम्भव है, जब आहार उचित ढंग से नियोजित होता है। आहार में ऐसे खाद्य पदार्थ होने चाहिये, जो शरीर में विटामिनों, प्रोटीनों, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा सूक्ष्म पोषक तत्त्वों की आवश्यकता पूरी करें और परोर्जिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध इम्यूनता के विकासार्थ अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करें।

प्रोटीन-युक्त भोजन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि यह आहार का अनिवार्य अंग है। प्रोटीन की कमी से शरीर का वर्धन मंद होता है, द्रव्य-विनिमय की प्रक्रियां गड़बड़ा जाती हैं, उच्च नर्विक क्रियाओं में विकार आता है, और यकृत अधोजठर-ग्रंथि व अन्य आंतर अंगों के कार्य में परिवर्तन आ जाते हैं। प्रोटीन पैठी एवं अपैठी इम्यूनता-विधि के बनने (अर्थात् रक्षी प्रतिकायों के बनने, मोर्फोकिनेसिस के विकास आदि) में सक्रिय भूमिका निभाता है।

मध्य कार्बोहाइड्रेट और वसा रक्षी प्रतिकायों की संरचना में योगदान देने वाले गामा ग्लोबुलिनों का संश्लेषण कम करते हैं, ऊतकों की शोथ-क्षमता बढ़ाते हैं, संवेदीकरण में सहायक होते हैं। आहार में कम खनिज लवणों तथा सूक्ष्म पोषक तत्त्वों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। ये हार्मोनों, विटामिनों, प्रतिकायों तथा खमीरों के संश्लेषण के लिये आवश्यक होते हैं और कोशिका प्रोटीनों के क्षय को रोकने, रक्त व ऊतकीय द्रवों के ओस्मिक दबाव को निश्चित स्तर पर टिकाये रखने की क्षमता पर अनुकूल प्रभाव डालते हैं।

असंतुलित आहार परोर्जी चर्मक्लेशों के पुनरावर्तन में सहायक हो सकता है, या उन्हें तीव्र कर सकता है। उदाहरणार्थ, बच्चों में पित्ती, क्वाशियोर्कर में कंडु, बाल-दद्रु (बच्चों में दिनाइ) प्रायः बड़े बच्चों को होते हैं; अपसामान्य आहार (अपथ्य) दिनाइ, नार्वचर्मशोथ तथा अन्य परोर्जिक चर्मरोगों को बड़ों तथा बच्चों दोनों में ही उग्र कर देता है।

किन खाद्य पदार्थों के प्रति अधिक अधिक संवेदिता होती है, उन्हें (जैसे अंडे, दूध, टिनबंद खाद्य पदार्थ, संतरे जाति के फल, छत्तक, सौसेज, मछली, केंकड़े, हिसालु या स्ट्राबेरी, चाकलेट, कॉफी आदि को) आहार में शामिल करने पर परोर्जिक चर्मरोगों को तीव्र उत्प्रेरण मिलता है। मसालेदार मसाले, चटपटे, धूमित (धुएं में सिझाया हुआ) व अत्यधिक नमकीन खाद्य पदार्थ भी चिरकालिक परोर्जिक चर्मक्लेशों के प्रवाह को उग्र करते हैं। दुग्ध-उत्पादों तथा सब्जियों

का अंश वयस्क के आहार में अधिक होना चाहिये; नमक से परहेज रखना चाहिये। सिझाया (उबाला) हुआ मांस, कम चर्बी वाली (अर्थात् मीठे जल की) मछलियां, घरेलु पनीर, केफिर तथा अन्य खट्टे दुग्ध-उत्पाद, कूटू व जई की खीर, सब्जियों से बनाया गया सूप, फल व सब्जिया लाभकर होती हैं।

तल्पिक अनुभव बताते हैं कि किसी भी खाद्य पदार्थ के प्रति अतिसंवेदिता अर्जित अथवा जन्मजात होती है।

उदाहरणार्थ, छोटे बच्चे अक्सर दूध में निहित काजेइन के प्रति संवेदिता बढ़ा लेते हैं और इस तरह उन बच्चों में दिनाइ और कंडु जैसे रोग विकसित होने की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ लोग (बड़े बच्चे और वयस्क) आहार में अंडे की सुफेदी, चाकलेट, नीबू जाति के फलों, गाय के प्राकृतिक दूध, मछली, पनीर, छत्तक, स्ट्राबेरी, शहद आदि से भी प्रतिक्रिया करने लगते हैं।

बीमार बच्चे के लिये पथ्य महत्त्वपूर्ण होता है और वह बच्चे की सामान्य अवस्था एवं शारीरिक गठनात्मक विशेषताओं द्वारा निर्धारित होता है।

पयोपा को यदि अपनी माँ का दूध नहीं पिलाया जा सकता तो उसे जीवन के प्रथम महीनों में कम से कम कुछ समय के लिये किसी स्त्री का दूध या गाय का मलाई निकाला हुआ दूध या विशेष आयन-विनिमायक दूध देना चाहिये। चर्म से रिसाव एवं शोथी संवृत्तियों के लुप्त होने, खुजली से राहत मिलने और नींद में सुधार होने पर आहार-संबंधी सारे निषेध धीरे-धीरे हटा लिये जाते हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि परोर्जिक चर्मरोगियों के आहार से (विशेषकर यदि वह बच्चा है) प्रोटीन दूर करने की आवश्यकता का पर्याप्त प्रमाण होना चाहिये, क्योंकि बच्चे को लंबे समय तक प्रोटीन से वंचित रखने पर उसके वर्धन और उसके शरीर की प्रतिरक्षी शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

गाय के दूध, अंडे, शक्कर तथा कुछ अन्य खाद्य खाद्य पदार्थ पर अस्थायी निषेध डालने पर अन्य संपूरक पदार्थ देने चाहिये जैसे केफिर (दही), पनीर, फल और सब्जियां, आदि। चाकलेट, टिनबंद भोजन, मिठाई, नीबू जाति के फलों के प्रति अतिसंवेदिता हो या न हो, इन पर रोक लगाना अच्छा रहता है।

गर्भवती या दूध पिलाने वाली स्त्री के आहार पर शिशु (नवजात एवं पयोपा) का स्वास्थ्य निर्भर करता है, अतः ऐसी स्त्री का आहार-संयम शिशु में परोर्जिक चर्मरोगों की रोक-थाम के लिये महत्त्वपूर्ण है। सगर्भता-काल तथा बच्चे को दूध पिलाने की अवधि में स्त्रियों को निम्न से परहेज रखना चाहिये: अंडे, मछली, शूकर-मांस, कलेजा, चाकलेट, शहद, नमकीन व टिनबंद भोजन, स्ट्राबेरी और नीबू की जाति के फल। वसा (चर्बी), विशेषकर चर्बिल मांस व मछली कम खानी चाहिये, मांस का सूप खाने की सलाह बिल्कुल नहीं दी जाती। प्रोटीन-पूर्ण आहार वांछनीय है; खट्टे दुग्ध-उत्पाद (केफिर, दही, पनीर, फेंटा या फटा दूध), ताजा कोमल मांस, मुर्गी, कम चर्बी वाली मछली (कोड, हिलसा, पाइक, कवई) आदि लाभकर हैं। वसा 30g वनस्पति तेल (सुरजमुखी, मक्के या जैतून के तेल) के अतिरिक्त मक्खन के रूप में दी जाती है। खनिज लवणों, विटामिनों खमीरों व सूक्ष्म पोषक तत्त्वों की वर्धित मात्रा फल, सब्जी तथा चोकरयुक्त आटे की रोटी के माध्यम से प्राप्त होती है। गर्भवती या दूध पिलाने वाली स्त्री का विवेकसंगत आहार बच्चे में परोर्जिक चर्मक्लेशों के विकास को रोकता है या (अनुयुक्त चिकित्सा के साथ मिल कर) स्वास्थ्यलाभ को संप्रेरित करता है।

1 से 3 वर्ष की उम्र के लिये प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट का शरीरलोचनी दृष्टि से विवेकसंगत अनुपात 1:1:3.5 है। आहार दिन में चार या पाँच बार अलग-अलग मात्राओं में देते हैं। नाश्ते और लंच (11 बजे के करीब खाने) में दैनिक खुराक का 25 प्रतिशत प्रोटीन होना चाहिये, दोपहर के खाने में 35 से 40 प्रतिशत तक, संध्या चाय में (करीब 5 बजे शाम को) 10 से 15 प्रतिशत, और रात्रि-भोजन में 25 प्रतिशत होना चाहिये। 12 महीने से अधिक के बच्चे को रात में खिलाना धीरे-धीरे बंद कर देना चाहिये, उनकी भोजनचर्या दिन में ही सीमित रखनी चाहिये।

सब्जियां (गाजर, गोभी, पालक, मटर, सोरेल, सलाद) और फल प्रचुर मात्रा में देना चाहिये, ताकि बच्चे को पर्याप्त खनिज लवण और विटामिन मिल सकें। मांस का सूप या भूना हुआ मांस नहीं देना चाहिये; इसका उद्देश्य निस्सारक एवं उद्दीपक आहार पर रोक लगाना है। बच्चों को सब्जियों का सूप और उबाल कर सिझाया हुआ मांस देना चाहिये। रिसालु पारश्लेषण चिरकालिक पुनरावर्ती चर्मरोगों से ग्रस्त बच्चे को नमक (साधारण नमक) कम देना चाहिये और वसा की शरीरलोचनी मानक खुराक (3.5-4.0 g/kg) 3.0-3.5g/kg तक घटा देनी चाहिये। कार्बोहाइड्रेट और वसा की मात्रा में कटौती का संपूरण प्रोटीन की मात्रा में बढ़ोत्तरी से करना चाहिये।

आहार में निम्न पदार्थों का वहिष्कार अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है: शूकर-मांस, मसाले, चाकलेट, ककाव, शहद, नीबू जाति के (सीत्रुस) फल, स्ट्राबेरी, खुबानी, सतालु (खासकर टिन में पैक्ड) तथा नमकीन खाद्य पदार्थ। मछली और अंडे की मात्रा कम कर दी जाती है या बिल्कुल निषिद्ध कर दी जाती है। यह व्यक्तिगत सहनशीलता पर निर्भर करता है।

कुछ बच्चे उबले अंडे की जर्दी अच्छी तरह आत्मसात कर लेते हैं (साढ़े चार महीने के बच्चे को आधी जर्दी दी जा सकती है), लेकिन सुफेदी बिल्कुल ही नहीं, विशेषकर अंडा यदि पूरी तरह उबला न हो। ऐसे बच्चों को सुफेदी से अक्सर कंडुक क्षतियों के स्फोट हो जाते हैं (जैसे चित्तियां, पिटक, वस्तिका दिनी)। कठोर उबले अंडे में प्रोटीन के सूक्ष्म विकीर्ण कण नहीं होते, जो रक्त में सीधे पहुँच जाते हैं, इसीलिये कच्चे या अधपके अंडे की तुलना में उसका परोर्जक प्रभाव कम तीव्र होता है।

नैसर्गिक स्तनपान द्वारा पोषित सभी बच्चों को नित्य 30-50mg आस्कोर्बिक अम्ल (विटामिन 'सी') अवश्य देना चाहिये। विटामिन 'बी'-संकुल का चूर्ण-रूप वयसंगत (उम्र के अनुसार) खुराकों में देना चाहिये।

रिसालु पारश्लेषण से ग्रस्त बच्चे में माँ के दूध के प्रति अतिसंवेदिता कम करने के लिये उसे स्तनपान कराने से 15-20 मिनट पहले स्तन से दोहित दूध की 10-15 बूंदें देना लाभप्रद होता है।

पयोपा को रस एक महीने की उम्र से दिया जा सकता है। गाजर, चुकंदर, पत्ता-गोभी, सेब आदि के रस की दो से चार बूंदें (शुरू में) नित्य देनी चाहिये; छे महीने तक की उम्र तक यह मात्रा धीरे-धीरे 40-50ml तक बढ़ायी जाती है। परोर्जिक चर्मक्लेश से ग्रस्त बच्चे को अंगूर या सीत्रुस फलों का रस नहीं देते। जीवन के प्रथम दो या तीन सप्ताह B-केफिर (आधा केफिर और आधा माँड़) दिन में एक या दो बार स्तन-पान के बदले में दिया जाता है; इसके बाद तीन महीने की उम्र तक V-केफिर (एक तिहाई केफिर और दो तिहाई माड़) दिया जाता है। इस उम्र के बाद पूरा केफिर (200ml

नित्य) दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, 4 महीने की उम्र से बच्चे को छना हुआ सेब (शुरू में आधा मँझला चम्मच प्रति दिन, फिर छीरे-धीरे बढ़ाते हुए दो बड़े चम्मच तक) और शुष्क छेना (शुरू में आधा से एक मंझला चम्मच, फिर क्रमशः बढ़ाते हुए, साल भर की उम्र में 50g तक) खिलाना चाहिये।

कृत्रिम पोषण 5 महीने की उम्र से अवश्य शुरू कर देना चाहिये, चाहे माँ के स्तन में दूध पर्याप्त भी क्यों न हो। एक बार में एक से अधिक प्रकार के खाद्य-पदार्थ देना अवांछनीय है। बच्चे को पहले एक प्रकार के भोजन का आदी होना चाहिये और इसके बाद ही कोई नया प्रकार देना चाहिये (लेकिन दो सप्ताह से पहले नहीं)। बच्चे को खाना स्तनपान से पहले खिलाना चाहिये; शुरू-शुरू बहुत छोटी मात्रा देते हैं, फिर धीरे-धीरे बढ़ाते हैं। खट्टे दुग्ध-उत्पाद, सब्जी उबाले हुए पानी में जई या कूटू की दलिया, सब्जियों का भरता, फल देना वांछनीय है। आठ महीने की उम्र में उबला हुआ मांस पीस कर दिया जा सकता है – शुरू में एक बड़ा चम्मच, फिर 12 महीने की उम्र तक 50g।

सगर्भता के अंतिम महीने यदि जाड़े में बीत रहे हैं, तो भावी माँ के पूरे शरीर पर क्वार्ट्स-विकिरण देना चाहिये (उपललामिक खुराक) – तीन दिन में एक बार, कुल 10 से 15 बार (यह उन देशों के लिये महत्त्वपूर्ण है, जहाँ जाड़ों में धूप की कमी होती है – अनु.)।

परोर्जिक अवस्था के विकास और स्थायित्व में चिरकालिक पैठन-केंद्रों और कृमिक्लेशों की प्रमुख भूमिका को ध्यान में रखते हुए उनका इलाज करना चाहिये और प्रतिकृमिक थेरापी प्रयुक्त करनी चाहिये यह सगर्भता-काल में भी तथा बच्चों व बड़ों के लिये भी आवश्यक है।

[illegible] और घर्षण से या गंदगी पड़ने से यांत्रिक तथा रसायनिक क्षोभ उत्पन्न हो सकते हैं [illegible] इन्हें बचाना चाहिये। त्वचा पर [illegible] (झुर्रियों) वाले स्थलों को कपड़े के साथ घर्षण से और [illegible] कर मुलायम होने (मसृणन) से बचाने पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

शरीर को बहुत गर्म या ठंडा करने वाले घटकों तेज धूप, गर्म मौसम, तेज हवा, हवा की आर्द्रता आदि के प्रति अनावृति (खुलापन) कम करनी चाहिये। क्रीमिया और कास्पियन सागर के दक्षिण तट [illegible] दक्षिणी कजाख्स्तान में, अर्थात् गर्म, शुष्क जलवायु वाली जगहों पर दीर्घकालीन आवास उन रोगियों के लिये सुकेतित है, जिनका चिरकालिक परोर्जिक चर्मक्लेश उपशमित या अनीह अवस्था में है। इन अवस्थाओं में समुद्र-स्नान के साथ-साथ खुराक-बंधित सूर्य-चिकित्सा और साथ ही सल्फाइड (सल्फेरेटेड) हाइड्रोजन या रेडन से युक्त जल में स्नान की सलाह दी जाती है; ऊँचाई (समुद्र-स्तर से 1200m से अधिक) पर अस्थायी आवास भी लाभदायक है

परोर्जिक चर्मक्लेशों के रोगियों को वृत्तिक तथा घरेलू परोर्जक वस्तुओं से बच कर रहना चाहिये, जैसे धूल से, तकिये में प्रयुक्त चिड़ियों के पंखों, फूलों के पराग, ऊनी वस्त्र, फर, रोगन, संश्लिष्ट कपड़ों, कुछ पौधों व दवाओं से।

चूँकि कई साबुन भी परोर्जिक चर्मक्लेशों को उग्र कर देते हैं, रोगियों को स्वास्थ्य-वर्धक आनुषंगिक स्नान की सलाह दी जाती है; इसमें जल के साथ कोई चिकित्साकारी द्रव्य मिलाते हैं, जैसे – पोटाशियम परमैंगनेट, भूसी, स्टार्च (अरारूट), पौधों (गेंदा, बलुत की छाल, सहस्रपर्णा, संत जोन की बूटी, सेज या साल्विया ओफीसीनालिस) का काढ़ा। साबुन (विशेषकर बच्चों के लिये बने साबुन) का उपयोग उपशमन के चरण पर होता है, या जब तीव्र शोथी प्रक्रिया शांत होने लगती है।

चिरकालिक परोर्जिक चर्मक्लेश से ग्रस्त बच्चों व बड़ों में इमूनलोचनी प्रतिरोध क्षीण होता है और खुजलाने से उत्पन्न निस्त्वचन पठन-द्वार बन जाते हैं। ऐसे लोगों को चर्मपूयता तथा अन्य पैठी चर्मरोगों से ग्रस्त लोगों के साथ संपर्क से बचना चाहिये; उन लोगों के साथ भी, जिनमें टीका को लेकर चर्म-प्रतिक्रिया होती है (टीकाजनित रोग)।

चिरकालिक परोर्जिक चर्मक्लेश से ग्रस्त बच्चों का पैठी रोगों के विरूद्ध निरोधक इमूनीकरण किया जाता है—उपशमन-काल में, इमूनीकरण -कार्यक्रम के अनुसार। इसमें इमूनीकरण के प्रति सुसंकेतों और प्रतिसंकेतों को बहुत कड़ाई के साथ ध्यान में रखा जाता है। ऐसे बच्चों में सामान्य स्वास्थ्यकारी आदतें यथसंभव शीघ्र डालनी चाहिये। शरीर को कठोर करने और ताजी हवा के सेवन की सलाह दी जाती है। त्वचा की बड़ी सलवटों पर बेबी पाउडर छिड़का जाता है; त्वचा तथा बालों को विशेष बेबी शैंपू से साफ किया जाता है, जो नेत्र-युतिका को क्षोभित नहीं करता।

इस प्रकार, परोर्जिक चर्मरोगों की चिकित्सा और निरोध में कई युक्तियों का संकुल प्रयोग में लाया जाता है, जिनका लक्ष्य विभिन्न हेतुलोचनी तथा रोगकारी घटकों को दूर करना है; जैसे सामान्य इमूनलोचनी थेरापिक तथा स्थानिक प्रभाव देने वाली युक्तियों का विवेकसंगत मेल, विवेक संगत आहार, शरीर का कठोरन, रोगशांति और तल्पिक उपशमन के समय खनिज जल-स्रोतों का विस्तृत उपयोग।

बच्चों व बड़ों का चर्म-हाइजिन

बच्चों और बड़ों में त्वचा की हाइजिनिक देख-भाल अनेक चर्मरोगों के निरोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। त्वचा से धूल, गंदगी, वपास्राव और स्वेद ठीक समय पर साफ करते रहना चाहिये।

मृदु जल से धोना हर प्रकार की त्वचा के लिये अपेक्ष्य है। खारे पानी में कैल्शियम, मैग्नेशियम तथा लोहा के लवणों की बहुलता होती है, जो पतले तथा शुष्क चर्म के लिये विशेष हानिकर होते हैं। इससे त्वचा और भी शुष्क एवं रुक्ष हो जाती है, जिससे शोथ संप्रेरित होता है। इसका बालों पर भी हानिकर प्रभाव पड़ता है। पानी को मृदु बनाने के लिये उत्तम विधि है—उसे लंबे समय तक उबालना। अन्य विधियां भी हैं—सोडियम बोरेट, सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट, पोटाश, जई की भूसी (एक लीटर में आधा बड़ा चम्मच) या ग्लीसेरिन (एक लीटर में एक बड़ा चम्मच) मिलाना। कमरे के तापक्रम पर स्थित पानी से या बदल-बदल कर ठंडे व गर्म पानी से धोना (विवर्यास-उद्दीपन) वांछनीय होता है; अंतिम एक तरह से रक्त-कुंभियों के लिये कसरत है; इससे चर्म का पोषण बेहतर होता है और चर्म में स्थित नर्व-सिराओं पर लाभकारी प्रभाव पड़ता है। साबुन त्वचा को साफ तो अच्छी तरह करता है, लेकिन अत्यधिक उपयोग से वह त्वचा को निस्स्नेहित कर देता है, शृंगी परत को पतली कर देता है तथा अम्लीय व्यवधान को क्षीण देता है। इसीलिये शुष्क त्वचा के लिये अत्यधिक चर्बी से युक्त मुलायम साबुन ही उपयोग करना चाहिये। पतले, सुकुमार चर्म वाले व्यक्तियों को सुगंधित साबुन का इस्तेमाल नहीं करना चाहिये; अतिसंवेदी व्यक्तियों में इनसे अक्सर क्षोभ उत्पन्न होता है।

साबुन-पानी से धोना कम करने के लिये शाम को चेहरे की त्वचा से धूल, पाउडर के अवशेष, वपास्राव आदि हटाने के लिये टायलेट जल (लोशन) उपयोग करने की सलाह दी जाती

है। अल्कोहल से युक्त लोशनों का उपयोग तेलचट त्वचा के लिये होता है और वनस्पति-तेल से युक्त लोशनों तथा तरल इमल्शन-क्रीमों का – शुष्क त्वचा के लिये।

शुष्क त्वचा के लिये क्रीम तथा लोशन बच्चों को तभी लगाया जाता है, जब उन्हें कोई चर्मरोग होता है (भेकचर्मता या मीनचर्मता)।

पयोपा बच्चों के लिये त्वचा की देख-भाल की अपनी विशेषता होती है। उनकी सरलता से क्षोभित होने वाली त्वचा (विशेषकर सलवटों पर) घर्षज चर्मशोथ, चर्मपूयता और खमीरी पैठन के प्रति विशेष सुग्राही होती है। त्वचा पर मल-मूत्र के अवशेष रह जाने से और त्वचा पर घर्षण से उत्पन्न क्षोभ भी एक रोग-संप्रेरक घटक है। इससे बचने के लिये पेट्रोलियम जेली (वाजेलिन), जिंक-तेल या बाल-क्रीम त्वचा की सलवटों पर लगाये जाते हैं। यदि नवजात शिशु के गालों पर "दूधिया पर्पटी" (अतिरक्तिल त्वचा पर चमकदार तैल शल्क) बन जाये, तो सोडियम बोरेट से युक्त क्रीम लगाना चाहिये; क्रीम का गठन है: 2.5g सोडियम बोरेट, 10g जिंक आक्साइड, 10g टैल्क, 5ml आसवित जल, 50g कोई बाल-क्रीम। पालना-छादन (शिरोवल्क पर कस कर जमी हुई पीली-भूरी तैल पर्पटी) दूर करने के लिये सल्फर और विटामिन F से युक्त क्रीम प्रलिखित की जाती है। छोटे बच्चों के नितंबों पर कभी-कभी सीधे विसर्जन-पात्र की किनारी से क्षति के कारण चर्मशोथ विकसित हो जाता है। यदि समय पर इसकी पहचान न हो, तो वह दिनाइ में परिणत हो जा सकता है। जैसे ही इस तरह का निदान हो, विसर्जन-पात्र की जगह छोटी छेदयुक्त कुर्सी का उपयोग शुरू कर देना चाहिये, जिसकी किनारियों तक कोई कपड़ा बिछा हो।

शिरोवल्क पर शुष्क त्वचा और शुष्क बालों वाले व्यक्ति को सर दो सप्ताह में एक बार धोना चाहिये। शिरोवल्क की त्वचा पर अंडी या बर्डोक (burdock) का तेल मलना चाहिये। अतिचर्बिल या औषधयुक्त (सल्फर, कुनैन, सल्फर-इथाइल, सल्फर-टार आदि से युक्त) साबुन प्रयुक्त होता हैं। यदि शिरोवल्क की त्वचा बहुत शुष्क हो, तो साबुन की जगह दो या तीन अंडों की जर्दी मल कर कुछ समय बाद धोने की सलाह दी जाती है। ऐसी परिस्थिति में कोलोन (cologne) जल, शैंपू, तरल टारयुक्त साबुन और अल्कोहलिक घोल का उपयोग नहीं करना चाहिये। ब्रिलियांटीन (अल्कोहल, अंडी के तेल और इत्र का मिश्रण) भी लाभकर होता है।

तेलचट बालों को धोने के लिये पानी में सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट या सोडियम बोरेट मिलाने की सलाह दी जाती है (एक लीटर पानी में आधा मध्यम चम्मच, अर्थात् आधा चाय का चम्मच)। साबुन की जगह शैंपू (बुकनी साबुन और सोडियम बोरेट का मिश्रण), तरल शैंपू (ग्लीसेरिन, अल्कोहल और नर्म साबुन का मिश्रण), तरल टार-साबुन का उपयोग किया जा सकता है। बाल धोने से बीस-तीस मिनट पहले शिरोवल्क पर ढेर सारा खट्टा (फटा हुआ) दूध, दही, केफिर आदि मलने की सलाह दी जाती है; फिर उसे गुनगुने पानी और साबुन से धोते हैं।

सुल्सेन (सेलेनियम डायसल्फाइड) के प्रसाधन (सुल्सेन साबुन, पेस्ट) अक्सर शुष्क बालों के लिये प्रयुक्त होते हैं, विशेषकर यदि उनमें रूसी और खुजली हो। बाल को पहले अतिचर्बिल साबुन से धोते हैं, इसके बाद आर्द्र त्वचा में सुल्सेन साबुन या सुल्सेन पेस्ट का फेन (आधा से एक मध्यम चम्मच) रगड़ कर पाँच से दस मिनट तक के लिये छोड़ देते हैं। इसके बाद गुनगुने पानी से अच्छी तरह धो लेते हैं (सुल्सेन से आँख को बचा कर रखना चाहिये)। नखों की किनारी के नीचे विशेष अच्छी तरह धोना चाहिये, क्योंकि लंबे समय तक सुल्सेन के संपर्क से नख को नुक्सान पहुँचता है। सारी प्रक्रिया ज्यादा से ज्यादा एक बार दुहरायी जाती है; चिकित्सा चार से पाँच बार में संपन्न

होती है। बाल धोने के बाद उसमें कोई पोषक क्रीम लगाया जाता है। तेलचट बालों में सुल्सेन साबुन रूसी और खुजली तुरंत कम कर देता है, लेकिन बालों को और भी तेलचट बना देता है, इसलिये बालों को पहले टार-अल्कोहल से रगड़ते हैं, फिर इस के बाद ही सुल्सेन साबुन उपरोक्त विधि से इस्तेमाल करते हैं। ऐसे बालों के लिये यह प्रक्रिया दो या तीन बार से अधिक नहीं करते; इस से [illegible] दिनों के अंतराल पर।

बच्चों और बड़ों की चिकित्सा के लिये भौतिकीय विधियां

[illegible] की चिकित्सा में भौतिकीय विधियों का विस्तृत उपयोग है। उनका प्रभाव भौतिकीय कारक के [illegible]-स्थल द्वारा निर्धारित होता है; इसके अतिरिक्त इसके खुराक-बंधित उपयोग का [illegible] शरीर के कार्य पर नियामक प्रभाव पड़ता है (यह प्रथम एवं द्वितीय सिग्नल-तंत्र पर प्रतिवर्त-[illegible] द्वारा अभिक्रिया करता है)।

[illegible] भौतिकीय कारक का प्रभाव रोगी को समझा देने पर रोगी के द्वितीय सिग्नल-तंत्र पर [illegible] विशेष अच्छा प्रभाव पड़ता है।

भौतिकीय घटक प्राकृतिक और कृत्रिम नियत परिस्थितियों और उचित खुराकों में प्रयुक्त करने पर वे [illegible]-[illegible] को सही करते हैं या शरीर के कार्यों को उद्दीपित करते हैं।

वैद्युत थेरापी

[illegible] के चिकित्सानुशीलन में स्थिर और प्रत्यावर्ती दोनों ही धाराओं का उपयोग होता। गैल्वेनी और इलेक्ट्रोस्टैटिक धाराएं स्थिर होती हैं, जबकि डायेथर्मी और पराउच्च-आवृत्तिक धाराएं प्रत्यावर्ती होती हैं।

गैल्वेनी धारा (Galvanic current; galvanism) का उपयोग चर्मलोचन में चर्म के [illegible] द्वारा भेदने के लिये होता है (आयन्टोफोरेसिस या गैल्वेनी-आयनन, एलेक्ट्रोफोरेसिस – 'विद्युत से प्रवहन') [illegible] स्थिर धारा (विद्युविश्लेषण) से प्लैटिनम के लाल तप्त पाश द्वारा ऊतक के प्रदाह के लिये होता है।

विद्युप्रवहन शरीर में विभिन्न आयनों का प्रवेश संभव बनाता है; ये आयन निम्न हो सकते हैं: [illegible] के आरवतों के [illegible] नीचायन (कैटायन) एवं ऊँचायन (ऐनायन), धातुवतों के, अम्लीय [illegible] के आदि।

[illegible] प्रैक्टिस में अक्सर प्रयुक्त कारक निम्न हैं: कैल्सियम क्लोराइड का 0.5-2.0 प्रतिशतीय घोल (स्पष्ट [illegible] प्रतिक्रिया और खुजली से युक्त परोर्जिक चर्मक्लेशों में), मैग्नेशियम [illegible] का 2.0-3.0 प्रतिशतीय घोल (कीलकों की चिकित्सा और नर्वतंत्र पर शांतिदायक [illegible] के लिये), पोटाशियम या सोडियम आयोडाइड का 0.5-1.0 प्रतिशतीय घोल (गुल्मवत [illegible] तथा चिरकालिक [illegible]-केंद्र दूर करने के लिये), सोडियम ब्रोमाइड का 2 प्रतिशतीय घोल [illegible] विसर्प तथा पीड़ाजनक शोथी-प्रक्रियाओं को दूर करने के लिये), इख्थामोल का जल में [illegible] प्रतिशतीय घोल (चिरकालिक अंतर्स्यंदन को शीघ्र विलीन करने के लिये), कौपर सल्फेट का [illegible] प्रतिशतीय घोल (फुंसीक्लेश की चिकित्सा के लिये), जिंक सल्फेट का 1.0-2.0 प्रति [illegible] घोल (सामान्य मुहासा, फुंसीक्लेश, स्ताफीलोकोक-जनित लोमकूपशोथ, लाइलाज व्रण-[illegible] में)।

इलेक्ट्रोडिनामिक धारा भी एक स्थिर वैद्युत धारा है; यह एक सदिष्ट निम्नावृत्तिक ज्यावत धारा

है। इस धारा को उत्पन्न करने वाला उपकरण 'डायेडिनामिक' कहलाता है। चर्मलोचन में इसका उपयोग सिर्फ पीड़ा-शमन और प्रतिकंडुक प्रभाव के लिये होता है (प्रतिवर्त के सहारे)।

डायेथर्मी (पारोष्मन) प्रत्यावर्ती धारा से संबंधित है, जिसकी ध्रुवीयता प्रति सेकेंड 3000000 बार बदलती है। विद्यु-चिनगारी वाले डायेथर्मी उपकरण अब प्रयुक्त नहीं होते, उनकी जगह लैंपयुक्त डायेथर्मी का उपयोग होता है। इस धारा का उपयोग स्थानीय तौर पर गहरे ऊतकों को गर्म करने के लिये होता है (एक्सरे या तुषारण से उत्पन्न व्रण, क्षतांक, सीमित कठचर्मता-अधिकेंद्र में) और प्रतिवर्त द्वारा भी, जिसे खंडीय डायेथर्मी के नाम से जाना जाता है (रेनाउड रोग, वसरित कठचर्मता, तलवों और हथेली से अतिस्वेदन आदि में)। सीसे के प्लेटों से बने विद्युद (electrode) सीधे त्वचा पर लगाये जाते हैं, क्योंकि इस धारा से विद्युविश्लेषण नहीं होता और इसीलिये दग्ध भी नहीं होता। डायेथर्मी ऊतकों में तापोत्पादन संप्रेरित करता हैं। चर्मलोचन में डायेथर्मीकोएगुलेशन (पारोष्मस्कंदन) या करोर्जिक पारोष्मन के उपयोग से ऊतक का नाश प्रोटीन-स्कंदन के फलस्वरूप होता है। सक्रिय विद्युद की काजकर सतह बहुत छोटी होती है, जैसे सूई की नोक, गुलिका, नन्हे पाश आदि के रूप में। पारोष्मस्कंदन का उपयोग निम्न को नष्ट करने में होता है: कीलक, पिटिकार्ब, चर्मरेशार्ब, कुंभिक तिल, इरकुंभी-विस्फारण। इसका उपयोग मुहासा की चिकित्सा और गोदना दूर करने में भी होता है अतिलोम में निर्लोमन के लिये भी।

परावृत्तिक धारा (ultrahigh-frequency current; UHF) 1 से 30 करोड़ प्रति सेकेंड आवर्तन वाली प्रत्यावर्ती धारा को कहते हैं; यह विद्युचुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न करता है। परावृत्तिक धारा का स्रोत (अर्थात् परावर्त तरंगों का जनित्र) सिद्धांततः डायेथर्मी-उपकरण जैसा होता है। विद्युदों के रूप में विभिन्न परिमापों तथा आकृतियों के प्लेट प्रयुक्त होते है। विद्युद त्वचा से जितना ही दूर होते हैं, परावृत्तिक धारा का असर उतना ही गहरा होता है। चर्मलोचन में विद्युद प्लेट को रोगी चर्म-क्षेत्र के निकट ही रखा जाता है क्योंकि चर्म पर प्रभाव डालना होता है (रोमकूपशोथ, फुंसी, कोलफुंसी, पूयता आदि में)। उपयोग-सत्र – 5 से 10 मिनट।

एक्सरे और बुक्की-किरणें (Bucky's rays) कुछ समय पहले चर्मलोचन में एक्स-किरणों का विस्तृत उपयोग था, क्योंकि उनकी अभिक्रिया प्रतिशोथी, प्रतिकंडुक और विलयकारी होती है। ये निम्न रोगों की चिकित्सा में प्रलिखित होती हैं: नार्वचर्मशोथ, चौरस शौवाक, दिनाइ, सामान्य एवं कैशोर मुहासे, नाक पर लाल कणों की उत्पत्ति, कोल्हेबाटा मुहासा, स्वेदग्रंथिशोथ, खर्जुक्लेश, गुल्मवत क्षतांक, उपकलार्ब, आदि। फिर भी अनुभव बताते हैं कि शोथी चर्मक्लेशों पर एक्स-किरणों से चिकित्सा का प्रभाव अधिक स्थायी और दीर्घकालीन होता है, जबकि अन्य रोग चिकित्सा का प्रतिरोध करते हैं। अन्य रोगों की स्थिति में एक्स-किरणों से चिकित्सा के असफल होने पर इलाज में परिवर्तन से कोई लाभ नहीं होता; अन्य चिकित्सा-रीतियां भी अकारगर सिद्ध हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, एक्स-किरणों से विभिन्न जटिलताएं भी उत्पन्न हो सकती हैं (एक्सरे-जनित चर्मशोथ, चर्म-कुपोषणता, व्रणन, कभी-कभी दुर्दम अवजनन भी)। इन कारणों से अब चर्मलोचन में एक्स-किरणों का उपयोग नौवर्धों (new growths) तथा उन चर्मक्लेशों की चिकित्सा तक ही सीमित रह गया है, जो अन्य रीतियों से ठीक नहीं होते।

अब मध्यम (बुक्की के) किरणों का उपयोग अधिक होने लगा है, जैसे – मुहासे, परिसीमित नर्वचर्मशोथ (वाइडल का चिरकालिक सामान्य शौवाक), चिरकालिक दिनाइ, गुल्मवत क्षतांकों आदि में।

हाल ही में पैर के चिरकालिक कुपोषज व्रण की चिकित्सा में लेसर के उपयोग का परीक्षण किया गया है।

परास्वनिक चिकित्सा. परास्वनियां तापीय, यांत्रिक, भौतिकीय तथा रसायनिक प्रभाव डालती हैं। इनका उपयोग प्रत्यक्ष (त्वचा, पेशियों, संधियों पर) या अप्रत्यक्ष (मेरु पथों, अनुकंपी नर्व-ग्रंथियों, आदि पर) होता है। चर्मलोचन में परास्वनियों का प्रत्यक्ष स्थानिक उपयोग स्वेदग्रंथिशोथ, स्थानबद्ध खुजली, परिसीमित नार्वचर्मशोथ, खर्जुक संधिरोग तथा कुपोषज व्रणों की चिकित्सा में होता है। [illegible] अप्रत्यक्ष उपयोग निम्न रोगों में सुसंकेतित हैं: चिरकालिक पुनरावर्ती पित्ती, हर तरह की खुजलियां, विसरित नार्वचर्मशोथ, विसरित कठचर्मता परास्वनियों से औषधों (विटामिन [illegible] इन्सुलिन आदि) का आधान स्वनप्रवहन कहलाता है। इस तरह की चिकित्सा [illegible] के खर्जुक्लेश, नार्वचर्मशोथ के परिसीमित रूपों तथा अतीव्र चरण पर स्थानाबद्ध [illegible] होती है।

प्रकाश-चिकित्सा इसमें मुख्यतः सौर स्पेक्ट्रम की लघुतरंगी किरणों का उपयोग होता है (सौर चिकित्सा [illegible] कृत्रिम प्रकाश-स्रोतों से उत्सर्जित किरणों, विशेषकर पराबैंगनी किरणों का उपयोग [illegible] चिकित्सा कहलाता है।

सौर चिकित्सा सूर्य की किरणी ऊर्जा में पराबैंगनी किरणों का स्पेक्ट्रम भी आता है, जो शरीर में [illegible] प्रक्रियाओं को प्रोत्साहित करता है। लेकिन यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि [illegible] किरणें डेऑक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (DNA) का संश्लेषण दमित कर के ऊतकों का [illegible] कार्य दमित [illegible] सौर किरणी उर्जा के अन्य अवयव, जैसे अवरक्त एवं दृश्य किरणें शरीर को पराबैंगनी किरणों के प्रति संवेदनशील बनाती हैं, जिससे शरीर पर उसका प्रभाव बढ़ जाता है। चिकित्सा के लिए [illegible] सूर्यनिपन) की अनेक विधियां हैं, जो सौर चिकित्सा प्रलिखित करने के [illegible] की तीव्रता तथा रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती हैं।

पराबैंगनी किरणों की क्रियाविधि बहुविध है: केंद्रीय एवं परिधीय नर्व-तंत्रों पर लाभप्रद प्रभाव; [illegible] एवं बैक्टेरियानाशक प्रभाव; बालों का वर्धन; वपा एवं स्वेद के स्राव को [illegible] में ये किरणें बहुमूल्य मानी जाती हैं। सौर चिकित्सा सार्वदैहिक विकिरण के रूप में अक्सर निम्न रोगों में प्रयुक्त होती है: फुंसीक्लेश, एक्थीमा, खर्जुक्लेश (स्थावर [illegible] वसास्रावी एवं जीवाणुक दिनाइ, और नार्वचर्मशोथ में।

कृत्रिम चिकित्सा. चर्मलोचन में इसका उपयोग मुख्यतः कृत्रिम पराबैंगनी किरणों से होता है, जो [illegible] निर्मित पारद-वाष्प से युक्त लैंपों से प्राप्त होती हैं। पहले जैवखुराक [illegible] पराबैंगनी किरणों के प्रति व्यक्तिगत संवेदिता की अवसीमा (निम्नतम मात्रा) निर्धारित की जाती है। जैवखुराक निश्चित दूरी पर स्थित लैंप द्वारा ललामी उत्पन्न होने के समय (मिनटों) की इकाइयों में नापी जाती है। इस समय में पराबैंगनी किरणों की जो मात्रा प्राप्त होती है (ललामी उत्पन्न करने के लिये), उसे ललामिक खुराक कहते हैं। भिन्न चर्मरोगों में त्वचा के भिन्न [illegible] के विकिरण के लिये जैवखुराकों की संख्या भिन्न होती है।

[illegible] के लैंप से विकिरण का उपयोग मुहासे और चर्मशोणवत्ता में होता है – एक दिन बीच देकर [illegible] खुराक; [illegible]शोथ में – उपललामिक खुराक प्रतिदिन; चर्मशोण में – जैवखुराक की [illegible] का उपयोग निम्न रोगों में होता है: खोंतेदार खल्वाटता, गुल्मवत [illegible] चर्मशोथ

[illegible] विकिरण के लिये भी स्थावर एवं सुवाह्य लैंपों का विस्तृत उपयोग होता है। स्थानिक [illegible]-चिकित्सा के लिये निम्न लक्षणों को ध्यान में रखना चाहिये (इनका सिर्फ शैक्षणिक महत्त्व [illegible] उद्रेकोत्तरी परिवर्तन ललामी, वस्तिका या बुल्ला के रूप में उत्पन्न होते हैं (पित्ती,

दिनाइ के कुछ रूपों तथा बहुरूप रिसालु ललामी में) ; चिकित्सा जैवखुराक की चौथाई या इससे भी कम मात्रा से शुरू करनी चाहिये – 600 वर्ग सेंटिमीटर विस्तृत त्वचा के विकिरणन से। विकिरणन नित्य किया जाता है और हर दो तीन सत्र बाद चौथाई जैवखुराक बढ़ा दी जाती है ; कुल दैनिक खुराक 2 से 2.5 जैवखुराक तक बढ़ायी जा सकती है ; विकिरणन की कुल संख्या 15 से 20 तक हो सकती है। (2) स्थावर चरण पर पिटकीय क्षतियों वाले रोगों (चौरस शैवाक, खर्जुक्लेश, परिसीमित नार्वचर्मशोथ) में विकिरणन 1.5-3-5 जैवखुराक से शुरू किया जाता है, 100 वर्ग सेंटीमीटर विस्तृत त्वचा से। विकिरणन हर दो से पाँच दिन पर दुहराया जाता है (जब पूर्ववर्ती विकिरणन की प्रतिक्रिया दूर हो जाती है) ; हर अगले विकिरणन में 1.5-3 से 7-8 तक जैवखुराक जोड़ी जाती है ; कुल विकिरणन-संख्या 10 से 15 बार तक। (3) गंठिक स्फोटों (tubercular eruption) में (जैसे चर्म-यक्ष्मा लेइशमैनता आदि के स्थावर चरण पर) पैठन-केंद्र पर फीन्सेन या क्रोमेयर के फिल्टर-युक्त लैंप से तीव्र विकिरण (15-25 ललामिक खुराक तक) प्रलिखित किया जाता है।

सौर एवं कृत्रिमप्रकाशीय चिकित्सा निम्न रोगों में प्रतिसंकेतित है : ललामक्लेशिक वृका (दागी), फोटोचर्मक्लेश, वर्णकीय चर्मशुष्कता, ल्लोआज्मा, झौंरिकाएं, [illegible]।

सूर्यातपन निम्न रोग-स्थितियों में प्रतिसंकेतित होता है : हृत्फुफ्फुसीय तंत्र के तीव्र रोगों में, केंद्रीय नर्वतंत्र के शरीरगत रोगों में, अपस्मार, रक्त-रोगों, दुर्बल नैवर्धों, ढालगरलता, मधुमेह, तीव्र नर्व-दुर्बलता व पनपुज क्लेश (या पनपुज कुतान), फुफ्फुसीय यक्ष्मा के आरोही रूप, प्रकाशसंवेदीकरण, दिनाइ तथा नार्वचर्मशोथ के आरोही चरण, खर्जूक्लेश के ग्रीष्म रूप में ; दुर्बल एवं कृशकाय लोगों के लिये भी प्रतिसंकेतित है।

शीत-चिकित्सा. इसमें कार्बन डायक्साइड की बर्फ का उपयोग होता है। द्रव नाइट्रोजन से हिमित करने का भी उद्देश्य यही होता है। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-केंद्र की सतह पर कार्बन डायक्साइड की बर्फ से अभिक्रिया कराने के समय और सतह पर बर्फ लगाने के दाब की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। यहां दाब की माप आत्मगत है इसीलिये बर्फ बिना किसी दाब के ही रखना चाहिये और खुराक की मात्रा सिर्फ समय द्वारा नापनी चाहिये। जिस गहराई तक जमाना (हिमित करना) हो, उसके अनुसार बर्फ का उपयोग-काल 5-10 सेकेंड से लेकर (जिससे रक्तातिरेक, कभी-कभी शोफ और अपशल्कन होता है) 30-40 सेकेंड तक (जिससे घोर रक्तातिरेक, शोफ, बुल्ला, खट्टी उत्पन्न होती है) और यहां तक कि 1-2 मिनट भी हो सकता है (जिससे ऊतक की मृत्यु हो जाती है)। शीत-चिकित्सा की खुराक रोग-प्रक्रिया के तत्पिक चित्र के आधार पर ही नहीं, क्षत क्षेत्र की अनाटोमिक-व्यक्तिक विशेषताओं के अनुसार भी निश्चित की जाती है। रोगी की उम्र तथा अन्य घटकों को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

ठोस कार्बन डायक्साइड (अर्थात् इसकी बर्फ) से निम्न रोगों की चिकित्सा होती है : चिरकालिक चकतीनुमा ललामिक वृका, वलयाकार कणार्ब, आंसे रोजासेआ (ance rosacea) परिसीमित नार्वचर्मशोथ, चौरस शैवाक (अनिपोषित रूप), पर्विका-कंडु, कुंभिकार्ब, कीलक (सामान्य या चौरस), वयज शृंगार्ब। यदि बच्चे की चिकित्सा में करोर्जिक डायेथर्मी और शीत-चिकित्सा का विकल्प उठे, तो अंतिम को चुनना चाहिये, क्योंकि बच्चे इसे कहीं अधिक सरलता से सहन कर लेते हैं (चौरस एवं सामान्य कीलक, कुंभिक तिल, वलयाकार कणार्ब, आदि में)।

क्षतियों पर स्थानिक प्रभाव डालने की रीति के रूप में शीत-चिकित्सा निम्न परिस्थितियों में प्रतिसंकेतित है : चकतीनुमा और प्रकीर्णित ललामिक वृका के विसरित रूपों, तथा ललामिक वृका के तीव्र रूप में।

प्राकृतिक घटकों से चिकित्सा

प्राकृतिक-चिकित्सा में रोगी के शरीर पर एक साथ कई घटकों से अभिक्रिया करायी जाती है, जिनमें प्रमुख हैं: किसी स्थान-विशेष की जलवायवी परिस्थितियां, खनिज जल-स्रोत, कीचड़, समुद्र-जल, नदियों के मुहाने आदि। सोवियत संघ में स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसे लाभप्रद स्थानों पर विशेष [illegible] और विश्राम-गृह निर्मित किये गये हैं, जहां रोगी पर चिकित्सा के कई उपाय एक साथ [illegible] किये जाते हैं। यहां चर्मक्लेश की प्रकृति के अनुसार प्राकृतिक घटकों के अतिरिक्त [illegible] एवं बाह्य औषधप्रधान चिकित्साएं भी सुलभ करायी जाती हैं, जिससे कम समय में [illegible] होता है। प्राकृतिक चिकित्सा से रोग-शमन की अवधि बढ़ जाती है और पुनरावृत्ति की [illegible] कम हो जाती है।

[illegible] के तीव्र चरण पर रोगियों को प्राकृतिक चिकित्सा के लिये नहीं भेजा जाता। [illegible] विशेषकर बच्चों) के शरीर पर प्राकृतिक एवं खनिज घटकों के प्रभाव बहुविध होते हैं, [illegible] हार्मोनी एवं रसीय परिवर्तन उत्पन्न करते हैं; इसीलिये रोगी को चुनते वक्त [illegible] की [illegible] को ही नहीं, उसकी सामान्य शारीरिक अवस्था को भी देखना चाहिये। [illegible] विशेषकर उन रोगियों पर लागू होती है, जिन्हें ग्रीष्म में दक्षिणी इलाकों के निरोगालयों में [illegible] तीन वर्ष से कम के बच्चों को प्राकृतिक निरोगालय भेजने की सलाह नहीं दी जाती; [illegible] के लिये कोई भी प्रतिसंकेत न हो, तब भी। तीन वर्ष से बड़े बच्चों को भेजने [illegible] प्राकृतिक [illegible] अन्य आंतर अंगों से संबंधित सूचनाओं के आधार पर लिया जाता है।

[illegible] रोगियों की चिकित्सा निरोगालयों में सफलतापूर्वक हो जाती है: खर्जूक्लेश, [illegible] गैवाक, त्वचा पर [illegible] बच्चों व बड़ों में कंडु, कठचर्मता, पित्ती, [illegible] अधिचर्मलय, [illegible] के चंद रूप (सामान्य वृका, पिटकोमृतिक [illegible] के व्रण, आदि। प्राकृतिक निरोगालयों में इनका इलाज रोग की स्थावर [illegible] और उपशमन-काल में किया जाता है, जिससे पुनरावृत्ति बहुत देर बाद [illegible] बिल्कुल नहीं होती।

वायु-स्नान और सौर चिकित्सा

[illegible] चिकित्सा की लंबाई (समय) रोगी की उम्र और सामान्य अवस्था द्वारा [illegible] जाती है। [illegible] शरीर का कठोरन होता है (रोग-प्रतिरोध की क्षमता बढ़ती है), पूरे [illegible] विशेषकर [illegible] के इमूनोजैव गुण सुधर जाते हैं। ऐसी अभिक्रियाओं की प्रकृति बिल्कुल [illegible] इसीलिये ये किसी भी प्राकृतिक चिकित्सा के आवश्यक अंग हैं। इनका उप-[illegible] परिस्थितियों के अधीन वसंत तथा ग्रीष्म में संभव है।

[illegible] 10-15 मिनट तक किया जाता है, फिर धीरे-धीरे इस अंतराल को [illegible] तक बढ़ाया जाता है। वायु-स्नान दिन में अलग-अलग समय पर किया जाता है, [illegible] के बाद नहीं।

[illegible] वायु-स्नान 2 या 3 महीने की उम्र से प्रलिखित किया जाता है: शिशु को दिन [illegible] के लिये नंगे छोड़ दिया जाता है। इसके साथ-साथ बच्चे को व्यायाम भी [illegible] और बच्चे की प्रतिक्रिया अनुकूल होने पर वायु-स्नान क्रमशः 20-60 [illegible] तक बढ़ाया जा सकता है।

समुद्र-स्नान

समुद्र में स्नान से शरीर पर निम्न घटकों का मिला-जुला प्रभाव पड़ता है: जल में घुले लवणों व गैसों का, यांत्रिक क्षोभों का (जल के घनत्व, नन्ही तरंगों से कंपन-मालिश आदि), धूप व समुद्री हवा का। समुद्री पानी में विभिन्न लवण 1 से 5 प्रतिशत तक की सांद्रता में घुले होते हैं, ये लवण निम्न आयनों के रूप में विघटित रहते हैं: सोडियम, कैल्सियम, क्लोरीन, मैग्नेशियम, ब्रोमीन, आयडीन आदि के। चिकित्सा के लिये समुद्र-स्नान तभी प्रलिखित किया जाता है, जब पानी का तापक्रम कम से कम 18°C हो (बच्चों के लिये इसे 2 या 3°C ऊँचा ही रहना चाहिये)। रोगी शुरू-शुरू 2-3 मिनट तक पानी में रहता है, फिर यह अवधि क्रमशः 10-15-20 मिनट तक बढ़ायी जाती है। चिरकालिक चर्मक्लेशों से ग्रस्त बच्चों को 3 वर्ष की उम्र के बाद ही समुद्र-स्नान प्रलिखित करना चाहिये। शुरू में कुछ बार उन्हें तभी नहाना चाहिये, जब पानी का तापक्रम 21-23°C से कम न हो और वे उसमें 2 या 3 मिनट तक ठहर सकें। समुद्र-स्नान से चिकित्सा शुरू करने के पहले कुछ दिनों तक बच्चे को वायु-स्नान कराया जाता है और उसका शरीर समुद्री पानी से मला जाता है। उत्तरी (अधिक ठंडे) इलाकों से आये बच्चों के लिये एक अनुकूलन-अवधि की आवश्यकता पड़ती है।

समुद्र-स्नान निम्न स्थितियों में प्रतिसंकेतित होता है: यक्ष्मा की सक्रिय प्रावस्था, रूमैटिज्म, तीव्र खीरकठोरन, गुर्दों, जठरांत्र मार्ग एवं रक्त की बीमारियों, हृत्कुभिक एवं हृत्क्लोमिक अपूर्णता के स्पष्ट लक्षणों आदि में।

गाह-चिकित्सा

गाह्य स्नान-चिकित्सा प्राकृतिक वस्तुओं में खनिज जल मुख्य उपचारक घटक है। भूगत जल के जितने भी ऐसे प्रकार हैं जो उनमें विलीन गैसों, अन्य खनिज द्रव्यों तथा सक्रिय चिकित्साकारी आयनों के कारण उपचारक गुण रखते हैं, थेरापिक खनिज जल कहलाते हैं।

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार खनिज जल के सात गाह्य प्रकार हैं: (1) किन्हीं विशेष अवयवों तथा गुणों से हीन जल; (2) कार्बनित जल; (3) गंधक-युक्त; (4) लोहा, संखिया आदि से युक्त (5) ब्रोमीन, आयडीन से युक्त तथा जैव द्रव्यों से समृद्ध; (6) रश्मिसक्रिय रेडोन से युक्त; (7) सिलिकन थर्मे। इस वर्गीकरण में खनिज जल के भौतिकीय व रासायनिक गुणों और शरीर पर उसके प्रभाव को मिलाने की कोशिश की गयी है।

तापक्रम के अनुसार खनिज जल ठंडा, गुनगुना या गर्म होता है।

गंधक (हाइड्रोजन सल्फाइड), रेडोन से युक्त जल, कार्बनित खनिज जल तथा सिलिकन थर्मे से युक्त जल का चर्मलोचन में विस्तृत उपयोग है।

कार्बनित (कार्बन डायक्साइड से युक्त) जल में शरीर डुबा कर रखना (गाहन) उन चर्म-क्लेशों में लाभकर होता है, जिनमें तीव्र शोथ नहीं होता (जैसे सुप्तावस्था में खर्जूक्लेश और नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक दिनाइ, कंडु आदि में) और जो स्थायी श्वेत या हल्की लाल चर्मग्राफी से लंछित होते हैं। इसके प्रतिसंकेत हैं: हृत्पेशी का इस्कार्क्त, वृक्कशोथ, गुर्दक्लेश।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त जल में गाहन 5-10 मिनट तक एक-एक या दो-दो दिनों के अंतराल पर किया जाता है। इसमें स्वतंत्र हाइड्रोजन सल्फाइड की सांद्रता 30-40 से 100-150ml/l तक हो सकती है। इसमें गाहन निम्न स्थावर या अवरोधी चर्मक्लेशों के लिये सुसंकेतित है: दिनाइ, खर्जूक्लेश, नार्वचर्मशोथ, कठचर्मता, चौरस शैवाक, पित्ती, मीनचर्मता, आदि। प्रतिसंकेत

वे ही हैं, जो सभी प्राकृतिक चिकित्सा के लिये होते हैं; इनके अतिरिक्त निम्न प्रतिसंकेत भी हैं: क्लोमिक (फुप्फुसी) यक्ष्मा, यकृत तथा गुर्दे की बीमारियां, ढालगरलता।

हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त गर्म जल में हाथों और पैरों का गाहन स्थानिक गाहन-विधि है। बैठ कर गाहन या आरोही फुहार में स्नान मूलाधार या पृष्ठद्वार में दिनाइ की चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होता है: सल्फर या वीखी (vichy) से युक्त जल की फुहार में स्नान की सलाह खर्जू-क्लेश तथा कठचर्मता के स्थावर रूपों में दी जाती है; सल्फर-युक्त जल से शिरोवल्क तथा चेहरा धोना [illegible] में लाभदायक होता है।

रेडोन से युक्त जल में गाहन का प्रभाव हाइड्रोजन सल्फाइड में गाहन की अपेक्षा अधिक नर्म होता है। इससे चर्म के शोथ-केंद्रों में हिस्टामिन, सेरोटोनिन तथा ब्राडीकीनिन जैसे जीवलोचनी सक्रिय क्षोभक द्रव्यों के बनने की तीव्रता कम हो जाती है। स्थायी लाल विसरित चर्मग्राफी से लंछित दिनाइ तथा [illegible] की स्थिति में रेडोन-स्नान चर्मगत कुंभियों की बेधिता कम कर के तथा साथ ही उन्हें संकोचित कर के रोग के तीव्र शोथी प्रवाह को कम कर देता है। यह प्रगामी खर्जूक्लेश, नार्व-चर्मशोथ और कंडु में भी लाभकर होता है। गाहन-काल 5 से 15 मिनट तक वांछनीय है।

[illegible] में विशेष निरोगालय बनाये गये हैं, जहां नार्वचर्मशोथ, दिनाइ, कंडु तथा कठ-चर्मता से पीड़ित बच्चे चिकित्सार्थ भेजे जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में प्रयुक्त ये खनिज द्रव्य [illegible] के लिये हानिकर (प्रतिसंकेतित) हैं, जो हृत्कुंभिक तंत्र तथा [illegible] की [illegible] चर्म के [illegible] तथा चर्मारुणता के शिकार होते हैं।

[illegible] जल में गाहन रेडोन-गाहन जैसा ही प्रभाव डालता है, क्योंकि उसमें खनिज लवण बहुत कम [illegible] है [illegible] वह क्षोभ नहीं उत्पन्न करता इसीलिये इसका उपयोग अनेक चर्मक्लेशों के [illegible] भी संभव है। इसके प्रतिसंकेत अन्य खनिज-चिकित्साओं जैसे ही हैं। गाहन बड़ों के लिये [illegible] तथा बच्चों के लिये एक दिन बीच देकर वांछनीय है। गाहन-काल 5 से 15-20 [illegible] हो सकता है; चिकित्सा 15 से 25 बार में संपन्न होती है।

पंक-चिकित्सा

[illegible] संघ में [illegible] निरोगालय हैं, जिनमें लोगों की चिकित्सा रोगहर पंक से की जाती है [illegible] जैसे [illegible] पंक) और [illegible] (क्षारीय एवं अम्लीय पांस—जैव मूल के सड़ने [illegible] से [illegible] चाहिये; इनमें उपस्थित सक्रिय अवयवों (हाइड्रोजन सल्फाइड, लोहा [illegible] का अनुपात [illegible] होता है।

[illegible] तक गर्म करने पर उसमें स्पष्ट विलयकारी गुण आ जाते हैं। 35-[illegible] तापक्रम पर [illegible] के नियमन और उद्दीपन का गुण व्यक्त होता है। खनिज जलों की [illegible] से रोगहर पंक अधिक ताप-चालकता और कम ताप-ग्राहिता रखता है। पंक-चिकित्सा का [illegible] चर्मरोगों में किया जाता है: अनवरोधित परिसीमित अधिचर्मी वाले खर्जूक्लेश, संधा-[illegible] खर्जूक्लेश, परिसीमित एवं विसरित नार्वचर्मशोथ, चिरकालिक घट्टा और शृंगिक दिनाइ, [illegible] के परिसीमित अधिकेंद्र और चौरस शैवक के अतिपोषित रूपों में। पंक का उपयोग चर्म [illegible] तथा हृत्कुंभिक अपूर्णता की स्थितियों में प्रतिसंकेतित है।

नफ्थालान तेल में चिकित्सा

[illegible] naphtalan तेल प्रतिशोथी प्रभाव डालता है और उपकला को शीघ्र पनपाता [illegible] में सुसंकेतित है: खर्जूक्लेश, चिरकालिक दिनाइ, नार्वचर्मशोथ,

कंडु, चर्म-खुजली, पित्ती, चौरस शैवाक, कठचर्मता और मीनचर्मता। गाहन-काल 5 से 15-20 मिनट तक हो सकता है, तेल का तापक्रम 36-38°C होना चाहिये; चिकित्सा 15 से 20 बार गाहन से संपन्न होती है। सहनशीलता के अनुसार गाहन एक से तीन दिन के अंतरालों पर प्रयुक्त होता है। बसंत और ग्रीष्म में जिन लोगों का दिनाई या खर्जूक्लेश उग्र रूप धारण करता है, उनके लिये यह गाहन उपयुक्त नहीं है। अन्य प्रतिसंकेत सल्फर-युक्त जल में गाहन जैसे ही हैं।

पैराफिन एवं ओजोसेरीत से चिकित्सा

पिघले हुए पैराफिन का उपयोग गहरे अंतर्स्यंद या क्षतांक को ताप द्वारा घुलाने में सहायता के लिये सीमित (ग्रस्त) त्वचा-क्षेत्र पर किया जाता है। यह सीमित क्षेत्रों तथा कुछ चर्मरोगों में ही प्रयुक्त होता है: उपेक्षित खर्जूक धब्बे, चौरस शैवाक के अतिशृंगिक रूपों, खोंतदार खल्वाटता, नार्वचर्मशोथ और चिरकालिक दिनाइ में अंतर्स्यंदित परिसीमित धब्बे उग्रता से अंतर्स्यंदित संकंदुक मुहासा, आदि में।

ओजोसेरीत (ozocerite; mountain wax) सूक्ष्म किस्टलों वाले पैराफिन के उच्च-श्यान एवं हल्के तेलों का मिश्रण है, जिसे भूगत गुफाओं और तैल स्तरों से प्राप्त किया जाता है। यह स्पष्ट अंतर्स्यंदन, शैवाकीकरण और अतिशृंगन से लंछित चर्मरोगों की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है। अनुकूल थेरापिक गुणों, कम कीमत और प्रयोग-सरलता के कारण चर्मलोचन में ओजोसेरीत का विस्तृत उपयोग है। इसके अतिरिक्त, अल्प ताप-चालकता व उच्च ताप-ग्राहिता के कारण यह रेत, पांस या पैराफिन से अधिक कारगर है (इसमें ताप को रोक कर रखने की क्षमता पैराफिन से लगभग दुगुनी है)। निरोगालयों में इसका उपयोग अन्य प्राकृतिक चिकित्सा-रीतियों के संकुल में होता है। इसका परिवहन सरल होने के कारण इसे किसी भी शहर या गाँव में (निरोगालय से बाहर भी) बच्चों व बड़ों की चिकित्सा में प्रयुक्त किया जा सकता है। तापीय प्रभाव के अतिरिक्त ओजोसेरीत रासायनिक, भौतिकीय और जीवलोचनी प्रभाव भी डालता है; इसमें उपस्थित जीवलोचनी सक्रिय द्रव्य अवसंवेदक, प्रतिकंडुक तथा प्रतिशोथी प्रभाव डालते हैं। ओजोसेरीत 45-60°C तक गर्म किया जाता है और लेप या गजी की पुटिका के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके सुसंकेत पैराफिन की तरह ही हैं: प्रतिसंकेत निम्न हैं: तीव्र एवं अवतीव्र चर्मक्लेश, दुर्दम नौवर्ध, रक्तरोग, हृत्कुभिक कार्यों की अपूर्णता।

विशेष चर्मलोचन

चर्मपूयता

सामान्य सूचनाएं

चर्मपूयता पूययुक्त चर्म-क्षति है, जिसका खतरा अधिकांश चर्मरोगों में रहता है। वह सभी वय-समूहों में संभव है, गंदगी तथा अन्य क्षोभकों से अधिक संप्रेरित होती है। चर्मपूयता बाल-चर्मलोचन में भी सबसे अधिक अवलोकित होती है। चर्मपूयता की विभिन्न अभिव्यक्तियां प्राथमिक होती हैं या अन्य चर्मक्लेशों के सहविकार के रूप में।

हेतुलोचन. स्ताफिलोकोक और स्त्रेप्तोकोक की विभिन्न जातियां चर्मपूयता के सामान्यतम कारक हैं। यह रोग सीधुदक बासिलों, सामान्य प्रोतेउस (Proteus vulgaris), आंत्र-एशेरीखिया (Escherichia coli), कवकों, न्युमोकोक, गोनोकोक तथा अन्य अनेक जीवाणुओं से उत्पन्न होता है। स्ताफिलोकोक और स्त्रेप्तोकोक सर्वत्र फैले हुए हैं—कपड़ों पर, घरों में, कार्य-स्थलों पर, रोगी व्यक्तियों की त्वचा पर, ऐसे व्यक्तियों की भी त्वचा और श्लेष्मल झिल्ली पर, जिनके प्रत्यक्षतः कोई रुग्दिक परिवर्तन नहीं होता (परीक्षण से निर्धारित हुआ है कि 20-75 प्रतिशत लोग इन जातियों के वाहक होते हैं)। इनके अवसरकारी रूप त्वचा पर निश्चित परिस्थितियों में रोगकारी रूप धारण कर लेते हैं। यह तथ्य है कि स्ताफिलोकोक स्वस्थ लोगों की त्वचा पर भी हमेशा उपस्थित रहते हैं (अक्सर लोमकूपों के मुहानों में और वपाल ग्रंथियों के स्राव-मार्ग में), लेकिन सभी ज्ञात जातियों में सिर्फ 10 प्रतिशत जातियां रोगकारी हैं; चर्मपूयता के रोगियों में या पूर्वकाल में इससे ग्रस्त रोगियों में रोगजनक जातियों की संख्या तेजी से बढ़ जाती है (90 प्रतिशत तक)। स्त्रेप्तोकोक स्वस्थ व्यक्तियों की त्वचा पर बहुत कम पाये जाते हैं (6 से 10 प्रतिशत लोगों में ही)। और मुख्यतः त्वचा की सलवटों या तह वाले स्थानों पर ही मिलते हैं।

रोगजनन. चर्मपूयता के किसी भी रूप का विकास कोकी जातियों की रोगकारिता और विषालुता पर ही निर्भर नहीं करता (यद्यपि ये कम महत्त्वपूर्ण घटक नहीं है); इसमें विभिन्न अंतर्जनित तथा बहिर्जनित प्रवर्तक घटकों की भी भूमिका होती है, जो चर्म के रक्षी कार्य को परिवर्तित कर देते हैं और विशेषकर चर्मपूयता के विकास के विरुद्ध चर्म की प्रतिरोधिता कम कर देते हैं।

चर्मपूयता संप्रेरित करने वाले सामान्यतम बहिर्जनित घटकों में प्रमुख हैं: (1) त्वचीय चोटें (सूक्ष्म घाव): जैसे कटना, निस्त्वचन, खरोंचें, सतही झुलसन (दग्ध) आदि; पयोपा बच्चों में (उचित देख-भाल जैसे समय पर पोतड़े नहीं बदलने) से उत्पन्न मसृणन (गीलापन से त्वचा नरम होने के कारण मसलना से बन जाती हैं); (2) त्वचा की मलिनता (वृत्तिक गंदगी — कोयले, तेल, सिंदूर, स्नेहक तेलों आदि—से; बच्चों की त्वचा पर गलत हाइजिनिक देख-भाल के कारण, विशेषकर पयोपा बच्चों में); (3) दैनंदिन जीवन में या काम पर शरीर का अतिशीतन या अतितापन; इनमें से इसके होने का कारण यह है कि उनके शरीर में ताप-नियमन पूर्णतया विकसित नहीं होता।

अन्तर्जनित घटक भी अनेक हैं: कार्बोहाइड्रेट-विनिमय में गड़बड़ी (रक्त-अतिमधुता), नर्वतंत्र की गड़बड़ियां (मधुह नर्वक्लेश या पनपूक्लेश), अंतस्त्रावी गड़बड़ियां (पीयुष-अधिवृक्कीय तंत्र की

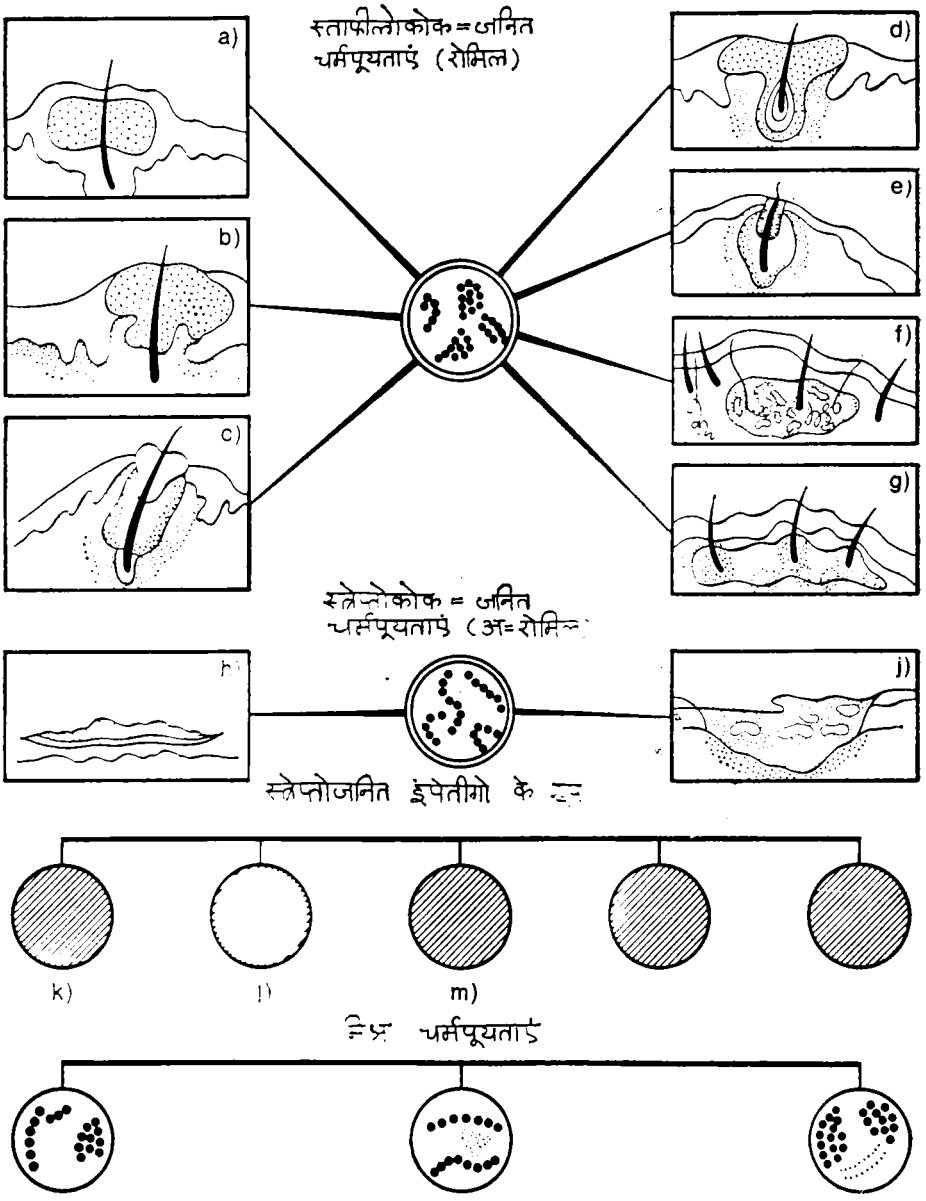

चित्र 5. चर्मपूयताओं का वर्गीकरण (आरेख)

(a) स्ताफिलोजनित इंपेतिगो, (b) लोमकूपशोथ (मशिकाशोथ), (c) मुहासा, (d) गहरा मशिकाशोथ, (e) फुंसी, (f) स्वेदग्रंथिशोथ, (g) कोलुफुंसी, (h) स्त्रेप्तोजनित इंपेतिगो (फ्लिक्तेना), (j) एक्थीमा, (k) मुखकोणशोथ, (l) सतही परिनखशोथ, (m) बुल्लानुमा इंपेतिगो, (n) नवजात का बुदबुदिया, (o) सीफिलवत पिटकीय इंपेतिगो, (p) स्त्रेप्तो-स्ताफिलोजनित इंपेतिगो (सामान्य इंपेतिगो), (q) स्त्रेप्तो-स्ताफिलोचर्मता, (r) चिरकालिक व्रणीय चर्मपूयता

या ढालवत ग्रंथि की अपूर्ण कार्य-क्षमता ; बाल्यग्रंथि की अतिसक्रियता) ; आहार-दोष (पूर्ण मूल्य के प्रोटीनों की कमी अर्थात् रक्त में प्रोटीन की कमी, विशेषकर गामा ग्लोबूलिनों की), अविटामिनता (विशेषकर 'ए' और 'सी' की), तीव्र चिरकालिक एवं कृषकारी रोग, जठरांत्र-मार्ग के रोग (आंत्र-गरणता), और अनुवांशिक घटक। इमूनी रक्षा-प्रयुक्ति का क्षीण होना भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जब संपूरक की विमाप, प्रतिगरल और जीवाणु-भोजी कोशिकाओं की कार्यशीलता कम हो जाती है, लीजोजीम (lysozyme) और एंटी-हिआल-उरोनीदाज की कार्यशीलता क्षीण पड़ जाती है।

बच्चों में चर्मपूयता का विकास संप्रेरित करने वाला एक मुख्य घटक है: शरीरलोचनी उपरोध की अपूर्णता, जैसे – शृंगी परत की वर्धित आर्द्रता, ढीलापन और भंगुरता ; अस्थिर कलिलोस्मिक अवस्था ; चर्म की उच्च अपचोषक क्षमता।

चर्मपूयता के गदजनन में उन घटकों का भी बहुत बड़ा महत्त्व होता है, जो खुद कोकों में होते हैं। उदाहरणार्थ, स्ताफिलोकोकों की गदजनकता बहुत हद तक कुछ गरलों और खमीरों पर निर्भर करती है जिन्हें दो प्रकार के घटकों में बाँटा जाता है: वे, जो पैठन को सुगम बनाते हैं (कोआगुलाज, ल्यूकोसिडिन, हिआलउरोनीदाज) और वे, जो ऊतकों को क्षत करते हैं या उनमें सामान्य द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया को गड़बड़ करते हैं (गरल, हेमोलीजिन)। पूयजनक स्ट्रेप्टोकोकों की विषालुता भी कुछ गरलों और खमीरों द्वारा निर्धारित होती है, जिनमें प्रमुख हैं [illegible] गरल, स्ट्रेप्टोलीजिन, स्ट्रेप्टोकोकी फिब्रीनोलीजिन (स्ट्रेप्टोकीनाज), [illegible] प्रोटीनाज, हिआलउरोनीदाज।

[illegible] घटकों के अनुसार सभी चर्मपूयताओं को तीन वर्गों में बाँटते हैं: स्ताफिलोकोकी, स्ट्रेप्टोकोकी और मिश्र ; प्रक्रिया की गहराई के अनुसार वे सतही या गहरी होती हैं और प्रवाह की प्रकृति के अनुसार – तीव्र तथा चिरकालिक।

स्ताफिलोकोकी चर्मपूयता की प्रक्रिया मुख्यतः लोमकूपों तथा स्वेद एवं वपा की ग्रंथियों में विकसित होती है। पीपिकाएं शंकुल या अर्धगोलीय होती हैं, उनकी दीवारें मोटी और तनावपूर्ण होती हैं, इस कारण उनका पीपा-हरा होता है। पीपिका के मध्य-स्थल पर अक्सर अत्यंत छोटे-छोटे रोम दिखते हैं। सिरे वाले में स्ताफिलोकोक से सतही बुल्ला विकसित होते हैं, जिनका वपाल व स्वेद ग्रंथियों या लोमकूपों के साथ कोई संबंध नहीं होता।

स्ट्रेप्टोकोकी चर्मपूयता में रोग-प्रक्रिया वपा या लोम के कूपों अथवा स्वेद-ग्रंथियों से संबंधित नहीं होती, अधिकांशतः सतही होती है और उनकी दीवारें पतली तथा लस्त होती हैं [illegible] : सीरमी द्रव का रिसाव होता है। ये पीपिकाएं परिसरीय वर्धन की प्रवृत्ति द्वारा [illegible] होती हैं।

[illegible] चर्मपूयताएं ([illegible]नाएं) सिर्फ अधिचर्म में होती हैं और अस्थायी रूप से एक वर्णकता [illegible] छोड़ती हैं। गहरी चर्मपूयता मुचर्म तथा कभी-कभी अधोचर्म वसा तक पहुँच जाती है और [illegible] दाग छोड़ जाती है।

[illegible] चर्मपूयता अन्य चर्मरोगों के साथ पूयता के विकास की अवस्था को कहते हैं।

स्ताफिलोकोकी चर्मपूयता

[illegible] लोमकूपशोथ (या मणिकाशोथ ; फारसी 'मशक', अर्थात् '[illegible]' [illegible] सिर्फ लोम का नहीं होता, इसीलिये इसके लिये 'लोमकूप'

शब्द बहुत उपयुक्त नहीं है), सिकोस, गहरा मशिकाशोथ, फुंसी, कोलफुंसी, स्वेदग्रंथिशोथ। इन रोगों में गदजनक स्ताफिलोकोक मुख्यत: लोम-मशिकाओं के मुहाने में, स्वेदक व वपाल ग्रंथियों में स्थानाबद्ध होते हैं; स्ताफिलोकोकी पीपिकाओं की तल्पिक विशेषताएं इसी बात से निर्धारित होती हैं। नवजात और पयोपा बच्चों में चर्म रूपलोचनी दृष्टि से अपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त अधिचर्म और सुचर्म (डेर्मिस) के बीच सटाव कस कर नहीं होता, क्योंकि आधारीय झिल्ली कमजोर होती है और पिटिकाएं उभरी हुई नहीं होतीं, जिसके फलस्वरूप जब गदजनक स्ताफिलोकोक चर्म को वेध कर प्रविष्ट होते हैं, बुल्ला की तरह की अमशिकीय क्षतियां उत्पन्न होती हैं। साथ ही, बच्चों में तीव्र शोथी प्रक्रिया विकसित करने की क्षमता के कारण (जिससे व्यापक रूप से स्फोट निकलने लगते हैं) नवजात शिशु में विस्तृत और तीव्र स्ताफिलोकोकी क्षतियां उत्पन्न होने लगती हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए नवजात में चर्मपूयताओं का एक विशेष समूह अलग किया जाता है: वस्तिक पीपिका, बहुसंख्य चर्म-विद्रधि (पीपदार फोड़े), मिथ्या फुंसीक्लेश, नवजात में अधिचार्म बुदबुदिया, और रिट्टर का (Ritter's) रोग (नवजात में निस्त्वचक चर्मशोथ)।

आस्यक मशिकाशोथ, या स्ताफिलोकोकी इंपेतिगो (स्ट्रेप्टोजनित इंपेतिगो)

इस रोग में क्षति का रूप बाजरे के दाने से लेकर पिन के मुंड तक के आकार की मशिकीय पीपिका है, जो लोम-मशिका के केंद्र में पायी जाती है; इसके गिर्द तीव्र शोथ की एक सँकरी अतिरक्तिल पट्टी होती है। क्षतियां या तो नन्हे चर्म-क्षेत्रों में परिसीमित होती हैं या बिखरी होती हैं (अंतिम स्थिति में वे अनेक होती हैं)। आस्यक मशिकाशोथ या स्ताफिलोकोकी इंपेतिगो (लातीनी 'इंपेतुस' अर्थात् 'आक्रमण' से) कुछ लाली लिये होता है; उससे मशिका या वपाल ग्रंथि के गिर्द पीड़ा होती है। जल्द ही पीपिका के साथ केंद्र में अर्धवर्तुली या शंकुल शोफ उत्पन्न होता है: पीपिका की चोटी उसमें एकत्र पीप के कारण पीली हो जाती है। कुछ दिनों बाद पीपिका की अंतर्वस्तु (आंतरिक द्रव्य) सूख जाती है और वह खड़ुंडी बन जाती है; चारों ओर का शोथ शांत होने लगता है और प्रक्रिया कोई निशान छोड़े बगैर समाप्त हो जाती है, सिर्फ हल्की वर्णकता रह जाती है। आस्यक मशिकाशोथ में परिसीमित प्रसार की प्रवृत्ति नहीं होती; जब उनकी संख्या बहुत अधिक होती है, तो वे बिल्कुल साथ-साथ जमा हो जाते हैं, पर उनका कभी संलयन नहीं होता।

कहीं-कहीं क्षति मटर के बड़े दाने के बराबर हो जाती है और अक्सर उसके केंद्र में एक रोयां चुभा होता है। इस अवस्था को बोखार्ट (Bockhart) का स्ताफिलोकोकी इंपेतिगो कहते हैं, जो अक्सर खाज की जटिलता के रूप में हाथ की पश्च सतह पर होता है।

आस्यक मशिकाशोथ अधिकांशत: चेहरे, गरदन, पिंडलियों (टांगों; घुटने से नीचे टखने तक) तथा जांघ की त्वचा पर होता है। इसका संप्रेरण यांत्रिक क्षोभ (हजामत, खरगड़, दाब के साथ मसृणन) तथा हानिकर वस्तुओं (किरासीन, बेंजीन, स्नेहक तेलों, टार आदि) के साथ त्वचा के निरंतर संपर्क से होता है। अंतिम स्थिति में मशिकाशोथ वृत्तिक प्रकृति का होता है; इसमें क्षतियों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है, जो अक्सर गहरे मशिकाशोथ में परिणत हो जाती है।

बच्चों में आस्यक मशिकाशोथ 2 या 3 वर्ष की उम्र में हो सकता है, लेकिन अधिकतर वह बड़ी उम्र के ही बच्चों में पाया जाता है। मसृणन, वर्धित स्वेदन, अतिशीत या अतितापन, गलत चर्म-हाइजिन (देख-रेख) आदि इस रोग के संप्रेरक घटक हैं।

[illegible] मशिकाशोथ ठीक शृंगी परत के नीचे लोम-मशिका के मुहाने की [illegible] के विरचन द्वारा लंछित होता है। बुल्ला के कोटर में फिब्रिन, बहुरूपनाभिकीय [illegible] चद लसकोशिकाएं होती हैं। गीम्जा (Giemsa) या ग्राम (Gram) की [illegible] का सूक्ष्मदर्शीय अध्ययन करने पर स्ताफिलोकोकों की बहुत बड़ी संख्या कोशिकाओं [illegible] श्वेतकोशिकाओं में पायी जाती है। विस्फारित केशिकाओं के गिर्द न्युट्रोफिलों [illegible] के शोथी अंतर्स्यंद मुचार्म पिटिकामय परत में अवलोकित होते हैं।

[illegible] मशिकाशोथ के संप्रेरक घटकों को दूर किया जाता है। कुछ पीपिकाओं का [illegible] दूर की जाती है और पैठन-केंद्र पर अनीलीन रंजकों का 1-2 प्रतिशतीय अल्को- [illegible] Sol. Gentianvioleti या Methyleni coerulei, या Virides [illegible] एथिल अल्कोहल में मिला कर या पोटाशियम परमैंगनेट का जलीय घोल [illegible] लेपा जाता है। क्षतिग्रस्त क्षेत्र पर बाल काट लिये जाते हैं पर उन्हें मुड़ते [illegible] के लिये इर्द-गिर्द की त्वचा को 2 प्रतिशतीय सैलीसीलिक या बोरिक अम्ल [illegible] अल्कोहल के [illegible] (2.5ml कैंफर-अल्कोहल और 40 प्रतिशतीय शोधित [illegible] से लेपते हैं। 10 प्रति [illegible] सुल्फोनामीद से युक्त पाउडर का उपयोग किया जा सकता [illegible] या इंपेतिग क्षति की बहुलता में सर्वांगीण [illegible] की उपल- [illegible] या एक दिन छोड़ कर कुल 6 से 10 बार) की [illegible] है। [illegible] स्नानादि मना है।

गहरा मशिकाशोथ

[illegible] स्ताफिलोकोक [illegible] बहुत गहरे पैठ जाते है और उसे पूरी [illegible] को शोथाक्रांत कर देते है। दर्दनाक लाल पर्विकाएं उत्पन्न होती [illegible] हो जाती है। उसमें एक सूक्ष्म बाल चुभा होता है। कुछ दिनों [illegible] कर खट्ठी में परिणत हो जाता है, या पूयन बढ़ने लगता है और योजक [illegible] है। सामान्य रोग-प्रवाह में गहरे मशिकाशोथ के स्थल पर 5-6 दिनों [illegible] इसकी अलग-थलग क्षतियां शिरोवल्क पर, गरदन के पीछे होती हैं, [illegible] है।

[illegible] मशिका के गिर्द अंतर्स्यंदन से शुरू होती है, जिसमें न्युट्रोफिल और [illegible] मशिका पिघल कर विमृत हो जाती है, उसका स्थान योजक ऊतक ले [illegible]

[illegible] (Castellani) का पेंट लेप करते हैं: मेथीलिन नीला या चम- [illegible] अल्कोहलिक घोल। पीपिका के गिर्द स्वस्थ त्वचा को रोग-विसरण [illegible] या कैंफर स्पीरिट के 2 प्रतिशतीय घोल से पोंछते हैं। गहरे [illegible] के कुछ [illegible] पर शुद्ध इख्थामोल का चपटा टुकड़ा लगाया जा सकता है। नहाना- [illegible] के [illegible] बंद कर देना चाहिये।

सिकोम (सामान्य, सरल, स्ताफिलोजनित)

[illegible] चर्मपूयता है, जो मुख्यतः पुरुषों को होता है। मशिकाशोथ तथा [illegible] शिरोवल्क पर तथा दाढ़ी-मूंछ में होता है; नाक के पार्श्वों, भौंहों, [illegible] पर अपेक्षाकृत कम अवलोकित होता है।

रोग के आरंभ में आस्यक मशिकाशोथ की चंद क्षतियां चर्म के अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्र पर प्रकट होती हैं, जो पहले से वृहत्तर क्षेत्रों में प्रसार की प्रवृत्ति रखती हैं। क्षतियों के गिर्द शोथी अंतर्स्यंद बन जाते हैं, जिसके फलस्वरूप ग्रस्त क्षेत्र मोटा तथा नीला-लाल हो जाता है; कभी-कभी पीड़ा भी होती है। प्रक्रिया की चपेट में नयी-नयी मशिकाएं आती जाती हैं, जिससे पैठन-केंद्र का प्रसार होने लगता है; इसमें अनेक शोथित मशिकीय मुहाने मिलकर पीपिकाओं का एक जमघट बना लेते हैं। पीपिकाओं का मुँह खुलने के बाद पूय सूख कर गंदली पीली खट्ठी में परिणत हो जाता है, जो लोमों के साथ चिपका होता है। पैठन-केंद्र से निकाले गये लोम की जड़ के गिर्द जिलेटिन जैसे पदार्थ का एक अस्तर-सा चढ़ा होता है। यह बाल का पूय-संतृप्त उपकलीय खोल (आवरण) है। सामान्य सिकोस अक्सर एक चिरकारी अवस्था है (वर्षों के लिये), जो जब-तब उग्र हो उठता है और रोगी को ग्लानि पहुँचाता है, विशेषकर यदि रोग चेहरे पर होता है। कुछ केसों में आत्मगत गड़बड़ियां नहीं होतीं; कुछ में जलन, हल्की खुजली या चुभन की अनुभूति होती है।

विभेदक निदान अंतर्स्यंदी पूयिक लोमतृणत्व (परजीविक सिकोस) के साथ किया जाता है, जो अधिक तीव्र प्रवाह, गहराई में स्थित मोटी पर्विकाओं के विरचन और बिना चिकित्सा के गायब होने की प्रवृत्ति द्वारा लंछित होता है। प्रयोगशाला में परीक्षण से पैठन-केंद्र के परिसरीय लोमों में एक्टोथ्रिक्स ग्रुप के कवकों के अंग मिलते हैं। यदि सिकोस का दद्रुकरण (अर्थात् अधिकेंद्र की सीमा के पार तक रक्तातिरेक का प्रसार और रिसालु पिटकों का उद्भव) होता है, तल्पिक चित्र चर्मपूयता से क्लिष्ट दिनाइ के सदृश हो सकता है। दिनाइ के लिये लंछक सच्ची बहुरूपता की अनुपस्थिति तथा मशिकाओं के मुहानों में शोथ—ये दो बातें सही निदान में सहायक होती हैं।

ऊतगदलोचन. आस्यक मशिकाशोथ की ही तरह न्युट्रोफिलों से भरी पीपिका लोम-मशिका की आस्यक उपकला में बनती है। मशिका के गिर्द अंतर्स्यंदन सुचर्म के सारे ऊपरी भाग में बेध कर पहुँच जाता है; अंतर्स्यंद में मुख्यतः लसकोशिकाएं, प्लाज्मा-कोशिकाएं, ऊतकोशिकाएं, अल्प संख्या में बहुरूपनाभिकीय श्वेतकोशिकाएं और कभी-कभी विशाल कोशिकाएं होती हैं। वपाल ग्रंथियां यदा-कदा नष्ट हो जाती हैं, पर लोम-मशिकाएं नहीं।

गदजनन. अ-परजीवी सिकोस का हेतुलोचन बहुत पहले से ज्ञात है (स्ताफिलोकोकी फ्लोरा), फिर भी उसका गदजनन, उसकी चिरकारिता और पुनरावृत्ति की आंतरिक युक्ति अब तक अस्पष्ट है। अ. पोस्पेलोव की धारणा है कि सिकोसिस की चिरकारी प्रकृति का कारण वपाल लोम-उपकरण के नर्वायन में गड़बड़ी है, जिसके फलस्वरूप स्राव का गठन बदल जाता है, उसमें ऐसे गुण आ जाते हैं, जो पूयजनक कोकों के प्रजनन के लिये अनुकूल होते हैं। आजकल शरीर के इमूनोजीवलोचनी प्रतिरोध के ह्रास की भूमिका को महत्त्व दिया जाता है और माना जाता है कि लोम-मशिकाओं में स्थानाबद्ध पैठन का एक अन्य अङ्ग भी होता है (स्ताफिलोकोकी पैठन के अतिरिक्त), जो शरीर को संवेदी बना देता है (पैठनजनित परोर्जन की अवस्था)। इसके अतिरिक्त अंतस्त्रावी गड़बड़ियां भी बहुत हद तक उत्तरदायी होती हैं। सिकोस संप्रेरित करने वाले बहिर्जनित घटकों में निम्न के नाम लिये जा सकते हैं: हजामत के वक्त कटना, त्वचीय क्षति का कोयले या धातु के बुरादे से संदूषित होना, चिरकारी नासाशोथ के कारण ऊपरी होठ के चर्म का मसृणन। ये तथा अन्य बहिर्जनित घटक और मशिकाओं में गदजनक स्थाफिलोकोकों की उपस्थिति मिल-जुल कर चिरकारी सिकोस विकसित कर देते हैं।

चिकित्सा. सिकोस का उपचार बहुत लंबा समय लेता है, अतः डाक्टर और रोगी दोनों से ही धैर्य की अपेक्षा की जाती है। सभी पहचाने जा चुके बहिर्जनित घटक दूर किये जाते हैं (अड्डाल

[illegible] की चिकित्सा, काम पर स्वास्थ्य एवं सफाई की परिस्थितियों में सुधार, चेहरे पर त्वचा की [illegible] के कारणों तथा उसकी गंदगी को दूर करना)। रोगी पर सामान्य सर्वांगीण प्रभाव की [illegible] (यदि उसके शरीर की कार्यशीलता में विचलन नजर आये)। इसके लिये [illegible] का उपयोग होता है: जल-चिकित्सा, निरोगालयों में चिकित्सा, शंतिदायक (निरूत्तेजक, [illegible] दवाएं), जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन (नर्वतंत्र में कार्यात्मक गड़बड़ी होने पर), [illegible] स्वटीका (विशिष्ट एवं अविशिष्ट स्फूर्तिदायक चिकित्सा), लोहा, आर्सेनिक [illegible] से बने प्रसाधनों से युक्त दवाएं (जैसे क्षीण जनन-कार्य में मेथिल टेस्टोस्टेरोन [illegible] और विटामिन B_{12} (सामान्य रक्ताल्पता में)। विस्तृत स्पेक्ट्रम के प्रतिजीवक [illegible] ऑक्सीटेट्रिन, टेट्राओलेआन, एरीथ्रोमीसिन) प्रलिखित किये जाते हैं। बाह्य थेरापी [illegible] का उपयोग होता है: निष्पैठक लोशन (रोगोग्रता के समय), जैसे 1:1000 [illegible] ऑक्सीडिआमिनोक्रीडीन लैक्टेट का घोल, पोटाशियम परमैंगनेट का 1:3000 के [illegible] बोरिक अम्ल का 2 प्रतिशतीय घोल, 2-5 प्रतिशत अमोनीकृत पारा या 5 [illegible] का मलहम, अथवा प्रतिजीवकों एवं स्टेरोइड हर्मोनों से युक्त मलहम [illegible] C, लोकाकोर्टेन जिसमें सक्रिय अवयव फ्लूमेथाजोन है; प्रेदनीजोलोन से युक्त [illegible] C, जिसमें सक्रिय घटक फ्लुओसीनोलोन है; ओक्सीकोर्ट)। खट्टी उतारने के लिये [illegible] सैलीसीलिक अम्ल का घोल प्रयुक्त होता है। सिंथोमीसिन के इमल्शन या [illegible] अच्छी सहनशीलता (अर्थात् परोर्जिक प्रतिक्रिया की अनुपस्थिति) की [illegible] के उपशमनकाल में अनीलीन रंजकों (मेथीलेन नीला, जेनशिआन [illegible] चमकदार हरा) के 2 प्रतिशतीय घोल का नित्य आलेप वांछित है; बोरिक [illegible] भी प्रलिखित किया जा सकता है। पराबैंगनी विकिरणन (ललामिक [illegible] अंतर्स्यंदन की स्थिति में प्रलिखित किया जाता है।

फुंसी. फुंसीक्लेश

फुंसी [illegible] के सामान्य रूपों में होती है। यह लोम-मशिका और उसके गिर्द के [illegible] स्तरों में [illegible] स्टाफिलोकोकी पूयमृतिक शोथ को कहते हैं।

[illegible]. फुंसी का [illegible] कारण स्ताफिलोकोकस औरेउस (सुनहरे स्ताफिलोकोक) हैं; [illegible] स्ताफिलोकोकस अल्बुस (श्वेत स्ताफिलोकोक) भी होते हैं।

[illegible]. फुंसी स्वस्थ त्वचा पर उत्पन्न हो सकती है या पहले से ही उपस्थित सतही या गहरी [illegible] की [illegible] (उसका उपद्रवी रूप) हो सकती है। इन जीवाणु-जातियों की गदज-[illegible] और विषाक्तता के अतिरिक्त फुंसी तथा फुंसीक्लेश के विकास में बहिर्जनित एवं अंतर्जनित [illegible] घटक भी बहुमूल्य भूमिका निभाते हैं। बहिर्जनित घटक निम्न हैं: धूल, कोयले या [illegible] के कण से त्वचा पर हल्की यांत्रिक क्षति, जो पैठन के लिये प्रवेश-द्वार का काम करती है; [illegible] के साथ घर्षण [illegible], पीठ और नितंबों पर), जिससे स्ताफिलोकोकों का प्रवेश सरल [illegible] जाता है और साथ ही साप्रोफीत* गदजनक रूप ग्रहण करने लगते हैं, नाखून से खरोंचें

---

*साप्रोफीत (ग्रीक 'साप्रोस' – शव-गलन; 'फीतोन' – उद्भिज, वनस्पति, पादप; अतः [illegible] में – कुणपतृण) कुणप – शरीर में मृत कोशिकाओं आदि – से अपना पोषण करने वाले वनस्पति [illegible] – अनु.

(दिनाइ, नार्वचर्मशोथ व खाज में), मौसमी परिस्थितियां। वृत्ति तथा घरेलू घटकों में से उन बातों पर ध्यान देना चाहिये, जो अनेक लोगों में फुंसी-विकास की संभावना बनाती हैं। महत्त्वपूर्ण अंतर्जनित घटक निम्न हैं: शरीर का दुर्बल होना, शरीर में द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां (मधुमेह, मोटापा या मेदुरता), जठरांत्र-रोग, अल्परक्तता, अविटामिनता, नार्विक एवं अंतस्त्रावी तंत्रों के रोग, अल्कोहलता, शरीर का नियमित अतिशीतन या अतितापन आदि, जो शरीर की सामान्य इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता को क्षीण कर देते हैं। फुंसियां अधिकांशतः बसंत और शरद में होती हैं। यह रोग बच्चों की अपेक्षा बड़ों में और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक अवलोकित होता है।

अकेली फुँसी (एक ही फुँसी जो कई महीनों के बाद पुनः उत्पन्न हो जाती है), पुनरावर्ती अकेली फुंसी (जो कुछेक दिनों या सप्ताहों जैसी छोटी अवधियों पर पुनरावर्तित होती है) और फुंसीक्लेश (एक के बाद एक फुंसियों की उत्पत्ति) में भेद किया जाता है। निदान निर्धारित करने में डाक्टर को तल्पिक विशेषताओं (जैसे फुंसी विद्रधि में विकसित हुई है या लसग्रंथिशोथ से क्लिष्ट है) तथा रोग-प्रक्रिया के स्थान (ऊपरी होठ, बाह्य कर्ण-छिद्र) आदि को भी ध्यान में रखना चाहिये।

रोग का तल्पिक चित्र और प्रवाह. फुंसी के विकास में तीन चरण आते हैं: (1) अंतर्स्यंद का विकास; (2) पूयन और विमरण (विमृति); (3) निरोपन

पहले लोम-मशिका के गिर्द उभरा हुआ कड़ा चमकदार [illegible] अंतर्स्यंद बन जाता है। अंतर्स्यंद की सीमा स्पष्ट नहीं होती और उसमें चुभन या हल्की पीड़ा की अनुभूति होती है। धीरे-धीरे अंतर्स्यंद एक दृढ़ गुल्म में परिणत हो जाता है और उसकी त्वचाकृति बढ़ने लगती है; इर्द-गिर्द के ऊतकों में शोफ होता है (गाल, पलकों और होठों के क्षेत्र में शोफ बहुत स्पष्ट हो सकता है)। तीसरे या चौथे दिन दूसरा चरण आरंभ होता है: फुंसी का व्यास 1-3 सेंटीमीटर हो जाता है और इसकी सतह पर केंद्र में द्रवमृतिक क्रोड़ (हीर) से युक्त पीपिका बन जाती है। फुंसी एक शंकुल गुल्म का रूप ग्रहण कर लेती है, उसकी त्वचा चिकनी और चमकदार नीली हो जाती है। इस अवधि में पीड़ा बहुत तीव्र हो जाती है, शरीर का तापक्रम 37-38°C तक उठ आता है, गरलक्लेश के लक्षण (सामान्य अस्वस्थता, सरदर्द आदि) उत्पन्न हो सकते हैं। पीपिका की चोटी पर मुँह खुद ब खुद खुल जाता है (या कृत्रिम रूप से खोला जाता है)। फुंसी से पीप निकलती है, जो कभी-कभी रक्त-मिश्रित होती है। इसके बाद एक पीताभ हरा विमृतिक क्रोड निकलता है। क्रोड के निकलने (या उसे निकालने) के बाद शोफ, अंतर्स्यंदन और पीड़ा दब जाती है, जो दो या तीन दिनों में एक दाग के रूप में परिणत हो जाता है। दाग शुरू में नीला-लाल होता है, जो धीरे-धीरे सफेद होता हुआ लगभग अदृश्य हो जाता है। फुंसी का विकास-चक्र सामान्यतः आठ से दस दिनों तक चलता है।

प्रक्रिया के अवतल्पिक प्रवाह में एक पीड़ाजनक अंतर्स्यंद बनता है, पर पूयन या विमरण नहीं होता। छोटी फुंसी को मशिकाशोथ में नन्हे केंद्रीय विमृतिक क्रोड द्वारा उत्पन्न क्षति से भिन्न समझना चाहिये। अन्य रोगों अथवा गलत चिकित्सा से दुर्बल रोगियों में फुंसी विद्रधि में परिणत हो जाती है।

फुंसी हथेलियों और तलवों की लोमविहीन त्वचा को छोड़ कर चर्म के किसी भी क्षेत्र में बन सकती है। अकेली फुंसी अधिकांशतः सर के पिछले भाग में, प्रबाहु, पीठ, पेट, नितंब और निचले अंगों (पैरों) पर होती है। बाह्य कर्णकुहर के किनारे फुंसी से तीव्र पीड़ा होती है। ऊपरी होठ

पर फुंसी एक खतरनाक रोग है, क्योंकि इससे लसकुंभियों और शिराओं के स्कंदक्लेश के साथ साथ प्रमस्तिष्क-कुंभियों में सूपक शिराशोथ और सामान्य (सर्वांगीण) सूपन हो जा सकता है। जब गरदन, वक्ष और जांघ में फुंसियां लसपर्वों के बहुत निकट होती हैं, तो लसकुंभियों और लसग्रंथियों का तीव्र शोथ विकसित हो जा सकता है। यकृत, वृक्क और अन्य आंतर अंगों की ओर भी [illegible] अपवहन संभव है। इन्हीं क्लिष्टताओं के कारण फुंसियां कभी-कभी गंभीर रोग [illegible] है। हजामत के समय फुंसी के कटने या उसे दबा कर बहाने के प्रयत्न से तथा [illegible] चिकित्सा से इन क्लिष्टताओं के और भी बढ़ने का खतरा रहता है। चेहरे पर, [illegible] के बीच त्रिभुजाकार स्थल पर और नाक के चर्म व श्लेष्मल झिल्ली पर फुंसियां [illegible] क्लिष्टताओं के विकास को संप्रेरित करती हैं।

फुंसीक्लेश एक ऐसी अवस्था है, जिसमें बहुसंख्य (यद्यपि हमेशा नहीं) और पुनरावर्ती फुंसी-[illegible] उत्पन्न होते हैं। फुंसीक्लेश स्थानाबद्ध (परिसीमित चर्म-क्षेत्र पर), विसरित या प्रकीर्णित [illegible] हुआ हो सकता है। प्रवाह के अनुसार फुंसीक्लेश तीव्र (कई सप्ताह से लेकर एक-[illegible] महीने की अवधि अनेक फुंसियों की उत्पत्ति द्वारा लंछित) या चिरकालिक (छोटी अवधि या [illegible] महीनों तक कम संख्या में फुंसियों की उत्पत्ति द्वारा लंछित) हो सकता है।

[illegible] क्लिष्टता-युक्त) केसों में निदान सरल होता है। अन्य स्थितियों में इसका मिश्रीरी [illegible], स्वेदग्रंथिशोथ और [illegible] लोमतृणत्व के साथ अंतर दिखाना पड़ता है। [illegible] मिश्रीरी व्रण) पिटक-वस्तिकीय क्षति के साथ होता है और उस पर भूरी-काली खुरंडी [illegible] है। इसके अतिरिक्त सुचर्म तथा अधश्चर्म में भी स्पष्ट अंतस्यंदन हो जाता है, तीव्र [illegible] में कई गड़बड़ियां उत्पन्न होती हैं। स्वेदग्रंथिशोथ में अपस्रावी ग्रंथियों [illegible] (बगल, चुचुकों और पृष्ठद्वार में) पूयिक शोथ होता है, केंद्रीय विमृ-[illegible] (त्रीखोफीटोन से उत्पन्न कणार्ब अक्सर शिरोवल्क तथा दाढ़ी के [illegible] उत्पन्न होता है। रोगवृत्त (जंतु से स्पर्शात्मक संपर्क), तीव्र पीड़ा और पूयमृतिक [illegible] की अनुपस्थिति और गदलोचनी द्रव्य के सूक्ष्मदर्शन से कवकों का अनुवेदन – ये सब निदान के लिये महत्वपूर्ण होते हैं। कुछ केसों में फुंसीक्लेश को पार्विक ललामी, कठललामी और कंठमाल-[illegible] से भी इतिरिक्त करना पड़ता है (दे. तदनुरूप अनुच्छेद)।

[illegible] पूयिक शोथ लोम-मशिका, स्वेद-ग्रंथि तथा चारों ओर के योजक ऊतकों को [illegible] ग्रस्त कर देता है (परिमशिकीय अंतस्यंद के साथ गहरा मशिकाशोथ)। शुरू-शुरू [illegible] चित्र [illegible] मशिकाशोथ जैसा होता है, लेकिन बाद में संपूर्ण वपा-लोमीय उपकरण [illegible] ऊतकों का विसरण पाया जाता है; परिसर में श्वेतकोशिकीय अंतस्यंदों की बहुलता [illegible] है। चारों तरफ के योजक ऊतक में अक्सर विस्फारित रक्तकुंभियां और कोलाजनों का स्पष्ट [illegible] प्रदर्शित होता है। पैठन के अड्डे में प्रत्यास्थ एवं कोलाजनी तंतु (रेशे) पूर्णतया नष्ट [illegible] है। विमृत्रिक अड्डे के परिसर में एक मजबूत रजतप्रेमी-जालिका बन जाती है। तंतुओं के [illegible] बढ़ने का एक मोटा वलय पैठन के अड्डे को घेर लेता है, ताकि रोगाणु वहाँ से निकल [illegible] फैल [illegible] इसीलिये फुंसी को दबा कर बहाने के प्रयत्न से वलय के टूटने का खतरा [illegible] रोगाणु अन्यत्र भी फैल जा सकते हैं)।

चिकित्सा फुंसी की चिकित्सा बहुत हद तक गदलोचनी प्रक्रिया के प्रकार एवं प्रसार पर [illegible] है। उदाहरणार्थ यदि फुंसी अकेली है और उसके साथ कोई क्लिष्टता उत्पन्न नहीं [illegible] [illegible] प्रलिखित की जाती है (विशेषकर जब रोगी आयुरी सलाह लेने

विलंब नहीं करता, रोग के आरंभिक चरण पर ही डाक्टर से मिल लेता है)। पुनरावर्ती एवं लष्ट फुंसियों में, खतरनाक स्थल पर उत्पन्न फुंसियों में, फुंसीक्लेश में (विशेषकर चिरकालिक एवं बिखरे हुए फुंसीक्लेश में) बाह्य थेरापी के अतिरिक्त ऐसे सामान्य उपाय भी किये जाते हैं, जो जीवाणुक वनस्पतियों पर अभिक्रिया करते हैं, शरीर की रक्षी प्रतिकारी शक्तियों को स्फूर्त करते हैं और रोगी के परीक्षण के समय पाये गये अन्य अंतर्वर्ती रोगों को ठीक करते हैं।

प्रतिजीवकों का विस्तृत उपयोग होता है। पेनीसिलिन अंतर्पेशीय सूई से 50000-100000U की खुराकें प्रति तीन या चार घंटे पर दी जाती हैं; तीव्र रूप में कुल मात्रा 1000000-3000000U तक दी जाती है और चिरकालिक रूपों में 500000-10000000U या इससे भी अधिक। अनावासी तल्पालय के रोगी की चिकित्सा एक्मोनोवोसिलिन (बेंजिलपेनीसिलिन प्रोकेन व एक्मोलिन – त्रिप्रोटामीन सल्फेट के घोल – के मिश्रण) और वीसिलिनों (बेंजाथीन पेनीसिलिन) से की जाती है, जो पेनीसिलिन के चिरकारी प्रसाधन हैं। इनमें से पहली दवा की सूई दिन में एक बार 600000U की मात्रा में दी जाती है, दूसरी दवा तीन या चार दिन में एक बार 1200000-1500000U की मात्रा में दी जाती है (पूरी चिकित्सा के दौरान 3000000 से 8000000U दी जाती है)।

आजकल पेनीसिलिन और इसके व्युत्पादों के विरुद्ध कोकी उद्भिजों (विशेषकर स्ताफिलोकोकों) की प्रतिरोधिता अवलोकित हो रही है। इसीलिये फुंसीक्लेश की चिकित्सा में अधिकाधिक महत्त्व विस्तृत स्पेक्ट्रम (परास) वाली दवाओं को दिया जा रहा है, जो प्रतिजीवाणुक प्रभाव डालती हैं, जैसे: मैक्रोलिड – एरीथ्रोमीसिन तथा ओलेअन्डोमीसिन, और तेत्रासिक्लीन के साथ इनके मेल – ओलेन्डोमिन, सिग्मामीसिन और तेत्राओलेअान। प्रतिजीवकों के प्रति रोगकारी जीवाणुओं की संवेदिता की द्रुत जाँच (जैसे प्रतिजीवलेख) की सहायता से किसी भी रोगी के लिये आवश्यक प्रतिजीवक ज्ञात किया जा सकता है; इन परीक्षणों के परिणाम 12 से 24 घंटे में प्राप्त हो जाते हैं।

कतिपय चर्मपूयताओं और विशेषकर चिरकालिक फुंसीक्लेश की चिकित्सा में अर्धकृत्रिम पेनीसिलिनों का अब अधिकाधिक विस्तृत उपयोग हो रहा है। ये हैं: मेथीसिलिन (1.0g की अंतर्पेशीय सूई प्रत्येक चार से छे घंटे पर), और ओक्सासिलिन (0.25-0.5g की टिकियों या कैप्सुलों के रूप में प्रत्येक छे घंटे पर, पाँच दिनों तक; अंतर्पेशीय सूई द्वारा 0.25-0.5g की मात्रा दिन में दो से चार बार)। प्रतिजीवकों के साथ मुखमार्ग से प्रतिहिस्टामीनिक साधन देना वांछनीय है।

सुल्फोनामीड (सुल्फाथिआजोल, सुल्फादीमीदीन, सुल्फामेथोक्सीन, सुल्फामेथोक्सीपीरीदाजीन) तथा अन्य प्रतिजीवाणुक प्रसाधन उनकी सामान्य अभिक्रिया के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। नित्रोफुरान के व्युत्पाद: फूराजोलीदोन, फूराजोलिन, फूरादोनिन (नित्रोफूरांटोइन) और फूरागिन (फूराजिन) पिछले समय से उन स्थितियों में प्रलिखित किये जाने लगे हैं, जब स्ताफिलोचर्मता प्रतिजीवकों और सुल्फोनामीदों का प्रतिरोध करने लगती है। ये मुखमार्ग से 0.1g की टिकियों में दिन में दो या चार बार खाने के बाद दिये जाते हैं (चिकित्साकाल पाँच-सात-दस दिन हो सकता है)। 12 महीने तक के पयोपा बच्चे के लिये फूराजोलिन की एक खुराक 0.01-0.015g है, 1 से 2 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.02g, 2 से 5 वर्ष तक के बच्चे के लिये 0.03-0.04g और 5 से 14 वर्ष तक के लिये 0.05g; यह दिन में तीन या चार बार, खाने के 15 से 20 मिनट बाद दिया जाता है।

[illegible] फुंसियों तथा चिरकालिक फुंसीक्लेश में पैठन को नियंत्रित करने के साथ-[illegible] की प्रतिकारी शक्ति बढ़ाने के लिये अविशिष्ट स्फूर्तिदायक थेरापी (स्वरक्त-चिकित्सा) [illegible] का टीका (बहुसंयोजी या स्वटीका) स्ताफिलोकोकी तोक्सोइद तथा एंटीफागिन [illegible] इमूनोथेरापी) की जाती है। कुटाली (जो टाले नहीं टले) या [illegible] में गामा ग्लोबूलिन का उपयोग होता है।

[illegible] आंत्र-शैथिल्य, आंतर अंगों के रोगों, अल्परक्तता आदि की चिकित्सा चिर-[illegible] से पीड़ित व्यक्तियों के उपचार-संकुल का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। ऐसे रोगियों [illegible] चाहिये, चटपटा व मसालेदार नहीं होना चाहिये। अल्कोहलिक पेय वर्जित [illegible] 'सी' और 'बी-संकुल' के साथ-साथ लोहा तथा फोस्फोरस के प्रसाधन [illegible] 15 से 20 दिनों तक एक-एक गोली दिन में तीन बार) वांछनीय है।

[illegible] के गिर्द त्वचा को सैलीसीलिक अल्कोहल, कैंफर स्पीरिट, इथर, बेंजीन या वोद्का से [illegible] है। फुंसी और इसके गिर्द पड़ोसी क्षेत्र में बाल काट दिये जाते हैं (मुड़े [illegible] मशिकाशोथ तथा नयी फुंसियों का विकास रोका जा सके। यह काम ग्रस्त [illegible] की दिशा में किया जाता है। इसके बाद बालों को फुंसी में से निष्कीटित [illegible] लिया जाता है और शुद्ध इख्थामोल लगा कर निष्कीटित रुई की पतली [illegible] जाता है। इख्थामोल में बैक्टेरियानाशक, केराटोप्लास्टिक [illegible]), [illegible] तथा प्रतिशोथी गुण होते हैं। इख्थामोल का एक 'केक' (चपटा टुकड़ा) [illegible] लगाया जाता है। पहले से लगे इख्थामोल को गुनगुने पानी से दूर किया [illegible] नहीं होती। यदि फुंसी का मुँह नहीं खुला है, तो ऐसी चिकित्सा [illegible] विकास कभी-कभी आगे नहीं बढ़ पाता। फुंसी का मुँह खोलने के बाद [illegible] जाती है: व्रण पर अतितानी नमकीन घोल की पट्टी रखी जाती है और [illegible] इख्थामोल लेपा जाता है। कभी-कभी फुंसी पर पारद-प्लास्टर (मर्करी-[illegible] है; फुंसी का मुँह खुलने पर मलहम लगाया जाता है: 5 प्रतिशत [illegible] विश्नेव्स्की का मलहम (3 भाग टार, 3 भाग क्सेरोफोर्म, 94 भाग [illegible] अमोनीकृत पारे का, 10 प्रतिशत इख्थामोल का, 1-2 प्रतिशत पीले [illegible] क्लोरोतेत्रासिक्लीन या एरीथ्रोमीसिन का, या डीबिब्रोमीसिन का [illegible] सोलुक्स, मीनिन का परावर्तन) या परा-उच्चावृत्तिक विद्युचुंबकीय [illegible] वांछनीय है। आर्द्र ताप (गीली पुल्टिस) और जल-क्रिया रोगकाल में [illegible] फुंसी के विदारित में परिणत होने पर करोर्जन और तीव्र प्रतिजीवकथेरापी का उपयोग [illegible] वांछनीय है; इमूनी चिकित्सा: अति-इमूनी गामा ग्लोबूलिन, अति-[illegible] प्लाज्मा, स्ताफिलोकोकी तोक्सोइड।

[illegible] फुंसियों की स्थिति में (यदि वे चेहरे पर नहीं हैं) भविष्य हमेशा [illegible] है चिरकालिक फुंसीक्लेश की स्थिति में (विशेषकर प्रौढ़ या अधेड़ व्यक्तियों में, [illegible] से पीड़ित लोगों में), क्लिष्ट फुंसियों तथा सूपन की स्थितियों में [illegible] हो जाता है।

कोलफुंसी

[illegible] त्वचा के अवचर्म की गहरी परतों तक विसरित पूयमृतिक शोथ की प्रक्रिया है, [illegible] के रोम-पुटकों की लोम-मशिकाएं भी आ जाती हैं। फुंसी से इसकी भिन्नता इस बात

में है कि इसमें पूयमृतिक अंतर्स्यंद अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते हैं और सुचर्म एवं अवचर्म को बेधते हुए उनकी गहरी परतों तक विसरित हो जाते हैं।

इस क्षति का नाम कार्बुंकुल या कोलफुंसी है (लातीनी 'कार्बो'—कोयला, चारकोल), क्योंकि पूयमृतिक शोथ के दरम्यान बना हुआ विमृत क्षेत्र अलकतरे की तरह काला होता है।

इसके प्रिय स्थल हैं—पश्च कपाल, पीठ और कमर।

निमित्त कारण अधिकांशतः सुनहरे स्ताफिलोकोक हैं; स्ताफिलोकोक की अन्य जातियों से यह कम ही उत्पन्न होता है।

गदजनन को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न हैं: दुर्बलता (चिरकालिक कुपोषण अथवा किसी तीव्र कायिक रोग से), द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ी (विशेषकर कार्बोहाइड्रेट के विनिमय में गड़बड़ी, जैसे मधुमेह में)।

तल्पिक चित्र और रोग-प्रवाह. शुरू-शुरू चर्म में चंद अलग-अलग कठोर पर्विकाएं अवलोकित होती हैं, जो मिलकर एकीकृत अंतर्स्यंद बना लेती हैं। यह अंतर्स्यंद बढ़ता है, कभी-कभी तो बच्चे की हथेली के बराबर भी हो जाता है। इसकी सतह अर्धवर्तुली हो जाती है, त्वचा तन जाती है और मध्य में नीलाभ हो जाती है। स्थानिक कोमलता अवलोकित होती है। यह अंतर्स्यंद के विकास का प्रथम चरण है, जिसमें 8 से 12 दिन लगते हैं। इसके बाद अंतर्स्यंदन-क्षेत्र में चंद पीपिकाएं बनती हैं, जिनके मुँह खुल जाते हैं। कई खुले मुँहों के कारण कोलफुंसी मोटे छेद वाली चलनी (या छनौटे) की तरह दिखने लगती है। इन मुहानों से रक्त-मिश्रित पूय और हरा विमृतिक द्रव्य स्रावित होते हैं। कोलफुंसी के मध्य में विमृत क्षेत्र का आकार निरंतर बढ़ता जाता है। द्रव्यों के बाहर निकलने से ऊतकों में एक विस्तृत क्षति (एक व्रण) उत्पन्न हो जाती है, जो पेशियों तक पहुँच जाती है। यह दूसरा चरण, पूयन और विमरण का चरण, 14 से 20 दिनों तक चलता है। इसके बाद व्रण कालक्रम ऊतकों से भर जाता है और नीचे के ऊतकों के साथ संगलित एक गहरा और रूखड़ा दाग बन जाता है। बड़े दाग कोलफुंसी के आपरेशन से भी रह जाते हैं।

कोलफुंसी अक्सर एकल क्षति के रूप में उत्पन्न होती है। इसके विकास के साथ-साथ तेज बुखार आता है, टभकने की मर्मभेदी पीड़ा होती है, ठंड लगती है, चित्त अवसन्न रहता है। बुढ़ापे में, तीव्र मधुमेह के कृश रोगी में और नार्विक-मानसिक अतितनाव की स्थिति में कोलफुंसी का प्रवाह दुर्दम रूप धारण कर सकता है। ऐसी स्थिति में नर्वशूलिक वेदना, विक्षिप्ति या गहन अवलुंठन तथा मृदनजनित ज्वर से लक्षित होती है। बड़ी कुभी से अत्यधिक रक्तस्राव या सूपन के कारण मृत्यु भी हो सकती है। जब कोलफुंसी नाक या ऊपरी होठ के क्षेत्र में स्थित होती है, तो तीव्र छादिकीय क्लिष्टता उत्पन्न होने का खतरा रहता है।

निदान कठिन नहीं है। आंथ्राक्स कोलफुंसी को भी ध्यान में रखना चाहिये, जो कोलफुंसी के ही सदृश होती है, लेकिन उसमें ऊतक का शोफ अधिक स्पष्ट एवं वर्धित होता है, पीपिका में कोयले (आंथ्रासीत) से मिलती-जुलती काली खड़ी पड़ जाती है (इसीलिये नाम पड़ा है—आंथ्राक्स), और इसका निमित्त कारण भी अलग होता है—अएरोबिक ग्राम-पोजीटिव आंथ्राक्स बासिल। फुंसी और कोलफुंसी में भेद करना आसान है, इसके लिये ऊपर वर्णित तल्पिक चित्र को ध्यान में रखना पर्याप्त है।

ऊतगदलोचन. सुचर्म और अवचर्म के निचले भागों की गहरी विमृति देखी जाती है। विमृति (विमरण) धीरे-धीरे परिसर की ओर फैलने लगती है। पैठन के ये अड्डे न्युट्रोफिलों के मोटे अंतर्स्यंद में होते हैं।

चिकित्सा कोलफुंसी की चिकित्सा में सदा सामान्य युक्तियों को भी शामिल किया जाता है और इस फुंसी की चिकित्सा से बहुत भिन्न नहीं होती। तीव्र स्थितियों में प्रतिजीवक के साथ [illegible] दिये जाते हैं। रश्मि-चिकित्सा (रेडियो-चिकित्सा) भी इस रोग में लाभ पहुँचाती है। कोलफुंसी यदि तेजी से बढ़ रही हो तो उस पर गुणा की आकृति का चीरा लगा कर विमृत [illegible] का [illegible] कर देना सुसंकेतित है। यह काम नियमतः करोर्जक करते हैं। साथ-साथ प्रतिजी-[illegible] की चलती है (500000U स्त्रेप्तोमीसिन की सूई दिन में दो बार, साथ-साथ प्रति [illegible] पेनीसीलिन की सूई या इसके समतुल्य अन्य दवाओं की सूइयां)। कोलफुंसी [illegible] 2 प्रतिशत कैंफर स्पीरिट या सैलीसीलिक अम्ल से दिन में दो बार अनिवार्य [illegible] किया जाता है; सभी खरोंचों और निस्त्वचन पर कास्तेलानी के पेंट का अथवा [illegible] के अल्कोहलिक घोल का लेप लगया जाता है।

[illegible] भविष्यवाणी रोगी की सामान्य अवस्था पर निर्भर करती है।

स्वेदग्रंथिशोथ

[illegible] एकतरफा) या [illegible] चर्म-मोड़ पर स्थित अपस्त्रावी स्वेदग्रंथियों का [illegible] कभी-कभी यह चुचुकों, [illegible] भगोष्ठों, फोता, पृष्ठद्वार आदि के भी क्षेत्रों में [illegible]

[illegible] इसका सामान्यतम निमित्त कारण सुनहरे स्ताफिलोकोक हैं, जो लोम-[illegible] के [illegible] ग्रंथियों की अपवाही [illegible] में प्रविष्ट हो जाते हैं।

[illegible] इस रोग के प्रवणकारी घटक निम्न हैं: शरीर की सामान्य दुर्बलता; अतिस्वेदन, [illegible] पृष्ठद्वार पर क्षारीय प्रतिक्रिया वाला स्वेद (विशेषकर उन लोगों में, [illegible] नहीं होती), मसूरन [illegible] सूक्ष्म घाव, हजामत के समय कटना, नार्विक [illegible] पारमेह, जनन-ग्रंथि की गड़बड़ी) वाले लोगों में कंडुक चर्मक्लेश के [illegible] में), तथा स्थानिक प्रतिरोध में कमी। स्वेदक अपवाही ग्रंथियां सिर्फ [illegible] में विकसित होती हैं (लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा कुछ पहले)। स्त्रियों में [illegible] पुरुषों से अधिक होती है, स्त्रियों में यह रोग अवलोकित भी अधिक होता है। [illegible] इन ग्रंथियों की क्रियाशीलता निर्वाण हो जाती है (बुझ जाती है), इसीलिये बुढ़ापे में यह रोग नहीं होता।

[illegible] शुरू-शुरू सुचर्म और अवचर्म की गहराइयों में टीले जैसे अलग-थलग [illegible] दिखाई देते हैं। रोगी को हल्की खुजली या पीड़ा महसूस होती है। पर्व आकार में [illegible] बड़े होते हैं, [illegible] से चिपक जाते हैं (नीचे से) और नाशपाती की आकृति ग्रहण कर [illegible] इसकी डंठली उनका 'कुतिया के थन' की तरह चुचुकाकार होता है। त्वचा नीली-लाल [illegible] है। [illegible] बढ़ जाता है, पीड़ा भी साथ-साथ बढ़ती है। असंपृक्त (एक-दूसरे से [illegible]) पर्व अक्सर [illegible] हो जाते हैं, उनमें मुलायमियत आ जाती है, फिर सिहरन उत्पन्न [illegible] जिसके बाद उनका मुँह अपने-आप खुल जाता है और उनमें से रक्त-मिश्रित गाढ़ा पूय [illegible] विमुक्त क्रोड नहीं बनता। कभी-कभी फ्लेग्मोन (दाहक फोड़ा) से मिलता-[illegible] विस्तृत अंतर्स्यंद बन जाता है; इस स्थिति में पीड़ा सिर्फ चलने-फिरने में ही नहीं विश्राम के वक्त भी होती है, रोगी अशक्त हो जाता है। क्षति की परिपक्वता के [illegible] अवस्था बढ़ती है, [illegible] कुछ ऊँचा हो जाता है, पीड़ा तेज होती है। गाँठ (पर्व)

का मुँह खुलने पर उसमें तनाव और पीड़ा की अनुभूति कम हो जाती है, व्रण कुछ दिनों में ठीक हो जाता है (अंतर्स्यंद को विलीन होने में कुछ अधिक समय लगता है)। पुनरावर्तन अक्सर होता रहता है और इससे प्रक्रिया का प्रवाह विलंबित हो जाता है। काक्षिक (काँख का) स्वेदग्रंथिशोथ एक तरफा होता है, पर दोतरफा क्षतियां भी देखने को मिलती हैं। स्वेदग्रंथिशोथ औसतन 10 से 15 दिनों में समाप्त हो जाता है, लेकिन विलंबित प्रवाह भी बहुत अक्सर अवलोकित होता है (विशेषकर अतिस्वेद तथा पारमेह के रोगियों में और उन व्यक्तियों में, जो त्वचा की सफाई पर ध्यान कम देते है)।

ऊतगदलोचन. प्रक्रिया सुचर्म और अवचार्म वसा की विभाजक सीमा-रेखा द्वारा स्थानाबद्ध होती है। अपवाही ग्रंथि और उसके गिर्द स्थित योजक ऊतकों को एक पूयिक अंतर्स्यंद आच्छादित कर लेता है, जिसमें शुरू-शुरू (आरंभिक चरण पर) मुख्यतः न्युट्रोफिल ही होते हैं, पर बाद में लस-कोशिकाएं और प्लाज्मा-कोशिकाएं भी शामिल होने लगती हैं। इसके बाद पैठन लसकुंभियों के सहारे-सहारे फैलता हुआ अन्य अपस्रावी ग्रंथियों तथा विस्रावी [illegible] तक पहुँच जाता है और उनमें पूयिक संगलन उत्पन्न करके उन्हें मार देता है।

निदान. रोग की विशिष्ट स्थानाबद्धता और उसके विशिष्ट [illegible] चित्र के कारण निदान बहुत सरलता के साथ हो जाता है। विमृतिक क्रोड की अनुपस्थिति स्वेदग्रंथिशोथ को फुंसी से विभेदित (इतरित) करती है। संगलक गंठिक्लेश का प्रवाह अधिक विलंबित होता है, लसपर्व उसकी चपेट में शुरू से ही आ जाते हैं; इसके अतिरिक्त, इसमें [illegible] नहीं होती, विस्तृत व्रणित क्षेत्र विकसित हो जाते हैं, अनेक नासूर हो जाते हैं, जो ठीक होने के बाद सेतुवत दाग छोड़ जाते हैं (नासूर: व्रण से दूर गहराई तक गया हुआ नलीनुमा [illegible] जिससे पीप बह कर निकलती है।—अनु.)।

चिकित्सा. आरंभिक चरण पर ही क्षति का विकास रोकने के लिये परास्वनि, उच्चावृत्तिक विद्युधारा, पराबैंगनी विकिरण, शुद्ध इख्थामोल ('केक [illegible]) [illegible]क्स-किरणों के उपयोग की सलाह दी जाती है। एक्सरे-चिकित्सा आवश्यकतानुसार तीन-चार दिनों पर दुहरायी भी जा सकती है; इसकी खुराक बहुत कम होती है: 50-80r (रेंटगेन) [illegible] 1-2 मिलिमीटर मोटे अलुमिनियम के फिल्टर (Al-फिल्टर) से होकर; त्वचा-फोकस की दूरी 30-40 सेंटीमिटर; 120kV (किलोवोल्ट)। एक्सरे-चिकित्सा उस स्थिति में भी [illegible] होती है, जब रोग में विलंबित प्रवाह ग्रहण करने की प्रवृत्ति आने लगती है और उसका पुनरावर्तन होने लगता है। संपुंजित (एक जगह जमा) विद्रधियों की स्थिति में करोर्जन की सहायता ली जाती है। 0.5-1.0 प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल (8-10 मिलिलीटर) की सूई पेनिसिलिन (300000-500000U) के साथ या तेत्रालेआन के जलीय घोल की सूई क्षति के गिर्द लगाने की सलाह दी जाती है, यदि अंतर्स्यंदन और पीड़ा अत्यधिक होती है। इससे पैठन की घेराबंदी हो जाती है; यह काम हर एक दिन बीच दे कर करना चाहिये; चिकित्सा चार या पाँच बार में संपन्न हो जाती है। चिरकारी (चिरस्थायी) कुटाली तथा पुनरावर्ती स्वेदग्रंथिरोग में टीका से चिकित्सा एक विवेकसंगत उपाय है। अन्य बातों में इस रोग की चिकित्सा फुंसी जैसी ही होती है। निरोध (रोग की रोकथाम) सफाई की सही आदतों से होता है (शरीर को अक्सर साबुन व स्पंज से साफ करना); काँख को सैलीसीलिक अल्कोहल या बोरो-कैंफर स्पीरिट से निष्पैठित करना चाहिये।

अब हम उन स्ताफिलोचर्मताओं का वर्णन करेंगे, जो मुख्यतः नवजात एवं पयोपा शिशुओं को

भी संभव हैं – रक्तलयकारी स्त्रेप्तोकोक (Streptococcus haemolyticus), आंत्र-एशेरीखिया (Escherichia coli), सामान्य प्रेतेउस (Proteus vulgaris), आदि।

गदजनन. गादिक अवस्था के विकास को सुगम करने में निम्न घटकों का योगदान हो सकता है: बच्चे की सफाई में कमी, अतितापन (काफी गर्म कपड़े पहनाने से), भीगे कपड़ों को लंबे समय तक नहीं बदलना, अतिस्वेदन (जिससे चर्म बहुत मुलायम व नम हो जाता है), आंतरिक कुपोषण, अपर्याप्त आहार, गलत आहार, आंत्रशोथ, सामान्य पैठन, आदि। यह रोग अधिकांशतः अपरिपक्व नवजात शिशु में पाया जाता है, या ऐसे बच्चों में, जिनका शारीरिक प्रतिरोध कम होता है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. यदि स्वेद-ग्रंथि के अपवाही मार्ग का सिर्फ मुहाना पैठनग्रस्त होता है, तो छोटी (बाजरे के दाने के बराबर) सतही पीपिका (परिरंध्रशोथ) बनती है, जो थोड़े ही समय में सूख कर खुद्दी बना लेती है और बिना कोई निशान छोड़े ठीक हो जाती है। लेकिन सामान्यतः पूरा अपवाही मार्ग और स्वेद-ग्रंथि का ऊपरी भाग पैठन-ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थितियों में अनेक कठोर लाल-नीले पर्व विकसित हो जाते हैं, उनकी पारस्परिक सीमा-रेखाएं स्पष्ट होती हैं। वे पहले मटर के दाने के बराबर होते हैं, फिर नेत्रों में बढ़ कर बेर का आकार ग्रहण कर लेते हैं। पर्वों के केंद्र जल्द ही मुलायम हो जाते हैं, वह चर्म पतला होता है और उसमें द्रव का जमाव परिस्पर्शित होता है। इसके बाद उनके मुँह खुल जाते हैं और रक्त-मिश्रित पतला पूय निकलता है। प्रक्रिया खत्म होने पर दाग रह जाता है। बहुविध विद्रधियां सामान्यतः उन स्थलों पर होती हैं, जहां शरीर बिस्तर को स्पर्श करता है (धड़ का पिछला भाग, पीठ, नितंब, जांघें)। जब कई उत्तेजन पर्व (गाँठें) बन चुकते हैं, तब प्रक्रिया वक्ष और पेट की त्वचा तक फैल भी सकती है। शिशु की सामान्य अवस्था अधिकांश स्थितियों में संतोषजनक ही रहती है, शरीर का तापक्रम बिरले ही ऊँचा उठता है। दुर्बल पर्वों वाले बच्चों में क्लिष्टताओं के उत्पन्न होने का खतरा रहता है जैसे अंतरमोन, मध्य कर्ण का शोथ, यकृत और प्लीहा की क्षति और यहां तक कि घातक मृत्यु भी हो सकता है। इन स्थितियों में स्फोट बारी-बारी से कभी यहां, तो कभी वहां उत्पन्न होते रहते हैं: बुखार और श्वेतकोशिकाक्लेश होते हैं; ESR बढ़ जाता है, इन सबे लक्षण तक ठीक नहीं होते।

ऊतकवीक्षण. विमृति स्वेद-ग्रंथियों के अपवाही मार्ग में होती है और सुचर्म तथा अवचर्म तक फैल जाती है। स्टाफिलोकोक और अन्य रोगकारी जीवाणुओं के बड़े-बड़े जमघट स्वेदमार्ग (नली) के भीतर बन जाते हैं।

निदान. निदान पयोपा बच्चों में गाँठों (पर्वों) के भीतर बिना तीव्र शोथ के द्रव की उपस्थिति के अनुवेदन पर आधारित होता है। इस उम्र में फुंसीक्लेश विरले ही होता है और यदि होता भी है, तो बहुत अल्प क्षतियों, तीव्र शोथ के लक्षणों और विमृतिक क्रोड के साथ ही होता है। परिरंध्रशोथ को मशिकाशोथ से इतरित करना चाहिये, जिसमें क्षति सदैव लोम-मशिका और लोम-डंठल से संबंधित होती है; लोम-डंठल पीपिका के केंद्र में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, फुंसी की तरह मशिकाशोथ भी अधिक उम्र के ही बच्चों में होता है। पयोपा बच्चे में बहुलित विद्रधि का आरंभ कुछ हद तक पिटकमृतिक गंठिक्लेश के आरंभिक चरण से मिलता-जुलता हो सकता है, जब क्षतियां शिरोवल्क तथा धड़ की त्वचा तक ही सीमित रहती हैं और पनीर जैसी विमृति विकसित नहीं हुई रहती है। अन्य अंगों में गंठिक्लेश की अभिव्यक्तियों तथा पिर्के (Pirquet) की प्रतिक्रिया के परिणामों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। कभी-कभी इस रोग को कंठमालचर्मता

[illegible] करना पड़ता है, जो अक्सर अलग-थलग क्षतियों के रूप में उत्पन्न होती है। [illegible] का मध्य भाग जल्द ही गल कर खुल जाता है और अत्यल्प सीरमी स्राव [illegible] हो जाता है, जिसमें कणीकरण बहुत मंद गति से होता है।

[illegible] और निरोध. निरोध विशेष महत्वपूर्ण है: बच्चे की देख-भाल में सफाई, समय पर [illegible] और अन्य वस्त्रों को बदलने आदि के काम को प्राथमिकता देनी चाहिये। हाइ- [illegible] युक्तिसंगत आहार, अतितापन से रक्षा आदि भी आवश्यक उपाय हैं।

[illegible] शुद्ध इक्थामोल ('केक' के रूप में) लगाया जाता है। आवश्यकता होने पर [illegible] विधियों से खोला जा सकता है। स्वस्थ त्वचा को कैंफर स्पीरिट से पोंछना [illegible] कुछ समय के लिये रोक देना चाहिये। प्रतिजीवक, सुल्फोनामीड, अन्य स्फूर्ति- [illegible] माँ के रक्त तथा गामा ग्लोबूलिन की सूई आदि प्रलिखित की जाती हैं। यदि सुसंके- [illegible] के लक्षण और स्थानाबद्ध पैठन के अड्डे की भी चिकित्सा करनी चाहिये।

[illegible] पर बहुत सावधानी से विचार करना चाहिये। दुर्बल बच्चों में, क्लिष्टताएं होने [illegible] न्यूमोनिया (क्लोमशोथ [illegible] एंटेरोकोलीटिस होने पर अच्छी भविष्यवाणी नहीं की [illegible]

नवजात शिशुओं में जानपदिक बुदबुदिया

[illegible] शिशुओं के लिये तीव्र [illegible] है और तत्पिकतः पीपिकाओं के [illegible] होता है।

[illegible] इसके [illegible] हैं। लेकिन कुछ वैज्ञानिकों की धारणा [illegible] की एक अन्य [illegible] या शायद स्त्रेप्तोकोकों के कारण होता [illegible] रोग का असली [illegible] कोई निस्यंद्य वीरुस हो।

[illegible] महत्वपूर्ण भूमिका इस तथ्य की है कि नवजात शिशु के चर्म की [illegible] होती है, जो बाक्तेरिक घटकों के विरुद्ध वस्तिकाओं के विकास [illegible] कमजोरवना, जन्म-क्षतियां तथा सगर्भता-काल में गरलता भी संप्रेरक घटक [illegible]

[illegible] ही छुतहा है। पैठन के मुख्य स्रोत आयुर के कार्यकर्मी (नर्स, [illegible] में चर्मपूयता से पीड़ित माँएं और पयोपा बच्चे में पूयिक अड्डे होने [illegible] से पैठन)। [illegible] के वाहक व्यक्ति भी पैठन फैला सकते हैं। [illegible] घरों में प्रकट हो सकती है, जहां बीमार नवजात शिशु से पैठन वहां [illegible] के [illegible] से स्वस्थ बच्चों तक पहुंच सकता है। यदि बहुमारी शुरू हो जाये, तो [illegible] को बंद कर देना चाहिये और [illegible], वस्त्रों को निष्पैठित करना चाहिये। यदि कुछ [illegible] हो तो उन्हें अलग कर देना चाहिये। इस तरह के तथ्य देखने में आये हैं कि [illegible] के [illegible] व्यक्ति का किसी दूसरी जगह (काम पर) स्थानांतरण कर देने से रोग के [illegible] और बहुमारी उन्मूलित हो जाती है।

[illegible] चित्र और प्रवाह. रोग शिशु के जन्म के बाद प्रथम दिनों या सातवें से दसवें दिन [illegible] त्वचा पर जो पहले साफ या हल्की ललामिक थी, मटर के आकार के छोटे बुल्ले [illegible] कुछ बड़े भी [illegible] कुछ ही घंटों में उत्पन्न हो जाते हैं। इससे पूर्व बच्चे में बेचैनी और ज्वर [illegible] होता है। बुल्लों का अन्तर्द्रव्य धुंधला और पूयिक हो जाता है। फिर बुल्लों का आकार

बढ़ता है और वे पूरे शरीर पर छाने लगते हैं; उनकी चोटियां (शीर्ष) फटती हैं और चमकीली लाल, आर्द्र और खुजलीग्रस्त अपरदित सतह अनावृत होती है (दिखायी पड़ती है); परिसर पर अधिचर्म के अवशेष होते हैं। अपरदन से निकला स्राव सीरमी-पूयिक खट्ठी बनाता है। रोग के प्रिय स्थल, नाभि, पेट, वक्ष, पीठ, नितंब और हाथ-पैर हैं। प्रक्रिया मुँह, नाक, जननेंद्रिय और आँखों की श्लेष्मल झिल्ली पर भी फैल सकती है। इन स्थलों पर बुल्ला बहुत जल्द फट जा जाता है और उसकी जगह पर गोल, अंडाकार या बहुचक्रीय आकृति की अपरदित सतह रह जाती है (बुल्ले की आकृति के अनुसार)। कमजोर तथा अपरिपक्व पयोपा बच्चों में यह रोग बहुत तेजी से फैलता है (फटे बुल्ला में से पीप के स्वपंटन से)। बच्चा बेचैन हो जाता है, ठीक से सो नहीं पाता, शरीर का तापक्रम 38-39°C हो जाता है; अनभुख, श्वेतकोशिकाक्लेश, एओजीनोफीलिया तथा ESR वर्धन भी अवलोकित होता है। इन स्थितियों में अनेक क्लिष्टताएं उत्पन्न हो सकती हैं: कर्णशोथ, क्लोमशोथ, फ्लेगमोन और यहां तक कि सूपन भी।

महामारिक बुदबुदिया (रह-रह कर) विस्फोट की तरह होता है, एक साथ ढेर सारे बुल्ले थोड़े-थोड़े समय पर निकल आते हैं। स्फोटन रुकने पर कुछ समय बाद उसका पुनरावर्तन भी हो सकता है। यदि कोई क्लिष्टता उत्पन्न नहीं होती, तो रोग तीन से पाँच सप्ताह में ठीक हो जाता है।

ऊतगदलोचन. बुल्ला का शीर्ष सामान्य शृंगी परत से बना होता है और आधार काँटल परत से। बुल्ला के कोटर में ईओसीनकोशिकाएं, काँटल परत की मृत कोशिकाएं तथा रोगकारी जीवाणु होते हैं। वस्तिकाएं शोथित होती हैं और कुंभियों के गिर्द रक्त अंतर्स्यंदन होता है।

निदान. निदान प्रथम दो सप्ताह में बुल्लों के निकलने की बारी (पाली) पर, उनके द्रुत विकास और उनके आधार (तली) में अंतर्स्यंद की अनुपस्थिति पर आधारित होता है। विभेदक निदान सबसे पहले सीफिलिक बुदबुदिया और जन्मजात अधिचर्मलयता के साथ किया जाता है, जो जन्म के समय उपस्थित होती है। नवजात की सीफिलिक बुदबुदिया में बुल्ला अंतर्स्यंदित आधार (तली) के साथ मुख्यतः हथेलियों तलवों और नितंबों पर होता है। इसके अतिरिक्त आरंभिक सीफिलिस के लक्षण पाये जाते हैं: सीफिलिक नासाशोथ, वस्तिकाएं, होखजिंगर (Hochsinger) द्वारा वर्णित विस्तृत अपरदन, बुल्ला से निकले स्राव में ट्रेपोनेमा पालीडुम का पता लगना, लंबी गंठिक ग्रंथियों पर प्रभाव, वासरमान (Wassermann) द्वारा निरूपित परीक्षण के धनात्मक परिणाम, प्रेसीपीटिन प्रतिक्रिया, ट्रेपोनीडुम के निश्चलीकरण का परीक्षण, आदि। जन्मजात अधिचर्मलयता में बुल्ले चर्म के उन्हीं क्षेत्रों में स्थानाबद्ध होते हैं, जहां चोट आयी रहती है; नवजात शिशु में ये स्थल हैं: हाथ, कंधे, पैर। बुल्लानुमा अंतियां बहुत अल्प संख्या में होती हैं (कहीं-कहीं एकाध)। शोथ अक्सर नहीं होता, या मुश्किल से व्यक्त रूप में होता है। जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलयता का कुपोषी रूप नखों, दाँतों तथा बालों में कुपोषज परिवर्तनों द्वारा लंछित होता है। छोटी शीतला (चिकेन पॉक्स) में पीपिकाएं अपने स्वच्छ पीताभ अंतर्द्रव्य के कारण वस्तिकाओं और बुल्लाओं से मिलती जुलती हैं। गोल (बटुली) तनी हुई पीपिका के मध्य में कुछ दबा हुआ स्थल एक महत्त्वपूर्ण निदानिक लक्षण है। परिसर में पीपिकाएं हल्के शोफित अतिरक्तिल ऊतक के सँकरे कटिबंध से घिरी होती हैं। छोटी शीतला की पीपिकाएँ विरले ही फटती है, उनका अंतर्द्रव्य सूख कर पूय-सीरमी खट्ठी में परिणत हो जाता है।

चिकित्सा. बुल्ला का मुँह खोल कर अधिचार्म अवशेषों को सावधानीपूर्वक निकाला जाता है। अपरदन पर 5 प्रतिशतीय बोरिक अम्ल और नफ्थालान का मलहम, या 3-5 प्रतिशत सुल्फोना-

मीद तथा 2-3 प्रतिशत प्रतिजीवकों से युक्त मलहम, या अनीलीन रंजकों का 1 प्रतिशतीय घोल लगाया जाता है। गुनगुने पानी में पोटाशियम परमैंगनेट घोल कर स्नान या धोने की सलाह दी जा सकती है। तीव्र एवं विस्तृत क्षतियों की स्थिति में प्रतिजीवकों, सुल्फोनामीड और बी-संकुल के विटामिनों से सामान्य चिकित्सा की जाती है, इसी उद्देश्य से माँ के रक्त की सूई भी दी जाती है। विशेष तीव्र स्थिति में (जब रोग चर्मारुण रूप में होता है) कोर्टिकोस्टेरोइडों से शिशु की प्राण-रक्षा हो सकती है। बच्चे की चिकित्सा और देख-भाल में पूर्ण सफाई रखना परमावश्यक है।

निरोध. कपड़े, वस्त्र आदि कम अंतरालों पर बदलते रहना चाहिये। प्रसूति-गृहों में परिचारिकाओं तथा माँओं को हाइजिन के सिद्धांतों से अवगत होना चाहिये और नवजात शिशु के पास आने से पहले मुँह-नाक पर गजी (जालीदार सूती कपड़े) का टुकड़ा बांध लेना चाहिये। नर्सों, प्रसूतकों, धायों आदि सभी कर्मचारियों की समय-समय पर जाँच होनी चाहिये, ताकि यदि उनमें चर्मपूयता का अधिकेंद्र (अड्डा) हो, तो ठीक समय पर पता चल जाये। यदि किसी में चर्मपूयता का अधिकेंद्र मिले, तो उसे अस्थायी तौर पर किसी अन्य काम पर स्थानांतरित कर देना चाहिये। नेटा (नासा-स्राव) तथा गले के खखार का भी परीक्षण करना चाहिये कि कोई बासिलों का वाहक तो नहीं है। कक्षों को क्वार्ट्स-लैंप से विकिरणित करना चाहिये और सभी प्रकार की सफाई भीगे कपड़े से करनी चाहिये।

भविष्यवाणी नवजात शिशु की प्रतिरोध-क्षमता, उसकी प्रतिकारिता-शक्ति और शरीर में रोग के फैलाव पर निर्भर करती है। रोग के सुदम रूप में वह अच्छी होती है और दुर्दम रूप में वह गंभीर भी हो सकती है। प्रतिजीवकों के आविष्कार से पहले बहुमारिक बुदबुदिया से मृत्यु की दर 50 से 60 प्रतिशत तक थी। अब वह बहुत घट गयी है।

रिट्टर का रोग (नवजात शिशु में अपशल्की चर्मशोथ)

कुछ वैज्ञानिक इसे नवजात शिशु में अधिचार्म बुदबुदिया का ही तीव्र रूप मानते हैं, जबकि अन्य वैज्ञानिक दोनों को अलग-अलग रोग मानते हैं। प्रथम मान्यता इनके अस्थायी तल्पिक रूपों, इनके छुतहापन और प्राथमिक क्षतियों की विशेषताओं पर आधारित है।

हेतुलोचन. अधिकांश वैज्ञानिक अपशल्की चर्मशोथ को स्ताफिलोकोकों के पैठन से उत्पन्न मानते हैं (अधिकांश उदाहरणों में सुनहरे स्ताफिलोकोक ही गदजनक पाये गये हैं)। कुछ वैज्ञानिक इसे स्ताफिलोकोकों और स्त्रेप्तोकोकों के मिश्रित पैठन से उत्पन्न मानते हैं, क्योंकि कुछ उदाहरणों में स्त्रेप्तोकोकों का बहुगुणन भी देखा गया है।

गदजनन की युक्तियां दोनों ही रोगों में एक जैसी हैं।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग भी जन्म के बाद प्रथम सप्ताह के ही दौरान होता है। पहले मुँह में एक चमकदार शोफित शोथी ललामी उत्पन्न होती है, जो जल्द ही गले की सलवटों पर और नाभि, जननेंद्रिय व पृष्ठद्वार के गिर्द फैल जाती है। इसकी पृष्ठभूमि पर बड़े-बड़े वर्तुली एवं तनावपूर्ण बुल्ले उत्पन्न होते हैं, जो जल्द ही फट जाते हैं और उनके स्थान पर स्रावयुक्त अपरदित सतह रह जाती है। हल्की क्षति से भी शोफित एवं ढीला अधिचार्म अपनी जगह से उघड़ आता है। जब अपरदनों के गिर्द स्थित अधिचर्म की धज्जियों को चिमटे से खींचा जाता है, वे नीचे की परतों से अलग हो जाती हैं—यहां तक कि स्वस्थ दिखने वाली त्वचा पर भी दूर-दूर तक (इसे निकोल्स्की-निरूपित धनात्मक चिन्ह कहते

हैं)। इसके पूर्ववर्ती लक्षण या तो बिल्कुल नहीं होते, या मतली और ज्वर में व्यक्त होते हैं। कुछ स्थितियों में बुल्लानुमा स्फोट शुरू में रहते हैं पर बाद में रोग चर्मारुणता के लक्षण ग्रहण कर लेता है। कुछ रोगियों में यह रोग चर्मारुणिक परिवर्तनों की उत्पत्ति से शुरू होता है। ऐसी स्थिति में चर्म की लगभग सारी सतह दो-तीन दिनों में रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ जाती है। रोग के तीन चरणों में भेद किया जाता है: ललामिक, अपशल्की, नवजनक। प्रथम चरण में त्वचा विसरित रूप से लाल होती है, शोफ होता है। बुल्ला उत्पन्न होते हैं। अधिचर्म में और इसके नीचे रिसाव होता है, जिससे निस्त्वचन शुरू होता है, जगह-जगह पर अधिचर्म उधड़ आता है (निकोल्स्की-निरूपित लक्षण)। द्वितीय चरण अपरदनों द्वारा लंछित होता है, जो परिसरीय प्रसार की प्रवृत्ति रखते हैं और संलीन हो जाते हैं। यह सबसे गंभीर काल होता है (बच्चा द्वितीय कोटि के झुलसन से ग्रस्त रोगी की तरह लगता है। उच्च ज्वर, अनपच, अल्परक्तता, श्वेतकोशिकाक्लेश, एओजीनोफीलिया, उच्च ESR, भार में कमी, निर्बलता आदि अवलोकित होते हैं। तृतीय, नवजनक चरण में चर्म का रक्तातिरेक और शोफ कम हो जाते हैं, अपरदन पर उपकला का जन्म होने लगता है।

रोग के हल्के रूप में इन चरणों की प्रकृति इतनी स्पष्ट नहीं होती। तीव्र शोथ 10 से 14 दिनों में दूर हो जाता है और अधिचर्म के बहुपरतीय निःशल्कन की प्रचुरता देखी जाती है। तीव्र केसों में प्रक्रिया सूपन का रूप ग्रहण कर लेती है और अक्सर क्लिष्टताएं भी उत्पन्न होती हैं (क्लोम-शोथ, कर्णशोथ, छादिकीय प्रक्रियाएं, फ्लेगमोन), जो घातक सिद्ध हो सकती हैं। कुछ बड़े नव-जात शिशुओं में रोग का प्रवाह कुछ सुदम होता है।

नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया की तरह यह रोग-प्रक्रिया भी मुँह, होठों, नाक और जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्ली पर फैल सकती है; तब साथ में अपरदन और फटाव भी होता है (मुँह के कोनों पर, होठों पर)।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म में रिसाव से शृंगी परत में उभार उत्पन्न हो जाता है या वह बिल्कुल खत्म हो जाती है। कांटल, पिटकामय एवं अवपिटिकामय में स्पष्ट शोफ उत्पन्न होता है, रक्त-कुंभियों का विस्फारण हो जाता है और श्वेतकोशिकीय अंतस्यंद बन जाते हैं।

निदान के आधार हैं: नवजात शिशु के जीवन के प्रथम दो या तीन सप्ताह के अंदर चर्म में विस्तृत शोथी परिवर्तन (साथ-साथ बुल्ला उत्पन्न होते हैं, जो चोइयों के रूप में अपशल्कन को स्थान देते हुए गायब हो जाते हैं), रोग की हठात शुरुआत और तीव्र प्रवाह जो कभी-कभी तीव्र सांगोपांग अवस्था द्वारा लंछित होता है, क्षतियों की विशिष्ट स्थानाबद्धता, धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और रक्त में रूपलोचनी परिवर्तन।

विभेदक निदान दग्ध, बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्रारंभिक जन्मजात सीफिलिस की बुदबुदिया, लाइनर-रोग (अपशल्की चर्मारुणता) तथा जन्मजात मीनचर्मता-सदृश चर्मारुणता के साथ किया जाता है। दग्ध की संभावना रोग-वृत्ति के आधार पर त्यागी जा सकती है। बुल्लेदार अधिचर्मलय और सीफिलिसी बुदबुदिया से भिन्नता दिखाने वाले लक्षण पूर्ववर्ती अनुच्छेद में बताये गये हैं। लाइ-नर-रोग बड़ी उम्र के बच्चों में होता है, यह ललामिक-अपशल्की क्षतियों द्वारा लंछित होता है; इसमें बुल्ला नहीं बनते, लेकिन पृष्ठद्वार और जननेंद्रिय के क्षेत्र (वृहत चर्म सलवटों पर) पूरी तरह ग्रस्त हो जाते हैं। क्षतियां धड़, चेहरे और शिरोवल्क पर होती हैं, जिनका अधिकतम विकास जीवन के द्वितीय महीने में होता है। इसके बाद अपशल्की चर्मशोथ गायब हो जाता है। अपरदन कम चमकदार होते हैं, वे रसालु से दिखते है। क्षतियों का रंग पीताभ होता है; शल्क

तैल तथा पीताभ होते हैं (इन लक्षणों के कारण अपशल्की चर्मारुणता वपास्रावी दिनाइ की तरह लगती है)। जन्मजात मीनचर्मता सदृश चर्मारुणता का बुल्लेदार रूप जन्म के पूर्व ही विकसित होने लगता है और बुल्लों, अपरदनों तथा व्रणों से युक्त चर्मारुणता के रूप में व्यक्त होता है (जो चोट लगने वाली जगहों पर अधिक स्पष्ट होता है)। हथेलियों और तलवों पर अतिशृंगन होता है। इन सभी लक्षणों के साथ-साथ अस्थियों तथा दाँतों की विसंगति और क्षीण बुद्धि का भी समेल हो जाता है। रोग का विकास शरीर के सामान्य तापक्रम और रक्त के सामान्य रूपलोचन के परिप्रेक्ष्य में होता है।

चिकित्सा. ऐसे रोगियों की चिकित्सा अपेक्षाकृत कठिन है और इसमें चर्मलोचक व बालरोग-विशेषज्ञ के सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता होती है। पहले विवेकसंगत आहार निश्चित करना चाहिये, और सफाई का पूरा खयाल रखना चाहिये। ठंड से बचाना चाहिये (शीतलतादायक लोशन और पुल्टिस प्रतिसंकेतित हैं)। बाह्य चिकित्सा में प्रतिशोथी प्रभाव डालने तथा पूय-खठ्ठियों को हटाने के लिये चरणगत थेरापी के रूप में निम्न दवाएं प्रतिलिखित होती हैं: 5 प्रतिशत नेओमीसिन सेलिओमीसिन या डीबिओमीसिन से युक्त मलहम; 0.5-1.0-3.0 प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन या 5 प्रतिशत टेट्रामिक्सीन से युक्त मलहम। सीमित क्षेत्रों पर कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों और प्रतिजीवकों से युक्त मलहम एवं क्रीम भी प्रयुक्त हो सकते हैं, जैसे – लोकाकोर्टेन, ओक्सीकोर्ट, सेलेस्टोडर्म, डेसोनेक्स। सामान्य (सांगोपांग) थेरापी में पेनीसिलिन या टेट्रासिक्लीन-यौगिक, सुल्फोनामाइड, सूक्ष्मतृणों की संवेदिता और बच्चे की सहन-शक्ति को ध्यान में रखते हुए), विटामिन (प्रकुल) विटामिन 'सी' और माँ के रक्त की सूई का उपयोग होता है। स्टेरोइड हर्मोन इस चिकित्सा में ही दिये जाते हैं। सूपन होने पर प्रतिजीवक थेरापी के साथ-साथ डेक्स्ट्रानों, जैसे कि [illegible] सोडियम क्लोराइड, मेथाइलेटकृत द्रव्य, कोर्टीकोन और पांबा तदनुरूप खुराकों में नित्य दो बार हर 12 घंटे पर दिया जाता है।

निरोध के उपाय वैसे ही हैं, जैसे जन्मजात बहुमारिक बुदबुदिया के लिये।

भविष्यवाणी गंभीर (खतरनाक) है और अधिकांशतः शरीर की प्रतिरोधिता तथा प्रक्रिया के प्रसार व तीव्रता पर आधारित की जाती है। प्रतिजीवकों और स्टेरोइड हर्मोनों के उपयोग से इस रोग के कारण मृत्यु की दर बहुत घट गयी है।

नवजात में बुल्लेदार इंपेतिगो

यह रोग नवजात में बहुमारिक बुदबुदिया का हल्का रूप माना जाता है, जिसमें यह अपर्याप्त चिकित्सा के कारण परिणत हो जा सकता है। बच्चे का स्वास्थ्य खराब होने पर भी परिणत हो सकता है। यह स्टाफिलोचर्मता का एक सुदम रूप है और मटर या चेरी के आकार के अलग-थलग स्वतन्त्र एकल कोटरीय बुल्लों द्वारा लंछित होता है। बुल्ले का शिखर पतला तथा तनावपूर्ण होता है और आर्द्र (गीले) अपरदन को नंगा करते हुए शीघ्र ही फट जाता है। उनका अंतर्द्रव्य सीरमी या सीरम-पूयिक होता है। स्राव सूख कर पतली सतही खठ्ठी में परिणत हो जाता है। बुल्ले धड़ पर हाथ-पैरों पर उत्पन्न होते हैं और उनमें परिसर में प्रकीर्णित होने (बिखरने) की प्रवृत्ति होती है। बच्चे की सामान्य अवस्था में विरले ही कोई गड़बड़ी होती है।

निदान में कोई कठिनाई नहीं होती।

चिकित्सा. बुल्लों को खोल कर अपरदन पर अनीलीन रंजकों का लेप लगाया जाता है। बच्चे

की इस काल में अन्य सांयोगिक रोगों से रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि वे रोग-प्रक्रिया के प्रवाह को उग्र कर दे सकते हैं।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

स्त्रेप्तोकोकी चर्मपूयताएं (स्त्रेप्तोचर्मताएं)

स्त्रेप्तोकोक अक्सर चिकने चर्म पर आक्रमण करते हैं, वपाल-लोमी उपकरण तथा स्वेद-ग्रंथियों पर नहीं, जैसा कि स्ताफिलोकोक करते हैं। स्त्रेप्तोचर्मताएं अक्सर सतही होती हैं। प्राथमिक क्षति लस्त बुल्ला (फ्लिक्टेन) हैं, जिनसे स्वच्छ स्राव होता है; इनमें परिसरीय वर्धन की प्रवृत्ति होती है। ये रोग अधिकांशतः बच्चों तथा स्त्रियों को होते हैं, जिनकी त्वचा कोमल होती है।

स्त्रेप्तोकोकी (या स्त्रेप्तोजनित) इंपेतिगो

यह अमशिकीय एवं कोटरीय क्षतियों का स्फोट है; शिखर लस्त होते हैं, अंतर्द्रव्य सीरमी होता है और आधार अतिरक्तिल एवं शोफित होता है।

हेतुलोचन और गदजनन. बहुत से वैज्ञानिक यह मानते हैं कि स्त्रेप्तोकोक इसका एकमात्र निमित्त कारण है, यद्यपि वस्तिकाओं के अंतर्द्रव्य में कभी-कभी स्ताफिलोकोक भी पाये जाते हैं (अपेक्षाकृत कम मात्रा में)। बहुसंख्य खोजों से प्रमाणित हो चुका है कि स्त्रेप्तोकोकी इंपेतिगो या सामान्य इंपेतिगो छुतहा रोग है।

रोग के विकास में योगदान देने वाले अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक हैं—कंडुक चर्मक्लेशों (खाज-कंडु) में खरोंचों से त्वचा एवं श्लेष्मल झिल्ली की अखंडता में क्षति और नासाशोथ तथा कर्णशोथ आदि के स्राव से अधिचर्म का मसृणन। शरीर की प्रतिरोधिता और सामान्य कृशता, जठरांत्र की गड़बड़ियों, अल्कोहल के दुरूपयोग से प्रतिरोध में ह्रास भी महत्त्वपूर्ण हैं। वपास्रावी संवृत्तियां, चर्म के pH तथा जल-वसीय आवरण में परिवर्तन प्रवणकारी घटक हैं। इंपेतिगो उन पयोपा बच्चों में अक्सर अवलोकित होता है, जिनकी सफाई का ठीक से खयाल नहीं किया जाता।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. रोग छोटे-से लाल धब्बे (चिट्ठी) की उत्पत्ति से शुरू होता है, जिसकी सतह पर पिन के सर या बाजरे के दाने के बराबर वस्तिका (फ्लिक्टेना) कुछ ही घंटों में बन जाती है। कुछ स्थितियों में फ्लिक्टेना सामान्य दिखने वाली त्वचा पर बन जाता है। तनावपूर्ण वस्तिकाएं थोड़े ही समय में लस्त हो जाती हैं और उनका स्वच्छ स्राव पूयिक (धुंधला) हो जाता है; कभी-कभी रक्तस्राव भी होता है। फिर स्राव सूख कर खठ्ठी में परिणत हो जाता है, जो धीरे-धीरे अलग हो जाती है। फ्लिक्टेना अक्सर स्वस्थ चर्म द्वारा परस्पर अलग होते हैं, पर परिसरीय वर्धन के कारण वे फैल कर संलीन भी हो जाते हैं, जिससे वलयाकार क्षति (गोल या वलयाकार इंपेतिगो) बनती है। रोग की औसत अवधि तीन से चार सप्ताह है। जब खठ्ठी झड़ जाती है, एक अस्थायी नीलाभ गुलाबी धब्बा रह जाता है। स्थायी दाग या चर्म का अपोषण कभी देखने को नहीं मिला है। रोग-प्रक्रिया के प्रिय स्थल चेहरा, धड़ के पार्श्व और हाथ-पैर हैं। रोग संपर्कगत सभी बच्चों में फैल सकता है (इसीलिये इसे छुतहा इंपेतिगो भी कहते हैं)।

स्त्रेप्तोकोकी इंपेतिगो के तल्पिक विभेद निम्न हैं: बुल्लेदार इंपेतिगो, पेर्लेख, स्त्रेप्तोकोकी अधरशोथ, सरल बुसन, सतही परिनखता, घर्षज स्त्रेप्तोचर्मता, अपरदनोत्तर सीफिलवत्ता (पिटकीय सीफिलवत इंपेतिगो)।

बुल्लेदार इंपेतिगो

यह फ्लिक्टेना के स्फोटों से लंछित होता है; जो बादाम से पंडुक के अंडे के बराबर तक हो सकते हैं। बुल्ला फटने से अपरदन बढ़ता है और उसके शिखरावशेष परिसर में छूट जाते हैं। रोग का यह रूप हाथों की पश्चसतह और कभी-कभी पैरों पर भी होता है।

पेलिंख (कोणिक पैंठन या कोणिक मुखशोथ)

यह मुँह के दोनों कोनों पर शीघ्र फटने वाले बुल्लों द्वारा लंछित होता है। प्रक्रिया नथुनों के दोनों तरफ और पलकों के विदार के पार्श्व क्षेत्रों को भी ग्रस्त कर सकती है। पहले मुँह के कोनों पर लस्त वस्तिकाएं बनती हैं जो फट कर सतही रैखिक झिरिनुमा दरकों को नंगा (अनावृत) करती दे हैं। शहद जैसी पीली खठियां मसृणन के कारण झड़ जाती हैं। रोग में खुजली की अनुभूति, खाने के वक्त लालाजनन और पीड़ा होती है। निम्न स्थितियों में रोग का प्रवाह लंबा हो जा सकता है: दंत-क्षरण, नासाशोथ, युतिकाशोथ; उन लोगों में, जिन्हें मुँह के कोनों को चाटने की आदत होती है (तभी रोग अक्सर बच्चों में होता है); नकली दाँत वाले अधेड़ व्यक्तियों में, और जिनके आहार में विटामिन बी-संकुल की कमी होती है। चुंबन और एक ही सामान के उपयोग से रोग का छूत लगता है। रोग पूरे परिवार में फैलता है और अचिकित्सा से लंबे समय तक रहता है, क्योंकि रोगी मुँह के कोनों को चाटते हैं, जिससे मसृणन होता है। पेलेंख के विपरीत, मुख-कोणों के सतही कांदिदक्लेश में मसृणन इतना होता है कि शृंगी परत अलग हो जाती है (दरकें)। सीफिलिस के द्वितीयक चरण पर मुख-कोणों की अपरदक पिटिकाओं का आधार अनर्स्यंदित होता है, सीफिलिस के अन्य लक्षण भी मिलते हैं (संदेह होने पर ऊतक-रस में फीकी त्रेपोनेमा की उपस्थिति जाँची जाती है, सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण किया जाता है)।

सरल बुसन

यह स्त्रेप्तोजनित इंपेतिगो का शुष्क विभेद माना जाता है। यह विशेष तौर पर बच्चों में होता है और गोल या अंडाकार, स्पष्ट परिसीमित सफेद या गुलाबी अधिकेंद्रों (अड्डों) द्वारा लंछित होता है, जो असंख्य नन्हें शल्कों से आच्छादित रहते हैं। वर्णकित त्वचा वाले लोगों में ये अधिकेंद्र विशेष स्पष्ट दिखते हैं। चिकित्सा धूप तापने से हो सकती है, लेकिन रोगार्त्त क्षेत्र कम झौंराते हैं, इसलिये त्वचा पर जहां-तहां धब्बे बन जाते हैं। रोग के प्रिय स्थल हैं: मुँह के गिर्द, गाल, निचला जबड़ा; क्षतियां धड़ और हाथ-पैर पर भी होती हैं। रोग बसंत या शरद में होता है। बच्चों के समूह में रोग बहुमारिक हो जाता है। हल्की खुजली होती है।

नख-पुटकों का इंपेतिगो (वलनिका)

वलनिका (संस्कृत 'वलन'—गोल चक्कर काटना) अधिकांशतः वयस्कों को होती है। फ्लिक्टेना नखों के गिर्द उत्पन्न होते हैं; पहले उन से सीरमी स्राव होता है, जो बाद में धुंधला पूयिक हो जाता है। रोग उंगली तथा नख के घायल होने पर आक्रमण करता है, इससे स्त्रेप्तोकोकों के प्रवेश के लिये अनुकूल परिस्थितियां बनती हैं। आक्रांत क्षेत्र शोफित होता है, दर्द करता है।

फ्लिक्टेना के फटने पर नख के गिर्द नाल की आकृति का अपरदन बनता है। प्रक्रिया में नख गायब भी हो जा सकता है। कभी-कभी लसकुंभीशोथ, कँपकँपी, ज्वर भी अवलोकित होता है।

घर्षज स्त्रेप्तोचर्मता

रोग त्वचा के परस्पर स्पर्शरत क्षेत्रों पर होता है (स्तनों के नीचे, मेदुर लोगों के पेट की सलवटों में, कानों के पीछे, जांघ और जंघामूल के बीच तथा नितंबों के बीच पुटकों में, काँख में, आदि)। यह विशेषकर अतिपोषित, मेदुर तथा अधिक स्वेद वाले बच्चों को या रिसालु पारश्लेषण या पारमेह से ग्रस्त बच्चों को होता है। प्राथमिक क्षति बाजरे के आकार के फ्लिक्टेना है, जो अनेकों की संख्या में उत्पन्न होते हैं, संलीन होते हैं, जल्द ही फट जाते हैं; उनके स्थान पर सतत अपरदित रिसालु चमकदार गुलाबी सतह रह जाती है, जिसकी सीप जैसी खाँचेदार सीमा-रेखाएं होती हैं; परिसर पर अधिचर्म उखड़ा हुआ (निस्त्वचित) होता है। अलग-अलग स्थित पूयिक क्षतियां पैठन-अधिकेंद्र के गिर्द विकास के विभिन्न चरणों में संक्रमण करती रहती हैं। दर्दनाक विदार पुटकों की गहराई में बनती हैं। रोग का प्रवाह विलंबित हो जाता है, अनेक आत्मगत गड़बड़ियां उत्पन्न होती हैं। खमीरी मूल की घर्षज क्षतियों में बुल्लों के अंतर्द्रव्य और खट्ठियों का रंग पीला नहीं होता और मुख्य अधिकेंद्रों के परिसर में प्राप्त अधिचर्म की खुरचन में या चलनी से चालित द्रव्य में खमीर-सदृश कवक प्रेक्षित होते हैं।

अपरदनोत्तर सीफिलवत्ता या पिटकीय सीफिलवत इंपेतिगो

रोग ज्यादातर पयोपा बच्चों में होता है। इसके प्रिय स्थल नितंब, जननेंद्रिय और जांघें हैं। फ्लिक्टेना बनते हैं और बहुत जल्द फट जाते हैं; उनकी जगह अपरदित स्थल रह जाता है, जिसका आधार अंतर्स्यंदित होता है, जिसके कारण ये क्षतियां पिटकीय अपरदिक सीफिलीद से मिलती-जुलती होती हैं; लेकिन इसकी तीव्र शोथी प्रक्रिया न तो सीफिलिसी बुदबुदिया के लिये लंछक है और न प्रायः बच्चों के अपरदिक पिटकीय सीफिलिदों के लिये ही। फीकी त्रेपोनेमाएं की जाँच और सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण से अंतिम उत्तर मिल जाता है। सफाई का सही खयाल न रखना ही इसका संप्रेरक घटक है।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म की शृंगी परत के नीचे सीरमी अंतर्द्रव्य वाली वस्तिका बनती है, जिसमें श्वेतकोशिकाओं व अवघटित अधिचर्म कोशिका का मिश्रण भी होता है। वस्तिका का शिखर शृंगी परत में बना होता है और आधार कणमय परत से। मुचर्म में तीव्र शोथ अवलोकित होता है: पिटिकामय और अवपिटिकामय परतों का शोथ और नन्हे अंतर्स्यंदों की उपस्थिति, जो मुख्यतः न्युट्रोफिलों और लसकोशिकाओं से बने होते हैं।

स्त्रेप्तोजनित इंपेतिगो और इसके तल्पिक विभेदों का निदान कुछ भी कठिन नहीं होता, यदि रोग के उपरोक्त तल्पिक लक्षणों और प्रवाह को ध्यान में रखा जाता है। यह अवश्य निर्धारित कर लेना चाहिये कि इंपेतिगो प्राथमिक रोग है या कंडुक चर्मक्लेशों (दिनाइ, कंडु, खाज, चिल्लड़-क्लेश आदि) से उत्पन्न क्लिष्टता है। दिनाइ में क्षतियों की बहुरूपता और सीरमी कूप अवलोकित होते हैं, लेकिन सुनहरी-पीली खट्ठी नहीं बनती, जो इंपेतिगो के लिये विशिष्ट लक्षण है।

चिकित्सा सामान्यतः बाह्य प्रसाधनों के उपयोग से होती है, जैसे निष्पैठक घोलों तथा मलहमों के लेप से। 1 प्रतिशत अनीलीन रंजकों (बैंगनी जेनशिआन, चमकदार हरा या नीले मेथीलीन) के अल्कोहलिक या जलीय घोल का निर्देश उस स्थिति में दिया जाता है, जब अधिकेंद्रों की संख्या बहुत कम होती है, रिसाव अधिक नहीं होता, और खट्ठी नहीं बनती। खट्ठी बनने पर 1-2 प्रतिशत अमोनीकृत पारा, 5 प्रतिशत सुल्फोनीलामीद या 5 प्रतिशत बोरिक अम्ल व नाफ्थालान से युक्त मलहम की पट्टी लगायी जाती है। प्रतिजीवकों (जैसे 1 प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन, ओक्सी-

कोर्ट, नेग्रोमीसिन के साथ लोकाकोर्टेन, लोरिंडेन C, डेर्मोजोलोन) से युक्त मलहम भी लाभकर होते हैं। स्पष्ट शोथ के साथ विस्तृत क्षति होने पर 1 प्रतिशत रेसोर्सिनोल के घोल, आलीबर (Aliber) के घोल या 1:1000 सांद्रता वाले एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट के घोल का लोशन प्रलिखित किया जाता है। सरल बुसन की चिकित्सा 2 या 3 प्रतिशत अमोनीकृत पारा से युक्त मलहम मे होती है, जिसमें 1-2 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल भी मिलाया जाता है। नख-पुटकों के इंपेतिगो में प्रतिजीवक प्रलिखित किये जाते हैं और पीड़ा तीव्र होने पर करोर्जन किया जाता है। मलहम दिन में एक या दो बार लगाये जाते हैं; पूर्ववर्ती लेप हटाया नहीं जाता। हर तीन-चार दिन पर एक बार लेपे हुए मलहम को वनस्पति-तेल में भीगी रूई से दूर किया जाता है। बड़े बुल्लों के शिखर कैंची से अलग किये जाते हैं, रिसाव निष्कीटित रूई के टैंपन से दूर किया जाता है, फिर उपरोक्त मलहमों में से किसी का लेप लगाया जाता है।

यदि इंपेतिगो मुख्य प्रवाह ग्रहण करता है और अक्सर पुनरावर्तित होता रहता है, तो प्रतिजीवकों से सामान्य (सर्वांगोपांग) चिकित्सा सुसंकेतित होती है (यदि प्रतिजीवलेखन के परिणाम मिल जाते हैं और प्रतिजीवक के प्रति कोई परोर्जिक प्रतिक्रिया नहीं होती); साथ-साथ विटामिन भी दिये जाते हैं, विशेषकर ए और सी, तथा बी-संकुल के विटामिन (अधरशोथ, पेर्लेख, वलयाकार इंपेतिगो में)। पेर्लेख की चिकित्सा के लिये उसके कारणों (जैसे आन्त्रवेश्रोलिक दुःस्राव, मुख श्लेष्मल के शोथ) तथा प्रवणकारी घटकों (रात में लार चूने की प्रक्रिया) को दूर करना चाहिये और [illegible] उपायों का संकुल प्रयुक्त करना चाहिये, विशेषकर बड़ी खुराकों में रीबोफ्लाविन देना, [illegible] नित्य दो या तीन बार

[illegible] का मलहम, लोरिंडेन C का मलहम आदि भी स्त्रेप्तोजनित इंपेतिगो में फायदेमंद होते हैं।

निरोध के नियम निम्न हैं: सफाई के नियमों का पालन करना, आंतरिक वस्त्रों तथा बिस्तर के वस्त्रों को यथासमय बदलते रहना, छोटी-मोटी चर्म-क्षतियों का निष्पैठक घोलों से अवश्य इलाज करना, इंपेतिगो से ग्रस्त बच्चे को पृथक करना, बाल-संस्थानों में स्त्रेप्तोचर्मता से ग्रस्त कार्यरत लोगों को अस्थायी तौर पर अलग करना। रोगी बच्चों की उंगलियों के दूरस्थ पोरों पर आयडीन का 2 प्रतिशतीय अल्कोहलिक घोल लेपा जाता है और क्षतियों के गिर्द 1-2 प्रतिशत सैलीसीलिक अल्कोहल (बच्चों के लिये 40° और बड़ों के लिये 70°)।

भविष्यवाणी इंपेतिगो में सदैव अनुकूल होती है।

सामान्य एक्थीमा

सामान्य एक्थीमा में क्षति गहरी चार्म पीपिका के रूप में होती है, जिसका मज्जिकाओं के साथ कोई संबंध नहीं होता।

[illegible] और गदजन्य निमित्त कारण स्त्रेप्तोकोक होते हैं, यद्यपि स्ताफिलोकोकी तथा मिश्र स्त्रेप्तोकोकी-स्ताफिलोकोकी पैठनों के भी उदाहरण मिलते हैं। एक्थीमा के विकास में योगदान करने वाले घटक निम्न हैं: खरोंच और अपरदन (पैठन-मार्ग), विभिन्न पैठनजनित रोगों के समय और उनके बाद शरीर की सामान्य प्रतिरोधिता में ह्रास, द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां, [illegible] अल्कोहलिज्म, लसीका एवं रक्त के संचार में स्थानाबद्ध गड़बड़ियां, अल्पविटामिनता। [illegible] में अपर्याप्त पोषण और निर्जलीकरण भी संप्रेरक घटक हो सकते हैं।

[illegible] चित्र और प्रवाह. रोग एक नन्ही वस्तिका या परामशिकीय पीपिका के विरचन से

शुरू होता है, जिसमें सीरमी या सीरम-पूयिक द्रव्य होता है; यह द्रव्य जल्द ही सूख कर मुलायम, सुनहरी-पीली उभरी हुई खट्ठी बनाता है। अधिकांश स्थितियों में खट्ठी कई परतों से बनी होती है और इसके झड़ने पर (या इसे हटाने पर) गोल या अंडाकार व्रण रह जाता है। व्रण की तली गंदी-भूरी झिल्ली से ढकी होती है और इससे खून रिसता रहता है, जबकि इसकी किनारियां मुलायम, शोफित और रक्तस्फीतिज अतिरक्तता (अर्थात् अतिरक्तिल) होती हैं। व्रण बहुत धीरे-धीरे, दो या तीन सप्ताह में ठीक होता है और इसके बाद एक सतही दाग रह जाता है, जिसके गिर्द वर्णकित कटिबंध बन जाता है। इसका सामान्यतम स्थान पैर है, यद्यपि एक्थीमा जांघों, नितंबों और कटिक्षेत्र की त्वचा पर भी उत्पन्न हो सकती है (क्षतियों की संख्या एक या दो से ले कर कई दर्जनों तक हो सकती है)। आत्मगत लक्षण नर्म (हल्के) होते हैं (व्रणन की नर्म कोमलता)।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म और सुचर्म की विमृति (विमरण) न्यूट्रोफिलों और लसकोशिकाओं के बृहत अन्तर्स्यंदों से घिरी होती है, जिनके गिर्द ऊतकों में कुंभियों का विस्फारण और शोफ अवलोकित होता है।

निदान के निम्न आधार हैं: वस्तिका, पीपिका, परतदार खट्ठी और विशेषकर पैर पर व्रण की उपस्थिति; प्रक्रिया की सुप्त प्रकृति। इंपेतिगो में व्रण या निशान नहीं बनता। फुँसी विमृतिक क्रोड़ तथा पीड़ा द्वारा लंछित होती है। सीफिलिसी एक्थीमा में व्रण के आधार (तली) का अंतर्स्यंदन तथा उसकी किनारियां अधिक कठोर होती हैं और सीरमलोचनी रक्त-परीक्षण के धनात्मक परिणाम मिलते हैं। संगलक संक्रिकेश से सामान्य एक्थीमा इस बात में भिन्न होती है कि इसमें (एक्थीमा में) इर्द-गिर्द की त्वचा का रंग चमकदार होता है, शोफ होता है, ट्यूबेरकूलिन जाँच ऋणात्मक होती है।

चिकित्सा इंपेतिगो जैसी ही है। मुश्किल से ठीक होने वाले व्रणों पर मीकूलिक्ज (Mikulicz) का मलहम लगाया जाता है: Argenti nitratis, seu Protargoli 0.3; Balsami peruviani, seu Balsami Schostakowsky 3.0, Vaselini 30.0

सामान्य चिकित्सा में बलवर्धक (शक्तिदायी) उपाय (विटामिन; लोहा, फोस्फोरस आदि के प्रसाधन), स्फूर्तिदायी उपाय (स्वरक्त-चिकित्सा, दुग्ध-चिकित्सा, रक्ताधान, ज्वरकारी प्रसाधन) प्रयुक्त होते हैं; उच्च कैलोरी का आहार दिया जाता है।

सुप्त रोगावस्था में चिरकारी सल्फोनीलामीद और प्रतिजीवक प्रयुक्त होते हैं (जैसे 500000--800000U पेनीसिलिन की सूई रोगी के खुद के रक्त में मिला कर दी जाती है; कुल खुराक 8000000-10000000U तक की होती है)।

भविष्यवाणी. सामान्य अवस्था अनुकूल होने पर रोग कुछ सप्ताह तक रहता है। यदि चिकित्सा विवेकसंगत नहीं होगी या इलाज ही नहीं किया जायेगा, तो रोग-प्रक्रिया बहुत लंबी हो जा सकती है।

बेधक एक्थीमा

जब अवलुंठित व कृश रोगियों में, बूढ़े लोगों में, मदाभ्यस्त या कठिन शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्तियों में सामान्य एक्थीमा तीव्र रूप ग्रहण करती है, व्रण गहरे और बेधक हो जाते हैं, उनसे खून रिसता रहता है, ऊतकों का विमरण भी अवलोकित होता है। इस तरह की एक्थीमा दो या तीन साल तक के निर्बल बच्चों को हो सकती है, जिनका शरीर अतिसार के कारण जल-

हीन हो जाता है और जिन्हें पर्याप्त पोषक आहार नहीं मिलता। नीलपूयकारी बासिलों या आंत्र-एशेरीखिया का सांयोगिक पैठन एक महत्त्वपूर्ण हेतुलोचनी घटक माना जाता है।

तल्पिक चित्र. नितंबों, पैरों और शिरोवल्क के चर्म पर गहरे व्रण बनते हैं, जिनमें विगलन विकसित होता है। ये परिसर के सहारे-सहारे गहराई में फैलते जाते हैं, मानों चर्म में 'बरमा से छेद' किया गया हो; प्रक्रिया से तीव्र पीड़ा होती है।

प्रवाह दुर्दम होता है। सूपन के कारण इसका परिणाम रोगी के लिये घातक हो सकता है।

ऊतगदलोचन. विस्तृत विमृति की चपेट में अधिचर्म, सुचर्म और यहां तक कि कभी-कभी अवचार्म वसा भी आ जाती है। विमृतिक अधिकेंद्र के गिर्द न्युट्रोफिलों और लसकोशिकाओं के अंतस्यंद पाये जाते हैं।

चिकित्सा. थेरापिक उपायों का उद्देश्य रोगी के सामान्य स्वास्थ्य में सुधार लाना है। विटामिनों से समृद्ध उच्च कैलोरी का आहार आवश्यक है। निम्न मलहम लगाये जाते हैं: 5 प्रतिशत इख्थामोल का मलहम, डेर्माटोल (बिस्मथ सबगैलेट) का मलहम, लोरिंडेन C, डेर्माटोजोलोन, हिम्रोक्सीजोन। विमृत ऊतक करोर्जिक रीतियों से दूर किये जाते हैं।

यदि नीलपूयकारी बासिलों तथा आंत्र-बासिलों (एशेरीखिया कोली) का पैठन ज्ञात हो जाता है, तो स्त्रेप्तोमीसिन की सूइयां दी जाती हैं और पोलीमिक्सिन M सल्फेट से युक्त मलहम लगाया जाता है।

भविष्यवाणी बच्चों और वरीय लोगों के लिये गंभीर होती है।

चिरकालिक सतही विसरित स्त्रेप्तोचर्मता

हेतुलोचन और यदजनन. यह एक स्त्रेप्तोकोकी रोग है, जो शायद स्त्रेप्तो-स्ताफिलोकोकी उद्भिजों द्वारा भी उत्पन्न हो सकता है। रोग के विकास में निम्न घटक सहायक होते हैं: रक्त-संचार में स्थानीय दीर्घकालीन गड़बड़ी, चर्म में द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया में अपसामान्यताएं, ऊतक में अनोक्सिता (हाइपोक्सिया, आक्सीजन की कमी; जैसे वारीकोसिस, अर्थात् शिरा-विस्फारण के रोग में जब आदमी लंबे समय तक पैरों पर खड़ा रहता है), हाथ-पैर का बहुत ठंडा होना, आदि।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. रोग विसरित रूप में चर्म के बहुत बड़े क्षेत्र को आक्रांत कर देता है। पैठन-अधिकेंद्र की परिरेखाएं सीपी की किनारी जैसी लहरदार होती हैं, जिसका कारण असमरूप परिसरीय वर्धन है; अधिकेंद्र अतिरक्तिल होते हैं, वे कभी-कभी नीले, अपेक्षाकृत अंतस्यंदित और स्थूल-पटलित खट्ठियों से ढके होते हैं, जो गाढ़े सीरमी या सीरम-पूयिक रिसाव से बनती हैं। खट्ठी के नीचे रिसानु सतह होती है। परिसरीय प्रसार के कारण अधिकेंद्र क्रमशः वर्धित होता जाता है और कभी-कभी तो पूरे पैर पर फैल जाता है। इसके बाद रिसाव और खट्ठी बनने की प्रक्रिया रुक जाती है, क्षति वृहत पटलित (अस्तरित) शल्कों से ढक जाती है।

विसरित स्त्रेप्तोचर्मता का एक तीव्र रूप भी है, जिसमें ज्वर और चर्मारुणिक आधार पर इंपेतिग स्फोटों का तीव्र आक्रमण होता है। इसका एक अन्य विभेद – पराचोटज स्त्रेप्तोचर्मता – व्रणों के गिर्द विकसित होता है और लंबे समय तक ठीक नहीं होता।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म के विस्तृत क्षेत्र शृंगी एवं कणमय परतों से हीन हो जाते हैं। यदि शृंगी परत बची रह जाती है, तो पराशृंगन अवलोकित होता है। कांटल परत में अक्सर कंट-

क्लेश के लक्षण और स्पंजिता पायी जाती है। सुचर्म में कुंभियां काफी विस्फारित होती हैं और अंतर्स्यंद भी होता है, जो मुख्यतः लसकोशिकाओं से बनता है।

निदान में सामान्यतः कोई कठिनाई नहीं होती; वह निम्न बातों पर आधारित होता है: ललामी, शोफ और चर्म में अंतर्स्यंदन की उपस्थिति; अपरदित सतहों और बड़े-बड़े पटलित शल्कों की उपस्थिति (विशेषकर टांगों पर), जिसमें कुपोषणजनित गड़बड़ियां होती हैं। अपवादजनक रूप से सुप्त प्रवाह एक अन्य विशिष्टता है। टांग (घुटने और टखने के बीच के भाग) में दिनाइ के पैठन-अधिकेंद्रों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखाएं नहीं होतीं और क्षतियां बहुरूपिक होती हैं।

चिकित्सा. रिसालु सतहों पर 0.5 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट के घोल की गीली पट्टी चढ़ायी जाती है। खट्टियों पर नाफ्थालान तैल से युक्त मलहम लगाया जाता है। सुप्त प्रवाह होने पर टार-प्रसाधनों की सांद्रता बढ़ानी पड़ती है (जैसे – विल्किंसन मलहम जिंक-पेस्ट के साथ आधा - आधा, या शुद्ध रूप में)। विटामिन B_{12} की सूइयां सुसंकेतित हैं (200-400 मिक्रोग्राम एक दिन बीच दे कर; कुल 20 सूइयां)। परिसरीय संचार सुधारने वाले तथा कुंभी-विस्फारक प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं; जैसे – एर्गोट अल्कालोइड, विटामिन PP, B_0, C, रूटिन, आस्कोरूटिन।

मिश्रित स्त्रेप्तो-स्ताफिलोकोकी चर्मपूयताएं

इस ग्रुप की चर्मपूयताओं में स्त्रेप्तोकोक और स्ताफिलोकोक दोनों ही हेतुलोचनी घटक का काम करते हैं। इनमें सतही रूप (सामान्य या स्त्रेप्तो-स्ताफिलोजनित इंपेतिगो) और गहरी चर्मपूयता के अविशिष्ट विभेदों चिरकालिक व्रण्य पनपू चर्मपूयता, कठव्रण-सदृश चर्मपूयता और पूयजनक कणार्ब – गृच्छकवक्रता, के बीच अंतर किया जाता है।

सामान्य इंपेतिगो, या स्त्रेप्तो-स्ताफिलोजनित इंपेतिगो, या छुतहा इंपेतिगो

गदजनन. सप्रेरक घटक निम्न हैं: पूर्ववर्ती या सहवर्ती कंडुक चर्मरोग (खाज, दिनाइ, नार्व-चर्मशोथ), चर्म में चोटजनित क्षति, गंदगी, लाला तथा अन्य विसर्जों से चर्म का मसृणन।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. आरंभ तीव्र होता है और स्त्रेप्तोकोकी इंपेतिगो, हल्के शोफित अतिरक्तिल चर्म पर फ्लिक्टेना के विरचन द्वारा लंछित होता है। स्ताफिलोकोकों की उपस्थिति के कारण फ्लिक्टेना का अंतर्द्रव्य शीघ्र ही धुंधला एवं पूयिल हो जाता है। इसके बाद स्राव सूख कर शहद के रंग की या पीली, मोटी खट्टी में परिणत हो जाती है (चित्र 6)। क्षतियां अक्सर मुँह, पलकों के विदार और नथुनों के गिर्द स्थित होती हैं (धड़ तथा हाथ-पैर की त्वचा पर बहुत विरले ही)। रोग ज्यादातर बच्चों, लड़कियों तथा युवतियों को होता है। तदनुरूप क्षेत्रीय लसपर्व अक्सर बहुत बड़े हो जाते हैं।

एक क्षति का 'जीवन-चक्र' आठ से 15 दिनों तक रहता है, जिसके बाद कुछ समय के लिये त्वचा पर एक वर्णकता रह जाती है। ध्यातव्य है कि अलग-थलग पीपिकाएं फैल कर आपस में मिलने की प्रवृत्ति रखती हैं।

निदान विशिष्ट (लंछक) तल्पिक चित्र, रोग-स्थल और बच्चों, लड़कियों तथा युवतियों को होने के आधार पर किया जाता है।

चिकित्सा. बाह्य दवाएं प्रयुक्त होती है: 1-2 प्रतिशत अनीलीन रंजकों का अल्कोहलिक या

चित्र 6. स्त्रेप्तो-स्ताफिलोजनित इंपेतिगो

उचित घोल, हिग्रोमीजोन, लौरिंडेन C. डेर्माजोलोन; 1 प्रतिशत नेओमीसिन (नवमीसिन) सल्फेट इकमीन (डेक्वानीनिउम) और 1-2 प्रतिशत बोरिक अम्ल व टार से युक्त मलहम [illegible] का आधार [illegible] होता है)। आस-पास की स्वस्थ त्वचा पर 1-2 प्रतिशत बोरिक-सैलिसीलिक अम्ल या सैलिसीलिक-[illegible] से युक्त अल्कोहल मलते हैं।

[illegible] रोग-ग्रस्त बड़े बच्चों में स्त्रेप्तोकोकों और स्ताफिलोकोकों का स्वसंरोपण रोकने के लिये [illegible] की सलाह नहीं दी जाती। बड़े लोगों को भी फुहार या टब में नहीं नहाना चाहिये। [illegible] बच्चों को पोटेशियम परमैंगनेट के अल्प-मैरीगोल्ड या कैमोमिला के घोल में या एथोक्सी-[illegible] लैक्टेट के [illegible] घोल में नहलाना चाहिये। चाकलेट, शहद या अन्य मीठे पदार्थ [illegible] हैं। यदि [illegible] में खाज, दिनाइ, नासाशोथ, युतिकाशोथ या कोई अन्य पूयचर्मता हो तो [illegible] चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

चिरकालिक व्रण्य और व्रण-पनपू चर्मपूयता

गदजनन. पूयकोकी पैटन के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता में कमी और निमित्त कारणों के गदजनक गुणों में ह्रास इस रोग के गदजनन में मुख्य भूमिका निभाते हैं। आंतर अंगों और [illegible] एवं अंतस्रावी तंत्रों की गड़बड़ियां भी इसके लिये अनुकूल घटक हैं। त्रुटिपूर्ण रक्त-आपूर्ति

के कारण कुंभिक तंत्र की स्थानिक नर्व-कुपोषज गड़बड़ियां, घायलता, अतिशीतन, विगत पैठन या अविटामिनता के कारण कुंभिक बेधिता और प्रतिरोध की गड़बड़ियां भी कम महत्त्व नहीं रखतीं।

चिरकालिक चर्मपूयताएं अधिकांशतः पैरों और कभी-कभी हाथ की पश्च सतह पर होती हैं। यह रोग 40 से 60 वर्ष के पुरुषों में अधिक प्रायिक है।

नैदानिक चित्र और प्रवाह. रोग स्त्रेप्तोकोकी एक्थीमा, फुँसी या एक विशिष्ट गहरे अंतर्स्यंद के विरचन से शुरू होता है और द्रुत विमृति के साथ-साथ व्रण उत्पन्न हो जाता है। व्रण की निम्न विशेषताएं हैं: गोल, अंडाकार या सीप जैसी टेढ़ी-मेढ़ी परिरेखा वाली पर्याकृति, घना अंतर्स्यंदन, अपरदित किनारियां, असमतल और श्लथ (ढीली-ढाली) तली, जिसपर विपन्न भूरा कणीकरण और प्रचुर पूयिक या पूय-सीरमी स्राव होता है। मुख्य अधिकेंद्र के परिसर में गहरी पीपिकाएं बन सकती हैं। अंतर्स्यंदों की गहराई में पूय-कोटर पाये जाते हैं, जो गहराई में परस्पर जुड़े हुए होते हैं। व्रण्य प्रक्रिया खट्टी के नीचे-नीचे परिसर पर बढ़ती जाती है; उसकी आकृति निरंतर बदलती रहती है – कभी वलयाकार तो कभी टेढ़े-मेढ़े माले की तरह। मुख्य अधिकेंद्र के किनारे-किनारे नये-नये [illegible] या पीपिकाएं बनती रहती हैं और उनका पूय-व्रण्य [illegible] होता रहता है। अधिचर्म, सुचर्म, अवचर्म, पेशियां और कभी-कभी हड्डियां भी एक साथ प्रक्रिया की चपेट में आ जा सकती हैं। प्रक्रिया के अंत में अक्सर दाग बन जाता है। रोग में [illegible], कमजोरी, रक्ताल्पता और पीड़ा (अक्सर हल्की) होती है; रोग का प्रवाह चिरकालिक होता है वह महीनों और कभी-कभी वर्षों तक बना रहता है।

व्रण की सतह पर या व्रण क्षति के परिसर में पनपाव [illegible]-सदृश नौवर्ध विकसित हो सकते हैं। कुछ [illegible] में वे क्रमशः क्षति की सारी सतह पर छा जाते हैं (चिरकालिक व्रण-पनपू चर्मपूयता [illegible] या बहुसंख्य नासूर बनते रहते हैं, जिनसे पूयिक स्राव (अक्सर रक्त के साथ [illegible] कुछ उदाहरणों में व्रण सतह का केंद्रीय भाग स्वस्थ हो जाता है लेकिन [illegible] प्रक्रिया का प्रसार जारी रहता है। यह चिरकालिक चर्मपूयता का सर्पी ('रेंगते हुए' बढ़ने वाला [illegible] है

ऊतलोचनी चित्र [illegible] की तरह होता है

निदान [illegible] है। रोग के नैदानिक चित्र और प्रवाह के अतिरिक्त ऊतलोचनी व बाक्तेरी-लोचनी परीक्षण और साथ-साथ रोगवृत्त को भी ध्यान में [illegible] पड़ता है। विभेदक निदान मसों, गंठिक्लेश और तृतीयक सीफिलिस में होने वाली व्रण्य एवं व्रण-पनपू क्षतियों, और गहरी कवकता (रश्मिकवकता, स्पोरतृणत्व, गहरी अंकुरी कवकता) के साथ किया जाता है।

पार्विक-व्रण्य सीफिलिड असंख्य नन्ही पर्विकाओं के विरचन द्वारा लंछित होता है, जो अपघटित हो कर व्रणों में परिणत होती जाती हैं; व्रणों की तली समतल और हल्की रिसालु होती है। पर्विकाओं का स्फोटन (उद्भव) लहरों (झोंकों) में होता है और वे विभिन्न विकास-चरणों पर पायी जाती हैं, इसीलिये उनके बाद दागों का मोजेक रह जाता है। तृतीयक सीफिलिस के अन्य लक्षण और सीरमलोचनी जाँच के परिणाम निदान में सहायक होते हैं। चर्म का मसेदार गंठिक्लेश शोथपूर्ण गंठिकाओं द्वारा लंछित होता है (शोथ की प्रकृति तीव्र नहीं होती), जो चर्म यक्ष्मा (चर्म-गंठिक्लेश) के विशिष्ट गुणों से युक्त होती हैं। व्रण्य-पनपू चरण पर रिसाव अत्यल्प मात्रा में होता है और परिसर में नयी पूयजनक क्षतियां नहीं बनतीं। इसके अतिरिक्त, मसेदार उत्वर्धों की प्रकृति अतिशृंगिक होती है और उनमें अपघटित होने की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। कंठमाल-चर्मता की क्षतियों के फटने पर जो व्रण बनते हैं, उनकी किनारियां मुलायम और निछुरी हुई

होती हैं, और तली असमतल होती है, जिसपर विवर्ण कणीकरण और अल्प मात्रा में सीरमी रिसाव होता है। नासूरी प्रणालों (चैनेलों) की उपस्थिति विभेदक निदान को कठिन बना देती है। कंठमाल-चर्मता की क्षतियां सेतु-सदृश पिटक जैसे मसेदार दाग छोड़ जाती हैं। चर्म के मसेदार गंठिक्लेश और कंठमाल-चर्मता में धनात्मक टुबेरकूलिन प्रतिक्रिया मिल सकती है। रश्मिकवकता चिरकालिक व्रण-पनपू चर्मपूयता से इस बात में इतर है कि इसमें अंतर्स्यंद काठ की तरह कठोर होता है और स्राव में कवकों के थक्के पाये जाते है। स्पोरतृणत्व और गहरी अंकुरी कवकता कव-कलोचनी परीक्षणों और साथ ही व्रण-स्राव तथा जीवदर्शी द्रव्यों के कल्चरल परीक्षण द्वारा इतरित (विभेदित) होती है।

चिकित्सा. चिरकालिक व्रण्य और व्रण-पनपू चर्मपूयता चिकित्सा का प्रतिरोध करती है, इसी-लिये रोगी को ठीक करना कठिन हो जाता है। तल्पिक लक्षणों के गायब होने के बाद भी रोग पुनरावर्तित हो जाता है।

चिकित्सा प्रलिखित करने में प्रतिजीवकों और रोगी की इमूनलोचनी प्रतिकारिता के प्रति निमित्त कारणों (रोगाणुओं) की संवेदिता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये। निम्न प्रसाधन प्रयुक्त हो सकते हैं अर्धसंश्लिष्ट (अर्धकृत्रिम) प्रतिजीवक और माक्रोलीड – इमूनी चिकित्सा (स्टाफिलोकोकी तोक्सोइड, गामा ग्लोबूलिन, स्वटीका) के साथ-साथ; अविशिष्ट स्फूर्तिदायक चिकित्सा (पेंटो-क्सील, टीरोजेनोल, प्रोडिजिओजान, स्वरक्तचिकित्सा, रक्ताधान); पोलीविटामिन और भौति-कीय चिकित्सा (परौच्च आवृत्तिक चिकित्सा पराबैंगनी विकिरणन) आदि। मेटेसीलिन 25... चार बार नित्य) को एरीथ्रोमीसिन 250000U, नित्य चार बार) के साथ मिलाया जा सकता है या इनमें से किसी एक को टेट्रासीक्लीन (0.2g, तीन बार प्रति दिन) या मेथिल ट्राइसिल 5g तीन बार प्रति दिन) के साथ मिलाया जा सकता है। स्टाफिलोकोकी तोक्सोइड अन्तर्चर्म सूई से .1 से 1.0ml की खुराक को सप्ताह में दो बार बाँट कर दी जाती है कुल 15 से 20 सूइयां)। स्टाफिलोकोकी गामा ग्लोबूलिन अंतर्पेशीय सूई द्वारा (120U) एक दिन छोड़ कर दिया जाता है (5 से 10 सूइयां)। लोहे और फोस्फोरस के प्रसाधन (फीटो-फेरोलैक्टील आदि), विटामिन (ए, ई, बी-एक, बी-बारह) और मछली का तेल (कौड नामक मछली के यकृत से प्राप्त तेल; माछतेल) आदि रोगी को बल-वर्धन के लिये देते हैं।

कोई भी विद्रधि उत्पन्न होते ही सेंकाई लगा कर उसे खोल देते हैं और कोटर में पेनीसिलिन का घोल लगाते हैं डेकोटोल, नाफ्था-नाफ्थालान, और विश्नेव्स्की-कृत मलहम का स्थानिक उपयोग है चिकित्सा का मलहम दे. 'सामान्य एक्यीमा', चिकित्सा) व्रण्य प्रक्रिया के सुप्त प्रवाह में प्रयुक्त होता है, ताकि कणीकरण का बढ़ना प्रोत्साहित किया जा सके। पनपाव बहुत अधिक होने पर चर्म ग्रस्त क्षेत्र को एक तीक्ष्ण चम्मचनुमा खुरचनी से सावधानीपूर्वक खुरच कर पनपाव को अलग कर लेने की सलाह दी जाती है; इससे बने घाव पर सिल्वर नाइट्रेट का पेंट कर के बारे-टेड पेट्रोलाटुम की पट्टी लगाते हैं। निम्न प्रसाधनों से भी अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं: खमीरी कवक (खीमोप्सिन – ट्रिप्सिन व खीमोट्रिप्सिन का प्रसाधन; टैंपनों के रूप में स्थानिक उपयोग जैसे खीमोट्रिप्सिन) और हेंक घोल व ईगल-माध्यम (घोल 199), वुल्नाजान और डीबूनोल के मलहम, सोल्कोसेरिन (जेली और मलहम)। ये प्रसाधन कणीकरण के वर्धन को और तदनंतर चर्म की क्षतियों के किणन और उपकलीकरण को प्रोत्साहित करते हैं। चिरकालिक चर्मपूयता के मामले में प्रतिजीवकों के साथ कभी-कभी कोर्टिकोस्टेरोइडों की हल्की खुराक भी अनुकूल प्रभाव डालती है।

निरोध. यह ध्यान में रखते हुए कि गहरी, चिरकालिक चर्मपूयताएं अक्सर पैरों में स्थानाबद्ध होती हैं, पैरों में स्कंदशिराशोथ, कुंभीशोथ, और कुपोषज व्रण का यथासमय इलाज हो जाना चाहिये।

भविष्यवाणी. रोग लंबे समय तक बना रह सकता है, उसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति भी विकसित हो सकती है, लेकिन वह जीवन के लिये घातक नहीं होता।

कठव्रणरूपी चर्मपूयता

हेतुलोचन. रोग अक्सर सुनहरे स्ताफिलोकोकों द्वारा उत्पन्न होता है, लेकिन कभी-कभी इसके निमित्त कारण स्त्रेप्तोकोक भी हो सकते हैं, इसीलिये इस अवस्था को मिश्रित चर्मपूयता की श्रेणी में रखा गया है।

गदजनन. रोग के संप्रेरक घटक निम्न हैं: सफाई की आदतों में त्रुटि, लिंगछद का मुहाना सँकरा होना (फीमोसिस), जिससे लिंगछद के नीचे एकत्रित बसाल स्राव (लिंगछद-वपा, स्मेग्मा) लिंगपूग और लिंगछद की त्वचा को क्षोभित करता हुआ शोथ उत्पन्न करता है और अपरदन एवं व्रण के विरचन को प्रोत्साहित करता है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. इसके विशिष्ट लक्षण निम्न हैं: अपरदक और अधिकांशतः व्रणकारी क्षति की उत्पत्ति, जिसकी परिरेखा गोल या अंडाकार होती है; किनारी कठोर, शोफित और उभरी हुई होती है, तली अंतर्स्यंदित और मांस की तरह लाल होती है, उसपर कभी-कभी पूय-स्राव या विगलन-द्रव्य छाया रहता है। व्रण अक्सर इक्के-दुक्के अलग-थलग होते हैं (अनेकों की संख्या में बहुत कम ही अवलोकित होते हैं; वे सामान्यतः जननेंद्रिय पर ही स्थानाबद्ध होते हैं, लेकिन बेहद छोटे उन्हें और जीभ पर भी पाये जा सकते हैं। यह सीफिलिसी कठव्रण से काफी काफी मिलता-जुलता होता है क्योंकि व्रण की तली स्पष्टतः मोटी होती है, खुद व्रण में कोमलता (मृदुपरिमिति) बहुत कम होती है, वहां के क्षेत्रीय लसपर्व चेरी या बादाम के आकार तक बढ़ आते हैं और कठोर हो जाते हैं। कठव्रणरूपी चर्मपूयता का प्रवाह 2-3 महीने तक खिंच सकता है, अंत में अचानक रह जाता है। कुछ वैज्ञानिक कठव्रणरूपी चर्मपूयता को कोई अलग रोगलोचनी रूप नहीं मानते, वे इसे जननेंद्रिय की सामान्य एक्थीमा मानते हैं।

विभेदक निदान. कठव्रण से इसे विभेदित करना बहुत कठिन काम भी हो सकता है, क्योंकि सीरम में फीकी त्रेपोनेमा की अनुपस्थिति कठव्रण की संभावना को दूर नहीं करता। सीरमी परीक्षण के साथ-साथ रोगवृत्त की भी सहायता लेनी पड़ती है, तब निदान संभव होता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कठव्रण की तली में कठोर अंतर्स्यंद सिर्फ व्रण या अपरदन की सीमा में ही होता है, जबकि कठव्रणरूपी चर्मपूयता के व्रण की तली का अंतर्स्यंद व्रण की सीमा से बाहर तक फैला रहता है।

अंतिम निदान कभी-कभी रोगी के दीर्घकालीन प्रेक्षण और सीरमलोचनी परीक्षणों को बार-बार दुहराने के बाद ही संभव हो पाता है।

चिकित्सा. पेनीसिलिन या अन्य प्रतिजीवक अंतिम निदान के बाद ही प्रलिखित किये जाते हैं। बाह्य चिकित्साएं निम्न हैं: पोटाशियम परमैंगनेट के अतितनु घोल में धोना (जब व्रण जननेंद्रिय पर बनता है) और डिआखीलोन या क्सेरोफोर्म का मलहम, और 5 या 10 प्रतिशत सुल्फोनामीड का इमल्शन।

पूयपरोर्जस (रक्तपूयस)

यह चर्म का एक विशिष्ट द्वितीयक परोर्जिक क्षति है, जो कुटाली (चिरस्थायी, चिरकारी) त्वचीय चर्मदुष्टताओं में होती है। ट्यूबरकूलिडों, मीसिडों तथा द्वितीयक स्फोटों के अन्य रूपों की तरह पूयपरोर्जस पिग्मोआलेर्जिड भी कोकी उद्भिजों या इनके अपघटन के उत्पादों के संवेदीकरण स्तर से उत्पन्न होते हैं, जब ये उद्भिज या इनके अपघटन के उत्पाद मुख्य पूयजनक अधिकेंद्र से रक्त के सहारे-सहारे ऐसे रोगी के शरीर में प्रकीर्णित होने (फैलने) लगते हैं, जिसकी परोर्जिक अवस्था तीव्र होती है। अविवेकसंगत उद्दीपक (स्फूर्तिदायक) चिकित्सा, इमूनोजीवलोचनी कारकों का आधार और सांयोगिक पैठन पूयपरोर्जस के विकास का प्रत्यक्ष कारण हो सकता है।

पूयपरोर्जस धड़ और हाथ-पैरों पर सममित रूप से अपशल्कनरत ललामिक धब्बों, पिटकवस्तिकाओं, और पिटिकाओं के हठात स्फोट द्वारा लंछित होता है। छूने में दृढ़ वस्तिकाएं और बुल्ले त्वचीय और त्वचा पर उत्पन्न होते हैं। स्फोट से पहले ज्वर आता है (कभी-कभी 38°C तक), सरदर्द, अवसन्नता और कमजोरी की अनुभूति होती है। स्फोट के समय खुजली भी होती है। पूयिकाएं प्रकीर्णित होती जाती हैं और त्वचा के विस्तृत क्षेत्र पर छा जा सकती हैं, मुख्य पैठन-केंद्र से बहुत दूर-दूर उत्पन्न होने लगती हैं। फिर भी, अधिकेंद्र की अवनति (अवनति) 10 से 14 दिन से शुरू हो जाती है।

चिकित्सा उदासीन जेक-लोशनों और पाउडरों से बाह्य चिकित्सा की जाती है। सामान्य अवसादक दवाएं – कैल्सियम के प्रसाधन (कैल्सियम क्लोराइड, कैल्सियम ग्लूकोनाट) – मुखमार्ग से अन्तर्शिरीय या अन्तर्पेशीय मार्ग से दी जाती हैं। विटामिन और स्वरक्त-चिकित्सा प्रयुक्त होती है।

चर्मपूयता-निरोध संगठित करने के सिद्धान्त

लोगों में चर्मपूयता का विस्तृत प्रसार, इसके कारण बड़ी संख्या में आयुरी छुट्टी (मेडिकल लीव) की मांग और बच्चों में इसकी बहुमारी फैलने की संभावना – इन वजहों से योजनाबद्ध निरोधात्मक युक्तियों का संगठन आवश्यक हो जाता है। चर्मपूयता को नियंत्रित करने में आयुर्कर्मियों (चर्मलोचकों, स्कूलों के डाक्टरों, बाल-विशेषज्ञों, करोर्जकों, सफाई-कर्मचारियों, औद्योगिक इकाइयों के डाक्टरों, उनके सहायकों, नर्सों, कंपाउंडरों आदि) को ही नहीं, पार्टी, व्यवसाय-संघ के विभिन्न संगठनों के कार्य-कर्त्ताओं और बाकी जनता को भी साथ देना चाहिये। इसके लिये कारखानों में स्वास्थ्य-सेवा संगठित करनी चाहिये, स्कूलों में कुछ बच्चों को अन्य बच्चों की सफाई और स्वास्थ्य पर निगरानी रखने के लिये चुन लेना चाहिये।

राज्य की ओर से चर्मपूयता पर नियंत्रण का अर्थ है ऐसी युक्तियों का संकुल कार्यान्वित करना, जो इस रोग की प्रायिकता में ह्रास लायें। इनमें से एक युक्ति है – चर्मपूयताओं के केस दर्ज करते जाना, फिर यह विश्लेषण करना कि किस वय, वृत्ति एवं क्षेत्र के लोगों में चर्मपूयता कितना बढ़ या घट रही है। इसके आधार पर ही चर्मपूयता-नियंत्रण के लिये योजनाबद्ध रूप से काम किया जा सकता है। उद्योगों में उत्पादन प्रक्रिया के स्वास्थ्य एवं तकनीकी पक्षों को ध्यान में रखते हुए

उसे इस प्रकार विकसित करना चाहिये कि चर्मपूयता संप्रेरित करने वाले घटक (धूल, ठंड, बहुत गर्मी, छोटी-मोटी चोट पहुँचाने वाली परिस्थितियां) उन्मूलित हो सकें। सफाई और स्वास्थ्य की युक्तियों का मूल उद्देश्य यह होना चाहिये कि काम पर और दैनंदिन जीवन में त्वचा साफ-सुथरी रहे। व्यायाम, क्रीड़ा और शरीर-कठोरन की युक्तियों से बच्चों व बड़ों में पैठी रोगों के विरुद्ध प्रतिरोधिता बढ़ जाती है। स्वास्थ्य संबंधित विस्तृत शिक्षा से लोगों को पैठन-मार्गों, रोग के संप्रेरक घटकों, व्यक्तिगत एवं सामूहिक निरोध की विधियों और सतही चर्मपूयताओं की सरल चिकित्सा-विधियों का ज्ञान हो जाता है।

औद्योगिक इकाइयों (जैसे कारखानो) में निरोध की युक्तियां उद्योग के प्रकार पर निर्भर कर करती हैं। उदाहरणार्थ, कपड़े के कारखानों, कोयले के खानों तथा अन्य उद्यमों में, जहां धूल की बहुलता होती है, एयर-कंडिशन और धूल-संग्राही उपकरण लगाने से चर्मपूयता के केस कम हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, हर उद्यम में काम और परिस्थितियों के अनुकूल कपड़े और दस्ताने आदि पहनने चाहिये।

सूक्ष्मघायलता अक्सर धातुकर्मी एवं यांत्रिक इंजिनियरी कारखानों में उत्पन्न होती है। ऐसी क्षतियों (जख्मों) पर गोंद Φ-2 लगाने की सलाह दी जाती है, जिससे कोकी उद्भिजों का प्रवेश रुक जाता है। निरोध की एक युक्ति यह भी है: ऐसी सूक्ष्म क्षतियों को 0.5 प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के घोल से धो लेना चाहिये (काम के बाद हाथों को 'अम्लिक पानी' से धोना चाहिये)। विभिन्न कारखानों में चर्मपूयता रोकने के लिये 'जीवलोचनी दस्ताने' प्रयुक्त होते हैं। यह एक पेस्ट है ('[illegible]' नामक काजेइन 300 ग्राम, 25 प्रतिशतीय अमोनिया-घोल का 10 ग्राम, [illegible] एथिल अल्कोहल 850 ग्राम [illegible] 680 मिलिलीटर का मिश्रण), जिससे काम से पूर्व हाथों पर एक परत बना ली जाती है। पेस्ट सूख कर महीन दस्ताने की तरह झिल्ली में परिवर्तित हो जाता है (इसीलिये उसका यह नाम रखा गया है)। पेस्ट को हटाने के लिये साबुन और [illegible] का उपयोग करते हैं। पांस (पीट) के खदानों में काम करने वाले मजदूरों के बीच हाथों में पूयचर्मता की रोकथाम के लिये अब पाइकिन की विधि का जोरों से प्रसार हो रहा है। हाथ धो कर उसे 5 मिनट तक अमोनिया-स्पीरिट (अमोनियम हाइड्रोक्साइड) के 0.25 प्रतिशतीय घोल में डुबा कर रखा जाता है, फिर उसे तौलिये से पोंछ कर बिल्कुल सुखा लेते हैं और उसपर पेट्रोलियम जेली की एक परत लेप लेते हैं। नोविकोव का घोल (टान्निन 1 ग्राम, चमकदार हरा 0.2 ग्राम, 96 प्रतिशतीय एथिल अल्कोहल 0.2 ग्राम अंडी का तेल 0.4 ग्राम, कोलोडियम 20 ग्राम) भी सूक्ष्म जख्मों के निरोधात्मक उपचार में प्रयुक्त होता है। कारखानों के सभी कर्मालयों (शौप्स) में टिंचर आयडीन, [illegible] पट्टी, और अनीलीन रंजकों के घोल आदि दवाओं की एक नन्ही सी अलमारी अवश्य होनी चाहिये। अलमारी ऐसी जगह होनी चाहिये कि सभी उस तक पहुंच सकें; उसमें मरहम-पट्टी की सामग्री और दवाओं की नियमित रूप से आपूर्ति होती रहनी चाहिये। DHC-AK आजकल त्वचा से काला तेल, गंदगी, ग्रैफाइट, मैल आदि धोने के लिये एक उत्तम प्रसाधन है। यह साबुन की बट्टियों, पाउडर या शैंपू के रूप में उत्पादित होता है।

नवजात बच्चों में चर्मपूयता के निरोध की सभी युक्तियां महत्त्वपूर्ण होती हैं: रोगी बच्चे को चिकित्सा खत्म होने तक पृथक रखा जाता है (अन्य बच्चों से), कक्ष की परिस्थितियों पर कड़ी निगरानी और नियंत्रण रखा जाता है; जच्चा-घर के सहकर्मियों की नियमित रूप से समय-समय पर जांच भी होती रहती है। बालवाड़ियों में सफाई-विभाग और बहुमारीलोचनी विभाग की तरफ

से निरीक्षण होते रहते हैं। वहां चर्मपूयता से ग्रस्त किसी भी व्यक्ति को काम करने नहीं दिया जाता।

घर में कुव्यवस्था अस्त-व्यस्तता। अधिक व्यक्तियों का एक साथ रहना, धूल की बहुलता, कुसंवातन सीलन, कीटाणुओं से कमरे का भरा होना धूप की कमी आदि घटक विभिन्न चर्म-पूयताओं के प्रति प्रवणता विकसित करने की क्षमता रखते हैं। इन घटकों को दूर करना बच्चों में चर्मपूयता के निरोध का एक अच्छा उपाय है। शरीर का कठोरन, जल-क्रियाएं (नहाना, धोना, गीले कपड़े से पोंछना आदि), कसरत, क्रीड़ा, वात-स्नान, सौर स्नान, कार्बोहाइड्रेट से समृद्ध आहार (जैसे चाकलेट, शहद, आलू, मिठाइयां आदि) पर नियंत्रण आदि भी निरोधात्मक उपाय हैं। जनसंख्या के संगठित अंशों (जैसे कृषि और उद्योग की विभिन्न शाखाओं के श्रमिकों, सेना-सदस्यों आदि) के बीच ये निरोधात्मक युक्तियां कार्यान्वित करना सरल है।

संवृत उत्पादन-चक्रों का संगठन, उत्पादन प्रक्रिया के सुसंस्कृत रूप वाले नये आधुनिक कारखानों का निर्माण, पुराने कारखानों का आधुनिकरण और विकास, लोगों के जीवन और स्वास्थ्य की परिस्थितियों में सुधार – ये सब भी ऐसे घटक हैं जो काम पर और दैनंदिन जीवन में चर्मपूयता की संख्या कम कर सकते हैं; वैसे, इन घटकों की सूची और भी लंबी की जा सकती है।

कवकताएं, आदमी के कवकज रोग

सामान्य सूचनाएं

चर्मरोगों की व्यापकता के अनुसार चर्मपूयताओं के बाद चर्मकवकताओं का ही स्थान आता है, इसीसे इनके अध्ययन और नियंत्रण की निर्विलंब आवश्यकता निर्धारित होती है।

कवक प्रकृति में बहुत विस्तृत रूप से फैले हुए हैं। लेकिन उनमें से कुछ ही ऐसे हैं, जो जंतुओं या आदमियों में रोग उत्पन्न करते हैं। कवक निचली श्रेणी के पादप (या उद्भिज) हैं, जिनसे वे इस बात में भिन्न हैं कि इनमें क्लोरोफील नहीं होता और ये कार्बन डायक्साइड को आत्मसात नहीं कर पाते।

त्वचीय कवकों के मुख्य ग्रुप में निम्नश्रेणिक उद्भिज सूक्ष्म जीवों (जीवाणुओं) की गणना होती है जो मीसेलियम के दुहरी परिरेखा वाले विशाखित धागे से बने होते हैं (माप: 40-50 माइक्रोमीटर लंबे और 1 से 6 मिक्रोमीटर मोटे); ये सभी स्पोरों द्वारा प्रजनित होते हैं और जानवरों, पक्षियों और आदमियों में परजीवी बन कर रहते हैं। इन कवकों को बड़े ग्रुपों में बांटा गया है: त्वचीय कवक, जो सिर्फ मनुष्यों की त्वचा तथा इसके उपांगों पर परजीवी बन कर रहते हैं और त्वचाजनी कवक जो पशुओं और मनुष्यों दोनों ही के चर्म या इसके उपांगों में परजीवक की जिंदगी बिताते हैं। प्रथम ग्रुप में, उदाहरणार्थ, निम्न की गणना होती है: बैंगनी त्वचीय और केटरकी लोमतृण, जो सतही और चिरकालिक लोमतृणत्व उत्पन्न करते हैं; जंकी (यह त्वचा के एक के रूप वाला) सूक्ष्मस्पोरूम, जिससे जंकी सूक्ष्मस्पोरता उत्पन्न होती है; श्योन-त्वचीय ट्रायकोफ्रिटोन, जो मोमिता उत्पन्न करता है। दूसरे ग्रुप में निम्न हैं: खड़ियानुमा और त्वचीय त्रिकोफ्रिटोन (जो बछड़ों, चूहों तथा अन्य जानवरों में लोमतृणत्व और आदमी में लोमतृणत्व का अन्तर्वेदी-पूयिक रूप उत्पन्न करते हैं) तथा ऊर्णी सूक्ष्मस्पोरूम (जो कुत्तों, बिल्लियों और आदमी में एक रूप उत्पन्न करते हैं)।

कांदीदा वंश के खमीरस (खमीर-जैसे) कवक एक विशेष ग्रुप बनाते हैं। इनकी विभेदक विशेषता यह है कि ये स्पोर नहीं बनाते, पल्लवन द्वारा प्रजनित होते हैं और इनके द्वारा बने धागों में वास्तविक विशाखन नहीं होता और इसीलिये इन्हें मिथ्या मीसेलियम भी कहते हैं।

आदमी के लिये गदजनक और उसके चर्म को प्रभावित करने वाले कवक चर्मतृण कहलाते हैं और उनके द्वारा उत्पन्न रोग चर्मतृणत्व या चर्मकवकता कहलाते हैं।

बहुमारीलोचन. कवकों का पैठन सीधे किसी बीमार आदमी या जानवर के माध्यम से होता है (प्रत्यक्ष पैठन-मार्ग) या रोगी व्यक्ति के उपयोग की वस्तुओं या जानवर की देखभाल में प्रयुक्त वस्तुओं के माध्यम से (अप्रत्यक्ष पैठन-मार्ग)। कुछ कवकज रोग (सतही लोम तृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता आदि) बालवाड़ी-उम्र के बच्चों और स्कूली बच्चों में होते हैं अन्य, जैसे अधिचर्मतृणत्व (या अधिचार्म तृणत्व), गहरी तंत्रिक (कायिक) कवकता आदि अधिकांशतः वयस्कों में होते हैं। कुछ कवक-रोग विशेष ऋतुओं में तेजी से फैलते हैं (जैसे शरद में उर्ध्व सूक्ष्मस्पोरूम से पैठन और ग्रीष्म में जंतुप्रेमी लोमतृणत्व के पैठन की प्रायिकता बढ़ जाती है और कुछ रोग विशेष ऋतुओं में उग्र हो उठते हैं (जैसे बसंत तथा ग्रीष्म में टिनेआ पेडिस या पैरों के वलयकृमि से उत्पन्न रोग)। किसी भी इलाके की जलवायु और जमीन की अवस्थाएं भी, चर्मतृणत्व के प्रसार पर प्रभाव डालती हैं। इससे इनमें से कुछ रोगों के प्रसार की भौगोलिक विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि विभिन्न कवकताओं की प्रायिकता में उतार-चढ़ाव एक आवर्ती प्रकृति रखती है। विभिन्न इलाकों और गणनंत्रों में चर्मकवकताओं पर नियंत्रण के उपाय विकसित करते वक्त इन सब बातों पर ध्यान रखना चाहिये।

गदजनन. आदमी के परिवेश में कवकों की बहुतायत है, लेकिन इनके कुछ ही प्रकार ऐसे हैं, जो रोग उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये स्थायी और व्यापक गदजनक रूप नहीं होते, सिर्फ विशेष परिस्थितियों में ही रोग विकसित करते हैं। इनकी रोगकारी क्षमता निम्न घटकों पर निर्भर करती है: उम्र, कभी-कभी लिंग, अंतस्त्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता, जलवसीय आवरण का pH, स्वेद की रसायनिक संरचना और अतिस्वेदन। उदाहरणार्थ, बच्चों में अधि[illegible]का केराटिन और शृंगनरम लोमकोशिकाएं पर्याप्त सघन और संहत नहीं होतीं, इसीलिये पैठित केराटिनप्रेमियों की जीवन-क्रिया और विकास की सुविधा मिलती है।

पैठनजनित और चिरकालिक रोग शरीर की प्रतिकारिता कम करते हैं, स्वेद के रसायनिक गठन में और चर्म व बालों (लोमों) की अवस्था में परिवर्तन लाते हैं, और इस तरह नार्विक व अंतस्त्रावी गड़बड़ियां उत्पन्न करते हैं, कुणपतृणिक कवकी उद्भिजों (जैसे कांदीदा वंश के खमीरस कवकों) को गदजनक रूपों में परिणत कर देते हैं।

वर्गीकरण. चर्मकवकताओं का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं है, क्योंकि भिन्न वैज्ञानिक भिन्न घटकों पर ध्यान देते हैं (जैसे—आदमियों के लिये गदजनक कवकों के रूपलोचनी गुणों, पोषक माध्यम के प्रति रूख, चर्मकवकताओं के तल्पिक चित्र और प्रवाह की विशेषताओं आदि पर)। अ. आरियेविच द्वारा प्रस्तावित और शेक्लाकोव द्वारा विकसित (और संशोधित) तल्पिक वर्गीकरण सोवियत संघ में शैक्षणिक उद्देश्यों से प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार आदमी की सभी चर्मकवकताएं चार बड़े ग्रुपों में बाँटी गयी हैं: (1). शृंगीकवकताएं (बहुरंगी बुसन और, बहुत औपचारिक रूप से, ललौंसी, पार्विक लोमस्पोरता, काक्षिक लोमकवकता); (2) चर्मकवकताएं (अधिचर्मतृणत्व, लालकवकता, लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता); ये सबसे अधिक प्रायिक हैं और सबसे अधिक सामाजिक एवं बहुमारिक महत्व रखते हैं; (3) कांदीदक्लेश (चर्म,

श्लेष्मला और आंतर अंगों का); (4) गहरी (कायिक) कवकताएं ; यह ग्रुप बहुत बड़ा है, लेकिन ये कवक-रोग बहुत विरल हैं।

शृंगीकवकताएं

इस ग्रुप के कवक-रोगों की विशेषताएं निम्न हैं : ये सिर्फ शृंगी अधिचार्म परत को ग्रस्त करते हैं, बहुत अंश छुतहा होते हैं, इनमें स्पष्ट (व्यक्त) शोथी संवृत्तियां अनुपस्थित होती हैं। परंपरावश इस ग्रुप में ललौंसी को भी शामिल कर लिया गया है, यद्यपि अब पर्याप्त तथ्य ज्ञात हो चुके हैं कि इसका निमित्त कारण कवक नहीं, बल्कि कोरीनेबाक्तेरिउम नामक जीवाणु हैं। कायिक लोमस्फोरता और काक्षिक (काँख की) लोमकवकता इसी ग्रुप में शामिल की गयी है।

बहुरंगी बुसन

इतिहास और गदजनन. निमित्त कारण पीटीरोस्पोरूम अर्बीकुलार या मालासेजिया फुरफुर अधिचर्म की शृंगी परत और मशिकाओं के मुहानों में पाये गये हैं। जब रोगी शल्कों का निरीक्षण सूक्ष्मदर्शी से किया जाता है, कवक मीसेलियमों के अपेक्षाकृत मोटे और छोटे, ऐंठन भरे धागों के रूप में दिखते हैं, जिसके गिर्द दुहरी परिरेखा वाले कैप्सुलों की तरह बर्तुल स्पोरों के गुच्छे चिपके होते हैं। इस कवक का प्रजनन प्राप्त करना बहुत कठिन है, कुछ सांयोगिक स्थितियों में ही यह सफल हुआ है। यह माना जाता है कि अतिस्वेदन, स्वेद का रसायनिक गठन, शृंगी परत के [illegible] में गड़बड़ी, और चर्म की व्यक्तिगत प्रवणता आदि घटक रोग के गदजनन में [illegible] निभाते हैं। इस बात के संकेत मिले हैं कि यह रोग अधिकांशतः क्लोमिक (फुफ्फुसी [illegible] यक्ष्मा) के रोगियों को होता है। लेकिन यह सर्वमान्य धारणा नहीं है। रोग युवक-युवतियों के बीच अधिक प्रायिक है। बच्चों में, विशेषकर 7 वर्ष से कम के बच्चों में, यह बहुत विरले होता है। यह दुर्बल बच्चों में विकसित हो सकता है : मधुमेह, यक्ष्मा, या अति-स्वेदन-युक्त प[illegible]वंता के कारण ; यौन-परिपक्वता से पूर्व और उसके दौरान।

बहुरंगी बुसन बहुत क्षीण छुतहा होता है।

नैदानिक चित्र और प्रकार. त्वचा पर बिना किसी शोथी संवृत्ति के पीताभ, भूरे, गुलाबी धब्बे बन जाते हैं, जो लोम-[illegible]काओं के मुहानों पर धीरे-धीरे आकार में बढ़ने लगते हैं। इसके बाद वे आपस में संलीन हो जाते हैं और उनकी किनारी सूक्ष्म लहरदार होती है। धब्बों का रंग धीरे-धीरे गाढ़ा भूरा हो जाता है। रंगों के इस परास के कारण ही इसका नाम बहुरंगी पड़ा है। धब्बे त्वचा से उभरे हुए नहीं होते ; कोई आत्मगत शिकायत नहीं होती (कभी-कभी हल्की खुजली महसूस होती है) और इसे (बुसन) की तरह के चोंइये (शल्क) बनते रहते हैं, जिनका [illegible] खुरचने पर सरलतापूर्वक लग जाता है (इसे वेस्तियर-मेशेर्स्की का लक्षण कहते हैं)।

बहुरंगी बुसन में अक्सर धब्बों की स्थिति में कोई सममिति नहीं होती। वक्ष और पीठ इसके नियत स्थल हैं, विरल स्थितियों में धब्बे गरदन, पेट, धड़ की पार्श्व सतहों और बाहों की पार्श्व सतहों पर भी पाये जाते हैं। हाल में वुड के काँच से युक्त पारदवाष्प-लैंप द्वारा रोग के निदान से पता चला कि यह शिरोवल्क में भी (विशेषकर विसरित प्रक्रिया के रूप में) बहुत अक्सर होता है, लेकिन बाल इससे अछूते रहते हैं। शायद यही कारण है कि प्रतीयमान सफल चिकित्सा के बावजूद रोग पुनरावर्तित हो जाया करता है। स्कूल-पूर्व उम्र के बच्चों और यौनपरिपक्वता-काल के किशोरों में बहुरंगी बुसन की निम्न विशेषता है : यह गरदन, वक्ष, काँख, पेट, पीठ,

हाथ-पैर और शिरोवल्क के विस्तृत क्षेत्रों पर फैल जाता है। रोग लंबे समय तक बना रहता है (महीनों और वर्षों तक)। तल्पिक चिकित्सा हो जाने के बाद भी रोग अक्सर पुनरावर्तित हो जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि धूप में रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जा सकता है और इस स्थिति में पहले के स्फोट-स्थल झौंराते नहीं हैं, सफेद धब्बे बन जाते हैं (मिथ्या चर्मश्विति)।

उतगदलोचन. शोथी संवृत्ति की अनुपस्थिति में शृंगी परत ढीली-ढाली होती है, जिसमें कवकों के मिसेलियम और स्पोर पाये जाते हैं।

निदान में कोई कठिनाई नहीं होती और अक्सर यह अपने विशिष्ट तल्पिक चित्र के आधार पर ही हो जाता है। कठिन स्थितियों में सहायक निदानिक रीतियां प्रयुक्त होती हैं। इनमें से है बाल्ट्सर-निरूपित आयडीन-परीक्षण: त्वचा पर 5 प्रतिशतीय टिंचर आयडीन लेपने से ढीली-ढाली शृंगी परत के रोग-ग्रस्त क्षेत्र पर स्वस्थ त्वचा की तुलना में अधिक गहरा होता है। कभी-कभी टिंचर आयडीन की जगह 1-2 प्रतिशत अनीलीन रंजकों का घोल भी प्रयुक्त होता है। बेस्नियर-मेशेर्स्की का लक्षण भी जाँचा जा सकता है: धब्बों को खुरचने पर अरजल्की परतें अलग हो जाती हैं, क्योंकि शृंगी परत ढीली होती है। तल्पिक रूप से अव्यक्त [illegible]-केंद्रों का पता पारद-वाष्प के लैंप से चल सकता है, जिसकी किरणें निकेल आक्साइड से [illegible] काँच से हो कर गुजारी जाती है (वुड का काँच)। परीक्षण अंधेरे कमरे में किया जाता है। [illegible] वुड के काँच से गुजरी किरणें बहुरंगी बुसन के धब्बों पर गाढ़ी भूरी या ललछौंह पीली [illegible] उत्पन्न करती हैं। तल्पिक रूप से अलाक्षणिक क्षतियों को (उन्हें भी, जो शिरोवल्क पर होती हैं) अनुवेदित कर लेने पर अधिक युक्तिसंगत चिकित्सा प्रलिखित की जा सकती है और कुछ रोगियों में पुनरावर्तन को भी रोका जा सकता है। निदान की जाँच की एक अच्छी विधि है: 2-30 प्रतिशत पोटाशियम या सोडियम हाइड्रोक्साइड से [illegible] शल्कों में सूक्ष्मदर्शी से कवकों के अंग अनुवेदित करना।

बहुरंगी बुसन को कभी-कभी सीफिलिसी गुलाबिका से विभेदित करना पड़ता है (जिसमें क्षति गुलाबी रंग की होती है और दाब से गायब हो जाती है)। सीफिलिस के अन्य लक्षणों और धनात्मक सीरमलोचनी परीक्षण को भी ध्यान में रखा जाता है। जिबर्ट (Gibert) का बुसन इस बात में भिन्न होता है कि इसमें गुलाबी धब्बे चर्म-तनाव की लैंगर (Langer) द्वारा निरूपित रेखाओं के सहारे-सहारे स्थित होते हैं; ये रोंबस (रोंब के समान) या कुछ लमड़े हुए होते हैं और इनके मध्य में सिगरेटी कागज से मिलता-जुलता एक विशिष्ट शल्कन होता है, जिन्हें मेडालिओन कहते हैं। द्वितीयक या मिथ्या चर्मश्विति, जो बहुरंगी बुसन की चिकित्सा के बाद बन जाती है, वास्तविक सीफिलिसी चर्मश्विति से विभेदित की जाती है। अंतिम में संलीन अतिवर्णकित धब्बे नहीं बनते, क्षति की प्रकृति कुरूस की [illegible] जैसी होती है और अधिकांशतः गरदन, काँख और धड़ की पार्श्व सतहों पर उत्पन्न होती है; रक्त-सीरमलोचनी परीक्षण का परिणाम धनात्मक होता है और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस की अन्य अभिव्यक्तियां भी होती हैं।

चिकित्सा. ग्रस्त चर्म-क्षेत्रों पर शृंगलयकारी और कवकमारक साधन मले जाते हैं। इसके लिये सैलीसीलिक (5 प्रतिशत) या रेसोर्सिनोल (3-5 प्रतिशत) अल्कोहल और सल्फरिक (10-20 प्रतिशत) या सैलीसीलिक (3-5 प्रतिशत) मलहम प्रलिखित किये जा सकते हैं। आंद्रियास्यान-मलहन (उरोट्रोपीनी 10.0 ग्लीसेरीनी 20.0 जलीय घोल आसेटीसी 9% 70) भी अनुकूल प्रभाव डालता है; इससे त्वचा पर धब्बा नहीं पड़ता, क्षोभ भी नहीं होता। घोल और मलहम चार से छे दिनों के लिये त्वचा में मल दिये जाते हैं; इसके बाद रोगी टार-युक्त साबुन से स्नान

कर के कपड़े बदलना है। पराबैंगनी विकिरणन का उपयोग भी लाभदायक होता है। विसरित रूपों की चिकित्सा देम्यानोविच की विधि से की जाती है: 60 प्रतिशत सोडियम थायोसल्फेट का घोल और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 6 प्रतिशतीय घोल खाज की चिकित्सा की तरह प्रयुक्त होता है। बच्चों की चिकित्सा में इनका प्रतिशत अंश क्रमशः 40 और 4 तक घटा दिया जाता है।

पुनरावर्तन रोकने के लिये ग्रस्त क्षेत्रों पर 1-2 प्रतिशत सैलीसीलिक या 2 प्रतिशत बोरिक अम्ल व सैलीसीलिक अल्कोहल मला जाता है। यह चिकित्सा के बाद कुछेक हफ्तों तक नित्य एक बार किया जाता है, फिर एक या दो महीने बाद दुहराया जाता है।

निरोध. अतिस्वेदन का इलाज किया जाता है, शरीर-कठोरन की युक्तियां प्रलिखित की जाती है। रोगी को बहुत अधिक गर्मी से बच कर रहना चाहिये। त्वचा की सफाई का पूरा खयाल रखना चाहिये। स्वस्थ होने के बाद सप्ताह में एक या दो बार वोदका या 8 प्रतिशत विनेगार से त्वचा को मलना एक अच्छी निरोधक युक्ति है।

ललौंसी

हेतुलोचन और गदजनन. इसे परंपरावश शृंगीकवकताओं के ग्रुप में शामिल कर लिया गया है, पर अब स्थापित हुआ है कि इस रोग का निमित्त कारण – कोरीनेबाक्टेरियम मीनूटिसीमुम – कवकों के साथ संबंधित नहीं है और खुद रोग एक मिथ्याकवकता है। कोरीनेबैक्टेरियम जीवाणु सिर्फ अधिचर्म की ऊपरी परत में पाये जाते हैं और बालों व नखों को प्रभावित नहीं करते। रोगी त्वचा से निकाले गये शल्क के सूक्ष्मदर्शी निरीक्षण से महीन, ऐंठे हुए धागे दिखते हैं, जो विभिन्न लंबाइयों के होते हैं और मिसेलियम व कोकी-सदृश कोशिकाओं से मिलते-जुलते होते हैं (वे दरअसल [illegible] की चेन या गुच्छों की तरह होते है)। रोग के गदजनन में निम्न घटक महत्वपूर्ण है [illegible] की निजी विशेषताएं, अतिस्वेदन, हवा की उच्च आर्द्रता और तापक्रम, चर्म के pH में अम्लीय दिशा में परिवर्तन, चर्म का मसृणन और घर्षण। यह जीवाणु कुणपतृण (मृत कोशिकाओं से अपना पोषण करने वाला सूक्ष्म उद्भिज) है, इसमें गरलता (विषालुता) कम होती [illegible] और इसीलिये साधारण परिस्थितियों में यह व्यक्तियों के स्वस्थ चर्म में भी पाया जाता है। पैठन बिस्तर, कपड़ों तथा स्नान के माध्यम से और मैथुन से होता है।

नैदानिक चित्र और प्रवाह. हल्के भूरे या ईंट की तरह लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं, जो संलीन हो कर बड़े-बड़े अधिकेंद्र (पैठन के अड्डे) बनाते हैं; अधिकेंद्रों की परिसीमाएं (या परिरेखाएं) स्पष्ट होती हैं और मेहराबदार या कभी-कभी लहरदार होती हैं। कोई शोथी संवृत्ति नहीं होती। धब्बों की सतह या तो चिकनी होती है या चोकर जैसे महीन शल्कों से आच्छादित होती है। कभी-कभी पैठन के अड्डे की किनारियों पर एक हल्की उभार देखी जाती है, अड्डे के केंद्र में फीका (विवर्ण) या भूरापन [illegible] बन जाती है। नियमतः कोई भी आत्मगत गड़बड़ी नहीं पायी जाती, पर [illegible] रोग में कभी-कभी हल्की खुजली होती है। खुजली ग्रीष्म में हो सकती है, जब वर्धित स्वेदन और अपर्याप्त सफाई से क्षति की सतह पर शोथ विकसित हो जाता है। ललौंसी वृहत चर्म-[illegible] में स्थानाबद्ध होती है। पुरुषों में इस रोग का सामान्य स्थान जाघ-जंघामूलीय और अंडकोषों का क्षेत्र है, स्त्रियों में – कक्ष, स्तन-ग्रंथियों के नीचे स्थित पुटकों और नाभि के गिर्द क्षेत्रों में। बच्चों में ललौंसी बहुत विरले ही होती है। रोग चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है और जल्द-[illegible] पुनरावर्तित होने लगता है, विशेषकर अधिक स्वेदन वाले, मेदुर और थुलथुल व्यक्तियों में [illegible] गड़बड़ियां नहीं होतीं, इसलिये डाक्टर के बिना इसका पता नहीं चलता।

[illegible] परिवर्तन बहुरंगी बुसन जैसे ही होते हैं।

निदान धब्बों के लंछक स्थानों और उनके भूराभ-ललछौंह रंग तथा लहरदार परिरेखा के आधार पर किया जाता है। बाक्तेरीदर्शन (बैक्टेरियोस्कोपी) का उपयोग विरले ही होता है। प्रदीप्ति-निदान का उपयोग बहुत विस्तृत है। यह वुड के काँच से हो कर पारद-वाष्प के लैंप से विकिरणन की रीति है। इसकी किरणों में अधिकेंद्र प्रवाल (कोरल) या ईंट की तरह लाल संदीप्ति उत्पन्न करता है, क्योंकि ललौंसी के निमित्त जीवाणु अपनी जीवन-क्रिया में जल में घुलनशील द्रव्य पोरफिरिन स्रावित करते हैं। जंघामूल में होने वाले अधिचर्मतृणत्व की निम्न विशेषताएं हैं: किनारियों पर उभार, अधिकेंद्र के परिसर में मसृणित अधिचर्म का एक घेरा, वस्तिकाएं, शोथी संवृत्ति और खुजली। अधिकेंद्र की मतत किनारियां ललौंसी को जांघ-जंघामूलीय पुटक की लाल कवकता (रूब्रोमीकोसिस) से विभेदित करती हैं, जिसमें किनारियों का अनियमित शोथी शोफ प्रेक्षित होता है, गोड़ की त्वचा व नख भी नियमतः ग्रस्त हो जाते हैं और विभिन्न तीव्रताओं के साथ खुजली होती है। ललौंसी बहुरंगी बुसन से अपने निम्न लक्षणों द्वारा विभेदित होती है: अधिकेंद्र का विशिष्ट स्थान और रंग, प्रदीप्ति-लैंप द्वारा उत्पन्न संदीप्ति की विशेषताएं। घर्षज चर्मशोथ (इंटरट्रीगो) तीव्र शोथ की अभिव्यक्तियों और स्पष्ट रूप से परिसीमित अधिकेंद्र द्वारा लंछित होता है।

चिकित्सा. बहुरंगी बुसन जैसी ही दवाएं प्रयुक्त होती हैं लेकिन उनकी सांद्रता कम होनी चाहिये, क्योंकि ललौंसी अपेक्षाकृत कोमल स्थलों पर होती है। [illegible] प्रतिशत एरीथ्रोमीसिन से युक्त मलहम लगाने की विशेष सलाह दी जाती है, क्योंकि कवकज चर्म क्षतियों के विपरीत ललौंसी में यह विशेष थेरापिक प्रभाव डालता है। मलहम को चर्म में 12 से 18 दिन तक मला जाता है। विसरित प्रक्रिया की स्थिति में 1.0 ग्राम एरीथ्रोमीसिन प्रतिदिन मुखमार्ग से दिया जाता है।

निरोध त्वचा को 5 प्रतिशतीय बोरिक अम्ल-सैलीसीलिक अल्कोहल से पोंछा जाता है और उसपर कोई अम्लीय पाउडर (5-10 प्रतिशत बोरिक अम्ल) छिड़का जाता है।

चर्मकवकताएं

यह कवकज रोगों का एक बृहत ग्रुप है, जिनसे चर्म ही नहीं, इसके उपांग भी ग्रस्त हो जाते हैं। चर्मकवकता उत्पन्न करने वाले सभी कवक किसी न किसी हद तक छुतहे होते हैं और प्रकृति में विस्तृत रूप से फैले हुए हैं। कुछ के लिये तो मिट्टी पैठन का एक खजाना ही है, जैसे जंतुप्रेमी त्रीखोफीतोंनो (लोमतृणों) और ऊर्णी सूक्ष्मस्पोरों (मिक्रोस्पोरुम लानोसुम) के लिये। चर्मकवकताओं के अध्ययन का बहुत बड़ा बहुमारिक महत्त्व है, क्योंकि इनपर नियंत्रण संगठित करने की समस्या पूरे समाज और राज्य के लिये मानी रखता है।

अधिचर्मतृणत्व

यह चिकनी त्वचा और नखों की सतही परतों का छुतहा रोग है और एपीदेर्मोफीतोन (अधिचर्मतृण) नामक वंश के कवकों द्वारा उत्पन्न होता है। [illegible] लोम) इसकी चपेट में नहीं आते। अधिचर्मतृणत्व के दो तल्पिक रूपों में भेद किया जाता है: बड़े पुटकों के अधिचर्मतृणत्व (या जंघामूलीय अधिचर्मतृणत्व) और गोड़ के अधिचर्मतृणत्व

बड़े चर्मपुटकों का अधिचर्मतृणत्व

अंग्रेजी व लातीनी पर्याय: Epidermophytosis of the large skin folds, or Epidermophytosis (Tinea) inguinalis, or Tinea Cruris (Epidermophytia Plicarum, seu Epidermophytia Inguinalis).

हेतुलोचन. निमित्त कारण साबूराड (Sabouraud) का जंघामूलीय अधिचर्मतृण है (Epidermophyton floccosum)।

बहुमारीलोचन. छूत सार्वजनिक स्नानघरों में एक ही टब, स्पंज आदि के उपयोग से लगती है। इसके निमित्त जीवाणु लोगों में रोगी के बिस्तर, आयल-क्लौथ, बेड-पैन, थर्मोमीटर, तौलिये स्पंज आदि के संपर्क से पैठित हो जाते हैं।

गदजनन. जांघ-जंघामूलीय और कक्षिक (कांख के) क्षेत्रों में वर्धित स्वेदन (विशेषकर मेदुर व्यक्तियों और मधुमेह के रोगियों में), पुल्टिस से चर्म का आर्द्र होना आदि ऐसे घटक हैं, जिनसे रोग के विकास को प्रोत्साहन मिलता है। रोग अधिकांशतः पुरूषों में पाया जाता है; बच्चों तथा स्त्रियों में विरले ही होता है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. क्षतियां जांघों और अंडकोष के बीच पुटकों में, जांघों की मध्य सतह पर, जघन पर और काँखों में होती हैं। कुछ स्थितियों में गदलोचनी प्रक्रिया वक्ष व पेट पर (मेदुर लोगों में पेट के चर्म-पुटकों में), स्त्रियों में स्तन-ग्रंथियों के बीच आदि क्षेत्रों पर भी फैल सकती है। पहले बाजरे के आकार के लाल शोथी शल्कनरत धब्बे उत्पन्न होते हैं। परिसरीय प्रसार के फलस्वरूप इनसे बड़े-बड़े अंडाकार अधिकेंद्र बन जाते हैं, जिनकी सतह अतिरक्तिल और समृण्डित होती है। अधिकेंद्रों की किनारियां उभरी हुई और शोफित होती हैं, जो कभी-कभी वसिकाओं खट्टियों और शल्कों से आच्छादित हो जाती हैं। बाद में अधिकेंद्र बढ़ कर परस्पर मिल जा सकते हैं और हथेली के आकार के पैठन अड्डे बना ले सकते हैं, जिनकी परिरेखाएं भौगोलिक मानचित्रों की याद दिलाती हैं। धीरे-धीरे पैठन-अड्डे का केंद्र विवर्ण हो जाता है और कुछ अवतल सा हो जाता है, किनारियों पर अपशल्कनरत समृण्डित अधिचर्म का घेरा बन जाता है। रोगी हल्की खुजली से परेशान रहते हैं, जो रोग के उग्रता-काल में काफी तेज हो जाती है। नियमतः रोग एकाएक शुरू होता है, लेकिन इसके बाद यह चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है और महीनों व वर्षों तक चालू रह सकता है; इसमें इसके उग्र होने की निश्चित मियाद बन जाती है (उग्रता अक्सर गर्म मौसम में और अत्यधिक स्वेदन के समय प्रेक्षित होती है)। इसका तल्पिक चित्र दिनाइ से मिलता-जुलता होने के कारण पुराने डाक्टरों ने इसे एक्जेमा मार्जीनाटुम की संज्ञा दी थी।

निदान इसके विशिष्ट तल्पिक प्रवाह, प्रक्रिया-स्थल, तीव्र आरंभ, चिरकालिक प्रवाह और क्षति की सतह से लिये गये खुरचन के सूक्ष्मदर्शन में सेप्टेट मिसेलियम के धागों के अनुवेदन पर अधारित होता है। परीक्षण के लिये सबसे अच्छी सामग्री क्षति के परिसर में अपशल्कनरत अधिचर्म होती है। [illegible] रोग अपने तल्पिक चित्र और प्रवाह द्वारा विभेदित होता है। चिकनी त्वचा का चिरकालिक [illegible] पुटकों में नहीं होता। सतही खमीरज क्षतियां, जिनका तल्पिक चित्र [illegible] जैसा होता है, अधिकेंद्र की सतह के खुरचन के सूक्ष्मदर्शन द्वारा विभेदित होती हैं। लाल [illegible] परीक्षण के परिणामों द्वारा विभेदित होती है।

[illegible] तीव्रता-काल में, जब दद्रुकरण के लक्षण पाये जाते हैं, 3 प्रतिशत बोरिक अम्ल का [illegible] प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट का घोल बाह्य रूप से प्रयुक्त होता है। यदि दद्रुकरण [illegible] कुछ दिनों तक 1-2 प्रतिशत आयडोन का टिंचर (तीव्रता-काल में भी) लेपने की [illegible] है। इसके बाद 3-5 प्रतिशत सल्फर-टार या बोरिक अम्ल-टार से युक्त मलहम [illegible] सप्ताह के लिये प्रलिखित किया जाता है। निम्न कवकमारक दवाएं लगाने की भी [illegible] है: निट्रोफुगिन, मीकोसेप्टिन, अमीकाजोल, उंडेसिन और जिंकुंडान मलहम,

2-5 प्रतिशतीय कास्टेलानी-कृत पेंट, ओक्टाथिओन मलहम, आधा-आधा विल्किंसन-कृत मलहम और नाफ्थालान। तीव्रता-काल में अवसंवेदी चिकित्सा भी दी जाती है (मुखमार्ग से 10 प्रतिशत कैल्सियम क्लोराइड का घोल, 0.5 ग्राम सोडियम थायोसल्फेट (थिओसुल्फात) तीन बार नित्य)।

तल्पिक चिकित्सा के बाद पुनरावर्तन के निरोध के लिये स्वस्थ हो चुकी क्षति के क्षेत्र में त्वचा पर 2 प्रतिशत आयडीन का टिंचर नित्य या एक दिन बीच दे कर लेपा जाता है।

गोड़ का अधिचर्मतृणत्व

लातीनी पर्याय: Tinea pedis, Epidermophytosis Pedum.

इस रोग का प्रसार विस्तृत है और दुनिया के हर देश में पाया जाता है। लोगों के विशेष ग्रुपों (नैराकों, सार्वजनिक स्नानघरों के कर्मचारियों, कसरतियों, तप्त कर्मालयों, कोयले के खदानों आदि के श्रमिकों) के बीच इसकी प्रायिकता बहुत ऊँची होती है (विभिन्न वैज्ञानिकों के मूल्यांकनों के अनुसार 60 से 80 प्रतिशत तक)। ग्रामीणों के बीच इसकी प्रायिकता कम है, बनिस्बत कि शहरी लोगों के बीच। बच्चों में यह रोग अपेक्षाकृत विरल है (15 वर्ष तक की उम्र के परीक्षणाधीन बच्चों में सिर्फ 3.9 प्रतिशत)। लेकिन 16 से 18 वर्ष की उम्र में इसकी प्रायिकता 17.3 प्रतिशत हो जाती है।

हेतुलोचन. इसका निमित्त कारण त्रीखोफीतोन मेंटाग्रोफीत है, यह त्रीखोफीतोन इंटेरडीजीटाल का एक रूप है, जो पहले एपीडेर्मोफीतोन काउफमान-वूल्फ के नाम से जाना जाता था। त्रीखोफीतोन इंटेरडीजीटाल से उत्पन्न पाद-रोग को सिर्फ परंपरावश ही अधिचर्मतृणत्व कहते हैं। एपीडेर्मोफीतोन इंग्वीनाल (जंघामूलीय अधिचर्मतृण) के विपरीत, ये कवक परख-नली में बालों को प्रभावित करते हैं।

बहुमारीलोचन. यह रोग छुतहा है और इसकी छूत स्वस्थ आदमियों को रोगियों से सार्वजनिक स्नानगृहों, तालाबों, कुओं और समुद्र-तट पर पैठित चटाइयों, मुँह-हाथ धोने के स्थानों, बेंचों के माध्यम से लग जाती है। रोगी व्यक्ति के जूता-चप्पल, मोजे आदि इस्तेमाल करना खतरनाक होता है। मिसेलियम के धागे और कवक के स्पोर अधिचर्म शृंगी परत के शल्कों में बहुतायत से होते हैं, जो रोगी के शरीर से प्रचुर मात्रा में छूटते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप अवांछनीय बहुमारिक स्थिति उत्पन्न होती है।

गदजनन. कवकों का कुणपतृण से गदजनक अवस्था में संक्रमण गोड़ के अतिस्वेदन, चौरस तलवा, उंगलियों के बीच तंग स्थान, अनफिट (गलत नाप के) जूते-चप्पल (यह सेना में नये भरती हुए जवानों के बीच रोग फैलने का एक प्रमुख कारण है), व्रण, घर्षज चर्मशोथ, हर निश्चित उम्र के लिये चर्म की अनाटोमिक-शरीरलोचनी विशेषताएं, स्वेदका रसायनिक गठन, स्वेद के pH में क्षारीय स्नानांतरण आदि द्वारा प्रोत्साहित होता है। तिनेआ पेदिस (शब्दशः—पाद-कीट; दे. ऊपर, लातीनी पर्याय) के विकास को प्रेरित करने वाले अंतर्जनित घटक निम्न हैं: केंद्रीय एवं परिसरीय नार्विक एवं अंतस्रावी तंत्रों की गड़बड़ियां, कुंभीरोगों, नीलपर्यगता तथा पैरों के कुंभिक उपकरण की अन्य गड़बड़ियां, मीनचर्मता-जनित क्षतियां, अविटामिनता आदि। यांत्रिक एवं रसायनिक चोटें, प्रतिकूल मौसमी अवस्थाएं और उच्च तापक्रम (गर्मी) भी महत्त्वपूर्ण हैं। कवकों के प्रकार की गरलता (विषालुता) और गदजनकता को भी ध्यान में रखना चाहिये।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. तिनेआ पेदिस के निम्न तल्पिक रूपों में भेद किया जाता है: शल्की, घर्षज चर्मशोथीय अपरसीय तथा नखीय। अधिचर्मतृणस परोर्जिक प्रतिक्रिया द्वारा लंछित होते हैं।

आज के कुछ कवकलोचक अधिचर्मतृणत्व के उपतलिपक रूप के अस्तित्व को नकारते हैं और इस अवस्था को या तो वाहक अवस्था मानते हैं (जब निमित्त जीवाणु अनुवेदित होते हैं, पर रोग के तलिपक लक्षण नहीं होते), या स्पष्ट लक्षणों से हीन शल्की रूप मानते हैं। गोड़ के अधिचर्मतृणत्व के रूपों को अलग करना परंपरागत ही है, क्योंकि वास्तविकता में एक साथ कई तलिपक रूप अवलोकित होते हैं और वे एक दूसरे में संक्रमण भी कर सकते हैं।

शल्की रूप. पाद-चापों (तलवे पर मेहराबी स्थल) की क्षीण अतिरक्तिल त्वचा पर हल्का शल्कन पाया जाता है। शल्कन नन्हे क्षेत्रों में सीमित रह सकता है या विस्तृत सतहों पर फैल जा सकता है। अक्सर आदमी को इस रोग का पता नहीं चलता, इसलिये यह बहुमारीलोचनी दृष्टि से विशेष खतरनाक है। प्रतिक्रिया के उग्र होने पर शल्की रूप अपरसी रूप में परिणत हो जा सकता है, और विलोम: अपरसी रूप शल्की रूप में अंत कर जा सकता है। रोग के आरंभ में प्रक्रिया सदैव एकतरफा होती है, लेकिन बाद में दूसरा पैर भी ग्रस्त हो जा सकता है।

घर्षज चर्मशोथीय रूप अधिकांशत: तभी विकसित होता है जब हल्का स्पष्ट शल्की रूप रहता है लेकिन वह स्वतंत्र रूप से भी विकसित हो सकता है। प्रक्रिया अक्सर उंगलियों के बीच स्थित पुटकों (अंतरांगुलिक पुटकों)* से शुरू होती है—ज्यादातर सबसे छोटी और चौथी के बीच; तीसरी और चौथी के बीच अपेक्षाकृत कम ही पायी जाती है। कुछ स्थितियों में रोग अन्य अंतरांगुलिक पुटकों में भी पहुँच जाता है, फिर वहां से अंगूठे की आकोचनी सतह और गोड़ की पश्च सतह पर फैलता है। अंतरांगुलिक पुटकों में विदार बन जाते हैं, जो परिसर पर उधड़ती हुई अधिचर्म परतों द्वारा घिरे होते हैं। रिसालु सतहें विभिन्न तीव्रताओं के साथ खुजली और कभी-कभी (अरुदन होने पर) पीड़ा उत्पन्न होती है

अक्सर प्रक्रिया लंबे समय तक जारी रहती है जाड़ों में राहत देती है, पर गर्मियों में उग्र हो जाती है। घर्षज चर्मशोथीय रूप में विदारों का विरचन और शृंगी परत का ढीलापन स्वेप्तोकोकों के पैठन को और पैर के चिरकालिक पुनरावर्ती चर्मशोथ व स्कंदशिराशोथ को संप्रेरित करते हैं।

अपरसी रूप पाद-चाप पर वस्तिकाओं के समूह की उत्पत्ति द्वारा लंछित होता है। वस्तिकाएं छोटे उबले साबूदानों की तरह होती हैं, उनका शिखर कड़ा होता है और आकार पिन के सर से मटर के दाने तक हो सकता है। वस्तिकाएं आपस में संलीन हो कर बहुकक्षीय बुल्ला बना लेती है जिनकी जगह पर अपरदित सतहें बनती हैं; इनके परिसर पर मसृणित अधिचर्म की मेंड़ बनी होती है। प्रक्रिया गोड़ (पाद) की पार्श्व एवं मध्य सतहों तक फैल सकती हैं, जिससे घर्षज चर्मशोथीय रूप का एकल गदचोचनी पैठन-अड्डा बन जाता है। आत्मगत लक्षण खुजली और पीड़ा हैं। द्वितीयक पैठन होने पर वस्तिका का अंतर्द्रव्य (द्रव) धुंधला हो जाता है। वस्तिका के खुलने फटने पर उपकला होती है; लसकुंभीशोथ और लसग्रंथिशोथ विकसित हो जा सकते हैं। जैसे-जैसे रोगी प्रतिक्रिया दबती जाती है, निशल्कन का उपकलीकरण होने लगता है, नयी वस्तिकाएं नहीं बनतीं और पैठन का अधिकेंद्र शल्की प्रकृति ग्रहण करने लगता है। द्वितीयक पैठन से तीव्र रूप से रोगी को अस्पताल में रखना पड़ता है। एक लंछक विशेषता है—प्रक्रिया का एकतरफा बना रहना। यह रूप एक सुरक्षित सुप्त प्रवाह, पुनरावर्तनों और उग्रता द्वारा लंछित होता है और दमन तथा रोपण में विकसित होता है।

लेखकों ने पहली बार द्वितीयक पूयजनक पैठन से क्लिष्ट अपरसी रूप का वर्णन किया है। गोड़ अधिचर्मतृणत्व; घर्षज चर्मशोथीय रूप के क्लिष्ट होने की प्रायिकता अपेक्षाकृत कम है। यह तलवों और अंगुठों पर बहुत बड़ी संख्या में वस्तिकीय-बुल्लेदार क्षतियों के स्फोट

द्वारा लंछित होता है; अंगुठों का चर्म शोथित हो जाता है। तीव्र अधिचर्मतृणत्व में अस्वस्थता की अनुभूति, सरर्दद, तापक्रमीय (ज्वरीय) प्रतिक्रिया, जंघामूलीय लसकुंभिशोथ और अधिचर्म-तृणसों का स्फोट होता है (अधिचर्मतृणस एक द्वितीयक सामान्यीकृत परोर्जिक क्षति है)। रोग एक-दो महीने तक चलता है; चिकित्सा सरलता से हो जाती है, पर पुनरावर्तन का खतरा रहता है।

नखों का अधिचर्मतृणत्व या वलयाकार कृमि; नखकीट. प्रारंभिक परिवर्तन नख की मुक्त सतह पर पीले धब्बों और पट्टियों के रूप में उत्पन्न होते हैं। फिर पूरा नख पीला या गेरूआ पीला हो जाता है और सरलता से चटकने और टूटने लगता है। शृंगी द्रव्य नख के नीचे एकत्रित होने लगता है। अवनख अति शृंगनता। कुछ स्थितियों में पतला हो कर अपनी तली से अलग हो जाता है (नखक्षय)। अंगुठा और छोटी उंगली के ग्रस्त होने की प्रायिकता अधिक होती है। हाथों की उंगलियां कभी भी इसकी चपेट में नहीं आतीं। यह दावा किया जाता है कि अधिचर्मतृणत्व के 20 से 30 प्रतिशत रोगियों के नख अवश्य ही ग्रस्त होते हैं।

ऊतगदलोचन. अपरसी अधिचर्मतृणत्व में स्पंजिता और काँटल स्तर की कोशिकाओं का रसधा-नीकरण अधिचर्म में पाया जाता है जिससे कोशिकाओं का विलयन और कक्षिकाओं का विरचन शुरू हो जाता है। वस्तिकाएं संलीन होकर मिल जाती हैं और बुल्ले बनाती हैं, जिनमें से कुछ फट जाते हैं और बाकी एक संरचनाहीन समज पिंड में परिणत हो जाते हैं। हल्की शोथी प्रति-क्रियाएं अक्सर सुचर्म की पिटिकामय परत में पायी जाती हैं। कवक के मिसेलियम धागे शृंगी परत में अवलोकित होते हैं।

निदान. [illegible] चित्र और सूक्ष्मदर्शी से पाये गये कवकी मिसेलियम के धागों के आधार पर निदान [illegible] है। अक्सर अतिनिदान भी हो जाता है, जब गोड़ की बुल्लेदार क्षति और मसूणन अपरसी पैर के एक्जेमा, उंगलियों के बीच कांदीदक्लेश, घर्षज चर्मशोथ आदि में [illegible] या अपरसी अधिचर्मतृणत्व के लक्षण मान लिये जाते हैं। दूसरी ओर, खर्जुक [illegible], [illegible] टिनीटीकुम और विभिन्न हल्के अधिशृंगनक्लेशों का निदान गलती से [illegible] रूप बना दिया जाता है।

शुष्क [illegible] अपरसी शल्की अधिचर्मतृणत्व से अपनी क्षतियों के सीमित स्थानों, शोथी संवृत्ति की अनुपस्थिति और शल्कों में कवकी मिसेलियम के धागों की अनुपस्थिति द्वारा विभेदित होता है। खर्जुक पिटिकाएं और धब्बे बहुत ही अंतर्स्यंदित होते हैं और बहुत स्पष्ट परिसीमित पैठन अड्डों व वृहत परतदार शल्कन द्वारा लंछित होते हैं। खर्जुक क्षतियां शरीर के अन्य भागों में भी होती हैं। द्वितीयक चरण के सीफिलिस की पिटिकाएं अपचोषण के चरण पर शल्की अधिचर्मतृणत्व से मिलते-जुलते हो सकते हैं, लेकिन वे पृथक-पृथक होते हैं और आकृतियों (वलयों, मालाओं) के रूप में स्थित होते हैं। इनका गाढ़ापन सघन-प्रत्यास्थ होता है और इनके साथ-साथ पैठन की अन्य अभिव्यक्तियां भी होती हैं (खल्वाटता, चर्मश्विति, [illegible] हाथ-पैरों, मुख कोटर और जननेंद्रिय पर पैपुलोरोसेओलोज क्षतियां, बहुग्रंथिशोथ और सीरमविज्ञानी परीक्षणों के धनात्मक परिणाम)।

घर्षज दिनाइ और घर्षज कांदीदक्लेश घर्षज अधिचर्मतृणत्व से इस बात में भिन्न होते हैं कि उनमें बहुत अधिक कुंभायन, रिसाव तथा मसूणन होता है; कांदीदक्लेश में सूक्ष्मदर्शी से कांदीदा आल्बिकान्स मिलते हैं।

अपरसी अधिचर्मतृणत्व के विपरीत अपरसी दिनाइ में दुतरफा प्रक्रिया और शोथी संवृत्तियों का पैर के पार्श्वों एवं पश्च सतह तक फैलाव होता है।

नखों का अधिचर्मतृणत्व असममित स्थानों, सिर्फ अंगुठे और छोटी अंगुली में प्रक्रिया और हाथ की उंगलियों में परिवर्तनहीनता द्वारा लंछित होता है। नखों की लाल कवकता हाथ-पैर की लगभग सभी उंगलियों में रोग-प्रक्रिया द्वारा लंछित होती है, जबकि कुपोषज परिवर्तन सममिति और सभी उंगलियों के नखों में तीव्र कुपोषज परिवर्तनों द्वारा लंछित होता है; नख स्पष्टतः विकृत हो जाते हैं।

अधिचर्मतृणत्व में एपीडेर्मोफीटिन की अंतर्चर्मी सूई से चर्म-परीक्षण धनात्मक परिणाम देता है।

सूक्ष्मदर्शीय निदान. वृहत पुटकों के अपरसी और घर्षज चर्मशोथीय अधिचर्मतृणत्व के परीक्षण के लिये क्षति के परिसर से मसृत, विलगनरत अधिचर्म लेने की सलाह दी जाती है। यदि वस्तिकाय और बुल्ले होते हैं, तो निष्कीटित कैंची से उनके शिखर काट कर परीक्षण किया जाता है। शल्की रूप में क्षति से शल्क खुरचे जाते हैं, फिर उनका परीक्षण किया जाता है। नख से स्कालपेल की सहायता से शृंगी द्रव्य अलग किया जाता है, फिर उसका परीक्षण होता है। नख की मुक्त किनारी को कैंची से काट करके या बरमा से छेद कर प्राप्त नखचूर्ण को काँच की पट्टी पर जमा करके भी परीक्षण किया जा सकता है। मदलोचनी द्रव्य को 20 से 30 प्रतिशतीय दाहक क्षारीय घोल (KOH या NaOH) में सोखा कर उसका "शुष्क तंत्र" वाले सूक्ष्मदर्शी से उच्च वर्धन के अधीन परीक्षण किया जाता है। कवक के घटक विभिन्न आकारों के मिसेलियम-धागों या बीजाणु (आर्थ्रोस्पोर) जैसे दिखते हैं। कवक के धागों की किनारी दुहरी होती है। शल्कों में स्थित गदजनक कवकों के मिसेलियमों को मोजेक कवक से विभेदित करना चाहिये। मोजेक कवक कुपोषज अपघटन का उत्पाद माना जाता है और उपकलीय कोशिकाओं के उपांत में फटे की तरह दिखता है (इसके असमान खंड होते हैं (खंडों की बहुरूपता), जो क्षार में धीरे-धीरे घुल जाते हैं (जबकि कवक के घटक काफी समय बाद ही अच्छी तरह दिखते हैं)। सूक्ष्मदर्शन में अधिचर्मतृणत्व को कांदीदक्लेश से विभेदित करना संभव होता है, जो प्रसाधन में पल्लवनरत खमीरी कोशिकाओं की उपस्थिति द्वारा लंछित होता है। फिर भी, अधिचर्मतृणत्व, लाल कवकता और लोमतृणत्व के कवकी मिसेलियमों के धागों के सूक्ष्मदर्शी चित्र मिलते-जुलते होते हैं, इसीलिये इनका विभेदन कल्चरल निदान द्वारा होता है (पोषक माध्यम में कल्चरों के प्रजनन से)। यह विशेष बाक्तेरियोलोजी प्रयोगशालाओं में किया जाता है।

अधिचर्मतृणस द्वितीयक परोर्जिक स्फोट है, क्योंकि अंतरांगुलिक लोमतृण का एक रूप मेंटाग्रोफाइटस (व्याधतृणिक) लोमतृण नामक कवक संभाविक गरल-परोर्जिक गुण रखता है और रोगी के शरीर को नये समय के लिये संवेदी बना देता है। अधिचर्मतृणत्व के तीव्र रूप में संवेदीकरण कवक की जीवन-क्रिया के उत्पादों के वर्धित अपचोषण के कारण ही नहीं बल्कि रोगी के खुद के परिवर्तित प्रोटीनों के उत्पाद के संवेदीकारी प्रभाव से भी होता है। इसीलिये अधिचर्मतृणस अपरसी अधिचर्मतृणत्व के [illegible] रोगियों में होता है, यद्यपि वह घर्षज चर्मशोथीय और शल्की रूपों में भी पाया जाता है। अधिचर्मतृणस अधिचर्मतृणत्व के अधिकेंद्र के बिल्कुल पास ही होता है, पर [illegible] भी हो सकता है। वह अक्सर हथेलियों और उंगलियों में स्थानाबद्ध होता है। उसकी [illegible] प्रकृति भिन्न हो सकती है: ललामिक शल्की, रिसालु पित्तिक, अपरसी (वस्तिकीय), [illegible] दद्रुक। वस्तिकीय एवं शल्की अधिचर्मतृणस ज्यादातर हथेलियों पर होता है; रिसालु-[illegible] और ललामिक शल्की – चेहरे, धड़ और हाथ-पैर पर। सार्वत्रिक अधिचर्मतृणस के साथ-साथ कुछ सार्विक (सार्वदैहिक) लक्षण भी उत्पन्न होते हैं: ज्वर, कँपकँपी, अस्वस्थता और

कभी-कभी तीव्र खुजली। दद्रुक और अपरसी अधिचर्मतृणस प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर ले सकते हैं और अपर्याप्त चिकित्सा से दिनाइ में परिणत हो जा सकते हैं।

चिकित्सा तिनेआ पेदिस के तलिपक चित्रों के अनुसार भिन्न हो सकती है, लेकिन सभी रूपों के लिये कुछ सामान्य परिस्थितियां भी हैं: प्रक्रिया जितनी ही तीव्र हो, कवकमारक और निष्पैठक दवाओं की सांद्रता उतनी ही कम होनी चाहिये। तीव्र अधिचर्मतृणत्व की चिकित्सा उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है, जिनपर तीव्र दिनाइ की: अवसंवेदी चिकित्सा (कैल्सियम के प्रसाधन, प्रतिहिस्टामिनिक दवाएं, विटामिन, स्वरक्तचिकित्सा) और स्थानिक प्रतिशोथी चिकित्सा (शीतलतादायक लोशन या पोटाशियम परमैंगनेट के हल्के घोल में हल्के गर्म घोल में पैरों को धोना)। लेकिन पहले क्षतियों को समाधित किया जाता है: बुल्लों और वस्तिकाओं को खोल कर उनका ऊपरी आवरण हटाया जाता है, विलगनरत अधिचर्म को काट कर अलग किया जाता है, आदि। अधिचर्मतृणस से युक्त तीव्र अपरसी अधिचर्मतृणत्व की चिकित्सा अवसंवेदक थेरापी के संकुल द्वारा होती है: मुखमार्ग से या अंतर्शिरीय सूई से कैल्सियम क्लोराइड, सोडियम हाइपोसल्फेट का अंतर्शिरीय आधान, विटामिन B_1 व B_6, स्वरक्तचिकित्सा, डीफेनिलहिद्रामीन हिद्रोक्लोरीद (हाइड्रोक्लोराइड), डिआजोलीन, डिप्राजीन, आदि। कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन (प्रेद्नीजोलोन, त्रिआमसीनोलोन, या डेक्सामेथाजोन) नन्हीं खुराकों में प्रलिखित किये जाते हैं। पूयजनक पैठन होने पर सुल्फोनामीद पाँच से सात दिनों तक दिये जाते हैं (जब बुल्ला व वस्तिका का अंतर्द्रव पूयिक हो जाता है)। इन स्थितियों में प्रतिजीवकों का प्रलेखन अवांछनीय है क्योंकि इनसे अधिचर्मतृणत्व उग्र हो सकता है और अधिचर्मतृणस विकसित हो जा सकता है।

शोथ के धीरे-धीरे कम होने पर (अधिचर्मतृणत्व के अपरसी और घर्षज चर्मशोथीय रूपों में) अपशल्की तथा कवकमारक दवाओं से चिकित्सा की जाती है; इनकी सांद्रता धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है। 3-5 प्रतिशत सल्फर-टार या सैलीसीलिक-टार का पेस्ट, बीटा-नाफ्थालान से युक्त मलहम, जिंकुडान, उंडेजिन का अंकुगिल मलहम। शृंगी परत का विलगन करने वाले मलहम शल्की अधिचर्मतृणत्व में प्रयुक्त होते हैं: व्हिटफील्ड का मलहम (Ac. benzoici 1.0-2.0, Ac. salicylici 2.0-3.0, [illegible] Vaselini 30.0) या आरियेविच का मलहम (Ac. lactici 6.0, Ac. salicylic. 12.0, Vaselini ad 100.0)। शृंगी द्रव्य के हटने पर आंद्रियास्यान का घोल (Urotropini 10.0, Glycerini 20.0, Sol. ac. acetici 8% 70.0) या कास्तेलानी का पेंट (Fuscici basici spirituose concentrati 20.0, Sol. ac. carbolici 5% 190.0, Ac. borici 2.0, Acetoni puri 10.0 Resorcini 20.0), नित्रोफुंगिन (नाइट्रोफंगिन) और कवकमारक मलहम (0.05-1.0 प्रतिशतीय [illegible]फूरीलेन, सल्फर-सैलीसीलिक-टार, ओक्टाथिओन, उंडेजिन, जिंकुडान आदि) प्रयुक्त होते हैं। घर्षज चर्मशोथीय अधिचर्मतृणत्व में कवकमारक घोलों तथा मलहमों के उपयोग के बाद विभिन्न पाउडर प्रयुक्त होते हैं (डीमाजोल, डेक्वालीनिउम या निम्न प्रलेख: Sulfur pp., Ac. Salicylic. āā 1.5, Ac. borici 5.0, Zinci oxydati, Talci pulv. āā 25.0)।

तिनेआ उंग्विउम (नख के अधिचर्मतृणत्व) की चिकित्सा लाल कवकता में नखकवकता की चिकित्सा के अंतर्गत बतायी गयी है। एपीडेर्मोफीटोन (शब्दशः – अधिचर्मतृणाणु) नामक कवक से ग्रस्त कुछ नखों को आमूल निकाल देने के बदले, कवक का प्रसार रोकने के लिये टिंचर आयडीन का लेप प्रलिखित किया जाता है।

लालकवकता या लालतृणत्व

हेतुलोचन. कुछ लेखक यह मानते हैं कि लाल कवकता के निमित्त कारण (जीवाणुओं) का स्थान एपीडेर्मोफीटोन और त्रीखोफीटोन (लोमतृणाणु) कवकों के बीच है। इस मान्यता का संबंध इस तथ्य से है कि वह नये, कोमल रोओं को ग्रस्त कर लेता है (त्रीखोफीटोन की तरह), लेकिन हाल में इसे त्रीखोफीटोन वंश से ही अधिक जोड़ा जाने लगा है, जो इसके नामों में भी प्रतिबिंबित होता है: लाल त्रीखोफीटोन ; पुराना नाम एपीडेर्मोफीटोन रूब्रुम था।

बहुमारीलोचन. नरप्रेमी (आदमियों को लगने वाला) कवक लाल त्रीखोफीटोन बहुत छुतहा होता है। सुदूर पूर्व और दक्षिणी एवं पूर्वी देश (जापान, चीन, भारत) लंबे समय तक लाल कवकता के अंतर्जनपदिक (एंडेमिक) अड्डे (अधिकेंद्र) थे। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह रोग सोवियत संघ में भी यदा-कदा दर्ज होता रहा है। पूरे यूरोप और संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इसकी [illegible] में वृद्धि 1945 के बाद दर्ज हुई है। सोवियत संघ में सभी कवकज पाद-रोगों में लाल कवकता का अंश [illegible]-70 से 90 प्रतिशत तक पहुँच जाता है, जबकि सार्वदैहिक रूप में 15 से [illegible] प्रतिशत है और हाथ-पैर की लाल कवकता का अंश कुछ अधिक होता है। यह माना जाता है कि इसका पैतृक मार्ग अधिचर्म तृणत्व की तरह ही है। लाल कवकता का उच्च बहुमारीलोचनी महत्व शायद इसलिये है कि यह तौलियों, दस्तानों और हाथ मिलाने से फैल सकता है। रोग बड़े [illegible] में होता है, लेकिन हाल में बच्चों में भी बढ़ा है।

[illegible] इस रोग के विकास में बहुत बड़ी भूमिका चर्म की वर्धित शुष्कता, अतिसंवेदनता, और [illegible] त्वचा के केराटिन तथा मृदु लोमों की प्रतिरोधिता में कमी की है। लाल कवकता के रोगियों में [illegible] अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्य में असामान्यता और विभिन्न नार्वपनपू गड़बड़ियां प्रदर्शित होती हैं। इनसे रोग-विकास को ही नहीं रोग-प्रक्रिया के सार्वदेहीकरण को भी प्रोत्साहन मिलता है जो अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसे भी संकेत मिले हैं कि अन्य रोगों की चिकित्सा में प्रतिजीवकों, सोनोस्तातिक (साइटोस्टैटिक; कोशिकाओं का प्रजनन स्थिर करने वाली) दवाओं और कोर्टिकोस्टेरोइडों का उपयोग भी लाल कवकता के गदजनन में निश्चित भूमिका निभाता है।

तल्पिक चित्र और [illegible]. इस रोग के कई तल्पिक रूप हैं: पैर की लाल कवकता, हाथ-पैर की लाल कवकता, सार्वदैहिक लाल कवकता, नखों की लाल कवकता।

पैर (गोड़) की लाल कवकता

पैर का निम्नतम खंड (गोड़) इस रोग का सबसे सामान्य स्थल है। क्षतियां पहले अंतरांगुलिक पुटकों में शुरू होती है और उनकी चपेट में सारे या लगभग सारे पुटक आ जाते हैं (अधिचर्म-तृणत्व में ऐसा नहीं होता)। फिर प्रक्रिया तलवे के चर्म में फैलने लगती है, जो अंतर्स्यंदित, शुष्क और विसरित रूप में प्रदर्शित हो जाता है। त्वचा की सारी घाइयां स्पष्ट दिखने लगती हैं और उनमें भूसी की तरह के शल्क उत्पन्न हो जाते हैं। प्रक्रिया गोड़ के पार्श्व तथा पश्च सतहों और उंगलियों पर भी फैल जाती है। बच्चों में लाल कवकता का यह रूप स्पष्ट रिसालु संवृत्तियों द्वारा लक्षित होता है, जिससे निदान में गलतियां भी हो जाती हैं। गोड़ में चर्म के ग्रस्त होने पर नियमतः आज न कल नख भी ग्रस्त हो जाते हैं। अन्य स्थितियों में प्रक्रिया नखों से ही शुरू होती है, फिर गोड़ के चर्म पर फैल जाती है।

हाथ-पैर की लाल कवकता

रोग पहले गोड़ के ही चर्म से शुरू होता है, फिर बाद में हाथों और इसकी उंगलियों को ग्रस्त कर लेता है। प्रारंभ में ही कवकों द्वारा हाथ में पैठन बहुत कम अवलोकित होता है। तलिपक चित्र पाद-चर्म में रोग जैसा ही होता है, पर कुछ कम तीव्रता के साथ (क्योंकि हाथों को लोग अक्सर धोते रहते हैं)। अधिकेंद्र के परिसर में असंतत (कहीं-कहीं) शोथ होता है, जो अक्सर हथेलियों के पीछे भी पाया जाता है।

नखों की लाल कवकता

रोग अक्सर अवलोकित होता है। कुछ स्थितियों में यह नखों का पृथक (असंपृक्त) पैठन बना रहता है और कुछ में हाथ-पैर के चर्म को भी ग्रस्त कर देता है, या विस्तृत (सार्वदैहिक) लाल कवकता में परिणत हो जाता है। प्रक्रिया की चपेट में कई नखों का आ जाना इसकी लंछक विशेषता विशेषता है: अधिकांशतः हाथ-पैर के सभी नख ग्रस्त हो जाते हैं। सामान्यपोषी प्रकार के लाल-कवकी नखक्लेश में नख की मुटाई सामान्य बनी रहती है; क्षतियां नख की मुक्त किनारी या पार्श्वों पर श्वेत या पीताभ पट्टियों के रूप में होती हैं; इस तरह की पट्टियां नख की मुटाई के पार भी देखी जा सकती हैं। रोग का अतिरक्तिल प्रकार का लक्षण है नखों का मोटा होना। नख भंगुर हो जाते हैं और सरलतापूर्वक टूट जाते हैं; उनके नीचे अतिशृंगन होने लगता है (अवनख अतिशृंगन)। ऊपरोक्त पट्टियां भी उत्पन्न हो सकती हैं। कुपोषी प्रकार के नखक्लेश में नख पतले हो जाते हैं, इसका अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है, सिर्फ नख-भित्तियों के समीप वाले भाग बचे रहते हैं। कभी-कभी नख अपनी तली (नखसेज) से अलग हो जाता है, जैसे नखलय में। निदान हाथ-पैर और नखों की विशिष्ट क्षति के कारण सरल होता है, इसके अतिरिक्त गदर्शोचन द्रव्य के सूक्ष्मदर्शन जाँच से भी स्पष्ट हो जाता है।

जब लाल कवकता हाथों और इसके नखों को ग्रस्त किये बगैर पैर के चर्म और पैर के अंतरांगुलिक पुटकों को ग्रस्त करती है, तब इसे तिनेआ पेदिस के घर्षज चर्मशोथीय एवं शल्की रूपों से विभेदित करना पड़ता है, क्योंकि इस स्थिति में लंछक चित्र मूलतः समान हो सकते हैं। फिर भी लाल कवकता में अतिशृंगनता अधिक स्पष्ट होती है और पैरों की घाइयों पर भूसी जैसे शल्क बनते रहते हैं। तिनेआ पेदिस के घर्षज चर्मशोथी रूप में शोथ अधिक सुस्पष्ट होता है और साथ-साथ द्वितीयक परोजिक स्फोट भी होते हैं। जैसा कि हमने बताया था, नखों के अधि-चर्मतृणत्व में सिर्फ पैरों की उंगलियां ग्रस्त होती हैं, हाथ की उंगलियां इससे अछूती रहती हैं। नखों के लोमतृणत्व में प्रक्रिया नख के गिर्द चिकनी त्वचा से शुरू होती है, इसके बाद अपेक्षाकृत अल्पकाल (कुछ महीनों में) नखों पर भी फैल जाती है: नखों का रंग बदल जाता है, वे भंगुर हो जाते हैं और टूटते रहते हैं: यह प्रक्रिया विकसित चरण पर लालतृणिक नखकवकता की याद दिलाती है। नख की मोमिता का सबसे गदर्शोचक लक्षण है—नख का बहुत धीरे-धीरे ग्रस्त होना (कई वर्षों के दौरान)। पहले नख के मध्य में एक नन्हा-सा पीताभ-भूरा धब्बा बनता है, जो क्रमशः पूरे नख पर फैलजाता है। खर्जुक्लेश में नख अंगुश्ताने की तरह काँटल हो जाता है। नखों के दिनाइ और चर्मपूयता में उनके गिर्द पैठन के लंछक अड्डे (अधिकेंद्र) बन जाते हैं। चौरस शैवाक की विशिष्ट क्षतियां नख पर गुलाबी, पीताभ या श्वेताभ पट्टियों के रूप में होती हैं। खमीरज नखशोथ की विशेषता यह है कि इसमें साथ-साथ परिनखशोथ भी होता है, जिसमें नख के किनारे-किनारे चर्म शोफित और अतिरक्तिल हो जाता है, दबाने पर उसके नीचे पूय की

बूंद निकल आ सकती है; अधिनख-चर्मिका गायब हो जाती है। नख-कुपोषण का विशेष लक्षण है—सभी नखों का सममित रूप से ग्रस्त होना और उनमें कुपोषज परिवर्तन।

स्वाभाविक है कि नखों के उपरोक्त रोगों के साथ-साथ चर्म के अन्य क्षेत्रों तथा श्लेष्मल झिल्लियों में भी तदनुरूप परिवर्तन होते हैं, जिससे नखक्लेश का निदान बहुत सरल हो जाता है।

अंतिम रूप से रोग-निर्णय कल्चरल निदान पर आधारित किया जा सकता है, जिसमें रोग के निमित्त कारणों—कवकों—को पोषक माध्यम में (अक्सर साबूराड माध्यम में) प्रजनित कर के परीक्षण किया जाता है।

सूक्ष्मदर्शी निदान के लिये नख के किनारे-किनारे चर्म-पुटकों से द्रव्य खुरच कर जमा करना उत्तम रहता है, जहां कवकी मिसेलियमों के धागे बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं। भूसी जैसा शल्क भी परीक्षण के लिये चर्म की घाइयों से जमा किये जा सकते हैं।

नखों के शृंगी द्रव्य उनकी मुक्त किनारी से कैंची द्वारा काट कर या उनके मध्य से और गहरी परतों से बरमा या स्काल्पेल द्वारा प्राप्त किया जाता है। प्रसाधन में कवकी मिसेलियमों के धागों के अनुवेदन से रोग का कवकी मूल का होना सिद्ध हो जाता है, लेकिन इससे कवक की जाति के बारे में निर्णय करना कठिन होता है। इसके लिये उसके कल्चर की जाँच की जाती है।

सार्वदैहिक लाल कवकता

बहुत से रोगियों में सार्वदैहिक लाल कवकता तब विकसित होती है, जब पैरों के और कभी-कभी हाथों के भी) चर्म पर और नखों पर रोग क्रमोवेश रूप से लंबे समय तक स्थानाबद्ध रह जाता है। पूरे शरीर में प्रक्रिया के प्रकीर्णन को प्रोत्साहन देने वाले घटक निम्न हैं: आंतर अंगों और अन्तःस्रावी व नार्विक तंत्रों की अपर्याप्तता, चर्म में कुपोषी परिवर्तन, प्रतिजीवकों, स्टेरोइड तथा सिस्टोस्टैटिक दवाओं का दीर्घकालीन उपयोग। लसपर्वों में कवकी अवयवों के संचय के साथ-साथ लसीका और रक्त के सहारे उसके प्रसार की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

तलिपक चित्र और प्रवाह: रोग का तलिपक चित्र बहुविध है और औपचारिकतः निम्न रूपों में बाँटा जा सकता है: ललामिक शल्की (सतही), मशिकीय-पिटकीय (गहरे), तथा रिसालु रूप, और चर्मारुणता जैसे रोग।

लालकवकता के ललामिक शल्की रूप का अधिकेंद्र चर्म के किसी भी क्षेत्र पर पाया जा सकता है। इसमें तीव्र खुजली होती है, और यह नार्वचर्मशोथ, पराखर्जूक्लेश, खर्जूक्लेश, वलयाकार कवाव और दिनाइ के कुछ रूपों से मिलता-जुलता होता है। तलिपक निदान की दृष्टि से निम्न लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं: अधिकेंद्र ग्रुपों में वलय, मेहराब, माला आदि के रूप में स्थित होते हैं। केंद्र (मध्य) में अतिवर्णकता और हल्का शल्कन कवकता पर संदेह करने में सहायक होते हैं। निदान के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं—अधिकेंद्रों की सीप जैसी परिरेखा और परिसर पर यत्र-तत्र (अवछिन्न रूप से) उन्नत किनारियां। प्रक्रिया चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेती है और गर्म मौसम में उग्र होने की प्रवृत्ति रखती है। शल्कों और कोमल लोमों की सूक्ष्मदर्शी परीक्षण के परिणाम निर्णायक हो सकते हैं। कोमल लोम तलिपक रूप से ग्रस्त तो नहीं होते, पर उनमें कवकों के अवयव उपस्थित हो सकते हैं। ललामिक शल्की लाल कवकता को सतही और अंतर्स्यदी-पूयिक लाल कवकता से कल्चरल निदान द्वारा विभेदित किया जाता है।

लाल कवकता का मशिकीय-पिटकीय रूप अक्सर पैरों, नितंबों और प्रबाहु पर आक्रमण करता है। क्षतियां विभिन्न आकृतियां बनाने की प्रवृत्ति रखती हैं और पार्विक ललामी, बाजिन की कठल-

लामी, पर्विकीय कुंभीशोथ और पिटकमृतिक गंठिक्लेश से मिलती-जुलती हो सकती हैं (अधिकेंद्रों के स्थान पर नन्हे दाग रह जाते हैं)। जब यह रूप चेहरे पर होता है, तो सामान्य वृका के साथ विभेदक निदान करना पड़ता है।

जंघामूलीय व अंतरानितंबिक क्षेत्रों तथा स्तनों के नीचे के क्षेत्रों का स्पर्शरत चर्म इस रोग का आम स्थल है। अधिकेंद्र की सतह पीताभ-भूरी होती है। वे हल्के अंतर्स्यंदित होते हैं और उनपर शल्कन होता है। किनारी उभरी होती है और अवछिन्न शुक्तिक शोफ होते हैं, जिनपर छोटी पिटिकाएं और खट्टियां देखी जाती हैं। लाल कवकता के ऐसे अधिकेंद्र वृहत चर्म-पुटकों के कांदीद-क्लेश तथा जीवाणुक दिनाइ के साथ विभेदित किये जाते हैं, जिनमें मुख्य अधिकेंद्र की किनारियों पर अनेक संतान-क्षतियां (बीजिकाएं) पायी जाती हैं। कांदीदक्लेश में अधिकेंद्र कहीं अधिक मसृणित तथा रिसालु होता है, जबकि जीवाणुक दिनाइ में प्रथमिक क्षतियों की बहुरूपता देखी जाती है, जिनमें सूक्ष्म वस्तिकाओं, पीपिकाओं और 'मोरमी कूपों' की अधिकता होती है, कहीं-कहीं पीताभ पूयिक खट्टी की पटलित विरचनाएं होती हैं।

लाल कवकी चर्मारुणता में पैठन का अड्डा गहरा लाल होता है, उसमें नीली आभा होती है। वे मिल-जुल कर (संगमित हो कर) चर्म के बहुत बड़े क्षेत्रों को छेक लेते हैं। कवकता में रिसालु संवृत्ति विरले ही होती है, वह चर्म-पुटकों तथा हाथ-पैरों पर सम्भव है।

लाल कवकता में चिकनी त्वचा की ऊपर वर्णित क्षतियां विभिन्न संमेलों में उत्पन्न हो सकती हैं, जिससे निदान सरल हो जाता है, विशेषकर यदि गोड़ के चर्म, हथेलियां और नख भी एक साथ ग्रस्त हो जाते हैं।

चिकित्सा: सिर्फ हथेलियों और तलवों के चिकने चर्म की क्षतियों की चिकित्सा व्हिटफील्ड या आर्निंग्ज के केराटोलीन-व्यवहारी मलहम (केराटोलीटिक दे. अधिचर्मतृणत्व, चिकित्सा) या वार्निश जैसे (Ac. salicylici, Ac. lactici āā 10.0 Collodii elastici 80.0) के उपयोग से शुरू की जाती है। केराटोलीटिक मलहम अधिकेंद्र पर पुल्टिस के नीचे लगाया जाता है (48 घंटे के लिये)। फिर अगले 48 घंटों के लिये 5 प्रतिशतीय सैलीसीलिक पेट्रोलियम का पुल्टिस रखते हैं। इसके फलस्वरूप शृंगी परत मसृणित हो कर दस्ताने या मोजे की तरह अलग निकल आती है (स्कालपेल या कैंची के सहारे)। केराटोलीटिक वार्निश सिर्फ हथेली और तलवों की त्वचा पर लगाया जाता है। तीन से पाँच दिनों तक पट्टी की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके बाद पोटाशियम परमैंगनेट या सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के गर्म घोल में हाथ या पैर को धोते हैं और वार्निश के अवशेष तथा विलगित शृंगी परत को दूर कर लेते हैं। यह प्रक्रिया तब तक दुहराते रहते हैं, जबतक कि अतिशृंगनता का द्रव्य पूरी तरह दूर नहीं हो जाता। दो या तीन बार लगातार और कभी-कभी अधिक बार दुहराना पड़ता है। इसके बाद सुबह को 2 प्रतिशत आयडीन-टिंचर का लेप किया जाता है, और 10-15 प्रतिशत सल्फर से युक्त मलहम, 2-3 प्रतिशत टार या विल्किंसन का मलहम (तीन दिनों तक) प्रयुक्त होता है। बच्चों की चिकित्सा में सभी सक्रिय अवयवों की सांद्रता आधी कर दी जाती है। अंतरांगुलिक पुटकों के लिये अम्लीय पाउडर प्रयुक्त होते हैं, जैसे—बोरिक व टैन्निन (तानिन) अम्ल में से प्रत्येक 3 ग्राम और जिंक आक्साइड व टैल्क में से प्रत्येक 15 ग्राम।

सार्वदैहिक लाल कवकता के अन्य रूपों के अधिकेंद्रों तथा वृहत चर्म-पुटकों की क्षतियों पर कास्तेलानी का पेंट, नित्रोफुंगिन (नाइट्रोफंगिन), 2 प्रतिशतीय टिंचर आयडीन, कवकमारक मलहम आदि लगाये जाते हैं। कुछ स्थितियों में बाह्य चिकित्सा के साथ-साथ मुखमार्ग से प्रति-

कवकी प्रतिजीवक ग्रीजेओफुल्विन-फोर्टे भी दिया जाता है – नित्य चार से छे टिकियों तक (प्रत्येक में 0.125 ग्राम होता है)। प्रथम 15 से 20 दिनों तक (कवकों के प्रथम ऋणात्मक परीक्षण-फल तक) बड़ों को ग्रीजेओफुल्विन नित्य दिया जाता है; फिर अगले 15 से 20 दिनों तक एक दिन बीच दे कर 15mg/kg के हिसाब से। बच्चों के लिये कुछ दूसरा कार्यक्रम अपनाया जाता है दैनिक खुराक 21-22mg/kg तीन भागों में खाने के समय दिया जाता है और वनस्पति तेल में प्रशासित किया जाता है। प्रथम दो सप्ताह तक नित्य दिया जाता है, फिर अगले दो सप्ताह तक एक दिन बीच दे कर; इसके बाद अंतिम दो सप्ताह तक सप्ताह में दो बार। ग्रीजेओफुल्विन के साथ विटामिन ए सांद्र (बच्चों के लिये 5 से 10 बूंद, बड़ों के लिये 20 से 40 बूंद नित्य तीन बार विटामिन ई (10 से 30 बूंद नित्य दो बार) या विटामिनित कौड-लिवर आयल (मछली का तेल एक छोटा, मध्यम या बड़ा चम्मच नित्य) भी देने की सलाह दी जाती है। यह माना जाता है कि ग्रीजेओफुल्विन चर्म, बालों (लोमों) और नखों की शृंगी परत में जमा होता है इसलिये कवक इनमें प्रवेश नहीं कर पाते। इसी कारणवश बालों का स्वस्थ होना या नखों का नीचे जड़ के पास से शुरू होता है, जबकि दूरस्थ भागों में कवकों के अवयव अभी भी बने रहते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए ग्रीजेओफुल्विन से चिकित्सा करने पर बालों को हर माह में दस दिनों में मुड़ देना चाहिये और नखों को दूर कर देना चाहिये (दे. नीचे); इससे चिकित्सा सरल हो जाती है।

लालकवकता के सार्वदैहिक रूपों में और कभी-कभी स्थानाबद्ध अधिकेंद्रों की स्थिति में रोग की पहचान पूर्ण रूप से करना और युक्तिसंगत चिकित्सा करना बहुत महत्वपूर्ण होता है। ऐसे केस का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें इत्सेन्को-कुशिंग के रोग या अवढालवत्ता (कंठ के अगल-बगल स्थित हाइपोफिसिस ग्रंथि की क्रियाशीलता में ह्रास) की चिकित्सा से लालकवकता के अधिकेंद्र भी विलीन हो गये। अलग से किसी बाह्य दवा या मुखमार्ग से ग्रीजेओफुल्विन देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सुप्त प्रवाह ग्रहण कर चुकी लाल कवकता के सभी रूप अविशिष्ट स्फूर्तिदायक (उद्दीपक) चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं: ज्वरजनक दवाओं (पीरोगेनाल, प्रोदीगिओजान), एलोय, स्वरक्त-चिकित्सा से।

नखों पर अन्य कवकी रोगों की अपेक्षा लाल कवकता का आक्रमण कहीं अधिक होता है। नखों की लाल कवकता की चिकित्सा से नखों में लोमतृणत्व का भी इलाज हो सकता है, यदि डाक्टर नखों को अलग करना उचित समझता हो। सिर्फ कांदीदक्लेश से उत्पन्न नखशोथ की चिकित्सा विशेष रूप से की जाती है (दे. तदनुरूप अनुच्छेद)।

कवक-ग्रस्त नखों की चिकित्सा कठिन है। इसकी सफलता बहुत हद तक डाक्टर के निर्देशों का सख्ती से पालन करने पर निर्भर होती है। रोगी की ओर से भी काफी धैर्य और दृढ़ता की आवश्यकता पड़ती है इन सब परिस्थितियों के होने पर भी रोग के पुनरावर्तन की प्रायिकता बहुत अधिक है और यह अनेक अन्य कारणों से संबंधित हो सकता है: किसी एक नख या नख-मूल पर कवक के रह जाने से प्रक्रिया पुनः फैल जाती है, मानों उसी के लिये जगह तैयार की गयी हो प्रकृति में ट्रिकोफीतोनों और लाल ट्रिकोफीतोनों की अधिकता; अभी-अभी ठीक हुए रोगी में इस रोग के प्रति उच्च प्रवणता, आदि.

इन्हें घेरापी के साथ मुखमार्ग से ग्रीजेओफुल्विन देना सबसे अधिक कारगर चिकित्सा है। कुछ चिकित्सकों ने ग्रीजेओफुल्विन नखों को हटाने के साथ-साथ ही दिया जाता है, पर अधिकांशतः सभी रोग नखों और अवनख केराटिनी द्रव्य हटाने के बाद ही दिया जाता है।

नखों को केराटिन-लयकारी प्लास्टरों (यूरियाप्लास्ट, 20 प्रतिशत यूरिया से युक्त एक प्लास्टर, 10 प्रतिशत त्रिक्लोरोआसेटिक अम्ल, आदि*), केराटिन-लयकारी मलहमों (आधा-आधा पोटाशियम आयोडाइड और लैनोलिन) या करोर्जिक रीतियों से दूर किया जाता है, फिर नखसेज पर कोई कवकमारक दवा लगायी जाती है। नख पर प्लास्टर की एक मोटी परत लगायी जाती है और चिपकदार प्लास्टर से ढक दी जाती है (48 घंटों तक के लिये)। पूरी रीति को दो से चार बार तक दुहराया जाता है, जबतक कि नख पूरी तरह मुलायम न हो जायें, इसके बाद उन्हें स्कालपेल या सँड़सी से अलग कर देते हैं। नखों को हटाने के लिये पोटाशियम आयोडाइड का मलहम (आरावीस्की की रीति) का उपयोग निम्न ढंग से करते हैं: नख पर मलहम की मोटी परत बिछा कर कागज व रूई की पुल्टिस रखते हैं और उसपर पट्टी बांध देते हैं। पूरी मरहम-पट्टी हर चार-पाँच दिन पर बदलते रहते हैं, जबतक कि नख मुलायम न हो जायें फिर वे चिमटी या स्कालपेल से बिना दर्द के अलग किये जा सकते हैं।

नख हटा लेने के बाद नखसेज पर कवकमारक दवाएं लगायी जाती हैं (निस्त्रोफुंगिन, 5 प्रतिशत आयडीन का टिंचर, सल्फर-टार मलहम, कास्तेलानी का पेंट, आदि)। साथ-साथ ग्रीजेओफुल्विन भी दिया जाता है; बड़ों के लिये इसकी खुराक निम्न है: 60kg से कम भारी शरीर के लिये एक टिकिया दिन में चार बार; 60 से 70kg भार होने पर दिन में 5 बार; 70 से 80 kg होने पर 6 बार; 80 से 90kg होने पर 7 बार; 90kg से अधिक होने पर 8 बार। चिकित्सा के प्रथम महीने में इसे नित्य ग्रहण करते हैं, अगले दो या तीन महीनों के दौरान एक दिन बीच दे कर। इससे अवांछनीय प्रभाव और क्लिष्टताएं भी उत्पन्न हो सकती हैं (सर में दर्द, चक्कर, अधिक बेहोशी, जठरांत्र की गड़बड़ियां, विभिन्न प्रकार के चर्म-स्फोट आदि)। चिकित्सा के दौरान मूत्र-परीक्षण और विभेदक रक्त-गणना नियमित रूप से कराते रहना चाहिये।

नखों को हटाने के बाद आंद्रियास्यान की रीति से भी चिकित्सा जारी की जा सकती है: 15 प्रतिशतीय रेसोर्सिन-लैक्टिक-सैलीसीलिक मलहम 48 घंटों के लिये लगा कर (लगातार तीन बार)। मलहम को कागज-रूई की पुल्टिस और पट्टी से ढकी जाती है। इसके बाद 5 प्रतिशतीय सैलीसीलिक मलहम उसी तरह से 48 घंटों के लिये लगाया जाता है, फिर नख के अवशेष (जड़) और केराटोटिक (केराटिनी) द्रव्य दूर किया जाता है। इसके बाद नखसेज पर कोई उपरोक्त कवकमारक दवा या प्लास्टर (फेनोल या थीमोल) का प्रयोग होता है। जब भी जरूरत हो, केराटोलीटिक प्लास्टर और 15 प्रतिशतीय रेसोर्सिन-लैक्टिक-सैलीसीलिक मलहम की पट्टी दुहरायी जाती है।

अधिचर्मतृणत्व और लाल कवकता के निरोध व नियंत्रण की युक्तियां

तीनेआ पेदिस और लाल कवकता के विस्तृत प्रसार के कारण (विशेषकर शहरी क्षेत्रों में) इन रोगों के निरोध के लिये सामूहिक और व्यक्तिगत कोशिशें आवश्यक हैं। कारगर निरोध संग-

---

*केराटोलीटिक प्लास्टर तैयार करने की रीति निम्न है: 10ml गर्म पानी में 20 ग्राम यूरिया घुलाया जाता है (यह 15ml पानी में 10g त्रिक्लोरोआसेटिक अम्ल के अनुरूप है)। 45g जिंक प्लास्टर, 20g लैनोलिन और 5g मोम से बने प्लास्टर को पानी में गर्म करते हैं— पोर्सेलेन की एक विशेष डिश में रख कर, और निरंतर हिलाते रहते हैं।

ठिन करने के लिये आधारभूत सिद्धांत निम्न हैं: गादिकता का अभिलेखन (विभिन्न जन-स्तरों में, औद्योगिक इकाइयों में, आदि), इसका विश्लेषण, सभी रोगी व्यक्तियों में शीघ्रता से रोग का अनुवेदन और यथासमय चिकित्सा (उन लोगों में भी, जिनमें रोग अपने अवतलिपक रूप में हो)। सार्वजनिक स्नान-गृहों, तालाबों आदि के कर्मचारियों और जल-क्रीड़ाओं के खिलाड़ियों पर विशेष निगरानी रखनी चाहिये।

किसी औद्योगिक इकाई में समूहिक निरोध की युक्तियां वहां के काम की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। कोयले के खदानों तथा अन्य खानों में धूल कम करने और आर्द्रता बढ़ाने के उपाय किये जाते हैं; धातुकर्म और कपड़े के कारखानों में शरीर को अत्यधिक गर्म करने वाली परिस्थितियों पर नियंत्रण रखा जाता है, आदि। सार्वजनिक स्नान-गृहों में फर्श पर बिछे लकड़ी के तख्तों आदि पर तैल रोगन नहीं करना चाहिये या उनके स्थान पर रबड़ की दरियों का उपयोग करना चाहिये, क्योंकि गीली लकड़ी कवकों के जमघट के लिये अच्छी जगह है और इसीलिये पैठन का स्रोत भी है। रबड़ की दरियों में खाँचेदार नक्काशियां आदि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि कवक उनमें भी फँस कर पनप सकते हैं। सार्वजनिक स्नान-गृहों, तालाबों आदि में वाश-बेसीन, टब, फर्श, बेंच आदि को नित्य 3 प्रतिशत शोधित कैल्सियम हीपोक्लोरीन (हाइपोक्लोराइट) के घोल, 5 प्रतिशतीय क्लोरामीन या लीजोल घोल द्वारा निष्पैठित करना चाहिये। इन जगहों पर या किसी औद्योगिक इकाई में नहाते वक्त रबड़ के अपने निजी जूते या चप्पल पहने रहना चाहिये, पैरों में कवकता की रोक-थाम के लिये कुछ वैज्ञानिक सार्वजनिक स्नान-गृह से निकल कर पैरों को फोर्मालडेहीड से धोने की सलाह देते हैं (आयुर-कर्मचारी की निगरानी में)। रोगी व्यक्ति के जूते-चप्पल को, क्रीड़ा (स्पोर्ट्स) में सामूहिक रूप से प्रयुक्त जूते, बूट आदि फोर्मालिन-वाष्प के कक्ष में निष्पैठित करने चाहिये। नहाने के स्पंज, कपड़े आदि 10 मिनट तक उबाल कर निष्पैठित किये जाते हैं।

पैरों में कवकता की रोकथाम के लिये व्यक्तिगत निरोध भी बहुत महत्त्व रखता है। जनता को पैठन के मार्गों, निरोध के उपायों और रोग के मुख्य लक्षणों से परिचित होना चाहिये। इस तरह का ज्ञान स्वास्थ्य-शिक्षा (व्याख्यानों, वार्त्ताओं), नन्हीं पुस्तिकाओं के प्रकाशन, पोस्टर तथा अन्य दृश्य-सुगम प्रचार-साधनों आदि के माध्यम से प्रसारित किया जाता है। प्रवणकारी घटकों को दूर करना चाहियें: पैरों से अतिस्वेदन (विशेषकर बसंत और ग्रीष्म में होने वाले) की चिकित्सा करा लेनी चाहिये, तलवे की चौरसता दूर करने के लिये विशेष ओर्थोपेडिक जूते पहनने चाहिये; चर्म पर क्षतियों तथा घर्षज चर्मशोथों की रोकथाम करनी चाहिये; नीलपर्यंगना को दूर करना चाहिये।

जिस परिवार में किसी के पैरों में कवकता अनुवेदित होती है, उसमें सहवर्ती (रोग के अनुवेदन के समय से लेकर पूरी चिकित्सा-अवधि के दौरान) और अंतिम (रोगी को अस्पताल में रखने या उसके बिल्कुल ठीक हो जाने तक) निष्पैठन करना चाहिये।

निरोध उन चिकित्सा-संस्थानों में भी किया जाता है, जहां पाद-कवकता का इलाज होता है। प्रयोग में लाने के बाद पट्टियों, रूई, टैंपन आदि को जला देना चाहिये या 1.5atm दाब के अधीन वाष्प के कक्ष में आधे घंटे तक निष्कीटित करना चाहिये, या 10 प्रतिशत शोधित कैल्सियम हाइपोक्लोराइट के घोल में दो घंटे तक तर रखना चाहिये। राछों को 10 मिनट तक उबालना चाहिये, या 10 प्रतिशत फोर्मालडेहीड के घोल में, 1- क्लोरबेटानाफ्थोल इमल्शन के 4 प्रतिशतीय घोल में या लीजोफोर्म के दुगुना तनु घोल में 15 मिनट तक रखना चाहिये।

लोमतृणत्व

लोमतृणत्व-ग्रुप में रोगों के तीन रूप होते हैं: सतही, चिरकालिक, और अंतर्स्यंदित-पूयिक, या जंतुप्रेमी लोमतृणत्व। प्रत्येक रूप में सिर्फ शिरोवल्क, या चिकना चर्म, या (अपेक्षाकृत विरले) नख ग्रस्त हो सकते हैं। कुछ रोगियों में मिश्र क्षतियां होती हैं, जैसे शिरोवल्क और चिकने चर्म में, या शिरोवल्क, चिकने चर्म और नख तीनों में।

हेतुलोचन. लोमतृणत्व के सतही और चिरकालिक रूप एक ही निमित्त कारणों से होते हैं, जिन्हें मानुषप्रेमी कवक कहते हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये सिर्फ आदमियों (पुरूषों व स्त्रियों) के चर्म और इसके उपांगों में परजीवकों की तरह रहते हैं. लोम-डंठल में रहते हुए लोम को ग्रस्त करते हैं और चर्म में हल्के शोथी परिवर्तन उत्पन्न करते हैं (त्रीखोफीतोन एंडोथ्रिक्स; अंतर्लोमिक लोमतृणाणु)। इस ग्रुप के कवकों में त्री. विओलामेंटम (बैंगनी लोमतृणाणु) और त्री. तोंज़ुरांस (क्रेटरवत या क्रेटरस लोमतृणाणु) की गणना होती है। अंतर्स्यंदित-पूयिक या जंतु-प्रेमी लोमतृणत्व जंतुमानुषप्रेमी कवकों द्वारा होता है। ये जंतुओं को भी ग्रस्त करते हैं (चूहों, खरगोशों, गीनिया पिग, गायों, बछड़ों, घोड़ों आदि को) और मनुष्यों को भी। बालों के ग्रस्त होने पर ये कवक लोम-डंठल की सतह पर पाये जाते हैं (त्रीखोफीतोन एक्टोथ्रिक्स); ये चर्म पर शोथी परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, जो हल्के से ले कर उग्र भी हो सकते हैं, अवचार्म वसा तक को अपनी चपेट में लेते हुए। कवकों के इस ग्रुप में त्री. मेंटाग्रोफीटेस (त्री. जिप्सेउम का एक रूप) और त्री. वेरूकोजुम (फावीफोर्मे) आते हैं। दोनों रूप एक दूसरे से भिन्न हैं: त्री. एक्टोथ्रिक्स [illegible] (लघुस्पोरिक) और त्री. एक्टोथ्रिक्स मेगास्पोरोन (वृहत स्पोराणु)। लघु स्पोर वाले रूप त्री. जिप्सेउम द्वारा बनते हैं, जो मुख्यतः घरेलू और मैदानी (खेतों के) चूहों के [illegible] होते हैं बड़े स्पोरों वाले रूप बालों में त्री. वेरूकोजुम द्वारा उत्पन्न होते हैं; इनके मेजबान मुख्यतः घरेलू जानवर (बछड़े, अपेक्षाकृत कम रूप से गाय और घोड़े) होते हैं।* जब रोगी में निमित्त कारण (कवक) की जाति का पता चल जाता है, पर्याप्त चिकित्सा संभव होती है और बहुमारी रोकने के वैज्ञानिक तरीके अपनाये जा सकते हैं।

बहुमारीलोचन. मानुषप्रेमी कवकों का पैठन सीधे रोगी के संपर्क से या उसके दैनंदिन उपयोग की वस्तुओं (कंघी, हैट, मफलर, बाल के क्लिप आदि) के माध्यम से या कवकों से लगी हुई वस्तुओं (खिलौनों, तकिये के खोलों आदि) के माध्यम से होता है। बच्चों को सतही लोमतृणत्व इस रोग से ग्रस्त बच्चे से हो जाता है या बड़ों (माता, दादी-नानी आदि) से बड़ों का चिर-कालिक लोमतृणत्व हो जाता है। जंतुमानुषप्रेमी कवक तदनुरूप रोग से ग्रस्त आदमी से, वस्तुओं से अथवा जंतुओं (बछड़े, घोड़े आदि) से संक्रमण करता है। जंतुओं के शरीर से गिरे शल्कों, रोवों आदि से भी होता है, जो पुआल, चारे तथा अन्य वस्तुओं पर गिरे होते हैं।

सतही लोमतृणत्व

यह हर उम्र के स्कूली बच्चों में बहुत आम रोग है। यह स्थापित किया गया है कि 40 से 50 प्रतिशत बच्चे इसे बड़ों से प्राप्त करते हैं। यह सिर्फ 'स्कूली' पैठन ही नहीं है, जैसा कि

---

*गाय और बछड़े लोमतृणत्व 'जिप्सेउम' के प्रसार में भी योग दे सकते हैं क्योंकि गौहाल में चूहे पुआल, चारा आदि को छूतहा बना देते हैं—अपने लोमों, खट्ठियों और शल्कों को गिरा-गिरा कर।

पहले सोचा जाता था; यह एक 'पारिवारिक' पैटर्न भी है। इसीलिये निरोध के उपाय बाल-प्रतिष्ठानों (बालवाड़ियों, स्कूलों) में ही नहीं, रोगी बच्चे के परिवार (घर) में भी अपनाये जाते हैं।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. शिरोवल्क, चिकने चर्म और नखों के सतही लोमतृणत्व में भेद किया जाता है।

शिरोवल्क का सतही लोमतृणत्व सूक्ष्म अधिकेंद्रों एवं स्थूल अधिकेंद्रों के रूपों में होता है; ये रूप अधिकेंद्र के आकार में भिन्न होते हैं। तीव्र शोथ नहीं होता; अधिकेंद्रों की सीमा-रेखा अनियमित और अस्पष्ट होती है, उनका आकार वर्तुली होता है और वे सफेद भूसी जैसे शल्क से आच्छादित होते हैं। वस्तिकाएं, पीपिकाएं और खठ्ठियां कभी-कभी अधिकेंद्र के परिसर में पायी जा सकती हैं। अधिकेंद्र में स्थित सभी बाल रोग-प्रक्रिया की चपेट में नहीं आते, अतः लगता है कि बाल विरल हो गये हैं। कुछ तो त्वचा से 1-2 मिलिमीटर की दूरी पर टूट जाते हैं; उनका रूप अर्धविराम, अकुश, प्रश्नवाचक चिन्ह आदि की तरह होता है; इन्हें ठूंठ कहते हैं। त्वचा पर अक्सर कई अधिकेंद्र पाये जाते हैं (चित्र 7), यद्यपि कुछ स्थितियों में एक ही बड़ा-सा अधिकेंद्र भी हो सकता है। रोगियों को कोई आत्मगत शिकायत नहीं होती। इलाज न होने पर रोग कई वर्षों तक बना रह सकता है और चिरकालिक लोमतृणत्व में संक्रमण कर जाता है (स्त्रियों में), या खुद ब खुद ठीक हो जा सकता है (अधिकांशतः पुरूषों में)। वयस्क पुरूषों में सतही लोमतृणत्व दाढ़ी-मूछ के क्षेत्रों में हो सकता है (त्रिखोफीतोसिस बार्बे), जिसकी तल्पिक अभिव्यक्ति शिरोवल्क के लोमतृणत्व जैसी ही होती है।

चिकने चर्म का सतही लोमतृणत्व ज्यादातर चेहरे, गर्दन, प्रबाहु और धड़ पर होता है, यद्यपि यह चर्म के अन्य क्षेत्रों पर भी विकसित हो सकता है। अधिकेंद्र स्पष्ट रूप से परिसीमित होते हैं और त्वचा से कुछ उभरे भी होते हैं। वे गोल या अंडाकार होते हैं, उनके गिर्द परिसर में चिकनी या चिटकीय प्रकृति की मेड़ सी होती है। परिसर में नन्हीं वस्तिकाएं और खठ्ठियां भी बन सकती हैं। अधिकेंद्र के मध्य में गदलोचनी प्रक्रिया का अपचोषण होता है, जिसके कारण वहां स्थल पीला पड़ जाता है और शल्कन होता है। अधिकेंद्र संगम कर जाते है और अजीबो-गरीब आकृति धारण कर लेते हैं (चित्र 8)। कभी-कभी हल्की खुजली महसूस होती है। कोमल ऊतक रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ सकते हैं, जिससे ठीक होने में देर लग सकती है। चिकने चर्म का लोमतृणत्व ज्यादातर बच्चों में पाया जाता है।

नखों का लोमतृणत्व. सतही लोमतृणत्व के 2-3 प्रतिशत रोगियों में नख भी ग्रस्त हो जाते हैं (अक्सर उंगलियों के ही)। क्षति नख की मुक्त किनारी से शुरू होती है (चंद्रक से कम ही) और कुछ ही महीनों में पूरे नख पर फैल जाती है। नख मोटे, ढीले और भंगुर हो जाते हैं, रंग गदा-भूरा-सा हो जाता है। अवनख अतिशृंगन विकसित होने लगता है। अक्सर कई नख ग्रस्त हो जाते हैं। इलाज न होने पर रोग वर्षों तक बना रहता है।

चिरकालिक लोमतृणत्व

हेतुलोचन. यह रोग उन्हीं मानुषप्रेमी कवकों से होता है, जिनसे सतही लोमतृणत्व होता है।

रोगजनन. रोग बचपन में ही सतही रूप में घर कर जाता है, जो बाद में चिरकालिक (काले धब्बों वाला) लोमतृणत्व में परिणत हो जाता है (लड़कियों में); अधिकांश लड़के यौन परिपक्वता तक पहुँचते-पहुँचते खुद ब खुद ठीक हो जाते हैं। कुछ स्थितियों में चिरकालिक रूप

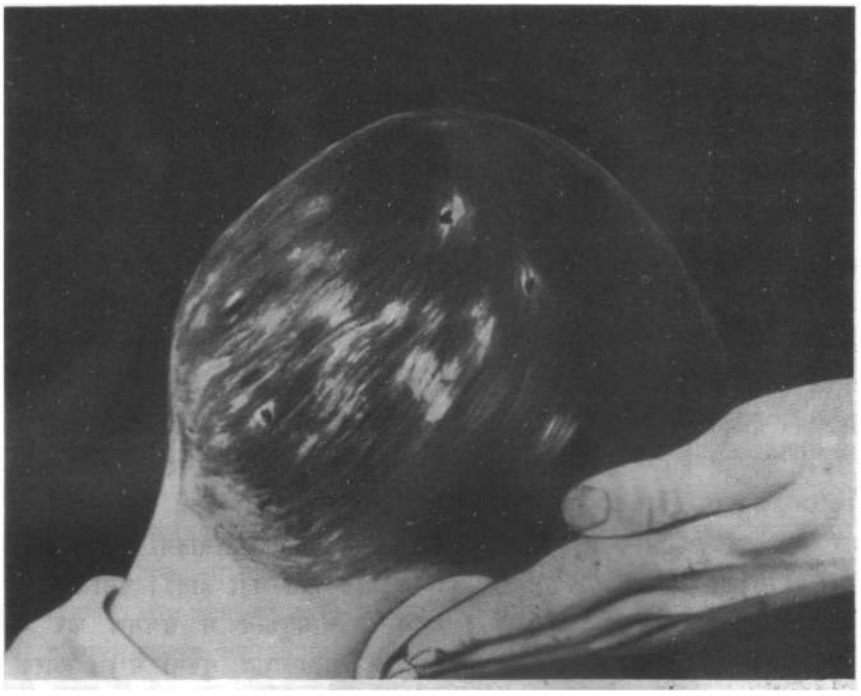

चित्र 7. माथे का लोमतृणत्व

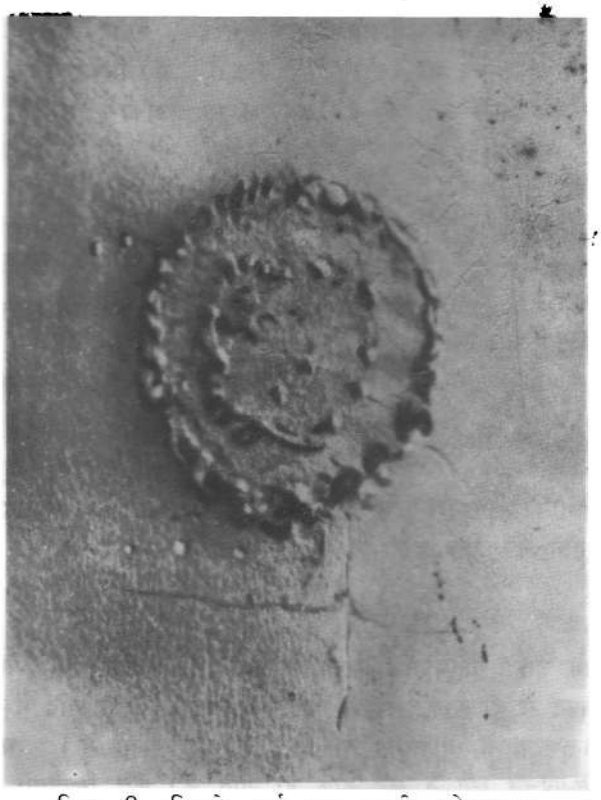

चित्र 8. चिकने चर्म का सतही लोमतृणत्व

बचपन में ही विकसित हो जाता है, इसीलिये इसके पुराने नाम (वयस्कों का चिरकालिक लोमतृणत्व) से वयस्क शब्द अब हटा लिया गया है। रोग के गदजनन में निम्न घटक महत्त्वपूर्ण हैं: अंतस्त्रावी गड़बड़ियां (जनन-ग्रंथियों के रोग, इत्सेंको-कूशिंग का रोग), पनपू नार्विक तंत्र की गड़बड़ियां (नीलरक्तता), अविटामिनता (विटामिन ए की कमी) आदि। सभी केसों में स्त्रियों का अंश 80 प्रतिशत तक होता है। चिरकालिक लोमतृणत्व से ग्रस्त वयस्कों में कम से कम 30 प्रतिशत रोगी शिरोवल्क के लोमतृणत्व से ग्रस्त होते हैं।

नैदानिक चित्र और प्रवाह. शिरोवल्क, चिकने चर्म और नखों के चिरकालिक लोमतृणत्व में भेद किया जाता है।

शिरोवल्क का चिरकालिक लोमतृणत्व अक्सर पश्च एवं कनपटी के भागों में होता है, जहां नीली आभा से युक्त हल्की ललछौंह क्षतियां, विसरित या सूक्ष्म अधिकेंद्री शल्कन और कुपोषी खल्वाटता के धब्बे पाये जाते हैं। एक बहुत ही लक्षक विशेषता है बालों का ग्रस्त होना; वे चिकनी त्वचा के स्तर से ही टूट जाते हैं और कोमेडोनों (काले बिंदुओं) की तरह दिखते हैं। ये शिरोवल्क के चिरकालिक लोमतृणत्व के इतने विशिष्ट लक्षण हैं कि रोग का नाम काले बिंदुओं वाला लोमतृणत्व पड़ गया है। कुछ स्थितियों में रोग की एकमात्र अभिव्यक्ति कलिष्ट काले बिंदु ही रह जाते हैं, जो बड़ी मुश्किल से अनुवेदित होते हैं (विशेषकर सघन बालों वाली स्त्रियों में)। इसका पता लगाने वाले डाक्टर या नर्स को बहुत श्रम और अनुभव की जरूरत पड़ती है। यह रोग कितने वर्षों तक अननुवेदित रह जा सकता है। इस स्थिति में रोगी बहुमारी फैलने का कारण बन जा सकता है, क्योंकि बच्चे पैठित हो जाते हैं और सतही लोमतृणत्व विकसित कर लेते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए माँ, दादी, नानी तथा पड़ोसियों आदि की भी जाँच होनी चाहिये, ताकि उनमें से किसी में चिरकालिक लोमतृणत्व की (मुख्यतः शिरोवल्क के लोमतृणत्व की) संभावना दूर की जा सके।

चिकने चर्म के चिरकालिक लोमतृणत्व का नैदानिक चित्र इस रोग के सतही रूप से बहुत भिन्न होता है: स्थल और प्रवाह भी भिन्न होते हैं। इसके अधिकेंद्र के विशिष्ट स्थल हैं – पैरों, नितंबों, घुटनों और प्रबाहुओं का चर्म। कभी-कभी चेहरे और धड़ पर भी पाया जाता है। अधिकेंद्रों की सीमारेखा स्पष्ट नहीं होती: वे सामान्य त्वचा के साथ संतत हो जाते हैं। उनका रंग गाढ़ा नीला होता है और वे विभिन्न क्षेत्रों पर शल्कों से आच्छादित होते हैं, अतः चिरकालिक दिनाइ के अधिकेंद्रों से मिलते-जुलते होते हैं। चिकने चर्म के चिरकालिक लोमतृणत्व के हठी एवं सुप्त प्रवाह का कारण शरीर की अनुर्जिक इमूनलोचनी अवस्था और अधिकेंद्र में स्थित कोमल लोमों, शिरोवल्क और नखों का एक साथ ग्रस्त होना बताया जाता है (इसे प्रकीर्णित आकांति कहते हैं)। आमतौर गड़बड़ियां नहीं होतीं या हल्की खुजली के रूप में होती हैं। तलवों और हथेलियों पर चर्म का चिरकालिक लोमतृणत्व शुष्क अपरस की तरह के पटलित शल्कन द्वारा लंछित होता है, जो अंतर्वृंगन की पृष्ठभूमि पर विकसित होता है। इससे अक्सर नख भी ग्रस्त हो जाता है और उनमें शोथ होता है।

नखों में रोग-प्रक्रिया चिरकालिक लोमतृणत्व के विहाई रोगियों में देखी जाती है; इसकी विशेषता है नखों का मोटा होना। वे गंदले भूरे, असमतल (खुरदुरे) और भंगुर हो जाते हैं, आसानी से टूट जाते हैं। नखों की मुक्त किनारी का भाग नखसेज से विलगित हो जाता है।

अंतर्स्यंदित पूयिक या जंतुप्रेमी लोमतृणत्व

इस रूप को, जो जंतुमानुषप्रेमी कवकों से होता है, पहले गहरा लोमतृणत्व कहलाता था (त्रीखोफीतिआ प्रोफुंडा), क्योंकि गहरी पूयिक पीपिकाओं का विरचन इसका मुख्य लक्षण माना जाता था। अब स्थापित हुआ है कि जंतुमानुषप्रेमी कवक आदमी में भिन्न स्तरों के शोथ का तल्पिक चित्र उत्पन्न कर सकते हैं। लोमतृणत्व के सतही रूप का निदान करने के लिये सिर्फ सूक्ष्मदर्शन की ही नहीं (रोग के कवकी मूल की पुष्टि के लिये), बल्कि बाक्तेरीलोचनी (कल्चरल) परीक्षण की भी सहायता लेने की सलाह दी जाती है। इसके निमित्त कारण (जीवाणु) की जाति पहचान में आ जाती है; यह बहुमारीलोचनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अंतर्स्यंदी पूयिक लोमतृणत्व की बीमारी में पिछले वर्षों में कई देशों में बढोत्तरी हुई है (पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, रोमानिया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया आदि में)। सोवियत संघ के कुछ क्षेत्रों में सतही लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता से बीमारों की कुल संख्या में 50 प्रतिशत से अधिक लोग लोमतृणत्व के इसी रूप से ग्रस्त होते हैं। इसके अतिरिक्त, त्री. जिप्सेउम की भूमिका त्री. फावीफोर्मे से बढ़ रही है। बहुमारीलोचनी दृष्टि से सारा ध्यान कीटों पर केंद्रित किया जा रहा है (विशेषकर टिड्डा जाति के कीटों पर)। उपरोक्त जंतुओं के अतिरिक्त जंतुमानुषप्रेमी कवकों के विकास की संभावना भारतीय अनाजों के डंठलों पर भी मानी जा रही है। कवकों के जीवन चक्र में जमीन, संग्रहन, और प्रसरण की भूमिका और जंतुओं द्वारा उनके वहन के प्रश्नों का तेजी से अध्ययन हो रहा है।

तल्पिक चित्र और प्रवाह. अंतर्स्यंदित पूयिक लोमतृणत्व के कई भिन्न तल्पिक रूप हैं।

शिरोवल्क का अंतर्स्यंदी पूयिक लोमतृणत्व. इसके लंछक प्रवाह में अलग-थलग बड़े-बड़े आक्रांति केंद्र बन जाते हैं, इनकी परिसीमा बहुत स्पष्ट होती है, वे अतिरक्तिल और काफी अंतर्स्यंदित होते हैं, पूयिक व रिसन्नु खट्टियों से ढके होते हैं। खट्ठियों को हटाने पर अक्सर देखा जा सकता है कि हर मशिका से अलग-अलग पूय-स्राव हो रहा है, यद्यपि शुरू-शुरू यही लगता है कि रोगी को एक ही बड़ी-सी गहरी विद्रधि है। इसी कारण से रोग का एक और नाम है—मशिकीय विद्रधि। हर मशिका से स्रावित पूय शहद के छत्ते से शहद के रिसने की याद दिलाता है। इसीलिये रोग का एक तीसरा नाम भी मिलता है—केरिओन सेल्सी (सेल्सस का छत्ता)। दाढ़ी-मूँछ के क्षेत्र के अंतर्स्यंदित पूयिक लोमतृणत्व (सिकोसिस पाराजीतरिया—परजीवज लोमक्लेश) में अनेक आक्रांति-केंद्र बन जाते हैं, जो शिरोवल्क के अधिकेंद्रों से छोटे होते हैं, लेकिन अन्य तल्पिक लक्षणों में उन्हीं के समान होते हैं।

गहरे रूप के जंतुप्रेमिज लोमतृणत्व में अंतर्स्यंद स्पर्श से बहुत कोमल होता है। सामान्य लक्षण (अस्वस्थता, तापक्रमी प्रतिक्रिया, सरदर्द) और क्षेत्रीय लसपर्वों का बड़ा एवं मुलायम होना अक्सर अवलोकित होता है। कोई इलाज न होने पर रोग कुछ महीनों में स्वयं अपचोषित हो जाता है, एक क्षतांक (अक्सर दागी कुपोषज) रह जाता है। लेकिन ऊपर वर्णित लक्षण पूयिक (जंतु-प्रेमी) लोमतृणत्व के सभी रोगियों में नहीं पाया जाता। रोग अधिकेंद्रों में रक्तातिरेक और अंतर्स्यंदन द्वारा भी लंछित हो सकता है; मशिकीय पूयन नहीं भी हो सकता है (लगभग एक बटा पाँच रोगियों में), या रोग (करीब तिहाई रोगियों में) सतही रूप भी ग्रहण कर सकता है (अतिरक्तिल और हल्का अंतर्स्यंदित अधिकेंद्र, परिसर में मेड़ों पर हल्का शोफ, और पटलित शल्कन)।

चिकने चर्म के अंतर्स्यंदित पूयिक लोमतृणत्व में लंछक क्षति एक अतिरक्तिल धब्बा है, जो इर्द-गिर्द के स्वस्थ चर्म से स्पष्ट अंतर रखता है; इसकी परिरेखा गोलित (बिना तीक्ष्ण कोणों के) होती है। यह अंतर्स्यंदित होता है और भूसी जैसे या पटलित शल्कों से अच्छादित होता है।

अंतरस्यंदित धब्बा का परिसरीय प्रसार होता है और वह काफी बड़ा हो जाता है (5 सेंटीमीटर या इससे अधिक व्यास का), फिर कुछ सप्ताहों में स्वयं (स्वतःस्फूर्त रूप से) अपचोषित हो जाता है; सिर्फ अतिवर्णकता और कभी-कभी कुपोषी दाग रह जाता है। शिरोवल्क की आकृति की तरह चिकने चर्म के जंतुप्रेमी लोमतृणत्व में भी शोथ और अंतर्स्यंदन की तीव्रता बहुत भिन्न हो सकती है – स्पष्ट, गहरे रूप से ले कर बिल्कुल सतही रूप तक, जिसे देखना भी मुश्किल होता है।

निदान. शिरोवल्क के सतही लोमतृणत्व को प्रथमतः शिरोवल्क की सूक्ष्म स्पोरता और मोमिता से विभेदित करना चाहिये। लोमतृणत्व के निदान में निर्णायक घटक बाल हैं, जो बहुत कम ऊँचाई से टूट कर ठूँठ में परिणत हो जाते हैं। अन्य विशिष्ट लक्षण हैं – अधिकेंद्रों में अनेक बालों का अछूता रह जाना, अधिकेंद्रों में संगम (संलयन) की प्रवृत्ति न होना, लोम-डंठलों में कवक के स्पोरों का लछक रूप से स्थानाबद्ध होना (एंडोथ्रिक्स)। शिरोवल्क के वपास्रावी दिनाइ और वपास्राव के लक्षण हैं: अधिकेंद्रों का परिसीमित नहीं होना, बालों का अछूता रहना (लोमतृणत्व के विपरीत), खुजली और कहीं अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त शोथी संवृत्तियां। यह ध्यान में रखना चाहिये कि सतही लोमतृणत्व और चिकने चर्म की सूक्ष्मस्पोरता के तल्पिक लक्षण और सूक्ष्मदर्शी चित्र बहुत [illegible] रखते हैं। बालों के ग्रस्त होने की प्रकृति (यदि वे ग्रस्त हैं), रोगवृत (जैसे घर या परिवार में बीमार बिल्ली), बाल-प्रतिष्ठान में बहुमारीलोचनी स्थिति का अध्ययन, कल्चरल निदान के परिणाम, आदि – ये सब इस निदान को सरल बना देती हैं। कुछ केसों में चिकने चर्म की क्षति को गुलाबी बुसन, वपास्रावी दिनाइ और वलयाकार खर्जुक्लेश से विभेदित करना पड़ता है। लोमतृणत्व में अधिकेंद्र बहुत स्पष्टता से परिसीमित होते हैं, वस्तिकाओं व खड्डियों से आच्छादित परिसर में शोफज अतिरक्तिल सूजन होती है, कवकी मिसेलियम के धागे पाये जाते हैं।

शिरोवल्क के चिरकालिक लोमतृणत्व का निदान निम्न लक्षणों पर आधारित होता है: काले बिंदुओं की उपस्थिति, पक्ष एवं कनपटी के भाग में कुपोषज खल्वाट क्षेत्र, नखों की लंछक आकृति। चिकने चर्म के अधिकेंद्र ललामिक शल्की चर्मक्लेशों से विभेदित किये जाते हैं (लाल [illegible] बूँदिक परापर्खुक्लेश, खर्जुक्लेश, आदि से)।

[illegible] का लोमतृणत्व लाल कवकता, मोमिता तथा नखों के अन्य रोगों से विभेदित किया जाता है (नखों की लाल कवकता)।

अंतर्स्यंदित-पूयिक लोमतृणत्व सूक्ष्मस्पोरता के अंतर्स्यंदित-पूयिक रूप से विभेदित किया जाता है। अंतिम रोग सिकोस्पोरम लानोजुम द्वारा उत्पन्न होता है और अपेक्षाकृत विरल होता है। [illegible] के चेहरे पर लोमतृणत्व की क्षतियों को सामान्य (स्ताफीलोकोकी) लोमक्लेश के साथ विभेदित किया जाता है, जो अक्सर लंबे समय तक बना रहता है और शीघ्रता से कोई शोथी लक्षण प्रकट नहीं करता। क्षतियों की मशिकीय प्रकृति और प्रक्रिया के तीव्र प्रवाह के कारण जंतुजन्य लोमतृणत्व चिरकालिक चर्मपूयता और गहरी कवकताओं (स्पोरतृणत्व, गहरी अंकुरी कवकता, आदि) से विभेदित हो जाता है।

हेतुलोचन. 'लोमतृणत्व की ही तरह इसके निमित्त कारणों को भी दो ग्रुपों में बाँटा गया है– मानुषप्रेमी और जंतुमानुषप्रेमी कवक। मिक्रोस्पोरुम फेरूजीनेउम और मि. औदौइनी मानुषप्रेमी कवक हैं, जो सिर्फ मनुष्यों के चर्म और इसके उपांगों में परजीवी की तरह जीते हैं। मि. औदौइनी यूरोपीय देशों में अधिक होते हैं; सोवियत संघ में अवलोकित होता है। मि. लानोजुम (ऊर्णी मिक्रोस्पोरुम; पर्याय मि. कानिस अर्थात् कुत्ते का मिक्रोस्पोरुम) एकमात्र जंतुमानुषप्रेमी मिक्रोस्पोरुम है, जो सोवियत संघ में पाया जाता है। यूरोपीय देशों में यह अक्सर कुत्तों से होता है, इसीलिये इसका नाम 'कुत्ते का' (कानिस) कहते हैं; सोवियत संघ में यह कुत्ते और बिल्लियों दोनों से हो सकता है, इसीलिये इसका दूसरा नाम 'ऊर्णी' (झबरे बालों का) पड़ा है।

बहुमारीलोचन. मानुषप्रेमी मिक्रोस्पोरुम का पैठन रोगी व्यक्ति से, या उसके कपड़ों, उसके दैनिक उपयोग की वस्तुओं के साथ स्पर्श से होता है, क्योंकि ये वस्तुएं कवकों से संदूषित हो जाती हैं। मि. फेरूजीनेउम सभी ज्ञात गदजनक कवकों में सबसे अधिक छुतहा है। समूह में रोगी बच्चे के आने पर अनेक बच्चे ग्रस्त हो जाते हैं, रोग का विस्फोट सा हो जाता है और इसीलिये संगठित रूप से एंटीबहुमारिक युक्तियां लागू करनी पड़ती हैं। जंतुमानुषप्रेमी मिक्रोस्पोरुम (ऊर्णी) रोगी व्यक्ति के साथ संपर्क से अर्जित होता है (यद्यपि यह एक विरल घटना है), या सीधे रोगी कुत्ते या बिल्ली से।

पैठन कवकों से संदूषित कपड़ों, वस्तुओं (खिलौनों, तकियों के खोल, मफलर, [illegible] आदि के भी माध्यम से हो सकता है। हाल में यह भी स्थापित किया गया है कि बिल्लियां कवक-वाहक भी हो सकती हैं (अर्थात् खुद ग्रस्त नहीं होतीं, लेकिन त्वचा में कवकों को वहन करती हैं और प्रसार में योगदान देती हैं)।

सूक्ष्मस्पोरता मुख्यतः बच्चों पर ही आक्रमण करती है। यौन परिपक्वता का समय आते-आते रोग खुद ब खुद ठीक हो जा सकता है। वयस्कों में सिर्फ चिकना चर्म ग्रस्त होता है। मिक्रोस्पोर नियमतः नखों को आक्रांत नहीं करते।

मानुषप्रेमी मि. फेरूजीनेउम द्वारा उत्पन्न मिक्रोस्पोरता का तल्पिक चित्र और प्रवाह

शिरोवल्क की आक्रांति अनियमित परिरेखाओं और अस्पष्ट परिसीमाओं वाले अनेक नन्हे अधिकेंद्रों द्वारा लंछित होती है, जो सतही लोमतृणत्व की क्षतियों से मिलते-जुलते होते हैं। लोमतृणत्व के विपरीत, मानुषप्रेमी मिक्रोस्पोरता में अधिकेंद्र आपस में संगम की प्रवृत्ति रखते हैं और मिलकर बहुचक्रिल किनारियों, हल्के शल्कन और नीलाभ गुलाबी रंग से युक्त एक बड़ा अधिकेंद्र बनाते हैं। सूक्ष्मस्पोरता के इस रूप में अधिकेंद्र सीमांत क्षेत्रों में ही बनते हैं: कुछ चिकने चर्म पर और कुछ शिरोवल्क पर। अधिकेंद्र अक्सर परितारिका (ईरिस; आँख में इंद्रधनुषी झिल्ली, जिसके बीच में छेद – पुतली – होती है) की तरह होते हैं, अर्थात् एक छल्ला (सूजन की अतिरक्तिल किनारी) दूसरे के अंदर स्थित होता है; ये कभी-कभी विलक्षण आकृतियां (नमूने) बनाते हैं। शिरोवल्क पर आक्रांति-केंद्र (अधिकेंद्र) में नियमित रूप से पाये जाने वाला सुस्पष्ट मशिकीय अतिशृंगन एक ऐसा तल्पिक लक्षण है, जो रोग को शिरोवल्क के सतही लोमतृणत्व और जंतुप्रेमी सूक्ष्मस्पोरता से विभेदित करता है। सूक्ष्मस्पोरता के सभी रूपों की एक लंछक विशेषता यह है कि ग्रस्त बाल काफी ऊपर (त्वचा से 5-8 मिलिमीटर की उँचाई पर) से टूटते हैं और उनकी जड़ों

के पास श्वेताभ मफ (रोमिल, अर्थात् रोमों से भरा, खोल) जैसा बन जाता है। अधिकेंद्र में स्थित सभी बाल ग्रस्त हो जाते हैं।

चिकने चर्म के अधिकेंद्र स्पष्ट परिरेखाओं वाले होते हैं और कभी-कभी अजीबोगरीब आकृतियां बनाते हैं; परितारिका की आकृति जैसे भी बन जाते हैं। मि. फेरूजीनेउम अक्सर चिकने चर्म पर अलग-थलग (असंपृक्त) आक्रांतियां उत्पन्न करते हैं मगर शिरोवल्क को ग्रस्त नहीं करतें; ये लोमों को ग्रस्त करते हैं, जिससे रोगी की चिकित्सा कठिन हो जाती है।

जंतुमानुषप्रेमी मि. लानोजुम से उत्पन्न सूक्ष्मस्पोरता का तल्पिक चित्र और प्रवाह

शिरोवल्क की आक्रांति अलग-थलग वृहत अधिकेंद्रों के विरचन द्वारा लंछित होती है। अधिकेंद्रों की परिरेखा गोल या अंडाकार होती है, परिसीमाएं भी सुस्पष्ट होती हैं; वे ऐसे लगते हैं मानो मूहर मारा गया हो और उनपर भूरे ऐस्बेस्टस जैसे शल्क होते हैं (चित्र 9)। अधिकेंद्र में सभी बाल ग्रस्त हो जाते हैं और एक स्तर (ऊँचाई) पर टूटते हैं (त्वचा से 5-8 मिलिमीटर की

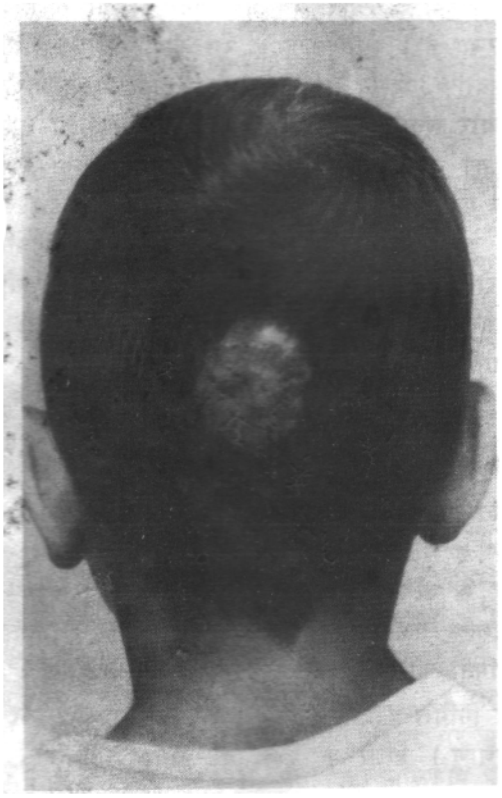

चित्र 9. शिरोवल्क पर 'मिक्रोस्पोरुम लानोजुम' द्वारा उत्पन्न सूक्ष्मस्पोरता

ऊँचाई पर)। कभी-कभी रोगी बाल की जड़ के गिर्द सफेद रोये-रोयें जैसे उगे हो सकते हैं; ये कवकों के स्पोर हैं। अधिकेंद्र में शोथ हल्का होता है, इसीलिये रंग गुलाबी होता है। फिर भी कुछ स्थितियों में अधिकेंद्र में रक्तातिरेक तथा अंतर्स्यंदन बहुत स्पष्ट हो जाता है और प्रक्रिया

कभी-कभी गहरी सूक्ष्मस्पोरता का प्रवाह ग्रहण कर लेती है, जिसमें निम्न लक्षण अवलोकित होते हैं: तीव्र विकास, पीपिकाओं और खट्टियों का विरचन (अधिकेंद्र में), सामान्य गड़बड़ियां (शरीर का तापक्रम ऊँचा होना, अस्वस्थता), क्षेत्रीय लसपर्वों का ग्रस्त होना, अक्सर द्वितीयक परोर्जिक स्फोटों की उत्पत्ति, सूक्ष्मस्पोरस (मिक्रोस्पोरिद)।

चिकने चर्म पर गोल या अंडाकार परिरेखा और सतह पर भूरी आभा के शल्कों से युक्त ललामिक अधिकेंद्र बन जाते हैं। उनकी किनारियां हल्की उभरी होती हैं, जिनपर अलग-थलग वस्तिकाएं, सीरमी खट्टियां या शल्क अवलोकित होते हैं। कोमल लोम लगभग सभी रोगियों में ग्रस्त हो जाते हैं। अधिकेंद्र ज्यादातर शरीर के खुले स्थलों (चेहरे, गरदन, वक्ष के ऊपरी भाग, हाथों के चर्म) पर उत्पन्न होते हैं। अधिकेंद्रों की संख्या कभी-कभी कई दर्जनों तक पहुँच जाती है, जो मि. लानोजुम से उत्पन्न मिक्रोस्पोरता की लंछक विशेषता है।

निदान. शिरोवल्क की मिक्रोस्पोरता सतही लोमतृणत्व से दो बातों में भिन्न होती है: तल्पिक चित्र में (बाल काफी ऊँचाई से टूटते हैं, चर्म का शोथ, ऐस्वेस्टस जैसे शल्कों की प्रचुरता), और बालों को वुड के काँच द्वारा गुजरी लघु पराबैंगनी किरणों से विकिरणित करने पर अंधेरे में वे हरिताभ पीली या रजत हरी (एमेराल्ड के रंग की) संदीप्ति छोड़ते हैं। मि. फेरूजीनेउम बालों में चमकीली हरी संदीप्ति उत्पन्न करते हैं, मि. लानोजुम हल्की हरी श्वेताभ संदीप्ति जो शिरोवल्क की मानुषप्रेमी और जंतुमानुषप्रेमी सूक्ष्मस्पोरता को विभेदित करने में सहायक होती है। सूक्ष्मस्पोरिता की संदीप्ति का उपयोग इसे शिरोवल्क के अन्य कवकी रोगों से विभेदित करने में ही नहीं, बल्कि बच्चों के पूरे समूह के परीक्षण में भी होता है, जिनके बीच सूक्ष्मस्पोरता का कोई केस ज्ञात होता है। कुत्ते-बिल्लियों के परीक्षण में भी इसका उपयोग होता है, जिनमें इस रोग का संदेह होता है। रोग की चिकित्सा कहां तक हुई है, इसकी कसौटी का काम भी सूक्ष्मस्पोरिता की संदीप्ति ही करती है। इसके लिये हर तीन या चार दिनों पर रोगी के बालों को धोकर परीक्षण दुहराया जाता है।

मोमिता

मोमिता प्राचीन काल से ही ज्ञात है और क्रांतिपूर्व रूस में बहुत फैली हुई थी। सोवियत सत्ता स्थापित होने के बाद इसके रोगियों की संख्या तेजी से कम हो गयी। सोवियत संघ में अब एक अत्यंत प्रचलित रोग के रूप में मोमिता का उन्मूलन हो चुका है।

जनसंख्या के जीवन-स्तर में उन्नयन, निरक्षरता के उन्मूलन, चर्मकवकता पर नियंत्रण की आरोग्यशालाई रितियों, निःशुल्क सक्षम आयुरी सेवा, स्वास्थ्यशिक्षा के प्रसार तथा अन्य युक्तियों से ही सोवियत संघ में मोमिता को नियंत्रित करने में सफलता मिली है।

हेतुलोचन. इस रोग का निमित्त कारण मानुषप्रेमी कवक ट्रीखोफीतोन (आखोरिओन) शेनलाइनी (शेनलाइन के लोमतृणाणु) बालों के इंठल के भीतर पाये जाते हैं, अतः वे एंडोथ्रिक्स (अंतर्लोमिक) हैं।

बहुमारीलोचन. यह एक अल्प छूतहा रोग है। इसकी अंतर्शयन-अवधि (इनक्युबेशन पीरियड) दो या तीन सप्ताह है। रोग चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है। पैठन रोगी व्यक्ति से प्रत्यक्ष स्पर्श द्वारा होता है या अधिकांशतः कवकों से संदूषित वस्तुओं (खिलौनों, वस्त्रों, चादरों आदि) के माध्यम से। मोमिता नियमतः बचपन में ही विकसित हो जाती है, लेकिन हो सकता है कि पहली बार इसका पता वयस्कावस्था में ही हो, क्योंकि स्वतःस्फूर्त चिकित्सा इस रोग के लिये

विशिष्ट नहीं है। क्षतियां अधिकांशतः शिरोवल्क में होती हैं, एक बटा पाँच रोगियों में नख भी ग्रस्त हो जाते हैं, त्वचा का ग्रस्त होना एक विरल घटना है।

गडबडन. रोग ज्यादातर अवपोषित कमजोर बच्चों को होता है, जो अंतस्त्रावी गड़बड़ियों और [illegible] से ग्रस्त होते हैं, जिन्हें पहले विभिन्न प्रकार के पैठनजनित रोग हुए होते हैं। बच्चे की ठीक से देखभाल नहीं करने से और स्वास्थ्य व सफाई के नियमों की उपेक्षा करने से इस रोग के विकास की परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं।

[illegible] चित्र और प्रवाह. शिरोवल्क की मोमिता, चिकने चर्म की मोमिता, नखों की मोमिता, और अन्य अंगों की मोमिता में भेद किया जाता है।

शिरोवल्क की मोमिता. रोग के पपड़ीयुक्त, शल्की (बुसनवत) और इंपेतिग रूप पाये जाते हैं। [illegible] रूप मोमिता के लिये विशिष्ट है, बाकी दो अविशिष्ट हैं। पपड़ीयुक्त रूप में मोमिता का [illegible] लक्षक लेपिक चित्र मिलता है। केंद्र में अवनमन-युक्त गेरूवा पीले रंग की कपनुमा [illegible] (स्कूतुल मोमिता का ढाल) हल्के अतिरक्तिल धब्बों पर उत्पन्न होती हैं। ये खठ्ठियां [illegible] के शुद्ध समुदाय और केराटोटिक (केराटिनी) द्रव्य की अल्प मात्रा से बनी होती हैं। कभी-कभी खठ्ठियों के हटने पर क्षतांक या अक्सर दागी कुपोषज क्षतांक दिखते हैं। यह बहुत ही लंछक है कि पूरे शिरोवल्क के ग्रस्त होने पर परिसर में स्वस्थ बालों की एक पट्टी बची रह जाती है। बाल टूटते नहीं हैं, लेकिन पतले, चमकहीन और धूल-धूसरित की तरह भूरे हो जाते हैं, नकली बाल [illegible] की तरह दिखने लगते हैं। विशिष्ट प्रकार की चूहे जैसी या मुसौरे जैसी गंध आने लगती है। शिरोवल्क की मोमिता का शल्की (बुसनवत) रक्तस्फीतिज-अतिरक्तिल चर्म-क्षेत्रों द्वारा लक्षित होता है जिसमें सूक्ष्मपटलित शल्क की बहुलता होती है; चित्र तीव्र वपास्राव-रोग से मिलता-जुलता होता है। इंपेतिग रूप [illegible] की विरचना में व्यक्त होता है। ये [illegible] मूल रूप खठ्ठी में परिणत हो जाती हैं जो दद्रुघ्न में इंपेतिगो की खठ्ठियों जैसी लगती है फिर भी, इन दो अविशिष्ट रूपों में रोग का निदान बालों की आक्रांति की प्रकृति से निर्दिष्ट होता है, जो देखने में वैसे ही लगते हैं, जैसे विशिष्ट, पपड़ीयुक्त रूप में। चिकित्सा न होने पर मोमिता लंबे समय तक बनी रह सकती है और शिरो वल्क की त्वचा पर दागी कुपोषज क्षतांक के रूप में अंत कर सकती है; चिकने चर्म के साथ की सीमारेखा पर बचे हुए बालों की सँकरी पट्टी रह जाती है।

चिकने चर्म की मोमिता नियमतः द्वितीयक प्रकृति की होती है, क्योंकि अक्सर शिरोवल्क की प्रकृति के बाद विकसित होती है। स्वतंत्र रोग के रूप में यह बात विरले ही होती है। चर्म की मोमिता का पपड़ीयुक्त रूप विशिष्ट लेकिन काफी बड़े स्कूतूलों के विरचन द्वारा लंछित होता है जो बढ़ते जाते हैं और संगम भी कर सकते हैं। चर्म के परिसीमित क्षेत्र ही ग्रस्त होते हैं, लेकिन कभी-कभी प्रक्रिया विसरित प्रकृति भी ग्रहण कर सकती है। रोग के अविशिष्ट रूप ललाटिक शल्की अधिकेंद्रों के विरचन से लंछित होते हैं, जो परिसर पर बढ़ने और आपस में मिलने (संगम) की प्रवृत्ति रखते हैं (बुसनवत रूप) या सतही मशिकीय पीपिकाओं के विरचन द्वारा लंछित होते हैं, जो आस्फ मशिकाशोथ से मिलता-जुलता चित्र प्रस्तुत करती हैं (इंपेतिग रूप)। मोमिता की क्षतियां चिकने चर्म पर दागी कुपोषज क्षतांक नहीं छोड़ती।

नख की मोमिता के लिये विशिष्ट बात है कि नख बहुत धीरे-धीरे ग्रस्त होते हैं। पहले नख के मध्य में कत्थई या गंदे भूरे या पीले धब्बे (पट्टी के रूप में) बनते हैं। यह बहुत लंबे समय तक बने रहते हैं और धीरे-धीरे पूरे नख पर फैल आते हैं। नख में नष्टकारी परिवर्तन बहुत कम व्यक्त होते हैं (नखकवकता की तुलना में)। अधिकांशतः हाथों की उंगलियां ही ग्रस्त होती हैं।

आंतर अंगों की मोमिता. आंतर अंगों की आक्रांति दुर्बल एवं कृश रोगियों में, यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्तियों में अवलोकित हुए हैं। क्लोमों, जठरांत्र मार्ग, छादिकाओं और मस्तिष्क द्रव्य (छादिकीय प्रमस्तिष्कशोथ) की मोमिता के केस ज्ञात हैं। शिरोवल्क की मोमिता की प्रक्रिया की चपेट में कभी-कभी गरदन के, पश्च एवं कर्णवर्ती लसपर्व भी आ जाते हैं (मोमिताजनित लसग्रंथिशोथ)। आंतर मोमिता के निमित्त कारण की जाँच के लिये थूक, मल और प्रमस्तिष्क-मेरूक द्रव लिये जाते हैं।

निदान. मोमिता के विशिष्ट, पपड़ीयुक्त रूप में निदान सरल होता है और स्कूतूला की उत्पत्ति तथा बालों की आक्रांति की प्रकृति पर आधारित होता है। रोग के अविशिष्ट रूपों का निदान बहुत कठिन है। इन स्थितियों में मोमिता का संकेत बालों के रूप में मिलता है (चमकहीनता, धसरपन, पतला होना लेकिन टूटना नहीं)। मोमिता के शल्की रूप के विपरीत वपास्रावी दिनाइ अधिकेंद्र के चमकदार रंग द्वारा लंछित होता है; इसमें अधिकेंद्र बहुत शोफित होते हैं, उनपर मोरमी खट्टियां होती हैं। मोमिता के इंपेतिग रूप के विपरीत सामान्य इंपेतिगो और आस्यक मशिकाशोथ में अधिकेंद्र तीव्र शोथी एवं शोफी किरीट से घिरे होते हैं और रोग चिरकालिक प्ररक्षित प्रवाह नहीं ग्रहण करता, जैसा कि मोमिता का विशिष्ट लक्षण है। अंतिम निदान सूक्ष्म-दर्शन के परिणामों पर आधारित होता है और आवश्यकता पड़ने पर कल्चरल परीक्षण भी किया जाता है।

चर्मतृणस (चर्मकवकस)

चर्मतृणस ('चर्मतृण' और हिंदी 'अस' अर्थात 'ऐसा' से) द्वितीयक परोर्जिक स्फोट हैं, जो विवेकहीन उद्दीपन चिकित्सा अथवा कवकों के पेठन के प्रति शरीर की अतिसंवेदिता द्वारा कवकता के प्राथमिक अधिकेंद्रों के क्षोभ से उत्पन्न होते हैं। चर्मतृणस अधिकांशतः जंतुमानुषप्रेमी कवकों द्वारा उत्पन्न लोमतृणत्व और सूक्ष्मस्पोरता में अवलोकित होते हैं। ये सतही हो सकते हैं (शैवाकस, [illegible] शल्की, वस्तिकीय) या गहरे (पीपिकीय), और कवकता के अधिकेंद्रों के समीप या दूर उत्पन्न हो सकते हैं। द्वितीयक स्फोटों में कवकी अंग नहीं पाये जाते। सिर्फ कुछ केसों में कवक के कल्चर रोगी के रक्त से अलग किये जा सकते हैं, जब परोर्जिक स्फोट की तीव्रता अपनी चोटी पर होती है। तल्पिक एवं रूपलोचनी रूप से चर्मतृणस शोणज्वर या मसूरिका में उत्पन्न दानों की तरह हो सकते हैं, या पराखर्जूक्लेश, गुलाबी बुसन आदि की तरह। चर्मतृणस के स्फोटों के साथ-साथ सार्वदैहिक लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं! सरदर्द, अस्वस्थता, उच्च-तापक्रम आदि। चर्मतृणसों को लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरस, मोमस कहते हैं; यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे किस मुख्य कवकी रोग के अंतर्गत उत्पन्न हुए हैं।

लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता का सूक्ष्मदर्शी निदान

कवकों का परीक्षण अरंजित (unstained) नैसर्गिक प्रसाधनों में होता है। प्रसाधन को निर्मल करने, अर्थात् उसमें स्थित केराटिनी द्रव्य को घुलाने के लिये 10-30 प्रतिशत दाहक क्षारों (KOH या NaOH) के घोल का उपयोग होता है। 20 प्रतिशतीय घोल के साथ काम करना उत्तम होता है। प्रसाधन को अमोनियम हाइड्रोक्साइड में भी निर्मल किया जा सकता है।

सूक्ष्मदर्शी प्रसाधन बनाने में बाल को गर्म करने की सलाह नहीं दी जाती है, क्योंकि इससे बाल और कवक के व्यतिसंबंध में बाधा पड़ जाती है, जिससे निदान में कठिनाई होती है। पपड़ियों और खट्टियों से बाल को मुक्त करने के बाद उसे दाहक (काउस्टिक) क्षार के 20 प्रतिशतीय

घोल में 5 से 10 मिनट के लिये निर्मल करते हैं (मोमिता में कुछ अधिक समय लगता है)। पपड़ियों और खट्टियों को गर्म किया जा सकता है, लेकिन क्षार के उबलनांक तक नहीं।

रुक्ष केराटिनी द्रव्य के परीक्षण में (विशेषकर यदि वह हथेलिये, तलवों तथा नखों से संग्रहित किया गया है), उसे सांद्र करने के लिये चेर्नोगूबोव द्वारा प्रस्तावित रीति प्रयुक्त होती है। गदलोचनी द्रव्य विडाल (Widal) की या अपकेंद्री परख-नली में रखा जाता है और उसमें 20 प्रतिशतीय क्षारीय घोल इतना डाला जाता है कि उसका स्तर गदलोचनी द्रव्य से 1-2 मिलिमीटर ऊपर रहे। परखनली के अंतर्य को उबलनांक (क्वथनांक) तक गर्म किया जाता है, जब वह एक समज द्रव्य बन जाता है। अब द्रव्य को अपकेंद्रित करके 24 घंटे तक थिरने के लिये छोड़ दिया जाता है। प्राप्त अवसादन का सामान्य तकनीक से परीक्षण किया जाता है। रीति में एक सरल सुधार भी किया जा सकता है: द्रव्य को 10-20 प्रतिशत KOH या NaOH के घोल में उबलनांक तक गर्म करने के बजाय उसे कमरे के ही तापक्रम पर 24 घंटों के लिये छोड़ दिया जा सकता है। अब अवसादन को पास्टर (Pasteur) के पिपेट से निकाल कर काँच के स्लाइड पर रखा जाता है और फिर सूक्ष्मदर्शक से उसका परीक्षण किया जाता है।

गदलोचनी द्रव्य का संग्रहण. सूक्ष्मदर्शी निदान की सफलता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि परीक्षण के लिये द्रव्य का संग्रह ठीक ढंग से हुआ है, या नहीं। अनावासी तल्पालय में संदेहाधीन द्रव्य परीक्षण के लिये अक्सर डाक से भेजा जाता है, इसीलिये इस स्थिति में द्रव्य का चयन बहुत सावधानी से होना चाहिये।

जब सिर [illegible] चिकना चर्म ग्रस्त होता है, [illegible] गोल अधिकेंद्र होते हैं और इन अधिकेंद्रों के परिसर पर मुड़ी हुई अतिरक्तिल किनारी होती है। कभी-कभी किनारी पर वस्तिकाएं और खट्टियां होती हैं और अधिकेंद्र के मध्य में विभिन्न प्रकार के [illegible] की प्रक्रिया का अपचोषण होने लगता है, तब अधिकेंद्र के परिसर से (स्काल्पेल या कैंची की धार द्वारा) खुरचन जमा करते हैं, क्योंकि इस स्थल पर मिसेलियम के धागे या कवकों के स्पोर सरलतापूर्वक दिख जाते हैं। नख के ग्रस्त होने पर केराटिनी द्रव्य कैंची से काट लिया जाता है (यदि मुक्त किनारी ग्रस्त है तो), या [illegible] अथवा स्काल्पेल की सहायता से नख के मध्य में गहरी परतों का द्रव्य निकाला जाता है। चिकने चर्म या नखों के ग्रस्त होने पर, मिसेलियम के धागे और कवकों के स्पोर अनुवेदित तो हो [illegible] है पर वे किस जाति के कवक हैं, यह पहचान में नहीं आता।

[illegible] (शिरोवल्क) के बालों के ग्रस्त होने पर निमित्त कारण को अक्सर (लेकिन हमेशा नहीं) बाल के साथ उसके संबंध के आधार पर पहचाना जा सकता है और तदनुरूप चिकित्सा [illegible] सुनियोजित की जा सकती हैं। इसीलिये यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण [illegible] है कि शिरोवल्क के कवकी रोग में परीक्षण के लिये कौन-सा द्रव्य संग्रहित किया जाये। [illegible] लोमतृणत्व में (उदाहरणतया) ऐसे बाल उखड़ने चाहिये, जो बहुत कम ऊँचाई से टूटे हुए [illegible] त्वचा से 1-2 मिलिमीटर की ऊँचाई से और जिनकी आकृति अर्ध विराम, हूक या प्रश्न-[illegible] चिन्ह की तरह है (ठूँठ)। कभी-कभी वे खट्टी के नीचे छिपे होते हैं, जिसे हटाने पर वे दिखने लगते हैं। चिरकालिक लोमतृणत्व में त्वचा के ही स्तर से टूटे बालों (काले बिंदुओं) को उखड़ने के लिये पश्च तल कनपटी के क्षेत्रों का निरीक्षण करते हैं। मिलने पर उन्हें ऊतलोचनी [illegible] स्काल्पेल की नोक के सहारे मशीका (लोमकूप) से बाहर निकालते हैं। शिरोवल्क के [illegible] दुर्दिक लोमतृणत्व में बाल अधिकेंद्र के परिसर से लिये जाते हैं, क्योंकि अधिकेंद्र के मध्य में [illegible] कवकों को लय (विघटित) कर देता है। लेकिन परिसर पर कुछ बाल स्वस्थ अवस्था

में भी हो सकते हैं। अंतिम निदान अनेक सारे प्रसाधनों के परीक्षण के बाद ही किया जाता है। मि. लानोज़ुम या मि. फेरूजीनेउम से उत्पन्न सूक्ष्मस्पोरता में ऊँचाई पर (त्वचा से 5-8 मिलिमीटर की ऊँचाई पर) टूटे हुए बाल परीक्षण के लिये जमा किये जाते हैं; अक्सर उनकी जड़ के पास सफेद रोयेंदार खोल-सा होता है। मोमिता के पपड़ीयुक्त, शल्की तथा इंपेतिग रूपों में लंबे, टूटे हुए नहीं, लेकिन पतले बाल, जो अपनी प्राकृतिक चमक खो चुके होते हैं और नकली बालों की तरह लगते हैं, परीक्षण के लिये जमा किये जाते हैं। ऐसे ही बाल चुने जाते हैं, जो स्कूतूला के निकट हो, या बहुत दूर न हो, लेकिन स्कूतूला के बीच में न हो।

प्रसाधन का उपचार. परीक्षण की वस्तु (बाल, पपड़ियां, नखों के केराटिनी द्रव्य आदि) एक स्लाइड पर रख दी जाती है। त्वचा या नखों की पपड़ियां इस पर पीस दी जाती हैं, लंबे बालों को (मोमिता में) कई नन्हे खंडों में विभाजित कर दिया जाता है (स्काल्पेल की तप्त धार से छू-छू कर)। तीन या चार संदेहाधीन बाल या पपड़ियों की पर्याप्त मात्रा काँच के बने स्लाइड के मध्य में रख दी जाती है और उसपर दाहक क्षार के एक या दो बूंद डाले जाते हैं। बालों के अतिरिक्त अन्य द्रव्य को बर्नर की ज्वाला पर हल्के से तबतक गर्म करते हैं, जबतक परिसर पर क्षारीय क्रिस्टलों का एक छल्ला-सा नहीं बन जाता। उसे एक अन्य काँच की पट्टी (ढक्कन) से ढक दिया जाता है, फिर सूक्ष्मदर्शन संपन्न किया जाता है—पहले निम्न, फिर उच्च अभिवर्धन पर।

सूक्ष्मदर्शी चित्र. ग्रस्त चिकने चर्म से हटायी गयी पपड़ी में और नखों से खुरचे गये केराटिनी द्रव्य में विभिन्न लंबाइयों तथा मुटाइयों के मिसेलियमी धागे दिखते हैं, जो कभी [illegible]वशाखित भी होते हैं कभी [illegible] झिल्लियों से अलग भी। गोल, वर्गाकार, अंडाकार या अनियमित आकृति के स्पोर [illegible] के [illegible] में—संधित स्पोर—या अलग-अलग बिखरे हुए) अक्सर दिखाई देते हैं। प्रयोगशाला के प्रतिवेदन में (जैसे: 'परीक्षणाधीन पपड़ी में एक कवकी के मिसेलियमी धागे और स्पोर पाये गये [illegible] यह पता चल जाता है कि रोग कवकी प्रकृति का है; पर रोग किस जाति के कवकों से हुआ है यह अज्ञात ही रहता है। त्री. एंडोथ्रिक्स से संदूषित केश-डंठलों (यूथ, काले बिंदुओं) के परीक्षण में वे गोल या वर्गाकार स्पोरों की समांतर लरियों से पूरी तरह भरे हुए दिखते हैं केश-डंठलों की सीमारेखाएं सुस्पष्ट होती हैं और स्पोरों की लरियों को इनकी किनारी पर ढूंढना चाहिये। इस तरह का चित्र दो प्रकार के कवकों के कल्चरों से उत्पन्न हो सकता है: त्री. विओलासेउम और त्री. तोंजूरांस से। तात्पिक रूप से यह शिरोवल्क का सतही या चिरकालिक लोमतृणत्व हो सकता है। त्री. एक्टोथ्रिक्स से पैठन होने पर केश-डंठल की सतह स्पोरों की समांतर लरियों से अच्छादित होती है। कुछ स्थितियों में स्पोर मिक्रोस्पोरुम के स्पोरों जैसे छोटे होते हैं; उदाहरणार्थ, त्री. एक्टोथ्रिक्स मिक्रोइडों के (त्री. जिप्सेउम के कल्चर)। अन्य स्थितियों में वे त्री. एंडोथ्रिक्स के स्पोरों जैसे बड़े-बड़े होते हैं; उदाहरणार्थ—त्री. एक्टोथ्रिक्स मेगास्पोरोन के (त्री. वेरूकोज़ुम या फावीफोर्मे के कल्चरों में)। मिक्रोस्पोरुम कवकों से संदूषित बाल सूक्ष्मदर्शक से देखने पर स्पोर बेतरतीब ढंग से बिखरे हुए लगते हैं, वे त्रीखोफीतोन कवकों के स्पोरों की तरह लरियों में नहीं होते। जब ढक्कन वाले काँच से उन्हें स्लाइड पर दबाया जाता है, तो वे बाल से 'फिसल कर' उसके दोनों तरफ ग्रुपों में बँट जाते हैं। केश-डंठल के अंदर पट-विभाजित मिसेलियम-धागों की एक छोटी-सी मात्रा फैली होती है और स्पोरों के नन्हे-नन्हे गुच्छे दिखते हैं।

त्री. शेनलाइनी बाल के अंदर (सूक्ष्मदर्शी से देखने पर) एक विशिष्ट नक्काशी बनाते हैं।

ये कवक एंडोथ्रिक्स (अंतर्लोमिक) हैं, अर्थात् केश-इंठल के अंदर स्थित होते हैं। केश-इंठल की पूरी मुटाई इनसे ग्रस्त नहीं होती; स्वस्थ और रुग्न हिस्से बारी-बारी से आते हैं। यही कारण है कि मोमिता में बाल टूटते नहीं हैं। भिन्न लंबाइयों और मुटाइयों के मिसेलियमी धागे एक-दूसरे से भिन्न दूरियों पर पर्दों (झिल्लियों) द्वारा विभाजित रहते हैं। स्पोरों के रूप और आकार भिन्न होते हैं—गोल, बहुभुजाकार, बड़े, छोटे (इसे कवकी अवयव की बहुरूपता कहते हैं)।

प्रसाधन में वसा और हवा की बहुत बड़ी मात्राओं पर भी ध्यान दिया जाता है, यद्यपि ये अन्य कवकों से संदूषण की स्थिति में भी पायी जाती हैं।

लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता की चिकित्सा

सूक्ष्म चर्म की असंपृक्त आकृतियों की (सतही लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता, मोमिता में) चिकित्सा सिर्फ बाह्य दवाओं से ही हो जा सकती हैं: 2-5 प्रतिशतीय टिंचर आयडीन सुबह लगाया जाता है और 10 प्रतिशत सल्फर व 3 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल से युक्त मलहम, या 10-15 प्रतिशत सल्फर-टार से युक्त मलहम—शाम को। चिकित्सा दो से तीन सप्ताह तक चलती है, जिसके बाद त्वचा पर 2 प्रतिशतीय टिंचर आयडीन तीन या चार सप्ताह तक लेपा जाता है।

शिरोवल्क के सतही या चिरकालिक लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता में चिकने चर्म पर बहुसंख्य या एकल अधिकेंद्र होने पर (लेकिन कोमल रोगों के भी ग्रस्त होने पर) प्रतिजीवक ग्रीजेओफुल्विन बहुत लाभदायक दवा है। यह 125 ग्राम की टिकियों में मिलता है (बहुत ही विसरित प्रसाधन के रूप में); यह अल्प [illegible] है और आँतों में सरलता से अपचोषित हो जाता है। यह रक्त और ऊतकों को अच्छी तरह [illegible] कर अधिचर्म, लोमों (बालों) और नखों की शृंगी परतों में संचित हो जाता है। यह [illegible] mg की दैनिक खुराकों में प्रलिखित किया जाता है। दैनिक खुराक को तीन भागों में बाँट कर खाने के समय दिया जाता है। दवा को एक मध्यम (चाय की) चम्मच वनस्पति तेल या मछली के तेल से सींच कर ग्रहण किया जाता है, जिससे वह आँत में और भी अच्छी तरह अपचोषित होती है। ग्रीजेओफुल्विन तबतक नित्य दिया जाता है, जबतक कवकों के दो लगातार परीक्षणों के परिणाम ऋणात्मक न मिल जायें। इसके बाद एक दिन बीच दे कर दिया जाता है, जबतक कि तीन परीक्षणों के (दो-दो, तीन-तीन दिनों के अंतराल पर) परिणाम ऋणात्मक न मिलें। इसके बाद यह दवा सप्ताह में दो बार दो सप्ताह तक ली जाती है।

ग्रीजेओफुल्विन वयस्कों की अपेक्षा बच्चों में अधिक अक्सर अवांछनीय प्रभाव उत्पन्न करता है। ये प्रभाव हैं: परोर्जिक स्फोट (सूक्ष्मपिटकीय दाने, चित्ती और पित्ती), सरदर्द, हृदय और पेट में दर्द, मतली, सर चकराना, कब्ज, रक्त में परिवर्तन (ल्युकोपेनिया या ल्युकोसिटोसिस, एओजीनोफीलिया, लिंफोपेनिया), न्यूनकृत अविशिष्ट इमूनोजेनेसिस, प्रोफीरिन-विनिमय में गड़बड़ी, अविटामिनता के लक्षणों के साथ विटामिन 'बी' के विनिमय में गड़बड़ी। यदि परोर्जिक स्फोट छिट-पुट हैं और खुजली हल्की है, तो प्रतिजीवक देना जारी रखते हैं और अवसंवेदक और प्रतिहिस्टामीनिक प्रसाधन (कैल्सियम ग्लुकोनाट, सुप्रास्टिन आदि) दिये जाते हैं। विपुल परोर्जिक स्फोट और तीव्र खुजली की स्थिति में ग्रीजेओफुल्विन कुछ समय तक के लिये रोक दिया जाता है और अवसंवेदक चिकित्सा दी जाती है। परोर्जिक दानों के दूर होते ही ग्रीजेओफुल्विन पुनः देना शुरू किया जाता है, लेकिन प्रथम कुछ दिनों तक आधी खुराक ही दी जाती है। यदि स्फोट पुनः उत्पन्न हो जाते हैं, तो ग्रीजेओफुल्विन पुनः रोक दिया जाता है और दुबारा शुरू नहीं किया

जाता। सरदर्द, सर में चक्कर, हृदय और पेट में दर्द कभी-कभी दो-तीन दिनों तक ही प्रतिजीवक नहीं देने से ठीक हो जाते हैं; इसके बाद रोगी इसके प्रति पर्याप्त सहनशील हो जाता है। बी-कंप्लेक्स के पोलीविटामिन दिये जाते हैं, जिससे अविटामिनता की रोकथाम होती है। ग्रीजेओफुल्विन मिक्रोस्पोरता की अपेक्षा लोमतृणत्व और मोमिता में अधिक कारगर है।

ग्रीजेओफुल्विन रक्त, यकृत, गुर्दों के रोगों, पोरफीरिन रोग और दुर्दम नौवर्ध में प्रतिसंकेतित है।

ग्रीजेओफुल्विन-चिकित्सा के साथ-साथ बाह्य थेरापी भी दी जाती है। शिरोवल्क की क्षतियों पर सुबह 2 प्रतिशतीय टिंचर आयडीन लेपते हैं और शाम को 10-15 सल्फर-टार से युक्त मलहम या विल्किंसन का मलहम लगाते हैं (सात से दस दिनों में एक बार बालों को मुड़ दिया जाता है, ताकि जीवनक्षम स्पोर दूर किये जा सकें)। बाल सप्ताह में दो या तीन बार धोये भी जा सकते हैं। चिकने चर्म पर बहुसंख्य अधिकेंद्र होने पर भी इसी तरह की बाह्य थेरापी दी जाती है। कोमल रोमों (लोमों) के ग्रस्त होने पर आरियेविच का निशल्की मलहम (सैलीसीलिक अम्ल 12g, लैक्टिक अम्ल 6g, पेट्रोलियम जेली 82g), या कोलोडियम फिल्म (झिल्ली) (सैलीसीलिक अम्ल 10g, लैक्टिक अम्ल 10g; कोलोडियम 80ml) इसे दूर करने के लिये प्रयुक्त होता है। कोलोडियम झिल्ली कुछ दिनों के लिये प्रयुक्त होती है, इसके बाद इस पर 2-5 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल से युक्त कोई मलहम लेपते हैं। इस पर मोमी कागज और रूई की पट्टी बांधते हैं। इसके बाद झिल्ली लोमों समेत सरलतापूर्वक दूर हो जाती है। आवश्यकता पड़ने पर यह प्रक्रिया फिर दुहरायी जा सकती है और सिर्फ इसके बाद ही टिंचर आयडीन और सल्फर-टार का मलहम प्रतिदिन होता है।

ग्रस्त नखों की चिकित्सा नखों की लाल कवकता नामक अनुच्छेद में सविवरण बतायी गयी है।

जब ग्रीजेओफुल्विन प्रतिसंकेतित होता है, माथे से ग्रस्त बालों को 4 प्रतिशतीय एपीलिन प्लास्टर द्वारा दूर करते हैं। प्लास्टर का गठन निम्न है: एपीलिन 4g, आसवित जल 15ml, निर्जलीय लानोलिन 22g, मोम 5g, लेड प्लास्टर 54g। इसकी खुराक रोगी के वजन पर निर्भर करती है: 10kg वजन के लिये खुराक—2 ग्राम; 11kg के लिये 2.5g; 12kg—3g; 13-14kg—3.5g 15kg—3.5-4g; 16-17kg—4g; 18kg—4.5g; 19-25kg—5g; 26-30kg—5.5g; 31-35kg—6g; 36-40kg—7-8g; 41-50kg——9-10g; 50kg—12g। जिस क्षेत्र में प्लास्टर का लेप करना होता है, वहां बाल मुंड़ देते हैं, बाकी बालों को छोटा-छोटा काट देते हैं। एपीलिन का प्लास्टर बहुत पतली परत के रूप में लेपते हैं और उसपर चिपकदार फीते के छोटे-छोटे टुकड़े खपड़ों की तरह चिपका देते हैं।

6 वर्ष से कम के बच्चों पर प्लास्टर 15 से 18 दिनों में एक बार लगाया जाता है; बड़े बच्चों तथा वयस्कों पर यह दो बार लगाया जाता है। पट्टी 8 से 10 दिन पर बदल दी जाती है। सरलता से उद्दीपित (उत्तेजित) होने वाले तथा अशक्त बच्चों को प्लास्टर लगातार नहीं लगाया जाता। 6 साल से अधिक के बच्चों तथा वयस्कों को एपीलिन सप्ताह भर के लिये लगाया जाता है, फिर 7 दिनों का अंतराल दे कर पुनः 10 से 14 दिनों के लिये लगाया जाता है। बालों का झड़ना प्लास्टर लगाने के 12-14 वें दिन शुरू होता है और करीब 20-22 वें दिन समाप्त हो जाता है। यदि 20-25 वें दिन अधिकांश बाल नहीं झड़ जाते, तो प्लास्टर उसी खुराक में फिर से लगाया जाता है (छोटे बच्चों में दूसरी बार, बड़े बच्चों तथा वयस्कों में तीसरी बार)। निर्लोमन-प्रभाव इन स्थितियों में अक्सर चार से छे दिनों में सबसे अच्छा होता है। बालों के झड़ने

(निर्लोमन) के बाद की खल्वाटता-अवधि में चिकित्सा के लिये दवाएं लगायी जाती हैं (सुबह टिंचर आयडीन, शाम को सल्फर-सैलीसीलिक अम्ल का या सल्फर-टार का मलहम, एक-दो बार शृंगी परत उखाड़ने का कार्य)। यह सब तबतक चलता है, जबतक बाल पुनः नहीं उग आते (30 से 45 दिनों तक)।

एपीलिन प्लास्टर से अवांछनीय प्रभाव बहुत विरले होते हैं, पर हो सकते हैं: युतिकाशोथ, पलकशोथ, सरदर्द, बेचैन निद्रा, रात्रि-संत्रास, मुंहासे जैसे तथा मशिकीय स्फोट (चेहरे पर), शिरोवल्क पर मशिकीय अतिशृंगनता। यदि ये विकसित होते हैं, तो प्लास्टर हटा लिया जाता है और प्रचुर पेय, ऐस्कोर्बिक अम्ल, विटामिन B_1 और प्रतिहिस्टामीनिक दवाएं प्रलिखित की जाती हैं। नियमतः पाँच से सात दिनों में प्लास्टर फिर से लगा दिया जाता है। एपीलिन-प्लास्टर से चिकित्सा यकृत, गुर्दे, नार्विक तंत्र और अस्थि-संधियों के रोगों में प्रतिसंकेतित है। बच्चों की इससे चिकित्सा सिर्फ आवासीय चिकित्सालय की परिस्थितियों में की जाती है (12 महीने से कम के पयोपा बच्चों पर इसका प्रयोग किया ही नहीं जाता)। प्लास्टर लगाने से पहले रक्त व मूत्र का परीक्षण करा लिया जाता है और प्रयोग-काल में हर दस दिन पर दुहराया जाता है।

यदि ग्रीजेओफुल्विन और एपीलिन-प्लास्टर सुलभ नहीं होते या प्रतिसंकेतित होते हैं, तो माथे (शिरोवल्क) पर एक्स-किरणों की वर्षा की जा सकती है। एक्स-किरणें निर्लोमक के अतिरिक्त चिकित्सकीय प्रभाव भी डालती है: यह शरीर की प्रतिरोध-शक्ति को स्फूर्ति देता है। एक्स-किरणों से केश-लुंचन में शिरोवल्क को चार क्षेत्रों में बाँटते हैं: अग्रशिखर, दो पार्श्व और पश्च। हर क्षेत्र को अलग-अलग एक बार विकिरणित करते हैं: एक बार की (और एक क्षेत्र की) खुराक 400 से 500-550r (रेंटगेन) है (उम्र के अनुसार)। आजकल अक्सर 100-150r की खंडित खुराकों में चिकित्सा की जाती है (जबतक कि हर क्षेत्र को अपनी पूरी खुराक न मिल जाये)। बाल 14-16-वें दिन झड़ना शुरू करते हैं। गर्म (गुनगुने) पानी व साबुन से धोना और हाथ से लुंचन करना बालों को अल्पकाल में दूर करने में सहायक होता है। नये बालों का पनपना औसतन दो महीनों में शुरू हो जाता है। खल्वाटता-काल में रोग की चिकित्सा उसी तरह होती है, जैसे एपीलिन प्लास्टर से निर्लोमन के बाद।

डी-आयोडोलेइन (Iodi 37.5, Kalii jodati 25.0, Ac. oleinici 350.0, Spiriti aethylici 96% 87.5) शिरोवल्क की सूक्ष्मस्पोरता में उन बच्चों के लिये प्रलिखित किया जाता है, जिनके लिये ग्रीजेओफुल्विन, एपीलिन प्लास्टर और एक्स-किरणें प्रतिसंकेतित हैं। ग्रस्त क्षेत्रों पर इसका दिन में दो बार लेप करने से और हर सप्ताह बालों को काटने व धोने से छे से आठ सप्ताह में इसका लाभप्रद प्रभाव हो सकता है।

जब चिकित्सा पूरी हो जाती है, अधिकांशतः ग्रस्त क्षेत्रों से लिये गये बालों का सूक्ष्मस्पोरों के लिये परीक्षण सात से दस दिनों के अंतरालों पर तीन बार होता है। परीक्षण दूसरे और तीसरे महीनों में भी दुहराया जाता है। बच्चे को अन्य बच्चों के समूह में तभी जाने दिया जाता है, जब लगातार तीन परीक्षणों के परिणाम ऋणात्मक आते हैं; इसके बाद भी उसे टोपी पहना कर रखते हैं और घर में अंतिम रूप से निष्पैठन (वस्तुओं, वस्त्रों आदि का, पूरे घर का) संपन्न कर लेते हैं। प्रथम नियंत्रक परीक्षण के बाद तीन महीने तक की निगरानी के बाद माना जा सकता है कि रोगी स्वस्थ हो चुका है।

चिकने चर्म और शिरोवल्क के अंतर्स्यंदी पूयिक लोमतृणत्व की चिकित्सा भिन्न रीतियों से की जाती है, क्योंकि इसमें स्वतःस्फूर्त चिकित्सा की प्रवृत्ति होती है। तीव्र प्रवाह (गहरे रूप) में

पहले दो प्रक्रियाएं संपन्न की जाती हैं: गीली पट्टी लगाना (10 प्रतिशत इख्थामोल का घोल, 2 प्रतिशत बोरिक अम्ल का घोल, 0.1 प्रतिशत एथोक्सीडिआमीनोक्रीडीन लैक्टेट का घोल, 1 : 5000 के अनुपात में निट्रोफूराजोन का घोल, गूलार्ड का जल); और इसके बाद नन्ही चिमटी से (हाथ द्वारा) बालों का लुंचन करना। जब तीव्र लक्षण क्षीण होने लगते हैं 10-15 प्रतिशत सल्फर-टार से युक्त विल्किंसन का मलहन प्रलिखित किया जाता है। जंतुमानुषप्रेमी लोमतृणत्व के अंतर्स्यंदी व सतही रूपों की चिकित्सा शुरू से ही मलहम द्वारा की जाती है; गीली पट्टी द्वारा तैयारी नहीं करनी पड़ती। ऐसी स्थितियों में प्रक्रिया को कुछ उग्र करने की भी कोशिश की जा सकती है, क्योंकि इससे आयडीन और मलहम का थेराप्यिक प्रभाव बढ़ जाता है। इसके लिये अधिकेंद्रों को चिपकदार फीते के टुकड़ों से खपड़ों की तरह ढक देते हैं (24-48-72 घंटों के लिये), या एक्सरे से आंशिक (अंशों में) निर्लोमन करते हैं: प्रक्रिया के उग्र होने पर पूय बालों में स्थित कवकों को विघटित कर देता है; इसके अतिरिक्त पूयिक खोल से घिरा हुआ केश-डंठल सरलतापूर्वक हाथ से भी दूर हो जा सकता है)।

लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता पर नियंत्रण का निरोध.

सूक्ष्मस्पोरता (विशेषकर मि. फेरूजीनेउम द्वारा उत्पन्न) सबसे छुतहा होता है। इसकी बहुमारी बाल-प्रतिष्ठानों (बालवाड़ियों, स्कूलों, छात्रावासों आदि में) अक्सर फैलती रहती है। लोमतृणत्व दूसरे नंबर का छुतहा है। मोमिता सबसे कम छुतहा है। इन रोगों पर नियंत्रण के उपाय गाँवों और शहरों दोनों ही के वासियों के बीच करने चाहिये। सोवियत [illegible] में इन कवकताओं पर नियंत्रण विस्तृत आरोग्यशालीय रीतियों पर आधारित है, जो अब बहुमूल्य सिद्ध हो चुका है। इसमें निम्न युक्तियां अपनायी जाती हैं: (1) हर रोगी को अनिवार्यतः दर्ज किया जाता है और इसकी सूचना उच्च आयुर संस्थान को दी जाती है, जहां चार्म व रतिज रोगों की चिकित्सा होती है और बहुमारीलोचनी स्थिति का सही-सही मूल्यांकन करते हुए उसके विरुद्ध मूर्त्त उपायों की योजना बनायी जाती है। सूचना सफाई व बहुमारीलोचनी केंद्रों को भी दी जाती है, जो निष्पैठन की सही युक्तियां अपनाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर पशु-चिकित्सा सेवा केंद्रों को भी सूचना देते हैं। ये अन्तिम केंद्र सभी आवारा कुत्ते-बिल्लियों को पकड़ते हैं, चूहों को मारने के उपाय करते हैं (क्योंकि ये कृंतकों के बीच जंतुमारी फैलाते हैं) और घरेलू सेगी जंतुओं की चिकित्सा करते हैं। (2) बालप्रतिष्ठानों में बच्चों और वहां काम करने वालों का नियमित रूप से परीक्षण। इसके लिये सुवाह्य संदीप्ति लैंप रखने की सलाह दी जाती है, ताकि सूक्ष्मस्पोरता से ग्रस्त व्यक्ति का बिल्कुल शुरू-शुरू में ही पता लग जाये। (3) लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता और मोमिता से ग्रस्त व्यक्तियों का पता लगते ही उन सभी की शीघ्रातिशीघ्र निःशुल्क चिकित्सा। यह सोवियत आरोग्यशालीय प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। बहुमारी के दौरान अस्थायी आवासीय अस्पताल संगठित किये जाते हैं; जहां बहुमारी फैलने का खतरा होता है, वहां स्वास्थ्य एवं आयुर-कर्मियों की विशेष टोली का अभियान संगठित किया जाता है, जो बहुमारी की रोकथाम के उपाय करते हैं। (4) पैठन के स्रोत का यथासंभव शीघ्र पता लगाना। यद्यपि जब छूत वस्तुओं के माध्यम [illegible] फैलती है, तब इसका स्रोत ज्ञात करना बहुत कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में विचार [illegible] पद में घर-घर जा कर लोगों का परीक्षण करना पड़ता है। (5) रोगी व्यक्ति के परिवार में हर व्यक्ति का परीक्षण। (6) स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रसार, विशेषकर स्कूली बच्चों और उनके अभिभावकों, बाल-प्रतिष्ठानों के सहकर्मियों के बीच। इससे लोगों के स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान में वृद्धि होती

है और वे डाक्टरी सलाह के लिये यथासमय उपस्थित हो जाते हैं। (7) सैलूनों (हजामत और केश-सज्जा की दूकानों) पर कठोर नियंत्रण और निगरानी (बालों के क्लिपों को बर्नर की लौ में निष्कीटित करना, कैंची, उस्तुरे, कंघियों को फोर्माल्डीहाइड के 3 प्रतिशतीय घोल में निष्कीटित करना)। यदि किसी व्यक्ति के चेहरे और शिरोवल्क की त्वचा पर ऐसी क्षतियां हैं, जिससे उसके कवक-रोगी होने का संदेह उठता है, तो नाई को ऐसे ग्राहक से इन्कार कर देना चाहिये, अन्यथा वह कानूनन दोषी होगा। बाल-प्रतिष्ठानों में हर बच्चे की हजामत बनाने के बाद कैंची आदि उपकरणों को सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के 2 प्रतिशतीय घोल में उबाल कर या एथिल अल्कोहल में डुबा कर लौ के ऊपर रख कर निष्पैठित किया जाता है। यदि किसी भी बच्चे के शिरोवल्क पर कवकी पैठन के लक्षण हैं, तो उसकी हजामत अंत में बनायी जाती है। ऐसे बच्चे की हजामत के बाद क्लिपर और कैंची को सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के दो प्रतिशतीय घोल में 15 मिनट तक उबाला जाता है। शिरोवल्क पर कवकता के स्पष्ट लक्षणों वाले बच्चों के साथ भी यही किया जाता है। (8) यदि किसी बाल संस्थान में किसी बच्चे को सतही लोमतृणत्व या मोमिता होती है, तो सभी बच्चों का दो बार परीक्षण किया जाता है—पिछले केस का पता चलने पर और एक सप्ताह बाद। इस अवधि में नये बच्चों को नहीं भरती किया जाता और बच्चों की हजामत वगैरह नहीं बनायी जाती। जिस ग्रुप में रोगी बच्चा मिला है, उसमें सभी के बिस्तर, चादर आदि अलग-अलग साफ करने चाहिये। यदि किसी को सूक्ष्मस्पोरता हुआ हो, तो ये ही कदम उठाये जाते हैं, लेकिन छे सप्ताह के लिये। संदीप्ति-लैंप की सहायता से सभी बच्चों का हर चार या पांच दिन पर परीक्षण करना चाहिये, क्योंकि सूक्ष्मस्पोरता बहुत छुतहा रोग है और इसका अंतर्शयन-काल अधिक लंबा होता है। (9) चर्मलोचकों और बाल-चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त थेरापिक एवं निरोधक उपायों का स्वास्थ्य एवं बहुमारीलोचनी केंद्रों और बाल चिकित्सा केंद्रों के कार्यों के बीच समन्वय स्थापित होना चाहिये। (10) रोग फैलने के स्थान पर निष्पैठन के लिये वाष्प फोर्माल्डीहाइड या वाष्प-कक्ष का उपयोग होता है; टोप यदि महंगे नहीं होते, तो उन्हें जला दिया जाता है।

कांदीदक्लेश

कांदीदक्लेश चर्म, श्लेष्मल झिल्ली, नखों और आंतर अंगों का रोग है, जो कांदीदा (Candida) वंश के खमीर-जैसे कवकों से उत्पन्न होता है।

हेतुलोचन और गदजनन. प्रकृति में कुणपतृणों के रूप में खमीर-जैसे कवक बहुत फैले हुए हैं, जो निश्चित परिस्थितियों में गदजनक बन जाते हैं। अधिकांशतः रोग कांदीदा अल्बिकांस या मोनीलिआ प्रकार के खमीरों और खमीर जैसे कवकों द्वारा होता है। इनके स्पोर नहीं होते, लेकिन मिथ्या मिसेलियम होते हैं; ये अंकुरन द्वारा प्रजनित होते हैं। खमीर जैसे कवक फलों तथा सब्जियों पर पनपते हैं (विशेषकर सड़ना शुरू करने वाले सेब और नाशपाती पर तो बहुत ही अधिक होते हैं)। फलों का उपयोग करने वाले उद्योगों में (जैसे टाफियों, मुरब्बों और जैम के उत्पादन में) फलों के द्रव्य पर खमीर बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं; तैयार माल (सीरप, [illegible]) में भी पाये जाते हैं। सामान्य परिस्थितियों में ये खमीर कुणपतृणों के रूप में जठरांत्र-मार्ग में ही उपस्थित रहते हैं। वे आदमी के स्वस्थ चर्म और श्लेष्मल झिल्ली पर भी हो सकते हैं।

कांदीदक्लेश के गदजनन को प्रोत्साहित करने वाले घटक दो प्रकार के होते हैं—बहिर्जनित और अंतर्जनित।

बहिर्जनित घटक निम्न हैं: चर्म व श्लेष्मल झिल्ली में चोटज घाव (जैसे बच्चे के चूसने से उत्पन्न क्षतियों के कारण चुचुक में खमीरों का पैठन, गलत तरह के दाँत लगाने से खमीरज मुख-शोथ और पेर्लेख, नख-सज्जा के समय लगी क्षतियों से कांदीदक्लेशिक नखशोथ और परिनखशोथ, आदि); गर्म एवं आर्द्र जलवायु वाले भौगोलिक क्षेत्रों में आर्द्रता बढ़ना; चर्म पर अम्लों व क्षारों की अभिक्रिया, जिससे चर्म का मसृणन होता है; खुद कवक की गदजनकता और विषालुता। बहिर्जनित घटक स्थूल जीवों की विशेष अवस्था में ही उनमें कांदीदक्लेश विकसित कर सकते हैं, जब स्थूल जीवों में इन खमीर जैसे कवकों के प्रति प्रवणता होती है।

अंतर्जनित घटक, जो शरीर की प्रतिरोध-शक्ति को कम कर के कांदीदक्लेश के विकास को प्रोत्साहित करते हैं, निम्न हैं: रक्त-सीरम में कवकस्तंभक (अर्थात् खमीरी उद्भिजों की जीवन-शीलता को दमित करने के) गुणों में ह्रास; अविटामिनता (विशेषकर रीबोफ्लावीन, या विटा-मिन B_2 की कमी); पनपू नर्व-क्लेशों के लक्षण (अतिस्वेदन, अंगों में रक्त-संचार की गड़बड़ियां); द्रव्य-विनिमय के रोग (मधुमेह, मेदुरता); जठरांत्र की गड़बड़ियां, जो निर्बाक्ते-रिकता व अंतस्त्रावी रोगों को संप्रेरित करती हैं (इन्हीं से मेदुरता, अव-अतिढालवत्ता और इत्सेन्को-कुशिंग का सिंद्रोम उत्पन्न होता है); उम्र (पयोपा बच्चों में लाला-निर्माण की अपर्याप्तता और लीजोजीम की सक्रियता में शरीरलोचनी प्रकृति की कमी; वृद्ध व्यक्तियों में शरीर की प्रतिरोध-शक्ति में कमी); सामान्य (सार्वदैहिक) पैठनजनित रोग (शोण-ज्वर, टाइफड, आदि); क्षयकारी रोग (यक्ष्मा, कर्कार्बु, लसकणार्बुक्लेश, दुर्दम रक्ताल्पता, श्विति)।

प्रतिजीवकों (विशेषकर विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवकों) से आंत्र-निर्बाक्तेरिता के विकास को प्रोत्साहन मिलता है जिससे तीव्र सार्वदैहिक रूप वाला कांदीदक्लेश उत्पन्न हो सकता है। इसी तरह के परिणाम मुखमार्ग से ग्रहण किये जाने वाले गर्भ-निरोधक दवाओं, कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों, कोशिकास्तंभक (इम्यूनदमनकारी) दवाओं के भी उपयोग से उत्पन्न होते हैं, जो हर्मोनिक परिवर्तन संप्रेरित करती है और शरीर की प्रतिरोधिता में कमी लाती हैं।

बहुमारीलोचन कांदीदक्लेश को संप्रेरित करने वाले उपरोक्त बहिर्जनित घटक ही ऐसे लोगों के समूह का निर्धारण करते हैं, जो अक्सर खमीरी रोगों से ग्रस्त होते रहते हैं। इस समूह में निम्न लोग आते हैं: डाक्टरों के कारखाने में अथवा टिनबंद खाद्य-सामग्रियों के उद्योग में काम करने वाले लोग, जिनके चर्म पर फलों से प्राप्त अक्सेलिक, मैलिक, साइट्रिक व लैक्टिक अम्लों, क्षारों आदि की अभिक्रिया होती रहती है, जो चर्म को क्षत करते हैं और उसका मसृणन करते हैं। सार्वजनिक स्नानगृहों, स्वीमिंग पूलों आदि में काम करने वाले तथा रेस्त्रां आदि जगहों पर बरतन धोने वाले अक्सर इस रोग से ग्रस्त हो जाते हैं, क्योंकि निरंतर अच्छे पोषक माध्यम में रहते-रहते खमीर खुद विषालुक हो जाते हैं। यह रोग घर में काम करने वाली स्त्रियों और बारटेंडरों को भी हो जाता है, क्योंकि उनके हाथ का चर्म सीरम आदि से मसृणित होता रहता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बहिर्जनित घटक विशेष श्रेणी में आने वाले लोगों के पूरे समूह में कांदीदक्लेश विकसित करने की अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं, लेकिन अंतर्जनित घटक इसके विपरीत कुछ ही लोगों में कांदीदक्लेश के विकास में सहायक होते हैं। फिर भी, प्रतिजीवकों, कोर्टिकोस्टेरोइडों व कोशिकास्तंभक दवाओं के उपयोग से अनेक आदमी इस रोग से ग्रस्त हो सकते हैं; इसमें उनके पेशे की कोई भूमिका नहीं भी हो सकती है।

वर्गीकरण. कांदीदक्लेश के तल्पिक रूप दो प्रकार के होते हैं: सतही (चर्म और श्लेष्मल झिल्ली के कांदीदक्लेश, नखशोथी और परिनखशोथी) और सार्वदैहिक (तंत्रिक; सिस्टमिक)

या अंतरंगी (आंतर अंगों का)। इसके अतिरिक्त, बच्चों के चिरकालिक सार्वदैहिक (कणार्बी) कांदीदक्लेश (जिसे कुछ डाक्टर कांदीदक्लेश के सतही एवं अंतरंगी रूप के बीच का मध्यावस्थी रोग मानते हैं), और कांदीदस (मालारूप या खमीरस) – द्वितीयक परोर्जिक स्फोटों – में भी भेद किया जाता है।

सतही कांदीदक्लेश. चार्म कांदीदक्लेश

वृहत चर्म-पुटकों का कांदीदक्लेश, या घर्षज चर्मशोथी कांदीदक्लेश, या खमीरी घर्षज चर्मशोथ. क्षतियां जांघ-जंघामूलीय पुटकों, [illegible] के बीच स्थित पुटकों (अक्सर पयोपा बच्चों में), काँख, स्त्रियों में स्तनों के नीचे के क्षेत्रों तथा मेदुर लोगों में पेट पर बनने वाले चर्म-पुटकों में उत्पन्न होती हैं। इन स्थलों पर स्पष्ट परिसीमा और हल्की आर्द्रता वाले बड़े-बड़े गाढ़े लाल रंग के अपरदित अधिकेंद्र उत्पन्न होते हैं। परिसर पर विलगनरत श्वेताभ मसृणित अधिचर्म की परिरेखाएं दिखती हैं। मुख्य अधिकेंद्र के गिर्द ऐसी ही प्रकृति वाले नन्हे अधिकेंद्रों ('संतान' अधिकेंद्रों, या उपग्रह अधिकेंद्रों) की उपस्थिति एक लंछक विशेषता है।

अंतरांगुलिक खमीरी अपरदन हाथों में एक सामान्य घटना है। यह अक्सर निम्न लोगों में पाया जाता है: टाफियों व टिनबंद खाद्य-सामग्रियों के कारखानों, फलों व सब्जियों का संसाधन करने वाले उद्योगों में काम करने वाली स्त्रियों, बारमेड, लाउंड्री में काम करने वाली स्त्रियों तथा गृह-स्त्रियों में। क्षतियां अक्सर तीसरी और चौथी उंगलियों के बीच चर्म-पुटकों में और इन उंगलियों की [illegible] सतहों पर पायी जाती हैं। यहां भूरी [illegible] मसृणित हो जाती है, हल्की-सी सूजी होती है (श्वेताभ चमकदार श्वेताभ-गुलाबी) [illegible] हो जाती है, अथवा विलगित होती है और [illegible] चमकदार लाल रंग की अपरदित [illegible] दिखती है। अपरदन की किनारियों पर श्वेताभ रंग के मसृणित अधिचर्म के टुकड़े दिखाई देते हैं। ये अपरदन चिरकारी (कुटाली) प्रकृति और पुनरावर्ती प्रवृत्ति द्वारा लंछित होते हैं। जलन और खुजली की अनुभूति होती है। खमीरी अपरदन पैरों पर विरले ही आक्रमण करते हैं, लेकिन आक्रमण होने पर अनेक (कभी-कभी लगभग सभी) अंतरांगुलिक पुटक ग्रस्त हो जाते हैं।

वृहत एवं अंतरांगुलिक चर्म-पुटकों के कांदीदक्लेश की तुलना में अल्प प्रायिकता वाले चिकने चर्म के अन्य खमीरी रोगों में लघु पुटकों की खमीरी क्षतियां उल्लेखनीय हैं; ये कानों के पीछे, नाभि, गुदद्वार, लिंगछद के क्षेत्रों में होती हैं। इनकी प्रकृति वृहत पुटकों की क्षतियों जैसी ही होती है, पर आकार में छोटी होती हैं। हथेलियों और तलवों का कांदीदी चर्मशोथ अतिशृंगनता, त्वचा की [illegible] (रेखारियों) के अतिस्पष्ट रूप और त्वचा के गंदले भूरे रंग द्वारा लंछित होता है। पयोपा बच्चों और वयस्कों का कांदीदी चर्मशोथ स्थानाबद्ध भी हो सकता है और विसरित भी; उसकी प्रकृति तलामिक शल्की भी हो सकती है और अपरदी भी। परिसर पर श्वेताभ मसृणित अधिचर्म और अन्य चर्म-क्षेत्रों पर खमीरी क्षतियों की उपस्थिति रोग की असली प्रकृति को दर्शाती है। कांदीदी एपिछदशोथ (लिंगपूग और लिंगछद का शोथ) अधिकांशतः मधुमेह के रोगियों में अथवा [illegible] में ग्रस्त स्त्री के साथ संसर्ग के फलस्वरूप होता है। यह रक्तस्फीति के स्थानाबद्ध [illegible] अपरदन लिंगछद की आंतरिक सतह के चर्म तथा लिंगपूग पर श्वेताभ अधिचर्म और [illegible] खुजली द्वारा लंछित होता है।

[illegible] कांदीदक्लेश के निदान में अधिकांशतः कोई कठिनाई नहीं होती; वह (निदान) उपरोक्त [illegible] लक्षणों की अनुपमता पर आधारित होता है और प्रयोगशालीय निदान द्वारा जाँचा जाता [illegible] वृहत पुटकों का कांदीदक्लेश वृहत पुटकों के लोमतृणत्व के साथ विभेदित किया जाता है,

जिसमें 'संतान'-अधिकेंद्र नहीं बनते (मुख्य अधिकेंद्र के गिर्द); यह जीवाणुज दिनाइ के साथ भी विभेदित होता है, जिसमें साथ-साथ सुस्पष्ट पूयिक लक्षण भी होते हैं। सामान्य घर्षज चर्मशोथ में क्षतियों की परिसीमा अपेक्षाकृत कम स्पष्ट होती है और परिसर में न तो विलगनरत अधिचर्म की पट्टियां होती हैं, न ही 'संतान'-अधिकेंद्र होते हैं। बच्चों में चर्म-पुटकों के वपास्रावी दिनाइ में मसृणन भी पाया जाता है, लेकिन रिसाव वृहत पुटकों के कांदीदक्लेश की तुलना में स्पष्टतः बहुत अधिक होता है; इसके अतिरिक्त, उसमें स्पष्ट शोफ और अधिकेंद्रों में रक्तस्फीति भी होती है। पुटकों में खर्जूक्लेश स्पष्ट अंतर्स्यंदन और परिसर में पिटकीय क्षतियों द्वारा लंछित होता है। रिट्टर (Ritter) के रोग (निशल्की चर्मशोथ) के विपरीत घर्षज चर्मशोथी कांदीदक्लेश में मोरमी बुल्ला नहीं होते, सामान्य अवस्था संतोषजनक होती है, निदान अनपच और जठरांत्र की अन्य गड़बड़ियां भी अवलोकित नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त, निशल्की चर्मशोथ की शुरुआत मुँह के गिर्द लाल धब्बों की उत्पत्ति और फिर पूरी सतह पर उनके प्रसरण से होती है। इस पृष्ठ-भूमि पर बुल्ला और मोरमी अंतर्द्रव्य वाली वस्तिकाएं बन जाती हैं। लाइनर (Leiner) के रोग (अपशल्की) चर्मारुणता की शुरुआत नितंबों पर, जांघों व निचले के बीच के व जंघामूलीय पुटकों में लाल शोफित धब्बों से होती है, जो बाद में संगम कर के पेट और पीठ पर फैल जाते हैं। प्रक्रिया कभी-कभी सार्वदैहिक भी हो जाती है: चिकने चर्म की सारी सतह और सारे पुटक ग्रस्त हो जाते हैं, जो कांदीदक्लेश में विरले ही होता है। इसके अतिरिक्त, चर्मारुणता चार से छे सप्ताह की उम्र में होती है साथ-साथ जठरांत्र की गड़बड़ियां रक्ताल्पता और ज्वर भी अवलोकित होते हैं। सीफिलिसज पिटकीय इंपेतिगो की मुख्य क्षतियां पिटिकाओं के रूप में होती हैं, पुटकों में मसृणन या द्रव्य दलिया जैसे द्रव्य का विरचन नहीं होता।

श्लेष्मल झिल्लियों का कांदीदक्लेश

खमीरी कवक कई जगहों की भी श्लेष्मल झिल्ली को ग्रस्त कर सकते हैं, जैसे मुँह, युतिका, भग (उपस्थ; बाह्य स्त्री-जननेंद्रिय), मूत्रमार्ग, मूत्राशय आदि की। नीचे बहुत आम आक्रांतियों के वर्णन दिये जा रहे हैं

मुख-श्लेष्मला का कांदीदक्लेश (छाला) अधिकांशतः बच्चों में जीवन के प्रथम सप्ताह में पाया जाता है। वयस्कों में यह कम प्रायिक है। शुरू-शुरू में गालों, जीभ, मसूढ़ों और मृदु तालू की श्लेष्मल झिल्लियों पर रक्तस्फीति की पृष्ठभूमि पर श्वेत फिल्म के दाने प्रकट होते हैं, जो चोकर के कणों की याद दिलाते हैं। वे प्रसारित होकर संगम कर जाते हैं और एक विस्तृत फिल्म बना लेते हैं, जो शुरू में तो आसानी से उधड़ जाता है, लेकिन बाद में मोटा और गंदले रंग का हो जाता है, श्लेष्मल झिल्ली के साथ दृढ़ता से जुड़ जाता है जीभ की श्लेष्मला का ग्रस्त होना खमीरी मुखशोथ की अभिव्यक्ति हो सकता है, लेकिन कभी-कभी यह स्वतंत्र रोग (खमीरी रसना-शोथ) भी हो सकता है। इस स्थिति में जीभ (रसना) के पृष्ठ पर सामान्य छाले उधड़े होते हैं या विभिन्न दिशाओं में गहरे खाँचे होते हैं है (बोरीनुमा जीभ) इस पर सफेद छाले होते हैं। गले में सूजन हो जाती जो मशिकीय गलशुंडी से मिलती-जुलती होती है। इसे कवकज (खमीरी) गलशुंडी कहते हैं। निगलने में कठिनाई नहीं होती है, और कोई शोथी या तापक्रमी प्रक्रिया (अर्थात् ज्वर) नहीं होती।

मुख के कोनों का कांदीदक्लेश (कवकज पेलेंख) और कांदीदा-प्रेरित अधरशोथ साथ-साथ भी हो सकते हैं और अलग-अलग भी। ये अक्सर विटामिन B_2 (रीबोफ्लावीन) की कमी के परि-

ग्रंथ्य में होते है। दाँतों में होठ का कटना पेर्लेख के गदजनन का कारण हो सकता है। रक्तस्फीति की पृष्ठभूमि पर भूराभ-श्वेत पपड़ी या झिल्ली से युक्त मसृणित क्षेत्र उत्पन्न होते हैं। झिल्ली हटाने पर विदार या पिन के सर जैसे अपरदन मुख के कोनों पर दिखते हैं। सिंदूरी सीमारेखा कुछ मोटी और शुष्क हो जाती है।

कांदीदी भगयोनिशोथ के निम्न लक्षण हैं: श्लेष्मल क्षेत्रों में शोफ और रक्तस्फीति, जिसकी सीमारेखा स्पष्ट सूक्ष्मशुक्तिक होती है श्वेताभ या भूराभ झिल्लियां और विशिष्ट स्राव (रिसाव), जो पावरोटी के टुकड़े सा दिखता है। तीव्र खुजली और कभी-कभी जलन की अनुभूति होती है।

निदान. श्लेष्मल झिल्ली के कांदीदक्लेश का निदान तल्पिक चित्र (भूराभ झिल्लियों की उपस्थिति और सूक्ष्मदर्शी परीक्षण के आधार पर होता है। छाले श्वेतसिलत्व, चौरस शैवाक, मुँह की सीफिलिसी पिटिकाओं, श्वेतव्रण, श्वेतव्रणीय मुखशोथ से मिलते-जुलते हो सकते हैं। प्रथम दो रोग सामान्यतः बच्चों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त चौरस शैवाक की क्षतियां चर्म के अन्य क्षेत्रों और श्लेष्मल झिल्लियों पर भी पायी जा सकती है; इसके छाले की ऊपरी परत (झिल्ली) सरलतापूर्वक नहीं हटती। सीफिलिसी पिटिकाएं स्पष्ट शोथी सीमा से घिरी होती हैं और स्पष्ट रूप से परिसीमित होती हैं; सीफिलिस के अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते हैं श्वेतव्रण में अवचिबुक लसग्रंथियां कोमल और बड़ी हो जाती हैं; यह उसका विशिष्ट लक्षण है श्वेतव्रणीय मुखशोथ में नन्हे-नन्हे अनेक अपरदन हो जाते हैं और परिसर पर चमकीली शोथी पट्टी का घेरा होता है अपरदन की तली नक्शारी जैसी होती है जिसपर मानो पीला अस्तर चढ़ा होता है।

कवकी पेर्लेख को स्वेप्तोकोकी पेर्लेख से विभेदित करना चाहिये, जो अक्सर बच्चों को होता है और एकतरफा होता है। (कवकी पेर्लेख अधिकांशतः बड़ों को होता है और यह दुतरफा होता है)। मसृणन खर्मीरी पेर्लेख का मुख्य (विशिष्ट) लक्षण है, जबकि रोग के स्वेप्तोकोकी रूप की संचक विशेषता है: इंपेटिगीकरण के साथ रिसाव

श्लेष्मल झिल्लियों की खर्मीरी मूल की आक्रांति (भौगोलिक जीभ, रोंबवत रसनाशोथ, भगयोनीशोथ) के विभेदक लक्षण निम्न है: मसृणित क्षेत्रों या श्वेताभ (या भूराभ) झिल्लियों की अनुपस्थिति, और पनीर के चूरण जैसे अवसाद की अनुपस्थिति।

नख-पुटकों और नखों का कांदीदक्लेश

नखपुटकों और नखों का कांदीदक्लेश खर्मीरी रोगों का सामान्यतम रूप है और अधिकांशतः स्त्रियों को होता है। इनके साथ-साथ अंतरांगुलिक अपरदन भी होता है। प्रक्रिया नख-पुटकों के नखपृष्ठवर्ती भाग से शुरू होती है, जो अतिरक्तित और शोफित हो जाता है, उसे दबाने पर उसके नीचे से पूय की नन्ही सी बूंद निकल आ सकती है। अधिनख-चर्मिका गायब हो जाती है। फिर पार्श्व पुटक ग्रस्त होते हैं। रोग के तीव्र चरण पर तीव्र पीड़ा होती है। शोथ कम होने पर प्रक्रिया अक्सर नख पर फैलती है: नख के पार्श्व और चंद्रक के क्षेत्र भूराभ-लाल-कत्थई हो जाते हैं। नख खुरदरा और भंगुर हो जाता है, और आरपार की धारियों से ढका रहता है (एक विशिष्ट लक्षण)। कभी-कभी नख सरलतापूर्वक विलगित हो जाता है। रोग अक्सर हाथ की ही उंगलियों में होता है और अधिकांशतः तीसरी और चौथी उंगलियों पर।

निदान. कांदीदक्लेश अन्य हेतुओं से उत्पन्न नखकवकताओं से परिनखशोथ और नखशोथ के लक्षण द्वारा तथा प्रयोगशालीय परीक्षणों द्वारा विभेदित होता है।

कांदीदस (मोनीलिड) कांदीदक्लेश में द्वितीयक परोर्जिक स्फोट है। इन्हें लेवूरिड या कवकस (कवक ऐसा) भी कहते हैं। कांदीदस शरीर के संवेदीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न उसके अत्यूर्जन के कारण प्रकट होता है। यह ललामिक शल्की अधिकेंद्रों की आकस्मिक उत्पत्ति से लंछित होता है, जो जल्द ही प्रकीर्णित हो जाते हैं; कई केसों में सार्वदैहिक संवृत्तियों द्वारा भी लंछित होते हैं, जो दिनाई जैसे चर्मतृणसों को दद्रुक प्रकृति की वास्तविक खमीरी आक्रांति से विभेदित करती हैं। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मदर्शन से खमीरों और खमीर जैसे कवकों का पता सिर्फ अंतिम केसों में लगता है, लेकिन कवकस के केस में नहीं। लेकिन तदनुरूप एंटीजनों से चर्म परीक्षण के स्पष्ट धनात्मक (सकारात्मक) परिणाम मिलते हैं। विवेकसंगत चिकित्सा से कवकस बहुत जल्द ही गायब हो जाते हैं, लेकिन अपर्याप्त चिकित्सा के कारण ये काफी लंबे समय तक रह जा सकते हैं और दिनाइ में परिणत हो जा सकते हैं।

कवकस अधिकांशतः श्लेष्मल झिल्लियों, वृहत चर्म-पुटकों और चिकने चर्म के तीव्र प्रकीर्णित कांदीदक्लेश में होते हैं। ललामिक शल्की अधिकेंद्रों से मुक्त क्षेत्रों पर कवकस विरले ही पित्ती या बुल्ला के रूप में होते हैं।

बच्चों में चिरकालिक सार्वदैहिक (कणार्बिक) कांदीदक्लेश

यह कांदीदक्लेश का एक विचित्र रूप है, जिसका सविस्तार अध्ययन छठे-सातवें दशकों में ही शुरू हो गया था। अधिकांश वर्णित केसों में रोग प्रारंभिक बाल्यावस्था में होता है और पहले बार छालों के रूप में व्यक्त होता है। बाद में सर्दी और विभिन्न पैठनजनित रोगों में प्रतिजीवकों (या उनके मेल) से चिकित्सा के फलस्वरूप रोग का सार्वदेहीकरण पाया गया। क्षतियां गालों की श्लेष्मल कठोर व मृदु तालुओं और मसूढ़ों की श्लेष्मल झिल्लियों पर होती हैं। कुटाली (चिरकारी स्थायी) पर्लेख बन जाता है। खमीरी अधरशोथ के कारण अधरस्थूलता विकसित हो जाती है। अधिकांश केसों में जीभ बोरी की तरह (झुर्रियों और खाँचों से भरी हुई) हो जाती है। चेहरे (विशेषकर नाक, गालों और ललाट के मध्य भाग), शिरोवल्क, धड़ तथा हाथ-पैर के चर्म पर अनियमित अंतर्स्यंदित और निशल्की धब्बों की उत्पत्ति, जो क्रमशः शुक्तिक परिरेखा वाले कणार्बिक अधिकेंद्रों में परिणत हो जाते हैं, एक लंछक विशेषता है। अधिकांश क्षतियां खट्ठी से ढकी होती हैं, जिसे हटाने पर पनपाव और अतिशृंगनता नजर आती है। सभी रोगी बच्चों के नख-पुटक अंतर्स्यंदित और शोफित हो जाते हैं। नख बहुत मोटे, विकृत और गंदले भूरे रंग के हो जाते हैं। चर्मिका (नख की जड़ के पास नख पर फैली हुई पतली त्वचा) सुरक्षित रहती है (वयस्कों के खमीरी परिनखशोथ के विपरीत)।

क्षतियों के अपचोषण के बाद चिकने चर्म पर कुपोषी धब्बे और शिरोवल्क पर स्थायी खल्वाटता रह जाती है।

इनमें से अधिकांश बच्चों को पुनरावर्ती क्लोमशोथ ब्रोंखीशोथ (श्वासनली में शोथ) और अतिसार होता है। एक्सरे से ब्रोंखों और कुंभियों के अप्रसामान्य गठन, जड़ के निकट क्लोमिक ऊतकों की अधिक सघन छाया का पता चलता है। तीव्र ज्वर के नियमित दौरे पड़ते हैं (38-39°C तक, जो शीघ्र ही कम हो जाया करता है)।

सार्वदैहिक कणार्बिक कांदीदक्लेश के रोगियों में खमीरी एंटीजनों के साथ संपूरक स्थिरकरण की प्रतिक्रिया तीव्र धनात्मक (4+) होती है और स्कंदन-प्रतिक्रिया उच्च तनुता (विमाप 1 : 160 से 1 : 2560) पर भी धनात्मक होती है।

आधुनिक चिकित्सा-विधियों के उपयोग के बावजूद भी रोग का प्रवाह बहुत लंबा हो जाता है और नियमित रूप से उग्र होता रहता है।

भविष्यवाणी अधिकांश स्थितियों में गंभीर (शोचनीय) होती है। बच्चे को उच्च कैलोरी का आहार देते रहने पर भी वह क्षयग्रस्त रहता है; शरीर के रक्षी बल क्षीण हो जाते हैं। इस बीच कोई अन्य सांयोगिक रोग उत्पन्न होने पर स्थिति घातक हो जा सकती है।

अंतरंगी (तंत्रिक) कांदीदक्लेश

विभिन्न रोगों की चिकित्सा में प्रतिजीवकों के विस्तृत उपयोग से आंतर अंगों को आक्रांत करने वाले कांदीदक्लेशों के प्रकीर्णि एवं मिले-जुले रूपों के केस और खमीरी सेप्सिस (सूपन) के केस दुनिया के सभी देशों में दर्ज होने लगे हैं। यह विचार रखा जा रहा है कि आंतर अंगों के (अंतरंगी) कांदीदक्लेश के गदजनन में निर्बाक्तेरिकता का बहुत महत्त्व है। यह प्रतिजीवकों द्वारा ग्राम-ऋण बासिलों और कोकियों की जीवनक्रिया के दमन द्वारा लक्षित होती है। ये बाक्तेरी स्वस्थ व्यक्तियों के शरीर में कांदीदा वंश के खमीर जैसे कवकों के शत्रु का काम करते हैं और उनके विकास को रोकते हैं। निर्बाक्तेरिकता के विकास में सबसे अधिक महत्त्व विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवकों (पेनीसिलिन, स्त्रेप्तोमीसिन, क्लोरतेत्रासिक्लीन, तेरामीसिन आदि) का है, और विशेष कर उन्हें मिला कर उपयोग करने का। प्रतिजीवक रोगी के शरीर में विटामिन का संतुलन भी बिगाड़ देते हैं (जैसे एशेरीखिया कोली, अर्थात् आँत में रहने वाले एशेरीखिया नामक बासिलों की जीवन-क्रिया को दमित कर देते हैं, जबकि वे विभिन्न विटामिनों का संश्लेषण और आपूर्ति करते हैं); फल यह होता है कि विटामिनों की कमी हो जाती है और यह स्थिति कांदीदक्लेश के विकास में अहम भूमिका निभाती है। ऐसी धारणा है कि प्रतिजीवक प्रत्यक्ष रूप से भी खमीर जैसे कवकों के विकास को प्रोत्साहित करते हैं। अंतरंगी कांदीदक्लेश के गदजनन में आजकल कोर्टिकोस्टेरोइडों और कोशिकास्तंभक प्रसाधनों की भी निश्चित भूमिका बतायी जा रही है, यद्यपि इनके कार्यों से कांदीदक्लेश कैसे उत्पन्न होता है यह पर्याप्त ढंग से अभी अध्ययन नहीं हुआ है। इस रोग के गदजनन में निश्चय ही विविध घटकों का हाथ रहता है; कुछ केसों में निर्बाक्तेरिकता मुख्य कारण होती है, तो कुछ केसों में विटामिनों की कमी।

नैदानिक चित्र और प्रवाह. अंतरंगी कांदीदक्लेश में अधिकांशतः श्वास-मार्ग, जठरांत्र-मार्ग और मूत्रजननांगों की श्लेष्मल झिल्लियां ग्रस्त होती हैं। हृत्कुंभिक एवं नार्विक तंत्रों, गुर्दों, यकृत, प्लीहा, आँखों, क्लोमों (फेफड़ों), मस्तिष्क-द्रव्य, हृत्पेशियों, रक्तकुंभियों तथा अन्य अंगों के खमीरी रोगों के भी वर्णन मिलते हैं। अंतरंगी कांदीदक्लेश के फलस्वरूप सूपन की एक अवस्था उत्पन्न हो सकती है; इसमें पहले आंतर अंग में क्षति उत्पन्न होना कोई जरूरी नहीं है। आंतर अंगों की आक्रांति नियमतः ऐसे व्यक्तियों में पायी जाती है, जो तीव्र चिरकालिक पैठन अथवा गंभीर अवाय रोगों से ग्रस्त हो कर दुर्बल और कृशकाय हो जाते हैं, और जब उनकी चिकित्सा प्रतिजीवकों, कोर्टिकोस्टेरोइडों या कोशिका-स्तंभक प्रसाधनों से की जाती है। अंतरंगी कांदीदक्लेश के कोई विशिष्ट नैदानिक लक्षण शायद ही हों। आंतर अंग की खमीरज क्षति की शंका निम्न स्थितियों में करनी चाहिये: जब कोई रोग (क्लोमशोथ, बड़ी व छोटी आँतों का शोथ, हृत्पेशीशोथ, आदि) प्रलंबित (विलंबित) एवं सुप्त प्रवाह ग्रहण कर चुका हो, साथ-साथ अवज्वर (अवज्वर का तापक्रम 37-38°C) हो, सामान्य चिकित्सा-विधियों से कोई लाभ न हो और प्रतिजीवक लेने से दशा बिगड़ने लगे। आंतर अंगों की आक्रांति के साथ-साथ दृश्य श्लेष्मल झिल्लियों (विशेष-

कर मुँह में), नख-पुटकों और नखों में भी खमीरी क्षतियां होती है, अतः ये अंतरंगी कांदीदक्लेश होने का संदेह करने में सहायक हो सकती हैं। चर्म के विभिन्न क्षेत्र इससे विरले ही ग्रस्त होते हैं। अंतिम निर्णय प्रयोगशालीय खोजों पर ही आधारित की जाती है।

कांदीदक्लेश का प्रयोगशालीय निदान

इसमें अधिकांशतः नैसर्गिक प्रसाधनों का सूक्ष्मदर्शन ही प्रयुक्त होता है। आंतर अंगों के ग्रस्त होने पर थूक, मल, मूत्र-अवसाद के अभिरंजित नमूनों का सूक्ष्मदर्शन, सीरमलोचनी परीक्षण और चर्म का परोर्जिक परीक्षण भी किया जाता है। कल्चरल निदान तभी किया जाता है, जब खमीरज सूपन अथवा मेरुरज्जू या मस्तिष्क की आक्रांति की शंका होती है; इसके लिये अपकेंद्रित रक्त या प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव किसी पोषक माध्यम में आरोपित किया जाता है। प्रक्रिया की प्रकृति और स्थान के अनुसार चर्म के शल्कों, श्लेष्मल झिल्लियों व नखों की खुरचनों, पूय, थूक व मल में उपस्थित श्लेष्मल थक्कों और मूत्र-अवसाद का कांदीदा कवकों के लिये सूक्ष्मदर्शी परीक्षण किया जाता है। नैसर्गिक प्रसाधनों के परीक्षण में गदलोचनी द्रव्य को काँच के एक पट्टे (स्लाइड) पर रख कर उस पर 10 प्रतिशत सांद्र क्षारीय (KOH या NaOH) घोल ढाला जाता है और तब एक अन्य स्लाइड से ढक कर सूक्ष्मदर्शक से पहले कम, फिर अधिक अभिवर्धन के साथ परीक्षण किया जाता है। मिसेलियम के महीन धागे (जो छालों में विशेष प्रचुर होते हैं) और खमीर की कोशिकाएं (विशेषकर अंकुरन, अर्थात् विभाजन के चरण पर) दिखाई देती हैं। मातृ (बड़ी) कोशिकाओं के निकट कई छोटी संतान कोशिकाएं पायी जाती है। खमीर की अंकुरनरत कोशिकाएं अंगूर के गुच्छों जैसी दिख सकती हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जब खमीर कुणपतृण के रूप में होता है तब प्रसाधन में इक्की-दुक्की खमीरी कोशिकाएं ही नजर आती हैं, वह भी हमेशा नहीं, लेकिन कांदीदक्लेश होने पर खमीरी कोशिकाएं और मिसेलियम हमेशा ही नजर आते हैं। यह बात कांदीदक्लेश के सभी रूपों में द्रव्य के परीक्षण के लिये भी सही है और आंतर अंगों के कांदीदक्लेश में तदनुरूप नमूनों (थूक, मल, मूत्र, आदि) के परीक्षण के लिये भी।

प्रसाधनों को अभिरंजित तभी किया जाता है, जब अलग-थलग (सांयोगिक) खमीर कोशिकाओं के वंश-मूल में शंका होती है। गदलोचनी द्रव्य का नन्हा लोदा काँच के स्लाइड पर नल के पानी की एक बूंद में रख देते है, फिर उसे नन्ही छोलनी (स्पैचुला) से अच्छी तरह फेंट कर काँच पर एक पतली परत के रूप में फैला देते हैं और उसे बर्नर की लौ पर स्थिर (फिक्स) करते हैं। ग्राम (Gram), ट्सील-नेल्सेन (Ziehl-Neelsen) या रोमानोव्स्की-गीम्जा के अभिरंजकों का उपयोग किया जाता है।

खमीरी एंटीजन के साथ स्कंदन-प्रतिक्रिया से कांदीदक्लेश की उपस्थिति तभी प्रमाणित होती है, जब इसके परिणाम 1 : 160 और इससे अधिक की तनुता में भी तीव्र धनात्मक होते हैं। प्रतिक्रिया की निम्न (अल्प) विमाप उन लोगों में भी प्राप्त हो सकती है, जो कांदीदक्लेश से ग्रस्त नहीं हैं, लेकिन कुणपतृणीय खमीर के वाहक हैं। अंतचर्म परोर्जिक परीक्षण के परिणामों पर सावधानीपूर्वक विचार करना चाहिये, क्योंकि ये ग्रुप-प्रकृति के हो सकते हैं और ऐसे लोगों में भी पाये जा सकते हैं, जिन्हें पहले कभी यह रोग हुआ हो।

अंतरंगी कांदीदक्लेश का निदान तल्पिक खोजों और प्रयोगशालीय परीक्षणों से प्राप्त परिणामों की तुलना के आधार पर किया जाता है।

कांदीदक्लेश की चिकित्सा

कांदीदक्लेश के कुछ रूपों (जैसे – हाथ के अंतरांगुलिक खमीरी अपरदन, 'स्नान'-चर्मशोथ, आदि) की चिकित्सा उन्हे प्रोत्साहित करने वाले घटकों (पानी से अधिचर्म के मसृणन, अम्ल, क्षार, सीरप आदि की अभिक्रिया) को दूर करने और बाह्य दवाओं के प्रयोग से ही हो जा सकती है। ऐसी सबसे लाभप्रद दवाएं हैं – अनीलीन रंजकों का 1-2 प्रतिशत सांद्र जलीय या अल्कोहलिक घोल। निम्न अनीलीन रंजकों का उपयोग हो सकता है: जेंशिआन बैंगनी (क्रिस्टल बैंगनी) या नीला मेथीलेन। घोल का नुस्खा:

Rp: Gentian violet, sen Methylenum coeruleum 0.4
Spiritus vini rectif. 40% 20.0
MDS. बाह्य प्रयोग के लिये

ग्लीसेरिन में सोडियम बोरेट के 5-10-20 प्रतिशत सांद्र घोल, कास्तेलानी के पेंट, सिल्वर नाइट्रेट के घोल का भी पेंट की तरह उपयोग हो सकता है। मैन्डीमीलिक अम्ल, सल्फर, टार, बेंजोइक अम्ल से युक्त मलहम भी प्रलिखित किये जाते हैं।

चर्म एवं दृश्य श्लेष्मल झिल्ली के प्रकीर्णित एवं प्रपक्षित रूपों में जब प्रतिकूल बाह्य व आंतरिक घटकों को यथासंभव दूर या कम किया जाता है (दे. 'कांदीदक्लेश का गदजनन') और मुखमार्ग से एंटी-खमीरी प्रतिजीवक प्रलिखित किये जाते हैं। ये निस्टाटिन और लेवोरिन हैं, जिनकी दैनिक खुराक 2000000-3000[illegible] तीन या चार भागों में बाँटी जाती है। ये 14 से 17 दिनों तक दिये जाते हैं (प्रक्रिया की प्रकृति के अनुसार)। इन प्रतिजीवकों के साथ विटामिन-चिकित्सा भी दी जाती है: बी-कॉम्प्लेक्स (बी-संकुल) के विटामिन, आस्कोर्बिक अम्ल, रूटिन; बच्चों को इनके अतिरिक्त विटामिन [illegible] (सांद्र) भी दिया जाता है। मीकोहेप्टीनुम (दैनिक खुराक 1000000-2000000U) और आंफोग्लूकामीनुम (दैनिक खुराक 450000-600000U तक) नये एंटीखमीरी प्रसाधन हैं और मुखमार्ग से दिये जाते हैं। उपरोक्त दवाओं के अतिरिक्त निम्न साधन भी बाह्य चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं: 0.5-1.0 प्रतिशतीय डेक्वालीनीउम-मलहम, 0.05-1.0 प्रतिशतीय निवोफ्रीचेनुम-मलहम, निस्टाटिन या लेवोरिन से युक्त मलहम (मलहम के एक ग्राम आधार में 3000000-5000000U प्रतिजीवक), मीकोहेप्टीनुम या आंफोटेरीसिन से युक्त मलहम। कांदीदा की टीका या कांदीदा-निस्यंद की अंतर्चर्म सूई से विशिष्ट अवसंवेदीकरण संपन्न किया जाता है।

चिरकालिक सार्वदैहिक (कणार्बिक) कांदीदक्लेश से पीड़ित बच्चे की चिकित्सा अपेक्षाकृत जटिल है। ऐसी स्थितियों में निस्टाटिन-चिकित्सा का दीर्घकालीन दौर चलाया जाता है (हर दो या तीन सप्ताह के अंतरालों पर 18 से 20 दिनों तक)। साथ-साथ अविशिष्ट उद्दीपक (रोगनिदायक) प्रसाधन, गामा ग्लोबूलिन, रक्ताधान, नैसर्गिक या शुष्क प्लाज्मा, अलोय, लोहे या फास्फोरस के प्रसाधन और विटामिन, विशेषकर बी-संकुल के, (रीबोफ्लावीन, पीरीडोक्सीन, फोलिक अम्ल) भी दिये जाते हैं। आंफोटेरीसिन B अंतर्शिरीय मार्ग से आधान कराया जाता है। [illegible]-ऊतकों के अधिकेंद्रों पर 20 प्रतिशतीय रीसोगालोल प्लास्टर प्रलिखित किया जाता है। इन अधिकेंद्र पारतापीय स्कंदन या द्रव नाइट्रोजन से नष्ट कर दिये जाते हैं। अतिशृंगन की परतों या [illegible] को हटाने के बाद एंटीखमीरी मलहम और अनीलीन रंजकों के घोल प्रयुक्त होते [illegible] को विटामिनों से समृद्ध उच्च कैलोरी का आहार देते हैं।

खमीरी (खमीरज) नखशोथ की चिकित्सा 50 प्रतिशतीय पीरोगालोल-मलहम, जिंक सल्फेट के विद्युप्रवहन और कवकमारक प्लास्टर से की जाती है।

अंतरंगी कांदीदक्लेश की चिकित्सा विशेष कठिन है। निस्टाटिन की दैनिक खुराक 6000000 से 8000000U तक बढ़ा दी जाती है। उच्च कौलोरी का आहार और विटामिन प्रलिखित किये जाते हैं। जब भी संभव हो, प्रतिजीवक और कोर्टिकोस्टेरोइड देना बंद कर दिया जाता है। मधुमेह, अनरस (जठर में पाचक रस की कमी) तथा अन्य रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। सोडियम आयोडाइड या पोटाशियम आयोडाइड (3 से 5 ग्राम नित्य), या सोडियम आयोडाइड के 10 प्रतिशतीय घोल का अंतर्शिरीय आधान – मेथामीन के 40 प्रतिशतीय घोल (2 से 10 मिलिलीटर) के आधान के संमेल में – विस्तृत रूप से प्रयुक्त होता है। छे से आठ रक्ताधान (5.0 से 10.0 मिलिलीटर), बहुसंयोजी टीका या स्वटीका की सूइयां दी जाती हैं। ड्राजे के रूप में डेक्वालीनिउम आंफोग्लूकामीनुम, मीकोहेप्टीनुम प्रलिखित किये जाते हैं। आंफोटेरीसिन B अंतर्शिरीय मार्ग से बूंद-बूंद चुआ कर दिया जाता है। फ्लास्क की अन्तर्वस्तु (आंफोटेरीसिन B का 50000U) बिल्कुल निष्कीटित परिस्थितियों में 10 मिलिमीटर आसवित जल में ठीक आधान से पहले घुलाया जाता है। फिर घोल को सिरिंज द्वारा फ्लास्क से निकाल कर दूसरे फ्लास्क में ढाला जाता है, जिसमें निष्कीटित 5 प्रतिशत सांद्र ग्लूकोज का 450 मिलिलीटर घोल होता है। खुराक 250U प्रति किलोग्राम है, पर कभी-कभी इसे 1000U प्रति किलोग्राम (शरीर का भार) कर दिया जाता है। अंतर्शिरीय मार्ग से चुआने का क्रम (अंतर्शिरीय टपकावन) सप्ताह में दो या तीन बार किया जाता है। दवा की कुल खुराक 1500000 से 2000000U तक होती है। इस दवा से चिकित्सा करने पर अवांछनीय प्रभाव और क्लिष्टताएं उत्पन्न हो सकती हैं कंपकंपी ज्वर स्थायी सरदर्द, वमन, वृक्कीय गरलता, रक्त-सीरम में पोटाशियम की कमी, रक्ताल्पता।

वृक्क यकृत व रक्त के रोग, मधुमेह और इस प्रसाधन (आंफोटेरीसिन) के प्रति व्यक्तिगत असहनशीलता इसके चिकित्सा के प्रतिसंकेत हैं।

कांदीदक्लेश का निरोध

बच्चों और बाल-संस्थान के कर्मचारियों के बीच खमीरी रोगों के (विशेषकर मुख-श्लेष्मला के) यथासमय अनुवेदन और चिकित्सा से इन समुदायों में कांदीदक्लेश (छालें, पेर्लेंखे, नवजात शिशु में खमीरी चर्मशोथ) के प्रसार की रोकथाम होती है। नवजात बच्चे में खमीरी छाले के निरोध के लिये माँ की चिकित्सा (प्रसवपूर्व, प्रसवोपरांत) हो जानी चाहिये और खमीरी क्षतियों से ग्रस्त व्यक्तियों को बच्चे की देखभाल नहीं करने देनी चाहिये। रोगी बच्चों को स्वस्थ बच्चों से अलग कर देना चाहिये। बच्चों में कांदीदक्लेश की रोकथाम में युक्तिसंगत आहार, सफाई और उनकी देखभाल की वस्तुओं, बिस्तर, वस्त्रों आदि के निर्विष्ठन का विशेष महत्त्व है। कांदीदक्लेश के विकास को संप्रेरित करने वाले बहिर्जनित एवं अंतर्जनित घटकों को याद रखना चाहिये और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। उदाहरणार्थ प्रतिजीवक और कोर्टिकोस्टेरोइड रोगी के शरीर के विटामिनों से संतृप्त होने पर ही देने चाहिये। रोगी के मुँह का सावधानी और नियमित रूप से निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि सफेद झिल्लियों का प्रकट होना अक्सर अंतरंगी कांदीदक्लेश का प्रथम लक्षण होता है।

फलों व सब्जियों के संसाधन और टिनबंद खाद्य सामग्रियों के उत्पादन में लगे लोगों के बीच

अंतरांगुलिक अपरदन के निरोध का एक उपाय है उत्पादन की प्रविधि पर नियंत्रण। ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि अधिचर्म पानी, अम्ल फलों के रस आदि से मसृणित न हो। चोट, कट-फट न लगे, इसका भी पर्याप्त इंतजाम होना चाहिये।

द्रव्य-विनिमय में गड़बड़ी वाले रोगियों में मधुमेह और मेदुरता की चिकित्सा, कमजोर रोगियों तथा तीव्र पैठन से ग्रस्त हो चुके व्यक्तियों में जठरांत्र रोगों व पनपूनर्वक्लेश की चिकित्सा और विटामिन-संतुलन की गड़बड़ी में सुधार – ये सब उपाय कांदीदक्लेश के सतही एवं तंत्रिक रूपों के निरोध में कारगर होते हैं। इन रोगियों को विटामिन (विशेषकर बी-संकुल) की सलाह दी जाती है। जिनका इलाज प्रतिजीवकों और कोर्टिकोस्टेरोइडों की भारी खुराकों से किया जाता है, उन्हें साथ-साथ निस्टाटिन थेरापी भी देनी चाहिये।

गहरी कवकता

चर्म, श्लेष्मल झिल्लियों और आंतर अंगों को ग्रस्त करने वाले कवक-रोग गहरी (तंत्रिक) कवकताओं के ग्रुप में आते हैं। ये रोग चिकित्सा के प्रत्युत्तर में प्ररक्षित एवं सुषुप्त प्रवाह ग्रहण कर लेते हैं। इनमें से कुछ रोग (अंशुकवकता, वर्णांकुरी कवकता, मृद कवकता) सोवियत संघ में अपेक्षाकृत विरल हैं, अन्य (ऊतप्लाज्माक्लेश, कोक्सीदी कवकता) बहुत ही कम पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ देशों में इन सभी रोगों की प्रायिकता पर्याप्त बड़ी है। अंशुकवकता को अब बाक्तेरी-जनित रोग माना जाता है, अतः यह मिथ्या कवकता से संबंधित है।

अंशुकवकता

यह अंशुकवकों की विभिन्न जातियों द्वारा उत्पन्न होने वाला एक पैठनजनित रोग है।

हेतुलोचन और गदजनन. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अंशुकवकों का एक बड़ा ग्रुप अब बाक्तेरी के रूप में जाने जा रहे हैं, और खुद यह रोग मिथ्या कवकता माना जा रहा है। अंशुकवक दो प्रकार के हैं: वातजीवी (जो अधिकांशतः मिट्टी, हवा, पानी और अनाज की फसलों पर पाये जाते हैं) और निर्वातजीवी (जो अक्सर आदमियों और जंतुओं की श्लेष्मल झिल्लियों पर कुणपतृण के रूप में पाये जाते हैं। आदमी के लिये दोनों ही प्रकार के अंशुकवक गदजनक सिद्ध हो सकते हैं, फिर भी निर्वातजीवी अंशुकवक – आक्तीनोमीसेस इजराएली और आक्तीनोमीसेस बोविस – ही अधिकांशतः रोगों के लिये जिम्मेवार होते हैं।

आदमी के मुख-कोटर तथा आँत में कुणपतृण के रूप में रहने वाले अंशुकवक स्वारोपण के सहारे तेजी से विकसित कर सकते हैं: यह प्रक्रिया शरीर के रक्षी इमूनलोचनी गुणों के क्षीण होने तथा खुद कवकों की गदजनकता और विषालुता में सक्रियता आने से प्रोत्साहित होती है। अन्य स्थितियों में प्रकृति में प्रकीर्णित अंशुकवक आदमी के शरीर में मुँह, श्वास-मार्ग और आंत्र-श्लेष्मला से हो कर प्रवेश कर जाते हैं। निमित्त कारण (कवक) क्षत चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों से होकर भी संक्रमण कर सकते हैं, जब घाव धूल-मिट्टी, पौधों के कणों आदि से संदूषित होता है।

फिर भी चर्म में बहिर्जनित पैठन कम ही होता है। चर्म पर रोग-प्रक्रिया अक्सर द्वितीयक प्रकृति की होती है, वह गहराई में स्थित ऊतकों और अंगों से स्वयं सतत प्रसारण द्वारा या अपवहन द्वारा चर्म तक पहुँचती है।

नैदानिक चित्र. अंतर्शयन-काल अज्ञात है। सुतेयेव (उदाहरण के लिये) मानते हैं कि यह दो से तीन सप्ताह तक हो सकता है। काश्किन के अनुसार यह प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे चल सकती

है, क्षति (चोटजनित) के दो या तीन साल बाद भी गदलोचनी परिवर्तन प्रकट हो सकते है।

चेहरे और गरदन की अंशुकवकता अधिकतम प्रायिक है, वक्ष (क्लोमों की आक्रांति में) और पेट की (यकृत, प्लीहा, वृक्कों और आँत के गादिक परिवर्तनों में) क्षतियां विरल हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, चर्म की प्राथमिक क्षति बहुत विरल है। चर्म में रोग-प्रक्रिया अक्सर द्वितीयक प्रकृति की होती है, वह उदरीय एवं वक्षीय कोटरों में, मुँह तथा नाक में (क्षरणग्रस्त दाँतों, तुंडिका, परानासीय कोटरों में) उपस्थित अधिकेंद्रों से पैठन के प्रसार के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

चार्म अंशुकवकता के तीन रूप हैं: रालार्ब-पर्विकीय, गंठिक-पीपिकीय और व्रणीय।

चार्म अंशुकवकता सामान्यतः रालार्बिक क्षतियों के ही रूप में व्यक्त होता है। अवचार्म कठीले अंतर्स्यंदित धब्बे और खाँचों द्वारा फाँकों में बँटी नीले-भूरे रंग की गुल्म जैसी पर्विकीय क्षतियां विकसित होती हैं। क्षतियां कहीं-कहीं मुलायम हो जाती हैं और वहां नासूर बन जाते हैं। नासूरों से भूरा-पीला पूयिक चूरन जैसा बदबूदार द्रव्य निकलता है, जिसमें नन्हे गोल कण होते हैं (ड्रूजेन, अंशुकवकों की जमातें)। विध्वंसक प्रक्रिया गहराई में स्थित ऊतकों को अपनी चपेट में ले लेती है, जिसके फलस्वरूप व्रण बनते हैं। व्रणों की किनारियां सुरंगित होती हैं और तली कणीकरण और पिटिकार्बिक प्रवर्धों से आच्छादित होती है।

अंशुकवकता का व्रणीय रूप विरल है और वृहत पर्विकाओं के अपघटन से उत्पन्न होता है। व्रणों की किनारी मुलायम, श्लथ और सुरंगित होती है। तली पनपाव, विमृतिक द्रव्य व प्रचुर पूयिक स्राव से ढका रहता है, जिसमें पीताभ कणों के रूप में ड्रूजेन भरे रहते हैं। ठीक होने पर व्रण सेतु की आकृति का दाग छोड़ जाता है, जो निम्नस्थ ऊतकों से चिपका रहता है।

अंशुकवकता का गंठिक-पीपिकीय रूप गंठिकाओं द्वारा लक्षित होता है, जो तेजी से विमृत और व्रणित हो जाते हैं। गंठिकाओं के संलयन के कारण अंतर्स्यंदित सतहें बनती हैं, जो काठ की तरह कड़ी (कठीली) होती हैं; उनपर नासूर बन जाते हैं, जिनसे प्रचुर पूयस्राव होता है और कभी-कभी व्रण बन जाते हैं।

स्त्रियों में अंशुकवकता की प्रायिकता पुरूषों से आधी होती है। इसका छुतहापन उपेक्ष्य है। रोगी से स्वस्थ व्यक्ति में इस रोग के संक्रमण की अभी तक कोई विश्वसनीय सूचना नहीं मिली है।

ऊतलोचनी चित्र विद्रधिक विरचना के अधिकेंद्रों से युक्त कणीकृत ऊतकों से लक्षित होता है; विद्रधिक विरचना में अंशुकवक होते हैं।

विभेदक निदान कंठमालचर्मता, वृका-गंठिकाक्लेश (कम गहराई और व्रणों का कड़ापन), रालार्बिक सीफिलीदों, दुर्दम गुल्मों और अन्य गहरी कवकताओं के साथ किया जाता है।

निदान में लंछक कठीले अंतर्स्यंदन, नासूर और व्रण महत्त्वपूर्ण हैं। पूय-स्राव के सूक्ष्मदर्शन से अंशुकवकों के ड्रूजेनों का (महीन धागों के मुग्दर जैसे मोटे गुच्छों का, जिनके चारों तरफ किरणों की तरह धागे निकले रहते हैं) अनुवेदन और जीवदर्शनीय ऊतकों का ऊतलोचनी परीक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। आक्तीनोलीजात (शब्दशः अंशुलयकारी या अंशु-विलायक) द्रव्य से सीरमलोचनी परीक्षण और चर्म का परोर्जिक परीक्षण भी किया जाता है।

चिकित्सा. अंशु-विलायकों (गदजनक वातजीवी अंशुकवक के एक समुदाय के अंतर्स्यंद) और प्रतिजीवकों से सम्मिलित चिकित्सा से उत्तम परिणाम मिलते हैं। अंशुविलायक द्रव्य अवचार्म या अंतर्पेशीय सूई से दिया जाता है; 3-4 मिलिलीटर सप्ताह में दो बार सूई से दिया जाता है;

कुल सूइयों की संख्या 15 से 20 तक होती है। चिकित्सा एक या दो महीने के अंतराल पर दो से पाँच बार तक दुहराई जाती है। अंतर्चर्म सूई भी दी जा सकती है; पहली बार 0.05-0.1 मिलिमीटर की मात्रा दी जाती है, फिर हर सूई में मात्रा 0.1-0.2 मिलिमीटर तक बढ़ाई जाती है। सूइयों के बीच अंतराल स्थानीय, सामान्य और अधिकेंद्रीय प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होती है (प्रतिक्रिया अक्सर दो से चार दिन तक चलती है)। पेनीसिलिन के सूइयों की दैनिक खुराक 1000000-1500000 U है (कुल खुराक 25000000-30000000 U है)। यदि कोई प्रभाव नहीं होता, तो स्ट्रेप्टोमीसिन, एरीथ्रोमीसिन, मोर्फोसिक्लीन आदि प्रलिखित किये जाते हैं। तीव्र केसों में समान ग्रुप के रक्त के आधान (100-150 मिलिलीटर, सप्ताह में एक बार), आयडीन-प्रसाधनों की दवा, प्रोटीन से समृद्ध आहार और सामान्य स्फूर्तिदायक चिकित्सा की करोर्जिक विधियों और एक्सरे-थेरापी का महत्त्व अभी कम नहीं हुआ है।

भविष्यवाणी पर्याप्त अनुकूल होती है, यदि प्रक्रिया की उपेक्षा नहीं की जाती। सार्वदैहिक और विशेषकर अंतरंगी रूपों में यह गंभीर (शोचनीय) हो जाती है।

निरोध के रूप में मुख-कोटर की सभी बीमारियों की चिकित्सा करनी चाहिये और छोटी-मोटी चोटजनित क्षतियों की भी देखभाल करनी चाहिये; विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में।

गहरी अंकुरकवकता

जिलक्राइस्ट (Gilchrist) का रोग (पर्याय उत्तरी अमरीकी अंकुरकवकता) एक असंसर्गज (अ-छुतहा) चिरकालिक रोग है, जो ब्लास्टोमीसेस डेर्माटीटीडिस नामक कवकों के पैठन से होता है। इससे अधिकांशतः चर्म, क्लोम और अस्थियाँ और साथ ही यकृत, प्लीहा और वृक्क भी ग्रस्त होते हैं। पैठन चर्म से या श्वास-मार्ग से होता है। रोग दो रूपों में व्यक्त होता है: प्राथमिक चार्म और तंत्रिक (अंतरंगी)।

प्राथमिक चार्म आक्रांतियां चेहरे, हाथ-पैर और नितंबों पर लाल पिटिकीय स्फोटों के रूप में होती हैं। पिटिकाएं घुल जाती हैं और उनकी सतहों पर पीपिकाएं बनती हैं, जो पूयिक खट्ठियों से ढक जाती हैं और व्रणित होती है। वे धीरे-धीरे वर्धित हो कर बड़े-बड़े व्रणित धब्बे बना लेती हैं और कणीकृत मसानुमा प्रवर्ध से आच्छादित हो जाती हैं; मध्य में दागी स्थल रहता है। क्षतियां लंछक अधिकेंद्रीय वर्जरिक पीपिकाओं से युक्त होती हैं और उनकी किनारियां विसर्पी एवं नीली-लाल होती हैं।

चर्म अभिव्यक्तियां द्वितीयक प्रकृति की हो सकती हैं, क्योंकि अधिकांशतः वे रोगी आंतर अंगों से प्रकीर्णन द्वारा उत्पन्न होती हैं। ये वृहत अवचर्म या अंतर्चर्म पर्वों के रूप में होती हैं, जो व्रणित हो सकते हैं, नासूर और विस्तृत व्रण बना सकते हैं; इनके बाद आकुंचित (ऐंठे हुए) क्षतांक रह जाते हैं।

ऊतलोचनी परीक्षण से सुचर्म में बहुरूपी कवकमय अंतर्स्यंदन और नन्हीं अंतर्चार्म विद्रधियों का पता लगता है। पूय, मूत्र और ऊतक के लिये गये टुकड़ों में ब्लास्टोमीसेस डेर्माटीटीड खमीरों की अनेकानेक कोशिकाएं पायी जाती हैं। ये 8-15 मिक्रोमीटर या इससे बड़े व्यास वाली होती हैं; इनकी दीवारें दुहरी परिरेखाएं रखती हैं और प्रकाश को अपवर्तित करती हैं।

रोग को निम्न रोगों से विभेदित करना चाहिये सीफिलिसी रालार्ब (जिसमें सघन प्रत्यास्थ शोफित किनारियों वाले नियमित-गोल व्रण होते हैं), लेइशमैनता, मसेदार गंठिकाक्लेश, पनपू चिरकालिक चर्मपूयता और अन्य गहरी कवकताओं से।

सूक्ष्मदर्शन और कल्चरल परीक्षण के अतिरिक्त अंकुरकवक की टीका से चर्म-परीक्षण और संपूरक स्थिरण-जाँच भी महत्त्वपूर्ण हैं। स्कंदन-जाँच के परिणाम इस रोग के लिये कम विशिष्ट होते हैं।

बुस्से-बुश्के (Busse-Bushke) का रोग (पर्याय: गहरी पूयिक अंकुरकवकता, यूरोपीय अंकुर-कवकता, आस्कोकवकता, तोरूलोसिस). यह सुप्त प्रवाह वाला तंत्रीय कवक-रोग है और अधिकांशतः छादिकाओं को ग्रस्त करता है। निम्न अंगों की आक्रांति के भी वर्णन मिलते हैं: क्लोमों, प्लीहा, यकृत, वृक्क, चर्म, अवचार्म वसा और श्लेष्मल झिल्लियों के। रोग क्रिप्टोकोकस नेओ-फोर्मांस (साखारोमीसेस नेओफोर्मांस) नामक कवक से होता है।

चर्म पर क्षतियां बहुत विरले होती हैं। वे बहुसंख्य मुँहासे जैसी पिटिकाओं और अवचार्म रालार्बिक पर्वों के रूप में होती हैं; पर्व संलीन हो कर अंतर्म्यदित सतहें और अवचार्म विद्रधियां बनाते है। व्रणन-केंद्र क्रेटर जैसे कणीकरणरत व्रण बनाते हैं, जो सीरमिन हल्का अंतर्म्यदित और सुरंगित किनारियों द्वारा लंछित होते हैं। व्रणों की तली लस्त कणीकरण और श्लेष्मल-पूयिक स्राव से आच्छादित होती है, जो सूख कर मोटी खट्टियां बनाता है। व्रणों की जगह आकुंचित दाग बन जाते हैं। विरल स्थितियों में हथेलियों और तलवों की अतिशृंगनन और नखशोथ भी पाया जाता है। क्लोमों, अस्थियों, लसपर्वों और अस्थि-मज्जा तक अपवहन बहुत प्रायिक है। नर्वतंत्र की आक्रांति (छादिकाशोथ, छादिका-मस्तिष्क शोथ)', क्लोमशोथ और नृपन से मृत्यु भी हो सकती है।

ऊतलोचनी परीक्षण से मृचर्म की पनीर जैसी विमृति ज्ञात होती है, जो प्रतिकारी शोथी बहुलन और कणकृत ऊतक के नए क्षेत्र से घिरी होती है।

रूपलोचनी दृष्टि से यूरोपीय अंकुरकवकता और ब्लास्टोमीसेस डेर्माटीटीड्स में भेद करना कठिन है, यद्यपि इनके से प्रथम रोग के कारक कवकों के कल्चर से मिसेलियम नहीं बनते। सीरमलोचनी प्रतिक्रिया (स्कंदन अवक्षेपण, संपूरक स्थिरण) और क्रिप्टोकोकोसिस के प्रति परोर्जन की जाँच का कोई स्वतंत्र निदानिक महत्त्व नहीं होता।

निदान. गहरी अंकुरकवकता का निदान ऊतलोचनी रूप से अधिकेंद्रों में कवकांगों के अनुवेदन, कवकी कल्चर के पृथक्करण, और रोग के तदनुरूप तल्पिक चित्र पर आधारित होता है। सीरमलोचनी प्रतिक्रिया और चर्म-परीक्षण का सहायक महत्त्व होता है। ज्वर और हड्डियों तथा पेशियों में दर्द से बुस्से-बुश्के के रोग जैसी गहरी अंकुरकवकता के निदान में सहायता मिल सकती है।

बुस्से-बुश्के के रोग की अभिव्यक्तियां सबसे पहले रालार्बिक सीफिलिडों से की जाती है। अंतिम के विपरीत इसमें गहरे व्रण होते हैं, जिनकी किनारियां मुलायम, नीली-भूरी, दाँतेदार और सुरंगित होती हैं; व्रणों की तली कणीकृत और रक्तस्रावी होती है।

विभेदक निदान अक्सर पनपू चिरकालिक चर्मपूयता के साथ करना पड़ता है, जिसका तल्पिक चित्र गहरी अंकुरकवकता से बहुत मिलता-जुलता होता है। ऐसी स्थितियों में कभी-कभी आयडीन के प्रसाधन प्रतिखित किये जाते हैं: इनसे चर्मपूयिक प्रक्रिया उग्र हो जाती है, पर गहरी अंकुरकवकता पर लाभदायक प्रभाव पड़ता है। अमरीकी अंकुरकवकता के विपरीत मसेदार गंठिक्लेश में अधिकेंद्र बहुसंख्य नहीं होते, विशेषकर रोग के आरंभ में; यह चेहरे पर विरले ही स्थानाबद्ध होता है, इसके अतिरिक्त, पनपाव अधिक सघन होता है तथा क्षति के परिसर में लंछक गहरी बैंगनी सीमारेखा होती है। स्पोरतृणत्व के निम्न विशिष्ट लक्षण हैं: आक्रांति-केंद्रों की बहुलता, अक्सर हाथ (पूरे) की लसकुंभियों के सहारे-सहारे स्थानाबद्धता, दाग बनने की कम प्रवृत्ति, बनते भी हैं, तो उनकी आकृति अनियमित होती है, परिसर दाँतेदार और वर्णकित होता है।

सीफिलिमी रालार्द से इसका भेद करने में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि अंतिम में अंतर्वेद गहरे होते हैं, इसके कि तली और किनारियां अधिक दृढ़ होती हैं, उनमें विमृतिक रालार्बिक शोथ होता है, [illegible] अकुंचित दाग बन जाते हैं, कुछ रोगियों में रक्त की वाशरमैन-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है, [illegible] पालीडुम के निश्चलकरण का परीक्षण नियमतः धनात्मक ही होता है।

चिकित्सा. गहरी अकुरकवकता की चिकित्सा निस्टाटिन से (5000000-7000000U नित्य; तीन से चार सप्ताह के लिये) या लेवोरिन से (500000U की टिकियां दिन में चार से छे बार दे कर [illegible] की जाती है। बड़ी खुराकों में आयडीन प्रसाधनों का दीर्घकालीन उपयोग सुसंकेतित है [illegible] का अंतर्शिरीय आधान भी प्रभावशाली है (ग्लूकोज के 5 प्रतिशतीय घोल में [illegible]U सप्ताह में दो या तीन बार; कुल खुराक 1500000-2000000U है)। विस्तृत स्पेक्ट्रम के प्रतिजीवक, सुल्फाडीमीडीन (4-6 ग्राम नित्य), विशिष्ट टीका-चिकित्सा, [illegible] रक्त-चिकित्सा, स्वरक्त-चिकित्सा, विटामिन, ज्वरज चिकित्सा भी प्रयुक्त होते है।

सुसंकेतित बाह्य दवाएं निम्न हैं: एनीलीन रंजकों का 1-2 प्रतिशत सांद्र जलीय या अल्कोहलिक घोल, लूगोल (Lugol) का घोल (कैल्सियम आयोडाइड के जलीय घोल में आयडीन का घोल) कास्टेलानी का पेंट, लेवोरिन-युक्त मलहम, आदि। कभी-कभी करोर्जिक चिकित्सा भी अपनानी पड़ती है।

वर्णांकुरकवकता (वर्णकवकता)

यह एक चिरकालिक गहरी कवकता है, जो अक्सर होमोदिंद्रोन पेंद्रोजोइ या फीलाफोरा वेरूकोजा नामक कवकों से होती है। ये कवक मिट्टी और [illegible] में पाये जाते हैं, और चर्म में चोटज क्षति (कट-फट, खरोंच आदि) के स्थल से शरीर में प्रविष्ट हो कर रोग संप्रेरित करते हैं। रोग अधिकांशतः ग्रामवासियों में पाया जाता है। क्षतियां अक्सर हाथ-पैर के चर्म पर उत्पन्न होती हैं। चोट के बाद औसतन चार-छे सप्ताह में चोट के स्थल पर अलग-अलग, दृढ़, हल्की खुजली वाले और हल्के से उभरी हुई मसूरिका पर्विकाएं उत्पन्न होती हैं, जिनका रंग नील-लोहित लाल होता है। कभी-कभी अंतर्शयन-काल एक साल तक लंबा भी हो सकता है। क्षतियां वर्धित होती हैं, और संगम कर के बड़े-बड़े अधिकेंद्र बना लेती हैं, जो नीली अंतर्स्यदित मेड़ों से घिरे होते हैं। अधिकेंद्र खठ्ठियों से ढके होते हैं, जिन्हें हटाने पर पनपाव और व्रणन दिखता है। रोग नियमतः सूदम प्रवाह ग्रहण कर लेता है और कई वर्षों के दौरान हाथ या पैर के पूरे चर्म को ग्रस्त कर लेता है। क्षतियों के अपचोषण के बाद वर्णकता और क्षतांक रह जाते हैं।

ऊतलोचनी चित्र की विशेषता है – बहुरूपी [illegible] अंतर्स्यद, जो लांगहांस की विशाल कोशिकाओं और उपकलावत कोशिकाओं से समृद्ध होते है।

नैदानिक निदान सरलतापूर्वक हो जाता है, लेकिन इसकी सत्यता सूक्ष्मदर्शन से गदलोचनी द्रव्य में कवकागों के अनुवेदन द्वारा अवश्य जाँची जानी चाहिये; गदलोचनी द्रव्य के रूप में क्षति की सतह से लिया गया द्रव्य व पूय प्रयुक्त होता है। साथ-साथ ऊतलोचनी परीक्षण भी करना चाहिये। कवक वर्तुल (गोलाकार) भूरे या पीले कायों के रूप में दिखते हैं, जिनपर दुहरी परिरेखा वाली झिल्ली और मिसेलियम के महीन धागे होते हैं।

चिकित्सा. वर्णांकुरकवकता के प्रारंभिक नन्हे अधिकेंद्र पारतापीय स्कंदन या करोर्जिक विधि से दूर कर लिये जाते हैं। बड़े अधिकेंद्रों को खोद कर निकालना पड़ सकता है। मुखमार्ग से दिये जाने वाले प्रसाधनों में आयोडीन के प्रसाधन और विटामिन D_2 आते है (100000-150000U का

एक दिन बीच दे कर, चार से छे सप्ताह के अंतरालों पर दो-दो महीनों का दौर तीन से छे महीने तक चलाया जाता है)। बाह्य चिकित्सा के लिये सप्ताह में एक बार अधिकेंद्र के गिर्द ग्रांफोटेरीमिन B की सूई सुसंकेतित है (इस दवा का 2-3 मिलिग्राम प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 2 प्रतिशतीय घोल की 5 मिलिलीटर मात्रा में घुला कर दिया जाता है)।

जंतुक चर्मरोग (जंतुक परजीवियों से उत्पन्न चर्मरोग)

जंतुक परजीवियों से उत्पन्न होने वाले चर्मरोगों को जंतुक (या जंतुज) चर्मरोग कहते हैं। जंतुक परजीवियों में निम्न के नाम आते हैं: जूँ (यूका), पिस्सू (पिशु), खटमल, मच्छड़ और कुटकी की कुछ जातियां (खाजकारी कुटकी, घोड़ों व चूहों की कुटकियां, दानेदार खुजलियों के निमित्त कारण, आदि)। चर्मलोचक के चिकित्सानुशीलन में महत्वपूर्ण रोग हैं—खाज और यूकार्ति (चिल्लड्रकेंज)। इनका आक्रमण रोगी व्यक्ति के साथ सीधे संपर्क से या उसकी वस्तुओं (अप्रत्यक्ष मार्ग) से होता है—विशेषकर उसके वस्त्रों और बिस्तर से।

ये रोग विशेषकर युद्ध, अकाल, बर्बादी, वृहत पैमाने पर लोगों के विस्थापन के समय फैलता है। अधिक जमघट, अनियमित स्नान, गंदे कपड़े आदि इस रोग को फैलाने में सहायक होते हैं। फिर भी 1970-74 में विश्व के अनेक देशों में खाज का जो 'विस्फोट' (आकस्मिक प्रसार) हुआ था, उस समय इसके परंपरागत सहायक घटक अनुपस्थित थे। इसीलिये यह विचार प्रस्तुत किया गया कि खाज की 'महामारी' पर परिवेशिकीय एवं सामाजिक घटकों का प्रभाव पड़ता है (विस्तृत अर्थ में) जो शायद इसके निमित्त कारणों की जीवलोचनी सक्रियता पर असर डालते हैं। इसके रोग को उन्मूलन करने, उसकी गादिकता कम करने की एंटी-बहुमारिक युक्तियों और आरोग्यशालीय विधियों के पूरे संकुल को अपनाने का महत्व बहुत बढ़ जाता है; सोवियत स्वास्थ्य सेवा में इनकी कारगरता पूरी तरह सिद्ध हो चुकी है।

सोवियत संघ में लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होने के कारण, सही स्वास्थ्यशिक्षा और आयुरी सेवा के निरोधात्मक और आरोग्यशालीय सिद्धांतों पर आधारित कुशल आयुरी सहायता ने इस देश में ऐसी परिस्थितियों को जन्म दिया है, जिनसे यूकार्ति का उन्मूलन हो सका है और खाज की प्रायिकता में बहुत कमी की जा सकी है।

खाज

हेतुलोचन और गदजनन. खाज आकारूस स्काबिएइ या साकोप्टेस स्काबिएइ वार होमीनिस नामक कंडुकारी कुटकियों से होती है। मादा कुटकी नर से बड़ी होती है (क्रमशः 0.14-0.19 मिलिमीटर लंबी और 0.4-0.45 मिलिमीटर चौड़ी) और देखने में कछुए की तरह लगती है (चित्र 10)। नंगी आँखों से देखने पर वह पिन के सिरे पर जैसी दिखती है। निषेचन के बाद (जो चर्म की सतह, अर्थात त्वचा पर होता है) नर की मृत्यु हो जाती है और मादा कुटकी अधिचर्म की सतही परतों को बेध कर उनमें बिल बना लेती है; वह अपने खीतिन (chitin) के मजबूत जबड़ों से चर्म की शृंगी परत में छेद कर लेती है। चर्म से बाहर वह कुछ ही दिनों में मर जाती है। छे से आठ सप्ताह में मादा कुटकी बिल में 50 तक अंडे देती है। इनसे वयस्क कुटकियां तीन से सात सप्ताह में बनती हैं। कलन किया गया है कि तीन महीनों में एक मादा कुटकी के अंडों से करीब 15 करोड़ कुटकियां विकसित हो सकती हैं।

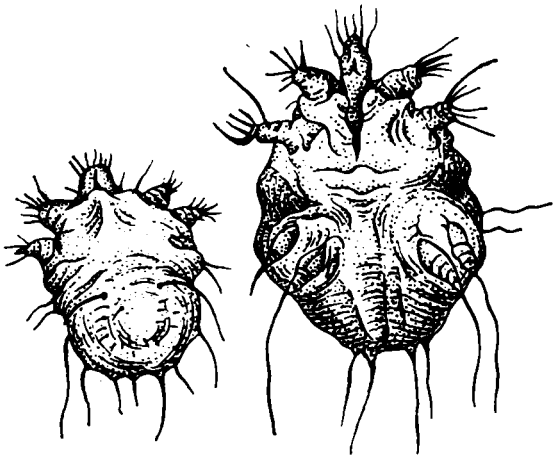

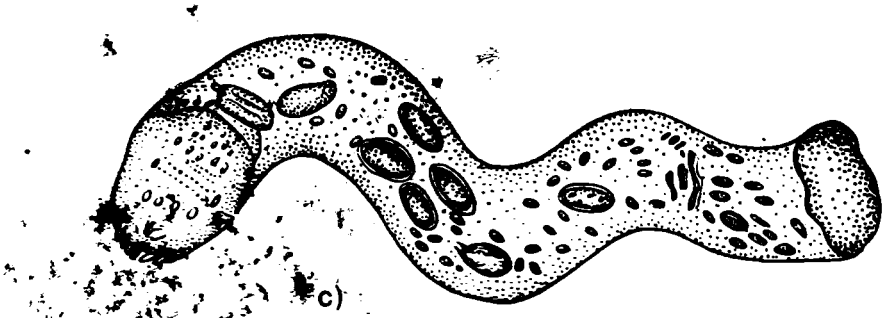

चित्र 10. कुटकी
A. नर, B. मादा, C. बिल

रोग शरद और शीत में कुछ ज्यादा प्रायिक हो जाता है, यद्यपि इसके केस सालों भर मिलते रहते हैं। अंतर्शयन-काल 7-10 दिन से एक महीना या इससे अधिक भी हो सकता है। शरीर पर इनका आगमन रोगी व्यक्ति के माध्यम से होता है, विशेषकर यदि बिस्तर, वस्त्र आदि साथ होते हैं। बच्चों में यह रोग रोगी बच्चे से फैल सकता है।

तल्पिक चित्र. जिस स्थल पर मादा कुटकी प्रवेश करती है, वहाँ एक छोटी सी वस्तिका बन जाती है। खाज का मुख्य लक्षण खुजली ही है। खुजली शाम को और रात में विशेष तीव्र हो जाती है, जब रोगी सोने जाता है। लंछक खुजली के अतिरिक्त, जो रोग का प्रथम लक्षण है, जोड़ियों में या बिखरे हुए पिन के सर जैसे बड़े पिटिकीय-वस्तिकीय दाने निकल आते हैं, बिल (भूरे डैशों जैसी रेखाएं) और चर्म को खुरचने पर शल्क बनते हैं। कुटकी के प्रिय स्थल हैं अंतरांगुलिक चर्म की झुर्रियां, उंगलियों के पार्श्व, कलाई की आकुंचक सतहें, प्रबाहु और कोहनी की ऋजुकारी सतहें, धड़ की अग्र और पार्श्व सतहें, काक्षिक पुटकों की अग्र सतहें, स्तनों के गिर्द, पेट पर विशेषकर नाभिकीय छल्ले के गिर्द, नितंब, जांघ, पिंडलियां और लिंग का क्षेत्र। कोहनी की अस्थि-संधि की ऋजुकारी सतह पर कभी-कभी पिटकीय-वस्तिकीय क्षतियों पर शुष्क खठ्ठियों और शल्कों का आवरण देखा जा सकता है (गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण)। बिल अधिकांशतः अंतरांगु-

लिक झुर्रियों और कलाई पर देखे जा सकते हैं। उनकी लंबाइयां 2-3 मिलिमीटर से ले कर 0.5 सेंटीमीटर तक हो सकती हैं। विशालक शीशा से बिल को देखने पर पास-पास स्थित काले बिंदु दिखते हैं, जो कुटकी द्वारा बनाये गये छेद (द्वार) हैं, जिनसे निकल कर संतान कुटकियां चर्म की सतह पर आती हैं; ये बिल में हवा के आने के रास्तों का भी काम करते हैं। कभी-कभी वस्तिकाओं के स्थान पर पिन के सर जितनी बड़ी रक्त की खट्ठियां भी बन जाती हैं।

उपरोक्त स्थान ही कुटकी को प्रिय होते हैं, क्योंकि वह पतली शृंगी परत पसंद करती है। छोटे बच्चों में खाज का स्थान कुछ भिन्न होता है: क्षतियां गोड़ों, हथेलियों, नितंबों, तलवों, चेहरे और शिरोवल्क की मध्य (मेडियल) सीमाएं।

खाज के साथ होने वाली तीव्र खुजली के कारण रोगी खरोंचे और निशल्कन कर के अक्सर पूयकारी पैठन को आमंत्रित कर लेता है। इसके फलस्वरूप खाज निम्न रोगों से क्लिष्ट हो जा सकता है – मशिकाशोथ, फुंसी, लसग्रंथिशोथ, लसकुंभिशोथ, इंपेटिगो एक्थीमा। इन परिस्थितियों में खाज का नैदानिक चित्र बदल जाता है और निदान कठिन हो जाता है (फिर भी खुजली की प्रकृति और प्रक्रिया के स्थलों के आधार पर सही निदान किया जा सकता है)। कभी-कभी प्रकीर्णित एवं क्लिष्ट खाज की स्थिति में रक्त में एओजीनोफीलिया और आल्बूमिनूरिया भी पाये जाते हैं। रोग जीवाणुक दिनाइ से भी क्लिष्ट हो जा सकता है, जिसमें क्षतियां स्त्रियों के चुचुक के गिर्द और पुरूषों की जांघ की मध्य (मेडियल) सतह पर अधिक होती हैं। ये क्षतियां स्पष्टता से परिसीमित होती हैं, कभी-कभी उनमें रिसाव होता है; वे अनेक पीपिकाओं और खट्ठियों से आच्छादित होती हैं।

खाज के उपनैदानिक रूप (अवछिन्न खाज) पिछले समय से अधिक प्रौढ़िक हो गये हैं; इनमें लंछक क्षति नहीं होती (विशेषकर कुटकी के बिल), लेकिन खुजली बहुत तीव्र होती है। रोग का यह रूप उन्हीं व्यक्तियों में होती है जिन्हें सफाई से रहने की आदत नहीं होती, या उन रोगियों में जिनका ठीक ढंग से इलाज नहीं होता। वैसे ध्यान से निरीक्षण करने पर इन केसों में भी जोड़ियों में पिटिकीय वस्तिकाएं, बहुत नन्ही वस्तिकाएं, और पित्तिक क्षतियां अनुवेदित हो सकती हैं।

ऊतगदलोचन. कुटकी का बिल मुख्यतः शृंगी परत में स्थित होता है और सिर्फ इसका बंद सिरा ही मालपीगी परत में या उसके पार पहुँचा होता है। बिल का यही वह भाग है, जिसमें मादा कुटकी निवास करती है। मालपीगी परत में अंतर्कोशिकीय एवं अंतराकोशिकीय शोफ विकसित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप छोटी वस्तिका बन जाती है। मुख्यतः लसकोशिकाओं से बना हुआ एक चिरकालिक शोथी अंतर्स्यंद सुचर्म में देखा जाता है। यह बिल के नीचे स्थित रहता है।

निदान. खाज को कभी-कभी गलती से कंडु मान लिया जाता है, क्योंकि इसमें भी रोगी खुजली से परेशान रहता है। लेकिन इसमें खुजली दिन-रात होती रहती है, रोग वर्षों तक टिका रह जा सकता है; इसके लक्षण हैं: त्वचा का भूरा रंग, श्वेत चर्मलेखन (डेर्माटोग्राफिया), पिटिकाओं की उपस्थिति (अक्सर रक्त की खट्ठियों से आच्छादित), और लसपर्वों का वर्धन (कंडुक गिल्टियां); पिटिकाएं अधिकांशतः हाथ-पैर की ऋजुकारी (उन्हें सीधी करने वाली) सतहों पर होती हैं।

खाज के निदान में निम्न लक्षण सहायक होते हैं: खाज के प्रिय स्थलों के चर्म पर पिटिकीय वस्तिकाओं की जोड़ियों में उत्पत्ति, रात में खुजली की तीव्रता में वृद्धि, कुटकी का बिल, परिवार

में कई लोगों में खुजली, और गोर्छाकोव-आर्डी का लक्षण। कुछ केसों में 'त्रिभुज के लक्षण' से निदान में सहायता मिलती है: विकास्थिक क्षेत्र में क्षतियां एक त्रिभुज बनाती हैं, जिसका शीर्ष नितंबीय पुटक की ओर होता है। आम तौर पर पायी जाने वाली क्षतियों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में इंपेतिगो क्षतियां और वर्णकता पायी जाती है, जो बाद में कुपोषज चित्तियों में परिणत हो जाती हैं।

जब खाज का तल्पिक निदान कठिन सिद्ध होता है, तब कंडुक कुटकियों के अनुवेदन के लिये प्रयोगशालीय परीक्षण किये जाते हैं। इसे बिल में से पिन की सहायता से निकाला जा सकता है। उस्तरे से वस्तिकाओं का या अनद्रव्य समेत बिल का महीन अनुच्छेद काटने की विधि अधिक कारगर है। इन अनुच्छेदों को स्लाइड पर क्षारीय हाइड्रोक्साइड के 20 प्रतिशतीय घोल से संसाधित किया जाता है, ढक्कन-काँच से ढक दिया जाता है, फिर शुष्क प्रणाली वाले सूक्ष्मदर्शन (अल्प अभिवर्धन) से परीक्षण किया जाता है। प्रसाधन में कुटकियां या उनकी जीवन-क्रिया के उत्पाद (अंडे, विसर्ज) काले बिंदुओं के गुच्छों के रूप में दिखाई देते हैं।

चिकित्सा. ऐसी दवाएं प्रयुक्त होती हैं, जो शृंगी परत को ढीली कर के बिल में प्रविष्ट होती हैं और कुटकियों को नष्ट कर देती हैं। एंटी-परजीवी प्रसाधन अनेक हैं। चिकित्सा की कारगरता इन प्रसाधनों की प्रकृति पर नहीं, बल्कि इनके सही उपयोग और चिकित्सा की पूर्णता पर निर्भर करती है।

चर्म पर एंटी-खाज दवा मलने से पहले रोगी को गर्म पानी से स्नान करना चाहिये। इससे त्वचा (चर्म की सतह) पर स्थित कुटकियां यंत्रवत दूर हो जाती हैं और शृंगी परत ढीली हो जाती है। लेकिन यदि रोगी चर्मपूयता या दद्रुक प्रक्रिया से पीड़ित है, तो उसे स्नान का निर्देश नहीं देते। एंटी-खाज दवा धड़ और हाथ, हाथ-पैर के चर्म पर मली जाती है, उन जगहों पर विशेष अच्छी तरह से, जो खाज के लिये प्रिय हैं। शिरोचर्म का उपचार नहीं किया जाता। दद्रुकरण और इंपेतिगोकरण होने पर दवा मली नहीं जाती, सिर्फ ग्रस्त क्षेत्रों पर लेपी जाती है। साथ-साथ क्लिष्टताओं की भी चिकित्सा की जाती है।

चर्म में बेंजिल बेंजोनेट का घोल (बेंजोइक अम्ल बेंजिल ईथर) मलना बहुत कारगर होता है। बेंजिल बेंजोनेट का साबुन पानी के साथ 20 प्रतिशतीय इमल्शन वयस्क रोगियों के लिये प्रयुक्त होता है और 10 प्रतिशतीय – बच्चों के लिये। 20 प्रतिशतीय घोल निम्न रीति से बनाया जाता है: 20 ग्राम हरा या कोई अन्य साबुन छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर 780 मिलिलीटर गर्म (हल्के) पानी में घुला लिया जाता है और उसमें 200 मिलिलीटर बेंजिल बेंजोनेट मिला लिया जाता है। औषधालय में 10 प्रतिशतीय इमल्शन बनाने का नुस्खा निम्न है:

Rp: Benzilbenzoati 200.0
Saponis Viridis 3.0
Aq. fontanae ad 200.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

इमल्शन बनाने के बाद सात दिनों तक उसकी सक्रियता बनी रहती है। इसे 10 मिनट के अंतराल पर दो बार त्वचा पर मला जाता है। दूसरे दिन उपचार दुहराया जाता है। तीन दिन बाद स्नान कराया जाता है, वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, बच्चों का उपचार साबुन-पानी के साथ बेंजिल बेंजोनेट के 10 प्रति-

शतीय इमल्शन से होता है या इमल्शन के आधार पर 10 प्रतिशत बेंजिल बेंजोनेट से युक्त मलहम तीन दिनों तक मला जाता है।

सुदूर उत्तर में बेंजिल बेंजोनेट पेट्रोलेटम के आधार पर 10 या 20 प्रतिशत सांद्रता के साथ बनाने की सलाह दी जाती है।

खाज की चिकित्सा के लिये देमियानोविच की विधि में सोडियम थायोसल्फेट का 60 प्रतिशत सांद्र घोल (घोल न. 1) और सांद्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 6 प्रतिशतीय (या तनुकृत का 18 प्रतिशतीय) घोल (घोल न. 2) प्रयुक्त होते हैं। घोल न. 1 को 10 मिनट के अंतराल पर दो बार चर्म के सारे क्षेत्र पर मल दिया जाता है, फिर दस मिनट बाद घोल न. 2 मला जाता है (5 मिनट के अंतराल पर पाँच-पाँच मिनट के लिये दो बार) सोडियम थायोसल्फेट का घोल एक तश्तरी में ढाल लिया जाता है और उसमें हाथ गीला कर के उसमें मला जाता है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का घोल बोतल से सीधे हाथ पर ढाला जाता है। मल लेने के बाद रोगी साफ कपड़े पहनता है, बिस्तर आदि बदल लेता है। अगले दिन उपचार पुनः दुहराया जाता है, चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद रोगी को स्नान की इजाजत दी जाती है। बच्चों के लिये सोडियम थायोसल्फेट का 40 प्रतिशतीय घोल और सांद्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का 4 प्रतिशत सांद्र घोल (या तनुकृत का 12 प्रतिशत सांद्र घोल) प्रलिखित किये जाते हैं।

सल्फर का मलहम (वयस्कों के लिये 20-33 प्रतिशत सांद्र और बच्चों के लिये 10 प्रतिशत सांद्र) या विल्किंसन का मलहम (15 प्रतिशत सल्फर, 16 प्रतिशत खड़िया, 30 प्रतिशत हरा साबुन, 30 प्रतिशत पेट्रोलेटम) मला जा सकता है। बच्चों की चिकित्सा के लिये विल्किंसन के मलहम में आधा-आधा जिंक पेस्ट मिला देते हैं। ये मलहम चर्म पर लगातार पाँच दिनों तक नित्य एक बार मले जाते हैं। छठे दिन स्नान कराया जाता है और तभी वस्त्र-बिस्तर आदि बदले जाते हैं। सल्फर या विल्किंसन के मलहमों का उपयोग सीमित है क्योंकि वे कपड़ों को गंदा करते हैं और औषधजनित चर्मशोथ संप्रेरित कर सकते हैं। यदि चर्मशोथ विकसित हो जाता है, तो मलहम लगाना बंद कर देते हैं और जिंक का लोशन या पेस्ट प्रलिखित करते हैं। विल्किंसन का मलहम वृक्कीय ऊतकों में क्षोभ उत्पन्न कर सकता (वृक्कार्त्ति), इसलिये वृक्करोग से ग्रस्त लोगों को यह प्रलिखित नहीं किया जाता।

खाज की चिकित्सा पोटाशियम-साबुन के ताजा तैयार किये हुए 5 प्रतिशतीय इमल्शन से भी की जा सकती है। यह 5 दिनों तक देह में नित्य मला जाता है. चिकित्सा समाप्त होने के दो दिन बाद स्नान किया जाता है।

यदि चिकित्सा से लाभ नहीं होता, तो उसे तीन से पांच दिन बाद दुहराया जाता है।

रिसालु पारश्लेषण के प्रति प्रवणता रखने वाले बच्चों में खाज का उपचार करते वक्त और चर्मशोथ से बचने के लिये तथा कुटाली खुजली को रोकने के लिये भी (जो परिस्थितज गदलोचनी प्रतिवर्त के कारण उत्पन्न होती है) अवसंवेदक तथा प्रतिहिस्टामिनिक प्रसाधन (कैल्सियम ग्लुकोनाट, डिआजोलिन, सुप्रास्टिन आदि) प्रलिखित किये जाते हैं। यह चिकित्सा उन लोगों को भी दी जाती है, जिनमें खाज परोर्जिक चर्मशोथ से क्लिष्ट हो जाता है।

सहवर्ती चर्मपूयता की चिकित्सा प्रतिजीवकों, सुल्फोनामीदों, और बाह्य प्रयोग की दवाओं—सल्फर-टार और बोरिक अम्ल-टार से युक्त मलहमों अनीलीन रंजकों और 2 प्रतिशतीय सैलीसीलिक अल्कोहल—से की जाती है।

नियंत्रणकारी और निरोधात्मक युक्तियों का संगठन सभी अनुवेदित रोगियों के लिये विशेष सूचना-

-पत्र भरे जाते हैं। पैठन-क्षेत्र में सभी रोगियों की एक साथ चिकित्सा खाज पर नियंत्रण की अ-वश्यक शर्त है। रोगी के परिवार के सभी सदस्यों या बाल-प्रतिष्ठान के सभी बच्चों व कर्मचारियों का निरीक्षण होना चाहिये (यदि कोई रोगी इस प्रतिष्ठान में जाता है)। सभी रोगियों का ठीक समय पर अनुवेदन कर के उन्हें बाकी लोगों से अलग करना चाहिये और उनकी चिकित्सा करनी चाहिये : तभी रोग-प्रसार का निरोध संभव है।

खाज के रोगियों की चिकित्सा विशेष प्रतिष्ठानों में की जाती है; यदि बहुमारीलोचनी स्थिति प्रतिकूल होती है, तो कीटनाशक कदम संगठित किये जाते हैं।

आंतरिक वस्त्रों, बिस्तरों को पूर्णतः कीट-रहित करना (DDT छिड़कना, K-साबुन से संसाधित करना) या शुष्कतापी या आर्द्र तापीय कक्ष में कीट-रहित करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उन्हें साफ कर के उबालने के बाद उनपर गर्म इस्तरी भी की जा सकती है। अन्य वस्त्रों को किसी कक्ष में निष्कीटित किया जा सकता है या उनपर DDT छिड़का जा सकता है।

खाज का एक बहुत विरल और विचित्र रूप है – नौर्वेजियन खाज (कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि यह सामान्य तौर पर ही पायी जाने वाली खाज का बहुत उपेक्षित रूप है)। इसका पहली बार वर्णन 1884 में नौर्वे के डानियेल्सेन (Danielssen) ने किया था। यह अत्यंत दुर्बल लोगों में (अक्सर कुष्ठ, मेरूसुषिरता आदि जैसे रोग से ग्रस्त व्यक्तियों में) और मंदित बौद्धिक विकास वाले लोगों में होता है।

नौर्वेजियन खाज में आक्रांति-स्थल पर चर्म शुष्क एवं मोटी गाढ़ी हरी खठ्ठियों से आच्छादित होता है, जो प्रसारित होकर आपस में मिल जाती है और कवच की तरह दिखने लगती है। यह कवच गति को सीमित करता है, क्योंकि चलते-फिरते वक्त इनसे पीड़ा होती है। नख बहुत मोटे हो जाते हैं। ग्रस्त क्षेत्र में बाल शुष्क और कांतिहीन बनते हैं। सभी लसपर्व वर्धित हो जाते हैं। रोगी के शरीर से अप्रिय गंध आती है। उल्लेखनीय है कि खाज के लक्षण स्पष्ट होने पर भी खुजली बहुत हल्की होती है या बिल्कुल नहीं होती। खठ्ठियों को बलपूर्वक हटाने पर अतिरक्तिल चर्म प्रकट होता है, जिसपर नंगी आँखों से भी सफेद-सफेद बिंदुओं के ढेर दिखायी देते हैं। ये बिंदु कंडुकारी कुट-कियां हैं, जो खठ्ठियों और शल्कों में छिपी रहती हैं।

खठ्ठियों को 5-10 प्रतिशत सल्फर-टार के मलहम से दूर किया जाता है, जिसके बाद सा-मान्य एंटी-खाज प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं, सामान्य स्फूर्तिदायक उपाय किये जाते हैं।

कभी-कभी बड़ी संख्या में लोगों में पेडीकुलोइडेस वेंट्रीकोजुस का आगमन (आक्रमण) होता है। इनसे दानेदार खुजली होती है। ये कुटकियां अनाजों पर रहती हैं। इसीलिये इनसे अक्सर अनाजघरों में ढुलाई करने वाले या इन कुटकियों से संदूषित पुआल पर सोने वाले लोग ग्रस्त हो जाते हैं। चिकित्सा वैसी ही है, जैसी आम खाज की।

घोड़ों, चूहों, मुर्गों, कबूतरों आदि की कुटकियां आदमी को काट सकती हैं, जिससे तीव्र खुजली होती है, पिटिकाएं, ददौरे आदि बन जाते हैं, लेकिन वे अधिचर्म को बेधती नहीं हैं, बिल नहीं बनाती। ये कुटकियां घर में वस्त्रों आदि पर भी चली आ सकती हैं। चिकित्सा में अल्कोहल के साथ लाशन आदि प्रयुक्त होते हैं। कपड़ों और घर का निष्कीटन चूहों का उन्मूलन, बीमार घोड़ों की चिकित्सा – ये सब उपाय आवश्यक होते हैं।

खटमलों (सीमेक्स लेक्टूलोरिस) और पिस्सुओं (पुलेक्स इरीटांस) के काटने से खुजलीकारी यांत्रिक क्षतियां होती हैं। पिस्सू (पिशु) के दंश-स्थल पर एक लंछक केंद्रीय रक्तस्राव उत्पन्न होता है जो अतिरक्तिल धब्बे या ददौरे से घिरा होता है (आकार बाजरे के दाने के बराबर होता है)।

चर्म पर जो अभिव्यक्ति होती है, उसकी चिकित्सा आवश्यक नहीं होती। खटमलों और पिस्सुओं के उन्मूलन के उपाय किये जाते हैं: खटमलों के – निष्पैठक साधनों और घोलों से; पिस्सुओं के – सल्फरकरण से, घर की सफाई से।

जब घोड़े की कुकुरमाछी (बौट-फ्लाइ) के लार्वा आदमी के चर्म पर आ जाते हैं, तो 'लार्वा मिग्रांस' नामक एक रोग विकसित होता है, फिर पाश की तरह ऐंठी हुई धागे सी पतली और उभरी हुई सतह बनती है, जिसकी चौड़ाई 1-2 मिलिमीटर तक हो सकती है। यह त्वचा के नीचे लार्वा 24 घंटे में 15 सेंटीमीटर या इससे अधिक दूरी तय कर लेता है।

चिकित्सा के लिये ग्रस्त क्षेत्र पर टिंचर आयडीन, एथिल क्लोराइड का संघनन आदि प्रयुक्त होता है या लार्वा द्वारा आक्रांत क्षेत्र को करोर्जिक विधि से दूर कर दिया जाता है।

गीनिया-कृमि ड्राकुनकुलुस (फिरारिया) मेडीनेंसिस विशेषकर गोड़ और टांग की अवचार्म वसा में विकसित होता है, जहां एक गुल्म बन जाता है। गुल्म के ऊपर स्थित चर्म में विगलनक्लेश हो जाता है चर्म फट जाता है और वहां व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिसकी तली पर ये परजीवी पाये जाते हैं। इन्हें मारने के लिये गुल्म में पारद डाइक्लोराइड की सुई दी जाती है, फिर 24 घंटे बाद कृमि को कोटर में से पतली शलाका पर लपेटते हुए निकाल लिया जाता है। यदि गुल्म फटा नहीं है, तो कृमि को करोर्जिक विधि से भी निकाला जा सकता है।

यूकार्त्ति

लोगों के जीवन-स्तर और उनकी स्वास्थ्य शिक्षा में निरन्तर उन्नति के कारण सोवियत संघ में यूकार्त्ति अब विरले ही होती है। आदमी के चर्म में तीन प्रकार की जूँएं (यूकाएं) परजीवी बन कर रह सकती हैं सर की, शरीर की (चिल्लड) और जघन के जूँ।

शिरोयूका (पेडीकुलस कापीटिस). ये यूकाएं एक आदमी से दूसरे में प्रत्यक्ष संपर्क से या वस्तुओं (टोपी कपड़े कंघे आदि) के माध्यम से संक्रमण कर जाती हैं।

मादा यूका अपने जीवनकाल में 150 तक अंडे (लिक्षा या लीखें) देती है, जो बालों के साथ एक खीटीनी द्रव्य से जुड़े रहते हैं। लीखों का रंग भूराभ श्वेत होता है और नंगी आँखों से दिख जाते है (विशेषकर श्यामल त्वचा और काले बालों वाले लोगों के सर पर; श्वेतकेशियों के सर में या हल्के रंग के बालों में वे मुश्किल से दिखते हैं। अंडों से नन्ही यूकाएं पाँच-छे दिनों में निकल आती हैं और तीन सप्ताह में खुद नयी यूकाओं को जन्म देने लगती हैं। यूकाएं सिर्फ माथे में ही नहीं, भौंहों, दाढ़ी-मूंछ में भी रह सकती हैं। उनके दंश और उनकी लार में उपस्थित खमीरों के प्रभाव से तीव्र खुजली होती है, जिसके कारण (खुजलाने पर) खरोंचें बन जाती हैं, जिनसे हो कर पूयकारी जीवाणु चर्म में प्रविष्ट होते हैं और चर्मपूयन की क्षतियां उत्पन्न होती हैं (अक्सर सामान्य इंपेतिगो)। उपेक्षा करने पर रोगी का सारा सर खुट्टियों से ढक जाता है और बाल जटाओं के रूप में चिपक जाते हैं। गरदन के लसपर्व बड़े हो जाते हैं। लीखों और यूकाओं के अनुवेदन से निदान प्रमाणित हो जाता है।

चिकित्सा. किरासन तेल और कोई वनस्पति तेल आधा-आधा मिला कर माथे में लगाते हैं, फिर सर को मोमी कागज से (या प्लास्टिक की झिल्ली से जिससे हवा प्रवेश न करे) लपेट देते हैं और ऊपर से किसी कपड़े द्वारा बांध देते हैं। रात भर इसी तरह छोड़ दिया जाता है। सुबह सर को गुनगुने पानी और साबुन से धोते हैं और गफ (पास-पास दाँतों वाली) कंघी से बाल झाड़ते

हैं। कंघी के दाँतों में विनेगार (सिरके) में तर रूई के फाहे फँसा लेते हैं। इस तरह से कई दिनों तक बाल झाड़ते हैं, ताकि सारे लीख निकल जायें। बालों का उपचार 10 प्रतिशत बेंजिल बेंजोनेट के साथ साबुन-पानी के इमल्शन से भी किया जा सकता है (10 से 15 मिनट तक के लिये)। इसके बाद सर को गर्म पानी और साबुन से धो लेते हैं। लीख और यूकाएं आफ्थालिन से भी नष्ट की जा सकती हैं, लेकिन इससे भी बेहतर है अनेस्थेजिन के साथ बेंजिल बेंजोनेट का साबुन-पानी में 20 प्रतिशतीय इमल्शन :

Rp: Benzil-benzoati 20.0
Sapo viridis 2.0
Anaesthesini 2.0
Aq. fontanis ad. 100.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

पानी की जगह उसी अनुपात में पेट्रोलेटम का भी उपयोग किया जा सकता है; परिणाम बुरा नहीं रहेगा। यूकार्त्ति जब चर्मपूयता से क्लिष्ट हो जाती है, तब शिरोवल्क पर 2-5 प्रतिशतीय पारद के प्रसाधन से युक्त मलहम या कार्बोलाइनी का पेंट लेपा जाता है।

शरीर की यूका (पेडीकूलुस कोर्पोरिस या वेस्टीमेंटी लिबासीय). इस जाति की यूकाएं सर की यूकाओं से बड़ी होती हैं, ये कपड़ों की सलवटों में रहती हैं और खून चूसती हैं। वे लीख कपड़ों की सलवटों और लंबे कोमल रोवों पर देती हैं कपड़ों में रहने के कारण ही इन्हें लिबासीय यूका या चिल्लड़ भी कहा जाता है (चिल माने वस्त्र इनके काटने से तीव्र खुजली होती है और खुजलाने से चर्म पर रैखिक निस्त्वचन होता है जो चर्मपूयता से क्लिष्ट हो जा सकता है। इनके प्रिय स्थान गला (गरदन), पँखुड़े, और पीठ के कुछ हिस्से हैं; ये ऐसे स्थान हैं, जो वस्त्र के साथ अच्छी तरह सटे होते हैं। इन क्षेत्रों पर लंबे समय के लिये एक भूरी वर्णकता रह जाती है। कई वर्षों की चिरकालिक यूकार्त्ति से चर्म शुष्क और शल्कित हो जाता है, मोटा हो जाता है, उस-पर गंदली भूरी वर्णकता और क्षतांक बन जाते हैं (रौदित त्वचा – क्यूटिस वागंटिउम)।

चिकित्सा रोगी को अच्छी तरह साबुन से स्नान करना चाहिये और अंदरूनी एवं बाहरी वस्त्र बदल लेना चाहिये; पुराने वस्त्रों को निष्पैठित करना चाहिये।

जघन की यूका (फ्थीरूस पूबिस). इन्हें अँठई, किलनी, किल्ली आदि भी कहते हैं। ये यूकाएं जघन (पशम), जननेंद्रियों, पृष्ठद्वार (गुदा) के गिर्द परजीवी बन कर रहती हैं। ये बच्चों में नहीं पायी जाती। कभी-कभी ये यूकाएं बाल वाले अन्य क्षेत्रों पर भी फैल जाते हैं, जैसे वक्ष, पेट, जांघों, काँखों, भौहों, पलकों आदि पर। तीव्र खुजली होती है। जिस जगह अँठई रह चुकती है वहाँ मटर के दाने के बराबर हल्का नीला या भूरा गोल रक्तस्रावी धब्बा बन जाता है – नीली चित्ती (मकुला केरूलेउस)। ये धब्बे यूका की लार में उपस्थित खमीरों के साथ हेमोग्लोबिन की क्रिया से बनते हैं और उंगली से दबाने पर भी लुप्त नहीं होते। शरीर में अँठइयों का संक्रमण सिर्फ रोगी के साथ सोने या मैथुन के समय होता है। यूका पंजों में मिलती-जुलती एक विशेष विरचना के सहारे बाल में कस कर चिपकी रहती है।

चिकित्सा. ग्रस्त क्षेत्रों में बालों को मुड़ देते हैं। इसके बाद नीला मलहम या श्वेत अवक्षेप (white precipitate) का मलहम दो या तीन दिनों के लिये मल देते हैं। अन्य दवाएं भी प्रयुक्त हो सकती हैं: विनेगार का ऊर्ध्वपातज (सब्लीमेट), 20 प्रतिशतीय बेंजिल बेंजोनेट या

साबुन-घोलक इमल्शन (10 प्रतिशतीय इमल्शन बनाने के लिये कोई साबुन-घोलक पेस्ट प्रयुक्त होता है, जिसमें अंदरूनी कपड़े, बिस्तर के चादर आदि तर किये जाते हैं; 20 प्रतिशतीय इमल्शन से कमरे को निष्पैठित करते हैं और 50 प्रतिशतीय इमल्शन से बालों वाले चर्म-क्षेत्रों का उपचार करते हैं)।

यूकार्त्ति का निरोध. छात्रावासों और बाल-प्रतिष्ठानों के भवनों का और उनमें रहने वालों की सफाई का नियमित निरीक्षण बहुत महत्त्व रखता है। यूकार्त्ति की घटनाएं इस बात की साक्षी हैं कि प्रतिष्ठान में सफाई और हाइजिनिक अवस्था ठीक नहीं है।

कुष्ठ

कुष्ठ एक चिरकालिक पैठी रोग है, जो हांसेन (Hansen) के बासिलों या मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे से होता है; इसकी खोज 1871 में हुई थी।

कुष्ठ का हेतुलोचन ज्ञात है, पर इसके बहुमारीलोचन, इसके पैठन और प्रसार की परिस्थितियों आदि का अध्ययन सर्वथा अपूर्ण है। रोग की निम्न विशेषताएं हैं: दीर्घकालीन अंतर्शयन-अवधि, अनेक वर्षों तक का लंबा प्रवाह, चर्म, श्लेष्मल झिल्ली और नर्वतंत्र की विशिष्ट क्षति।

सोवियत संघ में इस रोग के विशेष आक्रांति-क्षेत्र हैं – काराकाल्पाक, उज्बेकिस्तान, कजाख्स्तान, निम्न-वोल्गा का क्षेत्र, सुदूर पूर्व और बाल्टिक गणतंत्र। यदा-कदा अन्य क्षेत्रों में भी इसके केस दर्ज होते हैं। कुल मिला कर सोवियत संघ में इससे ग्रस्त की संख्या बहुत कम है। इनमें से अधिकांश लोगों की चिकित्सा कुष्ठाश्रमों में होती है। सोवियत संघ में इस रोग की प्रायिकता बहुत तेजी से घटी है और इसका कारण है लोगों के आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य और सफाई के स्तर में उन्नति। इस बात की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है कि ठीक समय पर रोगी का अनुवेदन हो जाता है, उसे तुरन्त पृथक कर दिया जाता है, उसके संपर्क में आये सभी व्यक्तियों की जाँच हो जाती है। प्रारंभिक आँकड़ों के अनुसार विश्व में करीब एक करोड़ से अधिक लोग इस रोग से ग्रस्त हैं। सोवियत संघ में कुष्ठाश्रम संगठित किये गये हैं, जहां कुष्ठ-रोगियों को रखा जाता है, उनकी पूर्ण चिकित्सा की जाती है ताकि वे सामान्य जीवन में लौट सकें।

हेतुलोचन और गदजनन. कुष्ठ के निमित्त कारण 'मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे' एसिड एवं अल्कोहल-फास्ट होते हैं। ये ज़ील-नीलसेन (Ziehl-Neelsen) का रंजक (स्टेन) ग्रहण कर लेते हैं और 'मीकोबाक्तेरिउम तुबेरकुलोसिस' से मिलते-जुलते होते हैं। इनकी आकृति छड़ की तरह होती है, जिसके सिरे कुछ नुकीले होते हैं। ये जीवाणु अक्सर गुच्छों (ग्रुपों) में होते हैं, जो देखने में सिगार के पैकेटों की तरह लगते हैं, अलग-अलग छड़ों के रूप में ये कम ही होते हैं। इनका कैप्सुल नहीं होता और ये स्पोर भी नहीं बनाते।

बच्चे कुष्ठ के प्रति अधिक प्रवण होते हैं, जबकि वयस्क बहुत कम ही इससे ग्रस्त होते हैं, इसीलिये इस रोग से पीड़ित बच्चों व वयस्कों का रक्त 'मीकोबाक्तेरिउम लेप्रे' पनपाने (कल्टीवेट करने) में प्रयुक्त होते हैं। रेशांकुरों, माक्रोफागों और आदमी की नर्व-कोशिकाओं पर इन जीवाणुओं को पनपाने के कुछ प्रयत्न सफल रहे हैं।

आदमी में होने वाले गंठिवत कुष्ठ की क्षतियों से मिलती-जुलती क्षतियां चिंपैंजी बंदरों में पहली बार सोवियत संघ में उत्पन्न किये गये थे (केंद्रीय चर्म और रतिजलोचनी संस्थान में)। इससे कुष्ठ के तल्पिक चित्र, गदजनन, निरोध और चिकित्सा का प्रायोगिक अध्ययन हो सकेगा।

आदमी के शरीर में मि. लेप्रे के प्रवेश का मार्ग अभी तक पूरी तरह अध्ययन नहीं किया जा

सका है। लंबे समय तक दैनंदिन जीवन में रोगी के साथ निकट का संपर्क (जैसे परिवार में) निश्चय ही पैठन को संप्रेरित करता है। रोगी का अन्य व्यक्तियों (विशेष कर परिवार के सदस्यों) के साथ जितना ही लंबे समय तक संपर्क रहेगा और परिवार में सांस्कृतिक, स्वास्थ्य, सफाई व हाइजिन का स्तर जितना ही निम्न होगा, पैठन की संभावना उतनी ही अधिक होगी। स्पष्टतः यह नन्ही बूंदों के माध्यम से (जो खाँसने, छीकने के वक्त मुँह से निकलती हैं) श्वसन मार्ग के सहारे होता है (प्रारंभ में मि. लेप्रे नाक की विभाजक दीवार के उपास्थिक भाग की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित होता है)। यह विचार भी प्रस्तुत किया गया था कि पैठन चर्म से होकर होता है (प्रथमतः पैरों के चर्म से होकर)। इसका प्रमाण यह है कि रोग के प्रारंभिक चरण में कुष्ठ के बासिल ऊरूक (जांघों के) वर्धित लसपर्वों में पाये जाते हैं। कुछ केसों में सहवर्ती रोगों, जैसे पैर (गोड़) की कवकता (विशेषकर कांदिदक्लेश) को महत्त्व दिया जाता है। क्षत चर्म (जैसे उड़ने वाले रक्त-चोषक कीड़ों के दंश-स्थल गोदना-स्थल, घाव) से भी पैठन की खबरें मिली हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कुष्ठ-प्रक्रिया के विकास के रूप आदमी के शरीर के व्यक्तिगत गुणों, इसकी प्रतिरोधिता और सामान्य अवस्था पर निर्भर करते हैं।

विभिन्न वैज्ञानिकों के अनुसार इसका अन्तर्शयन-काल औसतन चार से छे वर्ष तक निर्धारित किया गया है। लेकिन यह भी विश्वसनीयता के साथ निर्धारित किया गया है कि इसमें दो से तीन महीने भी लग सकते हैं और 10-20 से 50 वर्ष तक भी। इसलिये कुष्ठ प्रक्षित अन्तर्शयन-काल द्वारा लंछित होता है, जिसकी लंबाई बहुत भिन्न हो सकती है।

कुष्ठ बहुत अल्प छुतहा माना जाता है, यह यक्ष्मा से भी कम छुतहा है। वयस्कों की अपेक्षा बच्चों में इसके प्रति कम प्रतिरोधिता होती है और दीर्घकालीन संपर्क की परिस्थितियों में वे इस रोग से अधिकतर और अधिक शीघ्रता से ग्रस्त हो जाते हैं।

रोगपूर्व की अवधि में रोगी अस्वस्थता की शिकायत करता है, उसे तीव्र नर्वशूलीय पीड़ा, अस्थि-संधियों में दर्द, प्रगामी (उत्तरोत्तर बढ़ने वाली) दुर्बलता और जठरांत्र की गड़बड़ियां होती हैं। कभी-कभी परिसंवेदना, अति-संवेदना और ज्वर भी पायी जाती है। इसी काल में हांसेन के बासिल भी नासा-भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली पर अनुवेदित हो जाते हैं। इसके बाद रोग के तल्पिक लक्षण विकसित होते हैं। रूपलोचनी अभिव्यक्तियों के अनुसार तीन प्रकार का कुष्ठ होता है।

कुष्ठ का वर्गीकरण

1. कुष्ठार्बिक, या दुर्दम. तीव्र प्रकार.
2. गंठिवत, या सुदम. हल्का प्रकार.
3. अनिश्चित, या अविशिष्ट प्रकार.

कुष्ठार्बिक प्रकार का कुष्ठ

कुष्ठार्बिक प्रकार में पहले अनिश्चित प्रकार के मुश्किल से दिखने वाले ललछौंह धब्बे उत्पन्न होते हैं, जिनपर नीली या लोहित आभा होती है। रोग के आरंभ में इन क्षेत्रों पर कोई संवेदी गड़बड़ियां (दर्द, जलन, स्पर्श आदि की) नहीं होतीं। धब्बे धीरे-धीरे अंतर्स्यंद बन जाते हैं। प्रक्रिया की वृद्धि में मुचर्म के अतिरिक्त अवचर्म वसा भी आ जाती है और पर्विकाएं (कुष्ठार्ब) बन जाती

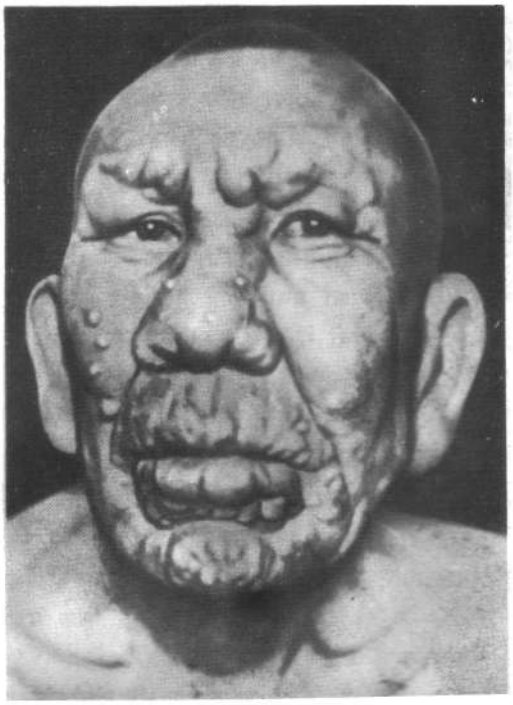

चित्र 11. कुष्ठार्बिक कुष्ठ

हैं। ये अंतर्स्यंद और पर्विकाएं अक्सर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर, आँखों से ऊपर ललाट पर, गालों और नाक पर उत्पन्न होती हैं (चित्र 11)। चेहरे का भाव गड़बड़ हो जाता है, चेहरा विकृत और भयावह हो जाता है (सिंह-मुखौटा)।

भौंहों के अंतर्स्यंदन से उनके पार्श्व लोम स्थायी तौर पर झड़ जाते हैं। चेहरे और हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों के अतिरिक्त अंतर्स्यंदन धड़ के कुछ चर्म-क्षेत्रों और आंतर अंगों को भी ग्रस्त कर ले सकता है। धब्बों और अंतर्स्यंदों के अतिरिक्त दियासलाई के सिर या मटर के बराबर पर्विकाएं (कुष्ठार्ब) भी उत्पन्न हो सकती हैं। इनका रंग ललछौंह भूरा या ललछौंह बैंगनी होता है, जो बाद में सहवर्ती रक्तस्रावी घटक के कारण जंक जैसी आभा भी ग्रहण कर सकता है। कर्ण-पालि और हाथ-पैर के दूरस्थ खंडों पर कुष्ठार्ब ललछौंह नीले होते हैं। पर्विकाओं की सतह चमकदार और चिकनी होती है, मानो उस पर तेल लेपा गया हो। पर्विकाएं व्रणित भी हो सकती हैं।

विरचनरत व्रणों की किनारियां कठोर होती हैं, कभी-कभी शोफित और बिल्कुल उभरी हुई होती हैं। इनसे रक्तिल स्राव होता है, जिसमें असंख्य कुष्ठ-बासिल होते हैं। व्रण क्रमशः कणीकृत ऊतकों से भर जाते है और क्षतांकित हो जाते हैं। पर्विकाएं और अंतर्स्यंदन भी व्रणित होते हैं और अपेक्षाकृत विरलतः बिना व्रणन के ही अपचोषित हो जाते हैं (ऐसी स्थितियों में छोटे सतही क्षतांक रह जाते हैं)। जो व्रण बनते हैं, वे बड़े होते हैं और पेशियों और अस्थियों को भी प्रक्रिया की चपेट में ले लेते हैं। इन स्थितियों में अस्थि-संधियों व छोटी अस्थियों का विनाश और बड़ी-बड़ी विकृतियां देखने में आ सकती हैं।

अधिकांशतः नाक की श्लेष्मल झिल्ली ही रोग-प्रक्रिया से ग्रस्त होती है, विशेषकर वह, जो विभाजक भित्ति की उपास्थिक भाग को आच्छादित रखती है। रोग के आरंभ-काल में कुष्ठ के बासिल इसी क्षेत्र की खुरचन में मिलते हैं।

नाक की विभाजक भित्ति की श्लेष्मल झिल्ली की आक्रांति ललामी, अंतर्स्यंदनों, नासा-स्राव और पटलित खट्टियों द्वारा लंछित होती है जो चिरकालिक कुष्ठजनित नासाशोथ का चित्र प्रस्तुत करती है। नाक की विभाजक भित्ति के उपास्थिक भाग में अंतर्स्यंदन का आगे विकास होने पर व्रणन और विनाश संभव है। ऐसी स्थिति में नाक में लंछक विकृति उत्पन्न होती है, उसकी नोक थोड़ी ऊपर को उठी होती है।

विसरित अंतर्स्यंदन और कुष्ठार्व जीभ, मृदु व कठोर तालू पर भी अवस्थित हो सकते हैं, जो कंठ (हलक) और स्वर-यंत्र की श्लेष्मल झिल्लियों पर फैल जाते हैं। इसके फलस्वरूप स्वर में कर्कशता और यहां तक कि स्थायी स्वरहानि (निःशब्दता) भी विकसित हो सकती है—परिकंठद्वार और स्वरयंत्र की श्लेष्मल झिल्लियों के क्षतांकन के कारण।

कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ-रोगियों की आँखों में युतिकाशोथ, परितारिकाशोथ, श्वेतपटलशोथ भी पाये जा सकते हैं। कुष्ठार्बिक शृंगिकाशोथ की चिकित्सा न करने पर शृंगिका के अंतर्स्यंदित, अपारदर्शक और क्षताकित होने के कारण अंधापन भी विकसित हो जा सकता है।

लसपर्व (विशेषकर जांघ और जंघामूल के विरलतः गरदन के, कनपटी के अवकाक्षिक और काक्षिक) बड़े हो जाते हैं (बेर के आकार के उनकी संरचना कठोर-प्रत्यास्थ हो जाती है, उनमें दर्द नहीं होता और वे सुचल (हिलने-डुलने वाले) हो जाते हैं।

नर्वतंत्र अक्सर चपेट में आ जाता है। इसमें जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें औपचारिकतः दो ग्रुपों में बाँटा जा सकता है: प्रथमतः केंद्रिय नर्वतंत्र की सामान्य गड़बड़ियों में, जो विभिन्न तीव्रताओं की नर्वक्लेशिक प्रतिक्रियाओं में व्यक्त होती है कुछ स्थितियों में नर्वक्लेश और मनोक्लेश भी विकसित हो जा सकते हैं: दूसरे—परिसरीय नर्वतंत्र की आक्रांति, जिसमें नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ विकसित हो जाता है। अधिकांशतः कफोणिक (कोहनी के), कर्णिक (कान के) और छोटी टंगास्थिक नर्व ग्रस्त होते हैं। नर्व मोटे हो जाते हैं और तदनुरूप स्थलों पर परिस्पर्शित हो सकते हैं। केंद्रिय और मुख्यतः परिसरीय नर्वतंत्र की आक्रांति से संवेदनतंत्रीय, कुपोषी और गतिप्रेरक (मोटर) गड़बड़ियां उत्पन्न हो सकती है।

कुष्ठार्बिक कुष्ठ में संवेदन-तंत्र की गड़बड़ियां काफी देर में उत्पन्न होती हैं, बनिस्बत कि गंठिवत प्रकार के कुष्ठ में संवेदी नर्व-सिराओं की आक्रांति द्वितीयक प्रकृति की होती है और प्राथमिक रूप से उत्पन्न कोशिकीय अंतर्स्यंदन द्वारा संपीडन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। पहले स्थायी मर्मभेदी नर्वशूल विकसित होता है फिर तदनुरूप चर्मक्षेत्रों पर अतिसंवेदना, परिसंवेदना, विकृत संवेदना और क्षोभ के प्रति अपर्याप्त प्रतिक्रिया होती है ठंड की जगह गर्मी महसूस होती है और गर्मी की जगह ठंड, अपरिस्थितिज प्रतिवर्त विलंबित हो जाता है)। अतिसंवेदना और प्रतिसंवेदना का स्थान बाद में अनसंवेदना और अनपीड़ा ले लेती है। हाथ-पैर के कुछ खंडों में और धड़ में तापीय अनसंवेदना और अनपीड़ा के कारण कभी-कभी झुलसन हो जाती है जिसे रोगी महसूस नहीं कर पाता कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ में स्पर्श-संवेदना की गड़बड़ियां विरले ही होती हैं—ये रोग के अगले चरण में होती हैं।

कुपोषी गड़बड़ियों के कारण कुष्ठ के रोगी में वर्णकता से संबंधित गड़बड़ियां उत्पन्न होती हैं और तीव्र क्लिष्टताएं उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे हाथ-पैर का अपंग होना। हाथ और पैर के अस्थि-

-पंजर अलग होने लगते हैं; नख नष्ट हो जाते है और स्पष्ट कुपोषी गड़बड़ियों के रूप में विकृत हो जाते हैं। हस्तपुच्छ (हाथ का कलाई से उंगलियों तक का भाग) और गोड़ मुलायम हो जाते हैं और सील मछली या मेढ़क के पैर की तरह दिखने लगते हैं। कुपोषी गड़बड़ियों के कारण वपाल एवं स्वेदजनक ग्रंथियां अपसामान्य रूप से काम करने लगती हैं। उनकी अतिक्रिया बाद में अवक्रिया में परिणत हो जाती है और स्वेद व वपा का स्राव बिल्कुल बंद भी हो जा सकता है, त्वचा शुष्क होकर फटने लगती है। माइनर (Minor) का परीक्षण रोगी में धनात्मक हो जाता है (टिंचर आयडीन लेपे हुए चर्म-क्षेत्र पर स्टार्च लेप कर गर्म शुष्क वात-कक्ष में रखने से वह नीला नहीं होता, क्योंकि स्वेद-ग्रंथियां काम नहीं करतीं)।

परिसरीय नर्वतंत्र की क्षति के कारण गति व्यवधानित हो जाती है। आकुंचक तानता हावी रहती है, क्योंकि हस्त-पुच्छ, गोड़, फिर प्रबाहु और टांग की ऋजुकारी पेशियों में अनियमित कुपोषण होता रहता है। हाथ और पैर की उंगलियां अंशतः और असमान रूप मे आकुंचित (मुड़ी हुई) रहती हैं (चिड़िये के पंजे की तरह हाथ और घोड़े की तरह पैर)। हथेली के पीछे अंतरास्थिक अवकाश वक्रित हो जाता है, क्योंकि छोटी पेशियां सुखौरीग्रस्त हो जाती हैं। हथेली पर अंगूठे के नीचे की गद्दी (थेनार) और अवथेनार की पेशियां भी सुखौरीग्रस्त (कुपोषित) हो जाती हैं, जिससे हथेली चपटी (चौरस) हो जाती है और बंदर की हथेली जैसी लगने लगती है (चित्र 12)।

चित्र 12. पेशी-कुपोषण (सुखौरी) मे उंगलियों का अवकुंचन

आँख की पेशियों के कुपोषण के कारण आँखें अधमुंदी रहती हैं (खरहे की आँख)। ये रोगी आँखों को स्वतःस्फूर्त रूप से बंद नहीं कर पाते। चेहरे के नर्वों के ग्रस्त होने के कारण भावों को अभिव्यक्त करने वाली पेशियों का कुपोषण होता है, जिससे चेहरे पर एक उदासी का मुखौटा सा चढ़ जाता है ('संत अंटोनी का मुखौटा')।

कुष्ठ-रोगी को ऊपर वर्णित संवेदक, गतिप्रेरक तथा कुपोषी गड़बड़ियां भिन्न तीव्रताओं के साथ भिन्न समेलों में हो सकती हैं। साथ-साथ केंद्रिय नर्वतंत्र की भी गड़बड़ियां होती हैं।

कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ में विभिन्न आंतर अंग भी ग्रस्त हो जाते हैं। क्लोम, यकृत और प्लीहा वर्धित हो जाते हैं और पहले कठोर हो जाते हैं। वैसे, इन गड़बड़ियों का तल्पिक चित्र कुष्ठ के लिये विशिष्ट नहीं होता। रोग का प्रकार ठीक चर्म और श्लेष्मल झिल्ली की विशिष्ट क्षति के तल्पिक चित्र और खुरचनों के बाक्तेरीदर्शन द्वारा निर्धारित होता है; खुरचन निम्न स्थलों से लिये जाते हैं: नाक की विभाजक भित्ति, क्षतांकन से प्राप्त ऊतक-रस और बायोप्सी से। विरलतः उन लसपर्वों के भी परीक्षण से रोग-निर्धारण हो सकता है, जो वर्धित नहीं होते।

कुष्ठ में नर्वतंत्र और आंतर अंगों की आक्रांति के अतिरिक्त अंतस्रावी ग्रंथियों की क्रिया में भी गड़बड़ी नजर आती है। यह निम्न लक्षणों में व्यक्त होती है समय से पहले बूढ़ा होना (उम्र से बड़ा लगना), स्त्रियों में समय से पूर्व रजोनिवृत्ति, पुरूषों की यौन सक्रियता में ह्रास यहां तक कि नपुंसकता भी। कुछ रोगियों में दुतरफे कुष्ठज वृषणशोथ तथा परिवृषणशोथ और इसके बाद उनके कठोरन के फलस्वरूप शुक्राणु निर्जीव हो जाते हैं इन स्थितियों में स्त्री का बंध्यापन पति के वीर्य में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति के कारण होता है।

कुष्ठ-पर्विका का ऊतगदलोचन. सुचर्म में योजक ऊतकों की परतों के बीच से ले कर पिटिकामय परत तक कोशिकीय अंतर्स्यंदन का स्थानीय संचय पाया जाता है। ये अंतर्स्यंदन उपकलावत कोशिकाओं, लसकोशिकाओं, रेशांकुरों, प्लाज्मा-कोशिकाओं, अल्प मात्रा में ऊतकोशिकाओं और विर्खोव-दानिएल्सेन-निरूपित कुष्ठ कोशिकाओं से बने होते हैं। अंतिम तो कुष्ठार्बिक प्रकार के कुष्ठ के लिये विशेष लंछक होते हैं; ये बड़ी गोली जैसी कोशिकाएं हैं, जिनका प्रोटोप्लाज्म हल्का फेन जैसा होता है; नाभिक एक या कई हो सकते हैं। इनमें कुष्ठ के अनेक बासिल और बासिलों के अपघटन-द्रव्य की गोलियां सिगार के रूप में व्यवस्थित होती हैं। कुष्ठ के बासिल ट्सील-नील्सेन की विधि से सरलतापूर्वक रंजित हो जाते हैं और अंतर्स्यंदों में बहुत बड़ी मात्रा में होते हैं – कोशिकाओं के भीतर भी और बाहर भी, साथ ही लसीय झिल्लियों और कुंभिक फाँकों के बीच भी। योजक ऊतकों के रेशे (कोलाजनी और प्रत्यास्थ) अंतर्स्यंदन के क्षेत्र में श्लथ (ढीले-ढाले) हो जाते हैं; जगह-जगह खुरचनों जैसी स्थिति दिखने लगती है, लेकिन अंतर्स्यंदन और परिचर्म के बीच तथा अंतर्स्यंदन-केंद्रों के बीच ये रेशे पूर्ववत बने रहते हैं। स्वेदक और वपाल ग्रंथियां कुपोषित हो जाती हैं।

निदान में यह महत्त्वपूर्ण है कि पहले चर्म और श्लेष्मल झिल्ली पर रोग की रूपलोचनी अभिव्यक्तियों का ही अध्ययन किया जाये, क्योंकि नर्वतंत्र और विशेषकर आंतर अंगों की आक्रांतियां किसी खास प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट (लंछक) नहीं होतीं। इसके बाद आक्रांति-केंद्रों की ऊतलोचनी संरचना और लेप्रोमिन के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया (लेप्रोमिन परीक्षण) का अध्ययन करना चाहिये। लेप्रोमिन परीक्षण में प्रबाहु की आकोचनी (मोड़ने वाली) सतह में अंतर्चर्म सूई दी जाती है – पिसे हुए कुष्ठार्बिक ऊतक से प्राप्त 0.1 मिलिमीटर लेप्रोमिन की, क्योंकि इन ऊतकों में हैसेन के प्रारंभिक प्रतिक्रिया के रूप में सूई के बाद 24 से 48 घंटे में रक्तस्फीति और शोफ विकसित होता है। विलंबित धनात्मक प्रतिक्रिया में दो से चार सप्ताह बाद सूई के स्थल पर एक

पर्विका बन जाती है, जिसका आकार 1.0-1.5 सेंटीमीटर होता है; पर्विका में व्रणन की प्रवृत्ति होती है। विलंबित धनात्मक प्रतिक्रिया अनकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। लेप्रोमिन के प्रति प्रारंभिक और विशेषकर ऋणात्मक प्रतिक्रिया प्रतिकूल भविष्यवाणी का लक्षण है, क्योंकि यह शरीर की इमूनोजीवलोचनी, रक्षी शक्तियों की अनूर्जिता और कमजोरी को प्रतिबिंबित करता है।

कुष्ठार्बिक प्रकार का कुष्ठ ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण तथा नाक की विभाजक दीवार के उपास्थिक भाग की श्लेष्मल झिल्ली में विपुल संख्या में हैंसेन-बासिलों की प्राप्ति द्वारा लंछित होता है। गदलोचनी द्रव्य प्लेटिनम की स्पैचुला (छलनी) या पाश से खुरची जाती है और स्लाइड पर लेप उसे ट्सील-नील्सेन विधि से रंजित कर के बनाया जाता है। ऊतक-रस में अनेक बासिल अनुवेदित होते हैं; ऊतक-रस क्षतिग्रस्त क्षेत्र के चर्म को क्षतांकित कर के प्राप्त किया जाता है। ये रोगी बहुत ही छुतहे होते हैं।

गंठिवत प्रकार का कुष्ठ

यह कुष्ठ कहीं अधिक सुदम प्रवाह द्वारा लंछित होता है। चर्म और परिसरीय नर्वों की आक्राति हावी रहती है। चर्म-क्षतियां तीक्ष्ण परिसीमित वर्णकहीन श्वित्र जैसी चित्तियों से या चमकीली ललछौंह नीली चित्तियों से लंछित होती हैं, जिनके मध्य में पीलापन (विवर्णता, फीकापन) होता है। चित्तियों के परिसर में बैंगनी आभा की चौरस और कठोर बहुभुजी पिटिकाओं की विशेष प्रकार की सीमा होती है। पिटिकाएं संगम कर के ललछौंह बैंगनी या ललछौंह भूरी चौरस चकतियां बनाती हैं। ये आकार में भिन्न होती हैं और कहीं-कहीं वलयाकार आकृतियां बनाती हैं। इन चकतियों के मध्य में निवर्णकता और कुपोषण का धीरे-धीरे विकास होता है।

प्रारंभिक चरण में पीड़ा और तापक्रम के प्रति संवेदिता और कुछ बाद में स्पर्श की संवेदिता से संबंधित गड़बड़ियां गंठिवत कुष्ठ के लिये अत्यंत लंछक विशेषता है। श्वित्रग्रस्त रोगियों में, इसके विपरीत, इस प्रकार की संवेदिताओं को कोई क्षति नहीं पहुंचती। इसके अतिरिक्त, श्वित्र के विपरीत कुष्ठ में तनु 1 : 1000 हिस्टामीन के 0.1 मिलिलीटर की अंतर्चर्म सूई से वर्णकहीन चित्ति के क्षेत्र में ददौरे के गिर्द प्रतिवर्त-रक्तस्फीति संप्रेरित नहीं होती। ग्रस्त परिसरीय नर्व मोटे हो जाते हैं और गुलाब की तरह के सूजनों वाले स्थलों पर तनी हुई रस्सियों की तरह परिस्पर्शित होते हैं।

लेकिन गंठिवत कुष्ठ में नर्व के तनों (बड़ी शाखाओं) की आक्राति ऐसी अभिव्यक्तियां उत्पन्न करती है, जो कुष्ठार्बिक नर्वशोथ और बहुनर्वशोथ से बहुत हल्की होती हैं। चर्म के उपांगों की आक्रांतियां (बालों का झड़ जाना, ग्रस्त क्षेत्रों में स्वेद-स्राव की गड़बड़ियां, आदि) इस प्रकार के कुष्ठ के लिये विशिष्ट हैं।

आंतर अंगों और अंतस्त्रावी ग्रंथियों की आक्रांति अपेक्षाकृत कम होती है और स्थिति सुदम होती है।

लेप्रोमिन-परीक्षण धनात्मक विलंबित प्रतिक्रिया द्वारा लंछित होता है।

पिटिका का ऊतगदलोचन. सुचर्म के ऊपरी भाग में मुख्यतः पराकुंभिक अंतर्स्यंदन मिलता है, जो लसकोशिकाओं, अल्पसंख्या में ऊतकोशिकाओं व उपकलावत कोशिकाओं और सामान्य मात्रा में रेशांकुरों से बना होता है। अल्प संख्या में बासिलों से युक्त कुष्ठ-कोशिकाएं (ये विशाल प्रकार की कोशिकाएं हैं) बहुत कम होती हैं, या बिल्कुल अनुपस्थित होती हैं। अंतर्स्यंदन में कुष्ठार्बिक

कुष्ठ की अपेक्षा कम संख्या में हैंसेन-बासिल होते हैं। कभी-कभी तो वे बिल्कुल ही अनुवेदित नहीं होते, फिर भी उग्रता-काल में उनकी संख्या बहुत बढ़ जा सकती है।

इसमें विशिष्ट प्रकार की क्षतियां नहीं होतीं।

अनिश्चित प्रकार का कुष्ठ

अल्प संख्या में फीके धब्बों की उपस्थिति मे, जिनकी सीमाएं अस्पष्ट होती हैं, मापें और परिरेखाएं भिन्न होती हैं, निदान कठिन हो जाता है। ऐसे रोगियों में हैंसेन के बासिलों का अनुवेदन विरले ही होता है। गदोतलोचनी चित्र में सामान्य प्रकार के अविशिष्ट अंतर्स्यंदन दिखते हैं, जो विभिन्न प्रकार के चिरकालिक चर्मक्लेशों में भी मिलते हैं। अंतर्स्यंदों में कुष्ठ के कोई बासिल नहीं मिलते। इस प्रकार का कुष्ठ कम छूतहा होता है, रोगी की सामान्य अवस्था अक्सर अच्छी होती है, वह अपने को महसूस भी अच्छा करता है। अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ में चर्म के अतिरिक्त परिसरीय नर्वतंत्र भी आक्रांत होता है। इसके विशिष्ट नर्वशोथ में श्वान्न (Schwann) की झिल्ली मोटी हो जाती है, परिनर्व (नर्व-आवरण) मे गोल कोशिकाओं का अंतर्स्यंद संचित हो जाता है और कुछ नर्व-बंडलों में कुष्ठ के सांयोगिक बासिल भी मिल जाते हैं।

बहुनर्वशोथ का नैदानिक चित्र वैसा ही होता है जैसा गंठित प्रकार के कुष्ठ मे, लेकिन गति-प्रेरण (मोटर), कुपोषण और संवेदनाओं से संबंधित गड़बड़ियां (कुपोषज व्रण, चिड़िये के पंजे की तरह हाथ, घोड़े की तरह के पैर का बनना) बहुत तीव्र हो सकती हैं। हैवाना में गृहीत वर्गीकरण मे पहले इस प्रकार के कुष्ठ को चित्तीग्रस्त अनसंवेदक या कुष्ठ का नार्विक रूप कहते थे।

अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ मे ग्रस्त रोगी मे लेप्रोमिन की प्रतिक्रिया भिन्न हो सकती है। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले रोगी में इस प्रकार का कुष्ठ कुष्ठार्बिक प्रकार में संक्रमण कर सकता है। धनात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण अनुकूल भविष्यवाणी का लक्षण है। इस स्थिति में सिर्फ गंठिवत प्रकार के कुष्ठ में संक्रमण संभव है।

मिश्र या दुरूपिया प्रकार का कुष्ठ बच्चों मे (मुख्यतः तीन या इससे अधिक उम्र के बच्चों में) अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है, बनिस्बत कि वयस्कों में। इसमें एक साथ विशिष्ट (कुष्ठार्बिक एवं गंठिवत) और अनिश्चित प्रकार के कुष्ठ से संबंधित गदलोचनी परिवर्तन प्रेक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त, बच्चों में कुष्ठ पूर्विक ललामी के रूप में भी व्यक्त हो सकता है।

विभेदक निदान सीफिलिस और गंठिक्लेश के साथ किया जाता है (दे. तदनुरूप अनुच्छेद)।

चिकित्सा. कुष्ठ-रोगियों की चिकित्सा अभी मुख्यतः सुल्फोन (sulphone) दवाओं से ही होती है। इसके अतिरिक्त थिओसेमिकार्बाजोन के व्युत्पाद (थियोक्सीडुम) या एथिलमेर्कप्टान के यौगिकों (एटीमुर), खाउलमूग्रा (चालमूग्रा) के प्रसाधन (खाउलमूग्रा तेल और मुग्रोल) और इजोनिकोटीनिक अम्ल हाइड्राजीड (एथिओनामीड) भी प्रलिखित किये जाते हैं।

डिआमीनोफेनिलसुल्फोन (DDS) और इसके उत्पाद मुख्य एंटीकुष्ठ साधन हैं।

DDS, आव्लोसुल्फोन और डाप्सोन दो सप्ताह तक दिन में दो बार दिये जाते हैं (रविवार को छोड़ कर); एक खुराक 0.05 ग्राम होती है। इसके बाद 6 महीने तक नित्य 0.1 ग्राम की खुराक दो बार दी जाती है।

सुल्फेट्रोन के 50 प्रतिशत सांद्र घोल की अंतर्पेशीय सूई सप्ताह में दो बार दी जाती है; प्रथम सप्ताह मे 0.5 मिलिलीटर, दूसरे सप्ताह 1.0 मिलिलीटर, तीसरे सप्ताह 1.5 मिलिलीटर, चौथे

सप्ताह 2.0, पाँचवें सप्ताह 2.5 और छठे सप्ताह 3.0 मिलिलीटर, सातवें और आगे के सप्ताहों में 3.5 मिलिलीटर। चिकित्सा छे महीनों में 50 सूइयों से होती है।

हाल में एक नया एंटीकुष्ठ साधन डिउसीफोन संश्लिष्ट किया गया है। मुख्य एंटीकुष्ठ दवा DDS की तुलना में इसकी गरलता एक चौथाई है और लंबे समय तक देने पर भी कोई अवांछनीय प्रभाव नहीं उत्पन्न होते जैसा कि अक्सर सुल्फोनों के उपयोग से होता है। इस नयी दवा का 0.1-0.2 ग्राम दिन में तीन से पाँच बार मुख मार्ग से दिया जाता है या इसके 5 प्रतिशत सांद्र घोल का 5 मिलिलीटर नित्य अंतर्पेशीय सूई द्वारा दिया जाता है।

सुल्फोन की दवाएं यकृत एवं वृक्क के कार्यों में तीव्र एवं स्थायी गड़बड़ियां होने पर प्रतिसंकेतित हैं; वे रक्तोत्पादक अंगों, हृत्कुंभिक तंत्र की अपूर्त्ति, तीव्र जठरांत्र-रोगों और केंद्रिय नर्वतंत्र के आंतरिक रोगों में भी हानिकर हैं।

सुल्फोनों के अवांछनीय प्रभाव निम्न हैं: अनपच, सरदर्द, चक्कर, गरलताजनक चर्मशोथ, और कुछ स्थितियों में अवरंगी रकताल्पता तथा यकृतशोथ। जब ये विकसित होते हैं, खुराक घटा दी जाती है या कुछ समय के लिये दवा रोक दी जाती है।

तीव्र मृदूतकीय यकृतशोथ में सुल्फोन दवाएं रोक दी जाती हैं और बिस्तर में पूर्ण विश्राम, वसा और मसालों पर रोक (आहार में), विटामिन B_{12} और B_{15}, आस्कोर्बिक तथा नीकोटीनिक अम्ल, ग्लूकोज, अल्कोहल, मेथिओनीन और तीव्र स्थितियों मे कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन (बच्चे की दैनिक खुराक 1 मिलिग्राम प्रति किलोग्राम) प्रलिखित किये जाते हैं।

अवतीव्र या चिरकालिक यकृतशोथ से ग्रस्त कुष्ठ रोगी को सुल्फोन सावधानी के साथ अल्प खुराकों में दिये जाते हैं और यकृत के कार्य का नियमित रूप से परीक्षण किया जाता है। यकृत का कार्य सुधारने वाली औषधियां (विटामिन, B_{12} और B_{15}, नीकोटीनिक अम्ल, लीपोकेन के साथ मेथिओनीन, ग्लूकोज, खोलोज़ास, आल्लोखोल आदि) और मही आहार प्रलिखित किया जाता है।

रक्ताल्पता की चिकित्सा लौह प्रसाधनों (हेमोस्टीमूलिन, अविकृत फेरस लैक्टेट आदि), विटामिन B_{12}, विटामिन बी-संकुल, आस्कोर्बिक अम्ल, आखंडित (अंशों में) रक्ताधान आदि से की जाती है।

'सीबा- 1906' और एथोक्सीडुम – ये थिओयूरिया के व्युत्पन्न हैं और सुल्फोनों की तुलना में कम गरलकारी हैं। 'सीबा 1906' (थिओकार्बोनीलीड) निकट एक बार मुखमार्ग से सोमवार से शनीवार तक दिया जाता है – पहले व दूसरे सप्ताह 0.5 ग्राम, तीसरे से छठे सप्ताह तक 1.0 ग्राम, सातवें से बारहवें सप्ताह तक 2.5 ग्राम और इसके बाद चिकित्सा के अंत तक 2.0 ग्राम। पूरी चिकित्सा 40 सप्ताह चलती है (रविवारों को छोड़ कर); इसके बाद महीने का विराम किया जाता है।

एथोक्सीडुम मुखमार्ग से नित्य तीन बार दिया जाता है – प्रथम सप्ताह 0.1 ग्राम की खुराकों में, दूसरे सप्ताह 0.2 ग्राम की और तीसरे सप्ताह से 0.3 ग्राम की खुराकों में। जब दवा अच्छी तरह सहन होने लगती है, तब कुछ रोगियों के लिये 21-वें सप्ताह से एक खुराक की मात्रा 0.5 ग्राम तक बढ़ा दी जाती है। चिकित्सा 40 दिन तक चलती है (रविवारों को छोड़ कर) और इसके बाद एक महीने का विराम किया जाता है।

एटीसुल (एथिलमेर्काप्टान ग्रुप का एक यौगिक) सुल्फोनों के चिकित्सकीय गुणों में स्पष्ट वृद्धि करता है। 5 ग्राम की खुराक बारी-बारी से बाहों, वक्ष, पेट और पीठ की त्वचा में मली जाती है (सप्ताह में तीन बार); बालों वाले चर्म-क्षेत्र और चेहरे की त्वचा को अछूता रखा जाता है।

एटीसुल की जगह 10 प्रतिशत सांद्र सुल्फेट्रोन-मलहम भी प्रयुक्त हो सकता है। मलने का काम हर बार 20 मिनट तक चलता है, इसके बाद त्वचा को एक घंटा तक अनावृत छोड़ देते हैं, फिर फुहार में स्नान कराया जाता है। साथ -साथ DDS (या आव्लोसुल्फोन) भी प्रलिखित किया जाता है – 100 मिलिग्राम नित्य एक बार (चार सप्ताह तक)। अच्छी सहनशीलता होने पर इसकी खुराक 200 मिलिग्राम तक बढ़ायी जा सकती है (आधी मात्रा सुबह और बाकी – शाम को); लेकिन यह काम पाँचवे सप्ताह से ही किया जाता है। चिकित्सा छे महीने तक चलती है।

चालमूग्रा के प्रसाधन – इसका तेल और इसके तेल का एथिल ईथर (मुग्रोल) – सुल्फोन-चिकित्सा के दौरान या चिकित्सा के बीच विराम-काल में सहायक साधनों की तरह प्रयुक्त होते हैं। चालमूग्रा के प्रसाधन अंतर्चर्मि सूई द्वारा सप्ताह में दो बार दिये जाते हैं; पहली बार सूई से 0.5-1.0 मिलिलीटर दी जाती है, फिर प्रत्येक सूई में 1.0 मिलिलीटर बढ़ाते हुए कुल मात्रा 5.0 मिलिलीटर तक पहुँचायी जाती है। इसका दौर कुल 30 सत्र में प्रत्येक सत्र में दस से 100 अंतर्चर्मि सूइयां दी जाती हैं (1.0 मिलिलीटर की मात्रा 20 सूइयों में दी जाती है, ताकि त्वचा का क्षेत्र नारंगी के छिलके जैसा दिखने लगता है)। सत्रों के बीच एक-एक महीने का विराम रखा जाता है। दवा का सूई द्वारा आधान पहले चर्म के ग्रस्त क्षेत्रों में होता है, फिर उन क्षेत्रों में, जो सामान्य दिखते हैं। जिस क्षेत्र की चिकित्सा की जाती है, वहां फिर सूई कम से कम एक महीना बाद ही लगानी चाहिये।

एथिओनामीड आइसोनीकोटिनिक अम्ल का एक प्रसाधन है। इससे चिकित्सा का एक दौर छे महीनों तक चलता है। टिकियां भोजन से एक घंटा पहले ली जाती हैं और ऊपर से पानी (अक्षारीय) पीया जाता है। पहले नित्य 0.25 ग्राम लिया जाता है, फिर पाँच दिनों में खुराक 0.5 ग्राम तक बढ़ायी जाती है (दिन में दो बार आधा-आधा)। यदि दवा अच्छी तरह सहन हो जाती है, तो दैनिक खुराक 0.75 ग्राम तक बढ़ाई जाती है (दिन में तीन बार 0.25 ग्राम)। यह 11-वें दिन से किया जाता है। 50 किलोग्राम भारी रोगियों की और बड़े बच्चों की दैनिक खुराक 0.5 ग्राम से अधिक नहीं होनी चाहिये।

दवा का चुनाव और खुराक की मात्रा हर व्यक्ति के लिये अलग-अलग उसके शारीरिक गुणों के आधार पर होनी चाहिये। ऊपर प्रस्तावित खुराकें (एक, दैनिक और पूरी चिकित्सा के दौर की) वयस्कों के लिये है। बच्चों के लिये ये खुराकें उम्र और शरीर के भार के अनुसार होनी चाहिये; शरीर की सामान्य अवस्था और प्रतिकारिता, रोग के विकास-चरण और कुष्ठ-प्रक्रिया की प्रकृति को भी ध्यान में रखा जाता है।

चिरकालिक एवं अंतरालयुक्त चिकित्सा-विधियों की सलाह दी जाती है। दवा के प्रति अभ्यस्तता को रोकने के लिये उसे बदलते रहते हैं या विभिन्न एंटीकुष्ठ प्रसाधनों का मेल प्रयुक्त करते हैं (दो या अधिक से अधिक तीन दवाओं का इस प्रकार प्रयोग होता है कि कुल खुराक ज्यों की त्यों रहे। परस्पर संबंधित दवाओं को निश्चय ही एक साथ नहीं प्रलिखित करना चाहिये (जैसे सुल्फोन और DDS, 'सीबा- 1906' और एथोक्सीडुम को एक साथ देना निरर्थक है)।

चिकित्सा की अवधि दवा के प्रति सहनशीलता, रोग के प्रकार और चरण, रोगी की अवस्था आदि घटकों पर निर्भर करती है।

एंटीकुष्ठ चिकित्सा के साथ-साथ सामान्य स्फूर्तिदायक युक्तियों का संकुल और विटामिनों से भरपूर पर्याप्त एवं विविध आहार भी प्रयुक्त होता है। हाल में कुष्ठ की चिकित्सा की विशिष्ट दवाओं के साथ-साथ इनकी रसायनिक चिकित्सकीय प्रभाव को बढ़ाने वाले प्रसाधनों का भी सफलतापूर्वक

उपयोग हो रहा है। इनमें निम्न नाम आते हैं: 4-मेथिलउरासिल (मेथासिल) और पेटोक्सिल। जब भी आवश्यकता होती है, अंगसोझक, करोर्जिक, नेत्रलोचनी और कर्णकंठलोचनी सहायता भी दी जाती है, आंतर रोगों की चिकित्सा की जाती है।

सफाई और हाइजिन की उचित परिस्थितियां बनाये रखना, रोगी को व्यक्तिगत हाइजिन के नियम समझाना, सही दिनचर्या का पालन करना और यह विश्वास दिलाना की वह पुन स्वस्थ हो जायेगा, ये सभी बातें अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अल्कोहलिक पेय वर्जित है।

निरोध. जिस क्षेत्र से रोगी आया है, वहां के सभी निवासियों का परीक्षण करना चाहिये। जो लोग रोगी के संपर्क में लंबे समय से थे, उनकी विशेष रूप से जाँच होनी चाहिये। इन लोगों और खासकर सगे-संबंधियों का लेप्रोमिन-परीक्षण अवश्य होना चाहिये (पूर्ण तल्पिक परीक्षण और नासा-विभाजक भित्ति की खुरचनों का परीक्षण भी करना चाहिये)। ऋणात्मक लेप्रोमिन-परीक्षण वाले लोगों का सावधानी से परीक्षण करना चाहिये और निरोधक चिकित्सा देनी चाहिये।

यह ध्यान में रखते हुए कि गर्भाशय में स्थित बच्चा माँ से कुष्ठ नहीं प्राप्त करता, वह जन्म के बाद माँ के संसर्ग से इसे प्राप्त करता है, बच्चे को जन्मोपरांत तुरन्त रोगी माँ-बाप से अलग कर देना चाहिये।

जिस इलाके में कुष्ठ-रोगी अनुवेदित होता है, वहां के सभी लोगों को प्रतियक्ष्मा टीका और BCG -टीका (काल्मेट-गेरीन टीका) दी जानी है। सभी ज्ञात रोगियों को एक पृथक्कृत कुष्ठाश्रम में रखना चाहिये, जहां उन्हें कारगर चिकित्सा दी जा सके। कुष्ठ प्रतिष्ठान से रोगी को छुट्टी देने के सुसंकेत सोवियत संघ के स्वास्थ्य मंत्रालय के विशेष आदेश (28 मई, 1962) में निर्दिष्ट हैं।

लोगों की जीवन-परिस्थितियों, सामाजिक कल्याण व स्वास्थ्य-सेवा में निरंतर उन्नति विभिन्न रोगों के निरोध में एक महत्वपूर्ण घटक है, जिनमें कुष्ठ भी एक है।

चर्म-यक्ष्मा (चर्म-गंठिक्लेश)

सामान्य सूचनाएं

चर्म-यक्ष्मा सभी देशों में पाया जाता है। गंठिक (tuberculous) रोग एक विशेष ग्रुप बनाते हैं, जो तल्पिक व रूपलोचनी विशेषताओं और परिणामों में भिन्न होते हैं। अधिकांश के लिये चिर-कालिक एवं पुनरावर्ती प्रवाह विशेष लक्षण है।

हेतुलोचन. यक्ष्मा (गंठिक्लेश – tuberculosis) उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरियों की खोज रोबर्ट कोख ने 1882 में की थी।

गंठिक्लेश उत्पन्न करने वाले कवकी बाक्तेरी या मीकोबाक्तेरी (मीकोबाक्तेरिउम टुबेरकुलोसिस; संक्षेप में – मी-यक्ष्मा) बहुरूपी होते हैं, इनके विकासचक्र विविध हैं। ये धागे जैसे, छड़ी जैसे (बासिल), गोल और अंतर्स्यूत होते हैं। ये एसिड-फास्ट और ग्राम धनात्मक होते हैं, इनकी लंबाई 2-4 मिक्रोमीटर और चौड़ाई 0.2-0.6 मिक्रोमीटर होती है, इनका कैप्सुल नहीं होता, ये स्पोर नहीं बनाते। मी-यक्ष्मा ट्सील-नील्सेन की विधि से रंजित होते हैं; ये वातजीवी हैं और विभिन्न माध्यमों में जी सकते हैं। शुष्क (सूख गये) थूक में भी ये कई सप्ताह तक जीवनक्षम रहते हैं। 5 प्रतिशत सांद्र फेनोल-घोल को उतने ही थूक में मिलाने पर वे सिर्फ छे घंटे के बाद ही मरते हैं।

सिर्फ तीन प्रकार के मी-यक्ष्मा आदमी के लिये गदजनक महत्त्व रखते हैं: मानुषी (typus humanis), मवेशिक (गाय-बैल के; typus bovinus) और वातीय (typus avium)। मानुषी मीकोबाक्तेरी चर्म-गंठिक्लेश के अधिकेंद्रों में सबसे अधिक पाये जाने वाले जीवाणु हैं, मवेषिक अपेक्षाकृत कम अनुवेदित होते हैं (एक चतुर्थांश से पंचांश केसों में) और वातीय प्रकार के जीवाणु बहुत विरले ही पाये जाते हैं।

गंठिक्लेश के अन्य रूपों (क्लोमिक, अस्थीय) की तुलना में चर्म की गंठिक क्षतियां बहुत विरल हैं। जीवन-परिथितियों तथा स्वास्थ्य-शिक्षा की उन्नति और चिकित्सा व निरोध की उपलब्धियों के कारण सोवियत संघ में अब चर्म-गंठिक्लेश एक विरल रोग है। यह भी उल्लेखनीय है कि चर्म के प्राथमिक गंठिक्लेश (प्राथमिक गंठिक कठव्रण और तीव्र वर्जरिक गंठिक्लेश) पहले भी विरल थे। चर्म-गंठिक्लेश उन्हीं लोगों में विकसित होता है, जिन्हें पहले कभी गंठिक्लेश हुआ होता है, या जो शरीर के अन्य अंगों या तंत्रों के गंठिक्लेश से ग्रस्त होते हैं।

गदजनन. चर्म की गंठिक क्षतियों के विकास की युक्ति का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। ऐसी धारणा है कि सामान्य चर्म मी-यक्ष्मा की जीवन-क्रियाओं के लिये अनुकूल माध्यम नहीं है, सिर्फ विशेष परिस्थितियों में ही चर्म की गंठिक आक्रांति संभव है। निम्न घटकों को कुछ हद तक महत्त्वपूर्ण माना जाता है: हर्मोनिक अपक्रिया, नर्वतंत्र की अवस्था, विटामिन-संतुलन की अवस्था, शरीर में जल और खनिजों का विनिमय, कुंभिक गड़बड़ियां (रक्तस्फीति, कुंभिक दीवारों की बेधिता और प्रतिरोध में परिवर्तन) आदि। सामाजिक घटक भी महत्त्वपूर्ण होते हैं: जीवन-स्तर, आहार, हानिकर वृत्तिक घटक आदि। अन्य संप्रेरक घटकों में जलवायवी (जैसे पराबैंगनी किरणों की कमी), सामान्य पैठी रोग (खसरा, शोण-ज्वर आदि) का नाम लिया जा सकता है, जो शरीर का रक्षी प्रतिकारी बल क्षीण कर देते हैं। इमूनता और परोर्जन की अवस्थाएं भी चर्म की गंठिक क्षतियों के विकास में विशेष भूमिका निभाती हैं। चर्म में योजक-ऊतकीय घटको की प्रचुरता और उनके विविध रक्षी शरीरलोचनी कार्य चर्म में बाधा डालते हैं, इसीलिये अन्य अंगों में गंठिक्लेश की विभिन्न अभिव्यक्तियों के बावजूद चर्म इससे अछूता रह जाता है।

चर्म-गंठिक्लेश सिर्फ चर्म के विभिन्न शरीरलोचनी कार्यों में गड़बड़ियों के संकुल के फलस्वरूप ही विकसित होता है, जिसके साथ-साथ इमूनता में ह्रास और संवेदीकरण का विकास प्रेक्षित होता है। ऐसी स्थितियों में नियमतः निमित्त कारणों की विषालुता और परोर्जक क्षमता बढ़ जाती है। अविशिष्ट इमूनता जितनी ही कमजोर होती है, परोर्जक सक्रियता उतनी ही सक्रिय हो जाती है (यू. स्क्रीप्किन)। विशिष्ट संवेदीकरण परा-परोर्जिक संवृत्तियों और अविशिष्ट परोर्जक प्रभावों द्वारा तीव्र हो उठता है। टुबेरकूलिन के प्रति यक्ष्मा-रोगी की अतिसंवेदिता से मी-यक्ष्मा की संवेदीकारी क्षमता सिद्ध होती है। गंठिक परोर्जीकरण की संपुष्टि स्थानिक (टुबेरकूलिन की सूई के स्थल पर) प्रतिक्रिया से ही नहीं, वरन् अधिकेंद्रों में उग्रता और पूरे शरीर की सामान्य प्रतिक्रिया (ज्वर, अस्वस्थता, कँपकँपी आदि) से भी होती है।

गदलोचनी क्षेत्र के ऊतकों में निमित्त कारण का अनुवेदन, पोषक माध्यम में मी-यक्ष्मा का पनपना, जंतुओं में गदलोचनी द्रव्य के आधान के धनात्मक परिणाम (विशेषकर गीनिया पिग में, जो यक्ष्माकारी बासिलों के प्रति बहुत संवेदी होता है), चर्म में एक गंठिवत संरचना की उपस्थिति, और इन सबके साथ-साथ टुबेरकूलिन-परीक्षण – पिर्के (Pirquet,) और मंटो (Mantoux) के परीक्षण – के परिणाम चर्मरोग के याक्ष्मिक हेतुलोचन के प्रमाण हैं। चर्म-गंठिक्लेश के अनेक केसों (विशेषकर इसके प्रकीर्णित रूप में) ये रीतियां ऋणात्मक परिणाम देती हैं। ऐसे केसों में अधिक

व्यापक परीक्षण करना पड़ता है, जिसमें पूर्ण आयुर-वृत्त (जन्म से सभी रोगों और स्वास्थ्य-अवस्था के इतिहास), माता-पिता के स्वास्थ्य, क्लोम तथा लसतंत्र की अवस्था, आदि (चर्म-यक्ष्मा के प्रकीर्णित रूप से ग्रस्त 80 से 100 प्रतिशत बच्चों में क्लोम तथा लसतंत्र आक्रांत हो जाते हैं)। जटिल केसों में लाभ-प्रेक्षण के आधार पर निदान किया जाता है (किस प्रकार की दवा या चिकित्सा से लाभ होता है, इसके आधार पर – diagnosii ex juvantibus; लाभ से निदान)।

चर्म-गंठिक्लेश के तल्पिक रूपों की विविधता अनेक घटकों द्वारा निर्धारित होती है, जिनमें चर्म की इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता एक मुख्य भूमिका निभाती है। रोगी की उम्र का भी एक निश्चित महत्त्व होता है। कंठमाल-चर्मता, वृका और शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा अक्सर बचपन और कैशोर्य में विकसित होते हैं, जबकि मसेदार चर्म यक्ष्मा और कठललामी मुख्यतः वयस्कों को ग्रस्त करती है। जलवायवी (अभिनतिक) परिस्थितियां मी-यक्ष्मा की जीवन-क्रिया के अनुकूल भी हो सकती हैं और प्रतिकूल भी। उदाहरणतः, क्रीमिया, काकेशिया और एशिया के निवासी यक्ष्मज वृका से विरले ही ग्रस्त होते हैं।

यक्ष्माकारी बासिल चर्म में बहिर्जनित या अंतर्जनित मार्ग से प्रविष्ट हो सकते हैं। प्रथम स्थिति में निमित्त जीवाणु स्वस्थ व्यक्ति के चर्म में अधिचर्म के विदार या निशल्कन के मार्ग से रोगी व्यक्ति या जंतु से, अथवा किसी अन्य वस्तु से संक्रमण कर सकते हैं (जैसे कसाईखाने में)। वैसे, यह पैठनमार्ग विरल है। अंतर्जनित पैठन अधिक सामान्य (प्रायिक) है: किसी अन्य अंग (क्लोम, अस्थियों, लसपर्वों आदि) में स्थित गंठिक अधिकेंद्र से जीवाणु चर्म में रक्त के सहारे (रक्तजनित मार्ग से) या लसीका के सहारे (लसजनित मार्ग से) पैठन करते हैं। यह पैठन की अपवहन--रीति है, जिससे प्रकीर्णित वर्जरिक चर्म-यक्ष्मा, यक्ष्मज वृका का प्रकीर्णित रूप आदि विकसित हो सकता है। निकटवर्ती आक्रांत अंग से सतत प्रसार द्वारा या थूक, मल-मूत्र में उपस्थित मी-यक्ष्मा के स्व-आधान द्वारा भी चर्म में पैठन संभव है, जैसे आंत्र-यक्ष्मा से ग्रस्त रोगी के पृष्ठद्वार के गिर्द और क्लोमिक यक्ष्मा के रोगी की मुख-श्लेष्मला पर गंठिक प्रक्रियाएं शुरू हो जाती हैं।

चर्म की गंठिक आक्रांतियों का कोई पूर्ण और संतोषप्रद वर्गीकरण नहीं है। चर्म-यक्ष्मा के बहुसंख्य रूपों को दो ग्रुपों में बांटा गया है: स्थानाबद्ध (अधिकेंद्रयुक्त) और प्रकीर्णित। सामान्य वृका (यक्ष्मज वृका), कंठमाल-चर्मता (संगलक यक्ष्मा), मसेदार चर्म-यक्ष्मा, व्रणित चर्म यक्ष्मा और बाजिन (Bazin) का रोग (कठललामी) सामान्यतम स्थानाबद्ध रूप हैं। वर्जरिक गंठिक्लेश, शैवाकवत चर्म-यक्ष्मा (पुराना नाम: कंठमालकारी शैवाक) और पिटिकामृतिक गंठिक्लेश प्रकीर्णित चर्म-यक्ष्मा का ग्रुप बनाते हैं।

स्थानाबद्ध रूप (अधिकेंद्रिक चर्मयक्ष्मा)

सामान्य वृका, या वृकीय चार्म गंठिक्लेश

यह चर्म-यक्ष्मा का सबसे प्रायिक रूप है। यह चिरकालिक, मंद तथा प्रगामी प्रवाह और ऊतक-गलन की प्रवृत्ति द्वारा लंछित होता है। रोग अक्सर बचपन में शुरू होता है और वर्षों तक (कभी-कभी तो जीवनभर) बना रहता है। पिछले समय से वयस्कों में भी इसकी प्रायिकता बढ़ने लगी है।

यक्ष्मज (या सामान्य) वृका अक्सर चेहरे पर, विशेषकर नाक पर (80 प्रतिशत केसों में), गालों, ऊपरी होठों और कभी-कभी गरदन, धड़ तथा हाथ-पैरों पर स्थानाबद्ध होता है; अक्सर यह श्लेष्मल झिल्लियों पर भी विकसित हो जाता है (करीब 70 प्रतिशत रोगियों में)।

इस रोग से संबंधित कृतियों में निम्न आँकड़े मिलते हैं: सामान्य वृका के 5 से 10 प्रतिशत रोगियों को क्लोमिक यक्ष्मा रहता है, 5 से 20 प्रतिशत को अस्थियों और अस्थि-संधियों का यक्ष्मा रहता है। चर्म मुख्यतः रक्तजनित या लसजनित मार्ग से आक्रांत होता है। प्रक्रिया अक्सर चोटज क्षति (कटने-फटने) के अधीन होती है, जिसमें अव्यक्त पैठन सक्रिय हो उठता है।

रोग का आरंभ वृकार्बों की उत्पत्ति मे होता है। ये पिन के सर से ले कर मटर के दाने के आकार की पिटिकाएं होती हैं; इनका रंग भूरा-ललछौंह होता है, जिसपर विभिन्न तीव्रता की पीली-भूरी आभाएं होती हैं। वे मुलायम पेस्ट की तरह होती हैं; उनकी सतह चिकनी और हल्की चमकदार होती है, जिसपर बाद में शल्कन शुरू हो जाता है। वृकार्ब अक्सर ग्रुपों में स्फुटित होते हैं, जो शुरू में अलग-अलग होते हैं, फिर बाद में मिल जाते हैं; उनके परिसर में हमेशा अतिरक्तिल क्षेत्र दिखाई देता है। चूँकि प्रत्यास्थ एवं योजक ऊतकों की मत्यु के कारण पिटिका में पेस्ट जैसा मुलायम द्रव्य होता है, इसलिये घुंडीनुमा छोर वाली सींक (नुकीली नहीं) से दबाने पर वह पूरी गहराई तक गड्ढा बना देती है (पोस्पेलोव का लक्षण)। एक अन्य लक्षण भी है, जिसका निदान के लिये कुछ कम महत्त्व नहीं है (डायस्कोपी): जब काँच के पतले पट्टे को वृका के अधिकेंद्र पर दबाया जाता है, रक्त विस्फारित केशिकाओं मे निकल कर दूर हो जाता है और वहां का ऊतक विवर्ण हो जाता हैं, जिसके फलस्वरूप वृकार्ब मोम-सदृश पीले-भूरे धब्बे की तरह दिखने लगता है। भूरा रंग सेब की जेली जैसा लगता है, इसलिये इस लक्षण को 'सेब-जेली की संवृत्ति' का नाम दिया गया है।

चित्र 13. सामान्य वृका

पिटिकाएं धीरे-धीरे बढ़ती हैं, संगम कर के अनियमित आकृति के धब्बे बना लेती हैं (चित्र 13), जिसमें गुल्म जैसे अधिकेंद्र होते हैं। बड़े व्रण अंतर्स्यंद के नष्ट होने से बनते हैं। सामान्य वृका के 4 प्रतिशत केस कंटकोशिकीय या आधार-कोशिकीय कर्कार्ब से क्लिष्ट हो जाते हैं। वृकीय अंतर्स्यंदों के शुष्क अपचोषण से कुपोषी दाग रह जाते हैं। वृकार्ब के स्थल पर बनने वाले दाग चौरस, श्वेताभ और देखने में सिगरेटी कागज जैसे होते हैं। वृकीय क्षतियां कुपोषी दाग के स्थल पर दुबारा भी उत्पन्न हो सकती हैं (गदोचीनक चिन्ह)। सामान्य वृका के कई तल्पिक रूप हैं, जो पर्विकाओं के बाह्य रूप, किन्ही विकास-चरणों के प्राबल्य, और रोग-प्रक्रिया के प्रवाह द्वारा विभेदित होते हैं।

ऊपर वर्णित मुख्य रूप को चौरस वृका कहते हैं, जिसके दो भेद हैं: चौरस चित्तीनुमा वृका और चौरस गंठिक वृका। प्रथम में वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभरे हुए नहीं होते; दूसरे रूप में वृकार्ब त्वचा से ऊपर उभर कर गाँठों की तरह मोटे (और परिसीमित) धब्बे बना लेते हैं।

गुल्मवत वृका ऐसी अवस्था है, जिसमें गुल्म जैसी मुलायम क्षतियां उत्पन्न होती हैं; दरअसल ये नन्हीं, परस्पर संलीन पर्विकाओं का जमघट होती हैं। ये कान और नाक की नोक पर स्थित होती हैं और इनमें व्रण्य अपघटन की प्रवृत्ति होती है।

ललामीवत सामान्य वृका प्रचंड अतिरक्तिल अधिकेंद्रों और स्पष्ट अतिशृंगनता द्वारा लंछित होता है।

शल्की वृका में शृंगी परत ढीली हो जाती है और वृकीय अधिकेंद्र पर स्पष्ट शल्कन शुरू हो जाता है।

अतिकुपोषी मसेदार वृका में वृकार्बों पर कीलक जैसे बड़े-बड़े अतिशृंगिक प्रवर्ध बन जाते हैं।

विव्रणित वृका अधिकेंद्र के विस्तृत व्रणन द्वारा लंछित होता है। व्रण सतही होते हैं और उनकी परिरेखाएं अनियमित एवं शुक्तिक होती हैं। किनारियां मुलायम और सुरंगित होती हैं और तली गंदे-भूरे कीलक जैसे कणीकरण से ढकी होती है और सरलतापूर्वक रक्त-स्राव करने लगती है।

कुछ केसों में गहराई पर स्थित ऊतक (उपास्थियां, अस्थियां, संधियां) भी विनाशकारी व्रणन की चपेट में आ जाते हैं। इससे विकलांगता, रेशेदार व गुल्मवत क्षतांक, नाक, कान, पलक, उंगलियों और हाथ-पैर के आकार में विकृति उत्पन्न होती है (विकलांगकारी वृका)। नाक की विभाजक भित्ति और उपास्थि के नष्ट होने से वह चिड़िये की चोंच जैसी छोटी और नुकीली हो जाती है। पलकों का उलटना (विवर्तन), मुँह का सँकरा होना, कर्ण-पालिका और कर्ण-कुहर की विकृति भी पायी जाती है। इन सब से रोगी बदशक्ल हो जाता है।

श्लेष्मल वृकीय गंठिक्लेश नाक और मुँह की श्लेष्मलाओं की आक्रांति है, जो कभी-कभी असंपृक्त भी होती है। मुँह में मसूढ़ों और कठोर तालू की श्लेष्मल झिल्लियां रोग-प्रक्रिया के प्रिय स्थल हैं। शुरू में बाजरे के दाने जैसी नन्ही नीलाभ लाल गंठिकाएं उत्पन्न होती हैं; ये इतनी पास-पास होती हैं कि ग्रस्त क्षेत्र की सतह दानेदार दिखने लगती है। उनमें निरंतर चोट आदि लगते रहने से वे व्रणित होने लगती हैं। व्रणों की सीमा अनियमित शुक्तिक (सीप की सीमारेखा जैसी) होती है और तली कणदार (दानेदार) होती है। इनसे सरलतापूर्वक रक्त रिसने लगता है और ये एक पीली झिल्ली से आच्छादित होते हैं। व्रणों के गिर्द यदाकदा गंठिकाएं भी नजर आती हैं। प्रक्रिया वर्षों तक चलती रहती है, बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और इसके साथ-साथ लसग्रंथिशोथ व श्लीपद भी शुरू हो जाते हैं। जब क्षतियां त्वचा पर भी पायी जाती हैं, तब निदान सरल हो जाता है। नासा-श्लेष्मला की आक्रांति गहरे नीले रंग के मुलायम पर्विकीय अंतर्स्यंदन द्वारा लंछित होती है, जो सरलतापूर्वक रक्त रिसाने वाले व्रण बनाते हुए अपघटित हो जाता है। उपास्थि के नष्ट

हो जाने के कारण नाक पर एक आरपार छेद बन जाता है। चेहरे के चर्म में सामान्य वृका की आक्रांति से पूर्व नासा-श्लेष्मला में क्षति उत्पन्न होती है।

अन्य रूप भी वर्णित किये गये हैं: बुसनरूपी सामान्य वृका, जिसमें शृंगन प्रक्रिया में गड़बड़ी के कारण हल्का शल्कन होने लगता है; खर्जुरूपी सामान्य वृका, जिसमें शल्कों पर चांदी की तरह चमकीली आभा होती है; विसर्पी सामान्य वृका, जिसमें केंद्रस्थ वृकार्ब जब कुपोषी क्षतांक बनाता हुआ अपचोषित हो जाता है, परिसर पर (और पुराने वृकार्ब की जगह भी) नये वृकार्ब उत्पन्न होने लगते हैं। इन स्थितियों में अधिकेंद्रों को परिरेखाएं बिल्कुल भिन्न प्रकार की हो जाती हैं। सामान्य वृका के अन्य रूप भी हैं, जैसे—अपशल्की, प्रस्तरवत, खठ्ठीवत।

सामान्य वृका अक्सर निम्न रोगों से क्लिष्ट हो जाता है: चर्मशोथ से (नाक, होठ, पैर के रोगग्रस्त चर्म-क्षेत्र पर), लसकुंभीशोथ से, एक पूयकारी प्रक्रिया से (इंपेतिग वृका), और चर्म-कर्कार्ब (कर्कार्बी वृका) से, जो विशेष खतरनाक होता है; यह कुपोषी वृकीय क्षतांकों के परिप्रेक्ष्य में विकसित होता है। कर्कार्बी वृका अधिकांशतः उन लोगों के चेहरे के चर्म पर होता है, जो बहुत लंबी अवधि से सामान्य वृका की चपेट में रहते हैं।

ऊतगदलोचन. सुचर्म में गंठिकाएं उत्पन्न होती हैं, जो उपकलीय एवं विशाल कोशिकाओं से बनी होती हैं और लसकोशिकाओं के एक क्षेत्र से घिरी रहती हैं। लांगहांस (Langhans) की विशाल कोशिकाएं गंठिका के मध्य में होती हैं। परिसरीय क्षेत्र में लसकोशिकाओं के अतिरिक्त प्लाज्मा-कोशिकाएं भी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित रहती हैं। गंठिकाओं में पनीर-सदृश विमृति नहीं होती, या बहुत कम होती है। यत्र-तत्र ऐसी भी कुंभियां मिलती हैं, जिनका आवरण बदल चुका होता है और यहां तक कि छेद (भीतरी मार्ग) भी अवरुद्ध रहता है। मी-यक्ष्मा मुश्किल से मिलते हैं और बहुत ही कम संख्या में होते हैं। कभी-कभी विशाल कोशिकाओं से युक्त विसरित लसवत अंतर्स्यंदन का पता चलता है; उसमें कोलाजनी प्रत्यास्थ ऊतक नहीं होते। अधिचर्म में परिवर्तनों की प्रकृति द्वितीयक होती है—अतिशृंगनता, कंटलयक्लेश और पिटिकार्बक्लेश (मसेदार वृका में)। वृकीय व्रणों की किनारियों पर अधिचर्म स्पष्ट कंटलयन की अवस्था में होता है। वृकीय अंतर्स्यंदन कभी-कभी क्षतांकों के क्षेत्र में बचा रह जाता है, जिससे क्षतांकित ऊतक पर वृकार्ब का पुनरावर्तन हो जाता है।

निदान निम्न पर आधारित होता है: रोग के तल्पिक लक्षणों, वृकार्बों के लंछक गुण ('सेब की जेली' और पोस्पेलोव के लक्षण), उनके स्थान, प्रक्रिया के प्रवाह, क्षतांकों की प्रकृति।

विभेदक निदान गंठिकीय सीफिलिस, कुष्ठ व लेइशमैनता के गंठिवत रूपों, अंशुकवकता, ललामक्लेशिक वृका के डिस्कवत (डिस्कोइड, चकतीनुमा) रूप के साथ किया जाता है। गंठिकीय सीफिलिस में गंठिकाएं कठोर होती हैं, अधिकेंद्रों के रूप में व्यवस्थित रहती हैं, उनमें संगम की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्य बातें: डायस्कोपी और पोस्पेलोव लक्षण ज्ञात करने के परिणाम नकारात्मक होते हैं; गंठिकाओं के अपचोषण के बाद क्षतांकों की मोजेक जैसी सज्जा बन जाती है (अनियमित तलाकृतियों और असमरूप वर्णकता के कारण); अपचोषण के बाद नयी गंठिकाएं नहीं बनतीं; प्रक्रिया का प्रवाह अपेक्षाकृत तीव्र होता है (कुछेक सप्ताह से कुछेक महीनों में, लेकिन वर्षों तक कभी नहीं चलती); कुछ केसों में सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणाम। कुष्ठ के गंठिवत रूप की निम्न विशेषताएं हैं: ग्रस्त चर्म-क्षेत्र से पीड़ा एवं तापक्रम की संवेदना का लोप; क्षतियों की बहुरूपता (चित्तीनुमा, पिटिकीय, गंठिकीय क्षतियां); पिटिकाओं व गंठिकाओं की कठोर बनावट तथा जंकाह भूरी आभा; चर्म में पोषण संबंधी विस्तृत गड़बड़ियां; वृकार्ब के ऊतक-द्रव के सूक्ष्मदर्शन से हांसेन

के बासिलों का अनुवेदन। चर्म-लेइशमैनता के गंठिवत रूप के निदान में महत्त्वपूर्ण बातें निम्न हैं: आयुर-वृत्त (जैसे रोगी का बहुमारी-क्षेत्र में रह चुकना); लेइशमैनार्ब के स्वस्थ होने पर क्षतांक के गिर्द गंठिकाओं का अवस्थित होना; लैइशमैनार्ब के गिर्द मोती जैसे स्थूलन के रूप में लसकुंभीशोथ का विकास, खुले चर्म-क्षेत्रों पर गंठिकाओं की स्थिति; गंठिकाओं का शीघ्र प्रचुर पूयस्राव के साथ व्रणन; निमित्त जीवाणु का अनुवेदन। अंशुकवकता में गंठिकीय क्षतियां विरल हैं, वे कठोर होती हैं, उनमें परस्पर संगम की प्रवृत्ति होती है। नासूरों के मुँह कठोर अंतर्स्यंदन से घिरे होते हैं। द्रव पूय में पीले पनीर जैसे दाने दिखाई देते हैं (आक्तीनोमीत के ड्रजेन)। सामान्य वृका के कुछ रूप (जो नाक व गालों पर स्थित होते हैं और शल्कन व अंतिश्रृंगनता से लंछित होते हैं) ललामक्लेशिक वृका से मिलते-जुलते हो सकते हैं। कुछ केसों में बिओप्सी (बायोप्सी) तथा ऊतलोचनी परीक्षण की सहायता लेनी पड़ती है।

चिकित्सा. विटामिन D_2 (दैनिक खुराक 30000-50000-100000U) और पथीवाजिड या इजोनिआजिड (0.3-0.5 ग्राम दिन में तीन बार; कुल खुराक 100-2000 ग्राम) मुखमार्ग से दिया जाता है। स्त्रेप्तोमीसिन की सूइयां (दैनिक खुराक 0.5-1.0 ग्राम) की कुल खुराक 100 ग्राम प्रलिखित की जाती हैं। ये दवाएं उपचारकर्ता की सतत निगरानी में दी जाती हैं, क्योंकि इनसे अवांछनीय प्रभावों एवं क्लिष्टताओं के उत्पन्न होने का खतरा रहता है। PAS तथा अन्य एंटी-गंठिक्लेशिक दवाएं कम असरदार होती हैं। एक्सरे से विकिरण वृका के गुल्मिक, पिटिकार्बी, मसेदार एवं व्रणीय रूप में और श्लेष्मल झिल्लियों के तीव्र अंतर्स्यंदन में सुसंकेतित है। प्रकाश-चिकित्सा (धूप या कार्बन-आर्क से युक्त लैंप के प्रकाश का सेवन) बहुत कारगर होती है, लेकिन उन्हीं लोगों के लिये प्रयुक्त हो सकती है, जिनके क्लोम (फुप्फुस ;- फेंफड़े) में गंठिक्लेशिक प्रक्रिया सक्रिय नहीं होती है। नमकहीन आहार सुसंकेतित है।

बाह्य चिकित्सा का उद्देश्य है—अपसामान्य ऊतकों को नष्ट कर देना। इसके लिये 10-20-50 प्रतिशत सांद्र पीरोगालोल-मलहम, 3 प्रतिशत सांद्र आर्सेनिक-पेस्ट, 30 प्रतिशत सांद्र रेजोर्सिनोल-पेस्ट, और द्रव नाइट्रोजन आदि का उपयोग होता है। श्लेष्मला पर स्थित वृकार्ब को लैक्टिक अम्ल के 50 प्रतिशत सांद्र घोल द्वारा या पिओसिड द्वारा जला देते हैं। सीमित आक्रांति होने पर कभी-कभी अधिकेंद्र को करोर्जिक विधि से दूर कर के एक्सरे से चिकित्सा करने का निर्देश दिया जा सकता है। कुटाली केसों में उपरोक्त दवाओं तथा चिकित्सा रीतियों का मेल भी सुसंकेतित है। ऐसे रोगियों का इलाज और परीक्षण नियमित रूप से होना चाहिये।

भविष्यवाणी. सामान्य वृका लंबे समय तक बना रहता है। कुछ केसों में आक्रांति-केंद्रों में विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, चिकित्सा नहीं करने पर भी। वे वर्षों तक ज्यों के त्यों बने रह सकते हैं। अन्य केसों में गदलोचनी प्रक्रिया नये-नये चर्म को ग्रस्त करते हुए बहुत मंद गति से प्रसारित होती है। ऐसा प्रसार सहवर्ती रोगों, प्रतिकूल जीवन-परिस्थितियों तथा अन्य घटकों से प्रोत्साहित होता है, जो शरीर के रक्षी बल को और उसकी प्रतिकारिता को क्षीण करते रहते हैं। यथासमय उठाये गये आवश्यक कदमों, विवेकसंगत चिकित्सा, कैलोरी-समृद्ध आहार और उचित देखभाल से रोगी सामान्य जीवन में और काम पर लौट सकता है।

कंठमाल-चर्मता, या संगलक चर्म-यक्ष्मा

कंठमाल-चर्मता चर्म-यक्ष्मा का बहुत ही सामान्य रूप है और लगभग सिर्फ बचपन और कैशोर्य में होता है। इसके दो रूप हैं: प्राथमिक कंठमाल-चर्मता, जिसमें क्षति किसी निश्चित चर्म-क्षेत्र में

बनती है (रक्त द्वारा वहां यक्ष्माकारी बासिलों के पहुँचने से; ये अक्सर एकल एवं अलग-थलग आक्रांतियां होती हैं), और द्वितीयक कंठमाल-चर्मता (जो अधिक प्रायिक है); दूसरे रूप में पैठन यक्ष्माग्रस्त लसपर्वों से (और अपेक्षाकृत कम केसों में अस्थियों तथा अस्थि-संधियों से) सतत प्रसार द्वारा फैलता है।

रोग चर्म या अवचार्म वसा में अपेक्षाकृत कठोर, अंडाकार व गहराई पर बैठी गंठिकाओं द्वारा लंछित होता है। वे बैंगनी-लाल, पीड़ाहीन और हल्की सी कोमल होती हैं। गंठिकाएं बाद में मुलायम हो जाती हैं और आपस में संगम करने लगती हैं, गंठिकांओं का मुलायम जमघट बना लेती हैं, गलने लगती हैं, फिर विद्रधियों में परिणत हो जाती हैं, जिनमें नासूर और व्रण विरचित होने लगते हैं। व्रण सतही होते हैं, इनकी आकृति अनियमित होती है, किनारियां मुलायम, चिकनी, नीली और सुरंगित होती हैं। वे दानों से तथा पनीरी अपघटन की टूटनों से आच्छादित होते हैं। जब व्रण ठीक हो जाता है, विशेष प्रकार से ऐंठे हुए, अनियमित (आकृति के) सेतु-सदृश दाग रह जाते हैं, जिनपर बड़े लोम होते हैं। ये शरीर को कुरूप करते हैं। कंठमाल-चर्मता के प्रिय स्थल निम्न हैं: गले की पार्श्व सतहें, अवजंभी एवं अधिजंभी (जबड़े के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र, कर्ण-शंख के गिर्द, अवजत्रुक एवं अधिजत्रुक (हँसुली के नीचे व ऊपर के) क्षेत्र और अस्थि-संधियों के गिर्द चर्म-क्षेत्र। कंठमाल-चर्मता अक्सर अस्थियों, संधियों आँखों और क्लोमों के गंठिक्लेश तथा चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपों (सामान्य वृका, मसेदार गंठिक्लेश) के साथ-साथ ही होती है।

ऊतगदलोचन. पनीरी (छैने जैसा) अपघटन और बहुसंख्य लसकोशिकाएं गंठिका के मध्य भाग में पायी जाती हैं। विमृत क्षेत्र अंतर्स्यंदन से घिरा होता है, जो लसकोशिकाओं, प्लाज्मा-कोशिकाओं से बनता है। अंतर्स्यंदन के क्षेत्र में नवसर्जित रक्त और लसकुंभियां अवरुद्ध अवस्था में होती हैं (उस अंतर्स्यंदन के क्षेत्र में, जिसका अभी अपघटन नहीं हुआ है)। मी-यक्ष्मा गदलोचनी प्रसाधनों में कहीं अधिक प्रायिक रूप से मिलते हैं, बनिस्बत कि सामान्य वृका में।

निदान. कंठमाल-चर्मता का निदान तल्पिक लक्षणों और पिर्के-परीक्षण पर आधारित होता है (परीक्षण का परिणाम सुदम प्रक्रिया वाले बड़े बच्चों में तीव्र धनात्मक होता है, लेकिन छोटे बच्चों में विरोधाभासी होता है)। रोग-वृत्त, तल्पिक, एक्सरे-, तथा ऊतलोचनी परीक्षण भी ध्यान में रखे जाते हैं।

विभेदक निदान मुख्यतः सीफिलिसी रालार्ब, अंशुकवकता के रालार्बिक पर्विकीय रूप, चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता और बाजिन-रोग के साथ किया जाता है। सीफिलिसी रालार्ब में सिर्फ केंद्रिय अपघटन होता है और वहां क्रेटर जैसा व्रण बन जाता है, जो कठोर अंतर्स्यंदन की एक परिमा (rim) से घिरा होता है; सीरमलोचनी परीक्षण का परिणाम अक्सर धनात्मक होता है और बिस्मोक्वीनोल से आजमाइशी चिकित्सा करने पर रालार्ब अपचोषित हो जाता है। रालार्बिक-पर्विकीय अंशुकवकता (गरदन पर या अवजंभी क्षेत्र पर) अपेक्षाकृत कठोर, वृहत, अर्ध गोलाकार पर्वों के विरचन द्वारा लंछित होती है। वे एक अंतर्स्यंद के रूप में संगम कर जाते हैं, जो काठ की तरह कठोर होता है; इसके केंद्र में नासूर के मुहाने के साथ-साथ मुलायमियत विकसित होती है। इसमें से पीले पनीरी दानों (ड्रूजेन) से मिश्रित पूय स्रावित होता है।

चिरकालिक व्रणित चर्मपूयता नियमतः वयस्कों को होती है और बहुरूप सतही व गहरे चर्मपूयों द्वारा लंछित होती है, जिनमें लसपर्वों के पड़ोस में (निकट) विरचित होने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती; व्रण के गिर्द शोथी प्रतिक्रिया होती है। बाजिन-रोग को कंठमालचर्मता से तभी विभेदित करना पड़ता है, जब वह पिंडलियों पर स्थित होता है। बाजिन की कठललामी में क्षतियां सम-

मित रूप से व्यवस्थित होती हैं, पर्विकाएं उभरी हुई नहीं होतीं (सिर्फ चौरस विसरित अंतर्स्यंदन होता है; व्रणन की कम प्रवृत्ति होती है; यह रोग विशेषकर लड़कियों को यौन-परिपक्वता की अवधि में होता है।

चिकित्सा. निम्न दवाएं प्रलिखित होती हैं। फ्थीवाजीड (कुल खुराक 100-200 ग्राम) तथा इजोनीकोटिनिक अम्ल हिड्राजीड (हाइड्राजाइड) के अन्य प्रसाधन (इजोनिकाजिड, सालूजिड) – दैनिक खुराक 0.75-1.0 ग्राम; स्त्रेप्तोमीसिन नित्य 1.0 ग्राम (कुल खुराक 100 ग्राम तक), सोडियम-पैरा अमीनोसालीसीलेट (सोडियम- PAS, 'बेपास') नित्य 8.0-12.0 ग्राम (कुल खुराक 600-800 ग्राम), फीटिन और फोस्फेन। सूर्य-चिकित्सा और पराबैंगनी विकिरण भी कारगर उपाय हैं। कुछ केसों में करोर्जन की सहायता ली जाती है। बाह्य चिकित्सा में निम्न प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं: एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट और पोटाशियम परमैंगनेट के लोशन; 10 प्रतिशत सांद्र आयोडोफोर्म-इमल्शन नासूर में सूई द्वारा आधानित होता है।

भविष्यवाणी. रोग का चिरकालिक प्रवाह महीनों और वर्षों तक चलता रहता है, बीच-बीच में कभी-कभी कुछ समय के लिये उपशमित भी होता है। हल्के केस आधुनिक रीतियों से सफलतापूर्वक ठीक हो जाते हैं। व्रणन-प्रक्रिया के बहुत आगे बढ़ जाने पर भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है।

मसेदार चर्म-यक्ष्मा

रोग अधिकांशतः वयस्कों को होता है और उनमें भी ज्यादातर पुरुषों को, लेकिन रोगियों की कुल संख्या सामान्य वृका के रोगियों की संख्या से आधी होती है। मसेदार यक्ष्मा ज्यादातर उन लोगों को होता है, जो आदमी और जंतु के मृत अंगों में उपस्थित गंठिक्लेशिक द्रव्य के संपर्क में अपनी वृत्ति (जीविका) के कारण आते हैं (जैसे जंतु-करोर्जक, गदलोचक, कसाई, बूचड़खाने के कर्मी, आदि को)। वे लोग भी अक्सर ग्रस्त हो जाते हैं, जिन्हें यक्ष्मा के सक्रिय रूप से पीड़ित लोगों की देखभाल करनी पड़ती है (जैसे आयुर-कर्मी)। इन स्थितियों में रोग अतिपैठन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। क्लोम, आंत आदि के यक्ष्मा के खुले रूपों से ग्रस्त रोगियों में मसेदार यक्ष्मा स्व-आधान के फलस्वरूप विकसित हो जाता है।

क्षतियां अक्सर हथेली के पीछे और उंगलियों पर स्थानाबद्ध होती हैं, गोड़ पर अपेक्षाकृत विरले ही होती हैं। पहले मटर के दाने जितनी बड़ी, कठोर, नीली-लाल गंठिका उत्पन्न होती है (शव-गंठिका)। यह एक चौरस कठोर पैबंद में परिणत होता जाता है, जिसकी सतह पर मसे बनते हैं और बड़ी-बड़ी शृंगी परतें बैठती हैं। मसेदार यक्ष्मा के विकसित अधिकेंद्र में तीन कटिबंध होते हैं: परिसरीय (नीली-लाल सीमा), मध्य (कठोर कीलक-सदृश उभार, विदार तथा खट्ठियां) और केंद्रिय (असमरूप गंठिकीय सतह से युक्त कुपोषित चर्म-क्षेत्र) (चित्र 14)। अपचोषण के दौरान अधिकेंद्र क्षतांकित होते हैं। क्षेत्रीय लसकुंभियां और लसपर्व भी अक्सर प्रक्रिया की चपेट में आ जाते हैं। जब (मांस-) कीलक जैसी विरचना को दबाया जाता है, विदारों की तरफ से पूय की बूंदें निकल आती हैं; यह उप-अधिचार्म सूक्ष्म विद्रधि का स्राव है। मुख्य अधिकेंद्र के परिसर पर नयी पर्विकाएं और नये 'पैबंद' उत्पन्न हो सकते हैं, जो बाद में संगम कर जाते हैं।

प्रक्रिया के अपचोषण के बाद कुपोषज क्षतांक रह जाते हैं; सामान्य वृका के विपरीत, इन स्थलों पर नयी क्षतियां नहीं उत्पन्न होती हैं। रोगी की सामान्य अवस्था अक्सर संतोषप्रद होती है। ट्यूबरकूलिन-परीक्षण के परिणाम 80 से 96.3 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होते हैं।

चित्र 14. मसेदार चर्म-यक्ष्मा

ऊतगदलोचन. कंटलयक्लेश, अतिश्रृंगनता और पिटिकार्बक्लेश पाये जाते हैं। अधिचर्म के नीचे बहुरूप-नाभिकीय श्वेतकोशिकाओं और लसकोशिकाओं से युक्त तीव्र शोथी अंतर्स्यंदन दिखाई देता है। अधिचर्म की कोटल परत में यत्र-तत्र सूक्ष्म विद्रधियां भी मिलती हैं। हल्की पनीरी (छेने जैसी) विमृति वाली विशिष्ट गंठिकाएं अक्सर सुचर्म के मध्य भाग में अवस्थित रहती हैं। कुछ केसों में अविशिष्ट शोथी अंतर्स्यंदन भी पाया जाता है। गदलोचनी प्रसाधन में मी-यक्ष्मा अधिक अक्सर और अधिक संख्या में मिलते हैं, बनिस्बत कि सामान्य वृका में।

निदान के आधार निम्न हैं: तल्पिक चित्र (अधिकेंद्र के परिसर पर बैंगनी-लाल सीमा और उसके बीच कटिबंधों की उपस्थिति), प्रक्रिया का स्थल, ऊतलोचनी परीक्षणों के परिणाम, टुबेरकूलिन-परीक्षण के धनात्मक परिणाम, गीनिया पिग में ऊतक-द्रव आधान करने के परिणाम। पनपू चर्म-दद्रुता में (इसके विपरीत) स्पष्ट शोथ और प्रचुर पूय-स्राव होता है (जब 'पैबंद' को किनारियों पर दबाया जाता है)। अंकुरी कवकता, वर्णकवकता और स्पोरज लोमक्लेश में मुलायम रिसालु अन्तर्स्यंदन होता है, जिसमें विशिष्ट प्रकार का स्राव निकलता है। इन चिरकालिक कवकताओं के निदान की पुष्टि बाक्तेरिओस्कोपी और ऊतलोचनी परीक्षण से हो जाती है। कंटकोशिकीय कर्कार्ब प्रकृतिक छिद्रों (मुहानों) के पड़ोस में सममित रूप से अवस्थित होता है और कम समय में ही दमित होने लगता है।

चिकित्सा. गंठिक्लेशिक (याक्ष्मिक) चर्म-क्षतियों के लिये प्रयुक्त सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त संक्ष्य छोलनी से खुरचन, पारतापीय स्कंदन और एक्सरे-चिकित्सा का भी उपयोग होता है।

भविष्यवाणी अक्सर अनुकूल होती है, यद्यपि रोग प्ररक्षित चिरकालिक प्रवाह भी ग्रहण कर सकता है।

चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों का व्रणित यक्ष्मा

इस रोग को वर्जरिक व्रणित यक्ष्मा भी कहते हैं; अन्य नाम भी हैं: द्वितीयक याक्ष्मिक (गंठिक्लेशिक) व्रण, मुहानों का चर्म-गंठिक्लेश। चर्म-यक्ष्मा का यह विरल रूप आंतर अंगों (क्लोमों, कंठ, आँत, गुर्दों) के यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों में पाया जाता है और उनमें यह रोग स्व-आधान के सहारे उत्पन्न होता है। क्षतियां अक्सर प्राकृतिक छिद्रों (मुहानों) के समीप उत्पन्न होती हैं, जहां चर्म सतत रूप से श्लेष्मल झिल्ली में संक्रमण कर जाता है (प्राकृतिक छिद्र हैं: मुँह, नाक, पृष्ठद्वार, लिंगपूग)। मी-यक्ष्मा रोगी के थूक तथा मूत्र के साथ निकलते हैं और चर्म या श्लेष्मल झिल्लियों में आरोपित हो जाते हैं।

पिन के सर जैसी छोटी पीताभ-लाल पर्विकाएं अक्सर अप्रेक्षित रह जाती हैं, क्योंकि वे तेजी से पीपिकाओं में परिणत हो जाती हैं, जो खुल कर संगम कर जाती हैं और बड़े-बड़े व्रण बना लेती हैं। व्रणों की किनारियां मुलायम, हल्की लाल, सीप की तरह वक्र (वृक्तिक), और सुरंगित होती हैं; तली असमतल दानेदार होती है, कणीकरण अल्प और भूरा होता है। तली से अक्सर रक्त रिसता है और वह अपूर्ण पुय-सीरमी झिल्ली से ढकी रहती है। पीछे गंठिक्लेशिक गंठिकाओं के पनीरी अपघटन से व्रण की तली और उसके गिर्द छेने जैसे कण जमा हो जाते हैं (ट्रेलाट के कण)। आक्रांति के अधिकेंद्रों के गहरे होने और उनके विसर्पी प्रसारण के लिए जिम्मेदार ये ही कण हैं। व्रण बहुत ही कोमल होते हैं, जिससे खाना (यदि प्रक्रिया मुँह में अवस्थित है) और मल-विसर्जन (यदि क्षति पृष्ठद्वार के क्षेत्र में है) कठिन हो जाता है।

बाक्तेरिओस्कोपिक विश्लेषण से ढेर सारे मीकोबाक्तेरी मिलते हैं। इन रोगियों में ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होता है, क्योंकि इमूनोजनन भयानक रूप से निढाल हो जाता है और अनूर्जिता की अवस्था आ जाती है।

ऊतगदलोचन (हिस्टोपैथोलॉजी) चित्र अविशिष्ट शोथी अंतर्स्यंदन द्वारा लंछित होता है, जिसमें मीकोबाक्तेरी अनुवेदित होते हैं।

निदान के आधार निम्न हैं: नैदानिक चित्र, आंतर अंगों में सक्रिय यक्ष्मा और ट्रेलाट (Trelat) के कणों की उपस्थिति और सूक्ष्मदर्शन से मीकोबाक्तेरियों का अनुवेदन। कुछ स्थितियों में चर्म के व्रणित यक्ष्मा को पहचानने में किसी अंग में यक्ष्मा का ज्ञान होना भी सहायक सिद्ध होता है।

द्वितीयक सीफिलिस के व्रणित सीफिलड के साथ विभेदक निदान में इसकी क्षतियों की तली और किनारियों की कठोरता, स्राव में त्रेपोनेमा पालीडुम के अनुवेदन, द्वितीयक अवधि के अन्य लक्षणों, और रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणामों को ध्यान में रखा जाता है। तृतीयक सीफिलिस की गंठिकाएं गहरे व्रण बनाती है, जिनकी आकृति सही गोल होती है, किनारी रिम की तरह कठोर उभरी होती है; ये व्रण लंछक रूप से पीड़ाहीन होते हैं। सामान्य वृका के व्रणित रूप में 'सीक' और 'सेब की जेली' के लक्षण देने वाले लंछक वृकार्ब व्रणित-सतह के परिसर पर उत्पन्न होते हैं। ट्यूबेरकूलिन परीक्षण के धनात्मक परिणाम को और इस बात को कि रोगी अपने को काफी अच्छा महसूस करता है, ध्यान में रखना चाहिये। कठव्रण-सदृश व्रणों के साथ-साथ तीव्र शोथ, प्रचुर पूय-स्राव, परिसर में संतान-क्षतियों (daughter lesions) और कठव्रण की गिल्टी की अक्सर उपस्थिति भी प्रेक्षित होती है। प्रयोगशाला में अध्ययन से डुक्रे-उन्ना-पीटर्सन के स्त्रेप्तो-बासिल मिलते हैं। उपकलार्ब के विभेदक लक्षण हैं: व्रणों की किनारियों का मोटा होना, व्रणों के परिसर में भूराभ 'मोतियों' की उपस्थिति, लसपर्वों में डिस्क (चकती) की तरह कठोरता।

चिकित्सा. थेरापिक युक्तियों का उद्देश्य है सामान्य यक्ष्मा से संघर्ष। स्थानिक एक्सरे-चिकित्सा अपनायी जाती है: रोगी को सात दिनों के अंतराल पर दो बार 200-250r (रेंटगेन) से विकिरणित किया जाता है (चर्म और नाभि या फोकस की दूरी 30 सेंटीमीटर, वोल्टता 120 किलोवोल्ट, धारा की तीव्रता 3 मिलिएंपियर, फिल्टर 3 मिलिमीटर अलुमीनियम का)। व्रणों को पहले पिओसिड से संसाधित करने के बाद 50 प्रतिशत सांद्र लैक्टिक अम्ल से दागा (जलाया) भी जा सकता है। कभी-कभी क्षतियों को करोर्जिक विधियों से भी दूर किया जा सकता है।

भविष्यवाणी आंतर अंगों के यक्ष्मा के प्रवाह पर निर्भर करती है। सामान्य यक्ष्मा की चिकित्सा में सफलता मिलने के साथ-साथ अब व्रणित यक्ष्मा की भविष्यवाणी में भी सुधार हुआ है, इसके दर्ज केसों की संख्या दिनों-दिन घटती ही जा रही है।

वाजिन का रोग (कठललामी)

वाजिन का रोग अक्सर 16 से 40 वर्ष की स्त्रियों को होता है (और इनमें भी मुख्यतः युवतियों को), जिनमें से अधिकांश किसी न किसी अन्य प्रकार के यक्ष्मा से ग्रस्त होती हैं। रोग के अभिव्यक्त होने में संप्रेरक घटक निम्न है यक्ष्मा के साथ-साथ रक्त-संचार की गड़बड़ियां (नीलपर्यगता, शिरा-विस्फारण), पैरों का अक्सर ठंडा होना, ऐसी वृत्ति होना, जिसमें रोगी को खड़ा-खड़ा काम करना पड़ता है, आदि। पुनारवर्तन जुकाम तथा शीत में विकसित हो सकता है।

कठललामी की नैदानिक अभिव्यक्तियां हैं: गहराई में स्थित कठोर तथा धीरे-धीरे बढ़ने वाले पर्व (नोड्स) या नीलाभ लाल रंग के विस्तृत चौरस अंतर्स्यंदन, जिनका आकार बादाम से लेकर टमाटर के बराबर तक हो सकता है। पर्व (दो-चार से ले कर दस या इससे भी अधिक बड़ी संख्या में) चर्म तथा अवचार्म वसा की गहराई में स्थित होते हैं और छूने में कुछ मुलायम-से लगते हैं। ये मुख्यतः गोड़ों पर (और अपेक्षाकृत कम प्रायिकता के साथ जांघों, नितंबों और हाथ पर) सममित रूप से उत्पन्न होते हैं। मुंख और नासा-ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्लियां विरले ही ग्रस्त होती हैं। कुछ सप्ताहों या महीनों में महत्तम विकास को प्राप्त हो कर पर्व घटने लगते हैं और उनके बाद वलयाकार कुपोषित स्थल तथा वर्णकता रह जाती है। कुछ केसों में अधिकेंद्रों का मध्य में गलन शुरू हो जाता है, व संगम करते हैं और नासूरयुक्त पीड़ाहीन व्रण बनाते हैं जिनकी किनारियां सुरंगित होती हैं और नली गंदले-भूरे दानों से ढकी होती है; इस अवस्था को व्रणित कठललामी का हचिंसन-रूप (Hutchinson's form) कहते हैं। व्रणों के ठीक हो जाने पर ऐंठे हुए वर्णकित क्षतांक रह जाते हैं।

चिकित्सा न कराने पर रोग महीनों और वर्षों तक बना रह सकता है और ठंड के मौसम में पुनरावर्तित होता रहता है। पर्व जमकुंभिशोथ में विकृष्ट भी हो जा सकता है, जो कुंभी-पथ के सहारे-सहारे फैलने लगता है। चर्म की कठललामी स्पष्ट वर्धित इमूनता की स्थिति में शोथ के एक अत्यूर्जक रूप की तरह विकसित होती है, इसीलिये करीब 60-70 प्रतिशत रोगियों में ट्यूबेरकूलिन-परीक्षण धनात्मक होता है।

जुगदलोचन. पर्वों की एक विशिष्ट गंठिवत (ट्यूबेरकुलोइड) संरचना होती है (उपकलावत तथा विशाल कोशिकाएं)। कुछ स्थलों पर अंतर्स्यंदन अविशिष्ट होता है (लसकोशिकाएं और प्लाज्मा-कोशिकाएं)। गंठिवत अधिकेंद्र लगभग हमेशा ही अंतर्स्यंदन की किनारी पर पाये जाते हैं, जो अंतचर्म के निचले भाग और अवचार्म वसा में स्थित होते हैं। अंतर्स्यंदन के केंद्र में कमोवेश रूप में स्पष्ट पनीरी विमृति दिखाई देती है। बहुलन (कोशिकाओं की नव-विरचना) से संबंधित परि-

वर्तन, स्कंदक्लेश, कुंभियों (विशेषकर शिराओं) में रोध भी देखे जाते हैं, जिससे विमृति और व्रणन शुरू हो जाता है। अंतर्स्यंदन के गिर्द अवचार्म वसा कुपोषित होने लगती है।

निदान तल्पिक एवं ऊतलोचनी अध्ययन के परिणामों पर आधारित होता है। पार्विक ललामी और पिंडलियों की कंठमाल-चर्मता के साथ विभेदक निदान सबसे कठिन होता है। पार्विक ललामी में तीव्र शोथ, ज्वर और कमजोरी होती है; क्षतियां पिंडलियों की अग्र सतह पर उत्पन्न होती हैं और उनमें प्रायिक पुनरावर्तन, अपघटन या व्रणन की कोई प्रवृत्ति नहीं होती; शरीर में गंठिक्लेश का कोई अधिकेंद्र नहीं मिलता, पिर्के की जांच ऋणात्मक होती है। तल्पिकत: जटिल केसों में विशिष्ट चिकित्सा की कारगरता को भी ध्यान में रखा जाता है। कंठमाल-चर्मता मुलायम पर्विकाओं, व्रणित क्षेत्रों की मुलायम तली, व्रणों की कटी-फटी किनारियों और नासूरों द्वारा लंछित होती है। रालार्बिक सीफिलिड में कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती, ग्रस्त क्षेत्र एक विशेष प्रकार की कठोरता से लंछित होते हैं. उनका रंग भूरा लाल होता है; सीफिलिसी पैटन के अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं।

चिकित्सा. यक्ष्मा की चिकित्सा आवश्यक है। पराबैंगनी विकिरण, धूप-सेवन और विटामिनों व प्रोटीनों से समृद्ध आहार सुसंकेतित है। व्रणों का उपचार जिंक-जिलेटिन पट्टियों से होता है। जिंक आक्साइड और जिलेटिन का मिश्रण (āā25g) ग्लीसेरिन (60g) और पानी (120g) गर्म करके पट्टी पर पसार दिया जाता है और पैर को इसी पट्टी से कस कर बांध दिया जाता है (व्रण को पहले से एक निष्कीटित गजी से ढक कर रखना चाहिये)।

पुनरावर्तन के निरोध के लिये निम्न उपाय है: कुंभिक गड़बड़ियों (स्कंदशिराशोथ) की चिकित्सा, पैरों को ठंड नहीं लगने देना, अंगों (हाथ-पैर) को अत्यधिक थकान से बचाना।

प्रकीर्णित रूप

शैवाकवत गंठिक्लेश, या कंठमालीय शैवाक

शैवाकवत यक्ष्मा अक्सर उन बच्चों को होता है, जिनमें बहुत कमजोरी होती है और तदनुरूप शारीरिक प्रवणता होती है, जो क्लोम, लसपर्वों या अस्थि व संधियों के यक्ष्मा से ग्रस्त होते हैं। यह सामान्य वृका की सक्रिय चिकित्सा में बासिली अपघटन के उत्पादों के प्रकीर्णन के फलस्वरूप भी विकसित हो सकता है।

चर्म-क्षतियां प्रकीर्णित या ग्रुपों में होती हैं; वे छोटी (जई के दानों जितनी बड़ी), चौरस या शंक्वाकार, पीड़ाहीन पिटिकीय, पिटिका-पीपिकीय या मुंहासे जैसी पर्विकाओं के रूप में होती हैं, जिनका रंग भूराभ लाल या ज्यादातर सामान्य त्वचा जैसा ही होता है। पर्विकाओं की सतह पर नन्हे शल्क या शृंगी नोकें मिल सकती हैं। निकट-निकट स्थित मशिकीय पर्विकाएं वपास्रावी दिनाई (कंठमालीय दिनाई) से मिलती-जुलती हो सकती हैं। स्फोट अधिकांशत: सममित होते हैं और धड़ की पार्श्व सतहों, नितंबों, चेहरे और विरल केसों में हाथों की श्लेष्मल झिल्लियों पर अवस्थित होते हैं। क्षतियां स्वत:स्फूर्त रूप से गायब हो जाती हैं, पर बाद में फिर उत्पन्न हो जाती हैं। कोई आत्मगत अनुभूति नियमत: नहीं होती। आंतर अंगों के यक्ष्मा का इलाज हो जाने पर चार्म पुनरावर्तन नहीं होता। अपचोषित पिटिकाओं की जगह हल्की वर्णकता (या और भी विरल रूप से – नन्हे चित्तीदार दाग) बन जाती है। पिर्के-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है। कंठमालीय शैवाक अब एक बहुत ही विरल रोग हो गया है।

ऊतगदलोचन. उपकलावत एवं विशाल कोशिकाओं का विशिष्ट अंतर्स्यंदन मशिकाओं के गिर्द पाया जाता है। पनीरी (छेने जैसी) विमृति नहीं होती।

निदान जटिल नहीं होता और इसकी पुष्टि हर हालत में धनात्मक पिर्के-परीक्षण से हो जाती है। स्फोटों को सीफिलिसी स्फोट से विभेदित करना चाहिये, जिसमें पिटिकाएं एक अधिकेंद्र में भिन्न विकास-चरणों पर होती हैं और उनके साथ-साथ सीफिलिस के अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते हैं; सीरमलोचनी परीक्षण धनात्मक होता है। लाल कांटल शैवाक में पिटिकाएं किरमिजी लाल होती हैं, कुछ की परिरेखाएं लंछक रूप से बहुभुजी होती हैं, केंद्र में एक अवनमन सा होता है; स्फोट के साथ-साथ खुजली भी होती है।

चिकित्सा उन्हीं उपायों से होती है, जो चर्म-यक्ष्मा के अन्य रूपों के लिये प्रयुक्त होते हैं। शल्कन को प्रेरित करने वाले मलहम बाह्य चिकित्सा के रूप में सुसंकेतित हैं।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा

यह रोग अक्सर बचपन या कैशोर्य में होता है; स्फोट हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर, धड़ और चेहरे पर उत्पन्न होते हैं। मुख्य रूपलोचनी क्षतियां असंख्य (कमोबेश रूप से जमघटों में) कठोर भूराभ बैंगनी पर्विकाएं हैं, जिनका आकार हेंप के बीज के बराबर होता है। उनके केंद्रों पर पूय जैसी विमृतिक खट्टियां पड़ जाती हैं। बाद में पिटिकाओं पर नन्हे, गोल सतही व्रण बन जाते हैं, जिनके ठीक होने पर मुहर जैसे दाग रह जाते हैं; इनकी सीमारेखाएं बैंगनी होती है। अधिकेंद्र के विकास और दाग (क्षतांक) बनने में चार से आठ सप्ताह लगते हैं। स्फोट एक बारगी से नहीं निकलते, इसलिये एक साथ भिन्न विकास चरण पर स्थित क्षतियां देखी जा सकती हैं। रोग बसंत के आरंभ में और शीतकाल में पुनरावर्तित होता रहता है, लेकिन गर्मियों में कभी भी व्यक्त नहीं होता। पिटिका-विमृतिक चर्म-यक्ष्मा अक्सर उन लोगों को होती है, जो लसपर्वों, अस्थियों या संधियों के यक्ष्मा से पीड़ित होते हैं या कुपोषण के शिकार होते हैं। टूबेरकूलिन-परीक्षण नियमतः धनात्मक होता है।

पिटिका-विमृतिक यक्ष्मा के निम्न रूप हैं: (1) आक्लित ('ऐक्नाइटिस' का लातीनी उच्चारण, कारक-चिन्ह '-इस' को छोड़ कर); यह एक प्रकार की पीपिकाएं हैं, जो स्कूली बच्चों को, यौन परिपक्वता के समय या इससे पूर्व होती है। ये सामान्य मुहासों से मिलती जुलती होती हैं। क्षतियां सममित रूप से चेहरे पर होती हैं और विरलतः वक्ष पर तथा हाथों की ऋजुकारी सतहों पर भी होती हैं; इनके ठीक होने पर गहरे दाग रह जाते हैं। (2) फोलीक्लिस किशोरों एवं नवयुवकों को धड़ एवं पैरों की मशिकाओं (लोमकूपों) की क्षतियों के रूप में होती हैं। (3) एक्ने कन्वेक्तीकोरूम पिटिकीय पीपिकाओं के स्फोट है, जिनमें क्रेटर जैसे व्रण बनते हैं और उनके बाद चेचक जैसे दाग रह जाते हैं। रोग के इस रूप में टूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होते हैं क्योंकि शरीर की इम्यूनलोचनी प्रतिकारिता कम होती है।

ऊतगदलोचन. क्षति का उपादान सतही अधिचार्म व सुचार्म विमृति है, जो लसवत अंतर्स्यंदन से घिरा होता है। कुंभियों का शोथी अंतर्स्यंदन पाया जाना विशेष लंछक है।

निदान. नन्हे, विशेषकर मुहर जैसे दाग (क्षतांक), क्षतियों का स्थल, टूबेरकूलिन-परीक्षण तथा इम्यूनलोचनी परीक्षण निदान में सहायक होते है। वपाल मुँहासे से विभेदित करने में ध्यान रखना चाहिए कि यह रोग (वपाल मुँहासा) उन्हीं को होता है, जिन्हें काम पर (वृत्ति में) अक्सर तेलों

तथा इमल्शनों के संपर्क में रहना पड़ता है। मुँहासे के इस रूप में क्षतियां अक्सर हाथ और पैर की ऋजुकारी सतहों पर होती हैं वे मशिकाशोथ के रूप में प्रकट होती हैं, शोथ की प्रक्रिया तीव्र होती है; साथ में ढेर सारे कोमेडोन (काले मुँहासे) भी निकल आते हैं।

चिकित्सा. PAS, पथीवाजिड, विटामिन A और D_2, फीटिन तथा लौह प्रसाधन मुखमार्ग से दिये जाते है। यदि प्रतिसंकेतित न हो तो पराबैंगनी विकिरण भी दिया जा सकता है।

भविष्यवाणी अनुकूल होती है, यदि आंतर अंगों का कोई तीव्र यक्ष्मा नहीं होता।

बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा

बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के मुख्य सिद्धांत वे ही हैं, जो वयस्कों के लिये हैं। प्राथमिक महत्त्व सामान्य चिकित्सा को ही दी जाती है, जिसका लक्ष्य है – आंतर अंगों के यक्ष्मा को दूर करना, चर्म में गदलोचनी प्रक्रियाओं के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटकों को दूर करना और रोगी की सामान्य अवस्था सुधारना, ताकि याक्ष्मिक पैठन के विरुद्ध उसकी प्रतिरोधिता बढ़ सके।

बच्चों में चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा स्त्रेप्तोमीसिन से होती है जिसे स्त्रेप्तोमीसिन सल्फेट और पांटोमीसिन (डीहाइड्रोस्ट्रेप्टोमीसिन के पांटोथेनिक लवण) के रूप में दिया जाता है। पांटोथेनिक अम्ल, जो पांटोमीसिन का एक अवयव है, स्त्रेप्तोमीसिन के नुकसानकारी परोर्जिक प्रभाव का उपशमन करता है। बच्चों को स्त्रेप्तोमीसिन अंतर्पेशीय सूई के रूप में नित्य दो बार दिया जाता है; दैनिक खुराक 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये [illegible]-0.02 ग्राम प्रति किलोग्राम है, 5 से 8 वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के लिये 0.25-[illegible] ग्राम, और 8 से 14 के बीच के लिये 0.3-0.5 ग्राम है। कुल खुराक 20 से 40 ग्राम है। स्त्रेप्तोमीसिन से सामान्य वृका, कंठमाल-चर्मता और [illegible] एवं मसेदार गंठिक्लेशों में सबसे अच्छे थेरापिक परिणाम प्राप्त होते हैं।

स्त्रेप्तोमीसिन के बाद या इसके साथ-साथ पथीवाजिड, टुबाजिड, मेटाजामीड, तथा इजोनीकोटीनिक अम्ल हाइड्राजीड के अन्य उत्पाद भी दिये जाते है – उन मीकोबाक्तेरियों के विरुद्ध, जो स्त्रेप्तोमीसिन का प्रतिरोध कर लेते है (उसे सहन कर लेते हैं)। पथीवाजीन की दैनिक खुराक निम्न है: 12 महीने तक के बच्चे के लिये 0.02-0.03 ग्राम प्रति किलोग्राम (तीन बार में); 2 से 3 वर्ष के बच्चे के लिये 0.3-0.5 ग्राम (तीन बार में); 3 से 7 वर्ष के लिये 0.6-0.7 ग्राम और 8 से 15 वर्ष के लिये 0.5 से 1.0 ग्राम। कुल खुराक 40 से 250 ग्राम तक हो सकती है। चिकित्सा के एक दौर में स्त्रेप्तोमीसिन और पथीवाजिड की कुल खुराक और दौरों की संख्या रोग-प्रक्रिया की तीव्रता और दवा के प्रति सहनशीलता पर निर्भर करती हैं।

3 वर्ष के कम बच्चों के लिये PAS का सोडियम लवण 0.15-0.2g/kg प्रतिदिन की खुराकों में प्रलिखित किया जाता है: इसे तीन या चार बार में देते हैं। 3 से 5 वर्ष के बच्चो को प्रतिदिन 0.5 ग्राम चार बार में दिया जाता है। 5 वर्ष से अधिक के बच्चे के लिये दैनिक खुराक 6-8 ग्राम है। कुल खुराक 200 से 800 ग्राम तक होती है। दवा खाना के एक घंटे बाद दूध, क्षारीय खनिज जल या सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के 2 प्रतिशत सांद्र घोल के साथ ली जाती है।

विटामिन D_2 सामान्य वृका के उन्हीं रोगियों की चिकित्सा में प्रयुक्त होता है, जिनके आंतर अंगों में कोई सक्रिय याक्ष्मिक प्रक्रिया नहीं होती, क्योंकि यह स्थापित हुआ है कि यह विटामिन क्लोमों (फेफड़ों), लसपर्वों तथा अस्थियों में रोग-प्रक्रिया को और भी तीव्र कर देता है। इसका उपयोग सामान्य वृका के व्रणित रूपों में और पुनरावर्तन-निरोध में सबसे अधिक वांछनीय है। 10 वर्ष तक के बच्चों को इसकी 15000-25000U की खुराक नित्य दो या तीन बार में दी जाती

है ; 11 से 16 वर्ष के बच्चों को 30000-50000U नित्य दो या तीन बार में दी जाती है।

बच्चों के चर्म-यक्ष्मा की चिकित्सा के समय उनके आहार में नमक नहीं देना चाहिये (विशेषकर यदि रोग व्रणित रूप में है), लेकिन साथ में प्रोटीन और विटामिन (ऐस्कोर्बिक अम्ल, रूटिन, कैल्सियम पांटोथेनाट आदि) प्रचुर मात्रा में देने चाहिये।

धूप और पराबैंगनी विकिरण का सेवन बच्चों तथा बड़ों दोनों ही के लिये वांछनीय, विशेषकर गर्म एवं शुष्क जलवायु वाले इलाके में स्थित निरोगालयों में, लेकिन याक्ष्मिक अधिकेंद्रों के रूप तथा उनकी सक्रियता और रोगी की सामान्य अवस्था पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये। इस तरह की चिकित्सा उपशमन-काल में विशेष तौर पर उपयुक्त होती है।

चर्म-यक्ष्मा पर नियंत्रण का संगठन

चर्म- यक्ष्मा के प्रसार पर नियंत्रण के उपाय वैसे ही हैं, जैसे आंतर अंगों के यक्ष्मा में। सामान्य यक्ष्मा और विशेष (चर्म-) यक्ष्मा के निरोध में सामाजिक कदमों का महत्त्व बहुत अधिक है, जैसे – श्रम-सुरक्षा से संबंधित कानून, लोगों का जीवन-स्तर और सांस्कृतिक स्तर ऊँचा करना, बच्चों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये संगठित युक्तियां अपनाना, आदि। यक्ष्मा के प्रारंभिक रूपों का अनुवेदन और उनकी यथासमय युक्तिसंगत चिकित्सा भी निरोधात्मक प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण कड़ियां हैं। यक्ष्मा के रोगियों को पर्याप्त समय तक खुली हवा में रहना चाहिये, कार्य-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश होना चाहिये। सोवियत संघ में यक्ष्मा के नियंत्रण में, रोगियों को दर्ज करने, उन पर निगरानी रखने और उनकी चिकित्सा करने में, अन्य निरोधात्मक कार्य करने में यहां की प्रतियक्ष्मा आरोग्यशालाओं की भूमिका प्रमुख है।

सोवियत-काल में यक्ष्मा पर नियंत्रण के लिये सुनियोजित और सुसंगठित प्रयत्नों से यहां यक्ष्मा और विशेष कर चर्म-यक्ष्मा की प्रायिकता में तेजी से ह्रास हुआ है। बच्चों में चर्म-यक्ष्मा का प्रारंभिक चरण में ही अनुवेदन और उसकी यथाशीघ्र युक्तिसंगत चिकित्सा भी यक्ष्मा के इस रूप की प्रायिकता में कमी लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

चर्म लेइशमैनता या बोरोव्स्की रोग

इस रोग के अन्य पर्याय भी हैं : पेंडेह-क्लेश, आश्खाबाद-क्लेश, 'गोदोविक' (रूसी नाम, जिसका अर्थ है – 'वत्सरिका'), पूर्वी रोग आदि। यह एक जानपदिक (किसी विशेष जनपद के लिये लाक्षणिक), चिरकालिक परजीविक चर्म-रोग है। इसका निमित्त कारण पी. बोरोव्स्की ने 1898 में ज्ञात किया था और उसका वर्णन प्रस्तुत किया था। यह रोग उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधों में पाया जाता है। सोवियत संघ में इसके प्रसार-केंद्र मध्य एशिया (मुख्यतः आश्खाबाद के क्षेत्र, बुखारा, समरकंद, कोकांद आदि) और काकेशिया-पार के गणतंत्र (मुख्यतः अजरबैजान के दक्षिणी इलाके) हैं। अन्य देशों से यह रोग अर्जित करने वाले रोगी पूरे सोवियत संघ के क्षेत्र में मिल सकते हैं।

हेतुलोचन और बहुमारीलोचन. लेइशमैनता का निमित्त कारण – लेइशमानिआ ट्रोपिका – एक सूक्ष्म प्राणजंतु है। इस जीवाणु को दिखाने के लिये पर्विका या लेइशमैनार्ब के परिसरीय अंतर्स्यंद

को दो उंगलियों से दबा कर वहां का स्थल रक्तहीन कर दिया जाता है, फिर स्काल्पेल से वहां चर्म में हल्का सा चीरा लगाया जाता है। चीरा की किनारी से ऊतक के टुकड़े और ऊतक-द्रव स्काल्पेल से खुरच कर अलग करते हैं। इस द्रव्य का लेप (काँच के स्लाइड पर) तैयार किया जाता है और उसे रोमानोव्स्की-गिम्जा के रंजक से रंजित किया जाता है। ये जीवाणु (बोरोव्स्की-काय) अंडाकार होते हैं, इनकी लंबाई 2-5 मिक्रोमीटर और चौड़ाई 1.5 से 4 मिक्रोमीटर तक होती है। इसके प्रोटोप्लाज्म में दो नाभिक होते हैं: एक बड़े-से अंडे जैसा दिखता है और दूसरा – सहायक नाभिक – छड़ की तरह दिखता है (ब्लेफारोप्लास्ट)। लेप में लेइशमानिआ जीवाणु के प्रोटोप्लाज्म हल्के नीले रंग से रंजित होते हैं, बड़ा नाभिक लाल या ललछौंह बैंगनी रंग से और छोटा नाभिक गाढ़े बैंगनी रंग से रंजित होता है। ये परजीवी माक्रोफागों में बहुत बड़ी संख्या में, रक्त में स्वतंत्र ग्रुपों के रूप में और चर्म-क्षतियों में पाये जाते हैं।

आदमियों में रोग का संक्रमण फ्लेबोटोमस बालुका-मक्खी (एक तरह के मच्छड़ों) के काटने से होता है। बालुका-मक्खियां ये परजीवी किसी बीमार व्यक्ति से प्राप्त करती हैं; गाँवों में होने वाली लेइशमैनता के लिये कृंतक (कुतरने वाले) जीव (जैसे मूस्लिक, जेर्बिल) आदि भी पैठन के स्रोत हो सकते हैं। तल्पिक चित्र, निमित्त कारण के जीवलोचनी गुणों और बहुमारीलोचनी दृष्टि से लेइशमैनता के दो प्रकार होते हैं (1) ग्रामीण, या तीव्र विमृतिक या आरंभिक व्रणन वाला प्रकार (जंतुक्लेशिक), (2) शहरी, या विलंबित व्रणन वाला, चिरकालिक प्रकार (मानुषक्लेशिक)

प्रथम प्रकार की लैइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिआ ट्रोपिका माजोर (मेजर) हैं, जिन्हें बालुका-मक्खियां पैठन-वाहक कृंतकों से आदमी में फैलाती हैं। रोग के इस रूप के लिये अंतर्शयन-काल अपेक्षाकृत अल्प है (एक से आठ सप्ताह तक, लेकिन औसतन दो-चार सप्ताह); रोग का कोप-अवधि भी अपेक्षाकृत कम है (तीन से छे महीने तक)। बीच में ही खत्म हो जाने वाला रोग-प्रकार भी देखने को मिलता है, जिसमें एक या दो महीने तक में क्षतांक पड़ जाते हैं।

अंतर्शयन-काल के अंत में बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर भूरी आभा से युक्त, तीव्र शोथी चमकदार लाल अंतर्स्यंद उत्पन्न होता है। यह पेस्ट जैसा और कोमल होता है। एक या दो महीने में (और बच्चों में – एक या दो सप्ताह में) यह (अंतर्स्यंद) अपघटित हो जाता है और गहरा, दर्दनाक व्रण बन जाता है। व्रण की किनारियां कटी-फटी और मुरलित होती हैं; तली असमतल, अपरदित और विमृतिक द्रव्य से आच्छादित होती है। अंतर्स्यंद और व्रण वर्धित होते हैं (व्रण का व्यास कई सेंटीमीटर तक बढ़ जा सकता है)। बच्चों में व्रण और भी जल्द बढ़ जाता है, रोग-प्रक्रिया लंबे समय तक बनी रहती है और अक्सर पूयकारी पैठन से क्लिष्ट हो जाती है। इसके फलस्वरूप विद्रधि, चर्मशोथ और फ्लेग्मोन विकसित हो जाते हैं, जो लेइशमैनता का तल्पिक चित्र बदल देते हैं। दो-तीन महीने तक प्रक्रिया के बढ़ने पर व्रणों का क्षतांकन (व्रणपूरण) शुरू हो जाता है, जो कई सप्ताह या महीने में पूरा होता है। इस अवधि में व्रण की तली का कणीकरण शुरू हो जाता है, जिससे वह दानेदार लगने लगती है (मछली के अंडों की तरह; मत्स्यांड लक्षण)। व्रणपूरण अक्सर मध्य स्थल से शुरू होता है; परिसर में व्रणित खात सा रह जाता है। अंत में व्रण के स्थल पर गहरा क्षतांक रह जाता है। जंतुक्लेशिक प्रकार के रोग में लेइशमानार्वों की संख्या बहुत बड़ी हो सकती है, कुछ रोगियों में तो 100-200 या इससे भी अधिक। ये शरीर के खुले हिस्सों में (चेहरे, हाथ-पैर पर) होते हैं, पर अन्य चर्म-क्षेत्रों पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि गर्म जलवायु के देश में लोग पूरे शरीर को ढक कर नहीं सोते, जिससे बालुका-मक्खियां विभिन्न क्षेत्रों पर काटा करती हैं।

शहरी, चिरकालिक, या विलंबित व्रणन वाली लेइशमैनता का निमित्त कारण लेइशमानिया ट्रोपिका मिनोर (माइनर) है, जो बालुका मक्खी द्वारा रोगी व्यक्तियों से स्वस्थ व्यक्तियों में संक्रमण करता है। रोग का यह प्रकार शहरों तथा घनी बस्तियों में होता है। इसका अंतर्शयन-काल बहुत लंबा होता है (औसतन तीन से आठ महीने तक, यद्यपि एक-दो साल से लेकर चार-पाँच साल तक भी संभव है) और इसका प्रवाह भी बहुत धीमा होता है (औसतन एक वर्ष)। इसका रूसी नाम 'गोदोविक' (वत्सरिका) इसी स्थिति को प्रतिबिंबित करता है। रोग अक्सर उन लोगों में प्रकट होता है, जो पिछले वर्ष रोग-केंद्र के इलाके में रुके थे। बालुका-मक्खी के दंश-स्थल पर एक भूराभ लाल गंठिका बनती है (अक्सर चर्म की खुली सतह पर)। गंठिका एक बादाम के आकार तक बढ़ आती है और एक मोटी खट्ठी से ढकी होती है। खट्ठी गिरने के बाद व्रण बन जाता है। इसकी किनारियां कटी-छँटी होती हैं, रिम की तरह उभरी होती हैं, अंतर्स्यंदित और पेस्टी (पेस्ट की तरह) होती हैं। व्रण की तली दानेदार हो जाती है (कणीकरण के फलस्वरूप) और एक भूरी-पीली झिल्ली से ढकी होती है। व्रण के गिर्द का अंतर्स्यंदन उसे त्वचा से ऊपर उभार देता है। व्रणापूरण में कई महीने लग जाते हैं।

लसकुंभीशोथ की उत्पत्ति चर्म-लेइशमैनता की एक बहुत ही लंछक विशेषता है; इसे व्रण के परिसर में मोटी डोरी के रूप में परिस्पर्श से अनुभव किया जा सकता है। लसकुंभियों का मोटा होना और कुछ स्थितियों में उनपर दृढ़ पर्वों का उत्पन्न होना (पार्विक लसकुंभीशोथ) ग्रामीण प्रकार की चर्म-लेइशमैनता के लिये अधिक लंछक है। ये सब अपघटित हो कर व्रण बना सकते हैं। लसकुंभीशोथ के अतिरिक्त लसपर्वशोथ भी पाया जाता है। ये दोनों ही लसकुंभीमार्ग द्वारा निमित्त जीवाणुओं के प्रसार—लेइशमानता का सक्रिय रूप विकसित होते हैं।

सामान्य वृका के वृकाणुओं जैसी छोटी, मुलायम भूराभ या पीली-लाल गंठिकाएं कभी-कभी क्षतांक पर या उसके गिर्द उत्पन्न हो जाती हैं। समानता और भी अधिक हो जाती है, क्योंकि डायेस्कोपी में 'सेब की जेली' का लक्षण नजर आता है। गंठिका लंबे समय तक बनी रहती है और मुश्किल से ठीक होती है। इसे चर्म से कहते हैं। यह अधिकांशतः उन लोगों को होता है, जिन्हें बचपन में ही यह रोग शुरू होता है।

रोग शुरू होने के पाँच या छै महीने बाद तक लेइशमानता के तदनुरूप जीवाणुओं के प्रति स्थायी इमूनता विकसित हो जाती है।

ऊतगदलोचन. सुचर्म में पार्विक अंतर्स्यंदन, जो मुख्यतः ऊतकोशिकाओं, प्लाज्माकोशिकाओं आदि से बना होता है, और न्यूट्रोफीलों की अल्प संख्या पायी जाती है। कुंभियों की अंतर्कला (आंतरिक सतह पर एकपरती उपकला) के बहुलन और शोफ के कारण उनमें स्पष्ट संकोचन और उनकी दीवारों में अंतर्स्यंदन पाया जाता है। व्रण बनने के पहले अधिचर्म में कंटकक्लेश देखने को मिलता है। असंख्य बोरोव्स्की-काय विशेषकर मार्कोफागों में मिलते हैं; वे कोशिकाओं के भीतर भी मिलते हैं और बाहर भी।

निदान के आधार हैं: तल्पिक चित्र, व्रणों के परिसर में पार्विक लसकुंभीशोथ की उपस्थिति और निमित्त कारण (रोगकारी जीवाणुओं) की पहचान। रोग जिन जनपदों में पाया जाता है, वहां इसका निदान सरल होता है, लेकिन इन क्षेत्रों के बाहर बहुत ही कठिन होता है। अंतिम स्थितियों में यह सूचना कि रोगी लेइशमैनता के क्षेत्र में रह कर आया है, बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

चिकित्सा. प्रतिजीवक मोनोमीसिन कारगर होता है (विशेषकर ग्रामीण प्रकार की लेइशमैनता के इलाज में); इसका 0.25 ग्राम नित्य 4 से 6 बार तक मुखमार्ग से दिया जाता है या

250000U की सूई पेशी में 10 से 14 दिनों तक नित्य तीन बार तक दी जाती है। एंटीमलेरिया साधन दिये जाते हैं: ख्लोरोक्वीन फोस्फेट का 0.25 ग्राम दिन में दो बार (खाने के बाद) तीन से चार सप्ताह तक दिया जाता है (बच्चों को उम्र के अनुसार नित्य 0.125 ग्राम की मात्रा में नित्य एक या दो बार दिया जाता है)। एंटीमोनियल साधन (सोलूसुर्मिन, पर्याय: सोडियम एंटीमोनिल ग्लूकोनाट) अंतर्शिरा मार्ग से दिया जाता है – 5 प्रतिशत सांद्र घोल के रूप में 5-10 मिलिमीटर नित्य (कुल 20 बार)। शहरी प्रकार की लेइशमैनता में गंठिकाओं को मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड (हिद्रोख्लोरिद) का 5 प्रतिशतीय घोल से (1 प्रतिशत सांद्र प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड में या डीहिद्रोस्त्रेप्तोमीसिन के साथ मिला कर) अंतर्स्यदित किया जाता है। गंठिकाएं शीतोपचार, पारतापीय स्कंदन और 10 प्रतिशत पीरोगालोल मलहम से भी नष्ट की जा सकती हैं। व्रणों की चिकित्सा स्थानिक रूप से मलहमों द्वारा होती है; ओक्सीकोर्ट, लोकाकोर्टेन (नेओमीसिन या विओफोर्म के साथ), 2 प्रतिशत अमोनित पारद या 5 प्रतिशत सुल्फोनामीद से युक्त मलहम प्रयुक्त होते हैं। पुल्टिस का भी प्रयोग होता है: 1-5 प्रतिशत सांद्र इख्थामोल-घोल, 0.5-1 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेड के घोल या 0.1 प्रतिशत एथोक्सीडिआमीनो-आक्रीडीन लैक्टेट के घोल में तर कर के।

निरोध. निजी एवं सामूहिक दोनों प्रकार के उपाय प्रयुक्त होते हैं। सामूहिक में बहुमारी-क्षेत्र से कृंतक जंतुओं और बालुका-मक्खियों के उन्मूलन का काम आता है। कृंतकों का उन्मूलन करने के लिये उनके बिलों के पास ख्लोरोपिक्रिन रखा जाता है – बस्ती के गिर्द 15 किलोमीटर चौड़े कटि-क्षेत्र में। यह चौड़ाई बालुका-मक्खियों की उड़ान द्वारा निर्धारित होती है। बालुका-मक्खियों के अंडे देने के स्थलों (कूड़ा-करकट आदि) पर ब्लीचिंग पाउडर छिड़का जाता है, घरों में DDT या हेक्साख्लोरान छिड़का जाता है।

चूँकि बालुका-मक्खी लोगों पर रात को ही आक्रमण करती है, इसलिये गजी या अन्य कपड़े के पर्दे को कीड़े भगाने वाले (अपनोदक) लीजोल या तारपीन में गीला कर के बिस्तर से ऊपर टांग देते हैं। दिन के समय त्वचा के खुले क्षेत्रों पर कीट-अपनोदक क्रीम या लवंग का तेल मलते हैं। तीव्र गंध वाले य-डी-कालन या डीमेथिलफ्थालात भी कुछेक घंटे तक बालुका-मक्खियों से बचाव कर सकते हैं।

लेइशमैनता के जीवाणुओं से कृत्रिम सक्रिय इमूनीकरण से भी अच्छे परिणाम मिले हैं। जीवित लेइशमानिआ ट्रोपिका माजोर से युक्त द्रव-माध्यम की 1-0.2 मिलिलीटर मात्रा की बाँह या जांघ में अंतर्चर्म सूई से दोनों ही प्रकार की लेइशमैनताओं के प्रति इमूनता उत्पन्न करती है। सूई के स्थल पर लेइशमैनार्ब उत्पन्न होता है, जो सामान्य त्वचा से उत्पन्न लेइशमैनार्ब की तुलना में बहुत सुदम प्रवाह ग्रहण करता है।

वीरुसज चर्मक्लेश

वीरुसज (वीरुसजनित) चर्मक्लेश चर्मरोगों का एक अपेक्षाकृत बड़ा ग्रुप बनाते हैं; ये रोग बहुत अक्सर पाये जाते हैं। इस ग्रुप में निम्न की गणना होती है: विसर्प, कीलक, छुतहा मोलुस्क, नुकीला कंडार्ब। ये रोग बच्चों के लिये (विशेषकर 5 वर्ष की उम्र से) बहुत सामान्य हैं। सबसे अधिक यह रोग 5 से 8 वर्ष के बच्चों में पाया जाता है। वयस्कों के बीच 3-4 प्रतिशत चर्मरोगी वीरुसज चर्म-क्लेशों से ग्रस्त होते हैं और बच्चों के बीच – करीब 9.5 प्रतिशत चर्मरोगी। वीरुसी फ्लोरा (उद्भिज) गर्भाशय के भीतर पहुँच कर भी बच्चे को ग्रस्त कर सकते हैं, लेकिन नवजात शिशु प्रसव के समय या अपने जीवन के प्रथम दिनों में इन रोगों से ग्रस्त नहीं होता, क्योंकि

माँ के रक्त के साथ एंटीवीरुसी प्रतिकाय स्थानांतरित होते हैं, जिससे भ्रूण और शिशु में भी अम-क्रिय इमूनता आ जाती है। इमूनता दो वर्ष की उम्र से कम होने लगती है, जिससे वीरुसज चर्म-रोग विकसित हो सकते हैं। वीरुस शरीर में विभिन्न मार्गों से प्रविष्ट हो सकते हैं: चर्म द्वारा, मदूषित वस्तुओं से, श्लेष्मल झिल्लियों से हो कर (रोगी व्यक्ति या वीरुस-वाहक व्यक्ति के साथ मैथुन या चुंबन से), छींक, खाँसी आदि के समय निकलने वाली बूंदों से। इमूनता की कमी या अनुपस्थिति के केस में अंतर्शयन-काल कुछ दिन से ले कर दो या तीन सप्ताह लंबा हो सकता है।

सरल विसर्प

यह रोग छन्य वीरुसों से होता है; इसके मुख्य लक्षण हैं: अतिरक्तिल क्षेत्रों पर स्फोट, और ग्रुपों में उत्पन्न वस्तिकाएं, जिनका अंतर्द्रव पहले तो स्वच्छ होता है, फिर धुंधला पड़ जाता है। इसके प्रिय स्थल हैं: होठ (ओष्ठ-विसर्प), गाल (कपोल-विसर्प), नाक के पार्श्व (नासा-विसर्प), मुख-श्लेष्मला (मुख-विसर्प), शृंगिका (शृंगिका विसर्प) और जननेंद्रिय (जननेंद्रिय-विसर्प)। वस्तिकाएं सूख कर खट्टी में परिणत हो जाती हैं, जिसके गिरने पर कोई दाग नहीं रहता। मुख-श्लेष्मला पर फट गयी वस्तिकाओं का अपरदन पीड़ाजनक होता है, उसकी किनारियां अतिरक्तिल और शोफित होती हैं (श्वेतव्रणीय मुखशोथ)।

स्फोटों में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है, जिसे प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न हैं: अत्यधिक ठंड के प्रति स्वेद-जनित प्रतिक्रिया, पैठनजनित रोग, अतिश्रांति, नार्विक-मानसिक और शारीरिक चोट, कड़ी धूप (आतपघात)। सरल विसर्प अक्सर जठरांत्र-कार्य में गड़बड़ियां, क्लोमशोथ, गरल-ता, लू, ज्वरकारी रोगों (ज्वरकारी विसर्प) के दौरान और ऋतुकष्ट के समय होता है।

स्फोट से पहले अक्सर अग्रवस्थता की अनुभूति (कँपकँपी, बेचैनी, जलन, क्षुधाहानि और अनि-द्रा भी होती है। क्षेत्रीय लसपर्व वर्धित हो जाते हैं। निम्न तल्पिक रूपों में भेद किया जाता है: (1) हल्का, जिसमें क्षतियों की संख्या कम होती है और वे बहुत जल्द अपचोपित हो जाती हैं; (2) शोफित, जिसमें चमकीली रक्तस्फीति और स्पष्ट सूजन होती है (जैसे गालों पर); (3) तीव्र सरल व्रणित विसर्प; (4) कटिबंधकवच सरल विसर्प; (5) अक्सर पुनरावर्ती रूप – होठों (सिंदूरी सीमा) पर, नितंबों और बाह्य जननेंद्रियों पर।

जलगदलोचन. मुख्य लक्षण हैं: फुलाव, अधिचर्म कोशिकाओं का जालिकीय अवजनन और कंट-कों फूलती कोशिकाओं तथा विस्फारित रक्त-कुंभियों में अंतरानाभिकीय एओजीनोफीलिक अंतर्वेशन तथा सुचार्म पिटिकामय परत में हल्का परिकुंभिक अंतर्स्यंदन पाया जाता है।

निदान. विशिष्ट तल्पिक चित्र मिलने पर निदान बहुत सरल होता है। कटिबंधक विसर्प के विप-रीत सरल कटिबंधकवच विसर्प में परिसरीय नर्वों के वितरण के सहारे-सहारे पीड़ा नहीं होती। जलगद में किनारियां बहुचक्रीय नहीं होतीं। जब सरल विसर्प जननेंद्रिय पर होता है, तो इसे अपर-दित कठव्रण से विभेदित करने में अपरदित सतह की बहुचक्रीय किनारी, तली पर कठोरन की अनु-पस्थिति, प्रयोगशालीय परीक्षण के नकारात्मक परिणाम सहायक होते हैं। तीव्र कोमलता (कम-लता) और ज्वर लिम्फोग्रेन्थ-छापित द्वारा निरूपित भग के तीव्र व्रण के लक्षण हैं।

चिकित्सा. शुष्ककारी और निष्पैठक दवाओं का बाह्य रूप से प्रयोग होता है। ये निम्न हैं: टैनिक नाइट्रेट का 1-4 प्रतिशतीय घोल, पिओक्तानिन (जेंशियन वायोलेट) का 1-2 प्रतिशतीय घोल, ऑक्सोलीनुम का 1-2-3 प्रतिशतीय या इंटेर्फेरोन का 30-50 प्रतिशतीय मलहम, बोना-

फटोन, गोसीपोल, टेब्रोफेनुस, 1-3 प्रतिशतीय फ्लोरेनल मलहम और सल्फर-कार्बोलिक पेस्ट (Ac. carbolici 1.0, Sulfuris 1.5, Pastae Zinci 30.0)।

कैलेंडूला, पोटाशियम परमैंगनेट, एथोक्सीडिआमीनो-आक्रीडीन लैक्टेट या हाइड्रोजन पेरोक्साइड से युक्त कसैल निष्पैठक घोलों से गरारा मुँह के सरल विसर्प में प्रलिखित किया जाता है। प्रकीर्णित और अक्सर पुनरावर्तित होने वाली रोग-प्रक्रिया का इलाज तीन दिनों तक हर छे घंटे पर 2-3 मिलिलीटर इंटेर्फेरोनोजेन की अंतर्पेशीय सूई से होता है। बहुसंयोजी (पोलीवैलेंट) प्रतिविसर्प टीका की अंतर्चार्म सूई से भी लाभ होता है (0.1-0.2 मिलिलीटर की सूई दो या तीन दिनों के अंतरालों पर दी जाती है; पूरी चिकित्सा पाँच-पाँच सूइयों के दो दौर में संपन्न होती है; इन दौरों के बीच दस दिन का अंतराल रखा जाता है)। पुनरावर्तन को रोकने के लिये गामा ग्लोबूलिन की सूई, स्वरक्त-चिकित्सा और ज्वरकारी दवाओं का प्रयोग होता है। सहवर्ती पूयकारी पैठन विकसित होने पर विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक दिये जाते हैं।

कटिबंधक विसर्प

इसे शिंग्लेस या जोना भी कहते हैं। इसका निमित्त कारण एक नर्वपर्ययी छन्य वीरुस है—स्ट्रोंगी-लोप्लाज्मा जोने। प्रतिजनिक संरचना और आदमी के भ्रूण-[illegible] में प्रजनन की क्षमता में यह छोटी शीतला (चिकेन पौक्स) के वीरुसों से मिलता-जुलता या उनके साथ समात्मिक होता है। कटिबंधक विसर्प के रोगी के संपर्क में आये बच्चे में छोटी शीतला का विकास इस विचार की पुष्टि करता है कि ये दोनों [illegible] परस्पर संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे केस भी पाये गये हैं, जिसमें रोग अस्थायी कटिबंधक विसर्प से शुरू होता है और फिर छोटी शीतला में परिणत हो जाता है, इसके स्फोट धड़ और हाथ-पैरों पर भी फैल जाते हैं।

अंतर्शयन-काल [illegible] आठ दिन) के बाद अतिरिक्त चर्म-क्षेत्रों पर वस्तिकाएं ग्रुपों में उत्पन्न होती हैं [illegible] ये चर्म-क्षेत्र एक या अधिक नर्वों के खंडीय [illegible] के अनुरूप होते हैं। स्फोट से पहले नर्व-वितरण के सहारे-सहारे पीड़ा के दौर, जलन, ग्रस्त क्षेत्रों में रक्तस्फीति, सामान्य कमजोरी, कँपकँपी और सरदर्द के प्राग्लक्षण उत्पन्न होते हैं।

स्फुटित वस्तिकाएं मटर के दाने जितनी बड़ी और तनी हुई होती हैं; अंतर्द्रव स्वच्छ सीरमी होता है। ये संगम कर के सूक्ष्म शुक्तिक किनारी वाले पैठन-अधिकेंद्र बनाती हैं। स्फोट विशिष्ट रूप से असममित और एकतरफा होते हैं। इसके निम्न तल्पिक रूप हैं: (1) सार्वदैहिक कटिबंधक विसर्प (प्रकीर्णित), जिसमें दुतरफा प्रकीर्णित क्षतियां होती हैं (2) रक्तस्रावी कटिबंधक विसर्प, जिसमें वस्तिकाओं का स्वच्छ अंतर्द्रव पूयिक हो जाता है, फिर उक्त प्रक्रिया सुचर्म में गहरी होने लगती है, तो रक्तस्रावी हो जाता है; (3) विगलनकारी कटिबंधक विसर्प, जो एक तीव्र रूप है, इसमें वस्तिकाओं की तली विमृत होने लगती है और उनकी जगह पर अंतांक बनता है; (4) हल्का (पूर्वपाती) रूप; (5) बुल्लेदार रूप, जिसमें वस्तिकाओं के साथ-साथ बुल्ला भी प्रकट होते हैं।

चर्म पर रोग की तीव्र अभिव्यक्तियों के गायब होने पर भी स्थायी नर्वपीड़ा और अपूर्ण लकवा (पेशियों का श्लथ रहना) प्रेक्षित होता है।

आँखों में प्रक्रिया का स्थित होना एक खतरनाक परिस्थिति है, जिसका अंत कभी-कभी शृंगिका तथा पूरे नेत्र के व्रणन के साथ होता है। आँखों को ग्रस्त करने वाला तीव्र रूप अक्सर बच्चों को नहीं

होता। त्रिशाखी या चेहरे के नर्व का अपूर्ण लकवा और बधिरता अन्य क्लिष्टताएं हैं। रोग छादिका-शोथ और मस्तिष्कशोथ से भी क्लिष्ट हो सकता है।

वीरुसी पैठन की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहित करने वाले घटक निम्न हैं: पैठनजनित रोग, गरलता (गरणक्लेश), द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां, रक्त के रोग, नार्विक एवं मानसिक अति-स्त्रेस, शरीर का ठंडा होना (ठंड में) और शारीरिक चोट। प्रक्रिया अक्सर ठंडे मौसम में होती है और उग्र रूप धारण करती है (बसंत और शरद में)। कटिबंधक विसर्प किसी भी उम्र में हो सकता है, पर बहुत छोटे बच्चों (शिशुओं) में यह विरले ही होता है।

अविशिष्ट पूनरावर्ती प्रवाह वाले कटिबंधक विसर्प के वयस्क एवं वृद्ध रोगियों का परीक्षण करना चाहिये कि दुर्दम नौवर्ध या रक्त का कोई रोग तो नहीं है। कटिबंधक विसर्प कभी-कभी चर्मरक्तता (हेमोडर्मिया) के कुछ रूपों से पूर्व प्रकट हो सकता है।

ऊतकवलोचन. अधिचार्म कोशिकाओं का फुलाव और जालिकीय अवजनन, अंतरानाभिकीय वीरुसी अंतर्वेशन, और नर्व-रेशों में अवजनक परिवर्तन देखे जाते हैं। तीव्र शोथी बहुरूपनाभिकीय अंतर्स्यंदन (मुख्यतः लसकोशिकीय तथा ऊतकोशिकीय प्रकृति का), शोफ और रक्तवाही एवं लसवाही कुंभियों का विस्फारण भी पाया जाता है।

निदान. स्फोटों से पूर्व और उनके साथ दहकती पीड़ा और ग्रुपों में उत्पन्न वस्तिकाओं का रैखिक क्रम (ग्रस्त नर्वों के खंडीय वितरण के अनुतीर) कटिबंधक विसर्प को सरल विसर्प और चर्मशोण से विभेदित करता है।

चिकित्सा. निम्न दवाएं प्रलिखित की जाती हैं:—एंटीवीरुसी दवाएं: मेथीसाजोनुम या कूटीजोनुम (तीन से छे दिनों तक नित्य दो या तीन बार एक-एक टिकिया), इंटेर्फेरोन, सैलीसीलेट और पीड़ाहारी (ऐसेटिल सैलीसीलिक अम्ल, अमीडोपोरीन, फेनिलबूटाजोन, रेओपीरीन), विटामिन B_1, B_5, B_6, B_{12}, C स्वरक्त-चिकित्सा, गामा ग्लोबूलिन की सूइयां और इंटेर्फेरोनोजेन।

निम्न भौतिक उपचारों की सलाह दी जाती है: पराबैंगनी विकिरण, सोल्युक्स, परास्वन, गले की अनुकंपी गुच्छिकाओं का अप्रत्यक्ष पारतापन, पारप्रवेगिक विद्युत-धाराएं, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का विद्युप्रवहन, प्रोकेन से वृत्ताकार घेराव, 50 प्रतिशत इंटेर्फेरोन से युक्त मलहम का स्वनिक प्रवहन।

तीव्र स्फोटों में मलहमों से क्षोभकारी चिकित्सा और स्नान प्रतिसंकेतित हैं। इस अवधि में चिकित्सा पाउडरों के उपयोग तक सीमित रखी जाती है। प्रतिशोथी व निष्पैठक पेस्ट, क्रीम और मलहम बाद में प्रलिखित किये जाते हैं: 1-2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम से युक्त मलहम, 0.5 प्रतिशतीय फ्लोरेनल मलहम, 20-50 प्रतिशत इंटेर्फेरोन या इंटेर्फेरोनोजेन से युक्त मलहम, अनीलीन रंजकों का 1-2 प्रतिशतीय टिंचर, स्टेरोइड हर्मोनों (ओक्सीकोर्ट, हिओक्सीजोन, डेमोजोलोन, लोरिंडेन S) के मेल के साथ-साथ प्रतिजीवकों से युक्त मलहम और इमल्शन।

एंटीवीरुसी मलहमों (बोनाफ्टोन, गोसीपोल, टेब्रोफेनुम इंटेर्फेरोन) के साथ-साथ अनीलीन रंजकों का बाह्य प्रयोग चिकित्सा में लाभकर होता है। स्फोट प्रकट होने पर रोगी को स्नान नहीं करना चाहिये।

निरोध. शरीर को ठंड लगने और गरलता से बचाना चाहिये।

कीलक

हेतुलोचन और गदजनन. कीलक के सभी रूप छन्य चर्मपर्ययी वीरुसों या इनकी अत्यंत निकट की जातियों से होते हैं। रोग छुतहा है। स्वस्थ व्यक्ति में यह रोग रुग्न व्यक्ति से सीधे संपर्क द्वारा या संदूषित वस्तुओं के माध्यम से संक्रमण करता है। रोग विकास को प्रोत्साहन निम्न घटकों से मिलता है: चर्म में चोटज क्षतियां, इसकी शुष्कता, इसके जल-वसीय आवरण में pH की कमी, नीलपर्यंगता के साथ पनपू नर्वक्लेश, या अतिस्वेदन। एक ही स्थल पर कीलकों का क्रमिक स्वारोपण भी पाया जाता है, जिसे वीरुसों की वर्धित विषालुता संप्रेरित करती है। यह माना जाता है कि केंद्रिय नर्व-तंत्र रोग के गदजनन में योगदान करता है, पर इसकी भूमिका अभी तक स्पष्ट नहीं है।

इस मान्यता की पुष्टि इस बात से होती है कि अनेक केसों में शब्दाधान (सजेशन) और स्वापन (हाइप्नोसिस) से भी चिकित्सा हो जाती है। अंतर्शयन-काल कुछ सप्ताह से लेकर कई महीनों तक लंबा हो सकता है (यह कृत्रिम आरोपण से सिद्ध किया गया है)। कीलक के कई रूप हैं।

सामान्य कीलक का निमित्त कारण मोलीटोर वेरूके नामक वीरुस है। यह अधिकांशतः बच्चों तथा युवकों में हाथ-पैर पर होता है; चेहरे पर अपेक्षाकृत कम होता है।

स्पष्ट परिसीमित, कठोर, पीड़ाहीन अर्धगोलाकार क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जो त्वचा से ऊपर उभरी रहती हैं। वे सामान्य त्वचा के रंग के या भूरी या कत्थई आभा के साथ होते हैं; शोथ नहीं होता (चित्र 15)। इनकी सतह दानेदार और रुखड़ी होती है, और संरचना कभी-कभी पार्विक होती है। इनका आकार पिन के सर से लेकर बाजरे के दाने के बराबर तक हो सकता है। इनकी बड़ी-बड़ी जमघटें बनती हैं, जो बाद में संगम कर जा सकते हैं। तलवों व हथेलियों पर ये त्वचा से बहुत कम उभरे हुए दिखते हैं; उनपर शृंगीक्लेश (शृंगनता) होती है। कीलकों की संख्या एक से लेकर कई दर्जनों तक हो सकती है।

ऊतगदलोचन. ऊतलोचनी चित्र अतिशृंगनता और पिटिकार्वक्लेश से लंछित होता है।

चिकित्सा. स्वापन के साथ शब्दाधान कारगर सिद्ध होता है। विद्युस्कंदन या पारतापीय स्कंदन, खुरचन, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल, ठोस कार्बन डायक्साइड या द्रव नाइट्रोजन से ठंडा कर के जमाना (शीत-चिकित्सा या शीत-विनाश) प्रयुक्त होता है। इंटेर्फेरोन, कोल्खीसीन 2 प्रतिशत ओक्सोलीनुम, 1-3 प्रतिशत फ्लोरेनल, और गोसीपोल से युक्त मलहम लगाये जाते हैं और क्षतियों का उपचार फाउलर (Fowler) के घोल या फेरेजोल (40 प्रतिशत फेनोल और 60 प्रतिशत त्रिक्रेजोल) से किया जाता है।

चौरस कैशोर्य कीलक बच्चों और किशोरों में ही अधिकांशतः होता है। ये हल्की सी उभरी हुई, बहुभुज या गोल आधार वाली चौरस कठोर क्षतियां हैं। इनकी सतह चिकनी होती है, आकार बाजरे के दाने से लेकर मसूर के दाने के बराबर तक हो सकता है। कुछ केसों में इनका रंग सामान्य त्वचा जैसा ही होता है, अन्य केसों में पीताभ गुलाबी या पीताभ भूरा होता है। बहुसंख्य चौरस कीलक अक्सर हथेली के पीछे, चेहरे (ललाट) पर, गरदन और प्रबाहु पर फैले होते हैं; एक पंक्ति के रूप में कम ही होती हैं।

ऊतगदलोचन· अतिशृंगनता और कंटलय इसकी लंछक विशेषताएं हैं।

निदान सरलता से हो जाता है। इस अवस्था को कभी-कभी चौरस शैवाक से विभेदित करना पड़ता है, जिसमें पिटिकाएं मोम जैसी चमक, केंद्र में नाभि जैसे अवनमन, बैंगनी-लाल रंग और

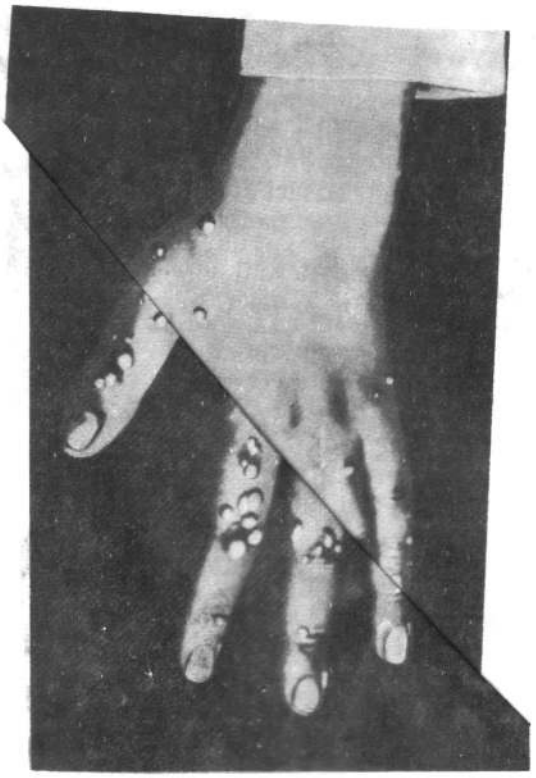

चित्र 15. सामान्य कीलक

खुजली द्वारा शोथी अंतर्स्यंदन और आक्रांति-केंद्र के परिसर में ललाभ-बैंगनी सीमारेखा द्वारा होता है।

चिकित्सा. स्वापन के साथ शब्दाधान मे चिकित्सा और मनोचिकित्सा का उपयोग होता है। फाउलर का घोल और मैग्नेशिया उस्टा (दो या चार सप्ताह के लिये 0.25-0.5 ग्राम नित्य तीन बार) प्रलिखित किये जाते हैं। बाह्य उपचार शृंगिघोलक मलहमों से होता है, जिनमें सैलीसीलिक, बेंजोइक तथा लैक्टिक अम्ल और रेसोर्सिनोल होते हैं। पराबैंगनी किरणों या बक्की (Bucky) की किरणों की ललामिक खुराकें, इंटर्फेरोन, गोसीपोल, प्रोपोलिस, कोलान्खे (colanchoe) ओक्सोलीनुम, और बोनाफ्टोन प्रलिखित किये जाते हैं।

तलवों के कीलक सामान्य कीलकों का ही एक रूप हैं। जूतों से पैरों का कसना, तलवों में चोटज क्षति, और पैरों (गोड़ों) का अतिस्वेदन इनकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ये कीलक कभी-कभी नख-सेज पर उत्पन्न हो जाते हैं, जहां इनके कठोर वर्धन से बहुत पीड़ा होती है। चुटैल होने के कारण चलने में कठिनाई होती है, वे ठेले से मिलते-जुलते होते हैं। ये अक्सर अल्प संख्या में होते हैं। कीलकों के ऊपर वर्णित रूपों की तरह ये भी कंटक्लेश, पिटिकार्बता और अतिशृंगनता से संछित होते हैं।

चिकित्सा. द्रव नाइट्रोजन (शीत-चिकित्सा), कोल्खामीन-मलहम, और क्षतियों पर 10-20

प्रतिशत सांद्र पोडोफीलिन-घोल लगाने के लिये प्रलिखित किये जाते हैं। निम्न कसैल प्रसाधन प्रलिखित किया जाता है:

Rp: Ac. salicylici 1.0
Ac. acetici 9.0
Collodii elastici 10.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

कीलक के गिर्द चर्म पर जिंक-पेस्ट लेपा जाता है (आस-पास के ऊतकों की रक्षा के लिये) और कीलक पर 50 प्रतिशत दवाओं (उपरोक्त) से युक्त कोलाइडी प्रसाधन लगाया जाता है। यह हर तीन-चार दिन में एक बार दुहराया जाता है। इसके बाद गोड़ को सोडियम हाइड्रोकार्बोनिट से धो कर कैंची की धार से कोलाइडी झिल्ली और मुलायम हो चुका शृंगी द्रव्य दूर किया जाता है। प्रक्रिया तब तक दुहरायी जाती है, जबतक कीलक जड़ से समाप्त नहीं हो जाता। तलवे के कीलकों को दूर करने की एक कारगर विधि खुरचना भी है।

नुकीला (या आर्द्र) कंडार्ब

यह उन लोगों को होता है, जिन्हें अच्छी तरह सफाई से रहने की आदत नहीं होती। इसके वीरुस मैथुन से भी संप्रेषित हो सकते हैं।

सुजाक, त्रीखोनाद-जनित तथा अन्य मूलों के स्राव रोग के गदजनन में महत्त्वपूर्ण होते हैं। नुकीले कंडार्ब जननेंद्रियों और मूलाधार के क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं; विरल केसों में, वे कांख में और स्तन के नीचे भी उत्पन्न होते हैं। नन्हे, मुलायम, नुकीले और गुलाबी कीलक बनते हैं। जब वे संगम कर जाते हैं, तो पिटिकार्बिक प्रवर्ध मिलता है, जिसकी सतह फूल-गोभी या रास्पे-बेरी जैसी दिखती है। ये प्रवर्ध मसृणित और व्रणित हो सकते हैं। कुछ क्षतियों का आधार बहुत संकरा होता है, जिसे पादिका कहते हैं। कंडार्बों के बीच एक बुरी गंध वाला स्राव भी जमा हो जाया करता है।

निदान. आर्द्र कंडार्ब को चौरस (सीफिलिक) कंडार्ब से विभेदित करना महत्त्वपूर्ण होता है, जिसमें आधार चौड़ा होता है, संहति कठोर व प्रत्यास्थ होती है, फाँकों में बँटा हुआ नहीं दिखता, उनके स्राव में असंख्य त्रेपोनेमा पालीडुम जीवाणु मिलते हैं। द्वितीयक सीफिलिक दशा के अन्य लक्षण और रक्त की सीरमलोचनी जाँच के धनात्मक परिणाम निदान में सहायक होते हैं। सीफिलिस के रोगी में नुकीले और चौरस कंडार्ब दोनों ही एक साथ पाये जा सकते हैं।

चिकित्सा. पारतापीय स्कंदन, विद्यु-चीरा, शीत-चिकित्सा और वोल्कमान के तीक्ष्ण चम्मच से खुरचन का उपयोग होता है। नुकीले कंडार्ब को पोटाशियम परमैंगनेट के तेज घोल, त्रिक्लोरो-एसेटिक अम्ल, और 20 प्रतिशतीय पोडोफीलिन घोल से जलाया जा सकता है या फेरेजोल (चार भाग फेनोल और छे भाग त्रिक्रेजोल के मिश्रण) से लेपा जा सकता है। जलाने (दागने) वाले पाउडर (रेसोर्सिनोल और टैल्कम बराबर-बराबर) तथा कोल्खामीन-मलहम प्रलिखित किये जाते हैं। नुकीले कंडार्ब के विकास को प्रोत्साहित करने वाले घटक दूर किये जाते हैं।

छुतहा मोलुस्क

यह रोग वृहत्तम छन्य वीरुस मोलीटोर होमीनिस से होता है, जिसका छुतहापन प्रयोगिक तौर पर सिद्ध किया जा चुका है (जब इस रोग की क्षतियों का अंतर्स्यंद स्वस्थ व्यक्तियों के चर्म में पुनरारोपित किये गये)। पैठन रोगी या वीरुसवाहक व्यक्ति से प्रत्यक्ष संपर्क से या उनकी संदूषित

वस्तुओं के माध्यम से प्रसारित होता है। यह रोग बच्चों में अधिक प्रायिक है। बाल-प्रतिष्ठानों में समय-समय पर बहुमारी फैल जाया करती है। अंतर्शयन-काल दो सप्ताह से ले कर कई महीनों तक लंबा हो सकता है। मटर के दाने के बराबर और सामान्य त्वचा के रंग की, या गुलाबी-भूरी (मुक्ता-सीप के रंग की) एक पर्विका बन जाती है। यह अर्धगोलाकार होती है, केंद्र में क्रेटर जैसा गड्ढा होता है। केंद्र का द्रव्य छेने जैसा होता है, जिसमें सूक्ष्मदर्शी से अवजनित चमकदार अंडाकार उपकलीय कोशिकाएं दिखती हैं; इनमें बड़े-बड़े प्रोटोप्लाज्मिक अंतर्वेश होते हैं (मोलुस्कों के काय)। कोई आत्मगत अनुभूती नहीं होती। पर्विका अकेली भी हो सकती है और दर्जनों की संख्या में भी (प्रकीर्णित क्षतियां)।

बच्चों में इसके प्रिय स्थल चेहरे पर आँखों के गिर्द, गरदन, वक्ष और हथेलियों के पीछे हैं। वयस्कों में क्षतियां अधिकांशतः बाह्य जननेंद्रियों, जघन और पेट पर होती हैं, जो मैथुन से पैठन की संभावना की ओर इंगित करता है। इसके निम्न तल्पिक रूप हैं: अम्हौरी जैसा छुतहा मोलुस्क, जिसमें असंख्य नन्ही क्षतियां उत्पन्न होती हैं; पादिकित छुतहा मोलुस्क, जिसमें डंठलनुमा (पादिकित) क्षतियां होती हैं; विशाल मोलुस्क, जिसमें क्षतियां संगम कर के विशाल हो जाती हैं।

निदान में निम्न लक्षणों से सहायता मिलती है: पर्विका के पार्श्वों को चिमटी से दबाने पर उसके मध्य से सफेद दलिया जैसा छेना-सदृश शृंगी कोशिकाओं का समूह और मोलुस्कों के अंडवत काय निकलते हैं। कीलकों के केंद्र में कोई अवनमन (गड्ढा) नहीं होता, मुक्ता-सीप जैसी सतह भी नहीं होती।

चिकित्सा: पर्विका को चिमटे से दबा कर अंतर्द्रव्य निकाल दिया जाता है या तीक्ष्ण चम्मच से खुरच कर दूर कर दिया जाता है। इसके बाद आक्रांति-क्षेत्र पर 5-10 प्रतिशत सांद्र आयडीन-टिंचर लेपा जाता है, फिर 3 प्रतिशत ओक्सोलीनुम या इंटेर्फेरोन से युक्त मलहम लगाया जाता है। पारतापीय स्कंदन और शीत-चिकित्सा भी दी जाती है।

विसर्पी दिनाइ

विसर्पी दिनाइ को कापोसी (Kaposi) का मसूरिकावत स्फोट या टीकावत पीपिकाक्लेश भी कहते हैं। यह दद्रुग्रस्त (दिनाइ से ग्रस्त) बच्चे को बुदबुदियानुमा चौरस शैवाक से पीड़ित व्यक्ति के संपर्क (संसर्ग) में आने के तीन से सात दिन बाद शुरू होता है। इसकी तल्पिक अभिव्यक्तियां प्रकीर्णित सरल विसर्प जैसी होती हैं। चर्म के ललामित और शोफित क्षेत्रों पर यत्र-तत्र पिटिकीय-कुंभिक तथा पीपिकीय क्षतियां और एकल-कोष्ठीय वस्तिकाओं के प्रकीर्णित ग्रुप उत्पन्न होते हैं, जिनके मध्य में नाभि जैसा अवनमन होता है। वस्तिकाओं के अपचोषण के बाद सतही क्षतांक रह जाते हैं। जननेंद्रियों तथा मुख-कोटर की श्लेष्मल झिल्लियां भी अक्सर ग्रस्त हो जाती हैं। स्फोट अचानक तीव्र गरलक्लेश, तेजी से आये ज्वर (39-40°C), धुंधली चेतना और यकृत व लसपर्वों के वर्धन के साथ उत्पन्न होते हैं। क्लोमशोथ, छादिकीय कुसंवृत्तियां, मस्तिष्कशोथ, कर्णशोथ, शृंगीयुतिकाशोथ (कभी-कभी शृंगिका के व्रणन के साथ) और जठरांत्र की गड़बड़ियां भी विकसित हो सकती हैं।

उत्तगदलोचन. वस्तिकाओं का स्थान अंतराचार्म एवं अवचार्म होता है। फुलावयुक्त अवजनन के लक्षण विशिष्ट होते हैं। टीकाजनित दिनाइ के अधिकेंद्र में रिसालु अवजनित कोशिकाएं पायी जाती हैं।

चित्र 16. टीकाक्लेश

कुछ केसों में भविष्यवाणी प्रतिकूल होती है। यदि बच्चा कमजोर और निःशक्त है और आंतर अंग तथा नर्वतंत्र भी रोग-प्रक्रिया की चपेट में आ गये हैं, तो परिणाम घातक भी हो सकता है।

चिकित्सा. अवसंवेदक, एंटीहिस्टामीनिक व प्रशामक दवाओं तथा विटामिनों (विशेषकर B_1 व C) से चिकित्सा के साथ-साथ मेथीसाजोन (मार्बोरान) टिकियों (वयस्कों के लिये छे दिनों तक सुबह-शाम 0.2 ग्राम) या 10 प्रतिशत सांद्र निलंबन (वयस्कों के लिये एक बड़ा चम्मच नित्य दो बार) के रूप में प्रलिखित किया जाता है। 6 वर्ष से ऊपर के बच्चों को मेथीसाजोन का 10 प्रतिशत सांद्र घोल चौथाई या तिहाई मध्यम चम्मच चार दिनों तक सुबह-शाम दिया जाता है। बच्चे के लिये मार्बोरान की एक खुराक 0.04 ग्राम प्रति किलोग्राम (शरीर का भार) है, जो चार दिनों तक हर छे घंटे पर दी जाती है। कई केस कोर्टिकोस्टेरोइड से भी ठीक हो जाते हैं, जिन्हें प्रतिजीवकों (ओलेटेट्रिन, सेपोरिन आदि) और गामा ग्लोबुलिन के साथ दिया जाता है। अनीलीन रंजक और हेलिओमीसिन या एरीथ्रोमीसिन के मलहम बाह्य उपचार के लिये प्रयुक्त होते हैं।

निरोध. सरल विसर्प से ग्रस्त व्यक्तियों को बच्चे की देखभाल नहीं करनी चाहिये।

टीकाक्लेश (वाक्सीनता)

वाक्सीनता उन दद्रुग्रस्त बच्चों को होता है, जिन्हें छोटी शीतला (चिकेन पौक्स) का टीका लगाया जाता है या टीका लगाये गये अन्य बच्चे के संपर्क में (टीका के एक-दो सप्ताह बाद) आता

है। बहुकोष्ठीय वस्तिकीय या पीपिकीय, चेचक-जैसी अक्सर असममित क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जिनके केंद्रों में एक गड्ढा सा होता है; इनके बाद क्षतांक नहीं रहता (चित्र 16)। क्षतियां पहले टीका (पाछ) के स्थल पर उत्पन्न होती हैं, जो बाद में प्रकीर्णित हो सकती हैं। कभी-कभी मुँह और जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियां और युतिका भी ग्रस्त हो जाती हैं। लसपर्व या तो परिस्पर्शित नहीं होते या बहुत हल्का सा वर्धित होते हैं। रोग के साथ-साथ थोड़ा बुखार भी रहता है, लेकिन सामान्य अवस्था कापोसी के मसूरिकावत स्फोटों की तरह नहीं गड़बड़ाती है।

चिकित्सा. गामा ग्लोबूलिन की सूइयां, प्रतिजीवक (ओलेटेट्रिन और ओमीसिन, सेपोरिन, एरीथ्रोमीसिन) और मेथीसाजोन प्रलिखित लिये जाते हैं।

भग का तीव्र व्रण

लिपशोयेट्स-चापिन द्वारा निरूपित भग का तीव्र व्रण अधिकांशतः युवा लड़कियों व स्त्रियों को होता है। इसका कारण डेडेरलेइन (Doederlein) द्वारा वर्णित योनिक बासिल (बासिलुस क्रासुस) है, जो सामान्य परिस्थितियों में योनिक श्लेष्मला का कुणपतृण है (अर्थात वह योनिक श्लेष्मला की मृत कोशिकाओं, उनके अपघटन के उत्पादों से अपना पोषण करने वाला सूक्ष्म उदभिज है। व्रण के पूयिक स्राव में अनेक मोटे ग्राम-धनात्मक छड़ दिखते हैं, जिनका सिरा उच्छेदित शंकु की तरह होता है; ये ग्राम की विधि से या मेथीलेन नीले से रंजित होते हैं।

गदजनन. यह माना जाता है कि ठंड लगने से या पैठनजनित रोग के कारण जब लड़कियों या स्त्रियों का शरीर कमजोर हो जाता है, तब डेडेरलेइन के बासिल कुणपतृण से गदजनक रूप में परिणत हो जाते हैं। वर्धित परीजिक संवेदिता और इस निमित्त जीवाणु के प्रति शरीर का संवेदीकरण भी रोग-प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं (रोगी में बासिलुस क्रासुस की टीका से अंतर्चर्म परीक्षण और प्रतिक्रिया का पूरक स्थिरकरण अक्सर धनात्मक होते हैं)।

तल्पिक चित्र. रोग का आरंभ अचानक होता है और प्रवाह तीव्र होता है; यह कुछ दिनों से ले कर दो सप्ताह तक चल सकता है। इसमें भग एवं भगोष्ठों की श्लेष्मल झिल्लियां शोफित और लाल होती हैं और उनपर अत्यंत पीड़ाजनक विमृतिक व्रण बन जाते हैं। व्रण सतही होते हैं, आधार मुलायम होता है, किनारियां सुरंगित होती हैं और तली से सीरमी-पूयिक भूराभ पीला स्राव होता है। एक या कई व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर का तापक्रम ऊँचा पाया जाता है, कँपकँपी होती है। व्रणों का शीघ्र ही उपकलाकरण और (व्रण-) पूरण होने लगता है; इसके बाद खट्ठी अलग होती है। क्षतांक सतही और सूक्ष्म होते हैं। रोग छुतहा नहीं है।

निदान. क्षतियों की अतिकोमलता और आयुरी वृत्त में मैथुन-घटना की अनुपस्थिति से (क्योंकि रोग छोटी और कुमारी लड़कियों को होता है) इस रोग को मुलायम एवं कठोर कठव्रण और सीफिलिस के द्वितीयक चरण की अपरदित पिटिकाओं से विभेदित किया जा सकता है। मुलायम कठव्रण और सीफिलिस के अन्य लक्षणों (दे. तदनुरूप प्रकरण) और प्रयोगशालीय परीक्षण (सूक्ष्मदर्शन और सीरमलोचनी परीक्षण) के परिणामों का भी निदान में उपयोग होता है।

गंठिक्लेशिक व्रण अक्सर अकेले (अलग-थलग) होते हैं, उनका प्रवाह चिरकालिक होता है, कोई तीव्र संवृत्ति नहीं होती। उनके स्राव में मी. यक्ष्मा अनुवेदित होते हैं। पिर्के (Pirquet), मांटो (Mantoux) और कोख (Koch) के परीक्षण धनात्मक परीणाम देते हैं।

जननेंद्रियों पर चौरस शैवाक के विभेदक लक्षण हैं: ग्रुपों में उत्पन्न वस्तिकाओं के फटने पर

क्षतियों की सूक्ष्म बहुचक्रीय परिरेखाएं और अपरदन का तेजी से उपकलाकरण। जननेंद्रिय पर पुनरावर्ती सरल विसर्प के रोगी अक्सर कोई पीड़ा नहीं महसूस करते।

चिकित्सा. पेनीसिलिन, सेपोरिन, सिग्मामीसिन, ओलेटेट्रिन, टेट्राओलेइन तथा एरीथ्रोमीसिन अक्सर स्वरक्त-चिकित्सा या गामा ग्लोबूलिन सूइयों के साथ प्रलिखित किये जाते हैं (अंतिम की आधी खुराक की सूई तीन दिनों में एक बार दी जाती है, कुल सूइयां तीन या चार होती हैं)। शरीर को विटामिन ए और बी-संकुल से संतृप्त रहना चाहिये। अवसंवेदक तथा प्रतिहिस्टामिनिक साधन और कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन नन्ही खुराकों में दिये जाते हैं, यदि स्पष्ट तीव्र शोथी प्रतिक्रिया और कुटाली प्रवाह प्रेक्षित होता है।

अत्यंत शोथी प्रतिक्रिया और तीव्र कोमलता की स्थिति में बाह्य उपचार के साधन प्रलिखित किये जाते हैं: शीतलकारी लोशन (बोरिक अम्ल का 2 प्रतिशतीय या सिल्वर नाइट्रेट का 0.25 प्रतिशतीय घोल) लगाया जाता है और इसके बाद जड़ी-बूटी (गुलदाउदी, गेंदा, संत जोन के वर्ट, सहस्रपर्णा) के काढ़े के घोल में या पोटाशियम परमैंगनेट के हल्के घोल में कटिस्नान कराया जाता है। डेर्माटोल-युक्त पाउडरों या लोकाकोर्टेन अथवा हिड्रोक्सीजोन के मलहम के साथ समान मात्रा में कैलेंडुला का मलहम मिला कर स्नान के बाद लगाया जा सकता है।

जीनचर्मक्लेश, या विरासती चर्मरोग

सामान्य सूचनाएं

कुछ चर्मक्लेशों के विकास में आनुवंशिक घटकों की भूमिका को सिद्ध करने वाले केसों तथा खानदानी चर्मरोगों के वर्णन तल्पिक चर्मलोचन में बहुत पहले से संचित होते रहे हैं, तभी से, जब आयुरी जंतिकी आयुर की स्वतंत्र शाखा के रूप में अलग भी नहीं हुई थी। सबसे पहले मीनचर्मता से ग्रस्त रोगियों का वंशवृक्ष ज्ञात हुआ था; यह रोग वंश की कई संततियों के लोगों में पाया गया। पिछली शती के अंत में मेंडेल द्वारा आविष्कृत संततियों में प्रबल एवं अवगामी (क्षीण) विशेषताओं के प्रकट होने के नियम की सहायता से ऐसी जंतिकीय रीतियां आप्त हुई, जिनसे अनेक चर्मरोगों के विकास में आनुवंशिकता की भूमिका स्पष्ट की जा सकी। ये रीतियां हैं: रोगी के वंशवृक्ष का अध्ययन (वंश में किसे-किसे विचाराधीन रोग हुआ है), जुड़वे बच्चों का अध्ययन (एकयुग्मी और द्वियुग्मी यमजों में चर्मलोचनी गदलोचन का अध्ययन) और कोशिका-जंतिकीय अध्ययन (कैरिओटाइप और सेक्स क्रोमाटिन की रंज्यकाय-संचियों का अध्ययन) और चर्मलेखों (मुख्यतः हथेलियों पर पिटिकीय मेड़ों – घाइयों – के नमूनों) का अध्ययन। इन खोजों के आधार पर कुछ चर्मरोगों को सामान्य चार्म गदलोचन की श्रेणी से अलग स्थान दिया गया (जीनीय चर्मक्लेश या जीनचर्मक्लेश) और यह स्थापित किया जा सका कि अनुवंशिक चर्मक्लेश जीन में उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं; उनके विरासतन के तथ्य और प्रकार भी स्थापित किये गये।

पिछले समय से जंतिकीय खोज-रीतियों का भंडार काफी बढ़ा है; इसका कारण है जंतिकी का विकास, जिससे जीन की भौतिक संरचना और विरासतन की प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले उसके रसायनिक एवं भौतिकीय गुण ज्ञात हुए हैं। औण्विक जंतिकी, इमूनो-जंतिकी जैसी नवीन शाखाएं उत्पन्न हुईं। इनमें एंजाइमों, नुक्लेइक अम्ल के विनिमय तथा शरीर में द्रव्य-विनिमय के अन्य उत्पादों की उत्पत्ति और कार्यों में गड़बड़ी लाने वाली सामान्य परिस्थितियों का अध्ययन होता है।

आधुनिक चर्मलोचन में चर्मक्लेशों और उनके प्रति जन्मजात (विरासती) प्रवणता के अध्ययन में जंतिकीय विधियों का विस्तृत उपयोग हो रहा है।

जीनचर्मक्लेश रोगी के पूर्वजों की जननकोशिका में उत्परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, फिर भी उत्परिवर्तित जीन की उपस्थिति को सिद्ध करना और वंश में उसके प्रसार-पथ को ज्ञात करना हर मूर्त्त केस में संभव नहीं होता। इसके कारण हैं : आदमी में नये उत्परिवर्तनों का उत्पन्न होना (जो पहले नहीं थे) और परिवार में अवगामी प्रकार के सदस्यों की संख्या कम होना। इसके अतिरिक्त, विरासती चर्मक्लेश जन्म से नहीं व्यक्त होते : उनका जन्मजात होना आवश्यक नहीं है और जन्मजात चर्मरोग का अनुवांशिक (विरासती) होना भी आवश्यक नहीं है। जन्मजात चर्मरोग विरासती भी हो सकते हैं और अंकुर-रुग्नता (गर्भधारण के चौथे सप्ताह से लेकर चौथे-पाँचवें महीने तक की अवधि में भ्रूण में जीवाणु-पैठन के कारण) या भ्रूणरुग्नता (गर्भधारण के चौथे-पाँचवें महीने से प्रसवकाल तक की अवधि में पैठन) के कारण भी हो सकता है। (अंकुर, embryo और भ्रूण, foetus में अंतर करना आजकल आयुर-सहित्य में गलत माना जाता है। – अनु.)

भावी चर्मलोचकों को याद रखना चाहिये कि एक आविर्नकल (या मिथ्या उत्परिवर्तन) नामक रोग भी है, जिसमें बाह्य घटकों के प्रभाव से कोई जीन किसी उत्परिवर्तन-विशेष की 'नकल' करने लगता है; फलस्वरूप तल्पिकतः विरासती रोग से मिलते-जुलते रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे तारुणिक या सुदम काला कंटक्लेश (वर्णक-पिटिकीय कुपोषण का विरासती सुदम रूप) और दुर्दम काला कंटक्लेश (अविरासती दुर्दम वर्णक-पिटिकीय कुपोषण)। जीननकल का अस्तित्व भी संभव है; ये ऐसे विरासती रोग हैं, जो तल्पिक लक्षणों में एक-दूसरे की नकल करते हैं, लेकिन भिन्न उत्परिवर्तित जीनों से उत्पन्न होते हैं (जैसे स्वकायिक प्रबल और एक्स-संपर्की अवगामी मीनचर्मता)।

विरासती चर्मक्लेशों में रज्यकायिक विपथन (रंज्यकायों की संख्या और संरचना में परिवर्तन) नियमतः नहीं मिलता है। अधिकांश जीनचर्मक्लेश जंतिकीय उपकरण में अपेक्षाकृत सूक्ष्म परिवर्तनों, अर्थात जीन में उत्परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं; इन उत्परिवर्तनों के परिणाम (द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया में परिवर्तन, खमीरी रुग्नता – खमीरों के कार्य या उत्पादन में गड़बड़ी आदि) जीवरसायनिक परीक्षणों से ज्ञात हो जाते हैं।

फिर भी वर्तमान ज्ञान के आधार पर जंतिकीय कारणों से उत्पन्न खमीरी दोष ज्ञात करने के प्रयत्न जीनचर्मक्लेश के अनेक रोगियों में असफल रहे। वर्तमान समय में सभी जीनचर्मक्लेशों का वर्गीकरण या तो रूपलोचनी आधार पर होता है (शृंगनता की गड़बड़ी, वर्णकीय, बुल्लेदार आदि) या विरासतन-प्रकार के अनुसार (स्वकायिक, प्रबल, अवगामी, आदि)।

विरासती शृंगीक्लेश

मीनचर्मता. इस शब्द से करीब दर्जन भर अवस्थाओं को द्योतित किया जाता है, जो तल्पिकतः तो समान होते हैं, पर रोगलोचनी रूप से भिन्न होते हैं; ये अवस्थाएं शृंगन-प्रक्रिया में सामान्य गड़बड़ियों से उत्पन्न होती हैं। कुछ में तो चर्म की आक्रांति के साथ-साथ विभिन्न आंतर अंगों और तंत्रों की भी गड़बड़ियां के उन्हीं रूपों का वर्णन करेंगे, जो चर्मलोचनी अनुशीलन में अक्सर मिला करते हैं।

सामान्य मीनचर्मता. यह स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासतित होता है। रोग की अभिव्यक्ति

एक से चार वर्ष की उम्र से शुरू होती है, 10 वर्ष की उम्र में चरमोत्कर्ष पर होती है और पूरे जीवन भर बनी रहती है; सिर्फ यौन परिपक्वता के समय और गर्मियों में कुछ ठीक होती है। प्रक्रिया प्रकीर्णित प्रकृति की होती है, चर्म शुष्क और मोटी हो जाती है; शल्कन होता है (ललामी के बगैर)। मशिकीय शृंगन अक्सर प्रेक्षित होता है। स्वेदक और वपाल ग्रंथियों की क्रियाशीलता बहुत मंद हो जाती है, यहां तक कि बिल्कुल रुक भी जा सकती है। आक्रांति के मुख्य स्थल हैं—हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहें (कोहनी, घुटने), गुल्फ जहां शृंगी द्रव्य की अच्छी-खासी परत होती है, और पीठ (मुख्यतः त्रिकास्थि का क्षेत्र)। ललाट और गाल की त्वचा बचपन में आक्रांत हो सकती है, पर बाद में शल्कों से मुक्त हो जाती है। अंतरानितंबिक तथा संधिक पुटकों, काँख और जंघामूल के क्षेत्र में और जननेंद्रिय पर यह रोग नियमतः नहीं होता। सामान्य मीनचर्मता की तीव्रता के अनुसार शल्कों के आकार और रंग बदलते रहते हैं—नन्ही, पतली, सफेद भूसी की तरह से लेकर चौड़े, बड़े और काले।

चर्म की शुष्कता और शृंगी परतों व शल्कों के संचय और प्रकार के अनुसार सामान्य मीनचर्मता के कई तल्पिक रूपों में भेद किया जाता है। चर्मशुष्कता सबसे हल्का रूप है, जिसमें चर्म शुष्क रहता है और शल्कन भूसी की तरह होता है। सरल मीनचर्मता में ये पटलित शल्क होते हैं, जो मोटे हो चुके, शुष्क, कड़े और रुक्ष चर्म के साथ जुड़े रहते हैं। चमकदार मीनचर्मता में शृंगी द्रव्य बहुत अधिक संचित हो जाते हैं—मुख्यतः हाथ-पैर पर, लोमकूपों (लोममशिकाओं) के मुहानों में। शल्कों में मुक्ता-सीप जैसी एक विशेष चमक होती है। पट्टियां कभी-कभी फीतों के रूप में स्थित होती हैं, इसीलिये साँप के शल्क से मिलती-जुलती होती हैं। ये शल्क अपेक्षाकृत अधिक मोटे, अधिक शृंगित और गहरे काले रंग के होते हैं, इनमें गहरी धाइयां होती हैं (सर्पवत् मीनचर्मता)। अंत में, सामान्य मीनचर्मता का बहुत ही विख्यात रूप है—साहीनुमा मीनचर्मता। इसमें शृंगी द्रव्य के मोटे काँटे जैसे भाग त्वचा से 5-10 मिलिमीटर ऊपर उभरे रहते हैं, और कुछ सीमित चर्म-क्षेत्रों पर साही के काँटों की याद दिलाते हैं, विशेषकर हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर। बाल और रोएं भी शुष्क, पतले और विरल हो जाते हैं। नख भंगुर और पतले हो जाते हैं, या (अधिकांशतः) मोटे हो जाते हैं।

मीनचर्मता के हल्के रूप से ग्रस्त रोगियों की सामान्य अवस्था काफी संतोषजनक होती है, रोग से उन्हें कोई परेशानी नहीं होती। तीव्र मीनचर्मता से ग्रस्त बच्चे का शारीरिक विकास बहुत मंदित हो जाता है। विभिन्न पैठनों के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता कम हो जाती है, बच्चे में चर्मपूयता, क्लोमशोथ और कर्णशोथ के विकास की प्रवृत्ति दिखने लगती है, जो घातक भी हो सकते हैं।

ऊतगदलोचन. अतिशृंगनता के साथ-साथ अक्सर कणमय परत भी मोटी हो जाती है। लेकिन हल्की मीनचर्मता परत का आंशिक या पूर्ण लोप हो जाता है। बड़े-बड़े मशिकीय केरा टिनी (केराटोटिक; शृंगिक) प्लग नजर आते हैं। यह सब सरल मीनचर्मता के लिये लंछक है। प्लगों द्वारा उत्पन्न दाब मशिकाओं और वपा-ग्रंथियों के निचले भाग में कुपोषण शुरू हो जाता है। मालपीगी परत पतली हो जाती है। सुचर्म में बहुत कम मात्रा में परिकुंभिक लसकोशिकीय अंतर्स्यंदन देखा जा सकता है। कोलाजनी रेशों का काँचरकरण और रजतप्रेमी रेशों का (स्वेद-ग्रंथियों और लोमहर्षक पेशियों के गिर्द) मोटा होना सुचर्म की गहरी परतों में प्रेक्षित होता है। सामान्य मीनचर्मता के सभी रूपों में रूपलोचनी परिवर्तन सिर्फ मात्रात्क होते हैं, गुणात्मक नहीं।

निदान. सामान्य मीनचर्मता के तल्पिक और रूपलोचनी निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। चर्मशुष्कता के निदान में एक सहायक रीति प्रयुक्त होती है: स्पैचुला से त्वचा पर रेखा खींचने पर

भूसी जैसा शल्कन आटे की तरह सफेद पट्टी के रूप में प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों तथा नितंबों पर पिन के सर जितनी बड़ी गंठिकाएं नजर आती हैं, जिनका रंग भूरा या हल्का गुलाबी (कभी-कभी नीली आभा के साथ) होता है। चमकदार मीनचर्मता में शल्कों का मध्य भाग गाढ़े रंग का होता है, किनारियां कुछ उभरी होती हैं और हल्के रंग की होती हैं, क्योंकि वे विलगित होने की दशा में होती हैं। इससे इसे लोम-शैवाक से विभेदित किया जा सकता है, जिसमें हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर बाजरे जैसी रुक्ष पिटिकाएं पायी जाती हैं; इनका रंग सामान्य चर्म की तरह या हल्का लाल होता है। इन पिटिकाओं का शीर्ष शृंगी शल्क से बना होता है, जो मशिकाओं के फूले मुहानों में कस कर फँसे होते हैं। काँटल शैवाक लोमकूपों के मुहानों में नन्हे शृंगिक उभारों द्वारा लंछित होता है; उभार कुछेक मिलिमीटर ऊँचा होते हैं; उभार के भीतर अक्सर टूटा हुआ और स्प्रिंग की तरह ऐंठा हुआ लोम मिलता है।

जंतिकीय कारणों से उत्पन्न सामान्य मीनचर्मता को अर्जित मीनचर्मता से विभेदित करना चाहिये। यह विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रोग शुरू होने का समय निदान का विशेष लक्षण हमेशा नहीं होता। विरासती मीनचर्मता प्रथम बार कभी-कभी वयस्क उम्र में व्यक्त होती है, जबकि अर्जित मीनचर्मता बच्चे को भी हो सकती है (कभी-कभी इसके साथ अंकुरार्बिक उत्वर्ध भी होता है, जिसे लसकणार्वक्लेश या लसक्व्यार्ब कहते हैं)। अर्जित मीनचर्मता कुष्ठ और विटामिन ए की प्राथमिक एवं द्वितीय कमी से युक्त पोषणात्मक गड़बड़ियों के साथ भी हो सकती है।

चिकित्सा की कारगरता बहुत हद तक मीनचर्मता के प्रकार पर निर्भर करती है। इसके लिये रोग के तल्पिक लक्षण स्पष्ट होने चाहिये। लंबे समय तक विटामिन ए का प्रयोग सुसंकेतित है: 20-30 (बच्चों के लिये 10-15) बूंद सांद्रित विटामिन ए भोजन से पहले या भोजन के समय भूरी रोटी (राई रोटी) के टुकड़े पर दिन में तीन बार करीब चार से छे सप्ताह तक दिया जाता है। बाद में चिकित्सा कई बार दुहरायी जाती है। अंतर्पेशीय सूई के लिये विशेष रूप से निर्मित विटामिन ए से अधिक लाभ होता है: तेल में इसका घोल 0.5 मिलिलीटर (50000U) की मात्रा में सूई द्वारा एक [illegible] दे कर आमान कराया जाता है (प्रथम दो से चार सूइयां) और इसके बाद खुराक 1.0 मिलिलीटर तक बढ़ायी जाती है; पूरी चिकित्सा 15 से 20 सूइयों द्वारा होती है। बेहतर आत्मसातन के लिये विटामिन A के साथ विटामिन इ भी देना वांछनीय है: दिन में एक बार एक मध्यम चम्मच मुखमार्ग से, या अंतर्पेशी सूई से (एरीविट, 1.0 मिलिलीटर की सूई नित्य या एक दिन बीच दे कर, कुल 20 बार)। एविट की भी सलाह दी जाती है; यह तैल घोल है जिसके 1.0 मिलिमीटर में करीब 100000U (35 मिलिग्राम) विटामिन A और 100 मिलिग्राम विटामिन ई होता है। अंतर्पेशीय सूई नित्य या एक दिन बीच दे कर दी जाती है (कुल 20 से 30 सूइयां; एविट की सूइयां कुछ दर्दनाक होती हैं) या इस प्रसाधन का एक कैप्सुल दिन में दो या तीन बार दिया जाता है।

लोहे, फीटिन, कैल्सियम आदि के प्रसाधन मीनचर्मता के रोगियों को अक्सर बलवर्धक चिकित्सा के रूप में निर्दिष्ट किये जाते हैं। विटामिन बी-संकुल और गामा ग्लोबूलिन की सूइयां दी जाती हैं, रक्तचिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। तीव्र केसों की चिकित्सा स्टेरोइड हर्मोनों से की जाती है, चर्म-पूयता होने पर साथ में प्रतिजीवक भी दिये जाते हैं। थिरोइडिन की नन्हीं खुराकें (बच्चों की – 0.01-0.02 ग्राम दिन में एक या दो बार और बड़ों की – 0.03-0.05 ग्राम दिन में एक या दो बार) 15 से 20 दिनों तक निर्दिष्ट की जाती है – ढालवत ग्रंथि की अवक्रिया-अवस्था में जिससे द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया मंद होने लगती है।

निम्न युक्ति से भी लाभ होता है: 38-39°C तक गर्म पानी से स्नान के बाद चर्म को मुलायम करने वाला कोई मलहम या क्रीम लगाना, जिसमें 1 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाते हैं, या 0.25 प्रतिशत पोलीविटामिन-लवण से युक्त कोई मलहम या क्रीम लगाना (ताकि शल्क अच्छी तरह अलग हो जाया करें)। सल्फरकृत हाइड्रोजन के पानी या समुद्र-जल में स्नान, खनिज-स्रोतों का पंक लेपना आदि भी सुसंकेतित हैं।

भविष्यवाणी. सामान्य मीनचर्मता के हल्के रूपों में युक्तिसंगत चिकित्सा से काफी अच्छी सफलता मिल सकती है। लंबे समय तक विटामिन ए से चिकित्सा, जल-चिकित्सा, तेलों का लेप (विटामिन ए से युक्त क्रीम, वनस्पति तेल, आसवित जल के साथ समान मात्रा में लानोलिन मिला कर, स्पेर्मासेटी क्रीम, लाई, कभी-कभी 0.25-0.5 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड से युक्त क्रीमों का उपयोग) रोग को उग्र होने से रोकता है। तीव्र प्रवाह में भविष्यवाणी कम अनुकूल होती है।

जन्मजात मीनचर्मता स्वकायिक अवगामी प्रकार से विरासत में मिलती है। रोग के लक्षण जन्म से ही मिलने लगते हैं, यद्यपि इसके विलंबित रूप भी हैं (विलंबित जन्मजात मीनचर्मता), जिसमें रोग के लक्षण जन्म के कुछ सप्ताह या महीने बाद उत्पन्न होते हैं। यह रोग सामान्य मीनचर्मता से अधिक उग्र होता है: त्वचा कछुए की पीठ जैसे मोटे-मोटे शल्कों से ढक जाती है, जिनके बीच गहरे खाँचे होते हैं; लेकिन मीनचर्मतावत चर्मारुणता की तुलना में त्वचा पर ललामी नहीं होती। उग्रतम रूप (गंभीर जन्मजात मीनचर्मता) होने पर द्वितीयक पैठन, और पोषण व श्वसन की गड़बड़ियों से कुछ दिनों में मृत्यु भी हो जा सकती है।

ऊतगदलोचन. सामान्य मीनचर्मता की तुलना में कहीं अधिक अतिशृंगवता प्रेक्षित होती है। कणमय परत बची रहती है, पर कुपोषित हो जाती है।

चिकित्सा सामान्य मीनचर्मता जैसी ही है।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता. इस रोग के दो रूपों में भेद किया जाता है: बुल्लाहीन (सूखा) रूप जो स्वावगामी प्रकार से विरासतित होता है, और बुल्लेदार रूप जो स्वकायिक प्रबल प्रकार से विरासतित होता है। अनेक वैज्ञानिक अब बुल्लाहीन रूप को पल्लवी मीनचर्मता और बुल्लेदार रूप को अधिचर्म-विलायक मीनचर्मता के नाम से पुकारने लगे हैं, क्योंकि चर्मारुणता के इस रूप की खासियत है: अतिशृंगनता तथा कंटलय का मेल और अधिचर्म मालपीगी परत की कोशिकाओं का गदोचीन्हक कणीय अवजनन शुरू हो जाना (निकोल्स्की के शब्दों में: कंटशृंगविलयन)।

रोग का बुल्लाहीन रूप पूरे चर्म की विसरित रक्तस्फीति द्वारा लंछित होता है, चर्म शुष्क, तना हुआ और प्रचुर शल्कों से आच्छादित होता है। हथेलियों व तलवों पर, काँख, कोहनी, घुटनों और जंघामूल के चर्म पुटकों में शृंगी शल्क बहुत बड़ी मात्रा में होते हैं। शल्क बड़े, मोटे और बहुभुजाकार होते हैं, उनका रंग भूरा होता है और वे अलग-अलग परतों में जमा होते हैं। हथेली और तलवों पर प्रक्रिया शृंगी-चर्मता से मिलती-जुलती होती है। चर्म-पुटकों के क्षेत्र में कीलक जैसे उत्वर्ध मिल सकते हैं। कुछ केसों में सार्वदैहिक ललामी और शल्कन बिल्कुल कुटाली हो जाते हैं और बुढ़ापे तक बने रहते हैं। अनेक उदाहरणों में ललामी काफी घट जाती है या बिल्कुल गायब हो जाती है और अतिशृंगनता तीव्र हो जाती है, विशेषकर चर्मपुटकों पर। पलकों, नाक, होठों, कर्ण-पल्लव पर चर्म के कठोर होने के साथ-साथ अपरूपन भी प्रेक्षित हो सकता है (जैसे पलकों का पलटना)।

जन्मजात मीनचर्मतावत चर्मारुणता के बुल्लेदार रूप में स्पष्ट शोथी परिवर्तन (विशेषकर चर्म-पुटकों के क्षेत्र में) प्रेक्षित होते हैं। चर्म शोफित, तनावपूर्ण और मोटा हो जाता है। इस पर बुल्ले और दद्रुक रिसाव जन्म से ही शुरू हो जाते हैं। अतिशृंगनता एक साल पूरा कर लेने पर या अक्सर

तीन-चार साल के बीच विकसित होती है। निकोल्स्की का लक्षण धनात्मक होता है, अधिचर्म की ऊपरी परतें सरलतापूर्वक अलग हो जाती हैं। चेहरे की त्वचा अतिरक्तिल, तनावपूर्ण, चमकदार और शल्कों से प्रचुर होती है। नख मोटे और विकृत हो जाते हैं, अवनख अतिश्रृंगनता विकसित हो सकती है। बाल बचे रहते हैं। उम्र के साथ-साथ रोग का प्रवाह सुधरने की प्रवृत्ति नजर आती है। 3 या 4 वर्ष बाद वस्तिकाएं विरले ही उत्पन्न होती हैं। तलवों और हथेलियों के चर्म पर हल्की अतिश्रृंगनता होती है।

ऊतलोचनी चित्र कणमय परत के अतिपोषण और सुचर्म में कंटक्लेश और शोथी अंतर्स्यंदन द्वारा लक्षित होता है; ये लक्षण इसे सामान्य मीनचर्मता से विभेदित करते हैं। स्पष्ट अतिश्रृंगनता और कहीं-कहीं पराश्रृंगनता के क्षेत्र भी पाये जाते हैं। बुल्लेदार रूप में कंटक्लेश के अतिरिक्त अधिचार्म मालपीगी परत की कोशिकाओं का कणीय अवजनन भी देखने को मिलता है।

इसका विभेदक निदान जब सामान्य मीनचर्मता के साथ किया जाता है, तो यह ध्यान में रखा जाता है कि यह रोग काँख व जंघामूल के चर्म-पुटकों और कोहनी व घुटनों के खातों को अपनी चपेट में नहीं लेता। मीनचर्मतावत चर्मारुणता नवजात शिशु में जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय के साथ विभेदित की जाती है; अंतिम में चर्मारुणता नहीं होती और बुल्ले स्वस्थ प्रतीत होने वाले उन्हीं क्षेत्रों पर उत्पन्न होते हैं, जो चोट, दाब व घर्षण के अधीन होते हैं। नवजात का बहुमारिक बुदबुदिया एक छुतहा रोग है, इसमें ज्वर होता है और विभिन्न आकार के बुल्ले शोफित, ललामिक पृष्ठभूमि पर उग आते हैं।

चिकित्सा के सिद्धांत वे ही हैं, जो मीनचर्मता के रोगियों के लिये हैं, लेकिन रोग के बुल्लेदार रूप में विटामिन ए के विरुद्ध रोग का प्रतिरोध और कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन से चिकित्सा द्वारा सुधार देखने को मिलता है। जन्म के प्रथम दिनों में हर्मोनी प्रसाधन की 0.001 ग्राम प्रति किलोग्राम मात्रा प्रलिखित की जाती है (इस दैनिक खुराक को तीन-चार बार में बाँट कर देते हैं)।

विटामिन एड (विटाडेर्म) बच्चों को 3-5-10 मिलिग्राम दिन में दो या तीन बार देते हैं, रीबोफ्लाविन 5-10-15 मिलिग्राम की खुराक में नित्य दो बार माँ के दूध के साथ मिला कर देते हैं, विसरित विटामिन ए (पाल्मीटेट) 5-10-15 बूंद दिन में दो बार वाछनीय है। मुख-मार्ग से एविट (नित्य या एक दिन छोड़ कर एक या दो कैप्सुल) और 0.5-10 मिलिलीटर रीबोफ्लाविन मोनोनुक्लेओतीद (1 प्रतिशत सांद्र घोल) की सूई दो-तीन साल से बड़े बच्चों को एक दिन छोड़ कर देना लाभकर होता है। सोडियम क्लोराइड, समुद्री लवण, चोकर या स्टार्च के साथ स्नान प्रलिखित किया जाता है, जिसके बाद चर्म पर गुलाब का तेल, कारोटालिन, विटाडेर्म, कोर्टिकोस्टेरोइड-मलहम (फ्लूसीनार, उल्ट्रालान, 0.5 प्रतिशत सांद्र प्रेद्नीजोलोन-मलहम, मेनेस्टोडेर्म) या त्वचा मृदु करने वाला मलहम या क्रीम लेपा जाता है; अंतिम में 3-5 प्रतिशत नाफ्थालान या 1-2 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाया जाता है।

लोम-शैवाक (काँटल शैवाक; सरल लोम-श्रृंगनता) एक विरासती रोग है और मीनचर्मता का एक पूर्वपाती (अकालपाती, एबोर्टिव) रूप है। यद्यपि यह बचपन में ही शुरू हो जाता है, इसके नैदानिक लक्षण किशोरावस्था में ही स्पष्ट होते हैं। यह रोग स्त्री-पुरुषों दोनों को हो सकता है। सामान्य चर्म के रंग की नन्ही, शंक्वाकार नुकीली पिटिकाओं के ग्रुप कोहनी, पीठ, नितंबों और जांघों पर उत्पन्न होती हैं। पिटिकाओं के शिखर केराटिनी शल्कों से बने होते हैं, जो विस्फारित नलिकीय मुहानों में घुसे होते हैं। पिटिकाएं इन्हीं मुहानों में स्थित होती हैं। क्षति अपचोषित हो

कर मुश्किल से दिखने वाले दाग छोड़ जाती हैं। इन क्षेत्रों में लोम-मशिकाएं और वपाल ग्रंथियां नष्ट हो जाती हैं।

चिकित्सा. विटामिन ए, ई और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम तथा क्रीम प्रलिखित किये जाते हैं। प्राकृतिक निरोगालयों में चिकित्सा तथा समुद्र स्नान भी फायदेमंद होते हैं।

टूरेन (Touraine) की बहुश्रृंगनता. यह बाह्य भ्रूणचर्म का परिस्थितिज आनुवंशिक कुविकास है। इसमें अनेक प्रकार की श्रृंगनताएं प्रेक्षित होती हैं, जैसे – तलवों तथा हथेलियों की चर्मश्रृंगनता, मशिकीय श्रृंगनता, जन्मजात नखस्थूलता, आदि। रोगी में निम्न लक्षण अवलोकित होते हैं: हथेलियों और घुटनों पर श्रृंगी परत भयंकर रूप से मोटी हो जाती है, नख अतिपोषित होते हैं, बाल और अस्थियां कुपोषित होती हैं, दाँत अविकसित रहते हैं, सार्वदैहिक व स्थानिक अतिस्वेदन प्रेक्षित होता है, असंयत मूत्रण और बौद्धिक विकास का मंदन भी देखा जाता है (यहां तक कि मूढ़ता भी)। विभिन्न तीव्रताओं के साथ विकास की ये विसंगतियां रोगी के वंश में अनेक सगे-संबंधियों की बीच पायी जा सकती हैं।

चिकित्सा. विटामिन ए और ई की बड़ी खुराकें और त्वचा मुलायम करने वाले मलहम और क्रीम प्रलिखित किये जाते हैं। स्टेरोइड प्रसाधन और प्राकृतिक निरोगालय सुसंकेतित हैं।

बुल्लेदार अधिचर्मलय ग्रुप (विरासती बुल्लेदार अधिचर्मलय)

इस ग्रुप में रोग के कई प्रकार आते हैं, जिन्हें कुछ वैज्ञानिक स्वतंत्र रोग मानते हैं (लेकिन इस विचार पर सभी एकमत नहीं हैं। बुल्लेदार अधिचर्मलय के दो रूप हैं: सरल या सुदम रूप (जो सबसे अधिक प्रायिक है; इसका एक रूप है हाथ और पैर का ग्रीष्मकालीन बुल्लेदार अधिचर्मलय), और कुपोषी रूप। अंतिम को अतिवर्धक और बहुवर्धक रूपों में बाँटते हैं। नवजात शिशु में घातक (दुर्दम) बुल्लेदार अधिचर्मलय को कुपोषी बुल्लेदार अधिचर्मलय का बहुत ही तीव्र रूप माना जाता है।

हेतुलोचन और गदजनन. भिन्न वंशों में बुल्लेदार अधिचर्मलय का कोई एक रूप ही विरासतित होता है। प्रत्यास्थ रेशों की जन्मजात कमी या पूर्ण अनुपस्थिति ध्यातव्य है। बुल्लेदार अधिचर्मलय के कुछ रूप (सरल; हाथ-पैर का ग्रीष्मकालीन; कुपोषी अतिवर्धक रूप) प्रबल प्रकार से विरासतित होते हैं, जबकि अन्य रूप (कुपोषी रूप के बहुवर्धक उपरूप; नवजात शिशु में घातक रूप) अवगामी प्रकार से विरासतित होते हैं।

सरल बुल्लेदार अधिचर्मलय प्रारंभिक बाल्यकाल में होता है, कभी-कभी तो जीवन के प्रथम दिनों से ही। यह अधिकांशतः लड़कों को होता है। हल्की चोटज क्षति के उपरांत विभिन्न आकार के बुल्ले सर, नितंबों, एड़ियों, घुटनों व कोहनियों की ऋजुकारी सतहों पर, मुख और जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियों पर प्रकट होते हैं; वैसे चर्म देखने में स्वस्थ लगता है। बुल्लों का अंतर्द्रव्य स्वच्छ सीरमी और विरलतः रक्तस्रावी होता है। इनके बाद कोई दाग नहीं छूटता। रगड़ने पर ऊपरी अधिचार्म परत अलग होने लगती है, लेकिन निकोल्स्की का लक्षण ऋणात्मक होता है। खुजली और जलन की अनुभूति होती है। बाल, नख और दाँतों में कोई अपसामान्यता नहीं मिलती या बहुत ही विरल होती है। सामान्य अवस्था गड़बड़ नहीं होती। यौन-परिपक्वता के समय रोग की अभिव्यक्तियां कम या गायब हो जाती हैं। सरल (सुदम) बुल्लेदार अधिचर्मलय के एक रूप (ग्रीष्मकालीन हाथ-पैर के बुल्लेदार अधिचर्मलय) में क्षतियां गोड़ पर और विरलतः

हस्तपुच्छ पर उत्पन्न होती हैं। रोग का प्रवाह सुदम होता है, पुनरावर्तन सिर्फ गर्मियों में होता है। रोगी की सामान्य अवस्था गड़बड़ नहीं होती। हथेलियों और तलवों पर अतिस्वेदन प्रेक्षित होता है।

अतिवर्धक कुपोषी जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय पयोपा काल में या यौन परिपक्वता के समय शुरू होता है। अधिचर्मलय के इस रूप में बुल्लों की जगह कुपोषित चर्म या क्षतांक रह जाता है, कभी-कभी गुल्मवत उत्वर्ध रह जाते हैं। मोटे नख, कुपोषित बाल और नख, नीलपर्यंगता, अतिस्वेदन, अधिचार्म वस्तिकाएं या सफेद मुहासे जैसे लक्षण मिलते हैं। तलवों और हथेलियों पर अतिशृंगनता के क्षेत्र पाये जाते हैं। कोहनियों और घुटनों की ऋजुकारी सतहों पर परिवर्तन और भी विकसित होते हैं, वहां अपोषित लोहित लाल चर्म-क्षेत्रों पर सीरमी या रक्तस्रावी अंतर्द्रव्य वाले बड़े-बड़े बुल्ले और वस्तिकाएं बन जाती हैं। अपरदन शल्कों तथा खठ्ठियों की परतों से ढकी होती है, जिनके हटने पर अपोषित एवं क्षतांकित अवजनन के क्षेत्र दिखते हैं। जब स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म को रगड़ा जाता है, अधिचर्म की परत अलग होने लगती है (निकोल्स्की का मिथ्या लक्षण)। श्लेष्मल झिल्लियों के बुल्ला जब फटते हैं, वहां अपरदन होता है; अपरदन का उपकलाकरण होने लगता है, वहां व्रणपूरण संबंधी अपोषण और श्वेतसिलत्व (ल्युकोप्लाकिआ) के अधिकेंद्र बन जाते हैं। इस प्रक्रिया से पलकें पलट जा सकती हैं।

कुपोषी बुल्लेदार अधिचर्मलय के अतिवर्धक रूप के साथ अक्सर मीनचर्मता और कुछ केसों में सार्वदैहिक अतिलोमक्लेश होता है। रोग का प्रवाह अधिचर्मलय के बहु-कुवर्धक रूप की अपेक्षा कम तीव्र होता है।

जन्मजात कुपोषी बुल्लेदार अधिचर्मलय का बहु-कुवर्धक (अनुवांशिक) रूप बच्चे के जीवन के प्रथम दिनों से ही व्यक्त होने लगता है। इसके लक्षण हैं—चोटज क्षति के स्थल पर और किसी भी चर्म क्षेत्र पर, शिरोवल्क पर प्रकीर्णित वृहत बुल्लों का विरचन, जिनका अंतर्द्रव्य सीरम-रक्त-स्रावी होता है। बुल्ले जल्द ही फट जाते हैं, रक्तिल अपरदन और व्रण बनते हैं, जिनके ठीक होने पर क्षतांक [illegible] जाते हैं। ये क्षतांक पलकों, मुंह, नासा-ग्रसनी को बहुत अवरूपित, अवकुंचित और अपंग बना देते हैं। इससे जीभ की गति सीमित हो जा सकती है। निकोल्स्की का लक्षण धनात्मक होता है। क्षतियां मुंह, आँखों, बाह्य जननेंद्रियों, ऊपरी श्वसन-मार्ग और ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्लियों पर उत्पन्न होती हैं। सामान्य अवस्था बहुत गड़बड़ हो जाती है, साथ-साथ (सहवर्ती) अस्थियों, दाँतों और बालों की जन्मजात विसंगतियां भी होती हैं। नख विकृत और कुपोषित हो जाते हैं या बिल्कुल अनुपस्थित होते हैं (नखहीनता)। नन्हे दानों जैसी वस्तिकाएं बन जाती हैं। रोगी में अंतस्रावी गड़बड़ियां होती हैं। अधिचर्मलय का यह रूप बहुत गंभीर प्रवाह ग्रहण करता है और रोगी अक्षम (अपंग) हो जाता है। अधिकांश रोगी यौन-परिपक्वता तक पहुँचते-पहुँचते मत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

नवजात शिशु में घातक (दुर्दम) बुल्लेदार अधिचर्मलय ऊपर वर्णित रूप का ही एक उपरूप (या वैकल्पिक रूप) है। इसमें जन्म के बाद प्रथम घंटों में ही अधिचर्म के बड़े-बड़े खंड विलगित होने लगते हैं, श्लेष्मल झिल्लियों और यहां तक कि फेफड़े की नन्ही ब्रोंखों में भी बुल्ले उग आते हैं, अन्य प्रकार के जन्मजात कुविकास प्रेक्षित होते हैं। कभी-कभी रोग का अंत जन्म के कुछ घंटों बाद ही मत्यु के साथ होता है।

ऊतगदलोचन. बुल्ले और वस्तिकाएं अक्सर एक-कोष्ठीय होते हैं। ये सरल अधिचर्मलय में अक्सर शृंगी परत के नीचे पाये जाते हैं। अधिचर्म में कंटलय देखा जाता है, जबकि सुचर्म के

ऊपरी भाग में शोफ, रक्तवाही एवं लसवाही कुंभियों का विस्फारण, चिरकालीन शोथी अंतर्स्यंदन, जिनकी तीव्रता भिन्न हो सकती है। अंतर्स्यंदन लसकोशिकाओं, रेशांकुरों, ऊतकोशिकाओं और प्लाज्मा-कोशिकाओं से बना होता है। सरल बुल्लेदार रूप में प्रत्यास्थ ऊतक सामान्य रहते हैं, कुपोषी रूप में ढीले-ढाले हो जाते हैं या सुचर्म के ऊपरी भाग में अनुपस्थित होते हैं।

निदान. ऊपर वर्णित तल्पिक चित्र तथा रोग-वृत्त के आधार पर किया जाता है। बुल्लेदार अधिचर्मलय को ऊतलोचनी चित्र के आधार पर अन्य बुल्लेदार चर्मरोगों से विभेदित नहीं किया जा सकता। प्रयोगशालीय परीक्षणों के परिणाम कुछ केसों में विभेदक निदान करने में सहायक होते हैं। ये निम्न परीक्षण हैं: रक्त और मूत्र की जाँच, पोर्फीरिन के लिये परीक्षण (जन्मजात पोर्फीरिया में), सीरमलोचनी परीक्षण (जन्मजात सीफिलिस में), एओजीनोफिलों के लिपे बुल्ला के अंतर्द्रव्य का परीक्षण (विसर्पवत चर्मक्लेशों में), कवक-अन्वेषी परीक्षण (गोड़ के ग्रीष्मकालीन बुल्लेदार अधिचर्मलय के साथ विभेदक निदान करने में)।

चिकित्सा ACTH (गुमाक्तिद, कोर्टिकोट्रोपिन) और कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन (मध्यम खुराकों में), विटामिन ए, ई, डी, सी, आस्कोरूटिन और पूनगामिक अम्ल प्रलिखित किये जाते हैं। कैल्सियम व लौह के प्रसाधन, कलेजी (आहार में), नैसर्गिक प्लाज्मा, मेथिलऊरासिल और गामा ग्लोबूलिन का आधान – ये सब सामान्य स्फूर्तिदायक चिकित्सा के उपाय हैं। बाह्य चिकित्सा के रूप में निम्न का उपयोग होता है: डेर्माटोल (विस्मथ सबगैलेट) का मलहम, कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों और प्रतिजीवकों (हिओक्सीजोन, ओक्सीसिक्लोजोल) से युक्त मलहम और एयरोजोल; पोटाशियम परमैंगनेट व जिंक सल्फेट के घोल में या बलूत की छाल के काढ़े में स्नान। स्टेरोइड हर्मोनों, विटामिनों और प्रतिजीवकों के (द्वितीयक पूयकारी पैठन के विकसित होने पर) उपयोग से बुल्लेदार अधिचर्मलय के तीव्र रूपों में भी भविष्यवाणी सुधर सकती है।

योजक ऊतकों के रोग (कोलाजनक्लेश)

कोलाजनक्लेशों का ग्रुप अलग करने का अब सिर्फ सापेक्षिक महत्त्व है। चूंकि यह विभाजन आयुरी शिक्षा-संस्थानों के पाठक्रम में अभी भी स्वीकृत है, इसलिये हम भी इस सामग्री का प्रचलित क्रम में अध्ययन करेंगे। इस प्रकरण में निम्न रोगों पर बातचीत होगी: ललामक्लेशिक (क्षतांकी ललामक्लेशिक) वृका; सार्वदैहिक रूप में कठचर्मता (परिसीमित और सार्वदैहिक), चर्मपेशीशोथ, और साथ ही नवजात शिशु की कठोतकता व कठचर्मता।

ललामक्लेशिक वृका (क्षतांकी ललामक्लेश)

यह रोग प्ररक्षित तथा कुटाली प्रवाह और तल्पिक लक्षणों की विविधता तथा प्रचुरता द्वारा लंछित होता है। नाम (ललामक्लेशिक वृका) बहुत सही नहीं है, क्योंकि इसमें न तो हेतुलोचन प्रतिबिंबित होता है, न गदजनन ही; कुछ डाक्टर तो इसे गंठिक्लेशिक वृका मान लेते हैं। पोपोव, कार्तामीशेव और पोपब्रिस्तोव द्वारा प्रदत्त नाम 'ललामक्लेश' ध्यान देने योग्य है, लेकिन यह भी रोग की एक ही तल्पिक विशेषता दर्शाता है। हमारे विचार में 'क्षतांकी ललामक्लेश' अधिक उपयुक्त नाम है।

सामान्य सूचनाएं. चर्मरोगों के कुल केसों में इस रोग की प्रायिकता 0.25-1.0 प्रतिशत है। सार्वदैहिक क्षतांकी ललामक्लेश की प्रायिकता चकतीवत (डिस्कोइड) रूप के दशांश के बराबर

है। क्षतांकी ललामक्लेश समुद्री आर्द्र जलवायु और तेज ठंडी हवा वाले देशों में अधिक पाया जाता है, जबकि उष्णकटिबंध के देशों में तेज धूप होने के बावजूद वहां इसकी प्रायिकता बहुत कम है। यह रोग स्त्रियों में अधिक प्रायिक है (अधिकांशतः युवा स्त्रियों और लड़कियों में)। हल्के रंग के बालों व त्वचा वाले लोगों को यह रोग अधिक होता है, बनिस्बत कि गाढ़े रंग के लोगों को, क्योंकि इनकी त्वचा विकिरण के प्रति कम प्रवणता रखती है। सबसे प्रवणकारी उम्र 20 से 40 वर्ष है। अधिक बूढ़े उम्र के लोगों में यह रोग बहुत ही कम दर्ज होता है। धूप, पाला और बहुत अधिक तापक्रम-परिवर्तन वाले परिवेश में काम करने वाले लोगों को (जैसे मछुवों, ट्रक-ड्राइवरों, भवन-निर्माण तथा कृषि के क्षेत्र में काम करने वालों को) यह रोग अधिक अक्सर होता है और उनमें वह चिरकारी रूप ग्रहण कर लेता है। बौद्धिक कार्य करने वाले लोगों के बीच भी यह रोग अधिक प्रायिक है।

हेतुलोचन और गदजनन. पहले इस रोग का मुख्य हेतुलोचनी घटक गंठिक्लेश ही माना जाता था; इसके आधार निम्न थे: रोगी में अक्सर आंतर अंगों के यक्ष्मा का अनुवेदन, क्षतियों की ऊतलोचनी संरचना का याक्ष्मिक क्षतियों से मिलता-जुलता होना, एंटीयक्ष्मा-दवाओं से कुछ केसों में लाभ होना, इस रोग की और चर्म-यक्ष्मा की बाह्य अभिव्यक्तियों में समानता होना। इस विचार को पिछले समय से शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा है, क्योंकि याक्ष्मिक गादिकता में तेजी से कमी आने के बावजूद क्षतांकी ललामक्लेश के रोगियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। इसके अतिरिक्त, इस रोग के अधिकेंद्र में याक्ष्मिक मीकोबाक्तेरी नियमतः नहीं मिलते।

दावीदोव्स्की ने रोग के स्त्रेप्तोकोकी मूल के होने का सिद्धांत प्रतिपादित किया था, क्योंकि सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृक्का तीव्र सूपनकारी प्रवाह ग्रहण कर लेता है (जैसा कि स्त्रेप्तोकोक-जनित ब्रोनिओसेप्सिस अर्थात् चिरकालिक सूपन में होता है) और कुछ रोगियों के रक्त तथा ऊतकों में रक्तलयकारी (हेमोलीटिक) स्त्रेप्तोकोक भी मिले थे। लेकिन प्रतिजीवकों (पेनीसिलिन आदि) से कोई फायदा नहीं होता है, उल्टा, कई केसों में रोगी की दशा खराब ही हुई है।

तत्पश्चात् पिछले समय से इस रोग को उत्पन्न करने वाले गदजनक घटकों की खोज पर विशेष ध्यान देने लगे हैं। उदाहरणार्थ, यह सिद्ध किया गया कि निम्न साधनों से चिकित्सा करने पर रोग अवक्षेपित या उग्र हो उठता है: प्रतिजीवकों, अतितान ठीक करने वाली दवा हाइड्रालाजीन, सुल्फोनामीड, टीका, सेरा, पराबैंगनी विकिरण। स्त्रेसजनक परिस्थितियों में भी रोग को उग्र होते हुए देखा गया है।

हाग्रेव्स, रिचमोंड और मोर्टन ने 1948 में ललामक्लेशिक वृक्का की कोशिकाओं की खोज की, जिससे ललामक्लेश के अध्ययन में एक नया युग आरंभ होता है। सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृक्का के रोगियों के रक्त में गामा ग्लोबूलिन की एक वर्धित मात्रा दिखायी दी, जिसमें एक विशिष्ट प्रोटीन – माक्रोग्लोबूलिन – अनुवेदित हुआ। यह रक्तकोशिकाओं (विशेषकर श्वेतकोशिकाओं और लसकोशिकाओं) के नाभिकों को क्षति पहुँचाता था। इस प्रोटीन को परा-अपकेंद्रन से अलग किया गया (19S अवसादन-स्थिरांक के साथ) और इसका नाम एंटीनाभिकीय घटक रखा गया।

यह घटक उदासीन श्वेतकोशिकाओं और लसकोशिकाओं के नाभिकों के साथ जुड़ कर उन्हें नष्ट कर देता है। इन कोशिकाओं का नाभिकीय द्रव्य अपनी संरचना खो देता है और प्रोटोप्लाज्म से अलग हो जाता है; फिर वह कोशिका से बाहर निकाल दिया जाता है, जहां वह शरीर के लिये परज (पराया, बाहरी) पिंड बन जाता है। अक्षुण्ण न्युट्रोफिल इसे सामान्य भोजी कोशिका की तरह हजम कर जाते हैं। समज अंतर्वेशन के साथ निसर्जित नाभिक और एंटीनाभिकीय घटक

को हजम कर चुकी न्युट्रोफिल श्वेतकोशिका ही ललामक्लेशिक वृका की कोशिकाएं (LE-कोशिकाएं) कहलाती हैं। ये कोशिकाएं निदान के लिये बहुमूल्य अवश्य हैं, लेकिन एकदम इसी रोग के लिये विशिष्ट नहीं हैं। उदाहरणर्थ, LE-कोशिकाएं कभी-कभी तीव्र रुमैटिज्म, तीव्र ल्युकोसिस, प्लाज्मासीटोमा, यकृत के तीव्र पैठन और ड्यूरिंग के रोग में भी मिल जाती हैं।

LE-कोशिकाओं की प्रत्यक्ष पहचान के लिये रोगी की शिरा से लिये गये 3 मिलिलीटर रक्त को काँच के मनकों से फिब्रिनहीन करते हैं। फिर इस रक्त को मनकों समेत एक शटल-उपकरण में 20 मिनट तक हिलाते हैं, जिससे धनात्मक परिणाम का प्रतिशत बढ़ जाता है। इसके बाद रक्त को 1000 घूर्णन प्रति मिनट की दर से 5 मिनट तक अपकेंद्रित किया जाता है। लेप (स्मियर) श्वेतकोशिका की परत से तैयार किया जाता है और उसे रोमानोव्स्की-गिम्जा की विधि से रंजित किया जाता है। प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त परिणाम अप्रत्यक्ष रीतियों से प्राप्त परिणामों की तुलना में अधिक विश्वसनीय होते हैं।

LE-कोशिकाएं और एंटीनाभिकीय घटक विशेषकर उन रोगियों में मिलता है जो रोग के सार्वदैहिक रूप से ग्रस्त होते हैं, बनिस्बत कि उनमें, जो रोग के चिरकालिक रूप से आक्रांत होते हैं। चिकित्सा के पश्चात LE-कोशिकाओं का गायब हो जाना निदान के लिये निश्चित महत्त्व रखता है। इसीलिये ललामक्लेशिक वृका अब एक स्वइमूनी (स्वाक्रामक, पैठी-इमूनलोचनी) रोग माना जाने लगा है, जो विभिन्न दवाओं (हाइड्रालाजीन, प्रतिजीवकों, सुल्फोनामीडों, टीका, सेरा), पैठक घटकों (स्त्रेप्तोकोकी और वीरुसी पैठन) और परिवेशिक क्षोभकों (पराबैंगनी तथा अवरक्त किरणों, विकिरण, ठंड) आदि से अवक्षेपित होता है। रोग असमरूप व्यंजनशीलता वाले प्रबल प्रकार के लोगों की आनुवंशिक प्रवणता द्वारा जंतिकीय रूप से और भी कठिन हो जाता है। यह गामा ग्लोबूलिन-बंधित प्रतिकायों और अमीनो अम्लों के जुटाव से उत्पन्न होता है।

ललामक्लेशिक वृका के गदजनन में निम्न घटक भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं: किसी चिरकालिक पैठन के अधिकेंद्र, प्रकाश-संवेदन, ठंड के प्रति अतिसंवेदिता, केंद्रिय एवं अनपू नर्व-नियमन की गड़बड़ियां, और नर्व-अंतस्त्रावी गड़बड़ियां।

वर्गीकरण. ललामक्लेशिक वृका का अभी तक कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं है। तारेयेव इसके सार्वदैहिक-पूर्व और सार्वदैहिक रूपों में अंतर करते हैं। लेलिस के अनुसार अधिक उपयुक्त है—चकतीनुमा, माध्यमिक (प्रकीर्णित ललामी तथा अपकेंद्री ललामी) और सार्वदैहिक (तीव्र, अवतीव्र, चिरकालिक) रूपों में भेद करना।

अधिकांश वैज्ञानिक निम्न रूपों में भेद करते हैं: (1) चिरकालिक ललामक्लेशिक वृका (चिरकालिक क्षतांकी ललामक्लेश); (2) तीव्र या सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृका (तीव्र ललामक्लेश), जिसमें चर्म ही नहीं, आंतर अंग भी आक्रांत हो जाते हैं; (3) अवतीव्र ललामक्लेशिक वृका (अवतीव्र ललामक्लेश), जिसके तल्पिक लक्षण तीव्र रूप की अपेक्षा कम व्यक्त होते हैं।

चिरकालिक क्षतांकी ललामक्लेश

इसके निम्न चार तल्पिक रूप हैं: चकतीवत, प्रकीर्णित, अपकेंद्री ललामी (बिएट-रोग), और कापोजी इर्गांग का रोग (पर्याय: गहरा ललामक्लेशिक वृका)।

बहुत से केसों में रोग के आरंभ में कोई आत्मगत लक्षण नहीं मिलते। चिरकालिक चकतीवत रूप सबसे आम रूप है। यह शरीर के किसी भी क्षेत्र में व्यक्त हो सकता है, यहां तक कि मुँह,

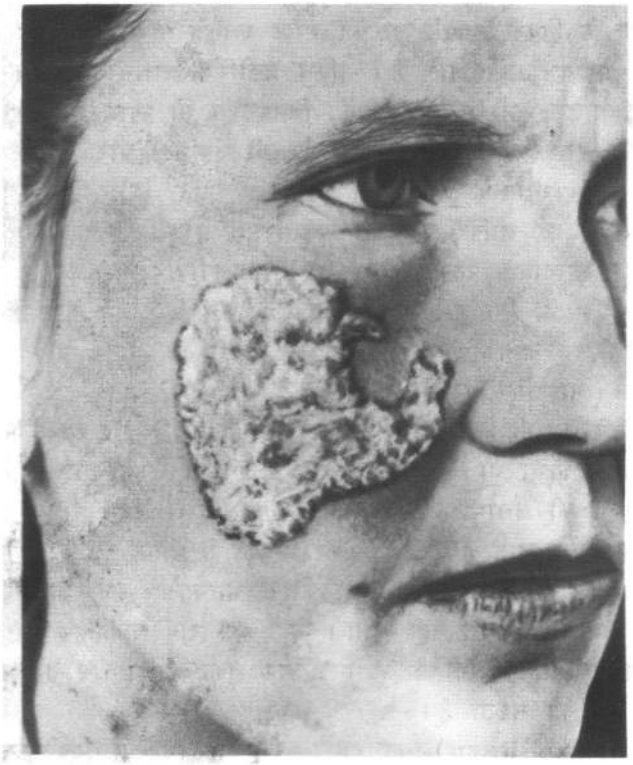

चित्र 17. क्षतांकी ललामक्लेश (ललामक्लेशिक वृका)

होठों, हाथों, पैरों, वक्ष, पीठ, और शिरोवल्क पर भी। चेहरा इसका प्रिय स्थल है; क्षतियां परिसीमित गुलाबीलाल शल्की धब्बों के रूप में होती हैं, जो परिसर में प्रसारित होती हुई संगम कर जाती हैं (चित्र 17)। क्रस कर जमे हुए केराटिनी शल्क से ढके अंतर्स्यंदित ललामिक धब्बे बाद में बनते हैं। शल्क हटाने पर मशिकीय मुहानों के छेद दिखने लगते हैं (मशिकीय अतिशृंगनता) और शल्क की निचली सतह पर एक नन्हा सा उत्वर्ध दिखता है (औरतों की जूती में ऊँचे हील की तरह)। शल्कों को खुरचना अक्सर पीड़ाजनक होता है (बेस्नियर मेशेर्स्की का लक्षण)। आक्रांति के अधिकेंद्र में तीन कटिबंध अलग किये जा सकते हैं: केंद्र में क्षतांकी अपोषण, इसके गिर्द अतिशृंगनता का कटिबंध और इसके गिर्द (परिसर में) लाल क्षेत्र। अधिकेंद्र के क्षेत्र में दूरकुंभी-विस्फारण, अतिवर्णकता, और निर्वर्णकता पायी जाती है। गालों और नासा सेतु पर एक विशिष्ट स्फोट होता है, जिसकी आकृति तितली जैसी होती है। नाक और कर्ण-पल्लव पर आक्रांति के अधिकेंद्र में काले बिंदु और लमड़े हुए मशिकीय मुहाने पाये जाते हैं।

शिरोवल्क पर व्रणपूरक (क्षतांकी) अपोषी प्रक्रिया से स्थायी खल्वाटता हो जाती है। मुख-श्लेष्मला पर कभी-कभी श्वेतसिलत्व, व्रण और अपरदन उत्पन्न हो सकते हैं; होठों पर स्थानाबद्ध शोफ, गुल्म जैसा मोटापन और विदार हो जाते हैं।

ललामक्लेशिक वृका के प्रकीर्णित रूप में स्फोट चेहरे, शिरोवल्क तथा गरदन पर, वक्ष के ऊपरी भाग में (नेकलेस की तरह) असंख्य अधिकेंद्रों के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं, जो बहुत छोटे होते हैं। इन रोगियों के शरीर पर दरअसल असंख्य प्रकीर्णित चकतीवत अधिकेंद्र होते हैं। सार्वदैहिक

ललामक्लेशिक वृका के विपरीत इसमें अधिकेंद्र स्पष्ट रूप से परिसीमित होते हैं और अंतर्स्यंदन, अतिश्रृंगनता और अपोषण पाये जाते हैं। लेकिन प्रकीर्णित ललामक्लेशिक वृका में नीली आभा से युक्त ललामिक अधिकेंद्र भी पाये जाते हैं, जिनपर न तो स्पष्ट अतिश्रृंगनता दिखती है, न स्पष्ट अंतर्स्यंदन ही। इस तरह के अधिकेंद्र हाथ-पैर की उंगलियों और घुटनों पर होती हैं। साथ-साथ सहवर्ती तीव्र सामान्य लक्षण – (अवज्वर, वर्धित ESR, श्वेतकोशिकाओं की कमी, रक्ताल्पता, संधियों में दर्द आदि) प्रकीर्णित ललामक्लेश में अधिक पाये जाते हैं, बनिस्बत कि चकतीवत रूप में। स्थानाबद्ध पैठन (चिरकालिक गलशुंडी, नासाकोटरशोथ, पूयिक कर्णशोथ, दाँत के रोग, आदि) भी ऐसे रोगियों में नियमतः अवश्य ही पाये जाते हैं। इन्हीं कारणों से कुछ वैज्ञानिक प्रकीर्णित क्षतांकी ललामक्लेश को चकतीवत और सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृका के बीच का (माध्यमिक) रूप मानते हैं।

वलयाकार अपकेंद्री ललामी चिरकालिक ललामक्लेश का एक सतही रूप है। इसका वर्णन बिएट (Biett) ने 1828 में किया था। चेहरे पर एक परिसीमित, कुछ शोफित, लाल, गुलाबी-लाल या नीलाभ लाल रंग की ललामी उत्पन्न होती है, जो चारों तरफ फैलने लगती है। नासा-सेतु और दोनों गाल ग्रस्त हो जाते हैं (तितली की आकृति में) या कुछ रोगियों में सिर्फ गाल या सिर्फ नासा-सेतु आक्रांत होता है। रोगी को कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती। मशिकीय अतिश्रृंगनता और क्षतांकी अपोषण नहीं होता। बिएट का रोग सार्वदैहिक ललामक्लेश का अग्रदूत हो सकता है, या वह आंतर अंगों के ललामक्लेशिक वृका का (तीव्र या अवतीव्र) सार्वदैहिक रूप के साथ-साथ भी हो सकता है।

कापोजी-इर्गांग (Kaposi-Irgang) का गहरा रोग (गहरा ललामक्लेशिक वृका) एक अंतर्स्यंद द्वारा लंछित होता है, जो ललामिक धब्बों के क्षेत्र में अवचार्म वसा में भी बेध कर पहुँच जाता है। इस तरह के गहरे अधिकेंद्र अक्सर धड़ के ऊपरी भाग पर और हाथ-पैर पर स्थित होते हैं; कुछ केसों में इनका व्रणन भी होता है।

चकतीवत ललामक्लेश का ऊतगदलोचन. अधिचर्म में आधारीय परत की कोशिकाओं का अपोषण, रसधानिक अवजनन, और मशिकीय अतिश्रृंगनता अवलोकित होती है। लसकोशिकाओं, प्लाज्मा-कोशिकाओं और ऊतकोशिकाओं का अधिकेंद्रिय बहुलन, शोफ, और कोलाजनी रेशों का अवजनन सुचर्म में पाया जाता है।

तीव्र, या सार्वदैहिक, ललामक्लेशिक वृका

यह रोग चिरकालिक ललामक्लेश की उग्र या विशेष तीव्र होने की प्रक्रिया में स्वतःस्फूत रूप से विकसित हो जाता है। चिरकालिक चकतीवत या प्रकीर्णित ललामक्लेशिक वृका के तीव्र सार्वदैहिक रूप में विकसित होने में निम्न घटकों का योगदान हो सकता है: विभिन्न स्त्रेसों का प्रभाव, पैठन, पराबैंगनी किरणों के प्रति अनावृतन, आदि। रोग अधिकांशतः 20 से 40 वर्ष की स्त्रियों को होता है। आरंभ में एक प्राग्लक्षण की अवधि होती है, जिसमें ज्वर और संधियों में दर्द होता है। चर्म-क्षतियां बहुरूप होती हैं, तेजी से विकसित होती हैं और सामान्यतः चेहरे, शिरोवल्क और धड़ पर अवस्थित होती हैं। ललामिक व हल्के शल्की अधिकेंद्र पहले प्रकट होते हैं, फिर तेजी से फैल कर संगम कर जाते हैं। इन ललामिक धब्बों पर पित्ती, बुल्ले और विरलतः पीपिकाएं उत्पन्न होती हैं।

क्षतियां वपास्रावस, और बहुरूप रिसालु ललामी तथा गरल-परोर्जिक चर्मशोथ के अधिकेंद्र की तरह होती हैं। खुजली और जलन महसूस हो सकती हैं।

सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृका के बहुत विरल केसों में चर्म व श्लेष्मल झिल्ली पर कोई क्षति नहीं होती, या मुश्किल से दिखने वाले ललामिक व शोफित, हल्के से परिसीमित अधिकेंद्र दिखते हैं।

तीव्र ललामक्लेशिक वृका में विभिन्न आंतर अंग ग्रस्त हो जाते हैं, जैसे: हृत्कुंभिक तंत्र (अंतर्हृत्शोथ, हृत्पेशीशोथ, शिराशोथ, रैनाउड का सिंद्रोम, अवतान), श्वसन-तंत्र (अंतरवकाशिक क्लोमशोथ, अक्सर अंतर्लुंडिकाई प्लेव्राशोथ), आदि। वृक्कीय अंटीनुमा उपकरण (वृक्क में केशिकाओं की लच्छी या अंटी) के ग्रस्त होने पर भविष्यवाणी बहुत प्रतिकूल हो जाती है (वृक्कशोथी वृका)। कुंभीशोथ, बहु-तंत्रिकाशोथ, (साथ में) संधियों की आक्रांति (संधिशोथ, संधिपीड़ा), परिहृत्शोथ, उदरीय सिंद्रोम, पार्विक परिधमनीशोथ भी हो सकते हैं। प्लीहा और यकृत का वर्धन (अंतरवकाशिक या मदूतकीय यकृतशोथ, जिसके साथ-साथ प्रोटीन, वसा व वर्णक के विनिमय में और प्रतिगरल कार्यों में गड़बड़ी उत्पन्न होती है) और लसपर्वों का वर्धन अक्सर पाया जाता है। पनपू नर्वतंत्र की गड़बड़ियां, छादिकाशोथ के लक्षण और मिरगीनुमा संवृत्तियां विकसित हो जा सकती हैं। रोगी अत्यधिक थकान, सामान्य कमजोरी, म्लानि, क्षोभिता, अनिद्रा, अतिस्वेदन, अनभुख और मतली की शिकायत करते हैं। परिश्वेतपटलशोथ, शृंगिकाव्रण, युतिकाशोथ या आँख की तली की कुंभियों का रोग भी निदानित हो सकता है। रक्त में लसाल्पता, श्वेताल्पता (श्वेत कोशिकाओं की कमी), स्कंदाल्पता, विभेदक गणन (डिफरेंशियल काउंट) में बायीं ओर स्थानांतरण और गामा ग्लोबूलिन की अत्यधिकता पायी जाती है। ESR में स्थायी वृद्धि (60-70mm/hr) इसका विशिष्ट लक्षण है। उच्च तापक्रम (ज्वर) और LE-कोशिकाओं की खोज सार्वदैहिक ललामक्लेश के चित्र की रही-सही कमी को भी पूरा कर देते हैं; इस रोग का तल्पिक चित्र अभिव्यक्तियों के वैविध्य द्वारा लंछित होता है, क्योंकि इसमें जटिल इमूनलोचनी और स्वपरोर्जिक लक्षणों का संकुल मिलता है।

ऊतगदलोचन. मुख्य अपसामान्यता—कोलाजनी द्रव्य का फिब्रिनवत अवजनन—स्पष्ट रूप से आंतर अंगों में दिखती है, पर यह अक्सर चर्म में भी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त, आधारीय परत की कोशिकाओं का रसधानिक अवजनन और अपोषण अधिचर्म में स्पष्ट देखा जा सकता है और पिटिकामय तथा अवपिटिकामय परतों में श्वेतकोशिकीय अंतर्स्यंदन की बहुलता (प्रमुखता) भी देखी जा सकती है।

अवतीव्र ललामक्लेशिक वृका

यह रोग चकतीवत रूप से भी विकसित हो सकता है और स्वतःस्फूर्त रूप से भी। तल्पिक चित्र कम स्पष्ट होते हैं, बनिस्बत कि तीव्र रूप से। कुछ केसों में प्रक्रिया चिरकारी (कुटाली, परसिस्टेंट) ललामी का प्रवाह ग्रहण कर लेती है और चेहरे की चर्मशोणता से मिलती-जुलती हो जाती है। ऐसे केसों में चेहरे के चर्म पर शोफ, रक्तस्फीति और शल्कन के परिसीमित क्षेत्र बन जाते हैं। सीमित ललामक्लेशिक धब्बे हाथ-पैर, वक्ष और शिरोवल्क के चर्म-क्षेत्रों पर उत्पन्न हो सकते हैं। रोग बहुत धीरे-धीरे विकास करता है और लंबे समय तक सिर्फ ललामिक पिटिकीय क्षतियों और पनपू नर्वतंत्र की दुर्बलता के रूप में व्यक्त होता है। इसके बाद चिरकालिक यकृतशोथ, प्लूराशोथ तथा सार्वदैहिक आक्रांति के अन्य लक्षण प्रकट होने लगते हैं, यद्यपि वे तीव्र रूप की तुलना में बहुत कम स्पष्टता से व्यक्त होते हैं।

ऊतगदलोचन. आधारीय परत का रसधानिक अवजनन और सुचर्म का शोफ चिरकालिक चक-तीवत ललामक्लेश में अधिक स्पष्टता से प्रकट होता है। मशिकीय अतिश्रृंगनता और शोथी अंतर्स्यंदन कम स्पष्ट होते हैं।

ललामक्लेशिक वृका (क्षतांकी ललामक्लेश) का कोई भी रूप बच्चों के लिये विरल है। उम्र के साथ-साथ रोग की प्रायिकता बढ़ती है। दस वर्ष से कम के बच्चों में लड़कों को चिरकालिक ललामक्लेश अधिक होता है, जबकि लड़कियां अवतीव्र एवं तीव्र रूपों से अधिक ग्रस्त होती हैं। बच्चों में चिरकालिक ललामक्लेश अक्सर बिएट की अपकेंद्री वलयाकार ललामी के रूप में विकसित हो जाता है, जो अधिकांशतः चेहरे को ग्रस्त करती है। शल्कन या अतिश्रृंगनता हल्की या अनुपस्थित होती है और क्षतांकी अपोषण विरले पाया जाता है। सार्वदैहिक रूप चमकदार एवं शोफित नीले अतिरक्तिल धब्बों की प्रचुरता द्वारा लंछित होता है; ये धब्बे चेहरे और धड़ पर होते हैं। हस्तपुच्छों, जांघों, टांगों और गोड़ों पर आक्रांति के अधिकेंद्र नीलपर्यंगता से मिलते-जुलते होते हैं। इन बच्चों की सामान्य अवस्था तेजी से बिगड़ जाती है और उनमें बहु- तक्रिका-शोथ और मसेदार अंतर्हृत्शोथ की तीव्र अभिव्यक्तियां पायी जाती हैं।

निदान के आधार निम्न हैं: क्षतांकी ललामक्लेश के चिन्ह (ललामी, मशिकीय अतिश्रृंगनता, क्षतांकी अपोषण), रक्त में परिवर्तन (श्वेताल्पता, लसाल्पता, विभेदक गणन में बायीं ओर स्थानांतरण, रक्ताल्पता, स्कंदकोशिकाल्पता, वर्धित गामा ग्लोबूलिन, उच्च ESR), रोगी के रक्त में LE कोशिकाओं का पाया जाना, कुछ रोगियों के रक्त में संदीप्ति-सूक्ष्मदर्शन से एंटीनाभिकीय और एंटी-एंटीनाभिकीय प्रतिकायों का अनुवेदन।

चिकित्सा रोग के तल्पिक रूप के अनुसार प्रलिखित की जाती है। क्षतांकी ललामक्लेश के चिरकालिक रूप एंटीमलेरिया-प्रसाधनों से उपचारित किये जाते हैं: खिंगामीनुम (पर्याय: रेजोक्वीन या ख्लोरोक्वीन डाइसल्फेट), प्लाक्वेनिल (हाइड्रोक्सीख्लोरोक्वीन), ग्रामोडिआक्वीन, अमीनोखीनोलुम – 5 से 10 दिन के दौरों में (उनके बीच 2 से 5 दिन के अंतरालों के साथ) 0.25 ग्राम नित्य दो बार। बच्चों के लिये एक खुराक की मात्रा निम्न है: 12 महीने की उम्र तक के बच्चों के लिये 0.01 ग्राम; 3 वर्ष तक 0.03 ग्राम; 5 वर्ष तक 0.05 ग्राम; 10 वर्ष तक के बच्चों के लिये 0.1 ग्राम; 15 वर्ष तक के लिये 0.15 ग्राम; 15 वर्ष की उम्र के बाद से 0.25 ग्राम। दवा 5 दिनों के दौरों (चक्रों, साइकिल्स) में नित्य दो बार दी जाती है; दौरों के बीच अंतराल दो से पांच दिन का रखा जाता है। ख्लोरोक्वीन के प्रसाधन अधिवृक्क-वल्कुटी कार्य को प्रोत्साहित करते हैं, योजक तंतुओं में द्रव्य-विनिमय पर प्रभाव डालते हैं, स्पष्ट प्रकाश-अवसंवेदक प्रभाव डालते हैं, वीरुसों के प्रजनन को दमित करते हैं, वीरुस के RNA (रीबोनुक्लेइक अम्ल) और प्रोटीन के संश्लेषण को व्यवधानित करते हैं।

कोर्टिकोस्टेरोइड सार्वदैहिक ललामक्लेशिक वृका में लाभ पहुँचाते हैं: प्रेद्नीजोलोन या मेथिलप्रेद्नीजोलोन (दैनिक खुराक 50-70U)। चिकित्सा ऊपर दिये हुए परास की अधिकतम खुराक से शुरू की जाती है और धीरे-धीरे निम्नतम खुराक पर पहुँचायी जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइडों से दीर्घकालीन चिकित्सा में साथ-साथ अनाबोलिक स्टेरोइड प्रसाधन (मेथांड्रोस्टेनोलोन या नेरोबोलिल, पर्याय – डूरोबोलिल) 15 से 20 दिनों तक नित्य दो बार 0·005 ग्राम की खुराकों में दिये जाते हैं; 10-15 दिन के अंतराल के बाद चिकित्सा पुनः दुहरायी जाती है; मेथिलांड्रोस्टेनेडिओल, रेटाबोलिल (नांड्रोलोन डेकानोआट), फेनोबोलिन (नांड्रोलोन फेनिलप्रोपिओनाट) के 2.5 प्रतिशतीय घोल की 1.0 मिलिमीटर मात्रा की अंतर्पेशीय सूई सप्ताह में एक बार दी जाती है।

कैल्सियम और पोटाशियम (पोटाशियम एसेटेट का 10 प्रतिशत सांद्र घोल नित्य तीन या चार बड़ा चम्मच दिया जाता है), और प्रोटीन से समृद्ध आहार दिया जाता है; कार्बोहाइड्रेट से परहेज रखना चाहिये। स्टेरोइड और एंटीमलेरिक प्रसाधनों का मेल बहुत कारगर होता है। इनके बने-बनाये प्रसाधन प्रयोग में लाये जा सकते हैं, जैसे प्रेजोसिल, जिसमें रेजोक्वीन (0.04 ग्राम), प्रेद्नीजोलोन (0.75 मिलिग्राम) और ऐसेटीलसैलीसीलिक अम्ल (0.2 ग्राम) होता है।

प्रतिजीवक (पेनीसिलिन, एरीथ्रोमीसिन, ओलेआंदोमीसिन आदि) सहवर्ती द्वितीयक पैठन में प्रयुक्त होते हैं। गामा ग्लोबूलिन, रक्तचिकित्सा और पीरामीडीन श्रेणी की दवाएं (पेंटोक्सिल, मेथिल-उरासिल) भी इन स्थितियों में सुसंकेतित हैं, क्योंकि ये इमूनता को बढ़ाते हैं।

विटामिन (विशेषकर बी- संकुल) से अच्छा थेरापिक प्रभाव प्राप्त होता है; बी-संकुल के विटामिन प्रकाश-अवसंवेदक प्रभाव डालते हैं। B_6 की अंतर्पेशीय सूइयां (1-2 प्रतिशत सांद्र घोल की 1.0 मिलिलीटर मात्रा एक दिन छोड़ कर) या विटामिन B_{16} (दो-तीन दिनों के अंतराल पर 300 मिक्रोग्राम की सूई; कुल 15 सूइयां) प्रलिखित किये जाते हैं। मुखमार्ग से दिये जाने वाले विटामिनों में निम्न हैं: निकोटीनिक अम्ल (0.05 ग्राम, दिन में तीन बार), फोलिक अम्ल (0.01-0.02 ग्राम, दिन में तीन बार), पांटोथेनिक अम्ल (0.05-0.1 ग्राम; दिन में [illegible] बार), रीबोफ्लाविन (0.005 ग्राम दिन में तीन बार) एविट (एक कैप्सुल, दिन में दो [illegible] तीन बार), और आस्कोरूटिन (एक टिकिया, दिन में तीन बार)। विटामिन कोर्टिकोस्टेरोइडों और एंटीमलेरिक दवाओं की थेरापिक क्षमता को बढ़ा देते हैं और उनकी गरलता को कम करते हैं।

इमूनदमनकारी साधन या कोशिका-स्तंभक साधन (6-मेर्काप्टोपूरीन, मेथेट्रेक्साट, इमूरान – एक टिकिया, दिन में दो बार; बिओसप्रेसिन – नित्य 6 कैप्सुल तक) तीव्र केसों में कोर्टिकोस्टेरोइडों और विटामिनों के साथ प्रलिखित किये जाते हैं।

बाह्य चिकित्सा के रूप में स्टेरोइड क्रीमों (सेलेस्टोडेर्म, फ्लूसीनार) और हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्शन की सूई, क्लोरोक्वीन डाइफोस्फेट या डेलाजिल (क्लोरोक्वीन) का 5 प्रतिशत सांद्र घोल आक्रांत क्षेत्र (अधिकेंद्र) के गिर्द लगाया जाता है। शीतचिकित्सा स्थानाबद्ध चकतीवत क्षतांकी ललामक्लेश में प्रयुक्त हो सकती है।

निरोधक उपाय के रूप में चर्म को (खासकर चेहरे पर) धूप और तापीय किरणों से बचाना चाहिये। इनसे रक्षा करने वाले क्रीम प्रयुक्त हो सकते हैं; पैरा-अमीनोबेंजोइक अम्ल के त्रिएथानोल-अमीन लवण के 5-10 प्रतिशत सांद्र पेस्ट (जिसमें सैलोल भी मिला हो) इसी काम के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं।

भविष्यवाणी. ललामक्लेशिक वृका की भविष्यवाणी विविध प्रकार की हो सकती है। उदाहरणार्थ, चकतीवत क्षतांकी ललामक्लेश सुदम होता है और विरले ही तीव्र रूप में परिणत होता है। रोग का सार्वदैहिक रूप, जो चिरकालिक चकतीवत रूप के उग्रता-काल में होता है, और (अधिक अक्सर) प्रकीर्णित ललामक्लेशिक वृका कमोबेश रूप से अनुकूल प्रवाह ग्रहण करता है, बनिस्बत कि वही रोग जो स्वतंत्र रूप से होता है। अंतिम रूप सुषुप्त प्रवाह ग्रहण कर लेता है और चिकित्सा का प्रतिरोध करता है, इसीलिये इसकी भविष्यवाणी गंभीर (चिंताजनक) होती है।

सोवियत संघ में ललामक्लेशिक वृका के किसी भी रूप से ग्रस्त रोगियों पर निरंतर डाक्टरी निगरानी रखी जाती है (यहां तक कि रोग के उपशमन-काल में भी), और जो सार्वदैहिक रूप से ग्रस्त होते हैं उनकी निःशुल्क चिकित्सा होती है।

कठचर्मता

चरमोत्कर्ष की स्थिति में कठचर्मता ऊतकों के अधिकेंद्रिक या विसरित कठोरन द्वारा लंछित होती है; इस कठोरन का कारण है योजक ऊतकों के रेशों (तंतुओं) की आक्रांति। कठोरन किसी भी अंग में स्थानाबद्ध हो सकता है, लेकिन अधिकांशतः वह चर्म और अवचार्म ऊतकों में अवलोकित होता है और काफी लंबे समय तक बना रहता है। कठचर्मता के निम्न रूपों में भेद किया जाता है: परिसीमित या स्थानाबद्ध (मोर्फेया गुट्टाटा या लिनेआरिस – बूंद की तरह या रैखिक रूप), विसरित (सार्वदैहिक या तंत्रिक), मिश्र रूप। परिसीमित और विसरित रूपों में पहचान का कोई सही तरीका अभी तक विकसित नहीं हो पाया है। कुछ वैज्ञानिक उन्हें एक ही गदलोचनी प्रक्रिया के रूप मानते हैं और कुछ उनमें स्पष्ट भेद करते हैं; इनके अनुसार कठचर्मता के ये दो रूप गदजनन में भी और तल्पिक चित्र में भी भिन्न हैं।

परिसीमित कठचर्मता के विकास में तीन चरण पाये जाते हैं: शोफ, कठोरन, अपोषण। शोफ-चरण कुछ सप्ताह तक जारी रहता है, फिर जल्द ही कठोरन के चरण में संक्रमण कर जाता है। इस (शोफ के) चरण पर चर्म चिकना, चमकदार लमड़ा हुआ और पेस्ट जैसी सघनता वाला हो जाता है। इसका रंग सामान्य चर्म के रंग से ले कर चमकदार लाल और कभी-कभी नीली आभा से युक्त भी हो सकता है। बहुत छोटी अवधी होने के कारण प्रथम चरण पर अक्सर ध्यान नहीं दिया जाता। कठोरन के चरण में निम्न विशिष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं: चर्म का क्षेत्र कठोर हो जाता है, छूने में ठंडा लगता है और नीचे स्थित ऊतकों से अलग नहीं हो पाता, उसे चुटकी में लेना असंभव या बहुत ही मुश्किल होता है।

आक्रांति क्षेत्र के गिर्द हल्का नीला छल्ला कठोरन के चरण का बहुत ही विशिष्ट लक्षण है (परिसरीय वर्धन का छल्ला)। अधिकेंद्रों (आक्रांति-क्षेत्रों) का रंग मोम जैसा पीला या गंदला-भूरा होता है। अपोषण के चरण पर चर्म पतला तथा सफेद हो जाता है और चीमड़ कागज से मिलता-जुलता हो जाता है। अवचार्म वसा और पेशियां भी अपोषित हो सकती हैं।

हेतुलोचन और गदजनन अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। कुछ तल्पविद इसे पैठनजनित रोग मानते हैं। उनकी मान्यता इस तथ्य पर आधारित है कि कुछ केसों में यह रोग तीव्र या चिरकालिक पैठन (शोणज्वर, रोहिणी, तंद्राभ या टायफड, चर्मशोण, गंठिक्लेश या यक्ष्मा) के बाद होता है। अधिकांश वैज्ञानिक नार्विक एवं अंतस्त्रावी गड़बड़ियों को प्रमुख दोषी मानते हैं। इसमें मुख्य भूमिका ढालवत ग्रंथि, जनन-ग्रंथि और पराढालवत ग्रंथियों की गड़बड़ियों की होती है, जो पैठन से उत्पन्न हो सकती हैं।

गदलोचनी प्रक्रिया अधिकांशतः कुंभियों की दीवारों और योजक ऊतकों के संरचनात्मक तत्त्वों में विकसित होती है। शरीर में चंद जीवलोचनी द्रव्यों (जैसे सेरोटोनिन) के संचय से कुंभियों का अपतान (स्पाज्म) होने लगता है। हिआलुरोनिक अम्ल और हिआलुरोनीदाज का अंतर्संबंध बिगड़ना भी बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। हिआलुरोनीदाज-कार्यशीलता के मंदन, मूकोपोली-साखारीद के संचय और योजक तत्त्वों के फिब्रिनोइड-अवजनन के प्रभाव से पहले तो शोफ और कठोरन जैसे परिवर्तन उत्पन्न होने लगते हैं, इसके बाद कोलाजन-संश्लेषण की प्रक्रिया तीव्र हो उठती है। कई वैज्ञानिकों का विचार है कि कठचर्मता विषमज प्रोटीनों के संबेधन या आक्रामक स्व-प्रतिकाय के विरचन के प्रति परोर्जिक प्रक्रिया के फलस्वरूप विकसित हो सकता है। यह विचार

इस तथ्य पर आधारित है कि कठचर्मता टीका लगाने, रक्त-आधान करने और थेरापिक उद्देश्यों से परज सीरम का प्रवेश कराने के बाद विकसित होती देखी गयी है।

अन्य कोलाजनक्लेशों की तरह कठचर्मता में भी कोलाजनी, प्रत्यास्थ और जालिकीय तंतु (रेशे) ही नहीं, अंतरवकाशिक संसंजक द्रव्य और कोशिकाएं, साथ-साथ अंत्य विशाखित रक्त-कुंभियां और नर्व-सिराएं भी पीड़ित होती हैं। रोगी के सीरम में शरीर के अपने ऊतकों के प्रति (सापेक्ष) प्रतिकायों की विमाप बढ़ती है, रक्त में प्रोटीनों के अवयवानुपातों में गड़बड़ी (डिसप्रोटीनेमिया) विकसित होने लगती है (अधिकांशतः गामा ग्लोबूलिन की वृद्धि के रूप में—हाइपरगामाग्लोबूलिनेमिया)। इन सब बातों के कारण योजक ऊतकों के रोग एक इमूनलोचनी समस्या प्रस्तुत करते हैं।

योजक ऊतकों के सार्वदैहिक गदजनन के आधार में निम्न घटक है: कोशिकीय और रसीय इमूनता का निर्गठन, जो बाल्यग्रंथि (थाइमस) पर निर्भर तंत्र के साथ संबंधित होती है (इस तंत्र में निम्न की गणना होती है: T-लसकोशिकाएं, कोशिकीय इमूनता की जिम्मेवार थाइमस-आश्रित कोशिकाएं, B- लसकोशिकाएं, रसीय इमूनता से संबंधित थाइमस-आश्रित कोशिकाएं)। स्व-प्रतिकायों का जीवलोचनी महत्त्व और गदजनक भूमिका आज भी स्पष्ट नहीं हो पायी है। इसीलिये स्व-आक्रमण के सिद्धांत की पुष्टि के लिये अभी और भी प्रमाण जुटाने हैं।

साथ ही, अंतस्त्रावी गड़बड़ियां (अधोवर्ध-अधिवृक्कीय तंत्र की दमित कार्यशीलता, जनन-ग्रंथियों की कुक्रिया, अर्थात अतिमदजनन), नार्विक गड़बड़ियां, ठंड, चोटज क्षतियां और जंतिकीय घटकों का भी रक्त में प्रोटीनी कुसंतुलन संबंधित परिवर्तनों के विकास में निश्चित महत्त्व है; ये परिवर्तन अधिकांशतः चर्म, कुंभियों और आंतर अंगों के योजक ऊतकों के प्रमुख द्रव्य में स्थानाबद्ध गदजनक प्रक्रिया के रूप में होते हैं।

कठचर्मता सभी उम्र के बच्चों में होती है (जीवन के प्रथम दिनों से ही) और बड़ों में भी। क्षतांकी ललामक्लेश की तरह यह भी स्त्रियों को अधिक अक्सर होती है। ऐसे केस भी हो सकते हैं जिसमें अधिकेंद्रबद्ध कठचर्मता विसरित सार्वदैहिक रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिये इन दोनों रूपों को एक ही गदलोचनी प्रक्रिया माना जा सकता है, जो चर्म और आंतर अंगों को आक्रांत करती है। वैसे, यह विचार सर्वमान्य नहीं है।

परिसीमित कठचर्मता

एक या कुछेक, स्पष्ट परिसीमित, चिकने, चमकदार और कठोर सघनता वाले धब्बे उत्पन्न होते हैं; इनका आकार सिक्के के बराबर या हथेली के बराबर होता है (बूंदिक मोर्फेआ)। धब्बे त्वचा से कुछ उभरे होते हैं या उल्टा, कुछ दबे होते हैं। उनका रंग पीताभ-भूरा होता है और परिसर पर लिली (कुमुदनी) के रंग का वलय (परिरेखा) होता है। अधिकेंद्र गोल, अंडाकार या रैखिक हो सकते हैं। क्षतियां अक्सर धड़, हाथ-पैर और चेहरे पर स्थित होती है।

रोग के प्रवाह में तीन चरण होते हैं। पहले गोल भूराभ-लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं। आक्रांत चर्म पेस्ट की तरह मुलायम और शोफित होता है। चर्म का कठोरन कोई दो सप्ताह बाद विकसित होता है: यह निम्नस्थ ऊतकों पर कस के बैठा होता है, स्थल चुटकी में नहीं सिमटता, रंग मोम की तरह पीला हो जाता है, पैटर्न समतल हो जाता है। अधिकेंद्र के क्षेत्र में रोएं नहीं उगते (कोलाजनी अतिपोषण का चरण)। अंत में चर्म पतला हो जाता है। इसका रूप चीमड़

चित्र 18. रैखिक कठचर्मता

कागज की तरह हो जाता है और परिसर में लिली के रंग का वलय गायब हो जाता है (अपोषण का चरण)।

परीसिमित कठचर्मता के अनेक रूप हैं: रैखिक कठचर्मता; सफेद धब्बों का रोग, संतही कठचर्मता। कठचर्मता के गंठिक (गुल्मवत), वलयाकार और बुल्लेदार रूप बहुत कम मिलते हैं।

रैखिक कठचर्मता (पर्याय: रैखिक मोर्फेआ) चेहरे पर स्थानाबद्ध होता है (विशेषकर ललाट पर) और कटार के निशान से मिलता-जुलता होता है। आक्रांति-क्षेत्र शिरोवल्क से फैलता हुआ अक्सर नासा-सेतु तक पहुँच जाता है (चित्र 18)। रैखिक कठचर्मता कभी-कभी पैरों के फैलाव और वक्ष पर नर्व की मुख्य शाखाओं के वितरण के अनुसार (हेड-क्षेत्र में) उत्पन्न होती है; इन स्थलों पर क्षतियों की उत्पत्ति रोग के नर्वकुपोषी गदजनन की साक्षी देती है; ऐसा इसलिये भी कि इसके साथ कभी-कभी चेहरे का प्रगामी अर्ध-अपोषण भी विकसित होने लगता है। रोग का यह विशिष्ट रूप अक्सर बच्चों में देखने को मिलता है। इसके भी विकास के तीन चरण होते हैं।

सफेद धब्बे का रोग. इसमें 3 से 10 मिलिमीटर व्यास की नन्ही, गोल, स्पष्ट परिसीमित, चिकनी, अपोषित, चमकदार चित्तियां उत्पन्न होती हैं, इनका रंग पोर्सेलेन की तरह सफेद होता है। ये अपेक्षाकृत कठोर होते हैं उनकी सतह कुछ दबी हुई होती है, या इसके विपरीत, कुछ उभरी हुई होती है। परिसर पर ललछौंह भूरा वलय होता है। इसका प्रिय स्थल गरदन है; विरलतः चित्तियां बाहों, वक्ष के ऊपरी भाग, मुख-श्लेष्मला और जननेंद्रियों पर भी उत्पन्न होती हैं। विभेदक निदान चौरस लाल शैवाक के कठोर कुपोषित रूप और श्वेतसिलत्व के साथ किया जाता है।

सतही कठचर्मता के विशिष्ट लक्षण हैं नीलाभ-भूरे धब्बे। ये बहुत धीरे-धीरे विकसित होते हैं; मध्य में सतह कुछ दबी होती है; इन स्थलों पर चर्म मोटा नहीं होता, इनसे होकर कुंभियां दिखायी पड़ती हैं। परिसर में लिली (कुमुदनी) के रंग का वलय नहीं होता। रोग के सामान्य स्थल वक्ष और पैर हैं। कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती।

विसरित (प्रगामी, सार्वदैहिक) या तंत्रिक कठचर्मता

यह एक तीव्र चिरकालिक सार्वदैहिक रोग है, जिसका प्रवाह सुषुप्त और अनिवार्य रूप से प्रगामी होता है। पहले हाथ और चेहरा ग्रस्त होता है, फिर धड़ और हाथ-पैर। हथेलियों और तलवों पर क्षतियां विरले ही पायी जाती हैं। शोफित अधिकेंद्र विकसित होते हैं, फिर वे धीरे-धीरे वर्धित होकर कड़े हो जाते हैं। प्रक्रिया के आगे बढ़ने पर चर्म नीचे स्थित ऊतकों के साथ जुड़ जाता है और पीला पड़ जाता है (हाथी-दांत के रंग का)। दूरकुंभि-विस्फारण और निर्वर्णकता पायी जाती है। चर्मावरण के तनाव और कड़ापन के कारण पेशियों की गतिशीलता सीमित हो जाती है, जिससे चेहरा मुखौटे के समान भावहीन हो जाता है। इसके विशिष्ट लक्षण हैं: नाक चिड़िये की चोंच की तरह नुकीली हो जाती है और मुख-विदार सँकरा हो जाता है। काँख और जंघामूल के लसपर्व परिवर्धित हो जाते हैं।

प्रारंभिक लक्षणों के साथ-साथ नर्वशूल, परिसंवेदना, अनिद्रा और चर्म के लमड़ाव की अनुभूति होती है। बाद में ज्वर होता है, अस्वस्थता, कमजोरी, पेशियों तथा संधियों में दर्द, अनपच की संवृत्तियां और सरदर्द होता है। तल्पिक लक्षणों मे पहले अक्सर एक प्राग्लक्षण काल आता है।

कठचर्मता के कुछ रोगियों में 1 सेंटीमीटर तक के व्यास की प्रकीर्णित अवचार्म कैल्सीफेरस पर्विकाएं (कैल्सिनक्लेश) होती हैं, जो व्रणित हो सकती हैं (थीबियेर्ग-वाइसेनबाख का सिंद्रोम)।

विसरित कठचर्मता में हाथ और पैर की उंगलियां पतली और नुकीली हो जा सकती हैं, उनकी गति सीमित हो जा सकती है। चर्म जगह-जगह पर व्रणित हो जाता है, पेशियां, कंडराएं और नख अपोषित हो कर पतले हो जाते हैं। चूंकि हाथ की पेशियों के अपोषण की स्थिति में आकुंचक पेशियों की तानता हावी रहती है, इसलिये उंगलियां मुड़ी रहती हैं और शिकारी पक्षी के पंजों से मिलती-जुलती हो जाती हैं। इस संवृत्ति को कठांगुलता कहते हैं। कुछ स्थितियों में इसके साथ-साथ रेनाउड (Raynaud) के कुंभि-अपतानिक सिंद्रोम की अभिव्यक्तियां, दूरकुंभि-विस्फारण और कैल्सिनक्लेश भी देखने को मिलते हैं। इन रोगियों में चेहरे का चर्म और पेशियां ग्रस्त होती हैं।

मुँह, कंठ और ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्लियां भी ग्रस्त हो सकती हैं, तब वे शुष्क (सूखी) और झुर्रीदार हो जाती हैं। मृदु तालु की लुरलुरी ग्रस्त हो जाती है और रोगी के लिये निगलना कठिन हो जाता है।

आंतर अंगों में स्पष्ट परिवर्तन पाये जाते हैं: जठरांत्र मार्ग में अपसामान्यताएं (संकोचन, अन्तर्द्रव्य को आगे बढ़ाने के लिये जो क्रमबद्ध संकोचन होता है, उसमें गड़बड़ी, व्रणन), हृत्पेशी का कुपोषण, अंतः-परि-हृत्शोथ, हृत्पेशी-कठोरन, अतितान, फुप्फुस में कठोरन, वृक्करुग्नता के साथ-साथ वृक्क-कठोरन, पेशियों, अस्थियों, संधियों आदि की आक्रांति। सार्वदैहिक कठचर्मता की संवृत्तियां चर्म में परिवर्तनों के बिना भी या उसके पूर्व भी उत्पन्न हो सकती हैं। अप्रत्यक्ष इमूनोसंदीप्ति से सार्वदैहिक कठचर्मता के रोगी के रक्त-सीरम में एंटीनाभिकीय और एंटी-कोशिकाद्रव्यिक घटक मिलते हैं, जो इन रोगियों में इमूनी परिवर्तन के प्रमाण हैं।

ऊतलोचनी दृष्टि से कठचर्मता शोफ, अतिपोषण, समजभवन, फिब्रिनवत अवजनन और कोलाजनी रेशों के तीव्र संश्लेषण के रूप में व्यक्त होती है। गोल कोशिकाएं (अधिकांशतः श्वेतकोशिकाएं) कुंभियों के गिर्द और समज कोलाजनी बंडलो के बीच अंतर्स्यंदित होती हैं। कुंभियों की दीवारों के तंतुओं का समजभवन और अपोषण होता है। वसीय ऊतक पतले होने लगते हैं।

निदान. कठचर्मता का निदान रोग की सभी अभिव्यक्तियों के विकास के दौरान आक्रांति-क्षेत्र (अधिकेंद्र) के विशिष्ट रूप के आधार पर सरलतापूर्वक किया जा सकता है। रोग के प्रारंभिक चरण पर, जब शोथी शोफ होता है, निदान कठिन होता है। ऐसी स्थिति में निदान रोगी के प्रवेगिक प्रेक्षण पर आधारित होता है। विसरित कठचर्मता के भी प्रारंभिक चरण में रोग का निदान कठिन होता है, क्योंकि इस अवधि में पाये जाने वाले लक्षण (हाथ-पैर की ठंडी, विवर्ण, नीलाभ उंगलियां) रेनाउड के रोग का संकेत दे सकते हैं। निदान तब संभव होता है, जब हाथ-पैर की उंगलियों का कठोरन शुरू हो जाता है (जो रैनाउड-रोग के लिये विशिष्ट नहीं है)। इसके अतिरिक्त, कठचर्मता में प्रक्रिया चेहरे पर भी फैलने लगती है, जबकि रैनाउड का रोग चेहरे को ग्रस्त नहीं करता।

चिकित्सा. हिआलूरोनीदाज के प्रसाधन (लीदाज या मवेशियों के शरीर से प्राप्त कांचर द्रव्य से बनी एक दवा) कठोरन के चरण पर सुसंकेतित हैं। लीदाज ठीक आक्रांति क्षेत्र में (परिसीमित कठचर्मता के केस में) अंतर्पेशीय मार्ग से (बड़ों के लिये 64-128U और बच्चों के लिये 16-32U) विद्युप्रवहन या परास्वनि के सहारे आधान कराया जाता है। लीदाज-थेरापी (15 से 20 अंतर्क्षेपण) को आंगिओट्रोफीन की सूइयों के साथ बदल-बदल कर देना चाहिये (अंतिम की 1.0 मिलिमीटर की मात्रा एक सूई में दी जाती है; कुल 15 सूइयां)। साथ में कुछ अन्य प्रसाधन भी दिये जाते हैं, जो कुंभियों को विस्फारित करते हैं और सूक्ष्म संचार को नियमित करते हैं; जैसे—क्सांथीनोल निकोटिनेट, नोस्पानुम, नीकोस्पानुम, डेपो-पाडूटिन या कैलीक्रेइन, आंडेकालेनुम।

प्रतिजीवकों की बड़ी खुराकों (जैसे पेनीसिलिन की कुल खुराक 10000000 से 15000000U तक) से दीर्घकालीन चिकित्सा कठोरन के चरण में लाभ पहुंचा सकती है। विटामिन E, B_{15} (विशेषकर सुपोजिटरी के रूप में), A और C से भी लाभ होता देखा गया है। कुछ केसों में संश्लिष्ट एंटी-मलेरिक दवाएं, क्लोरोक्वीन फोस्फेट और प्लाकेनिल इष्टकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं। थीरोइडिन, एसेटिलखोलीन और डिंबाशयी हर्मोन (एस्ट्राडिओल बेंजोनेट) भी कभी-कभी कारगर सिद्ध होते हैं।

श्लेष्मावत शोफ के चरण में खेलाट (chelate) बनाने वाले साधन, विशेषकर एथीलेन-डिआमीन-टेट्रा-एसेटिक अम्ल (EDTA) से बने कैल्सियम व सोडियम के लवण लाभ पहुँचाते हैं; इसकी 2.5 मिलिलीटर की खुराक ग्लूकोज के 5 प्रतिशत सांद्र घोल की 20 मिलिमीटर की मात्रा के साथ अंतर्शिरीय मार्ग से धीरे-धीरे कर के आधान कराते हैं। चिकित्सा का पूरा दौर 5 आधान में समाप्त होता है; तीन से चार सप्ताह के अंतराल पर फिर नया दौर शुरू किया जा सकता है। विसरित सार्वदैहिक कठचर्मता में निम्नाण्विक डेक्स्ट्रानों का उपयोग वांछनीय है (पोलीग्लूसिन का 500 मिलिलीटर अंतर्शिरीय मार्ग से आधान कराया जाता है; तीन दिन में एक बार; इलाज के एक दौर में 6-7 आधान)। चूंकि निम्नाण्विक डेक्स्ट्रान अतितान उत्पन्न करने वाले घोल हैं, इसलिये वे प्लाज्मा के आयतन में वृद्धि करते हैं, श्यानता कम करते हैं और रक्त का बहाव सुधारते हैं।

भौतिकीय चिकित्साएं बहुत ही कारगर होती हैं, जिनमें निम्न का उपयोग होता है: परास्वनि, पारप्रवेगिक धाराएं, पारतापन (स्थानीय और अप्रत्यक्ष); लीडाज, इख्थाम्मोल और पोटाशियम आयोडाइड का विद्युप्रवहन, पैराफिन और ओजोसेरीट का प्रयोग, रोगहर पंक और सल्फरित हाइड्रोजन से स्नान। मालिश और रोगहर व्यायाम का विस्तृत उपयोग होता है।

प्रोटीन और विटामिन से समृद्ध आहार सुसंकेतित है।

त्वचा-मृदुकारी साधन बाह्य चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं, जैसे पेप्सिन-मलहम:

Rp: Ac. borici 1.0
Pepsini 3.0
Vaselini flavi ad 30.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

भविष्यवाणी कठचर्मता के परिसीमित रूपों में अनुकूल होती है। विसरित, सार्वदैहिक कठचर्मता के परिणामों की भविष्यवाणी बहुत कठिन होती है, क्योंकि वह लंबे समय तक बनी रहती है और उसका प्रवाह सुषुप्त होता है। मृत्यु हो सकती है।

चर्मपेशीशोथ

चर्मपेशीशोथ तीव्र हो सकता है (जिसमें कुछ सप्ताह के अंदर मृत्यु हो जा सकती है) या अवतीव्र, लेकिन अधिकांशतः वह चिरकालिक होता है। रोग स्त्रियों के बीच (40-50 वर्ष की उम्र में) अधिक पाया जाता है। बच्चों को यह रोग (दुर्दम कैशोर्य रूप) बहुत विरले ही होता है।

गदजनन में विशेष महत्व निम्न घटकों को दिया जाता है: पैठन, गलशुंडी, कर्णशोथ, फ्लू (इन्फ्लुएंजा) लू, रुमैटिकता, परीजिक रोग तथा नर्वतंत्र की आक्रांतियां। इस रोग का दुर्दम नौवर्धों के साथ भी निश्चित संबंध देखा गया है, जैसे पेट, गर्भाशय, और स्तन के कर्कार्ब तथा बहुसंख्य मज्जार्ब के साथ।

रोग शुरू होने से पहले एक प्राग्लक्षण काल होता है: हठात शुरुआत विरले ही होती है। प्रथम लक्षण निम्न हैं: हाथ-पैर में अनिश्चित प्रकार का दर्द, सामान्य कमजोरी, अस्वस्थता की अनुभूति, गश आना (सर चकराना), धड़कन तेज होना, ज्वर, अतिस्वेदन, वमन। प्रक्रिया पहले नेत्र-कोटर के गिर्द शुरू होती है ('चश्मानुमा ललामी'), इसके बाद होठों के गिर्द, गालों पर आदि। चेहरे के भाव स्पष्ट नहीं व्यक्त हो पाते। आक्रांत चर्म-क्षेत्र रक्तिल-नीलाभ होते हैं, लेकिन बाद में लाल शराब का रंग ग्रहण कर लेते हैं। प्रक्रिया फैलती हुई गरदन, हाथ-पैर और धड़ पर स्थान बना लेती है। चर्म पर अभिव्यक्ति बहुरंगी होती है: ललामिक, ललामिक-शल्की अतियां, पिटिकाएं, वस्तिकाएं, दूरकुंभि-विस्फारण, रक्तस्राव आदि। चर्म की आक्रांति शबलचर्मता से मिलती-जुलती हो सकती है (शबल का अर्थ है बहुरंगी)। इसीलिये इस रोग का एक और नाम है—शबलचर्मपेशीशोथ। उपशमन और पुनरावर्तन भी अवलोकित होते हैं।

चर्मपेशीशोथ सबसे पहले पेशी-तंत्र को आक्रांत करता है, जिससे पेशीय कमजोरी बढ़ती जाती है (स्कंध-मेखला और हाथ-पैर की)। हाथ-पैर से गति करने और आँख बंद करने में कठिनाई होती है। पेशियां शोफित, कठोर और 'सुन्न' हो जाती हैं। भोजन करना और साँस लेना कठिन हो जाता है।

40°C तक बुखार चढ़ आता है, हृदय में हृत्पेशीशोथ जैसी एक आक्रांति विकसित होने लगती है, जिसके साथ अक्सर रक्त-संचार की अपूर्णता भी दृष्टिगोचर होती है। इन संवृत्तियों के कारण अक्षमता उत्पन्न होती है या मृत्यु हो जाती है।

रोग के साथ-साथ अक्सर निम्न विकार भी होते हैं: बहुनर्वशोथ, सूक्ष्म बहुलसग्रंथिरुग्नता, रक्ताल्पता, लसकोशिकाक्लेश, अतिग्लोबूलिनरक्तता वृक्कांटीशोथ, जठरांत्र की गड़बड़ियां, अस्थि-रंध्रता, भार में कमी, प्रगामी अवतान, पेशियों में कैल्सियम-लवणों का निक्षेप, बाल झड़ना, नखों की अपसामान्यता। मनोविकार (म्लानि और विक्षिप्ति) भी मिलते हैं।

ऊतगदलोचन. अतिपोषण, कठोरन और कोलाजनी रेशों का समजभवन, पेशीय बंडलों का तीव्र अवजनन, अपघटन तथा अपोषण, और साथ ही शोथी परिकुंभिक तथा विसरित लसकोशिकीय अंतस्यंद पाये जाते हैं। केशिकीय प्रतिरोधिता में ह्रास भी ज्ञात हुआ है। ट्रांसअमीनाज और आल्डोलाज में भी परिवर्तन अनुवेदित हुए हैं।

चिकित्सा. कोर्टिकोस्टेरोइड, ACTH (दुर्दम नौवर्धों की अनुपस्थिति में), प्रतिजीवक, एंटीमलेरिक प्रसाधन, विटामिन और सामान्य स्फूर्तिदायक उपाय सुसंकेतित हैं। पेनीसिलिन की कुल खुराक 20000000 से 25000000 U तक हो सकती है। विटामिन A, E, C, B_{15} दिये जाते हैं। चिकित्सा-संकुल में कोकार्बोक्सिलाज, एसेटिलखोलीन, और टेस्टोस्टेरोन की सूइयां भी शामिल कर ली जाती हैं। लक्षणात्मक (या लक्षण-प्रधान) चिकित्सा, मृदुकारी क्रीम, और तापीय उपचार बाह्य रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं।

कठर्मता और कठशोफ

चर्मलोचनी अनुशीलन में कोलाजनक्लेश से संबंधित कठचर्मता जैसे [illegible] रोग ज्ञात हैं। इनमें से हम यहां बड़ों (वयस्कों) के कठशोफ और नवजात बच्चों की कठर्मता और कठशोफ को देखेंगे; ये रोग कोलाजनी संरचना में परिवर्तन और योजक ऊतकों के कुगठन द्वारा लंछित होते हैं।

बूश्के (Buschke) का वयस्क कठशोफ. यह एक विरल चर्मक्लेश है, जो कोलाजनी ऊतकों की पैठी-गरल एवं कुपोषी आक्रांति से संबंधित है। इसमें सुचर्म एवं अवचार्म ऊतकों का शोफ और कठोरन होता है। रोग पेशियों और उनकी झिल्लियों (पट्टिकाओं) तक फैल जाता है। चर्म में हाथी-दांत के या पीले रंग के शोफित, स्पष्ट परिसीमित चूने जैसे कठोरन उत्पन्न होते हैं। आक्रांत चर्म चिकना होता है, चुटकी में नहीं समाता (अर्थात् सलवट में नहीं मुड़ता), और तख्त जैसा कड़ा हो जाता है। कठशोफ पहले गरदन पर प्रकट होता है, फिर चेहरे, वक्ष, पीठ व हाथों पर फैलता है; चेहरा मुखौटे की तरह कठोर व भावशून्य हो जाता है। आंख और मुंह की श्लेष्मल झिल्लियां भी ग्रस्त हो सकती हैं, जिससे शुष्कता, शृंगिका-व्रणन और जीभ की आक्रांति (स्थूल-रसना) विकसित होती है। शरीर का तापक्रम सामान्य रहता है और कोई पीड़ा नहीं होती (पेशीशोथ के साथ इसकी यही भिन्नता है)। रोग की अवधि कुछ महीनों से ले कर एक वर्ष तक या इससे अधिक भी हो सकती है। स्वतःस्फूर्त ठीक होने की प्रवृत्ति देखी जाती है। रक्त-सीरम में गामा ग्लोबूलिन और खोलेस्टेरोल की मात्रा बढ़ती है, जबकि सूक्ष्म पोषक तत्त्वों (लोहे और तांबे) की मात्रा कम हो जाती है।

ऊतलोचनी चित्र कोलाजनी रेशों के सुस्पष्ट शोफ द्वारा लंछित होता है। कोलाजनी रेशों में खंडित होने (टूटन) की प्रवृत्ति होती है। श्लेष्मला जैसा परारंज्य (मेटाक्रोमेटिक) द्रव्य भी

पाया जाता है। हिआलउरोनिक अम्ल और हिआलउरोनीदाज का अवयवानुपात बदल जाता है।

चिकित्सा. कोर्टिकोस्टेरोइडों, प्रतिजीवकों और लीदाज का उपयोग होता है। विटामिन ए और ई का उपयोग सफल चिकित्सा में सहायक होता है। पराबैंगनी विकिरण, परास्वनि और गाहचिकित्सा के प्रयोग की भी सलाह दी जाती है।

नवजात शिशुओं में कठर्मता. यह रोग अतिपोषित बच्चों को जीवन के प्रथम दिनों या सप्ताहों में होता है। चर्म में सममित रूप से नितंबों, जांघों, और पँखुड़ों पर विसरित, चूने जैसे कठोरन उत्पन्न होते हैं; उनकी जगहों पर गड्ढे नहीं बनते। प्रक्रिया धीरे-धीरे पूरे चर्म की सतह पर फैल जाती है।

ग्रस्त चर्म शुष्क और ठंडा होता है, उसका रंग शुरू में मोम जैसा होता है, फिर नीला-भूरा हो जाता है। हथेलियां, तलवे और अंडकोष ग्रस्त नहीं होते।

रोग का प्रवाह तीव्र होता है, साथ में हल्का बुखार, हृत्कुंभिक तंत्र और श्वसन-अंगों की आक्रांति (क्लोमशोथ) और आंत्रशोथ भी प्रेक्षित होता है। अधिकांश केसों में मृत्यु कुछेक दिनों में हो जाती है।

ऊतगदलोचन. चर्म और अवचार्म वसा के चिरकालिक शोथ के साथ-साथ परिकुंभिक अंतर्स्यंदन और उदासीन वसीय क्रिस्टलों का संचय (निक्षेप) पाया जाता है।

नवजात शिशु का कठशोफ कमजोर बच्चों में जन्म के तुरंत बाद या कुछ महीनों के बाद विकसित हो सकता है। चर्म में गीले चूने जैसे कठोरन के साथ उसका शोफ ही इस रोग को कठर्मता से विभेदित करता है। कभी-कभी बच्चे को दोनों रोग होते हैं, जिससे विभेदक निदान कठिन हो जाता है। नवजात शिशु को कठशोफ फ्लू या क्लोमशोथ के बाद होता है। चर्मक्लेश पहले पेट पर होता है; फिर तेजी से हाथ-पैर पर फैल जाता है। अपेक्षाकृत संतोषप्रद सामान्य अवस्था में आक्रांत चर्म-क्षेत्र कठोरित और तनावपूर्ण हो जाता है और उसमें तीव्र शोफ विकसित हो जाता है (त्वचा को दबाने पर दाग [illegible] लंबे समय तक बना रह जाता है)। अधिकेंद्र का रंग पीला-भूरा या नीला-भूरा होता है। कठर्मता के विपरीत, इसमें हथेलियां और तलवे भी ग्रस्त हो जाते हैं (हस्तपुच्छ और गोड़ में बंदी जैसा शोफ हो जाता है। ग्रस्त चर्म छूने में ठंडा लगता है और चुटकी में नहीं समाता।

रोग-प्रवाह सुदम होता है।

चिकित्सा. कोर्टिकोस्टेरोइड व ACTH-जिंक-फोस्फेट प्रलिखित किये जाते हैं; थीरोइडिन का 0.025-0.03 ग्राम दिन में दो बार दिया जाता है (शुरू में 0.001-0.002 ग्राम दिया जाता है, फिर हर दो-तीन दिन पर दवा की मात्रा में 1.0-2.0 मिलिग्राम की वृद्धि की जाती है)। विटामिन E की सूइयां, विटामिन A (सांद्रित), ऐस्कोर्बिक (आस्कोर्बिक) अम्ल और रूटिन वांछनीय हैं।

तीव्र केसों में हृदय की कार्यशीलता बनाये रखने वाले प्रसाधन, चर्म के नीचे आक्सीजन और सोडियम क्लोराइड के तुल्यतानी घोल का आधान प्रलिखित किये जाते हैं। मालिश और गर्म स्नान की सलाह दी जाती है। बाह्य चिकित्सा में स्टेरोइड-क्रीम, मलहम और गर्म बनस्पति तेल का उपयोग होता है।

चर्मशोथ

चर्मशोथ चर्म पर किसी भौतिक या रसायनिक क्षोभक की प्रत्यक्ष अभिक्रिया से चर्म में उत्पन्न [illegible] को कहते हैं।

भौतिक क्षोभकों में निम्न की गणना होती है: यांत्रिक घटक (दाब, घर्षण आदि), उच्च तापक्रम (दग्ध), निम्न तापक्रम (शीतशोथ या पाला, तुषारण), धूप (पराबैंगनी और अवरक्त किरणें), विद्युत-धारा, एक्स-किरणें, रश्मिसक्रिय विकिरण (आयननकारी विकिरण)। अम्ल, क्षार, कुछ अम्लों के लवण, उच्च सांद्रता वाले निष्पैठक साधन, तथा अन्य रसायनिक प्रतिकारी द्रव्य रसायनिक क्षोभक हैं।

सभी बाह्य क्षोभकों को अपरिस्थितिज (बेशर्तिया) और परिस्थितिज (बशर्तिया, परोर्जक) के ग्रुपों में बाँटते हैं। अपरिस्थितिज क्षोभक हमेशा और हर आदमी में चर्मशोथ उत्पन्न करते हैं। इनके उदाहरण हैं: कड़े अम्ल और क्षार, 60°C से अधिक गर्म पानी, आदि। परिस्थितिज या परोर्जनकारी क्षोभक सिर्फ कुछ लोगों में ही चर्मशोथ उत्पन्न करते हैं, जो इन क्षोभकों के प्रति अतिसंवेदी होते हैं।

अपरिस्थितिज क्षोभकों से उत्पन्न चर्मशोथ सरल या कृत्रिम होते हैं, जबकि परिस्थितिज क्षोभकों से उत्पन्न चर्मशोथ परोर्जिक कहलाते हैं।

चर्मगरलताएं एक विशेष प्रकार के चर्मशोथ हैं, जिनमें चर्म का तीव्र शोथ ग्रसित (ग्रासनली में पहुँचे हुए) क्षोभकों, अंतर्शिरीय, अंतर्पेशीय या अवचार्म सूई से आधानित क्षोभकों या वाष्प के रूप में साँस द्वारा गृहीत (श्वासनली के सहारे) अभिक्रिया करने वाले क्षोभकों द्वारा विकसित होते हैं। चर्म में शोथ तब शुरू होता है, जब रोगी का शरीर इन क्षोभकों के प्रति असहनशील होता है।

औषधज चर्मशोथों का भी एक ग्रुप विभेदित किया जाता है। ये भी सरल होते हैं (चर्म पर उच्च सांद्रता वाली दवाओं, जैसे सैलीसीलिक अम्ल, रेसोर्सीनोल आदि, के प्रभाव से) या परोर्जिक होते हैं (स्त्रेप्तोमीसिन, क्लोरप्रोमाजीन तथा अन्य दवाओं के साथ काम करने वाले आयुर-कर्मियों को; ऐसी स्थिति में कहा जाता है कि आदमी वृत्तिज औषध-चर्मशोथ से ग्रस्त है)। औषधज चर्मशोथों की प्रकृति अक्सर निश्चित होती है, अर्थात् दवा के प्रयोग से क्षतियां सदा समान चर्म-क्षेत्रों पर उत्पन्न होती हैं। औषधज चर्मशोथ अक्सर पेनीसिलिन, स्त्रेप्तोमीसिन, स्त्रेप्तोसिद (सुल्फानीलामीड), प्रोकेन और विरलतः अमीदोपीरीन, मेपाक्रीन, ब्रोमीन, आयोडीन, पारा, फेनोबार्बीटल आदि से संप्रेरित होते हैं।

क्षोभक की अभिक्रिया-काल की लंबाई और उसकी शक्ति (सांद्रता) पर ही यह निर्भर करता है कि तीव्र चर्मशोथ विकसित होगा या उसका चिरकालिक रूप। तीव्र चर्मशोथ की अभिव्यक्तियां हैं: ललामी, सूजन, वस्तिकीय या बुल्लेदार स्फोट, या ऊतकों की विमृति, जिसके साथ व्रण बनते हैं। व्रणों के ठीक होने पर दाग या क्षतांकी अपोषण बन जाता है। चिरकालिक चर्मशोथ में हल्की रक्तस्फीति, अंतर्स्यंदन, शैवाकीकरण और अतिश्रृंगन होता है।

सरल संसर्गज, या कृत्रिम चर्मशोथ

इसके विशिष्ट लक्षण निम्न हैं: क्षोभकारी घटक के अभिक्रिया-स्थल पर ही क्षतियों का उत्पन्न होना, संवेदन तथा परिसरीय प्रसार या प्रकीर्णन की प्रवृत्ति का अनुपस्थित होना। इसके अतिरिक्त, ऐसे चर्मशोथ क्षोभक की अभिक्रिया के एक या दो सप्ताह बाद स्वतः अपचोषित (ठीक) हो जाते हैं (बिना किसी सक्रिया चिकित्सा के भी)। सरल संसर्गज चर्मशोथ अक्सर तीव्र होते हैं और क्षोभक के प्रति अनावृति के तुरंत बाद शुरू हो जाते हैं।

सरल चर्मशोथ भौतिकीय (यांत्रिक तथा अन्य), रसायनिक और जीवलोचनी घटकों से उत्पन्न हो सकता है। अक्सर यह उत्पादन की परिस्थितियों में विकसित होता है (वृत्तिज चर्मशोथ; दे. तदनुरूप प्रकरण)।

दाब (विशेषकर दीर्घकालीन) और घर्षण यांत्रिक घटक हैं, जो चर्मशोथ संप्रेरित करते हैं। इनकी अभिक्रिया से चर्मशूल उत्पन्न होता है (जैसे – जूता कसा होने पर या उसके ठीक माप के न होने पर; हथेलियों पर ऐसे राछों से, जिनसे शरीर पर काफी बोझ पड़ता है; चर्म-पुटकों में, विशेषकर पयोपा बच्चों में, स्पर्शरत त्वचा पर मसृणन के साथ घर्षण के फलस्वरूप)। चर्मशूल में रक्तस्फीति के साथ-साथ सूजन और कुछ स्थितियों में बुल्ले होते हैं, जिनका अंतर्द्रव्य सीरमी या रक्तस्रावी होता है। निरंतर चोटकरण के कारण जब बुल्ले फटते हैं, वहां अपरदित सतह बन जाती है, जो चोटकृत क्षेत्र के आकार के अनुरूप होती है। चिरकालिक दाब और अपेक्षाकृत छोटे (अल्प) बल वाले घर्षण के अधीन चर्म का आक्रांत क्षेत्र कठोर होने लगता है और उसका शैवाकीकरण होने लगता है; इसका कारण है – चर्म का अंतस्यंदन, अधिचर्म का मोटा होना, अतिशृंगन।

बच्चों में चर्मशोथ का एक रूप है अपघर्षज चर्मशोथ। यह पोतड़ों, और वस्त्रों की सलवटों से चर्म के क्षोभ के कारण विकसित होता है; इसकी अभिव्यक्तियां हैं: रक्तस्फीति, अधिचार्म मसृणन, कुछ केसों में रिसाव (अपरदन बनने पर), जलन और पीड़ा की अनुभूति।

सहवर्ती पूयकारी या खमीरी पैठन चर्मशूल या अपघर्षज चर्मशोथ का तल्पिक चित्र बदल देते हैं, शोथी प्रक्रिया को सहारा देते हैं और अधिक कुटाली (चिरकारी) प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं।

भौतिक घटकों से उत्पन्न सरल संसर्गज चर्मशोथ के अन्य रूप वे हैं, जो उच्च एवं निम्न तापक्रमों की अभिक्रिया से (दग्ध, तुषारण, शीतशोथ), पराबैंगनी किरणों से (सौर चर्मशोथ, पारद-वाष्प लैंप के विकिरण से उत्पन्न चर्मशोथ), और एक्स-किरणों तथा रश्मिसक्रिय विकिरण से उत्पन्न होते हैं (विकिरणजनित चर्मशोथ आयनकारी विकिरण से उत्पन्न होता है)।

चर्म पर उच्च तापक्रम के प्रभाव से दग्ध (या झुलसन) उत्पन्न होता है। बच्चों को उच्च तापक्रम के कारण चर्मशोथ उन्हें 40°C से अधिक गर्म पानी में नहलाने से होता है। झुलसन की चार कोटियां होती हैं। प्रथम कोटि की झुलसन से आक्रांत चर्म-क्षेत्र पर ललामी और हल्की सूजन होती है; जलन और पीड़ा की अनुभूति होती है। द्वितीय कोटि की झुलसन से अतिरक्तिल एवं सूजे हुए चर्म-क्षेत्र पर बुल्ले (फोड़े) बन जाते हैं। तृतीय कोटि की झुलसन में सतही चर्म-परत की विमृति होती है, लेकिन खट्ठी नहीं बनती। चतुर्थ कोटि की झुलसन में चर्म की सभी परतें विमृत हो जाती हैं और खट्ठी बनती है। खट्ठी हटने पर व्रण प्रकट होता है। भविष्यवाणी झुलसन की कोटि, रोगी की शारीरिक अवस्था तथा सहवर्ती द्वितीयक पैठन पर ही नहीं, वरन् विशेषकर झुलसे क्षेत्र के आकार पर भी निर्भर करती है।

निम्न (अल्प) बाह्य तापक्रम के प्रति अनावृति के फलस्वरूप ठंड से ऊतकों को क्षति पहुँचती है, जिसे तुषारण कहते हैं; इसकी भी चार कोटियां विभेदित की गयी हैं। प्रथम कोटि के तुषारण से ग्रस्त क्षेत्र में सूजन और नीलापन, नीला-भूरापन उत्पन्न हो जाता है (आत्मगत अनुभूति चुभन और खुजली की होती है)। द्वितीय कोटि के तुषारण का तल्पिक चित्र ऐसा ही होता है, पर इसमें साथ-साथ ग्रस्त चर्म-क्षेत्र पर बुल्ले भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका अंतर्द्रव्य सीरमी या रक्तस्रावी होता है। तीसरी कोटि के तुषारण में ग्रस्त क्षेत्र विमृत हो जाता है; खट्ठी बनती है और तीव्र पीड़ा की अनुभूति होती है (आत्मगत लक्षण)। चौथी कोटि के तुषारण में ऊतकों की गहराई

तक (यहां तक कि हड्डियों तक) विमृति होती है। तुषारण के व्यक्त होने से पूर्व एक अव्यक्त काल होता है, जिसमें ग्रस्त क्षेत्र ठंडा, विवर्ण और असंवेदी हो जाता है। तुषारण अक्सर खुले (अनावृत) एवं दूरस्थ अंगों (हाथ-पैर की उंगलियों, नाक, गालों और कानों) के चर्म में होता है। तुषारण संप्रेरित करने वाले घटक निम्न हैं: हवा की वर्धित आर्द्रता, तेज हवा, कसे हुए जूते, कुछ ऊतकों कि अवकृत प्रतिरोधिता (पहले कभी तुषारण हो चुका है, या अतिस्वेदन, चोटज क्षति आदि के कारण) और पूरे शरीर की प्रतिरोधिता में कमी (शारीरिक थकावट, स्त्रेस, विटामिनों की कमी, किसी तीव्र या चिरकालिक पैंठी रोग के बाद शरीर की दुर्बलता, प्रचुर रक्त-ह्रास, अल्कोहलिक गरलता आदि के कारण)। शरीर की उन अवस्थाओं में शून्य से ऊपर (5 से 8°C) तापक्रम पर भी तुषारण संभव है।

आर्द्रतायुक्त वातावरण की ठंड में लंबे समय तक रहने पर निःशक्त प्रकार के लोगों में (या विटामिन सी और ए की कमी से, विशेषकर बच्चों तथा किशोरों में) एक विशिष्ट चर्म-क्षति उत्पन्न होती है, जिसे शीतशोथ कहते हैं। ठंड के प्रति वर्धित संवेदिता के कारण इन लोगों में रोग अक्सर पुनरावर्तित होता रहता है (विशेषकर शरद ऋतु में); ग्रीष्म में उपशमन होता है। हाथ-पैर की नीलपर्यंगता विकसित करने की प्रवृत्ति और सीलन भरे ठंडे घर में रहना या काम करना इस रोग के संप्रेरक घटक हैं। ग्रस्त चर्म-क्षेत्रों पर स्पष्ट परिरेखा वाली कुछ मोटी या मुलायम सूजन उत्पन्न होती है; हाथ-पैर की उंगलियों के दूरस्थ खंडों और संधियों पर इसका रंग नीला-लाल होता है, या गालों पर इसका रंग नीलाभ हल्का लाल होता है।

गर्म करने पर खुजली और जलन की अनुभूति बढ़ती है, छूने में अधिक कोमल लगता है। शीतशोथ के विकास के लिये भी जरूरी नहीं है कि तापक्रम 0°C से नीचे ही हो।

धूप के कारण तीव्र या चिरकालिक सौर चर्मशोथ उत्पन्न हो सकता है। सूर्य-किरणों के पूरे स्पेक्ट्रम में मुख्यतः लघुतरंगी और पराबैंगनी किरणें ही चर्मशोथ उत्पन्न करती हैं। जिन्हें लंबे समय तक धूप में रहने की आदत नहीं है और जिनके शरीर में वर्णकों की कमी होती है (विशेषकर हल्के रंग के बालों वाले लोग), उनमें तीव्र सौर चर्मशोथ विकसित हो सकता है। रोग लाली, शोफ और कभी-कभी वस्तिकाओं तथा बुल्लों द्वारा लक्षित होता है, जो विकिरण के एक घंटे बाद उत्पन्न होते हैं। प्रक्रिया के साथ-साथ जलन और पीड़ा की अनुभूति होती है। वृहत चर्म-क्षेत्रों के ग्रस्त होने पर सामान्य संवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, जैसे—सरदर्द, वमन, ज्वर। रोग कुछ दिनों में निशल्कन और वर्णकता के साथ ठीक हो जाता है। चिरकालिक सौर चर्मशोथ में अंतस्यंदन, वर्णकता और चर्म की शुष्कता पायी जाती है; यह उन लोगों को होता है, जिन्हें अपनी जीविका के कारण लंबे समय तक धूप में रहना पड़ता है, जैसे मछुवों, समुद्री नाविकों, किसानों और भवन-निर्माण के श्रमिकों को।

विभिन्न प्रकार के आयनकारी विकिरण (एक्स-किरणों, अल्फा, बीटा, गामा किरणों, न्युट्रोनों के विकिरण) से तीव्र विकिरणजनित चर्मशोथ अंतर्प्रेरित हो सकता है। रोग-अभिव्यक्ति की कोटि (तीव्रता) विकिरण की खुराक और बेधक-क्षमता पर, अनावृत क्षेत्र के आकार और व्यक्तिगत संवेदिता पर निर्भर करती है।

उपरोक्त घटकों के अनुसार विकिरणजनित तीव्र चर्मशोथ में लालिमा (विशिष्ट बैंगनी या हल्की नीली आभा के साथ) अस्थायी रूप से बालों का झड़ना, रक्तस्फीति और सूजन की पृष्ठभूमि में बुल्लेदार प्रतिक्रिया पायी जाती है; अंतिम स्थिति में प्रक्रिया का अंत चर्म के अपोषण, स्थायी निर्लोमता और दूरकुंभी-विस्फारण के साथ होता है, वर्णकता में एक गड़बड़ी होती है, जिसे

'मोटची' या 'एक्सरे-चर्म' कहते हैं। विमृतिक प्रतिक्रिया होती है, जिसकी अभिव्यक्तियां बुल्लेदार चर्मशोथ की तरह ही होती हैं (ऊतकों की विमृति के साथ); साथ में तीव्र सामान्य (सार्वदैहिक संवृत्तियां भी अवलोकित होती हैं।

'मृदु' एक्स-किरणों और रश्मिसक्रिय द्रव्यों के प्रति चर्म की बहुसंख्य अनावृति से चिरकालिक विकिरणजनित शोथ विकसित होता है। यह विकिरणजनित तीव्र चर्मशोथ से भी विकसित हो सकता है। यह प्रक्रिया शबलित चर्म (शबलचर्मता) द्वारा लंछित होती है। चर्म पतला और शुष्क हो जाता है, प्रत्यास्थता में कमी आती है; दूरकुंभीविस्फारण, अतिवर्णकता और वर्णकहीन क्षेत्र, नख-कुपोषण और खुजली पायी जाती है। चिरकालिक विकिरणजनित चर्म-क्षतियों से पिटिकार्ब, अतिश्रृंगनता और कीलक संप्रेरित होते हैं, जिनका दुर्दम अवजनन हो सकता है।

निलंबित विकिरणजनित चर्मशोथ (जिनमें निलंबित विकिरणजनित व्रण और विकिरणजनित कर्कार्ब पर विशेष ध्यान देना चाहिये) कुटाली विकिरणजनित चर्मशोथ के स्थल पर विकसित हो सकते हैं।

सरल संसर्गज चर्मशोथ प्रेरित करने वाले रसायनिक घटकों में कड़े अम्लों, क्षारों, क्षारीय धातुओं के लवणों, खनिज अम्लों, रसायनिक युद्ध में प्रयुक्त द्रव्यों तथा अनेक अन्य द्रव्यों की गणना होती है। रसायनिक उद्योगों के विकास के साथ-साथ चर्मशोथ उत्पन्न करने वाले रसायनिक द्रव्यों की संख्या भी दिन ब दिन बढ़ती जा रही है। उपरोक्त रसायनों के सांद्रित घोल अवश्यंभावी क्षोभक हैं और किसी भी आदमी में चर्मशोथ अंतर्प्रेरित कर सकते हैं। इस तरह के चर्मशोथ हठात उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रकृति तीव्र होती है; अक्सर वे विमृतिक प्रवाह ग्रहण करते हैं (अर्थात् ग्रस्त क्षेत्र में विमृति शुरू हो जाती है)। खट्ठी पड़ती है, जिसके गिरने पर व्रण बनता है। इन द्रव्यों के तनु घोलों की दीर्घकालीन अभिक्रिया से चिरकालिक चर्मशोथ उत्पन्न हो सकता है, जिसमें अपशल्कन होता है, त्वचा शुष्क हो जाती है, कभी-कभी पीड़ाजनक विदार भी बनते हैं।

बच्चों में रसायनिक चर्मशोथ उनके नहाने के पानी में निष्पैठक द्रव्य की सांद्रता अधिक होने से विकसित हो सकता है।

सरल संसर्गज चर्मशोथ उत्पन्न करने वाले जीवलोचनी घटकों में कई पादपों का नाम गिनाया जा सकता है, जैसे—श्वेत डिक्टामीन, पार्सनिप, प्रिमरोज, काकपदी, काजू परिवार के पौधे तथा लाल लकड़ी की कुछ जातियां (जिससे फर्नीचर उद्योग के श्रमिक ग्रस्त हो जाते हैं)। इन्हें तृणचर्मशोथ (तृणज चर्मशोथ) कहते हैं। रोग ओस भरी घास पर चलने, हरे-भरे मैदान में लेटने (विशेषकर तालाब में नहाने के बाद), कटनी के समय विकसित हो सकता है। इस तरह के चर्मशोथ एक साथ कई लोगों को हो जा सकता है, जैसे—गर्मियों में बच्चों के विश्राम-शिविरों में। ये चर्म के उसी क्षेत्र में होते हैं, जो पौधे के साथ स्पर्श में आते हैं (हाथ, पैर, पेट, जांघ और घुटनों के चर्म पर)। सीरमी अंतर्द्रव्य वाले बुल्ले और ललामी विकसित होती है। बुल्ले सप्ताह भर में अपचोषित हो जाते हैं और सिर्फ वर्णकता रह जाती है। पाव्लोव की धारणा है कि पौधों में उपस्थित ईथर-तेल और क्लोरोफिल और साथ ही प्रकाशसंवेदक प्रभाव तृणज चर्मशोथ के विकास में निश्चित भूमिका निभाते हैं।

प्रिमरोज द्वारा प्रेरित तृणज चर्मशोथ सबसे सामान्य रूप है; इसमें परोर्जिक प्रभाव पाया जाता है। इस पौधे में उपस्थित परोर्जक द्रव्य अभी तक अज्ञात है, लेकिन इसके गुण पौधे के सूख जाने पर भी सुरक्षित रहते हैं। रोग पौधे के साथ स्पर्श होने के कुछ घंटों या कुछ दिनों बाद विकसित होता है। स्पर्श के क्षेत्र में (अक्सर हाथों में) चमकदार शोफित ललामी प्रकट होती है और पड़ो-

सी क्षेत्रों पर पित्तिक (और कभी-कभी सूक्ष्मवस्तिकीय) स्फोट उत्पन्न होते हैं, जो अक्सर प्रतिरक्तिल होते हैं (यह प्रबाहु, बाँह, चेहरे आदि पर होता है)। रोगी खुजली और जलन की अनुभूति से परेशान रहता है। उष्णकटिबंधीय देशों में एक पौधा (Excoeraria agilloche) होता है, जिससे स्पर्श के बाद कुछ मिनटों में ही चर्मशोथ शुरू हो जाता है; ललामिक धब्बे और पित्तियां उत्पन्न हो जाती हैं; ये संगम कर के विस्तृत आक्रांति-क्षेत्र बना लेती हैं। चेहरे की आक्रांति में शोफ अधिक स्पष्ट होता है। प्रक्रिया से आँख की युतिका और पुतली भी ग्रस्त हो जा सकती है, जिससे दृष्टि-हानि या यहां तक कि पूर्ण अंधापन भी हो जा सकता है।

विभिन्न घूओं (कैटरपिलर्स) के साथ स्पर्श से घूआजनित चर्मशोथ उत्पन्न हो सकता है; इसका कारण है – उनकी ग्रंथिक कोशिकाओं से विशेष द्रव्यों का स्राव। चर्मशोथ स्पर्श के कुछ मिनटों बाद ही शुरू हो जाता है: एक शोफित गुलाबी पित्तिक रेखा बन जाती है, जो घूए के रेंगने के मार्ग पर होती है। खुजलाने पर घूए के रोएं चर्म के अन्य क्षेत्रों पर स्थानांतरित हो जाते हैं और वहां ललामी तथा पित्ती उत्पन्न करते हैं।

चिकित्सा. सरल संसर्गज चर्मशोथ की चिकित्सा के उपाय शोथी संवृत्ति की तीव्रता पर निर्भर करते हैं। हल्की रक्तस्फीति की स्थिति में पाउडर और कोर्टिकोस्टेरोइड-मलहमों से काम चल जा सकता है। स्पष्ट तथा अधिक रक्तस्फीति और शोफ की स्थिति में पहले शेक लोशन, फिर कोर्टिकोस्टेरोइड मलहम प्रयुक्त होते हैं। फोड़ा होने पर पहले इर्द-गिर्द की त्वचा को 70 प्रतिशत सांद्र ईथर अल्कोहल और 1 प्रतिशत बोरिक अम्ल के घोल से साफ करते हैं, फिर फोड़े को पंचर कर के ग्रस्त क्षेत्र पर कास्तेलानी का पेंट या अनीलीन रंजकों के जलीय अल्कोहलिक घोल से लेपते हैं। यह सहवर्ती द्वितीयक पैठन की स्थिति में भी अच्छा प्रभाव डालता है।

चिरकालिक चर्मशोथों की चिकित्सा ऊष्ण स्नान तथा मृदुकारी मलहमों (डिग्राखीलीन-मलहम, 2-3 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल से युक्त मलहम), कोर्टिकोस्टेरोइड और इसके बाद केराटोएलास्टिक (नाफ्थालेन, टार से युक्त) मलहमों के उपयोग से होती है।

प्रथम कोटि की झुलसन की चिकित्सा कोर्टिकोस्टेरोइड-मलहमों से होती है, लेकिन इससे पहले पीड़ा कम करने के लिये 70 प्रतिशत एथिल अल्कोहल और 1 प्रतिशत बोरिक अम्ल से तर रूई या गजी झुलसन की सतह पर लेपते हैं। द्वितीय और तृतीय कोटि की झुलसन से ग्रस्त चर्म को हाइड्रोजन पेरोक्साइड से धोते हैं, फोड़े का ऊपरी भाग काट कर के निष्पैठक घोल का परिधान (ड्रेसिंग) लगाते हैं (कुछ दिनों के लिये)। तीव्र शोथी संवृत्तियों के उपशमन होने के बाद प्रतिजीवकों के साथ कोर्टिकोस्टेरोइड मलहम (लोरिंडेन C, डेर्माजोलून, हिग्रोक्सीजोन) विश्नेव्स्की का मलहम, 5 प्रतिशत सुल्फानीलामीड या 5 प्रतिशत बोरिक अम्ल-नाफ्थालान से युक्त मलहम प्रलिखित किये जाते हैं।

द्वितीय-तृतीय कोटियों की झुलसन में प्रतिजीवक कोकी पैठन रोकने के लिये प्रलिखित किये जाते हैं। सभी कोटियों की विस्तृत झुलसन, चतुर्थ कोटि की झुलसन और साथ ही तिसरी व चौथी कोटि के तुषारण की चिकित्सा करोर्जक (सर्जन) द्वारा संकेतों के अनुसार की जाती है।

तीव्र सौर चर्मशोथ में बुल्लों को पंचर करने के बाद ग्रस्त क्षेत्रों पर उन्ना (Unna) का ठंड किया हुआ क्रीम या शेक लोशन लेपा जाता है। मदुकारी या कोर्टिकोस्टेरोइड के मलहम चिरकालिक सौर चर्मशोथ में प्रलिखित किये जाते हैं। प्रकाश से रक्षा करने वाले क्रीम (जैसे क्वीनीन सालोल, मेथिलउरासिल या पैरा-अमीनोबेंजोइक अम्ल से युक्त क्रीम) सौर चर्मशोथ से बचने के लिये प्रयुक्त होता है (धूप के प्रति अतिसंवेदी लोगों के लिये इसका उपयोग विशेष वांछनीय है)

विकिरणजनित तीव्र रोगों की चिकित्सा विशेष आवासीय तल्पालयों में होती है (विशेषकर जहां रक्तलोचनी रोगों का इलाज होता है)। ऐसे केसों में चिकित्सा के प्रमुख साधन हैं: स्फूर्तिदायक उपाय (रक्ताधान, जीवलोचनी स्फूर्तिदायक, सेरा, रक्त-प्लाज्मा आदि), प्रोटीनों से समृद्ध आहार और विटामिन-थेरापी। विकिरणजनित चर्म-क्षतियों की चिकित्सा उनकी तीव्रता पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, विकिरणजनित प्रारंभिक चर्म-प्रतिक्रिया और निर्लोमता में बाह्य चिकित्सा का प्रयोग नहीं होता। विकिरणजनित ललामिक चर्मशोथ में एंटीशोथी लोशन, पेस्ट और मलहम (जिनमें कोर्टिकोस्टेरोइड भी आते हैं) प्रलिखित किये जाते हैं। विकिरणजनित बुल्लेदार चर्मशोथ इसी तरह से ठीक किया जाता है, लेकिन पहले बुल्ले का अंतर्द्रव्य निकाल दिया जाता है। कैल्सियम और प्रतिहिस्टामिनिक के प्रसाधन मुखमार्ग से दिये जाते हैं। सहवर्ती पूयकारी पैठन में निष्पैठक मलहम और प्रतिजीवक प्रयुक्त होते हैं। विकिरणजनित चिरकालिक चर्मशोथ में केराटिन-लयकारी द्रव्य की अल्प मात्रा से युक्त मृदुकारी मलहम व क्रीम, और स्टेरोइड-प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं। पिटिकार्ब और कीलक पारतापीय स्कंदन से दूर किये जाते हैं।

संसर्गज चर्मशोथों की चिकित्सा के उपरोक्त सिद्धांत रसायन द्रव्यों से उत्पन्न चर्मशोथों की चिकित्सा में भी लागू होते हैं; फर्क इतना ही है कि पहले रसायनिक क्षोभक का निराकरण करने का प्रयत्न करना चाहिये (जैसे ही वह त्वचा को स्पर्श करे)। इसके लिये चर्म के तदनुरूप क्षेत्र को नल के पानी की धार में रखना चाहिये।

पौधों से प्रेरित चर्मशोथ में फफोलों (बुल्लों: फोड़ों) को पंचर कर के उनके शिखरों पर अनीलीन रंजकों का 2 प्रतिशत सांद्र घोल लेपा जाता है।

अम्हौरी (पर्याय: प्रस्वेदिका) पसीना और छोटे बच्चों को होता है, विशेषकर उनको, जो अतिपोषित होते हैं या रिसालु पारश्लेषण से ग्रस्त होते हैं। बाह्य तापक्रम उच्च होने पर शरीर के अतितापन या तीव्र पैठन से तेज बुखार के कारण स्वेदन तीव्र और वर्धित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप यह रोग होता है। अम्हौरी विभिन्न या ग्रुपों में उत्पन्न पिटिकाओं या वस्तिकाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसके निम्न रूप हैं: (1) स्वच्छ अम्हौरी; इसमें रामादाने के आकार की बहुसंख्य वस्तिकाएं विशेषकर धड़ पर स्फुटित होती हैं, जिनका अंतर्द्रव्य स्वच्छ होता है; परिसर में कोई अतिरक्तिन वलय नहीं होता, कोई खुजली भी नहीं होती। (2) श्वेत अम्हौरी पिटिकाओं के शीर्षों पर श्वेत पूयिक पीपिकाओं द्वारा लंछित होती है; यह रूप अक्सर लाल अम्हौरी में विकसित हो जाता है, जब सहवर्ती पूयकारी पैठन और चर्म पर स्वेद के मसृणनकारी प्रभाव के फलस्वरूप पीपिकाएं शोथी लाल रंग ग्रहण कर लेती हैं; जब ये क्षतियां चर्म-पुटकों में होती हैं, तब बच्चा खुजली से बहुत परेशान होता है। (3) पीत अम्हौरी ऐसी अवस्था है, जिसमें कौकी पैठन विकसित हो कर पीली अंतर-अधिचर्म पीपिकाएं बनाने लगता है।

चिकित्सा. बाह्य चिकित्सा के रूप में बोरिक या सैलीसीलिक अम्ल का 1 प्रतिशतीय घोल 40 प्रतिशतीय एथिल अल्कोहल या अलीबर के घोल में बना कर लेपते है और पाउडर छिड़कते हैं, जिसमें 1-2 प्रतिशत बोरिक अम्ल या 1 प्रतिशत विओफोर्म (क्लिओक्वीनोल) और नेओमीसिन होता है। ओलेटेट्रिन, टेट्रासिक्लीन तथा अन्य प्रतिजीवक बच्चे की उम्र और भार के अनुसार प्रलिखित किये जाते हैं, ताकि द्वितीयक पिओकोकी पैठन दबाया जा सके। मुखमार्ग से बेलोइड और बेलास्पोन देने से स्वेदन कम हो जाता है।

बच्चे को अतितापन और अतिस्वेदन से बचाने के उपाय अम्हौरी के विकास को रोकने में सहायक होते हैं।

परोर्जिक संसर्गज चर्मशोथ

परोर्जिक चर्मशोथ उन रोगियों में होता है, जिनमें किसी विशिष्ट द्रव्य (परोर्जक) के प्रति वर्धित संवेदिता पायी जाती है। यह अतिसंवेदिता जन्मजात भी हो सकती है; ऐसी स्थिति में इस अवस्था को विमेल (विलक्षण मेल) कहते हैं (जैसे अंडे, नीबू जाति के फलों, स्ट्रा-बेरी आदि के साथ)। वर्धित संवेदिता अधिकांशतः परोर्जक के साथ बारंबार संसर्ग के फलस्वरूप विकसित हो जाती है, जिससे शरीर का एकसंयोजी संवेदीकरण होता है। ऐसे संवेदीकरण के पीछे मुख्य कारण यह है कि अधिचार्म कोशिकाओं में एंटीजन-एंटीकाय संकुल बनने की परोर्जिक प्रतिक्रिया विलंबित हो जाती है। इस प्रतिक्रिया के प्रकट होने में शरीर की सामान्य अवस्था (विशेषकर नार्विक एवं अंतर्स्रावी तंत्रों की अवस्था) अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है।

परोर्जिक चर्मशोथ उत्पन्न करने वाले द्रव्यों की संख्या बहुत बड़ी है और उद्योगों (विशेषकर रसायनिक उद्योगों) के विकास के साथ-साथ निरंतर बढ़ती ही जा रही है। उदाहरणार्थ, रसायनिक द्रव्य (क्रोमियम और निकेल के लवण, कृत्रिम रेजिन), रंग या रोगन (उर्सोल), कुछ पौधे और फूल परोर्जक हो सकते हैं। विभिन्न दवाएं भी परोर्जकों का बहुत बड़ा ग्रुप बनाती हैं, जिनमें निम्न के नाम गिनाये जा सकते हैं: पेनीसिलीन, स्त्रेप्तोमीसिन, एरीथ्रोमीसिन, निस्टाटिन, ग्रीजेग्रोफुलविन, सिंथोमीसिन और सुल्फानीलामीड के इमल्शन, सुल्फासिल-सोडियम, आसेटारसोल, प्रोकेन (प्रोकेइन) हाइड्रोक्लोराइड, अमीदोपीरीन, मेथेनआमीन, फोर्मालिन, पारद-प्रसाधन, रेसोर्सीनोल सैलीसीलिक अम्ल, प्सोरिआजिन तथा बाह्य प्रयोग की अनेक अन्य दवाएं।

यद्यपि परोर्जक (परोर्जनकारी द्रव्य) चर्म के सीमित क्षेत्र के संसर्ग में आते हैं, संवेदीकरण पूरे शरीर का हो जाता है। शुरू में एकसंयोजी संवेदीकरण, अर्थात् किसी एक द्रव्य के प्रति संवेदिता का विकास होता है। फिर भी, परोर्जिक चर्मशोथों के पुनरावर्तन में ग्रुपगत, या कभी-कभी बहुसंयोजी संवेदीकरण भी विकसित हो जा सकता है, जो परोर्जिक चर्मशोथ के दिनाइ में संक्रमण का एक लक्षण है।

सरल संसर्गज चर्मशोथ की लंछक तल्पिक अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त, परोर्जिक चर्मशोथ के रोगियों में दिनाइ के विशिष्ट लक्षण भी अवलोकित होते हैं, लेकिन वे कम स्पष्ट होते हैं (जैसे वस्तिकायन, रिसाव, पुनरावर्तन की प्रवृत्ति)।

संसर्गज परोर्जिक चर्मशोथ में ललामी, सूजन, और पिटिकीय एवं वस्तिकीय क्षतियां उन क्षेत्रों पर होती हैं, जो परोर्जक के संपर्क में आती हैं (अक्सर हथेली के पीछे, चेहरे, गालों और गरदन पर, कभी-कभी पैरों, प्रबाहुओं और बाँहों पर भी), लेकिन कुछ रोगियों में प्रक्रिया चर्म के उन क्षेत्रों पर भी फैल जाती है, जो वस्त्र से ढके होते हैं (चित्र 19)। परोर्जक के साथ बारंबार संपर्क के कारण परोर्जिक चर्मशोथ का दिनाई में संक्रमण सरल हो जाता है। दिनाइ और परोर्जिक चर्मशोथ का प्रमुख विभेदक लक्षण यह है कि परोर्जिक चर्मशोथ हेतुलोचनी घटक (परोर्जक) को हटा लेने पर कुछ समय बाद स्वतः ठीक होने लगता है; परोर्जक की पहचान धनात्मक चर्म-परीक्षण से होती है (दे. वृत्तिज चर्म-रोगों का प्रकरण)।

चिकित्सा. पहले परोर्जन के निमित्त कारण की पहचान कर के उसे दूर करना चाहिये। स्फोट की रूपलोचनी विशेषताओं के अनुसार बाह्य एंटीशोथी चिकित्सा के साथ-साथ अनिवार्य रूप से अवसंवेदीकारी चिकित्सा के लिये प्रशामक, प्रतिहिस्टामीनिक, स्टेरोइड हर्मोन और विटामिन भी देने चाहिये। इसीलिये परोर्जिक चर्मशोथ की चिकित्सा उन्हीं सिद्धांतों के अनुसार नियोजित की

चित्र 19. चेहरे का तीव्र चर्मशोथ

जाती है, जिनके अनुसार दिनाइ की चिकित्सा (दे. तदनुरूप प्रकरण), लेकिन कुछ भी करने से पहले उद्दीपक एवं संवेदीकारी घटकों के प्रभाव को दूर किया जाता है।

चर्मगरण (चर्मगरलता)

चर्मगरण (चर्मगरलता) या गरण-परोर्जिक चर्मशोथ चर्म का (और कभी-कभी श्लेष्मल झिल्ली का) तीव्र शोथ है, जो सॉसनली अथवा ग्रासनली के सहारे अभिक्रिया करने वाले या शिरा व पेशी में अथवा चर्म के नीचे आघ्रानित किये जाने वाले क्षोभक द्वारा उत्पन्न होता है। ये अक्सर औषधज चर्मगरलता के केस हैं।

औषधज चर्मगरलता दवाओं के संवेदीकारी प्रभाव की अभिव्यक्ति है। विभिन्न अनुपातों में परोर्जिक एवं गारक घटकों का मेल ही इस रोग के गदजनन का आधार है, वही चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों, नार्विक एवं कुंभिक तंत्रों और आंतर अंगों में क्षतियां उत्पन्न करता है, जो औषधज रोगों के लिये विशिष्ट होती हैं। औषधज चर्मगरलता किसी दवा के दीर्घकालीन प्रयोग से भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ रोगियों में यह एक परापरोर्जिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे केसों में पूर्ववर्ती रोग (रूमैटिज्म, गलशुंडी, अधिचर्मतृणत्व आदि) शरीर को दवा के प्रति असहिष्णुता के लिये तैयार करते हैं। कुछ रोगियों में औषधज चर्मगरलता औषधीय विमेल के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। परोर्जिक चर्मशोथ में बतायी गयी दवाओं के अतिरिक्त निम्न

औषधियां भी परोर्जिक गुण रखती हैं: ख्लोरोटेट्रासिक्लीन, ख्लोरांफेनीकोल, आयडीन के प्रसाधन, जैव आर्सेनिक के प्रसाधन (नेओ-आर्सफेनामीन), सेरा की टीकाएं, विटामिन B_1, B_6 और B_{12}, ख्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड, एंटीपीरीन, ACTH, आंगिओट्रोफीन, ख्लोरोक्वीन फोस्फेट, ग्विनगामीन (ख्लोरोक्वीन डाइफोस्फेट या डीफोस्फात), आदि। प्रतिजीवकों, सुल्फोनीलामीदों और क्वीनीन (कुनैन) के यौगिकों में परोर्जिक गुण विशेष स्पष्ट होते हैं।

चर्म तथा अन्य ऊतकों की कोशिकाओं में प्रविष्ट होने के बाद परोर्जनकारी द्रव्य कार्यात्मक सीतोप्लाज्मिक (साइटोप्लाज्मिक) संरचनाओं (नुक्लेओप्रोटीनों, सूत्रलव) के साथ संयुक्त हो जाता है, फिर रक्त-प्लाज्मा में प्रवेश करता है। चर्म एवं अन्य अंगों की आक्रांति दवा द्वारा खमीरी तंत्र के दमन, ऊतकों व कुंभियों की गारक क्षतियों (विशेषकर अत्यधिक बड़ी खुराक के कारण) और शरीर की प्रतिकारिता में परिवर्तन के फलस्वरूप होती है।

औषधज चर्मगरलता का तल्पिक चित्र ललामिक, पिटिकीय, वस्तिकीय या पिटिका-वस्तिकीय स्फोटों द्वारा लंछित होता है। चर्म तथा श्लेष्मल झिल्लियों पर विसरित पिटिकीय या वस्तिकीय (बुल्लानुमा) स्फोट अक्सर पाये जाते हैं। एक ही दवा भिन्न लोगों में चर्मगरलता की भिन्न रूपलोचनी अभिव्यक्ति उत्पन्न कर सकती है।

दूसरी ओर, कुछ दवाएं ऐसे तल्पिक चित्र उत्पन्न करती हैं, जो सिर्फ उन्हीं के लिये विशिष्ट होती हैं। आयडीन या ब्रोमीन के लवणों का दवा के रूप में प्रयोग करने से जो चर्मगरलता उत्पन्न होती है, वह मुंहासा-सदृश स्फोटों (आयडीन या ब्रोमीन जनित मुंहासा) के गंठिक, ग्रंथिचर्मता (आयडीनचर्मता) द्वारा लंछित होती है; इसमें त्वचा से उभरे हुए मुलायम रसाल चकत्ते उत्पन्न होते हैं, जो पूयिक खठ्ठियों से ढके होते हैं। खठ्ठी हटाने पर एक पूयस्रावी अंतर्स्यंद की कनपू सतह दिखती है। सुल्फोनामीदों द्वारा अंतर्प्रेरित चर्मगरलता में कुमुदनी की आभा वाले ललामिक लाल-भूरे अधिकेंद्र विकसित होते हैं, जो गोलित परिरेखाओं से परिसीमित होते हैं। यह चर्मगरलता सदा चर्म के एक ही स्थल पर उत्पन्न होती है (सुल्फोनामीद दवा देने के कुछ घंटों बाद) और गायब होते वक्त वहां एक सलेटी-भूरी वर्णकता छोड़ जाती है, जो हर पुनरावर्तन के साथ तीव्र होती जाती है।

कभी-कभी चकत्तों पर बुल्ले भी बन जाते हैं; सुल्फोनामीद-जनित ललामी के प्रिय स्थल हाथ (हस्तपुच्छ), होठ, मुख-श्लेष्मला और जननेंद्रिय का क्षेत्र है।

निम्न सामान्य (सार्वदैहिक) लक्षण भी पाये जा सकते हैं: नर्वतंत्र की कार्यात्मक गड़बड़ियां (चिड़चिड़ापन, जिसके बाद म्लानि, अनिद्रा, रागात्मक अस्थिरता आदि होती हैं), ज्वर (कुछ रोगियों में), जिसके साथ सामान्य अस्वस्थता और क्लांति अवलोकित होती है, अस्थायी संधि वेदना (जोड़ों में दर्द), हृत्कुंभिक तंत्र के ग्रस्त होने के लक्षण (इसमें नन्ही कुंभियां भी ग्रस्त हो जाती हैं, जिससे रक्तस्रावी स्थिति विकसित होती है) यकृत और वृक्कों के ग्रस्त होने के लक्षण। आत्मगत लक्षण कुछ केसों में खुजली, जलन, ग्रस्त चर्म में तनाव और कोमलता की अनुभूति के रूप में होते हैं।

यदि परोर्जनकारी दवा देना ठीक समय पर रोक दिया जाये, तो औषधज चर्मगरलता अक्सर अल्प काल में स्वतः ठीक हो जाती है। हृत्कुंभिक तंत्र और आंतर अंगों के ग्रस्त होने पर भविष्यवाणी अधिक प्रतिकूल हो सकती है।

कुछ केसों में औषधज चर्मगरलता की अभिव्यक्ति चौरस लाल शैवाक की तरह हो सकती है, कुछ में—रिसालु बहुरूप ललामी, दिनाइ, लाल बुसन आदि की तरह।

औषधज चर्मगरलता में आंतर अंगों, नर्वतंत्र और कुंभियों के ग्रस्त होने के लक्षणों की उपस्थिति विभेदक निदान के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। दवाओं की हेतुलोचनी भूमिका परोर्जिक परीक्षणों (चर्म-परीक्षण, श्वेतकोशिकीय अभिलुंदन की जाँच, बाजोफिलिक अपकणीकरण की जाँच) द्वारा विश्वसनीयता के साथ ज्ञात की जा सकती है। सुल्फोनामीद के संदेह वाले कुछ केसों में रोगी को सुल्फोनामीद की जो दवा अक्सर दी जाती थी, उसका 0.15-0.3 ग्राम ऐसी अवधि में दी जाती है, जिसमें रोगी और कोई संदेहजनक द्रव्य नही ग्रहण करता हो (उकसाने की विधि)। यदि दवा का चयन सही होगा, तो प्रक्रिया उग्र हो जायेगी। एंटीपीरीन और बार्बीतुरात के साथ भी ऐसा ही परीक्षण किया जाता है।

चिकित्सा निमित्त कारण को दूर करने या रोगकारी दवा से परहेज कराने पर आधारित है। इसके बाद अवसंवेदीकारी चिकित्सा दी जाती है, एंटीहिस्टामिनिक, विटामिन सी, बी-संकुल के विटामिन, रोटोजीड. डीउरेटिक (थेओब्रोमीन और सोडियम सैलीसिलेट, हाइड्रोक्लोरोथिआजीड, फूरोसेमीद, मुलेइन डिकोक्शन) और विरेचक दवाएं प्रलिखित की जाती हैं। प्रतिशोथी प्रभाव डालने वाले, खुजली तथा जलन से आराम दिलाने वाले बाह्य प्रसाधन (पाउडर, जलीय एवं तैलीय शेक लोशन) दिये जाते हैं।

लिएल (Lyell) द्वारा वर्णित गरण-परोर्जिक बुल्लेदार अधिचार्म विमृतिलय औषधज गरणचर्मता का एक विशिष्ट रूप है। चर्म तथा श्लेष्मल झिल्लियों पर पहले तीव्र रूप से (और हठात) भूराभ-लाल अधिकेंद्र उत्पन्न होते हैं, फिर उनकी पृष्ठभूमि में लस्त बुल्ले बनते हैं। जब बुल्ला फटता है और सतही अधिचार्म परत उधड़ जाती है, विस्तृत अपरदित एवं रिसालु सतह दिखती है। निकोल्स्की-लक्षण धनात्मक होता है। रोगी की सामान्य हालत गंभीर चिंताजनक होती है। निम्न लक्षण पाये जाते हैं: सूपनजनित ज्वर (39-40°C), हृदय के कार्य में गड़बड़ियां, न्युट्रोफीलिया, वर्धित ESR और मूत्र में लाल रक्त-कोशिकाओं, प्रोटीनों और कास्ट की उपस्थिति अवलोकित होती है। इस अवस्था को निम्न से विभेदित करना चाहिये: अपशल्की चर्मशोथ, सगर्भतागरण, तीव्र बुदबुदिया, बहुरूप रिसालु ललामी के तीव्र रूपों, और स्टीवेंस-जोंसन के सिंड्रोम से (अंतिम दे. नीचे)।

चिकित्सा में चर्मगरलता-थेरापी के सिद्धांतों का अनुसरण करना चाहिये (दे. ऊपर)। कई केसों में स्टेरोइड हर्मोनों के बिना लाभ नहीं होता। इसके अतिरिक्त, प्रचुर पेय, सोडियम हाइपोसल्फाइट के 30 प्रतिशत सान्द्र घोल के अंतर्शिरीय आधान (एक खुराक में 2-10 मिलिलीटर) और स्टेरोइडक्रीमों के बाह्य प्रयोग की सलाह दी जाती है।

दिनाइ (दद्रु)

सामान्य सूचनाएं

दिनाइ (ग्रीक 'एक्जेमा'–स्फोट) अधिकांशतः तीव्र, विरलतः चिरकालिक और पुनरावर्ती चर्म-रोग है; यह सर्वत्र और सभी उम्र के लोगों में पाया जाता है। इसका ग्रीक नाम तीव्र दिनाइ के एक महत्त्वपूर्ण लक्षण की ओर इंगित करता है: बहुसंख्य नन्ही वस्तिकाओं की ग्रुपों में उपस्थिति; वस्तिकाएं जल्द ही फट जाती हैं, उनकी जगह सीरमी कूप (कुएं) बन जाते हैं, त्वचा उबलते पानी की सतह जैसी दिखने लगती है।

'एक्जेमा' शब्द का कई शतियों से उपयोग हो रहा है (लगभग ईसा पूर्व दो शतियों से), जहां इससे शीघ्र विकसित होने वाले विभिन्न प्रकार के चर्मक्लेशों को द्योतित किया जाता था।

सिर्फ 19-वीं शती के पूर्वार्ध में विलान (Willan, 1898), बेटमैन (Bateman, 1813), रेयर (Rayer, 1823) तथा अन्य आयुरकों ने 'एक्जेमा' को एक विशिष्ट रोगलोचनी रूप के लिये प्रयुक्त करना शुरू किया।

दिनाइ के अध्ययन के विभिन्न चरणों पर इसके हेतुलोचन और गदजनन में मुख्य भूमिका नर्व-तंत्र (नर्वजनन का सिद्धांत), अंतस्त्रावी ग्रंथियों, शरीर की परोर्जिक अवस्था (परोर्जिक सिद्धांत), आनुवंशिक घटकों तथा अन्य कारणों की बतायी गयी। यह स्वीकार करना चाहिये कि दिनाइ का हेतुलोचन और यहां तक कि गदजनन भी बहुत जटिल है, हमेशा एक समान नहीं होता और कई मानी में अभी भी अस्पष्ट है।

अब यह माना जाता है कि दद्रुक प्रक्रिया नर्वपरोर्जिक, अंतस्त्रावी, द्रव्य-विनिमय संबंधी तथा बहिर्जनित घटकों के सम्मिलित प्रभाव से विकसित होती है (स्क्रीप्किन, शास्टमेइष्टर तथा अन्य)। बहिर्जनित क्षोभकों में निम्न की गणना होती है: रसायनिक एवं जीवलोचनी कारक, बाक्तेरिक परोर्जक, भौतिक घटक, दवाएं, खाद्य-सामग्रियां, सौंदर्यप्रसाधन (कोस्मेटिक्स) आदि।

रोग के प्रारंभ में परोर्जिक प्रतिकारिता कुछ हद तक एकसंयोजी होती है। आगे चल कर रोगी शरीर गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों ही रूप से असंख्य क्षोभकों तथा परोर्जकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लगता है, जो दिनाइ के लिये लंछक बहुसंयोजी संवेदीकरण विकसित होने का प्रमाण है। दद्रुक प्रतिक्रिया विलंबित परोर्जिक प्रतिक्रिया है, लेकिन कुछ रोगियों में दवाओं (पेनीसिलिन, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, बी-संकुल के विटामिनों) के प्रयोग से द्रुत-विलंबित प्रतिक्रिया भी विकसित हो सकती है।

वर्गीकरण. अभी तक कोई एक, सर्वमान्य वर्गीकरण नहीं है। कुछ वैज्ञानिक (मश्किलेइसन तथा अन्य) दिनाइ को तीव्र, अवतीव्र तथा चिरकालिक रूप में बाँटते हैं और इसके अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र रूपों को भी मान्यता देते हैं, जैसे—वपास्रावी, शैशवी, मसेदार दद्रु। पाव्लोव, शा-पोशनिकोव तथा अन्य वैज्ञानिक वास्तविक, जीवाणुज तथा वृत्तिज दद्रुओं में भेद करते हैं। हमलोग यहां मुख्यतः वास्तविक, जीवाणुज, शैशवी, वपास्रावी तथा वृत्तिज दिनाइ को देखेंगे; इनमें से प्रत्येक रूप तीव्र, अवतीव्र या चिरकालिक हो सकता है। दिनाइ के कतिपय विरल रूपों से भी परिचय करेंगे।

वास्तविक दिनाइ

शुरू में ललामी प्रकट होती है (ललामिक दिनाइ) जिसकी पृष्ठभूमि पर सूक्ष्म वस्तिकाएं (पिन के सर जितनी बड़ी), पिटिकाएं (अधिकांशतः रिसालु) और पीपिकाएं उत्पन्न होती हैं (वस्तिकीय, पिटिकीय-वस्तिकीय, पिटिकीय और पीपिकीय दिनाइ)। अधिकेंद्र के मध्य में स्थित सूक्ष्म वस्तिकाएं फटती हैं, जिनसे सीरमी रिसाव निकल कर पसरना शुरू कर देता है और मसृणित एवं अपशल्की शृंगी परत से युक्त रिसालु क्षेत्र उत्पन्न करता है (गीला दिनाइ)। ध्यान से देखने पर अपरदन के असंख्य बिंदु मिलेंगे, जिनसे सीरमी रिसाव की बूंदें निकलती हैं (सीरमी कूप)।

तल्पिक चित्र स्पष्ट बहुरूपता और शबल (बहुरंगी, बहुविध) स्फोटों द्वारा लंछित होता है। शोथी प्रतिक्रिया के उत्कर्ष-काल में ललामिक धब्बे, सूक्ष्म वस्तिकाएं, पिटिकाएं, पीपिकाएं, और बहुसंख्य खरोंचें एक साथ देखी जा सकती हैं। दद्रुक प्रक्रिया के अतिविशिष्ट लक्षण हैं: वास्तविक एवं मिथ्या (विकासशील) बहुरूपता (अर्थात् ग्रस्त क्षेत्र पर वस्तिकाओं, ललामी, रिसालु पिटि-

काओं, बूंदों के रूप में रिसाव करने वाले नन्हे अपरदन शल्कों, खट्टियों तथा अन्य क्षतियों का एक साथ उपस्थित होना), आक्रांति-क्षेत्र की अवछिन्न (इंटरप्टेड) प्रकृति, ग्रस्त क्षेत्र में भी बीच-बीच में स्वस्थ क्षेत्र की उपस्थिति (द्वीपसमूह जैसी संरचना)। स्फोट सममित होते हैं और हाथ-पैर व धड़ की त्वचा पर फैलने की प्रवृत्ति रखते हैं। रोगी विभिन्न तीव्रताओं की खुजली से परेशान रहते हैं, जो अनिद्रा के साथ-साथ अन्य नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां संप्रेरित करती है। धीरे-धीरे शोथी प्रक्रिया के छूटने पर (जो दद्रुक प्रक्रिया का विशिष्ट लक्षण है) रिसाव की जगह खट्टियों और शल्कों का बनना शुरू हो जाता है, अपशल्कन होता है (खट्टीदार दिनाइ अपशल्की दिनाइ) और द्वितीयक वर्णकीय-कुंभिक या अवर्णकित धब्बे बनते हैं, जो धीरे-धीरे अपचोषित हो जाते है; शुष्क एवं उधड़ते चर्म के क्षेत्र बन सकते हैं, जिसकी शृंगी परत में विदार होते हैं (दरकदार दिनाइ)। प्ररक्षित चिरकालिक दिनाइ में कभी-कभी हथेलियों और तलवों पर घट्टेदार अतिशृंगिक विदारयुक्त ऊतक बन जाते हैं (घट्टेदार दिनाइ)। दिनाइ का प्रवाह सहवर्ती पूयकारी पैठन के कारण अक्सर उग्र हो उठता है। इन केसों में पीपिकाएं और पूयिक खट्टियां बन जाती हैं (इंपेतिग दिनाइ)।

स्पष्ट बहुरूपता के बावजूद भी (जो दिनाइ का विशिष्ट लक्षण है), कभी-कभी किसी एक प्रकार की रूपलोचनी क्षति हावी रह सकती है। ऐसी स्थिति में वास्तविक दिनाइ के ऊपर वर्णित रूपों का निदान संभव हो जाता है। ध्यातव्य है कि तीव्र रिसालु दिनाइ का चिरकालिक रूप में रूपांतरण अक्सर धीरे-धीरे होता है और इसके साथ-साथ ऊतकीय अंतर्स्यंदन का वर्धन और सक्रिय रक्तस्फीति का निष्क्रिय रक्तस्फीति में परिवर्तन अवलोकित होता है। चिरकालिक दद्रुक प्रक्रिया अक्सर उग्र होती रहती है, जिसके साथ सक्रिय रक्तस्फीति, सूक्ष्म वस्तिकाओं तथा रिसाव का पुनरावर्तन और खुजली का तेज होना पाया जाता है।

बच्चों में वास्तविक दिनाइ जीवन के दूसरे या तीसरे महीने शुरू होता है और अस्पष्ट परिरेखाओं वाले ललामिक-शल्की व रिसालु-पिटिकीय स्फोटों तथा सूक्ष्म वस्तिकाओं के रूप में व्यक्त होता है; ये अभिव्यक्तियां हाथों या पैरों और चेहरे पर होती हैं, साथ में तीव्र खुजली भी होती है। फिर भी, बच्चों में दिनाइ वास्तविक, जीवाणुज और वपास्रावी रूपों के मेल द्वारा लंछित होता है। वास्तविक दिनाइ के निम्न रूप ज्ञात हैं।

कंडुक दिनाइ. यह रूप कठोरित तली (जघ्या, आधार-तल) पर बाजरे के आकार के नन्हे पिटिकीय-वस्तिकीय क्षतियों द्वारा लंछित होता है। ये रूपलोचनी क्षतियां न तो फटती हैं, न अपरदन बनाती हैं। आक्रांति-क्षेत्र चेहरे, कोहनियों व घुटनों की आकोंचनी सतहों, जंघामूलीय क्षेत्रों तथा हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर होते हैं। क्षतियां अक्सर पुनरावर्तित होती हैं और रोग चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है। प्ररक्षित प्रवाह, खरोंचों, निष्त्वचन और कोशिकीय अंतर्स्यंदों के संचय के फलस्वरूप ग्रस्त क्षेत्रों पर चर्म रुक्ष, वर्णकित, शुष्क, दरकदार और शैवाकीकृत हो जाता है (लेकिन नार्वचर्मशोथ की तुलना में कम ही)। खुजली के दौर और अनिद्रा के साथ तीव्र नर्वक्लेशिक प्रतिक्रिया इस चर्मक्लेश का बहुत ही विशिष्ट लक्षण है। रोग अक्सर जाड़ों में तेज हो जाता है और गर्मियों में उपशमित होता है। यह रोग मानो वास्तविक दिनाइ और कंडुक दिनाइ के बीच की दशा हो।

बच्चों में कंडुक दिनाइ 4 से 6 महीने की उम्र में होता है (जबकि वपास्रावी और वास्तविक दिनाइ जीवन के प्रथम सप्ताह और प्रथम महीने में शुरू होते हैं)। इसमें स्थायी श्वेत चर्मलेख बनते हैं जो पनपू नर्वतंत्र के अनुकंपी भाग की तानता के हावी होने की दशा को प्रतिबिंबित

करता है। ऊपर वर्णित आक्रांति क्षेत्र बच्चों में अक्सर शोफित, ललामित पृष्ठभूमि पर उत्पन्न होते हैं, साथ में अक्सर ब्रोंखी दमा भी होता है।

अपरसी दिनाइ पिन के सर जितनी नन्ही और छूने में कठोर वस्तिकाओं द्वारा लंछित होता है, जो हाथ-पैर की उंगलियों के पार्श्व में और कभी-कभी हथेलियों और तलवों पर भी उत्पन्न होती हैं। विरलतः वृहत बहुकक्षीय बुल्ले भी पाये जाते हैं। अधिचर्म में स्थित वस्तिकाएं उससे हो कर दिख जाती हैं; वे उबले चावल से मिलती-जुलती होती हैं। रोगी अक्सर तीव्र खुजली से परेशान रहते हैं। वस्तिकाएं फट सकती हैं, जिससे वहां निष्स्वचन होता है, या सूख कर चौरस पीली खट्ठी बना सकती हैं। बाद में स्पष्ट परिसीमित आक्रांति-क्षेत्र बन जाते हैं और उनका रंग बिल्कुल शोथी होता है, जो अपरसी दिनाइ को वास्तविक अपरस से और हथेली के अधिचर्मतृणस से विभेदित करता है (अपरसी अधिचर्मतृणत्व में एपीडेर्मोफीटोन कवकों के मिसेलियम-धागे गोड़ के मेहराब पर स्थित वस्तिकाओं के आवरण पर पाये जाते हैं)।

जीवाणुज दिनाइ

वास्तविक दिनाइ के विपरीत जीवाणुज (घाव के गिर्द स्थित, पराचोटिल) दिनाइ पर्याप्त अच्छी तरह अध्ययन किया जा चुका है। यह अब प्रमाणित माना जाता है कि पिओकोकी उद्भिजों और गदजनक कवकों के (जिनमें खमीर भी आते है) एंटीजनीय गुण चर्म को इन परोर्जकों के प्रति संवेदीकृत करने की क्षमता रखते हैं। स्त्रेप्तो-तथा स्ताफिलोकीनाज, स्त्रेप्तोलीजिन 0 और स्ताफिलोलीजिन की वर्धित विमाप, विशिष्ट एंटीजनों के साथ धनात्मक चर्म-परोर्जिक प्रतिक्रिया और ऊतकीय एंटीजनों के विरुद्ध सीरमी प्रतिकायों का अनुवेदन जीवाणुज दिनाइ के रोगियों में स्त्रेप्तोकोकों और स्ताफिलोकोकों के प्रति संवेदीकरण से युक्त परोर्जिक अवस्था की उपस्थिति सिद्ध करता है। नार्वअंतस्त्रावी गड़बड़ियां और द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया व इमूनलोचनी अवस्था में परिवर्तन जीवाणुज एंटीजनों के प्रति संवेदीकरण के विकास में सहायक होते हैं। हमें बच्चों और बड़ों दोनों में इमूनोजनन-सक्रियता में ह्रास और परोर्जिक अवस्था के तीव्र होने के बीच स्पष्ट निर्भरता ज्ञात करने में सफलता मिली है।

ये कारण ही जीवाणुज दिनाइ में उसके विशिष्ट तलिपक चित्र के विकास के लिये उत्तरदायी हैं, जो दिनाइ के अन्य रूपों से भिन्न होते हैं। जीवाणुज दिनाइ अक्सर गोड़ों, हथेली के पीछे और शिरोवल्क पर असममित प्रक्रिया के रूप में शुरू होते हैं। इसमें विशेष स्पष्ट परिसीमित आक्रांति-क्षेत्र होता है, जिसके परिसर में अक्सर विलगनरत अधिचार्म शृंगी परत के झब्बे होते हैं। रोग में विसरण की अपेक्षाकृत कम स्पष्ट प्रवृत्ति होती है। आक्रांति-क्षेत्र (तीव्र शोथी ललामी, रिसालु पिटिकाओं, सूक्ष्म वस्तिकाओं, पीपिकाओं) की सीमारेखाएं अक्सर टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं और उनकी सतह पर हरिताभ-पीली सीरमी-पूयिक व रक्तिल खट्ठियां तथा अपरदन प्रेक्षित होते हैं।

आक्रांति-क्षेत्र की बिना खट्ठी वाली सतह लाल या रक्तिम लाल होती है, जिससे खून रिसता रहता है। बिंदुल रिसाव (सीरमी या दद्रुक कूप), जो दिनाइ के विशिष्ट लक्षण हैं, यत्र-तत्र देखे जाते हैं। समय-समय पर रोग के उग्र होने से खुजली भी तीव्र होती रहती है।

जीवाणुज दिनाइ अक्सर पीपिकाओं से शुरू होता है, जो गोड़ पर, आपरेशन के बाद बने थूथ के क्षेत्र में, नासूर के गिर्द और कुपोषी व्रण के परिसर में उत्पन्न होती हैं। यह रोग गलत ढंग से प्लास्टर लगाने, घाव के गिर्द त्वचा के टिंचर आयडीन से अपर्याप्त उपचार तथा अन्य घटकों

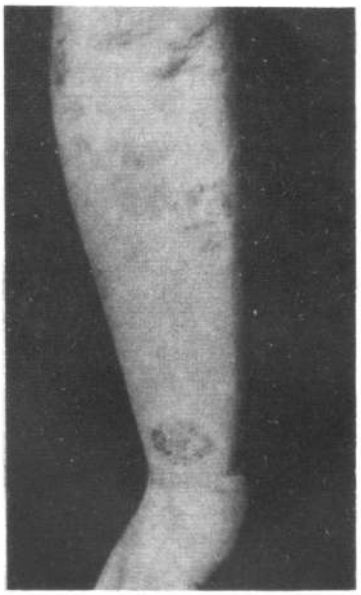

चित्र 20. जीवाणुज दिनाइ

मे भी हो सकता है। इन केसों में जीवाणुज दिनाइ को पराचोटिल या घाव के गिर्द उत्पन्न होने वाला दिनाइ कहते हैं। जीवाणुज दिनाइ के कई रूप हैं।

सिक्कानुमा दिनाइ. यह रूप त्वचा से हल्का उभरे हुए और स्पष्ट परिसीमित नियमित गोल आकृति (व्यास 1-2 सेंटीमीटर या अधिक) द्वारा लंछित होता है। शोफ, ललामी, रिसालु पिटिकाएं और स्पष्ट चूमे वाला रिसाव प्रेक्षित होता है। यह जीवाणुज दिनाइ का एक रूप है। प्रक्रिया धड़ और हाथ-पैरों पर फैलने की प्रवृत्ति रखती है, यद्यपि इसके प्रिय स्थल है – हाथ (हस्तपुच्छ) की पश्च सतहें। रोग पुनरावर्तन की प्रवृत्ति रखता है और चिकित्सा का विरोध करता है।

बच्चों में जीवाणुज दिनाइ के साथ-साथ अक्सर चिरकालिक पैठन के अधिकेंद्र (कर्णशोथ, नासाशोथ, ऊपरी जबड़े का शोथ, चिरकालिक गलशुंडी, युतिकाशोथ, ललाट-कोटर का शोथ) और अन्य स्त्रेप्तोस्ताफिलोकोकी रोग पाये जाते हैं।

उग्रता-काल में द्वितीयक परोर्जिक स्फोटों और बहुरूप जीवाणुक परोर्जिक स्फोटों की प्रायिक उत्पत्ति जीवाणुज दिनाइ के विशेष लक्षण हैं। ये अक्सर शल्कनरत ललामिक धब्बे या पिटिकीय और पिटिकीय-वस्तिकीय स्फोट होते हैं, जिनके साथ तीव्र खुजली होती है। कुछ केसों में (संवेदीकरण वर्धित होने पर) वे वास्तविक दिनाइ में भी परिणत हो सकते हैं, जिसमें शीघ्र फटने वाली असंख्य सूक्ष्म वस्तिकाएं और बूंदों के रूप में चूने वाले बिंदुल अपरदन (सीरमी या दद्रुक रूप) होते हैं।

वारिक्सी दिनाइ. पैरों पर वारिक्सी लक्षणों के संकुल इस रोग के विकास को प्रोत्साहित करते हैं। यह शिरा-विस्फारण (वारिक्सता) के क्षेत्र में वारिक्सी व्रण के गिर्द और कठोरित चर्म के क्षेत्र में होता है। रोग-विकास में चोटज क्षतियों, वारिक्सी व्रणों के इलाज में प्रयुक्त दवाओं के प्रति अतिसंवेदिता और परिधान (ड्रेसिंग) के कारण चर्म के मसृणन का योगदान होता है। नैदानिक चित्र बहुरूप क्षतियों, अधिकेंद्र की स्पष्ट परिसीमा और हल्की खुजली द्वारा लंछित होता

है, जिससे वह जीवाणुज और पराचोटिल रूप की तल्पिक अभिव्यक्तियों से मिलता-जुलता होता है।

उदुंबर-सदृश (सिकोसीफौर्म) दिनाइ. यह रूप उदुंबरक्लेश (दाढ़ी-मूँछ के पूयिक लोमकूपशोथ; सिकोसिस) से ग्रस्त लोगों में होता है, जब वह दद्रुकरण द्वारा क्लिष्ट हो जाता है। शोफित चर्म पर मशिकीय पीपिका विकसित होती है, जिसके मध्य में लोम होता है, और वह समय-समय पर पुनरावर्तित होती रहती है; यह उदुंबरक्लेश का लक्षण है। उदुंबर-सदृश दिनाइ में प्रक्रिया लोम-क्षेत्र से बाहर भी फैल जाती है, दद्रुक कूप बनते हैं, जिनसे रिसाव होता है, तीव्र खुजली होती है। चर्म का शैवाकीकरण हो जाता है और मशिकाओं के प्रिय स्थल हैं: ऊपरी होठ, दाढ़ी, काँख और जघन।

स्त्रियों में चुचुक और स्तन-मंडल पर दिनाइ. लंछक क्षतियां क्रीम-रंग की होती हैं, जिनपर जगह-जगह खट्टियां और खट्ठियों जैसे शल्क होते हैं; उनमें रिसाव और विदार भी होते हैं। प्रक्रिया स्पष्ट परिसीमित होती है और बहुत कुटाली होती है। चुचुकों पर दिनाइ दूध पिलाने वक्त उत्पन्न क्षतियों के कारण या खाज के क्लिष्ट होने के फलस्वरूप विकसित होता है।

वपास्रावी दिनाइ

यह शिरोवल्क, चेहरा, वक्ष और पँखुड़ों के मध्य उत्पन्न होता है। ये ऐसे स्थल हैं जहां अक्सर वपास्राव होता है। वस्तिकायन और रिसाव इन रोगियों में विरल ही होता है। वपास्रावस (तैलीय पीलाभ शल्कों से ढके हुए गोल पीलाभ गुलाबी ललामिक धब्बे) इसका विशिष्ट लक्षण है। शिरोवल्क पर विपुल परतदार पीताभ खट्टियां और शल्क बनते हैं, ग्रस्त क्षेत्र में बाल चमकदार होते हैं और कभी-कभी बंडलों की तरह आपस में चिपक जाते हैं (pityriasis amiantacea), और कानों के पीछे पुटकों में अक्सर सीरमी पूयिक रिसाव पाया जाता है। कुछ केसों में पैरों पर ग्रुपों में मशिकीय पिटिकीय स्फोट हावी हो जाते हैं; जिनमें तेज खुजली होती है (मशिकीय दिनाइ)। रोगी खुजली की शिकायत करता है (कभी-कभी तीव्र खुजली की), जो तल्पिक चित्र से पूर्व शुरू हो सकती है। रोगी पोलीअमीद और फ्लानेल के वस्त्रों के प्रति अतिसंवेदी हो सकता है, इनके साथ स्पर्श के कारण रोग का पुनरावर्तन हो सकता है।

दिनाइ के वर्गीकरण में वपास्रावी दिनाइ के स्थान के बारे में अभी भी मतभेद है। कुछ वैज्ञानिक इसे चिरकालिक वपास्रावी चर्मशोथों से संबंधित करते हैं, कुछ लोग दावा करते हैं कि यह एक विशिष्ट पैठी रोग है, जो विशेष जीवाणुओं (मोरोकोकों; morococci) या स्त्रेप्तोस्ताफिलोकोकों द्वारा उत्पन्न होता है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि इसे चिरकालिक विसरित स्त्रेप्तोचर्मता मानना अधिक उपयुक्त होगा। हमारा विचार है कि इसे वपास्रावी दिनाइ ही कहना ठीक रहेगा, क्योंकि इस नाम में रोग-प्रक्रिया का रूपलोचनी सार प्रतिबिंबित होता है। जहां तक जीवाणु के पैठन का प्रश्न है, तो यह रोगी में एंटीजन की भूमिका निभा सकता है। इस चर्मक्लेश में नार्व-अंतर्सावी तंत्र और शरीर की प्रतिकारिता में गड़बड़ियों की गदजनक भूमिका अब संदेह से परे है। वपास्रावी दिनाइ (उदाहरणार्थ) पयोपा बच्चों में होता है, पर पयोपा-काल और यौनपरिपक्वता-काल के मध्य कभी नहीं होता; वपास्राव की तरह ही यह अक्सर यौनपरिपक्वता-काल के बाद हो सकता है (अतिपुंस्राव और अव-मदस्राव की भूमिका)।

पयोपा-दद्रु

बच्चों में दद्रुक प्रक्रिया अक्सर रिसालु पारश्लेषण की पृष्ठभूमि में होता है, जो अक्सर आनुवंशिक रूप से परिवर्तित इमूनलोचनी प्रतिकारिता के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाता है।

दिनाइ से ग्रस्त अधिकांश बच्चों के माता-पिता या निकट संबंधियों को अतीत में चर्म, श्लेष्मल झिल्लियों या आंतर अंगों में कोई परोर्जन व्यक्त हो चुका होता है। ऐसे तथ्य भी ज्ञात हैं कि यदि माता-पिता में से किसी को (मुख्यतः माँ को) यदि कोई परोर्जिक रोग हुआ रहता है (जैसे ब्रौंकी दमा, परोर्जिक नासाशोथ, दिनाइ, नार्वचर्मशोथ आदि), तो बच्चे के भी ग्रस्त होने की संभावना 40 प्रतिशत होती है, लेकिन यदि माता-पिता दोनों ही ग्रस्त होते हैं, तो बच्चे के बीमार होने की संभावना 50-60 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। रिसालु पारश्लेषण से ग्रस्त बच्चे में अक्सर निम्न रोग हो सकते हैं: अधिकेंद्रिय चिरकालिक पैठन के सुषुप्त अधिकेंद्र, युतिकाशोथ, ब्रौंकी दमा, परागज ज्वर, श्वसन-मार्ग का तीव्र पैठन, शृंगिकाशोथ और जठरांत्र की गड़बड़ियां; जाहटमेइस्टर द्वारा प्रस्तावित अंतिम तथ्यों के अनुसार यकृत और अधोजठर ग्रंथि के कार्यों में भी गड़बड़ी होती है।

दिनाइ से पीड़ित बच्चे अक्सर शरीर की इमूनो-जीवलोचनी प्रतिकारिता में कमी के कारण आहार के प्रति परोर्जन (माँ या गाय के दूध में उपस्थित काजेइन के प्रति) और पैंठी परोर्जिक प्रतिक्रिया भी विकसित कर लेते हैं, जो अक्सर चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रों और दवा एवं अन्य रसायनों के प्रति अतिसंवेदिता द्वारा संप्रेरित होते हैं।

रोग पयोपा-उम्र से ही शुरू होता है। स्फोट चेहरे पर प्रकट होते हैं, फिर शरीर के अन्य क्षेत्रों पर फैल जाते हैं। चेहरे का चर्म लाल हो जाता है और सूज जाता है, उसपर संगमरत रिसालु पिटिकाएं और नन्हीं वस्तिकाएं बड़ी संख्या में उत्पन्न हो जाती हैं। जगह-जगह पर वे घन भूरापन खट्टियों से ढक जाती हैं, जिनके झड़ने के बाद रिसालु अपरदित सतह नजर आती है। घर्षण से दिनाइ के लक्षण नितंबों और जंघामूलीय पुटकों में पाये जा सकते है। ऊपर वर्णित रिसालु अधिकेंद्रों के अतिरिक्त, पयोपा दद्रु से ग्रस्त बच्चे के चेहरे, धड़ और हाथ-पैरों पर चित्तिक वपास्रावी स्फोट (ललामिक-अपशल्की चित्तियां, वपास्रावस) भी हो सकते हैं। इसीलिये अधिकांश केसों में पयोपा-दद्रु दिनाइ के वास्तविक, जीवाणुज और वपास्रावी रूपों के लक्षणों की सम्मिलित उपस्थिति द्वारा लक्षित होता है। बच्चे अक्सर अतिपोषित और शोफित होते हैं, ठीक से सोते नहीं हैं, उद्दीपित मानसिक अवस्था में रहते हैं। पयोपा-दद्रु अक्सर 3 वर्ष की उम्र तक होता है, इसके बाद प्रक्रिया कुटानी विसरित या प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ में परिणत हो जाती है।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म मालपीगी परत में स्पंजक्लेश के अधिकेंद्र की उपस्थिति दिनाइ के तीव्र होने के समय उसका एक विशिष्ट लक्षण है। स्पंजक्लेश के निम्न लक्षण हैं: मुख्यतः काँटल परत में शोफ, इस परत की कोशिकाओं का फटना और अलग होना, ठीक शृंगी परत के नीचे नन्हे और अक्सर बहुलुंडिक कोटरों का विरचन। सुचर्म की पिटिकामय परत में कुंभियों का विस्फारण, उनके गिर्द लसकोशिकीय-ऊतकोशिकीय अंतर्स्यंद और योजक तंतुओं का शोफ होता है। जीवाणुज दिनाइ में अंतर्स्यंद मुख्यतः बहुरूप-नाभिकीय श्वेतकोशिकाओं से बना होता है। कंटलय, पराकेरा-टोटिक शल्कों और खट्टियों का विरचन और सुचर्म का अधिक स्पष्ट अंतर्स्यंद चिरकालिक दिनाइ की लक्षक विशेषताएं हैं।

वपास्रावी दिनाइ में निम्न लक्षण पाये जाते हैं: अधिचर्म का हल्का मोटापन, पराशृंगनता, स्पष्ट कंटलयक्लेश, कणमय परत की अनुपस्थिति, कम स्पष्ट रसधानिक अवजनन और स्पंजक्लेश। सुचर्म में हल्का परिकुंभिक लसकोशिकीय तथा न्युट्रोफीलिक अंतर्स्यंद पाये जाते हैं। अधिचर्म में जहां-तहां मुनरो की सूक्ष्म विद्रधियां देखी जा सकती हैं।

टीका देने पर आक्रांति-क्षेत्र में अवजननरत रिसालु कोशिकाएं अनुवेदित होती हैं (यह इस

चर्मक्लेश मे ग्रस्त बच्चे को छोटी शीतला का टीका लगाने पर दिनाइ के क्लिष्ट होने का परिणाम है ; क्लिष्टता टीका लगाये गये किसी अन्य बच्चे के संपर्क में आने पर भी उत्पन्न. हो सकती है)।

दिनाइ की चिकित्सा

निम्न युक्तियों के संकुल से दिनाइ के रोगी को बहुत लाभ होता है : स्वापन-शब्दाधान द्वारा चिकित्सा, विद्युनिद्रा, प्रशामक, एंटीहिस्टामिनिक प्रसाधनों और (सुषुप्त दद्रुक प्रक्रिया के केस में) कोर्टिकोस्टेरोइड की अल्प खुराकों का प्रयोग। इन युक्तियों को एक साथ उपयोग में लाने से नर्वतंत्र के केंद्रिय हिस्सों और उस प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है, जो परोर्जिक शोथी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है।

अवसंवेदक थेरापी में कैल्सियम के प्रसाधन और सोडियम हाइपोसल्फाइट के साथ-साथ (10 प्रतिशत कैल्सियम क्लोराइड या 30 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट के घोल की 2 से 10 मिलिलीटर मात्रा एक दिन छोड़ कर अंतर्शिरीय मार्ग से आधानित की जाती है ; कुल 20 बार) एंटीहिस्टामिनिक प्रसाधन भी दिये जाते हैं (सुप्रास्टिन का 0.025 ग्राम तीन बार नित्य या उसका 2.5 प्रतिशत सांद्र घोल का 1.0 मिलिलीटर अंतर्चर्म मार्ग से ; मेबहाइड्रोलिन नापाडीसीलेट का 0.1 ग्राम, क्लेमास्टिनफूमेराट का 0.001 ग्राम, डीफेनहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड का 0.05 ग्राम या प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड का 0.025 ग्राम दिन में दो बार दोपहर के बाद और शाम को दिया जाता है)।

मूत्र-रेचक (हाइड्रोक्लोरोथिआजीड, फूरोसेमीड, मुलेइन डिकोक्शन, थेओब्रोमीन और सोडियम सैलीसीलेट) प्रथम 5-6 दिनों तक सुबह को दिया जाता है ताकि ऊतकों का शोफ कम हो जाये। मैग्नेशियम सल्फेट के 25 प्रतिशत सांद्र घोल की अंतर्पेशीय सूई अतितान की प्रवृत्ति वाले लोगों में लाभप्रद होती है (एक दिन बीच देकर 4-6-8 और फिर 10 मिलिलीटर की सूइयां ; कुल 10 से 15 सूइयां)। मैग्नेशियम सल्फेट अवसंवेदक, प्रशामक और अवतानक प्रभाव डालता है, ऊतकों के शोफ और शोथ की संभावना को कम करता है, गुर्दों (वृक्कों) का निस्यंदन-कार्य (छानने का काम) बेहतर बनाता है।

हिस्टाग्लोबूलिन से चिकित्सा भी लाभप्रद होती है। इस प्रसाधन की अंतर्चर्म सूइयां 'नीबू के छिलके की विधि' से बहुत लाभप्रद होती है ; सूइयां 0.5 से 0.1 मिलिलीटर की खुराक के धीरे-धीरे बढ़ाते हुए 0.25-0.4-0.6-1.0 और अंत में 2.0 मिलिलीटर तक की मात्रा में हर दो तीन दिन पर दी जाती है। सूइयां 8 बिंदुओं पर दी जाती हैं (चार सूइयां दायीं बाँह की पाश्र्व सतह पर और चार बायीं बाँह के)। किसी भी एक बिंदु पर 0.25 मिलिलीटर से अधिक की मात्रा नहीं दी जाती।

निम्न प्रशामक औषधियां प्रलिखित की जाती हैं : ब्रोमीन के प्रसाधन, वालेरिआन, लेआनोरस प्रशांतकारी और नर्वशामक दवाएं (एलेनिउम पर्याय क्लोरडिआजेपोक्सीड, ओक्सीलीडिन पर्याय बेंजोक्लीडीन हाइड्रोक्लोराइड, आमीजिल पर्याय बेनाक्टीजीन, डिआजेपाम, टेरालेन पर्याय आलीमेमाजीन, लेवोमेप्रोमाजीन, ओक्साजेपाम, थिओरीडाजीन, आदि)।

यदि प्रतिसंकेत न हों और अन्य साधन अकारगर हों, तो कोर्टिकोस्टेरोइड (प्रेदनीजोलोन मेथिलप्रेदनीजोलोन, डेक्सामेथाजोन, त्रिआमसीनोलोन की एक टिकिया नित्य तीन या चार बार

6 से 8 दिनों तक) दिये जाते हैं, जिससे रोग के तीव्र रूपों में परोर्जिक एवं शोथी प्रावस्थाओं पर प्रभाव डाला जा सके।

शोथी एवं परोर्जिक लक्षणों के उपशमित होने पर खुराक को धीरे-धीरे आधी टिकिया तक घटाया जाता है और दिन में दो या तीन बार दिया जाता है (शुरू में नित्य, फिर एक दिन छोड़ कर)। इसके बाद कोर्टिकोस्टेरोइड रोक दिया जाता है।

कोर्टिकोस्टेरोइडों के साथ-साथ अनोबोलिक स्टेरोइड हर्मोन भी दिये जाते हैं; इनमें निम्न की गणना होती है: मेथांड्रोस्टेनोलोन या नेरोबोलिल, और रेटाबोलिल पर्याय मांड्रोलोन डेकानोआट। इनसे शरीर में प्रोटीन-विनिमय (प्रोटीन-मेटाबोलिज्म) सामान्य होता है और पैठन के विरुद्ध शरीर की प्रतिरोधिता बढ़ती है। जब भी सुसंकेतित हो, विटामिन दिये जाते हैं ($A, B_1, B_2, B_6, B_{12}, B_{15}$, E, K व C, फोलिक, निकोटीनिक, ओरोटिक अम्ल, कैल्सियम पानगामेट और पंटोथेनाट)।

वास्तविक दिनाइ में अंतर्चर्मि सूई द्वारा 5 प्रतिशत विटामिन B_1 (नित्य 1 मिलिलीटर, कुल 20-30 सूइयां) और B_{12} (200-500 मिक्रोग्राम नित्य या एक दिन छोड़ कर) प्रलिखित किये जाते हैं।

वपास्रावी दिनाइ में रीबोफ्लाविन, पीरीडोक्सिन (विटामिन B_6) का (10-50 मिलिग्राम) और विटामिन B_{15} (0.05 ग्राम की खुराकों में) मुखमार्ग से नित्य दो या तीन बार सुसंकेतित होता है।

जीवाणुक दिनाइ में या जब दिनाइ के अन्य रूपों में पूयकारी पैठन विकसित होता है, प्रतिजैवकों से चिकित्सा की जाती है।

स्पष्ट अंतर्स्यंदन और गहरे शैवालीकरण से युक्त कुटाली चिरकालिक दिनाइ में ज्वरकारी दवाएं (पीरोजेनल, प्रोडीजिओजोन) सुसंकेतित होते हैं।

दिनाइ की चिकित्सा में निम्न रोगों का इलाज भी बहुत महत्त्वपूर्ण है: अधिकेंद्रों के रूप में जमे हुए पैठन, अधिचर्मतृणन (जो शरीर का संवेदीकरण करता है), जठरांत्र-मार्ग, यकृत और अग्न्याशय ग्रंथि के रोगों, अन्त्रावी गड़बड़ियों और जोंक (पेट में; कृमिलता) का।

बच्चों में दिनाइ की चिकित्सा का आरंभ आहार-नियमन से होता है, क्योंकि पोषण से संबंधित घटक दिनाइ की उत्पत्ति और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। माँ या गाय के दूध की जगह योगहोर्ट (yoghourt) देते हैं। पेय (द्रव), साधारण नमक और कार्बोहाइड्रेट की मात्रा में 10-20 प्रतिशत की कमी करते हैं, क्योंकि ये ऊतकों में पानी रोक कर रखते हैं, जिससे चर्म की शोथी प्रतिक्रिया का स्तर ऊँचा हो जाता है। पयोपा बच्चों के लिये सही कृत्रिम पोषण और दूध पिलाने वाली माँ के लिये नियमित आहार महत्त्वपूर्ण है।

युक्तिसंगत पोषण और आहार बच्चों और बड़ों दोनों में दिनाइ की सफल चिकित्सा के लिये महत्त्वपूर्ण है। निस्सारक द्रव्यों, नीबू जाति के फल, छत्रक, मांस के सूप, मसालेदार भोजन पर प्रतिबंध या पूरा परहेज करना चाहिये। दूध और सब्जियों से अच्छा लाभ होता है।

तीव्र चरण के गुजर जाने पर प्राकृतिक निरोगालयों में चिकित्सा वांछनीय होती है। हाइड्रोजन-सल्फाइड से युक्त खनिज जल में स्नान, समुद्र-स्नान, सौर चिकित्सा सुसंकेतित हैं।

सूची-वधन (एक्यूपंक्चर) तीव्र खुजली वाले दिनाइ में प्रलिखित किया जाता है। सीमित संक्रमण-क्षेत्र वाले चिरकालिक दिनाइ में बक्की की किरणों के उपयोग की सलाह दी जाती है। तीव्रकरण के साथ तीव्र अंतर्स्यंदन के केस में ओजोसेरीत (ozocerite) और गीली मिट्टी का

उपयोग वांछनीय होता है। रेडियोथेरापी सिर्फ कुटाली पुनरावर्ती दिनाइ में सुसंकेतित होता है, जिसमें स्पष्ट अंतर्स्यंदन होता है और जब अन्य सभी थेरापिक उपाय व्यर्थ हो जाते हैं।

दिनाइ की बाह्य चिकित्सा शोथी प्रक्रिया की तीव्रता पर निर्भर करती है। पहले आक्रांति-क्षेत्र से खट्ठियां, शल्क आदि दूर कर लेते हैं। इसके लिये वहां वनस्पति तेल में तर निष्कीटित गजी का परिधान लगाते हैं। बगैर रूई के आयल-क्लौथ को लगाने से आक्रांति-क्षेत्र को साफ करना सरल होता है। इस पट्टी को 12 से 24 घंटे तक छोड़ दिया जाता है। रिसालु चरण पर 2 प्रतिशत बोरिक अम्ल, 0.25 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट, 0.5 प्रतिशत रेसोर्सीनोल, 0.25 प्रतिशत अमीदोपीरिन आदि से युक्त ठंडा किये हुए लोशन से दिनाइ की चिकित्सा अच्छी होती है। रेसोर्सीनोल और बोरिक अम्ल से युक्त लोशन से पयोपा बच्चे की चिकित्सा करने की सलाह नहीं दी जाती, क्योंकि इससे गरलता (टोक्सीकोसिस) बढ़ सकती है। रिसाव खत्म होने पर कोर्टिको-स्टेरोइड-मलहम का उपयोग किया जाता है (जैसे 0.5 प्रतिशतीय प्रेदनीजोल, 0.25 प्रतिशत डेपरजोलोन, लोकाकोर्टेन, फ्लूसीनार, फ्लोरोकोर्ट, उल्ट्रालान, मेलेस्टोडेर्म का)। यह ध्यान में रखते हुए कि हर्मोन चर्म द्वारा अपचोषित हो सकते है (विशेषकर दद्रुक प्रक्रिया से ग्रस्त क्षेत्र द्वारा) बच्चों में स्टेरोइड का इस्तेमाल सीमित चर्म-क्षेत्र पर ही करना चाहिये या उसमें उन्ना का क्रीम मिलाते हैं। स्टेरोइड-मलहमों की जगह विभिन्न पेस्ट और जलीय शेक-मिक्स्चर का भी उपयोग किया जा सकता है, जिनमें 1-2 प्रतिशत अनेस्तेजिन और नाफ्थालान मिलाया जाता है; ये प्रतिकंडुक प्रभाव को तीव्र करते हैं। तीव्र शोथ के क्रमशः उपशमित और दूर होने पर शक्तिशाली केराटोप्लास्टिक प्रसाधनों का उपयोग होता है, जैसे: 5-10-20 प्रतिशत नाफ्थालान, 1-2 प्रतिशत टार (जो अंतर्स्यंदों को अपचोषित करता है), 2-5 प्रतिशत सल्फर, 2-3-5 प्रतिशत इख्थामोल आदि से युक्त मलहमों का)।

शिरोवल्क के वपास्रावी दिनाइ की चिकित्सा में पहले तैल-पुल्टिस प्रलिखित किया जाता है (खट्ठियां दूर करने के लिये); इसके बाद निम्न लेपों से अच्छा लाभ होता है: लोकासालेन, हिग्रोक्सीजोन, 5 प्रतिशत सल्फरिक, 2 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल से युक्त मलहम या 1 प्रतिशत अमोनित पारद से युक्त मलहम, जिसमें 0.5-0.75 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल होता है।

नाफ्थालान या तिहाईचौथाई मात्रा में विल्किंसन मलहम के साथ दो तिहाई-तीन चौथाई की मात्रा में जिंक-मलहम या जिंक पेस्ट मिला कर जीवाणुज (पराचोटिल) वारिक्सी दिनाइ में प्रलिखित किया जाता है। बाह्य एंटीपरजीविक साधन जीवाणुज दिनाइ में बहुत अच्छा प्रभाव डालते हैं, लेकिन दिनाइ के अन्य रूपों में प्रक्रिया को उग्र भी कर सकते हैं। अनीलीन रंजक और कास्तेलानी का पेंट जीवाणुक दिनाइ में अच्छा लाभ पहुंचाते हैं।

अतिशृंगी पटलीकरण (केराटोटिक दिनाइ) में डिग्रावीलोन-मलहम पर आयल-क्लौथ का परिधान (रूई के बगैर) अच्छा प्रभाव डालता है।

भविष्यवाणी. तीव्र दिनाइ में भविष्यवाणी अधिक अनुकूल होती है। जीवाणुज और वपास्रावी दिनाइ पूर्णतया ठीक किये जा सकते है। वास्तविक, उद्वर-सदृश और कंडुक दिनाइ कम आसानी से ठीक होते हैं। पुनरावर्तन किसी भी प्रकार के दिनाइ का हो सकता है। भविष्यवाणी और भी बुरी होती है, यदि दिनाइ शोफित एवं निःशक्त गठन वाले बच्चे में, अधेड़ व्यक्तियों तथा पैठन या गरलक्लेश से कमजोर हुए लोगों में विकसित होता है।

निरोध. हाइजीनिक आदतें विकसित करना दिनाइ के सभी प्रकारों के लिये महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, इससे द्वितीयक पैठन का निरोध होता है, जो मुख्य रोग-प्रक्रिया के प्रवाह को

उग्र कर देता है। हल्के मशिकाशोथों में नन्हीं क्षतियों को कास्तेलानी के पेंट से या अनीलीन रंजकों के 1-2 प्रतिशत सांद्र जलीय या अल्कोहलिक घोल से अवश्य लेप देना चाहिये। विस्तृत चर्म-क्षतियों के केसों में रोगी को कुछ समय तक स्नान नहीं करना चाहिये। लेकिन कुछ रोगियों को पानी में गुलदाउदी का काढ़ा मिला कर स्नान करने से फायदा होता है; इसी तरह, बच्चों को भी चोकर या बलूत की छाल के काढ़े के साथ स्नान कराने से थेरापिक प्रभाव प्राप्त होता है। शरीर को अधिक गर्म नहीं होने देना चाहिये।

दिनाइ के रोगियों को निम्न प्रकार के आहार की सलाह दी जाती है: दूध की बनी चीजें, सब्जियां, उबला मांस, अनाज, गाजर, सेब का रस, फल। नीबू जाति के फल कुछ रोगियों में प्रक्रिया को बुरी तरह उग्र कर सकते हैं। पेय और सरलता से पचने वाले कार्बोहाइड्रेट को कम करना चाहिये, निस्सारक द्रव्यों से परहेज करना चाहिये। अल्कोहलिक पेय, नमकीन, मसालेदार, टिनबंद खाद्य, अचार आदि वर्जित किये जाते हैं। बच्चों को बहुत अधिक नहीं खिलाना चाहिये, लेकिन भूखे भी नहीं रखना चाहिये।

जठरांत्र-मार्ग की सामान्य क्रिया और सहवर्ती रोगों की चिकित्सा को भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानना चाहिये।

वारिक्स (पैरों में शिरा-का फूलना) के रोगियों को प्रत्यास्थ मोजे पहनना चाहिये या रबड़ की डाक्टरी पट्टी से लपेट कर रखना चाहिये। इससे वारिक्सी दिनाइ का रोध होता है। ऐसे दिनाइ को रोकने के लिये वारिक्स, व्रणों, नासूरों, विदारों और घावों (चोटज क्षतियों) की चिकित्सा करनी चाहिये (करोर्जक के साथ मिलकर)। झुलसन या तुषारण की सही चिकित्सा न होने से भी दिनाइ विकसित हो सकता है।

चुचुकों पर दिनाइ होने से बच्चे को स्तनपान कराना बंद कर देना चाहिये। जिन्हें हाथ में दिनाइ हो उन्हें बहुत गर्म या बहुत ठंडा पानी नहीं छूना चाहिये, कपड़े धोते वक्त डिटरजेंट का इस्तेमाल नहीं करना चाहिये। दैनंदिन जीवन और कार्य में संभाव्य परोर्जकों (परोर्जनकारी द्रव्यों) से यथासंभव संपर्क नहीं होने देना चाहिये।

कापोजी-निरूपित छोटी शीतला जैसे स्फोटों और टीकाजनित दिनाइ को रोकने के लिये बुदबुदयुक्त शैवाक से ग्रस्त हो चुके व्यक्तियों को या छोटी शीतला का टीका लिये हुए व्यक्तियों को दिनाइ से पीड़ित बच्चों की देख-भाल नहीं करने देनी चाहिये (कम से कम दस-पंद्रह दिनों तक)।

भावी माँ में चिरकालिक या तीव्र पैठन के अधिकेंद्रों की चिकित्सा, पेट में जोंक की चिकित्सा (यदि इस तरह के लक्षण हों) और विवेकसंगत आहार भावी शिशु में दिनाइ की रोकथाम करने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि माँ के रक्त के साथ उसमें उपस्थित परोर्जक द्रव्य जेरा को पार कर बच्चे को भ्रूणावस्था में ही संवेदीकृत कर देता है। ऐसे केसों में जन्म के बाद माँ के दूध से प्राप्त होने वाले बहिर्जनित परोर्जकों के आक्रमण के लिये परिस्थितियां बच्चे में पहले से तैयार हो चुकी होती हैं। गर्भवती स्त्रियों को (विशेषकर यदि उनके माता-पिता परोर्जन से ग्रस्त होते हैं) अत्यधिक अंडों, मीठी वस्तुओं और दूध से प्रचुर विटामिन, विविध सब्जियां, उबला मांस, घरेलू पनीर और फल होने चाहिये (नारंगी, संतरा, खूबानी, सतालू, स्ट्राबेरी, रास्बेरी आदि से परहेज करना चाहिये)। आहार के अतिरिक्त कुछ विटामिन प्रलिखित करना और भी अच्छा होता है (सांद्र विटामिन ए की बूंदें, गोलियों में विटामिन बी- संकुल, ऐस्कोरूटिन की टिकिया)।

यदि माता-पिता को दिनाइ है, तो कृत्रिम (संश्लिष्ट, फ्लानेल और ऊनी कपड़े के अंतर्वस्त्र

नहीं पहनाने चाहिये। ऐसे रोगियों पर डाक्टर को निरंतर निगरानी रखनी चाहिये, चर्मलोचक को उनका नियमित रूप से निरीक्षण करना चाहिये और चर्म व पूरे शरीर की अवस्था के मुताबिक चिकित्सा प्रलिखित करनी चाहिये।

वृत्तिज चर्मरोग

सामान्य सूचनाएं

वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति, उद्योगों के द्रुत विकास, निरंतर नये रसायनों के उपयोग और अन्य असंख्य घटकों के फलस्वरूप पिछले वर्षों से सारी दुनिया में वृत्तिज रोगों से ग्रस्त लोगों की संख्या बढ़ी है; इन रोगों में चर्मरोग भी आते हैं। यह बात औद्योगिक रूप से विकसित देशों में विशेषतौर पर लागू होती है। इस समस्या की ओर चर्मलोचकों, वृत्तिज रोगों के विशेषज्ञों, उद्योगों की सैनीटरी अवस्था का निरीक्षण करने वाले आयुर-कर्मियों का ही नहीं, बल्कि स्वास्थ्य-कल्याण विभागों, ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों और इन उद्योगों में काम करने वाले खुद श्रमिकों का भी ध्यान आकर्षित हो रहा है, जहां क्षोभकों के साथ संपर्क के कारण चर्म के रोग-ग्रस्त होने का खतरा रहता है।

यदि वृत्ति (व्यवसाय, जीविका) की विभिन्न कार्य-परिस्थितियों के कारण चर्म का कोई रोग विकसित होता है, तो उसे वृत्तिज चर्मरोग कहते हैं। यदि कोई रोग वृत्तिक परिस्थितियों में उग्र हो उठता है, तो उसे वृत्तिज रोग नहीं कहते (जैसे काम पर किसी रसायन के साथ संपर्क के कारण वास्तविक दिनाइ उग्र हो उठता है)।

इस पाठ्यपुस्तक के विभिन्न प्रकरणों में वर्णित विभिन्न घटक (भौतिक, रसायनिक, पैठी आदि), जो कोई चर्मशोथ उत्पन्न कर सकते हैं, सिर्फ औद्योगिक या कृषि उत्पादन में ही नहीं, अन्य परिस्थितियों में भी रोग को अंतर्प्रेरित कर सकते हैं। लेकिन कुछ घटक अन्य दैनंदिन परिस्थितियों में अनुपस्थित रहते हैं, जबकि काम पर निरंतर उनके संपर्क में रहना पड़ता है। ऐसे क्षोभक घटक हैं: रेत, अम्लकतरा, क्रेओसोट, आंथासीन तेल तथा कृत्रिम रबड़। यदि सभी वृत्तिज चर्मरोगों को 100 प्रतिशत मान लिया जाये, तो इनमें से 90 प्रतिशत चर्मरोग हानिकर रसायनों द्वारा उत्पन्न होते हैं, 6 प्रतिशत रोग पैठनकारी एवं परजीवी घटकों से होते हैं और सिर्फ 2 प्रतिशत भौतिक घटकों से होते हैं।

किसी भी वृत्तिज रोग की तरह वृत्तिज चर्मरोग से भी ग्रस्त व्यक्तियों को श्रम-कानून के अनुसार अनेक अधिकार और सुविधाएं दी जाती हैं। तदनुरूप आयुर-प्रतिष्ठान (जैसे वृत्तिज रोग संस्थान) ट्रेड-युनियन के प्रतिनिधियों के साथ मिल कर चर्म-क्षतियों की वृत्तिज प्रकृति निर्धारित करते है और रोगी के हितों में तदनुरूप कानून का उपयोग करते है। सोवियत संघ में वृत्तिज रोग से ग्रस्त लोगों को नियमित वेतन (100 प्रतिशत) के साथ आवश्यक छुट्टी दी जाती है; छुट्टी के समय वेतन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि रोगी पहले कितने वर्षों तक काम कर चुका है।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के 26-वें कांग्रेस में आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति के अनुरूप सोवियत संघ के आर्थिक विकास की एक रूपरेखा स्वीकृत की गयी, जिसमें उत्पादन के विस्तृत यंत्रीकरण और स्वचलकरण के साथ-साथ श्रमिक-सुरक्षा के विकास की भी योजना है, ताकि वृत्तिज रोगों और विशेषकर चर्मरोगों की प्रायिकता घटायी जा सके।

कुछ कामों पर लोगों में तथाकथित वृत्तिज चिन्ह या विशेष दाग (स्टिग्मा) उत्पन्न हो जाते

हैं, जिन्हें वृत्तिज रोग नहीं माना जा सकता। इसके उदाहरण हैं: कोयला-खदान में काम करने वाले श्रमिक के चर्म में कोयले की धूल का जमा होना (निक्षेप), चिमनी साफ करने वालों के चर्म में कालिख का जमा होना, मत्स्य-उद्योग और वनारक्षण में काम करने वालों के चर्म में विदार और निस्त्वचन होना, पेंटर के चर्म पर स्थायी धब्बे होना, जमीन कोड़ने वालों और लकड़हारों के चर्म पर घट्ठे पड़ना, नाविकों और किसानों के शरीर पर निरंतर धूप के कारण वर्णकता, फिटर के चर्म पर मशीनी तेलों और स्नेहकों के कारण वर्णकता, आदि। चांदी धातु के साथ काम करने वाले लोगों में रजतमयता (सीसे के समान भूरा चर्म) विकसित हो जाती है, लुहारों के चर्म में चोटों और झुलसन से विभिन्न क्षतांक व कुपोषणजनित दाग रह जाते हैं। इन वृत्तिज दागों से आदमी की कार्य-क्षमता कम नहीं होती।

रसायनजनित वृत्तिज चर्मरोग

रसायनिक क्षोभक, जिनमें परोर्जक भी शामिल हैं, सबसे अधिक प्रकार के वृत्तिज चर्मक्लेश उत्पन्न करते हैं और यह वृत्तिक गदलोचन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इनमें से मुख्य रोग निम्न हैं।

अधिचर्मशोथ. इस अवस्था की अभिव्यक्तियां निम्न हैं: चर्म का बहुत शुष्क होना, कोमलता (छूने में पीड़ा; सुकुमारता), और कुछ केसों में बिना शोथ के अथवा चर्म के बिना मोटा हुए उसमें गहरे विदार होना। यह रोग अधिकांशतः हाथों में जैवमूल के घोलकों, शीतकारी इमल्शनों तथा अन्य निस्स्नेहक द्रव्यों की दीर्घकालीन अभिक्रिया से होता है (जैसे गैसोलीन, किरोसिन, एसीटोन, श्वेत स्पीरिट आदि से)। अधिकांश केसों में इस अवस्था से आदमी की कार्य-क्षमता कम नहीं होती और क्षोभक के साथ संपर्क खत्म हो जाने पर क्षतियां गायब भी हो जाती हैं। लेकिन पुराने काम पर लौटते ही वे पुनः उत्पन्न हो जाती हैं।

संसर्गज चर्मशोथ (अपरोर्जिक). यह रोग चर्म पर क्षोभकारी रसायनों की अभिक्रिया से होता है। यह वृत्तिज चर्मक्लेशों का सबसे अधिक प्रचलित ग्रुप है। रोग चर्म की लाली, जलन की अनुभूति, शोफ और कभी-कभी छोटे-बड़े बुल्लों के विरचन द्वारा लंछित होता है; बुल्ले जल्द ही फट जाते हैं और उनकी जगह प्रचुर रिसावपूर्ण सतह निकल आती है। संसर्गज चर्मशोथ चर्म के साथ क्षोभक के स्पर्श के स्थलों पर होता है और इनसे आगे नहीं फैलता। आक्रांति-क्षेत्र और स्वस्थ चर्म के बीच सीमा-रेखा स्पष्ट होती है। हेतुलोचनी घटकों की भूमिका ये द्रव्य निभा सकते हैं: टर्पेंटाइन, जैव मूल के घोलक, इमल्शन, अम्ल, क्षार, रोगन, वार्निश, आदि; लेकिन ऐसे द्रव्यों की संख्या दिन ब दिन बढ़ती जा रही है। अधिकांशतः हाथ, गरदन और चेहरे का चर्म ग्रस्त होता है। अधिचर्मशोथ की तरह संसर्गज चर्मशोथ भी क्षोभक के साथ संपर्क खत्म होने पर शीघ्र ही गायब हो जाता है। विस्तृत एवं तीव्र संसर्गज चर्मशोथ से कार्यक्षमता का अस्थायी लोप संभव है।

औद्योगिक तेल से संप्रेरित मशिकाशोथ. यह चर्म के साथ खनिज तेलों या तैल सतहों के प्रत्यक्ष संपर्क के कारण होता है। यह रोग अधिकांशतः पुरुषों को होता है, विशेषकर उन्हें, जिनके शरीर पर घने बाल होते हैं। रोग के प्रिय स्थल हैं—प्रबाहु और जांघ की पार्श्व सतहें। कभी-कभी वह पेट और नितंबों पर भी विकसित हो जाता है। शुरू में लोमकूप (मशिका) के मुहानों पर तेल, धूल और शृंगी शल्कों के जमा होने से त्वचा पर काले बिंदु दिखायी देते हैं। इसके बाद बाजरे के दाने के बराबर शोथी पिटिकाएं और सामान्य मुँहासे जैसे स्फोट कुछ मशिकाओं के क्षेत्रों में

उत्पन्न होते हैं। तैल मशिकाशोथ में स्ताफिलोकोकों के पैठन से फुंसी बन जा सकती है। पिटिकाओं के अतिरिक्त काले बिंदुओं (मशिकाओं के मुहानों में फँसे शृंगी टुकड़ों) के कारण औद्योगिक मशिकाशोथ को पिटिकीय-विमृतिक गठिक्लेश से विभेदित किया जा सकता है। यह रोग अधिकतर ट्रक व टैक्सी के ड्राइवरों, तैल-परिष्करण संयंत्रों के उत्पादों के संपर्क में काम करने वाले श्रमिकों, कोयला संसाधित करने वाले मजदूरों में होता है।

गरलताजनित चर्मकृष्णिका. यह रोग पेट्रोलियम और कोयले से उत्पन्न हाइड्रोकार्बनों के प्रति दीर्घकालिन (5 से 10 वर्ष तक) अनावृति (संपर्क) के कारण होता है। इसमें सामान्य गरलता (गरलक्लेश) होती है, जैसे वर्धित थकान, सरदर्द, कमजोरी, सर में चक्कर, अनिद्रा, अनभुख आदि। साथ में चर्म पर ललामी, वर्णकता, मशिकीय अतिशृंगनता, और दूरकुंभि-विस्फारण होता है। इसकी विशिष्ट क्षतियां हैं कत्थई-भूरे धब्बे, जो पहले चेहरे, गरदन और वक्ष पर, फिर धड़ पर उत्पन्न होते हैं। ग्रस्त क्षेत्र पर चर्म पहले रुक्ष हो जाता है, फिर धीरे-धीरे पतला होने लगता है। रोग मुश्किल से ठीक होता है।

वृत्तिज व्रणन, मसेदार प्रवर्ध. चोटज क्षतियों (कटफट, निस्त्वचन, खरोंच, विदार आदि) से ग्रस्त चर्म-क्षेत्र का किसी क्षोभक रसायनिक घोल या पाउडर के साथ स्पर्श होने पर सतही, हल्का सुकुमार व्रण बन जाते हैं, उनकी आकृति गोल या अंडाकार होती है, तली पर रक्तिल खट्ठी होती है, किनारियां उभरी होती हैं और परिसर में वलयाकार शोथी क्षेत्र होता है। इनका बाह्य रूप इतना विशिष्ट होता है कि इनका नाम 'सियर (sears) या 'चिड़िये की आँखें' (बर्डस आइज़) पड़ गया है। वृत्तिज व्रणन के सामान्य स्थल हैं – उंगलियां, हाथ, बाँह। गोड़ और जाघों पर ऐसी क्षतियां कम ही होती हैं। ठीक होने पर नन्हे, कुछ अवनमित (दबे हुए) दाग रह जाते हैं। क्रोमियम से उत्पन्न व्रण अधिक तीव्र होते हैं; ये चर्म पर ही नहीं, नाक, नासाग्रसनी और मुँह की श्लेष्मल झिल्ली पर भी होते हैं। पेट्रोलियम परिष्करण, कोयला और शेल (shale) के ऊर्ध्वपातन के भारी उत्पादों (अलकतरा, कच्चा तेल, आदि) के प्रति अनेक वर्षों की अनावृति से चर्म के किसी भी क्षेत्र पर मसेदार क्षोभ उत्पन्न हो सकते हैं, जो सामान्य कीलकों या पिटिकाओं की तरह दिखते हैं। कुछ केसों में ये प्रवर्ध चर्म-कर्कार्व के रूप में अवजनित हो सकते हैं, इसीलिये प्रारंभ में ही इनका सही निदान बहुत बड़ा व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

परोर्जिक वृत्तिज चर्मक्लेश. इस ग्रुप में शरीर का संवेदीकरण करने वाले रसायनिक परोर्जकों के प्रति बारंबार अनावृति के कारण उत्पन्न होने वाले परोर्जिक वृत्तिज चर्मशोथ और साथ ही वृत्तिज दिनाइ आते हैं, जिनका विकास बहुत हद तक शरीर की सामान्य अवस्था (नर्वतंत्र की अवस्था, जठरांत्र-मार्ग और यकृत के रोग, सहवर्ती पूयकारी एवं कवकज रोग आदि) पर भी निर्भर करता है; उसी से परोर्जन के प्रति प्रवणता उत्पन्न होती है।

परोर्जिक चर्मशोथ में रोग उत्पन्न करने वाले द्रव्य से चर्म की जाँच करने पर धनात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं, जबकि किसी अन्य परोर्जक से जाँच के परिणाम नियमतः ऋणात्मक होते हैं। बहुसंयोजी संवेदीकरण अक्सर दिनाइ में पाया जाता है।

परोर्जिक चर्मशोथ का तल्पिक चित्र संसर्गज अपरोर्जिक चर्मशोथ से मिलता-जुलता होता है। फर्क इतना ही है कि परोर्जिक चर्मशोथ में सीमारेखा स्पष्ट नहीं होती और क्षोभक और चर्म के स्पर्श क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता। परोर्जक को दूर करने पर रोग जल्द ही दूर हो जाता है, लेकिन काम पर लौटते ही, अर्थात् परोर्जक के संपर्क में पुनः आते ही रोग पुनरावर्तित हो जाता है।

वृत्तिज दिनाइ. वृत्तिज दिनाइ चिरकालिक और प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण करता है और अक्सर वृत्तिक ही नहीं, दैनंदिन क्षोभकों के भी संपर्क से पुनरावर्तित हो जाता है। शुरू-शुरू में क्षतियां चर्म के उन्हीं क्षेत्रों में उत्पन्न होती हैं, जो क्षोभ के संपर्क में आते हैं, लेकिन बाद में वे दूरस्थ क्षेत्रों पर भी फैलने लगती हैं। ग्रस्त चर्म-क्षेत्र धीरे-धीरे मोटा और रुखड़ा हो जाता है, शैवाकीकरण होने लगता है और विदार उत्पन्न होते हैं। समय-समय पर होने वाले पुनरावर्तन में प्रक्रिया विशेष हो उग्र जाती है, शोथ भी तीव्र हो जाता है, शोफ़ और रिसाव प्रकट होते हैं, खुजली बढ़ जाती है।

वृत्तिज दिनाइ मुख्यतः वृत्तिक क्षोभकों की अभिक्रिया वाले चर्म-क्षेत्र पर होता है और नियमतः वृत्तिक परोर्जिक चर्मशोथ के रोगियों में विकसित होता है। इसकी निम्न अभिव्यक्तियां हैं: ललामी, वस्तिकायन, पिटिकीय स्फोट, रिसाव और खुजली। क्षोभक के साथ चर्म का संपर्क खत्म हो जाने पर भी दिनाइ शीघ्रता से ठीक नहीं होता, जैसा कि चर्मशोथ में होता है। चर्म-परीक्षण से रोगी में बहुसंयोजी संवेदीकरण का पता चलता है (जबकि प्रारंभ में संवेदिता एकसंयोजी, अर्थात् किसी एक द्रव्य के प्रति होती है)।

वृत्तिज क्षोभकों से चर्म का इमूनो-परोर्जिक परीक्षण कई वर्षों तक धनात्मक परिणाम देता रह सकता है (परीक्षण विट्रो में किये जाते हैं)।

वृत्तिज दिनाइ कुछ रंजकों, निकेल व क्रोमियम के लवणों (विशेषकर सिमेंट में उपस्थित छे-संयोजी क्रोमियम के लवणों), पाराफेनिलेनेडिआमीन, फोर्माल्डेहाइड, टर्पेंटाइन, बाकेलाइट के संसंजक, कृत्रिम एपोक्सी रेजिन आदि द्रव्यों से प्रेरित होता है। अक्सर यह वृत्तिज परोर्जिक चर्मशोथ की पृष्ठभूमि में विकसित होता है। चर्मशोथों के विपरीत, इसकी चिकित्सा में वे ही कठिनाइयां आती हैं, जो अवृत्तिज दिनाइ की चिकित्सा में आती हैं।

वृत्तिज चर्मगरलता और पित्ती तल्पिक रूप में सामान्य चर्मगरलता और पित्ती से भिन्न नहीं होतीं, जिनका वर्णन इस पाठ्यपुस्तक के तदनुरूप प्रकरण में किया गया है। सामान्य स्थिति में परोर्जक (परोर्जनकारी द्रव्य) जठरांत्र-मार्ग या श्वसन-मार्ग से प्रविष्ट होते हैं, चर्म द्वारा नहीं। वृत्ति बदलने से, अर्थात परोर्जक के साथ संपर्क तोड़ लेने से रोग तेजी से ठीक होने लगता है। वृत्तिज रसायनजनित दग्ध (झुलसन) उद्योगों में दुर्घटना से या प्रयोगशालाओं में सुरक्षा-नियमों का पालन न करने से होता है।

भौतिकीय घटकों से उत्पन्न वृत्तिज चर्मरोग

इस प्रकार के चर्मरोग आज भी उन लोगों में पाये जाते हैं, जहां अयंत्रीकृत हस्त-श्रम का उपयोग होता है (जैसे सामान लादने और उतारने के काम में, विभिन्न भारी कामों में)। उत्पादन प्रक्रिया के धीरे-धीरे यंत्रीकरण और स्वचलकरण से भौतिक घटकों द्वारा उत्पन्न वृत्तिज रोगों की प्रायिकता कम होती जा रही है। यांत्रिक चर्मशोथ उन लोगों में उत्पन्न हो सकता है, जो शारीरिक श्रम के आदी नहीं होते। राछों से भी हो सकता है, जिसके हत्थे ठीक से नहीं लगे हुये। इसके लक्षण हैं: लाल और शोफित चर्म, वृहत, तनावपूर्ण फोड़े, जो अक्सर जल्द ही फट जाते हैं और उनके नीचे से सतही अपरदन या चमकीला लाल निस्त्वचन प्रकट होता है।

निरंतर घर्षण और दाब के कारण चर्म की शृंगी परत के बहुत मोटा होने की प्रक्रिया को घट्टा पड़ना कहते हैं। वृत्तिज रोगों के साथ इसका संबंध नहीं है, लेकिन यह वृत्तिज चिन्ह

(स्टिग्मा) है। पीड़ाजनक विदारों और पूयन के विकास से कार्य-क्षमता में अस्थायी ह्रास भी हो सकता है।

कुछ वृत्तियों में यांत्रिक घटकों की अभिक्रिया से छोटी-मोटी चोटज क्षतियां उत्पन्न होती रहती हैं, जिनका समय पर सही इलाज न होने पर चर्मपूयता विकसित हो जा सकती है, आदमी अस्थायी तौर पर काम करने लायक नहीं रह जाता।

अनेक उद्योगों (जैसे मत्स्य-, कोयला-, तेल-, निर्माण-, काष्ठ- और पशुपालन-उद्योगों) में आदमी को कम वातावरणीय तापक्रम पर काम करना पड़ता है, या शीतकारी द्रवों, वस्तुओं तथा द्रव्यों के साथ काम करना पड़ता है (जैसे मशीन-निर्माण और धातु-संसाधन के उद्योगों में)। इनमें से कुछ से शीतशोथ या तुषारण उत्पन्न हो सकता है, जिनके तल्पिक चित्र का वर्णन चर्म-शोथों के प्रकरण में किया गया है। झुलसनों का तल्पिक चित्र भी उसी प्रकरण में वर्णित है। झुलसन लाल तप्त धातु या पिघले धातु के साथ अथवा तप्त गैसों, द्रवों, वाष्पों आदि के साथ काम करते वक्त उत्पन्न हो सकती है।

वृत्तिज सौर चर्मशोथ भवन-निर्माण, कृषि अथवा अन्य उद्योगों में कार्यरत लोगों को हो सकता है, जिन्हें धूप में काम करना पड़ता है। दग्ध विकिरण (धूप) लगने के कुछ घंटों बाद प्रकट होता है। प्रथम कोटि के दग्ध (लाली और शोफ) तथा द्वितीय कोटि के दग्ध (फोड़ों या बुल्लों का विरचन) पाये जाते हैं। सौर चर्मशोथ के साथ-साथ नियमतः ज्वर, सरदर्द और कभी-कभी सर में चक्कर, मतली, अनिद्रा और अनभुख भी होता है। तीव्र प्रवाह कुछ दिनों तक चलता है, फिर प्रचुर शल्कन शुरू हो जाता है और वर्णकित धब्बे (झौंरा ; सनटैन) उत्पन्न हो जाते हैं। झौंराये चर्म पर फिर धूप लगने से पहले की तरह इतने हानिकारक परिणाम नहीं होते, क्योंकि अतिवर्णकित चर्म (अर्थात् मेलानिन का संग्रह) सौर स्पेक्ट्रम की पराबैंगनी किरणों को रोक देता है और शोथी प्रक्रिया को उत्पन्न नहीं होने देता।

रश्मिसक्रिय द्रव्यों तथा आयनक विकिरण के स्रोतों के साथ काम करने में सुरक्षा-नियमों तथा डोजीमेट्रिक (विकिरण-खुराक की माप संबंधी) नियंत्रण के उल्लंघन से और दुर्घटनाओं से तीव्र या चिरकालिक विकिरणजनित रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इनके तल्पिक चित्र अवृत्तिज विकिरण-जनित रोगों के जैसे ही होते हैं (देखें सरल कृत्रिम संसर्गज चर्मशोथ से संबंधित प्रकरण)।

पैठनजनित वृत्तिज चर्मरोग

कोई भी पैठनजनित चर्मरोग वृत्तिज रोग के रूप में विकसित हो सकता है, यदि संदूषित वस्तु या द्रव्य से छूत आजीविका से संबंधित किसी काम पर लगती है। यहां हमलोग चंद वृत्तिज रोगों को देखेंगे, जिनकी प्रायिकता अपेक्षाकृत अधिक होती है।

चर्मशोणस, या शूकर-चर्मशोण (रोजेनबाख का रोग)

यह रोग शूकर-चर्मशोण बासिलों (एरीसीपेलोथ्रिक्स रूजिओपाथिए) से होता है, यद्यपि यह अनेक पालतू जानवरों को होता है। पैठनजनित वृत्तिज रोगों में यह सबसे अधिक प्रायिक है। चर्मशोणस मांस-मछली के संसाधन से संबंधित उद्योगों में काम करने वाले लोगों के बीच फैलता है। रोग का निमित्त कारण (चर्मशोण-बासिल) पशु-पक्षियों और मछलियों के मांस, हड्डियों और सरेस (एनीमल ग्लू) से आदमी के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है (अक्सर तीक्ष्ण हड्डियों से चर्म में होने वाली कट-फट जैसी नन्ही क्षतियों से हो कर)।

अंतर्शयन-काल (कुछ घंटों से लेकर कुछ महीनों तक) के बाद एक तीव्र पीड़ाजनक, स्थानाबद्ध शोफ और ललामी विकसित होती है। यह निमित्त कारणों (बासिलों) के प्रवेश-स्थल पर होता है, जैसे – हाथ, हाथ की उंगलियों और कभी-कभी पैर के चर्म में। जलन और पीड़ा की अनुभूति होती है। ललामी का रंग चमकीले (चटकदार) लाल से फीके गुलाबी तक बदल सकता है। अधिकांश रोगियों में प्रक्रिया संधियों को भी ग्रस्त कर लेती है, जिससे उनमें सूजन, हाथ-पैर का शोफ, तीव्र सुकुमारता, ज्वर आदि लक्षण प्रेक्षित होते हैं।

इसके बाद ललामी का रंग नीलाभ बैंगनी हो जाता है। रोगी कुछ दिनों में ही ठीक हो जा सकता है, लेकिन कुछ केसों में यह प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर के चिरकालिक रूप में परिणत हो जा सकता है। रोग के प्रति कोई इमूनता नहीं उत्पन्न होती, इसीलिये पैठन दुहरा भी सकता है।

ग्वाल-पर्विकाएं

ग्वाल-पर्विकाएं गाय में चेचक के वीरुसों से होता है (पराटीका के कारण)। संक्रमण रोगी सींगदार पशुओं (गाय; विरलतः भेंड़-बकरियों) के साथ संपर्क के समय हो जाता है। यह रोग अधिकांशतः गौशालाओं, डेयरी फार्मों में दूध दूहने वाले लोगों को होता है, लेकिन जंतु-तकनीशियनों और पशु-चिकित्सकों को भी हो सकता है। अंतर्शयन-काल तीन से चार दिन तक होता है।

क्षतियां उंगलियों, हस्तपुच्छ, प्रबाहु तथा विरलतः चेहरे पर स्थानाबद्ध होती हैं। मटर के दाने के बराबर एक या कई, अपेक्षाकृत कठोर अर्धगोलाकार पर्विकाएं उत्पन्न होती हैं। पर्विका का रंग नीलाभ लाल होता है और उनके बीच में तश्तरी जैसा अवनमन (गहरा स्थल) होता है। अवनमन पर एक शुष्क काली खट्ठी पड़ जाती है, जिसके उधड़ने पर वहां कुछ समय के लिये अतिवर्णकता रह जाती है। पर्विकाएं सूजन और रक्तस्फीति की पृष्ठभूमि पर विकसित होती हैं। उनके केंद्र में कभी-कभी वस्तिकाएं बन जाती हैं, जिनका अंतर्द्रव्य पुयिक होता है। स्फोट एक-तीन सप्ताह से लेकर कई महीनों तक रह सकते हैं। पर्विकाओं के गायब होने पर क्षतांकी परिवर्तन रह जाते हैं। यदि कोई द्वितीयक दुयकारी पैठन नहीं होता, तो रोग का प्रवाह सुदम रहता है, रोगी की सामान्य अवस्था गड़बड़ नहीं होती। बीमार गाय में स्फोट थन के क्षेत्र में चर्म पर होते हैं। विस्तृत फैलने पर स्वचल दोहक मशीनों के उपयोग से दूध दूहने वालों के बीच इस रोग की प्रायिकता में कमी आयी है।

वृत्तिज कवकताएं

कवक-रोगों से ग्रस्त रोगियों का देख-भाल करने वाले आयुर-कर्मी, कवक-रोगों से ग्रस्त पशुओं की देख-भाल व चिकित्सा करने वाले लोग, जंतु-तकनीशियन, चारवाहे, सैलूनों में काम करने वाले लोग (नाऊ), सार्वजनिक स्नान-गृहों की सफाई करने वाले, चिड़ियाघर में काम करने वाले लोग काम करते वक्त इन रोगों के शिकार हो जा सकते हैं। (इन रोगों में निम्न की गणना होती है: लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता, मोमिता, अधिचर्मतृणत्व, लाल कवकता, कांदीदक्लेश, अंशुक-कवकता, स्पोरलोमत्व आदि।) ऐसे केसों में रोग को वृत्तिज कवकता माना जाता है। पैठन अक्सर रोगी लोगों या जंतुओं की देख-भाल करने के नियमों की उपेक्षा करने से होता है। इन रोगों से व्याकांति के तल्पिक चित्र वैसे ही होते हैं, जैसे तदनुरूप अवृत्तिज रोगों के; इनका वर्णन पुस्तक के तदनुरूप प्रकरणों में किया गया है।

कुछ ही वृत्तिज चर्मरोगों का तल्पिक चित्र इतना स्पष्ट होता है कि उनका निदान सरलता से हो सके। इनके उदाहरण हैं औद्योगिक मशिकाशोथ और वृत्तिज व्रणन। अधिकांश वृत्तिज रोग तदनुरूप अवृत्तिज रोगों से तल्पिकतः बहुत कम भिन्न होते हैं।

वृत्तिज चर्मरोगों का निदान कोई चर्मलोचक या वृत्तिज रोगों का विशेषज्ञ ही कर सकता है, जो अन्य सहायक तथ्यों और परीक्षण रीतियों का उपयोग कर सकता है।

अधिकांश वृत्तिज रोग आदमी को क्षोभक के साथ काम पर लगने के बाद कुछ महीनों में ही शुरू हो जाते हैं (जैसे परोर्जिक चर्मक्लेश); कुछ रोग एक वर्ष तक की अवधि में हो जाते हैं। बहुत वर्षों से कार्यरत लोगों में रोग उस समय विकसित हो सकता है, जब प्रविधिक प्रक्रिया में कोई नया रसायन प्रयुक्त होने लगता है। अपरोर्जिक प्रकृति वाले वृत्तिज चर्मरोग (जैसे गरलता-जनित मेलानोडेर्मा, चर्म का वृत्तिज कर्कार्ब आदि) तदनुरूप वृत्तिक परिस्थितियों में लंबे समय (5-10-15 वर्ष) तक काम करने से विकसित होते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वृत्तिज चर्मरोगों में प्राथमिक आक्रांति-क्षेत्र मुख्यतः शरीर के उन्हीं स्थलों पर उत्पन्न होते हैं, जो खुले रहते हैं और इसीलिये क्षोभक द्रव्य के संपर्क में रहते हैं। रोगी का सही-सही आयुर-वृत्त ज्ञात होने पर भी निदान में सहायता मिलती है। रोग की वृत्तिक प्रकृति तब सिद्ध हो जाती है, जब उसी वृत्ति में काम करने वाले अनेक लोगों को वह रोग होने लगता है।

रोगी में वृत्तिक चिन्ह (स्टिग्मा) की उपस्थिति से निदान सरल अवश्य हो जाती है, लेकिन इसका कोई निर्णायक महत्त्व नहीं होता, क्योंकि स्टिग्मा वाले रोगी को अवृत्तिज प्रकृति का रोग भी हो सकता है और वृत्तिज प्रकृति के रोग वाले व्यक्ति को स्टिग्मा नहीं भी हो सकती है।

परोर्जकों के प्रति वृत्तिक अनावृति और दैनंदिन परोर्जकों के साथ संपर्क की अनुपस्थिति से चर्मरोग की वृत्तिज प्रकृति होने की संभावना दूर हो जाती है। दैनंदिन परोर्जकों में निम्न द्रव्य आते हैं (यद्यपि उनकी संख्या दिन ब दिन बढ़ती ही जा रही है): डेटर्जेंट, वार्निश, ग्लू, पेंट, क्रोमियम, निकेल, आटे के पेस्टों और जूते के पालिश में उपस्थित टैंटाइन, प्रतिजीवक, डेओ-डोरेंट और सौंदर्य-प्रसाधनों में उपस्थित फोर्मालिन, आदि)। उत्पादन-गृहों में विभिन्न हानिकारक द्रव्यों के साथ संपर्क क्षेत्रीय बहुमारीलोचनी केंद्र के औद्योगिक डाक्टर द्वारा अनुमोदित कार्य-परिस्थितियों के सैनीटरी तथा हाइजीनिक लंछकों के अनुरूप होना चाहिये।

चर्म-परीक्षण या रसायनिक परोर्जकों की पहचान करने वाले परीक्षण परोर्जिक चर्मरोगों के निदान में विस्तृत रूप से प्रयुक्त होते हैं; इन चर्मरोगों में वृत्तिज रोग भी आते हैं। तीन तरह के परीक्षण प्रयुक्त होते हैं: बूंद, कवलिका और क्षतिकरण द्वारा परीक्षण। अंतिम भी दो प्रकार का होता है: बूंद द्वारा क्षतिकरण और कवलिका (पुल्टिस) द्वारा क्षतिकरण।

बूंद द्वारा (अर्थात बूंदिक) परीक्षण सबसे सरल है। प्रबाहु की आंतरिक सतह के चर्म पर परोर्जक की एक बूंद डाली जाती है। परीक्षण का परिणाम अक्सर 24 घंटे बाद देखा जाता है। धनात्मक परिणाम विभिन्न तीव्रताओं की शोथी प्रतिक्रिया द्वारा व्यक्त होता है (हल्की या तीव्र रक्तस्फीति, विभिन्न कोटियों के शोफ, इनकी पृष्ठभूमि में पीपिकाओं और वस्तिकाओं की उत्पत्ति के रूप में)। ऋणात्मक परिणाम में परीक्षण-स्थल पर कोई परिवर्तन नहीं दिखता। बूंदिक परीक्षण-रीति की मुख्य कमी है (अन्य रीतियों की तुलना में)—अल्प संवेदिता।

कवलिका-परीक्षण कहीं अधिक संवेदी होता है, लेकिन इसे कार्यान्वित करना कुछ कठिन होता

है। गजी या अलसी के कपड़े का टुकड़ा (1×1 सेंटीमीटर) परोर्जक में तर कर के प्रबाहु की आंतरिक सतह के चर्म पर लगाया जाता है, फिर उसे आयल क्लौथ से ढक कर पट्टी से बांध देते हैं। पट्टी (और कवलिका; परोर्जक में तर गजी) 24 घंटे बाद हटा दी जाती है, लेकिन परिणाम अगले 24 घंटे बाद देखा जाता है। बूंदिक एवं कवलिक रीतियों से परीक्षण के ऋणात्मक परिणाम प्राप्त होने पर क्षतिकरण द्वारा परीक्षण की रीतियां अपनायी जाती हैं। इनमें चर्म पर तीक्ष्ण स्कालपेल या क्षताकक से चरका लगा कर उसपर विचाराधीन द्रव्य की एक बूंद डाली जाती है। इन वृत्तिज रोगों की पहचान में इन सभी परीक्षणों का सिर्फ सहायक महत्त्व है, क्योंकि वे अवृत्तिज परोर्जिक चर्मक्लेशों के तीव्रता-काल में धनात्मक हो सकते हैं और सभी अपरोर्जिक वृत्तिज चर्मक्लेशों में ऋणात्मक हो सकते हैं।

चिकित्सा का प्रमुख आधार यह है कि सबसे पहले रोगी को क्षोभकारी घटकों के संपर्क से छुटकारा दिलाया जाये (जिनमें औद्योगिक परोर्जक भी आते हैं)। इससे अपने-आप चर्म की दशा में सुधार होने लगता है और रोग ठीक होने लगता है। वृत्तिज चिन्हों (स्टिग्माओं) के लिये अलग से किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वृत्तिज चर्मक्लेशों (परोर्जिक एवं अपरोर्जिक) और वृत्तिज दिनाइ की चिकित्सा उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित होती है, जिनपर अवृत्तिज प्रकृति के तदनुरूप रोगों की चिकित्सा होती है।

तेलों से उत्पन्न औद्योगिक मशिकाशोथ होने पर ग्रस्त क्षेत्र को गर्म पानी और साबुन से धोना और सल्फर के शेक लोशन या 5 प्रतिशत सांद्र सल्फरिक मलहम लगाना सुसंकेतित है। विटामिन ए की दैनिक खुराक 100000-150000U मुखमार्ग से ग्रहण की जाती है।

चर्मशोणस की चिकित्सा प्रतिजीवकों से होती है (जैसे – एरीथ्रोमीसिन का 0.3 ग्राम दिन में चार या पाँच बार मुखमार्ग से दिया जाता है; पेनीसिलिन के 600000-800000 की सूई नित्य पाँच से सात दिनों तक दी जाती है)। सल्फोनामीड भी प्रलिखित किया जाता है (नित्य 3-4 ग्राम)। बाह्य चिकित्सा के रूप में पराबैंगनी विकिरण और 20 प्रतिशत इख्थामोल या हिड्रोक्सीजोन का मलहम प्रयुक्त होता है।

खाल-पर्विकाओं पर कार्बोलफ्यूसिनी का पेंट लगाया जाता है।

गरलताजनक मेलानोचर्मता के रोगियों को अपना पेशा स्थायी रूप से बदल लेना चाहिये और ऐसी जगह काम करना चाहिये जहां उनका शरीर हाइड्रोकार्बनों की अभिक्रिया से बचा रहे (अच्छा हो यदि काम खुली हवा में करना पड़े) और शरीर ऐस्कोर्बिक अम्ल से सांद्रित न हो।

वृत्तिज रोगों का निरोध (मूल सिद्धांत)

सोवियत संघ में वृत्तिज रोगों पर नियंत्रण राज्य एवं सार्वजनिक प्रतिष्ठानों द्वारा अपनायी जाने वाली युक्तियों के संकुल की सहायता से होता है। व्यक्तिगत निरोध-साधन भी अपनाये जाते हैं। उत्पादन-स्थलों पर हानिकारक द्रव्यों से (जिनमें परोर्जक भी आते हैं) आदमी का संपर्क रोकने के लिये प्रविधि में निरंतर विकास एवं सुधार लाने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि ये द्रव्य रिसाव न करें, इनके साथ सारे काम यंत्रीकृत और स्वचलकृत हों। ये उपाय उद्योग के प्रबंधकों तथा औद्योगिक डाक्टरों की निगरानी में किये जाते हैं। सैनीटरी और तकनीकी उपाय हैं: कार्य-स्थल के अच्छा वातायन का इंतजाम, स्नान-गृह, कपड़ों आदि के लिये व्यक्तिगत स्थान आदि का प्रबंध। सैनीटरी और हाइजीनिक उपायों में निम्न की गणना होती है: उत्पादन-स्थल की नियमित

और पूर्ण सफाई, धूल, कूड़ा तथा अनावश्यक वस्तुओं को हटाने का इंतजाम, ड्रेस की नियमित धुलाई, विशेष जूतों, साबुन, तौलिये, झाड़न, पोंछे आदि का सप्लाइ।

रोग के प्रारंभिक लक्षणों के शुरू में ही अनुवेदन के लिये समय-समय पर डाक्टरी निरीक्षण और परीक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है। काम पर नये भर्ती हुए लोगों का डाक्टरी परीक्षण होना चाहिये कि कहीं यह काम उनके लिये प्रतिसंकेतित तो नहीं है। इन लोगों में भी जिन्हें अवृत्तिक परोर्जिक चर्मशोथ हो चुका है, उनका परीक्षण विशेष आवश्यक होता है।

व्यक्तिगत निरोध-युक्तियों में निम्न की गणना होती है: श्रम-सुरक्षा नियमों का सही-सही पालन, व्यक्तिगत सुरक्षा के साधनों (दस्तानों, लबादों, मलहमों आदि) का नियमित उपयोग, साबुन व चर्म साफ करने के अन्य साधनों का उपयोग। सभी छोटी-मोटी चोटज क्षतियों का शीघ्र उपचार करना चाहिये; इसके लिये प्राथमिक उपचार के बक्से सैनीटरी पोस्ट पर रखे होने चाहिये, समय निकाल कर श्रमिकों को सुरक्षा-संबंधी निर्देश देने चाहिये। श्रमिकों व इंजिनियरों की कुशलता बढ़ाने के लिये उनके नियमित प्रशिक्षण पर भी ध्यान देना चाहिये; प्रशिक्षण अवधियों में उन्हें उत्पादन की सभी विशेषताओं से अवगत कराना चाहिये।

पिछले समय से असंख्य रक्षी द्रव्यों का विस्तृत पैमाने पर उपयोग हो रहा है, जैसे – 10 प्रतिशत सीलीकोन का क्रीम और साबुनों व पेस्टों के रूप में उत्पादित विविध संश्लिष्ट डेटर्जेंट, जो चर्म से गंदगी साफ करने के काम आते हैं और कोई क्षोभ नहीं उत्पन्न करते।

सही और नियमित रूप से संगठित स्वास्थ्य-शिक्षा (व्याख्यान वार्त्ताएं, पोस्टर, पर्चियां आदि) भी वृत्तिज चर्मरोगों के निरोध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

वृत्तिज चर्मक्लेश के हर रोगी के बारे में एक पूर्ण सूचना-पत्र सैनीटरी एवं बहुमारीलोचनी केंद्र में भेजा जाता है, जहां डाक्टरों, उद्योग एवं श्रमिक-संगठनों के प्रतिनिधियों की एक समिति रोग के कारणों का अन्वीक्षण करती है, उन्हें दूर करने के उपायों का अध्ययन और कार्यान्वयन करती है, स्वास्थ्य की रक्षा के लिये आवश्यक कदम उठाती है।

वृत्तिज चर्मक्लेशों (सबसे पहले वृत्तिज परोर्जिक चर्मशोथ और दिनाइ) का निरोध करने के लिये निम्न प्रबंध होने चाहिये: (1) परोर्जकों को दूर करना; (2) उच्च परोर्जिक गुणों वाले द्रव्यों की जगह कम परोर्जिक गुणों वाले द्रव्यों का उपयोग करना; (3) तकनीकी प्रक्रिया में इस तरह के सुधार लाना कि परोर्जिक द्रव्यों से एवं शरीर को संवेदित करने वाले द्रव्यों से वातावरण का प्रदूषण न हो; (4) परोर्जकों को निष्क्रिय करना (5) उत्पादन का यंत्रीकरण और स्वचलकरण; परोर्जक एवं हानिकर द्रव्यों के लीक न होने की व्यवस्था; (6) तकनीकी उपस्करों का विकास; (7) रक्षी वस्त्रों और द्रव्यों का उपयोग; (8) स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा और सूचनाएं; (9) उद्योगों में संवेदीकारी एवं क्षोभकारी द्रव्यों के उपयोग का निषेध करने वाले श्रम-कानूनों का सही-सही पालन।

नार्वचर्मक्लेश

नार्वचर्मक्लेशों के ग्रुप में ऐसे रोग आते हैं, जो तीव्र खुजली से शुरू होते हैं, अक्सर साथ में नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां भी होती हैं, जो (खुजली के साथ-साथ) पूरे रोग के दरम्यान बनी रहती हैं। इनमें कंडु, खुजली, पित्ती, कुंभिनर्वक्लेशिक शोफ और नार्वचर्मशोथ के विभिन्न रूप आते हैं।

शब्द 'नार्वचर्मशोथ' पहली बार 1891 में ब्रौक (Brocq) और जैक्वेट (Jacquet) ने

प्रयुक्त किया था; वे इन रोगों को चार्म नर्वक्लेश मानते थे, जिनमें विशिष्ट प्रकार की तीव्र खुजली होती है और बाद में चर्म का शैवाकीकरण होने लगता है।

ब्रिटिश-अमरीकी आयुर-साहित्य में विसरित नार्वचर्मशोथ को अक्सर 'आटोपिक चर्मशोथ' कहते हैं, जिसमें रोग की जन्मजात प्रकृति स्पष्ट होती है। लेकिन 'नार्वचर्मशोथ' नाम इस पीड़ादायक एवं कुटाली चर्मरोग के हेतुलोचन और गदजनन से संबंधित आधुनिक धारणाओं के बिल्कुल अनुरूप है।

सोवियत आयुरी साहित्य में नार्वचर्मक्लेशों का निम्न वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है: (1) चर्म-खुजली, स्थानाबद्ध, सार्वदैहिक; (2) नार्वचर्मशोथ, स्थानाबद्ध, विसरित; (3) कंडु, पयोपा में, वयस्क में, पर्विकीय; (4) पित्ती (चिरकालिक)।

चर्म-खुजली

यह अपने आप में एक स्वतंत्र रोग है, जिसमें तीव्र एवं कुटाली खुजली होती है; खुजली के कारण खरोंचें भी पड़ती रहती हैं। खुजली अनुभूत करने वाले अधिग्राहकों (रिसेप्टरों) की विशिष्टताओं के बारे में लोग अभी भी एकमत नहीं है। माना जाता है कि खुजली की अनुभूति पीड़ा अनुभूत करने वाले नर्व-सिरों द्वारा या मज्जाहीन रेशों के सिरों द्वारा होती है। खुजलाहट की संवेदना की उत्पत्ति में चर्म का सारा संवेदी उपकरण भाग ले सकता है। खुजली की संवेदना अंतर्प्रेरित करने वाले स्पंद मज्जाहीन C- तंतुओं (रेशों) के सहारे अधोवल्कुटी एवं वल्कुटी केंद्रों तक पहुँचाये जाते हैं।

चर्म-खुजली का निदान करने से पहले चर्म, रक्त, यकृत, वृक्क, अधोजठर, द्रव्य-विनिमय आदि की गड़बड़ियों से संबंधित उन सभी रोगों की संभावनाओं का गलत सिद्ध करना पड़ता है, जिनमें खुजली एक लक्षण के रूप में उपस्थित होती है। इस रोग में कोई भी प्राथमिक रूपलोचनी क्षति नहीं होती। जहां तक द्वितीयक रूपलोचनी क्षतियों का सवाल है, तो वे निस्तवचन एवं रक्तस्राव के रूप में हो सकती हैं (बिंदुक या रैखिक)। हमेशा खुजलाते रहने से कुछ रोगियों के नखों की किनारियां बिल्कुल चिकनी और चमकदार हो जाती हैं। खुजली अक्सर सुबह और रात को दौरों के रूप में होती है, दिन में अपेक्षाकृत कम होती है। इसकी उग्रता हल्की से अतितीव्र तक हो सकती है, जिससे अनिद्रा या पूर्ण अनिद्रा हो जाती है। तेज खुजली रोगी के कार्य में भी बाधक होती है। शैवाकीकरण कभी-कभी तीव्र खुजली और खरोंचों की पृष्ठभूमि में होता है। ऐसे केसों में कहा जाता है कि चर्म-खुजली नार्वचर्मशोथ में विकसित हो गयी है। विस्तार के अनुसार खुजली सार्वदैहिक अथवा स्थानाबद्ध हो सकती है। स्थानाबद्ध खुजली अक्सर जननेंद्रियों (भग, अंडकोष) तथा पृष्ठद्वार के क्षेत्र में होती है। कभी-कभी वह जांघ तथा पैर की मध्य सतहों पर तथा सर व गर्दन पर भी विकसित हो सकती है। स्थानाबद्ध चर्म-खुजली के कारण निम्न हैं: कृमि (प्रमुखतः सूत्र-कृमि); भग, योनी, ऋजु आंत (रेक्टम) व पृष्ठद्वार की श्लेष्मल झिल्लियों का शोथ; स्थानीय गड़बड़ियों (खुजली वाले क्षेत्रों पर वर्धित स्वेदन) के साथ-साथ अनुवर्क्लेश; नार्वमानसिक, नर्वयौन, अंतस्त्रावी तथा अन्य गड़बड़ियां। सार्वदैहिक खुजली भी उपरोक्त क्रियात्मक गड़बड़ियों में होती है, लेकिन अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे: अधेड़ एवं वृद्ध लोगों में द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां (जराकालीन खुजली), गरलक्लेश (सगर्भताकाल की खुजली), तथा अन्य, जो सदा स्पष्ट नहीं हो पाते।

चिकित्सा. निम्न एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन लक्षणपरक (सिंपटोमेटिक) चिकित्सा में सहायक

होते हैं: मेबहाइड्रोलीन नापाडीजीलेट (डिआजोलिन) (0.05-0.1 ग्राम, दो या तीन बार नित्य), प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड (पीपोल्फेन), क्लोरोपीरामीन (सुप्रास्टिन), फेनेथाजीन (0.25 ग्राम नित्य तीन बार, दोपहर के बाद और शाम को अधिक लाभप्रद होता है), और डीफेनिलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड (0.03-0.05 ग्राम दिन में दो बार)। सुप्रोस्टिन या पीपोल्फेन (2.0-2.5 प्रतिशत सांद्र घोल के 1-2 मिलिलीटर) की अंतर्पेशीय सूई का अधिक खुजलीविरोधी असर होता है।

कुछ रोगियों में कैल्सियम के प्रसाधनों का अच्छा प्रभाव पड़ता है (कैल्सियम क्लोराइड के 10 प्रतिशत सांद्र घोल के अंतर्शिरीय आधान या कैल्सियम ग्लूकोनेट के 10 प्रतिशत सांद्र घोल की अंतर्शिरीय सूई से)। इन्हें परानुकंपी नर्वतंत्र की तानता (लाल चर्मलेख) की प्रबलता (प्रिडोमीनेंस) की स्थिति में प्रलिखित करना चाहिये। अनुकंपी-तानता (श्वेत विलंबित और स्थायी चर्मलेख) में ये प्रसाधन प्रतिसंकेतित हैं, क्योंकि वे पनपू नर्वतंत्र के अनुकंपी भाग को उद्दीपित करते हैं। कुटाली और कष्टप्रद खुजली के कुछ रोगियों को कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन दिये जा सकते हैं यदि वे प्रतिसंकेतित न हों (दे. विसरित नार्वचर्मशोथ की चिकित्सा से संबंधित प्रकरण)। कोर्टिकोस्टेरोइडों से चिकित्सा के साथ-साथ वैद्युत-निद्रा और स्वापन के उपयोग की सलाह दी जाती है। जराकालीन खुजली के रोगी को सामान्य अश्व-पुच्छ (Equisetum नामक पौधे) का काढ़ा पीने की सलाह दी डाती है (तीन चौथाई उबलते पानी में अश्वपुच्छ का एक बड़ा चम्मच डाल कर बरतन उतार लेते हैं; एक-डेढ़ घंटे बाद काढ़े को छान कर उसे एक-एक घूँट सारा दिन पीते हैं। चिकित्सा दो-ढाई सप्ताह चलती है)।

नर्वक्लेशिक गड़बड़ियों वाले रोगियों को प्रशामक (ब्रोमाइड, यदि अच्छी तरह सहन होता हो), वालेरिआन और नार्वघातक (सेडुक्सेन पर्याय डिआजेपाम, क्लोरडिआजेपोक्सीद, लिब्रिउम, त्रिओक्साजीन) दिये जाते हैं। सार्वदैहिक खुजली में लाभ के लिये निम्न भौतिकीय चिकित्सा का उपयोग होता है: कृत्रिम या प्राकृतिक (तदनुरूप निरोगालय में) सल्फरित हाइड्रोज या रोडीन स्नान, बलूत की छाल या गेंदे के काढ़े को जल में मिला कर स्नान, चोकर के पानी में स्नान (एक बार में एक किलोग्राम) और समुद्र-स्नान। बाह्य चिकित्सा के रूप में (जो सार्वदैहिक खुजली में अस्थायी लाभ पहुँचाती है) थीमोल, कार्बोलिक अम्ल, मेंथोल का 1-2 प्रतिशत सांद्र अल्कोहलिक घोल, क्लोरेटोन (क्लोरोबूटोल) का 5 प्रतिशत सांद्र घोल 60-70 प्रतिशतीय एथिल अल्कोहल में, क्लोरल हाइड्रेट और मेंथोल-युक्त शेक मिक्स्चर का प्रयोग होता है। चर्म की शुष्कता का इलाज मुखमार्ग से विटामिन A, B_2 व B_3 द्वारा और किसी मृदुकारी क्रीम (lanolini,ol. Olivarum, Aq. distill. aa 30.0) द्वारा होता है।

स्थानाबद्ध खुजली में हमने खुजलीग्रस्त चर्म-क्षेत्र के गिर्द सूइयों की एक रीति प्रस्तावित की है। पहले आक्रांति-क्षेत्र को एथिल क्लोराइड से धोकर उसे (क्षेत्र को) संज्ञाहीन करते हैं (या कोई संज्ञाहरण नहीं किया जाता), फिर 0.15-0.25 प्रतिशत सांद्र 'मेथिल नीला घोल' को बेन्केन और किसी प्रोलौंगेटर के साथ मिला कर अंतर्पेशीय सूई देते हैं।

Rp: Sol. Methyleni coerulei medicinalis 0.25% 100
Bencaini 4.0
MDS. सूई के लिये

सूई के ठीक पहले इस घोल की 10-15 मिलिलीटर मात्रा को बुन्केन और मेथीलेन नीला का

खुजलीविरोधी प्रभाव दीर्घ करने वाले द्रव्य के साथ (उसी मात्रा में) मिला लेते हैं: डाक्टरी जेलाटिन, पोलीवीनिल या पोलीवीनिलपिरोलीडोन (पोवीडोन) के 10 प्रतिशत सांद्र घोल के साथ; अंतिम प्रसाधन सबसे अच्छा है, लेकिन उसका आण्विक द्रव्यमान 40000 से कम नहीं होना चाहिये।

एथिल क्लोराइड से सिंचन या कार्बन-डायक्साइड-बर्फ से सतही शमन का उपयोग अंडकोष (फोते) की स्थानाबद्ध खुजली में होता है। भग की खुजली के कुछ केसों में, जब अन्य रीतियां असफल हो जाती हैं, जननेंद्रिय के नर्वों का दुतरफा उच्छेदन या अल्कोहलीकरण किया जाता है।

स्थानाबद्ध खुजली की चिकित्सा बक्की की और डिआडिनामिक (पारप्रवेगिक) धाराओं (आयन मोडूलेटरों) से की जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइड मलहमों से अस्थायी तौर पर आराम मिलता है; ये मलहम हैं: सीनालार, लोकाकोर्टेन, 1-2 प्रतिशत हाइड्रोकोर्टीजोन, 0.5-1.0 प्रतिशत प्रेद्नीजोलोन, या 3-5 प्रतिशत टार-बोरिक अम्ल से युक्त मलहम जनन-ग्रंथियों के हर्मोनों (मुख्यतः पुंसज) से युक्त क्रीम, मेथिल टेस्टोस्टेरोन या टेस्टोस्टेरोन प्रोपिओनेट (लानोलिन के आधार पर, 0.15-0.25 प्रतिशत सांद्रता के साथ)।

नार्वचर्मशोथ

नार्वचर्मशोथ एक चिरकालिक पुनरावर्ती शोथी चर्मरोग है, जो तीव्र खुजली, पिटिकीय स्फोटों और स्पष्ट शैवाकीकरण के माध्यम से व्यक्त होता है।

परिसीमित और विसरित नार्वचर्मशोथों में भेद किया जाता है। कई अविशिष्ट रूप भी हैं: अतिपोषित नार्वचर्मशोथ (विशाल शैवाकीकरण), अतिशृंगी (मसेदार), मशिकीय नार्वचर्मशोथ, चेहरे का विसरित शैवाकीकरण, आदि।

हेतुलोचन और गदजनन. नार्वचर्मशोथ मुख्यतः अंतर्जनित घटकों के प्रभाव से होता है, जिनमें निम्न की गणना होती है: नर्वतंत्र, अंतस्त्रावी ग्रंथियों और आंतर अंगों के कार्य में गड़बड़ियां, द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां और प्रतिकूल परिवेशी घटकों के प्रभाव से होने वाली भीतरी गड़बड़ियां।

विभिन्न स्तरों की नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां भी पायी जाती हैं: वर्धित उत्तेजन या वर्धित नियंत्रण, शीघ्र क्लांति, दुर्बलता, संरचनात्मक अस्थिरता, अनिद्रा, आदि। इन सब के साथ-साथ यंत्रणादायक और कुटाली खुजली होती रहती है, जो नार्वचर्मशोथ का मुख्य लक्षण है। विद्युमस्तिष्कलेख, लेथिस्मोग्राफी, स्ट्रोनाक्सीमेट्री तथा अन्य रीतियों से परीक्षण करने पर पता चलता है कि सबसे पहले केंद्रिय नर्वतंत्र में गड़बड़ियां हैं, फिर पनपू नर्वतंत्र में (स्थायी श्वेत चर्मलेख; स्पष्ट रोमहर्षक (या लोमप्रेरक) प्रतिवर्त, ताप-नियमन, स्वेदन और वपास्राव में गड़बड़ी आदि)।

केंद्रिय नर्वतंत्र के उच्च भागों के कार्य में गड़बड़ी की प्रकृति प्राथमिक हो सकती है और नार्वचर्मशोथ की उत्पत्ति में हेतुलोचनी भूमिका निभा सकती है। कुछ रोगियों में वे द्वितीयक प्रकृति की भी हो सकती हैं, जो कुटाली चर्मरोग, प्ररक्षित एवं तीव्र खुजली और अनिद्रा से होती हैं। द्वितीयक नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां गदजनक महत्त्व रखती हैं और नार्वचर्मशोथ का प्रवाह तीव्र कर देती हैं। इस तरह एक दुश्चक्र बन जाता है: नार्वचर्मशोथ का उग्र प्रवाह तथा यंत्रणादायक खुजली नर्वक्लेशिक गड़बड़ियों को सहारा देती है और तीव्र करती है, जबकि नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां नार्वचर्मशोथ के प्रवाह को गंभीर बना देती हैं।

हमारी खोजों के अनुसार नार्वचर्मशोथ के रोगियों में अधिवृक्क वल्कुट, ढालवत ग्रंथि एवं जनन-

ग्रंथियों के कार्यों में गड़बड़ी पायी गयी है। तीव्र नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां (वर्धित उत्तेजनता, रागात्मक अस्थिरता, खुजली से संबंधित दीर्घकालीन ऋणात्मक भावानाएं, अनिद्रा) स्त्रेसी घटक (स्ट्रेस फैक्टर) हैं, जिनमें अधिवृक्क वल्कुट को अधिक तीव्रता से काम करना पड़ता है, अतः प्ररक्षित और तीव्र शोथी प्रक्रिया की परिस्थितियों में उसका कार्य धीरे-धीरे मंद होने लगता है और कुछ केसों में तो बिल्कुल बंद हो जाता है। अधिवृक्कों का कार्य पूर्णतया बंद हो जाने पर वे वर्धित आवश्यकता के अनुसार एंटीशोथी कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन (कोर्टिजोन, हाइड्रोकोर्टीजोन) अधिक मात्रा में स्रावित नहीं कर पाते। दूसरी ओर, नर्वचर्मक्लेश के रोगी में एंटीशोथी हर्मोनों की आवश्यकता अधिक मात्रा में होती है। कोर्टिकोस्टेरोइड स्राव में यह विरोधाभासयुक्त कमी शोथी प्रतिक्रिया को तीव्र कर देती है, अर्थात् चर्म में रोग-प्रक्रिया को तीव्र कर देती है, परोर्जिक प्रतिक्रिया को उग्र कर देती है। यह कुछ हद तक नार्वचर्मशोथ (संभवतः अन्य चर्मक्लेशों के भी) रोगियों में नर्वमानसिक चोटों के बाद या दीर्घकालीन ऋणात्मक रोगों के अंतर्गत रहने पर रोग-क्रिया उग्र होने लगती है।

उपरोक्त बातों से सिद्ध होता है कि विसरित एवं प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ के रोगियों के लिये रक्षी दिनचर्या (प्रोटेक्टिव रेजिमेन) प्रलिखित करना चाहिये स्वापन में सामान्य शांतिदायक एवं धनात्मक रागों का शब्दाधान करना चाहिये, स्वापन और विद्युनिद्रा के साथ धीरे-धीरे घटती मात्रा में कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन भी देने चाहिये।

नर्वचर्मक्लेश के रोगियों में ढालवत ग्रंथि की क्रियाशीलता बढ़ी होती है, विरलतः घटी हुई भी होती है; अक्सर वे जनन-ग्रंथियों की निष्क्रियता से पीड़ित होते हैं। इसीलिये नार्वचर्मशोथ के हेतुलोचन और गदजनन में नार्व-अंतस्रावी गड़बड़ियों और परोर्जिक प्रतिक्रियाओं की भूमिका प्रमुख होती है।

विभिन्न कारणों और अंतस्रावी गड़बड़ियों से नर्वतंत्र का दीर्घकालीन तनाव ऐसी पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिसपर 'चार्म नार्वक्लेश, अर्थात् नार्वचर्मशोथ, तथा अन्य परोर्जिक प्रतिक्रियाएं विकसित होती हैं।

नार्वचर्मशोथ में परोर्जिक अवस्था का महत्त्व निम्न घटकों से प्रमाणित होता है:

(1) विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर पयोपा-दद्रु से शुरू होता है, जो नियमतः पारश्लेषण की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न होता है। पयोपा-दद्रु के अतिरिक्त वपास्रावी (और विरलतः वास्तविक) दिनाइ भी धीरे-धीरे नार्वचर्मशोथ में परिणत हो जाते हैं (यदि वे प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर लेते हैं)। इस तरह की परिणतियां पयोपा-दद्रु और वयस्कों में वपास्रावी दिनाइ के लिये लंछक हैं। अत्यल्प प्रायिक केसों में सीरमी या दद्रु-कूपों के रूप में रिसाव वाला वस्तिकायन और तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी तल्पिक चित्र में अधिक हावी रहती है, बनिस्बत कि शैवाकीकरण से युक्त पिटिकीय स्फोट और अंतर्स्यंदन।

(2) परोर्जिक स्फोट और खुजली स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ में मुख्य अधिकेंद्रों से दूर स्थित चर्म-क्षेत्रों पर भी पाये जा सकती है।

(3) नार्वचर्मशोथ के अनेक रोगियों का शरीर प्रतिजीवकों, किन्ही अन्य दवाओं या खाद्य सामग्रियों के प्रति अतिसंवेदी होते हैं।

(4) नार्वचर्मशोथ के साथ-साथ रोगी में अक्सर अन्य परोर्जिक रोग भी पाये जाते हैं, विशेषकर ब्रोंखी दमा, कुंभीप्रेरक नासाशोथ और पित्ती।

(5) हमारे विभाग में संपन्न किये गये परीक्षण यह दिखाते हैं कि नार्वचर्मशोथ से पीड़ित अनेक रोगियों में बोयडेन (Boyden) के निष्क्रिय रक्तस्कंदन परीक्षण, कूंब्स (Coombs) और कुंस (Kuns) के एंटीग्लोबूलिन-परीक्षण आदि जैसी इमूनो-परोर्जिक प्रतिक्रियाएं तीव्र धनात्मक होती हैं। इससे इन रोगियों में एकसंयोजी प्रतिकायों (स्व-प्रतिकायों) की उपस्थिति सिद्ध होती है।

सर्वप्रथम केंद्रिय नर्वतंत्र की, फिर पनपू नर्वतंत्र और अंतस्त्रावी तंत्र की गड़बड़ियों की दृष्टि से नार्वचर्मशोथ की उत्पत्ति का कारण समझाने के प्रयत्नों और इस रोग में शरीर की परोर्जिक अवस्था तथा विभिन्न आंतर अंगों की द्रव्य-विनिमय से संबंधित गड़बड़ियों की भूमिका स्पष्ट करने के प्रयत्नों के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है; उल्टा, ये एक-दूसरे के पूरक हैं। नर्वतंत्र की गड़बड़ियों के साथ अक्सर अंतस्त्रावी व्यवधानों (अधोवर्ध-अधिवृक्कीय तंत्र और अपेक्षाकृत विरलतः ढालवत एवं जनन-ग्रंथियों की गड़बड़ियों) के अवलोकन से इस बात की पुष्टि होती है कि नार्वचर्मशोथ के गदजनन में नार्वअंतस्त्रावी गड़बड़ियों की ही प्रमुख भूमिका होती है।

ऋजु आँत और मल-मार्ग की श्लेष्मल झिल्लियों के चिरकालिक अतिश्यायी शोथ से पृष्ठद्वार के क्षेत्र में स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ और खुजली के गदजनन में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बड़ी व छोटी (तथा दोनों) आँतों और जठर (या तीनों) के चिरकालिक शोथ के साथ-साथ ऋजु आँत तथा मल-मार्ग (या दोनों) का भी शोथ होता है और मल-विसर्जन में अवरोध होने लगता है। इससे शरीर में आँत के गरणकारी द्रव्यों का अपचोषण होने लगता है (शरीर का स्वगरल-क्लेश या स्वगरलता)। अतिसार, या मल में श्लेष्मला के साथ कब्ज के कारण पृष्ठद्वार की श्लेष्मला और चर्म क्षोभित हो जाते हैं और इनमें भी इस चर्मक्षेत्र में नार्वचर्मशोथ के उग्र होने की परिस्थितियां बन जाती हैं। इस पृष्ठभूमि पर कबकज या खमीरज क्षतियां उत्पन्न हो सकती है। पृष्ठद्वार के गिर्द विदार; रक्तस्रावस (अधिकांशतः बाह्य, विरलतः आंतरिक) और जोंक (मुख्यतः सूत्र-कृमि) भी इस क्षेत्र में स्थानाबद्ध खुजली और नार्वचर्मशोथ विकसित कर सकते हैं।

बाह्य जननेंद्रियों के क्षेत्र में स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ के गदजनन में मुख्य भूमिका निम्न की हो होती है: नार्वयौन गड़बड़ियां, जनन-ग्रंथियों तथा हार्मोन-स्राव से संबंधित गड़बड़ियों, जननेंद्रियों के क्षेत्र में विभिन्न शोथी प्रक्रियाओं, और यौन क्षेत्र के चिरकालिक रोगों की (विशेषकर गर्भाशय के उपांगों के शोथ, गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली के शोथ और पुरुषों में पुरस्थशोथ की)।

अनीव्र शोथी प्रकृति की सामान्य पृष्ठभूमि में चर्म के शैवाकीकरण का अंतर्स्यंदन विसरित नार्वचर्मशोथ के तल्पिक चित्र पर हावी रहता है। आक्रांति के अधिकेंद्र अधिकांशतः चेहरे, गरदन, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों (कोहनी और घुटनों के विपरित तरफ गड्ढेनुमा क्षेत्रों), जननेंद्रियों के क्षेत्रों, जांघों की मध्य सतहों तथा शरीर के अन्य क्षेत्रों पर होते हैं। प्राथमिक रूपलोचनी क्षतियों के रूप में अक्सर अधिचार्म एवं सुचार्म पिटिकाएं पायी जाती हैं। रंग में उन्हें स्वस्थ त्वचा से अलग करना मुश्किल होता है और कहीं-कहीं पर वे संगम कर के पिटिकीय अंतर्स्यंदन के क्षेत्र बनाती हैं। आक्रांति-क्षेत्र पर त्वचा अक्सर अतिवर्णकित और शुष्क हो जाती है, उस पर असंख्य निष्वचन और सूक्ष्म चोकर जैसा शल्कन दिखाई पड़ता है। नैसर्गिक पुटकों में अंतर्स्यंदन की पृष्ठभूमि पर रैखिक विदार पाये जाते हैं। चर्म की आक्रांति निम्न लक्षणों में व्यक्त होती है: तीव्र खुजली और एकलरूपी अनेक केसों में किसी न किसी डिग्री की नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां, श्वेत चर्मांख, स्पष्ट लोमहर्षक प्रतिवर्त; ये सब मिलकर नार्वचर्मशोथ का लंछक तल्पिक चित्र बनाते हैं। नार्वचर्मशोथ के रोगियों में अवकोर्टिकता (कोर्टिकोस्टेरोइडों का अपर्याप्त स्राव) अतिवर्णकता के अतिरिक्त अक्सर निम्न लक्षणों में व्यक्त होता है: अवतान, अवप्रवेगन, परोर्जिक प्रतिक्रियाएं,

जठर-रस का अल्प स्राव रक्त-अवमिष्टता, मूत्र-विसर्जन में कुछ कमी, दुबलापन (शरीर के भार में कमी), वर्धित क्लांति।

विसरित नार्वचर्मशोथ अक्सर मौसमी होता है: रोगी की दशा अक्सर गर्मियों में सुधर जाती है और जाड़ों में बिगड़ जाती है। कुछ केसों में प्रक्रिया के साथ-साथ ब्रौंखी दमा, परागज ज्वर, कुंभीप्रेरकीय नासाशोथ तथा अन्य परोर्जिक रोग होते हैं। प्रक्रिया का इंपेतिगीकरण और दद्रुकरण भी संभव है (वस्तिकायन का विकास, अल्पकालीन रिसाव, तीव्र शोथी प्रकृति की ललामी)।

विसरित नार्वचर्मशोथ को यदि गदोतलोचनी दृष्टि से देखा जाये, तो वह निम्न लक्षणों से लंछित होता है: परा- एवं अतिश्रृंगनता, हल्के कंटलयक्लेश, आंतर- एवं अंतराकोशिकीय शोफ, पिटिकाओं के शोफ, गोल-कोशिकीय (लसोतकोशिकीय) अंतर्स्यंदन, जो अधिकांशतः सुचर्म में हल्का विस्फारित कुंभियों के गिर्द पाया जाता है।

स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ सीमित चर्म-क्षेत्र पर ही उत्पन्न होता है, लेकिन तीव्र खुजली के कारण वह रोगी के लिये बड़ा यंत्रणादायक होता है। खुजली शाम को या रात को उत्पन्न होती है। इसके प्रिय स्थल हैं: गरदन की पश्च और पार्श्व सतहें, पृष्ठद्वार व जननेंद्रिय के क्षेत्र (इन रोगियों में जांघ की मध्य सतह भी रोग-प्रक्रिया से ग्रस्त रहती है), नितंबों के बीच का पुटक, वृहत संधियों की ऋजुकारी सतहें। शुरू में रोग-स्थल पर त्वचा अपरिवर्तित रहती है। बाद में धीरे-धीरे सघन बनावट की पिटिकीय क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जो चोकर जैसे शल्कों से ढकी होती हैं; कहीं-कहीं खुजली से खरोंचें भी बन जाती हैं। इसके बाद अलग-अलग, अधिकांशतः शैवाकवत पिटिकाएं संगम कर जाती हैं और विभिन्न आकारों के [illegible] (सतत पिटिकीय अंतर्स्यंदन) बना लेती हैं, जिनका रंग फीका गुलाबी से भूरा [illegible] तक हो सकता है; उनकी परिरेखाएं गोल (वृत्ताकार) या अंडाकार होती हैं। चर्म पर नक्काशी जैसी आकृतियां स्पष्ट हो होती जाती हैं, अर्थात् शैवाकीकरण विकसित होने लगता है। त्वचा कीमुख जैसी होती जाती है (चित्र 20)। स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ में प्रक्रिया जब अपनी पराकाष्ठा पर होती है, तब विशिष्ट केसों में तीन प्रकार के कटिबंध पाये जा सकते हैं: केंद्रिय कटिबंध (शैवाकीकरण का), मध्य कटिबंध, जिसमें अलग-अलग चमकदार, अक्सर चिकनी और फीके गुलाबी रंग की पिटिकाएं होती

चित्र 21. स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ (विडाल का शैवाक)

है, और अंत में—परिमरीय कटिबंध, जिसमें अनिवर्णकता पायी जाती है। निम्त्वचन (ताजा या रक्तस्रावी खट्टियों से आच्छादित) अक्सर ललामी की पृष्ठभूमि पर देखी जाती हैं, जिसकी प्रकृति अशोथी होती है। प्रक्रिया के उग्र होने पर ग्रुपों में संगमित शैवाकवत पिटिकाओं के अतिरिक्त प्रकिर्णित कंडुक क्षतियां भी दिखाई देती हैं, शल्कन तीव्र हो जाता है और ललामी चमकदार हो जाती है। रोग प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर लेता है, जिसकी लंबाई वर्षों की अवधि में नापी जा जाती है।

ऊतगदलोचन. ऊतलोचनी चित्र पराश्रृंगनता (विरलतः अतिश्रृंगनता), कंटलय, पिटिकामय व अक्सर जालिकामय मुचार्म परतों के अंतर्स्यदन द्वारा लंछित होता है।

चिकित्सा. विसरित प्रक्रिया वाले रोगियों के लिये प्रशामक चिकित्सा व मनोथेरापी के साथ-साथ प्रतिशोथी (एंटीशोथी) एवं अवसंवेदनकारी कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों (उर्बाजोन पर्याय मेथिलप्रेद्नीजोलोन, डेक्सामेथाजोन) की अल्प खुराकें धीरे-धीरे बढ़ती मात्रा में प्रलिखित की जाती है। ये हर्मोन निम्न स्थितियों में दिये जाते हैं: रोग के कुटाली प्रवाह में, तीव्र खुजली में, आक्रांति-अधिकेंद्र के प्रकीर्णन की प्रवृत्ति में, और जब चिकित्सा को अन्य रीतियों से कोई लाभ नजर नहीं आता। नर्वतंत्र की कार्यशीलता को सामान्य करने तथा नर्वक्लेशिक प्रतिक्रिया कम करने के लिये निम्न का उपयोग किया जाता है: विद्युनिद्रा (स्वापन के साथ), ब्रोमाइड के प्रसाधन, वालेरिआना, नर्वघाती प्रसाधन (मेप्रोबामेट, त्रिओक्साजीन, क्लोरडिआजेपोक्सीड, लिब्रिउम, मेडुक्सेन), गुच्छिका-अवरोधकारी प्रसाधन (नार्कोफिन, क्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड, हेक्सामेथोनियम, आदि) और एंटीहिस्टामीनिक प्रतिकृत प्रसाधन (टावेजिल या टावेगिल, डिमेड्रोल, सुप्रोस्टिन, डिप्राजिन आदि)। बी-संकुल के विटामिन और विटामिन पी-पी तथा ए प्रलिखित किये जाते हैं (बच्चों के लिये विकीर्ण रूप में और बड़ों के लिये विटामिन ए का तेल में सांद्रित घोल के रूप में; विटामिन ए और इ अंतर्पेशीय सूई के रूप में अलग-अलग या एविट के रूप में दिये जाते हैं)। अधेड़ रोगियों को मेथिलटेस्टोस्टेरोन प्रलिखित किया जाता है। सल्फरित हाइड्रोजन तथा रेडोन के घोल में स्नान, पराबैंगनी विकिरण और सौर चिकित्सा (फोटारसायन-थेरापी) भौतिकीय चिकित्सा के साधन हैं: रेंडे, बलूत की छाल या गुलदाउदी (कैमोमीले) के काढ़े के साथ स्नान की भी सलाह दी जा सकती है। स्नान के बाद शुष्क चर्म-क्षेत्रों पर कोई संपक्व क्रीम (lanoline, ol. olivarum, Aq. destill. aa 30.0) या जैतून (ओलिव) का तेल लगाया जाता है। नाफ्थालन, टार, सल्फर, इक्थामोल, ASD घोल आदि के साथ केराटोप्लास्टिक मलहम लगाये जाते हैं।

कोर्टिकोस्टेरोइडों से युक्त मलहम (सीनालार, लोकाकोर्टेन, फ्लूसीनार, फ्लोरोकोर्ट आदि) सम क्षेत्र में लगाये जाते हैं। अनीलीन रंजक, कास्तेलानी का पेंट, और ओक्सीकोर्ट, जेओकोर्टोन (ट्रिओकोर्टोन), लोकाकोर्टेन N, लोकाकोर्टेन-त्रिओफोर्म मलहम द्वितीयक पैठन में प्रयुक्त होते हैं। उत्सर्पित एवं प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ के रोगियों की तरह स्थानाबद्ध रोग- प्रक्रिया वाले रोगियों को भी प्रशामक और एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन, मसालों, स्मोक्ड (धूमायित) खाद्य पदार्थ और नमक से विहीन आहार दिया जाता है। अल्कोहलिक पेय और खुजली व चर्मशोथ तीव्र करने वाले आहार से पूर्ण परहेज किया जाता है। स्थानाबद्ध नार्वचर्मशोथ में आक्रांति-अधिकेंद्र के गिर्द 0.5 प्रतिशत सांद्र मेथीलीन नीला घोल की सूई दी जाती है (उसके साथ बेन्केन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का 2 प्रतिशत सांद्र घोल और जेलाटिन या पोलीवीनिलपीरोलीडोन का प्रोलौन मिला कर)। अधिकेंद्र के स्पष्ट शैवाकीकरण और अंतर्स्यदन में अधिकेंद्र के गिर्द हाइड्रोको-

टिंजोन इमल्शन की सूइयां वांछनीय हैं। बक्की की किरणों द्वारा चिकित्सा से भी लाभ होता है उसे बनाये रखने के लिये और पुनरावर्तन का निरोध करने के लिये गर्मियां किसी दक्षिणी इलाके में व्यतीत करने की सलाह दी जाती है। साथ-साथ युक्तिसंगत स्वास्थ्यप्रद दिनचर्या, चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रों की चिकित्सा और आहारीय, औषधीय तथा घरेलू परोर्जकों (जानवरों के रोओं, दैनंदिन जीवन में प्रयुक्त रसायनों, घरेलू धूल, आदि) से बचाव भी आवश्यक होता है।

कंडु

कंडु के दो मुख्य प्रकार हैं: पयोपिक कंडु और वयस्कीय कंडु। एक कम प्रायिक रूप भी है—पर्विकीय।

पर्विकीय कंडु तल्पिक और ऊतगदलोचनी रूप से एक अच्छी तरह परिभाषित रोग है। रूपलोचनी क्षतियां अर्धवर्तुल कठोर पीपिकाएं हैं, जिनका व्यास 5-12 मिलिमीटर तक होता है और सतह मसे जैसी होती है। वे अक्सर पैरों की ऋजुकारी सतहों पर होती हैं, हाथों और धड़ पर अपेक्षाकृत विरले ही होती हैं। रोग लाल चौरस शैवाक के अतिपोषित रूप से बहुत मिलता-जुलता होता है। यह मुख्यतः अधेड़ उम्र की स्त्रियों में पाया जाता है और प्रक्षित प्रवाह द्वारा लंछित होता है। इसके निमित्त कारणों में रागात्मक स्त्रेस और मच्छड़ों के डंक का नाम आता है। बहुत तीव्र और कुटाली खुजली नर्व-अभिग्राहकों में परिवर्तन ला देती है।

ऊतलोचनी चित्र में मुख्य बात है—शृंगी, और कहीं-कहीं कणमय अधिचर्म परतों का मोटा होना। अंतरापिटिकीय पुलिन सुचर्म में बहुत गहरे धँसे [illegible] (स्पष्ट कंटलथ)। सुचर्म में (मुख्यतः जालिकामय परत के ऊपरी भागों में) लसकोशिकाओं, रेशांकुरों और ऊतकोशिकाओं के वृहत कोशिकीय अंतर्स्यंद पाये जाते हैं। अंतर्स्यंदों के केंद्रिय भागों में कोई भी कोलाजनी या प्रत्यास्थ रेशे (तंतु) नहीं पाये जाते। नर्व-सिराओं व नर्व-बंडलों की बहुत स्पष्ट अतिवृद्धि और नर्व-तनों की श्वान्न (Schwann)-निरूपित झिल्लियों का स्थूलन अवलोकित होता है। नर्व- तंतुओं का अवजनन यत्र-तत्र संरचनाहीन फटे बंडलों के रूप में देखा जाता है।

चिकित्सा. चंद पीपिकाओं के गिर्द किसी प्रोलौंगेटर (डाक्टरी जेलाटिन या पोलीवौनिलपिरीलीडोन) के साथ बेन्केन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का 1-2 प्रतिशत सांद्र घोल में मेथीलीन नीला का 0.25 प्रतिशत सांद्र घोल मिलाकर इसकी सूइयां देते हैं। कुछ कंडुक पर्विकीय क्षतियां द्रव नाइट्रोजन, कार्बन डायक्साइड या पारतापीय स्कंदन की सहायता से नष्ट की जाती हैं। इस समय एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन और प्रशामक प्रयुक्त होते हैं।

पयोपिक कंडु (पर्याय: स्त्रोफूलुस, बच्चों में पिटिकीय पित्ती, पयोपा में पित्ती) 5 महीने से 3 वर्ष तक के बच्चों को होता है, जो रिसालु पारश्लेषण से पीड़ित होते हैं। यह रोग अक्सर जीवन के प्रथम वर्ष में ही शुरू होता है। इसके गदजनन में आहार (मां या गाय के दूध में उपस्थित प्रोटीन; काजेइनोजन) के प्रति संवेदीकरण एक प्रमुख भूमिका निभाता है। बड़े बच्चों में रोग निम्न वस्तुओं से उग्र हो सकता है: चाकलेट, टिनबंद खाद्य सामग्री, नीबू जाति के फल, अंडे, कभी-कभी छत्रक, स्ट्रा-बेरी, कुछ प्रकार की मछलियां, कुछ औषधियां।

आहार एवं दवाओं के प्रति संवेदीकरण के अतिरिक्त आंत से स्वसंवेदीकरण का भी कंडु के विकास में विशेष महत्त्व होता है।

तल्पिक चित्र. अक्सर दौरों के रूप में होने वाली खुजली के अतिरिक्त बच्चों में विसरित पिटकीय-वस्तिकीय या कभी-कभी पित्तिक-चित्तिक स्फोट चेहरे, शिरोवल्क, धड़, नितंबों और हाथ-

पैर की ऋजुकारी सतहों पर विकसित होती हैं। श्लेष्मल झिल्ली ग्रस्त नहीं होती। पिटकीय क्षतियां और उनके शिखरों पर वस्तिकाएं सबसे सामान्य होती है, इसके बाद बिंदुक अपरदन और सीरमी खट्टियों का स्थान आता है।

ऊतलोचनी चित्र में सुचर्म की पिटिकामय परत का शोफ दिखायी देता है। अधिचर्म की काँटल परत में परिकुंभिक अंतर्मर्दन, कंटलय, और अंतर्कोशिकीय तथा अंतराकोशिकीय शोफ होता है, जिसके कारण सीरमी रिसाव से पूर्ण नन्हे कोटर उत्पन्न होते हैं।

अनेक बच्चों में कंडु दूध छुड़ाने पर ठीक हो जाता है। कभी-कभी ही वह वयस्क के चिरकालिक कंडु, कंडुक दिनाइ, या विसरित नार्वचर्मशोथ या बेस्नियर (Besnier) के कंडु (प्रकीर्णित नार्वचर्मशोथ) में विकसित होता है। कुटाली कंडु से ग्रस्त ऐसे बच्चों में श्वेत चर्मलिख, एक स्पष्ट नर्वक्लेशिक अवस्था, शुष्क त्वचा, व्यवधानित स्वेदन, और वर्धित लसपर्व (विशेषकर जाँघ और जंघामूल में) पाये जाते हैं। तलवे का प्रतिवर्त अनुपस्थित होता है और उदरीय प्रतिवर्त क्षीण होता है।

नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां (वर्धित क्षोभिता, चिड़चिड़ापन, पूर्ण या आंशिक अनिद्रा) के साथ-साथ रिसालु-अतिश्यायी गठन और नर्वतंत्र की अपसामान्य अस्थिरता माता-पिता से विरासत में मिले हुए प्राथमिक गुण हो सकते हैं, लेकिन वे रोग से भी उत्पन्न हो सकते हैं। अंतिम स्थिति में बहुत तीव्र खुजली होती है, जो इन रोगों में गरण-परोर्जिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति होती है।

निदान. नार्वचर्मशोथ से कंडु सिर्फ स्फोटों के स्थान और उनकी कुछ रूपलोचनी विशेषताओं में भिन्न होता है: नार्वचर्मशोथ में स्फोट अधिकांशतः हाथ-पैर की आकुंचक सतहों पर होते हैं, जबकि कंडु ऋजुकारी सतहों पर पाया जाता है। खाज और औषधज रोगों के साथ भी विभेदक निदान करना चाहिये।

चिकित्सा. आहार-नियमन द्वारा चिकित्सा सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। बच्चों के आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिये (दे. तदनुरूप प्रकरण)। बच्चे (शिशु) को बहुत अधिक नहीं खिलाना चाहिये, उसके आहार में गाजर का रस, दही, घरेलू पनीर आदि यथासंभव जल्द शुरू करना चाहिये और उनकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये। अवसंवेदीकरण के लिये शिशु को स्तनपान कराने से 15-20 मिनट पहले माँ का स्तन से 10-15 बूंद हाथ से दुह कर देना चाहिये।

सब्जियां (गाजर, पत्ता-गोभी, पालक, मटर) और फल प्रचुर मात्रा में देनी चाहिये। दूध व खट्टे उत्पाद (दही आदि) और घर में पकाया गया मांस देना चाहिये। वनस्पति तेल दिया जाता है। नमक, कार्बोहाइड्रेट और वसा यथासंभव कम देना चाहिये। आहार विटामिन सी, बी तथा ए से समृद्ध होना चाहिये।

रिसालु पारश्लेषण से पीड़ित बच्चों का आहार निर्धारित करने में निम्न नियम का पालन करना चाहिये: आहार में प्रोटीन की मात्रा उम्र के अनुसार शरीरलोचनी आवश्यकता के बराबर होनी चाहिये (जीवन के प्रथम तीन महीनों में 2.0-2.5 ग्राम किलोग्राम नित्य; तीन से छे महीने तक 3 ग्राम प्रति किलोग्राम, 6 से 12 महीने तक के या इससे अधिक उम्र के बच्चे के लिये 3.5-4.0 ग्राम प्रति किलोग्राम)। वसा और कार्बोहाइड्रेट शरीरलोचनी आवश्यकता से कुछ कम देना चाहिये: 12 महीने की उम्र के बाद वसा 6-7 ग्राम प्रति किलोग्राम (शरीर का भार) और कार्बोहाइड्रेट 12-14 ग्राम प्रति किलोग्राम से कम।

कड़क परोर्जिक चर्मक्लेश उत्पन्न करने वाले जितने भी खाद्य पदार्थ हैं, उन्हें बालवाड़ी, स्कूल-घर एवं स्कूल के उम्र में मना कर दिया जाता है।

भावी माँओं को और दूध आने के समय माँओं को अंडे, मछली, नीबू जाति के फल, मांस का गाढ़ा शोरबा आदि नहीं ग्रहण करना चाहिये। नमकीन एवं वसायुक्त पदार्थ कम करना चाहिये। फल और सब्जियां प्रचुर मात्रा में खाना चाहिये। दूध के खट्टे उत्पाद और उबला मांस खाने की सलाह दी जाती है।

जोंक है या नहीं, इसका परीक्षण अवश्य होना चाहिये; यदि है, तो उसका इलाज अवश्य होना चाहिये – बच्चों का ही नहीं, वरन् भावी एव स्तनपान कराने वाली माँओं का भी, क्योंकि जोंक, विशेषकर नेमाटोड कृमि, शक्तिशाली परोर्जिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। रिसालु पारश्लेषण के रोगी में पैंठन के अधिकेंद्रों (चिरकालिक गलशुंडी, कर्णशोथ, पित्ताशयशोथ, नासाशोथ) की चिकित्सा बहुत ध्यान के साथ करना चाहिये। इससे पैंठनजनित परोर्जन और स्वपरोर्जन के विकास की संभावना दूर हो जाती है।

कंडु से पीड़ित बच्चों को निम्न प्रसाधन दिये जाते हैं। एंटीहिस्टामिनिक और नर्वघाती प्रसाधन, प्रशामक, बी- संकुल के विटामिन, विटामिन ए, रूटिन, ऐस्कोर्बिक अम्ल। कैल्सियम के प्रसाधन वेगसतानता (परानुकंपी नर्वों की तानता) में वांछनीय हैं (जब लाल विसरित चर्मालेख होता है, जो अक्सर स्थायी प्रकृति का होता है)। कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों का उपयोग विशेष कुटाली केसों में धीरे-धीरे कम होने वाली खुराकों में किया जाता है।

पराबैंगनी विकिरण की अवललामिक खुराक सुसंकेतित भौतिक चिकित्सा है (एक दिन बीच दे कर, कुल 20 अनावृत्तियां)। बड़े बच्चों की चिकित्सा लंबर इंडक्टोथर्मिया से की जा सकती है। यदि पूयकोकी पैंठन न हो, तो गेंदे, बलूत की छाल, [illegible] और कभी-कभी चोकर के काढ़े के साथ स्नान से फायदा होता है।

बाह्य चिकित्सा की प्रकृति सहायक होती है, इसका उपयोग सिर्फ विवेकसंगत आहार और सामान्य थेरापिक युक्तियों के साथ ही किया जाता है। कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों से युक्त मलहम व क्रीम और ग्लीसेरिन के साथ जलीय-जिंक का शेक लोशन प्रलिखित किया जाता है।

पूयकोकी (पिग्रोकोकल) पैंठन से क्लिष्ट क्षतियों में अलीबर (Alibur) का घोल प्रयुक्त होता है:

Rp: Sol. Zinci sulf. 0.25%
Sol. Cupri sulf. 0.5% aa 50.0
Sp. Vini 96% 20.0
MDS बाह्य अनुयोग के लिये

चर्म में 60 प्रतिशतीय एथिल अल्कोहल के साथ 1 प्रतिशत विनेगार मिला कर मालिश की जा सकती है। पीपिकाओं को खोल कर उन्हें अनीलीन रंजकों के 1-2 प्रतिशत सांद्र घोल से, पोटाशियम परमैंगनेट के 1-2 प्रतिशत सांद्र घोल से या सिल्वर नाइट्रेट के 5-10 प्रतिशत सांद्र घोल से पेंट किया जा सकता है। यदि ऊपर से खट्टियां पड़ी हुई हैं (पूयिक या सीरमी-पूयिक), तो ओक्सीकोर्ट, गेंग्रोकोर्टोन, लोकाकोर्टेन जैसे मलहम या विग्रोफोर्म, नेग्रोमीसिन से युक्त मलहम प्रलिखित किये जाते है।

वयस्कीय (या वयस्कों में) कंडु के लक्षण हैं खुजली और पिटकीय स्फोट। ये स्फोट मुख्यतः हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों, पीठ, उदर, कमर और नितंबों पर होते हैं। हाथ-पैर की आकोचनी

सतहें और चेहरा अक्सर रोग-प्रक्रिया से मुक्त रहते हैं। पिटक बिखरे होते हैं, कठोर और शंक्वाकार या अर्धवतुल होते हैं; उनका आकार पिन के सर से ले कर बाजरे के दाने के बराबर तक हो सकता है। वे गुलाबी आभा के साथ लाल होते हैं और उनपर रक्तस्रावी खट्ठियां हो सकती हैं (निस्त्वचन के कारण)। शोफ के कारण कुछ पिटक पित्ती की तरह दिखने लगते हैं। पीपिकाएं द्वितीयक पूयकोकी पैठन के कारण उत्पन्न होती हैं। रोग कुछ सप्ताह से ले कर महीनों तक चलता रह सकता है। चिरकालिक कंडु में नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां और निद्रा में व्यवधान विकसित हो सकता है। ऐसे रोगियों में लसपर्व वर्धित हो जाते हैं और एओजीनोफीलिआ होती है।

विभेदक निदान ड्यूरिंग-रोग के साथ किया जाता है, जिसमें बहुरूप स्फोट होते हैं (वस्तिकाएं, बुल्ले, पित्तिक, ललामिक और पिटकीय क्षतियां), वस्तिकीय क्षतियों में ग्रुपों के रूप में उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती है, रोगी पोटाशियम आयोडीन के प्रति अतिसंवेदी होता है, बुल्ला के भीतर द्रव में एओजीनोफिलों की संख्या बढ़ी होती है। खाज अक्सर हाथ-पैर की आकुंचनी सतह पर तथा अन्य विशिष्ट स्थलों पर होता है, पिटकीय-वस्तिकीय क्षतियों में कुटकियां पायी जाती हैं।

चिकित्सा वैसी ही है, जैसी विसरित नार्वचर्मशोथ के रोगियों की।

पित्ती

पित्ती गारक (टौक्सिक) एवं परोर्जिक मूल का रोग है और त्वचा पर पित्तिक स्फोटों द्वारा लक्षित होता है, ये स्फोट कभी-कभी श्लेष्मल झिल्लियों पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। पित्ती के बहिर्जनित कारण (भौतिकीय, तापीय, यांत्रिक, रसायनिक, दवाएं, विशेषकर प्रतिजीवक, सेरा और आहार) और अंतर्जनित कारण (उदरस्थ आंतर अंगों – जठरांत्र, यकृत – में रोग-प्रक्रियाएं, नर्वतंत्र के कार्य में गड़बड़ी) होते हैं। सभी केसों में इसकी उत्पत्ति के पीछे कई सामान्य बातें भी हैं। हेतुलोचनी (स्वजनित और बहिर्जनित) घटक द्रुत या विलंबित अतिसंवेदिता के विकास को प्रोत्साहित करते हैं, जिनसे हिस्टामीन जैसे रसायनिक तौर पर सक्रिय द्रव्य संचित होते हैं। हिस्टीडीन डेकार्बोक्सीलेज नामक खमीर के प्रभावाधीन अमीनो अम्ल हिस्टीडीन से बनने वाला हिस्टामीन कोशिकाओं को विस्फारित करता है और कुंभिक दीवारों की बेधिता बढ़ा देता है, जिसके फलस्वरूप सूचर्म की पिटिकामय परत में तीव्र शोफ विकसित होता है और इसी से त्वचा पर उभारे दिखने लगते हैं। थूलकोशिकाएं और बासोफिल – ये दोनों हिस्टामीन के भंडार हैं, जिनमें वह अंतर्कोशिकीय ऊतकीय प्रोटीनों के साथ वैल्टीडी अनुबंध द्वारा बंधा रहता है और प्रोटेआज़ द्वारा मुक्त हो सकता है। प्रोटेआज़ (ट्रिप्सिन) एंटीजन-एंटीकाय की प्रतिक्रिया से सक्रिय हो उठते हैं (थूलकोशिकाओं पर एंटीजन को एंटीकाय या प्रतिकाय के साथ बांधते हुए)। इस प्रतिक्रिया के कारण स्क्रोटोनीन, एसेटिलखोलीन, ब्राडीकीनिन और मंद क्रिया वाले द्रव्य भी सक्रिय हो उठते हैं, जो हिस्टामीन के प्रभाव को प्रबल बना देते हैं।

अपनी विशिष्टता अब भी बनाये रखने वाले अधूरा अपघटित प्रोटीनों के उत्पाद परोर्जक की भूमिका निभा सकते हैं। वे रक्त में प्रविष्ट हो कर नियत खाद्य पदार्थ के प्रति एंटीकाय का उत्पादन संप्रेरित करते हैं। टोक्सिन (गरल; खराब या अधूरा पचे हुए खाद्य पदार्थ) और अन्य गारक द्रव्य भी परोर्जक हो सकते हैं, जो आंत्रशोथ के कारण आंत में या वृक्कों के अपूर्ण कार्य के कारण उत्पन्न होते हैं। बाक्तेरिक परोर्जन स्ताफिलोकोकों, स्त्रेप्तोकोकों तथा अन्य जीवाणुओं द्वारा अक्सर चिरकालिक पैठन-अधिकेंद्रों से संप्रेरित होता है। पित्ती के गदजनन में नर्वतंत्र की कार्यात्मक गड़बड़ियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। नर्वतंत्र के निम्न भागों की गड़बड़ियां

प्रमुख हैं: पनपू नर्वतंत्र और इसके नियमनकारी केंद्र – अवचेतक – की, जहां इसके खोलीनेर्जिक और आड्रेनेर्जिक केंद्रों के कारण नर्व-स्पंद रसीय में परिणत होते हैं। विशेषकर, नार्विक उद्दीपन में विकसित हो जाने वाली खोलीनेर्जिक पित्ती खोलीनेर्जिक (परानुकंपी) तंत्र में क्षोभ के प्रभाव से ऊतकों में एसेटिलखोलीन के बनने से उत्पन्न होती है। एसेटिलखोलीन भी हिस्टामीन की तरह कुंभिक प्रतिक्रिया प्रेरित करता है। ऐसेटिलखोलीन के प्रति स्वसंवेदीकरण भी संभव है, जिसके साथ-साथ स्व-एंटीजन-स्व-एंटीकाय की प्रतिक्रिया शुरू हो सकती है। रक्तचोषक कीटों (मच्छड़, पिस्सू, खटमल आदि) के काटने पर उनकी लाला के साथ हिस्टामीन की तरह का रसायनिक तौर पर सक्रिय द्रव्य चर्म में प्रविष्ट होता है। जोंक (कृमि) का आक्रमण भी पित्ती के विकास में बहुत बड़ी भूमिका निभाता है।

पित्ती के तल्पिक चित्र विविध हैं, जिनके अनुसार इसके निम्न रूप हैं: तीव्र शोफ, क्विंके (Quincke) का तीव्र परिसीमित शोफ (कुंभिक-नार्विक शोफ), चिरकालिक पुनरावर्ती शोफ और स्थायी चिरकालिक पिटकीय पित्ती।

तीव्र पित्ती का लक्षण है कि वह हठात् शुरू होता है: त्वचा पर विभिन्न आकारों की असंख्य पित्तिक क्षतियां उभर आती हैं, जिनमें तीव्र खुजली होती है। उनका रंग गुलाबी लाल होता है, परिसर पर गुलाबी रंग की झब्बेदार किनारियां होती हैं। पर्याकृति अक्सर गोल होती है, कभी-कभी लमड़ी हुई या अनियमित होती है। क्षतियां संगमित हो कर विस्तृत चकत्ते बना ले सकती हैं, शरीर की सामान्य अवस्था व्यवधानित हो सकती है (ज्वर, जठरांत्र की गड़बड़ियां, अस्वस्थता, कँपकँपी, अर्थात् पित्तिक ज्वर)। ददोरे मुख्यतः धड़, हाथों और नितंबों पर होते हैं, कभी-कभी अन्य चर्म-क्षेत्रों पर भी हो सकते हैं। स्फोट होठों, जीभ, मृदु तालू, नासाग्रसनी और लुरलुरी की श्लेष्मल झिल्ली पर भी हो सकते हैं, जिससे सांस लेना और निगलना कठिन हो जाता है। ददोरे अल्पकालीन होते हैं और अक्सर एक-दो घंटे में गायब हो जाते हैं। तीव्र पित्ती कुछ दिनों तक होती है। अक्सर दवा या किसी खाद्य पदार्थ के प्रति परीर्जन पाया जाता है (थेरापिक सेरा का परांत्रमार्ग से आधान, टीका, रक्ताधान आदि में)। कृत्रिम पित्ती तीव्र पित्ती का एक अविशिष्ट रूप है। इसके लक्षण हैं यांत्रिक क्षोभकों के प्रत्युत्तर में ददोरों का (अक्सर रैखिक) बनना, अर्थात् चर्मलिख उत्पन्न होना। सामान्य पित्ती के विपरीत इसमें कोई खुजली नहीं होती।

तीव्र परिसीमित शोफ (पर्याय: वृहत पित्ती, कुंभिनार्विक शोफ, क्विंके का रोग). इसमें चेहरे (होठों, गालों, पलकों आदि) या जननेंद्रियों के चर्म (श्लेष्मल झिल्लियों) में परिसीमित शोफ अचानक विकसित होने लगते हैं। चर्म छूने में कड़ा और लचीला लगता है, रंग श्वेत या कभी-कभी गुलाबी होता है। अक्सर कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती, लेकिन विरल केसों में जलन और खुजली महसूस हो सकती है। शोफ कुछ घंटों या एक-दो दिन में उपशमित हो जाता है, पर पुनरावर्तन भी संभव है। कुंभिनार्विक शोफ के साथ कभी-कभी सामान्य पित्ती भी मिल जाती है। लुरलुरी का शोफ होने पर घुटन और निष्पंदता हो सकती है। नेत्र-कक्षक के क्षेत्र में शोफ होने पर नेत्रगोलकों की स्थिति मध्य से विचलित हो जाती है, दृष्टि क्षीण हो जाती है।

विभेदक निदान लस-स्तंभन, पुनरावर्ती चर्मशोण और मेल्केर्सोन-रोजेंथाल के सिंड्रोम के साथ किया जाता है; इनके विपरीत, कुंभिनार्विक शोफ हठात् शुरू होता है और इसकी क्षतियां अल्प समय में ही बिल्कुल गायब हो जाती हैं।

चिरकालिक पुनरावर्ती पित्ती में स्फोट बहुत कम होते हैं, लेकिन इसका आक्रमण कई महीनों

या वर्षों तक चलता रह सकता है। यह चिरकालिक पैठन (गलशुंडी, गर्भाशय के उपांगों के शोथ), यकृत व जठरांत्र-मार्ग के कार्य में गड़बड़ियों, आदि के कारण उत्पन्न दीर्घकालीन संवेदीकरण की पृष्ठभूमि में होता है। भिन्न चर्म-क्षेत्रों पर पित्ती के पुनरावर्तनों के बीच भिन्न लंबाइयों की उपशमन-अवधियां भी होती हैं। सरदर्द, कमजोरी, ज्वर, और जोड़ों (अस्थि-संधियों) में दर्द पित्तिक क्षतियों में स्फोट के समय विकसित हो सकते हैं, जबकि मतली, वमन, और अतिसार जठरांत्र की श्लेष्मला के शोफ में शुरू हो सकते हैं। यंत्रणादायक खुजली के साथ-साथ अनिद्रा और नर्वक्लेशिक गड़बड़ियां हो सकती हैं। रक्त में एओजीनोफीलिया और थ्रोंबोसीतोपेनिया पाया जाता है।

स्थायी पिटकीय पित्ती तब विकसित होती है, जब पित्तिक क्षतियां सुचर्म में कोशिकीय अंतर्स्यंदन के कारण (जो मुख्यतः लसकोशिकाओं से बना होता है) पिटकों में परिणत हो जाती हैं और स्थायी परिसीमित शोफ के अतिरिक्त अतिश्रृंगनता और कंटलय विकसित होने लगता है। पिटक ललछौंह भूरे होते हैं और हाथ-पैर की आकोचनी सतह पर उत्पन्न होते हैं। रोग अक्सर स्त्रियों में पाया जाता है। अनेक वैज्ञानिक स्थायी पिटकीय पित्ती को कंडु का ही एक रूप मानते हैं।

सौर पित्ती प्रकाशज चर्मक्लेश का एक रूप है, जो यकृत के रोगों तथा पोर्फीरिन-विनिमय की गड़बड़ियों से ग्रस्त रोगियों को पराबैंगनी किरणों के प्रति स्पष्ट संवेदीकरण की स्थिति में होता है। यह रोग अधिकांशतः औरतों में पाया जाता है। रोग का लक्षण है अनावृत चर्म-क्षेत्रों (चेहरे, हाथ आदि की त्वचा पर) पित्तिक स्फोटों का उत्पन्न होना। इसकी प्रकृति मौसमी होती है (गर्मियों और बसंत में होता है)। धूप में अधिक देर तक अनावृत रहने से स्फोटों के साथ-साथ श्वसन और हृदय के कार्य में गड़बड़ियों के रूप में सार्वदैहिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है; अभिघात हो सकता है।

ऊतलोचनी चित्र. चिरकालिक पित्ती में यह आक्रांति के अधिकेंद्र में तीव्र शोथी परिवर्तनों द्वारा लंछित होता है। मालपीगी परत में हल्का अन्तराकोशिकीय शोफ अवलोकित होता है। सुचर्म की पिटिकामय परत में सीरमी द्रव काफी मात्रा में जमा हो जाता है, योजक ऊतकों के रेशे ढीले और शोफित हो जाते हैं, कुंभियों के गिर्द एओजीनोफीलिक, लसकोशिकीय और ऊतकोशिकीय अंतर्स्यंद पाये जाते हैं।

निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। स्त्रोफुल (बाल-खुजली) के साथ विभेदक निदान चिरकालिक पित्ती में सिर्फ पित्तिक क्षतियों के आधार पर ही हो जाता है। इन क्षतियों का स्थान आकस्मिक होता है, जब कि स्त्रोफुल के निश्चित स्थल होते हैं। पित्ती को कीटों (मच्छड़, खटमल, पिस्सू आदि) के दंश से विभेदित करना कहीं ज्यादा कठिन है, क्योंकि विशिष्ट पित्तिक स्फोट अक्सर दंश-स्थल पर ही उत्पन्न होते हैं। स्फोटों के स्थान तथा उनकी मौसमी प्रकृति, और परिवार या बाल संस्थान में सफाई व स्वास्थ्य की परिस्थितियों पर ध्यान देना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। ड्यूरिंग के रोग में ददोरों के अतिरिक्त बुल्ले और एओजीनोफीलिया से युक्त वस्तिकाएं भी उत्पन्न होती हैं और आयडीन के प्रसाधनों के प्रति अतिसंवेदिता होती है।

चिकित्सा. तीव्र एवं चिरकालिक पित्ती में सबसे महत्त्वपूर्ण है इन रोगों को विकसित करने वाले सभी गदजनक घटकों की पहचान करना और उन्हें दूर करना। आहार, दिनचर्या, नर्वतंत्र व जठरांत्र-मार्ग की अवस्था, चिरकालिक पैठन के अधिकेंद्रों के अनुवेदन और उनकी चिकित्सा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। रोगी को नर्वलोचक व कर्णनासाग्रसनी के विशेषज्ञ से सलाह लेनी चा-

हिये और आवश्यकता पड़ने पर उसका शीघ्र इलाज कराना चाहिये, पैठन-केंद्रों की भी यशाशीघ्र चिकित्सा करानी चाहिये, आहार व दवाओं में से परोर्जकों का बहिष्कार करना चाहिये। दस्तावर (विरेचक) लवण, दूध के उत्पाद, सब्जियां, प्रशामक, अवसंवेदक प्रसाधन (कैल्सियम के प्रसाधन, सोडियम हाइपोसल्फाइट का आधान, मैग्नेशियम सल्फेट की सूइयां) और एंटीहिस्टामीनिक प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं। ब्रोमाइड और वालेरिआन के प्रसाधन, नानोफिन, दिमेद्रोल, पेरीतोल, टावेगिल (क्लेमास्तीन फूमारेट), आल्फाड्रिल (मोक्सास्टीन), सुप्रास्टिन (क्लोरोपीरामीन), डिप्राजीन (प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड), सेडुक्सेन (डिआजेपाम), और एफेड्रीन व बेलाडोना से युक्त दवाएं भी प्रयुक्त होती हैं। कुंभिक बेधिता कम करने के लिये कैल्सियम क्लोराइड, कैल्सियम ग्लुकोनाट या कैल्सियम लाक्तात (लैक्टेट) मुखमार्ग से या अंतर्पेशीय मार्ग से विटामिन सी और रूटिन के साथ दिया जाता है। तीव्र पित्ती के कुछ रोगियों में दस्तावर दवाएं, एनेमा, मूत्र-रेचक (फोरोजेमिद, थेओब्रोमीन और सोडियम सैलीसीलेट) भी लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। लोहे के प्रसाधन, सैलीसीलेट, विटामिन बी-12 व बी-6, सोडियम हाइपोसल्फाइट, मालोल व आटोफान (सिंखोफेन) चिरकालिक पित्ती के रोगियों में द्रव्य-विनिमय की प्रक्रिया में सुधार लाने के लिये प्रयुक्त होते हैं। रोग के तीव्र रूपों में ACTH व कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन दिये जाते हैं, जिसके बाद हिस्टाग्लोबिन से चिकित्सा होती है। बाह्य चिकित्सा का कोई खास महत्त्व नहीं होता। जलीय जिंक-पेस्ट, कोर्टिकोस्टेरोइड-हर्मोन, गुलदाउदी, स्टार्च या चोकर के काढ़े के साथ स्नान प्रलिखित किया जाता है।

भविष्यवाणी अक्सर अनुकूल होती है। मुख्य ध्यान परोर्जिक घटकों की पहचान और उनसे बचाव की ओर देना चाहिये। नियमित चिकित्सा के साथ-साथ आहार-चर्या के विवेकसंगत संगठन और अच्छी देख-भाल से रोगी तत्पिकतः ठीक हो जाता है।

निरोध. पित्ती का निरोध जठरांत्र-मार्ग की गड़बड़ियां, यकृत के रोगों तथा पैठन-अधिकेंद्रों की चिकित्सा, परोर्जनकारी घटकों से बचाव और विवेकसंगत आहार से होता है।

अधरशोथ

'अधरशोथ' का अर्थ है होठों (सिंदूरी सीमा, होठों की श्लेष्मल झिल्लियों व चर्म) का शोथ। रोग के कई प्रकार हैं। होठों की सिंदूरी सीमा, श्लेष्मल झिल्लियां और त्वचा अनेक चर्मक्लेशों के कारण गदलोचनी प्रक्रिया की चपेट में आ जाती हैं। ये चर्मक्लेश हैं: ललामक्लेश, चौरस लाल शैवाक, गठिक्लेश, सीफिलिस, आदि। इन रोगों के तत्पिक चित्र पुस्तक के तदनुरूप प्रकरणों में दिये गये हैं। यहां हम अधरशोथ के सिर्फ अक्सर पाये जाने वाले रूपों को देखेंगे।

अपशल्की अधरशोथ दद्रुक अधरशोथ से संबंधित होता है। यह एक चिरकालिक रोग है, जो लंबे समय तक बना रहता है और किसी भी तरह की चिकित्सा का प्रतिरोध करता है (कुटाली रोग)। यह विशिष्ट रूप से सिंदूरी सीमा पर ही स्थानाबद्ध होता है (अक्सर दोनों होठों पर चौड़ी पट्टियों के रूप में) और संलग्न चर्म को बिल्कुल ग्रस्त नहीं करता। यह भी ध्यातव्य है कि प्रक्रिया न तो मुख-श्लेष्मला पर फैलती है, न चेहरे के चर्म पर ही।

आक्रांत-क्षेत्र भूराभ-श्वेत शल्कों से आच्छादित होता है (शुष्क रूप)। शल्कों का मध्य भाग नीचे के ऊतकों के साथ मजबूती के साथ जुड़ा होता है; उनकी किनारियां थोड़ी उधड़ी होती हैं। शल्कों के नीचे की सतह कुछ अतिरक्तिल होती है। अपशल्की अधरशोथ के रिसालु रूप में शल्की खट्टियां बनती हैं, जिनका रंग पीताभ भूरा होता है। खट्टियों की मुटाई एक जैसी नहीं होती।

बड़ी खड़ियां होठों से पपड़ियों की तरह लटक आती हैं। शल्क व खट्ठी को हटाने पर जल्द ही नये निकल आते हैं।

होठों के दिनाइ म बहुरूप स्फोट होते हैं, जो चर्म और इससे संलग्न सिंदूरी सीमा के हिस्सों पर फैल आता है। बुदबुदिया में निकोल्स्की का लक्षण धनात्मक होता है और अपरदित सतह बन जाती है। मौसमी अधरशोथ के विपरीत, अपशल्की अधरशोथ की उत्पत्ति और उग्रता परिवेशी मौसमी घटकों के प्रति अनावृति पर निर्भर नहीं करती।

ग्रंथिक अधरशोथ होठों की श्लेष्मला झिल्ली और सिंदूरी रेखा के बीच के क्षेत्र (क्लाइन-निरूपित कटिबंध) पर स्थित नन्ही लाला-ग्रंथियों के अतिपोषण और अतिकार्य द्वारा लंछित होता है। निचले होठ की आक्रांति अधिक पायी जाती है। सरल ग्रंथिक अधरशोथ सबसे सामान्य तल्पिक रूप है, जबकि गहरा पूयिक रूप, जिसे कुछ वैज्ञानिक द्वितीयक पैठन से प्रथम (सरल) रूप की विलष्टता मानते हैं, बहुत कम प्रायिक है।

सरल ग्रंथिल अधरशोथ में विषम प्रकार की अतिपोषित लाला-ग्रंथियों के मुहाने पिन के सर के आकार तक विस्फारित रहते हैं (मुख्यतः क्लाइन के कटिबंध पर ही)। ये मुहाने लाल बिंदुओं की तरह दिखते हैं, जिनसे लार की बूंदें निकलती हैं। लालाग्रंथियों के नन्हे मुहानों के गिर्द अक्सर श्लेष्मल शृंगीकरण के श्वेताभ छल्ले बन जाते हैं। विस्फारित मुहाने कुछ उभरे हो सकते हैं। ऐसे केसों में परिस्पर्शन से होठों में नन्ही गोलियों के चुभने जैसी अनुभूति होती है।

पूयिक ग्रंथिक अधरशोथ में लाला-ग्रंथियों के मुहाने और भी चौड़े हो जाते है और उनसे पूय या पूय-मिश्रित लाला का स्राव होता है। आक्रांत होठ बहुत मोटा हो जाता है, सिंदूरी सीमा और श्लेष्मल झिल्लियां तनी होती है, जिससे वे चमकदार लगती हैं। होठों में गहराई पर ग्रंथियों के अपेक्षाकृत कठोर समूह परिस्पर्शित होते हैं। अधोजंभी लसपर्व वर्धित और सुकुमार हो जाते हैं। कभी-कभी ज्वर भी होता है।

लाला के निरंतर बहाव और वाष्पन के कारण ग्रंथिक अधरशोथ में सिंदूरी सीमा शुष्क हो जा सकती है, जिसके फलस्वरूप चिरकालिक शोथ, अपरदन, विदार और श्वेतसिलत्व विकसित हो सकता है; अंतिम के कारण कभी-कभी प्रक्रिया का दुर्दम अवजनन भी हो जा सकता है।

चिकित्सा. प्रत्येक लाला-ग्रंथि के काय का गहराई से विद्युत्स्कंदन किया जाता है या करोर्जिक विधि से पूरे क्लाइन-कटिबंध को दूर किया जाता है। सरल ग्रंथिक अधरशोथ की तीव्र प्रक्रिया में प्रारंभिक चिकित्सा स्टेरोइड-युक्त क्रीमों व मलहमों से होती है, मुँह को अच्छी तरह से साफ किया जाता है, विभिन्न निष्पैठक द्रव्यों के घोलों से कुल्ला किया जाता है।

मिडशेर का कणमय अधरशोथ (मेल्केर्सन-रोजेंथाल का सिंद्रोम). यह एक चिरकालिक रोग है जिसमें एक साथ होठों का वृहत होना, जीभ का झुर्रीदार होना और चेहरे के नर्वों में लकवा मारना प्रेक्षित होता है। हेतुलोचन अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है।

आरंभ बहुत तीव्र होता है: कुछ ही घंटों में एक या दोनों ही होठ सूज जाते हैं, होठ भीतर से मुड़ की भाँति पलट जाते हैं और दाँत व होठ के बीच खाली अवकाश रह जाता है। होठ की मोटाई एक समान नहीं होती, अक्सर एक तरफ अधिक मोटा होता है और दूसरी तरफ कम। रंग या तो परिवर्तित नहीं होता या नीला-लाल हो जाता है। होठों के ऊतकों की सघनता या तो मुलायम होती है या कठोर लोचदार होती है। प्रक्रिया प्रवाह के साथ-साथ बदलती जाती है। कुछ केसों में सूजन महीने भर रह जाती है, कुछ में ठीक हो जाती है, पर पुनरावर्तित हो जाती है। शाफ धीरे-धीरे जीभ, नाक और चेहरे के एक या दोनों अर्धों पर फैलने लगता है।

चेहरे के नर्वों का लकवा (अक्सर एकतरफा) पुनरावर्तन की प्रवृत्ति रखता है और स्थूलोष्ठता के पहले भी विकसित हो सकता है। दो तिहाई रोगियों की जीभ झुर्रीदार हो जाती है; इसे एक तरह की विकासात्मक विसंगति माना जाता है।

निदान उस स्थिति में बहुत कठिन होता है, जब स्थूलोष्ठता सिंड्रोम की एकमात्र अभिव्यक्ति होती है। कुछ केसों में रोग को कुंभिक-नार्विक शोफ के साथ विभेदित करना पड़ता है और कुछ में श्लीपद के साथ (अर्थात् चर्मशोण के बाद)। कुंभिक-नार्विक शोफ एंटीहिस्टामिनिक प्रसाधनों से ठीक हो जाता है, बहुत कम समय के लिये होता है और अपने पीछे कोई अवशिष्ट संवृत्ति नहीं छोड़ता। चर्मशोथ में साथ-साथ ज्वर होता है और उग्रता काल में तीव्र शोथी संवृत्ति प्रेक्षित होती है।

चिकित्सा. स्टेरोइड-युक्त क्रीम और मलहम प्रलिखित किये जाते हैं। बक्की की किरणें तथा एक्सकिरणें सुसंकेतित हैं। कोर्टिकोस्टेरोइड-प्रसाधनों और पोलीविटामिनों के उपयोग की सलाह दी जाती है। कुछ केसों में करोर्जन का सहारा लेना पड़ता है।

खर्जूक्लेश

खर्जूक्लेश सबसे अधिक प्रचलित चिरकालिक चर्मरोग है, जो अक्सर पुनरावर्तित होता रहता है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार, संपूर्ण चर्मरोगों में इसकी प्रायिकता [illegible]5 से 7-10 प्रतिशत तक है, और आवासीय चिकित्सा प्रतिष्ठानों में चर्मक्लेशों से ग्रस्त रोगियों में इसकी प्रायकिता 20-25 प्रतिशत है। विश्व-जनसंख्या का लगभग 3 प्रतिशत अंश इस रोग से ग्रस्त है। यह रोग अक्सर 10 से 25 वर्ष की उम्र में शुरू होता है, लेकिन सिद्धांततः [illegible]ी भी उम्र में शुरू हो सकता है, क्योंकि ऐसे केस भी ज्ञात हैं, जिसमें यह रोग 4-5 और 7 महीने के बच्चे को भी शुरू हुआ है और 82 वर्ष के वृद्ध को भी। रोग सभी देशों में और सभी जातियों के लोगों के बीच पाया जाता है। खर्जूक्लेश स्त्रियों और पुरुषों दोनों ही को समान रूप से हो सकता है, यद्यपि बच्चों में यह रोग लड़कियों के बीच अधिक और वयस्कों में पुरुषों के बीच अधिक पाया जाता है (60-65 प्रतिशत)

इस रोग का तल्पिक वर्णन प्राचीन काल में ही हो चुका है (बाइबिल में, हिप्पोक्रेटस, सेल्सस आदि की कृतियों में)। फिर भी एक स्वतंत्र रोग के रूप में इसका पूर्ण वर्णन पहली बार 1841 में हेब्रा (Hebra) ने किया था। तब से इस पेंचीदे रोग के प्रति लोगों की दिलचस्पी कम नहीं हुई है।

हेतुलोचन और गदजनन. खर्जूक्लेश की उत्पत्ति के संबंध में समय-समय पर तरह-तरह के सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं (जिनमें करीब दस तो अच्छी तरह ज्ञात हैं), लेकिन इनमें से एक भी सर्वमान्य नहीं हो पाया, क्योंकि अधिकांशतः वे गदजनक हैं, न कि हेतुलोचनी।

वीरुसलोचन, जंतिकी, एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शन, इमूनलोचन, जीवरसायन तथा अन्य विज्ञानों के आधुनिक विकास से खर्जूक्लेश के हेतुलोचन और गदजनन के बारे में हमारा ज्ञान बहुत विकसित हो गया है, पर इसका हेतुलोचन आज भी चर्मलोचनी रहस्य बना हुआ है, जिसका उद्घाटन करने में आज सभी देशों के वैज्ञानिक लगे हुए हैं।

इसकी उत्पत्ति के गंठिक्लेशिक, सीफिलिसी, कवकज, सूक्ष्मकोकी (माइक्रोकोकल) तथा अन्य

परजीविक सिद्धांतों का आज केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। इसीलिये उनके बारे में थोड़ी सी वार्त्ता छात्रों के लिये उपयोगी रहेगी।

वीरुसज उत्पत्ति का सिद्धांत सबसे अधिक संभाव्य लगता है, पर इसका विश्वस्त प्रमाण अभी तक हाथ नहीं लगा है। वैसे, इस सिद्धांत के प्रवर्तकों के पास तर्क सचमुच गंभीर हैं: ग्रस्त ऊतकों और अंगों में प्राथमिक कायों और (कोशिकाओं में) अंतर्विष्ट कायों का अनुवेदन (जो वीरुसी पैठन के संकेत हैं); विशिष्ट प्रतिकायों की उपस्थिति; प्रयोगाधीन जंतुओं (गीनिया पिग, खरगोश, निरंज चूहों) में 'प्रायोगिक' पैठन उत्पन्न करने में सफलता; चूजे के जरायुक-अपरा-पोषिकीय कल्चर (chick embryo chorion-allantois culture) पर 'निमित्त कारण' का पनपना (प्रजनन), आदि। कुछ वैज्ञानिक अपनी मान्यता को प्रक्रिया की सार्वदैहिक प्रकृति, रोग का स्थानिक पैठन के अधिकेंद्रों के साथ अक्सर संबंधित होने और तल्पिक प्रवाह की विशिष्टताओं पर आधारित करते हैं (ये विशेष्टताएं निम्न हैं: अधिकेंद्र का परिसर की ओर प्रसार, केंद्र में क्षति का अपचोषण, रूमैटीवत बहुसंधिशोथ की तरह अस्थियों और संधियों की आक्रांति, शिरोवल्क और नखों की आक्रांति और कुछ केसों में ज्वर के साथ तीव्र एवं हठात स्फोटों की उत्पत्ति)। नेंडेनबुर्ग, प्रोवाजेक और रूसी वैज्ञानिक ऊखिन, क्रीछेल्स्की आदि खर्जूक्लेश के वीरुसी सिद्धांत के पक्षपाती हैं। वर्त्तमान समय में समस्या का अध्ययन सारातोव आयुर संस्थान के चर्म-रोग-विभाग में हो रहा है (दोवझांस्की तथा अन्य वैज्ञानिकों द्वारा)।

आनुवंशिकता-सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित है कि खर्जूक्लेश एक परिवार के लोगों में ही होता है। परिवार से तात्पर्य है बच्चे और माता-पिता ही नहीं, वरन् माता-पिता के संबंधी भी (कई संततियों तक)। विभिन्न वैज्ञानिकों के अनुसार परिवारिक खर्जुक्लेश 5-20-40 या इससे भी अधिक प्रतिशत केसों में पाया जाता है। खर्जूक्लेश के रोगी 5-6 संततियों में भी मिल सकते हैं। विचाराधीन रोगी के पिता के निकट संबंधियों के बीच रोग का प्रचलन अधिक प्रायिक है, बनिस्बत कि माँ के संबंधियों के बीच। द्वियुग्मज जुड़ुवे बच्चों की अपेक्षा एकयुग्मज जुड़ुवे बच्चों में खर्जूक्लेश की प्रायिकता अधिक होने की भी सूचना है, जिसे इस सिद्धांत के प्रवर्तक खर्जूक्लेश के अनुवंशिक प्रसार का विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं। यह माना जाता है कि यदि स्वस्थ माता-पिता के बच्चे को खर्जूक्लेश है, तो अगले बच्चे को यह रोग होने की संभाव्यता सिर्फ 17 प्रतिशत होगी, लेकिन यदि माता-पिता में से किसी एक को खर्जूक्लेश है, तो बच्चे में रोग के होने का खतरा 25 प्रतिशत तक होगा। यदि माता-पिता दोनों ही इस रोग से ग्रस्त होंगे, तो बच्चे में रोग के होने की संभाव्यता 60-70 प्रतिशत तक पहुँच जाती है। रोगाक्रांत यमजों (जुड़ुवे बच्चों) में रोग का तल्पिक चित्र बहुत मिलता-जुलता होता है।

चूंकि कई रोगियों में खर्जूक्लेश के आनुवंशिक प्रसार की बात ठीक नहीं उतरती, इसलिये यह विचार प्रस्तुत किया गया कि विरासत में खुद खर्जूक्लेश नहीं, वरन् इसके प्रति प्रवणता मिलती है। अधिकांश केसों में विरासतित घटकों और प्रतिकूल परिवेशिक प्रभावों की जटिल व्यतिक्रिया के फलस्वरूप कार्यान्वित होती है। रोग के विरासतन में अनेक घटकों का हाथ होना हाल में चार्म-रोगों के केंद्रिय संस्थान (मास्को) में मोर्दोव्त्सेव ने अपनी खोजों से सिद्ध किया है।

पैथो-मरोर्जिक सिद्धांत (स्क्रीप्किन, शारापोवा) इस तथ्य पर आधारित है कि खर्जूक्लेश अक्सर क्रानिक गलशुंडी, फ्लू, गले में खराश, क्लोमशोथ और अधिकेंद्रिय पैठन की उग्रता के बाद, अवशिष्ट पैठन-केंद्रों की पृष्ठभूमि में होता है। खर्जूक्लेश की उत्पत्ति और उसके प्रवाह पर स्ताफिलोकोकी या स्त्रेप्तोकोकी पैठन का प्रभाव (जो बच्चों व बड़ों, सबों में बिल्कुल स्पष्ट होता

है) निम्न तथ्यों से भी सिद्ध होता है: खर्जूक्लेश के रोगियों में एंटीस्त्रेप्तोलीजिन 0 ('ओ') और एंटीस्त्रेप्तोकीनाज की उच्च विमाप, स्ताफीलो- एवं स्त्रेप्तो- परोर्जकों की उच्च तनुता के प्रति धनात्मक चर्म-परीक्षण और कुछ रोगियों के विशिष्ट अवसंवेदीकरण में स्त्रेप्तो-एंटीजन और स्ताफीलोकोकी टोक्सोइड का सफलतापूर्वक उपयोग। पैठी-परोर्जिक सिद्धांत का समर्थन करने वाले सभी वैज्ञानिक यह मानते हैं कि यह रोग स्ताफीलोकोकों व स्त्रेप्तोकोकों की कोशिकाओं तथा उनके जीवन-कार्य के उत्पादों, या वीरुसों की जटिल संरचनाओं के प्रति ऊतकों की परोर्जिक प्रतिक्रिया की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। यदि इस बात को ध्यान मे रखा जाये, तो चिरकालिक पैठन-केंद्रों व गलशुंडी की भूमिका को विशेष महत्त्व देना चाहिये।

इस सिद्धांत के प्रवर्तक ऐसी संभावना से इनकार नहीं करते कि खर्जूक्लेश के निस्यंद्य वीरुस (यदि उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है), स्त्रोप्तोकोक, स्ताफीलोकोक और उनके तोक्सिन (गरल), जो शरीर का संवेदीकरण और फिर स्वसंवेदीकरण कर के खर्जुक वीरुसों के प्रति शरीर की प्रतिरोधिता घटा देते हैं, चिरकालिक पैठन से कमजोर हुई न ग्रसनीय बाधा को अधिक सरलता के साथ पार कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, यह मानने का भी आधार है कि खर्जुक्लेश में स्व-इमूनी प्रतिक्रियाएं जंतिकीय घटकों से उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से देखा जाये, तो पैठी-परोर्जिक सिद्धांत का गदजनक महत्त्व अधिक है बनिस्बत कि हेतुलोचनी महत्त्व। यही बात अन्य सिद्धांतों के साथ भी है, जिन्हें हम नीचे देखेंगे।

नर्वजनक अवधारणा पिछली शती के रूसी वैज्ञानिकों द्वारा विकसित की गयी थी, जो खर्जूक्लेश की उत्पत्ति और विकास में नार्विक व मानसिक घटकों को महत्त्व देते थे। उदाहरणार्थ, पोलोतेब्नोव का विश्वास था कि खर्जूक्लेश कुंभी-प्रेरकीय नर्वक्लेश की अभिव्यक्ति है, जो नर्वतंत्र की कार्यात्मक कमजोरी की पृष्ठभूमि में विकसित होती है; यह कमजोरी अक्सर विरासती होती है। निकोल्स्की, पाव्लोव, आदि ने यह दिखाया कि खर्जूक्लेश अक्सर नार्वमानसिक चोट, मानसिक थकावट, शरीरिक अतिबोझ और दीर्घकालीन ऋणात्मक रोगों की स्थिति में उत्पन्न होता है; इन स्थितियों से चर्म में स्रावी एवं नर्वायन की गड़बड़ियां उत्पन्न होती हैं। खर्जूक्लेश के कुछ रोगियों में नर्वतंत्र के विभिन्न भागों के रोगों के लक्षण स्पष्ट दिखते हैं। केंद्रिय एवं पनपू नर्वतंत्रों की कार्यात्मक परीक्षण से अधिकांश रोगियों में विभिन्न प्रकार की गड़बड़ियों का पता चला (नर्वक्लेश, पनपू- अपतान, पारमस्तिष्कशोथ, उच्च नार्विक केंद्रों में उद्दीपित होने की क्षमता में कमी, आदि)। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार, कुछ रोगियों को स्वापन-चिकित्सा से लाभ होना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि खर्जूक्लेश की उत्पत्ति और विकास में मानसिक चोटों की भूमिका होती है। खर्जूक्लेश के रोगियों में शरीरलोचनी रूप से सक्रिय द्रव्यों, अर्थात् माध्यकों और ऊतकीय हर्मोनों के विशद अध्ययन से भी नर्वतंत्र की कार्यात्मक अवस्था में गड़बड़ियों की गदजनक भूमिका सिद्ध होती है। रक्त में और सीधे आक्रांति-क्षेत्र में हिस्टामीन, सेरोटोनिन, काटेखोलामीन, एसेटीखोलीन व कीनिनों के तंत्रों की सक्रियता और विनिमय में स्पष्ट अंतर पाया गया (बोरीसेन्को)। फिर भी, नर्वजनक अवधारणा खर्जूक्लेश के सभी केसों की व्याख्या नहीं कर सकती अतः उसे इस रोग की उत्पत्ति का व्यापक सिद्धांत नहीं माना जा सकता। युद्ध के कठिन काल में, उदाहरणार्थ, खर्जूक्लेश के केस कम थे, बनिस्बत कि शांति-काल में। बच्चों के अनेक केसों में खर्जूक्लेश को किसी भी पूर्वकालिक नार्वमानसिक गड़बड़ी के साथ संबंधित नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर, प्रशामकों से चिकित्सा, विद्युनिद्रा और स्वापन से चिकित्सा जैसे उपाय हमेशा कारगर नहीं होते और न ही रोग के पुनरावर्तन को रोकने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त, अभी

तक यह तय नहीं हुआ है कि खर्जूक्लेश के रोगियों में नर्वतंत्र की गड़बड़ियां रोग का कारण हैं या उसका प्रतिफल।

लेकिन साथ ही, इस चर्मक्लेश की प्रकृति व अवधि और नर्वतंत्र के विभिन्न भागों की गड़बड़ियों की स्पष्ट प्रकृति के बीच निश्चित संबंध यह मानने का आधार प्रस्तुत करते हैं कि नार्वप्रवेगिक गड़बड़ियां खर्जूक्लेश के विकास में गदजनक भूमिका निभाती हैं।

द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियों का सिद्धांत. इस सिद्धांत का आधार यह है कि खर्जूक्लेश की उत्पत्ति और प्रवाह शरीर में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और विशेषकर खोलेस्टेरोल व लीपिडों के व्यवधानित विनिमय के साथ संबंधित है। यह सब सूक्ष्म पोषक तत्त्वों और विद्युविश्लेषकों के संतुलन से विचलन की पृष्ठभूमि में होता है, जो अधिचार्म में मुख्य खर्जूक्लेशिक परिवर्तन (व्यवधानित शृंगीजनन और तीव्र अधिचर्म-सृजन) उत्पन्न करता है।

खर्जूक्लेश में निर्णायक महत्त्व वसा-विनिमय का होता है, इसीलिये इस रोग को विशिष्ट मेदसक्लेश या 'खोलेस्टेरोलिक पारश्लेषण' कहते हैं। लेकिन अब अधिकांश वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं कि खर्जूक्लेश के रोगियों में द्रव्य-विनिमय की ये गड़बड़ियां किसी अन्य प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में उत्पन्न होती हैं, जो पहले से विकसित हो चुकी हैं। इसका मतलब है कि इन गड़बड़ियों का गदजनक महत्त्व है, न कि हेतुलोचन महत्त्व।

अंतस्रावी गड़बड़ियों का सिद्धांत. अंतस्रावी ग्रंथियों (ढालवत, अधोवर्ध, अधिवृक्कीय, जनद ग्रंथियों) की विभिन्न गड़बड़ियों का खर्जूक्लेश के साथ संबंध बहुत पहले स्थापित किया जा चुका है।

सगर्भता-काल में खर्जूक्लेश के प्रवाह में होने वाले परिवर्तन सुविदित हैं: सगर्भता-काल का पूर्वार्ध, गर्भपात, दूध का आना और बंद होना अक्सर रोग को उग्र कर देता है। सगर्भता-काल के उत्तरार्ध में और दूध आते रहने के समय प्रक्रिया अक्सर काफी सुधर जाती है। कुटाली तीव्र प्रक्रिया, संधिरुग्नता और चर्मारुणता में अधिवृक्क-वल्कुटी कार्यात्मक ग्लूकोकोर्टिकोइड-निधि दमित या पूर्णतः समाप्त देखी गयी है। फिर भी अब तक यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि खर्जूक्लेश में अंतस्रावी गड़बड़ियों की प्रकृति प्राथमिक है या द्वितीयक। वर्षों पुराने खर्जूक्लेश का चिरकालिक प्रवाह (विशेषकर उसके उग्र रूप) अंतस्रावी तंत्र एवं नर्वतंत्र पर निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

ऊपर वर्णित सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए वर्तमान ज्ञान-स्तर के आधार पर हम कह सकते हैं कि खर्जूक्लेश एक जीनरूपीय चर्मक्लेश है, जो अपूर्ण बेधिता और असमरूप अभिव्यक्तित्व वाले प्रभावी (डोमीनेंट) प्रकार के लोगों द्वारा विरासतित होता है। यह रोग अनेक घटकों से होता है। इसके गदजनक घटक निम्न हैं: खमीरी, लीपिड (मेदस), और कभी-कभी प्रोटीन व कार्बोहाइड्रेट के विनिमय में परिवर्तन, अंतस्रावी अपक्रियाएं, अनुकूल-रोग के रूप में पारमस्तिष्क की कार्यात्मक [illegible] अमीनो अम्ल-विनिमय में परिवर्तन, अक्सर अधिकेंद्रिय पैठन की उपस्थिति (अधिकांशतः [illegible] गलशुंडी, फ्लू तथा अन्य पैठनजनित रोगों की), अन्य पैठी-परोर्जिक रोग (अधिकांशतः [illegible]फीलोकोकी मूल के)। निस्यंद्य (छन्य) वीरुस कोशिकाओं के जंतिकीय उपकरण पर [illegible] डाल सकते हैं, जिससे जीवरसायनिक प्रक्रियाओं पर नियंत्रण व्यवधानित हो जाता है (वीरु-[illegible] परिकल्पना)।

[illegible] चित्र. खर्जूक्लेश की सामान्य तलिपक विशेषताएं बताते वक्त मुख्य ध्यान पिटकीय [illegible] की एकरूपिक प्रकृति पर देना चाहिये, जो अधिकांश रोगियों में सममित रूप से

मुख्यतः हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर स्थानाबद्ध होता है। फिर भी, खर्जूक्लेश चर्म के किसी भी क्षेत्र में हो सकता है। नख और गतिप्रेरक उपरकण अक्सर ग्रस्त हो जाते हैं। प्रवाह के अनुसार यह एक चिरकालिक पुनरावर्ती चर्मक्लेश है।

प्राथमिक क्षति एक अधिचार्म- सुचार्म पिटक होता है। खर्जूक (या खर्जूक्लेशिक) पिटक गुलाबी रंग का होता है (पिल्नोव का लक्षण), जिसकी तीव्रता भिन्न-भिन्न हो सकती है: ताजी क्षतियां चमकीली (यहां तक कि लाल भी) होती हैं, जबकि पुरानी क्षतियां फीकी होती हैं। पिटक चपटे तथा रूखड़ी सतह वाले होते हैं और भूसी जैसे सुक्ष्मपटलीय शल्कों से ढके होते हैं, जिनका रंग रजत-श्वेत होता है (हवा के बुलबुलों की उपस्थिति के कारण)। शल्क सरलता से खुरचे जा सकते हैं। ताजे पिटकों पर शल्क मध्य में स्थित रहता है और चारों तरफ एक सँकरी चमकीली पट्टी (वलयाकार) छूटी रहती है। बाद में शल्कन तीव्र हो जाता है और क्षति (पिटक)

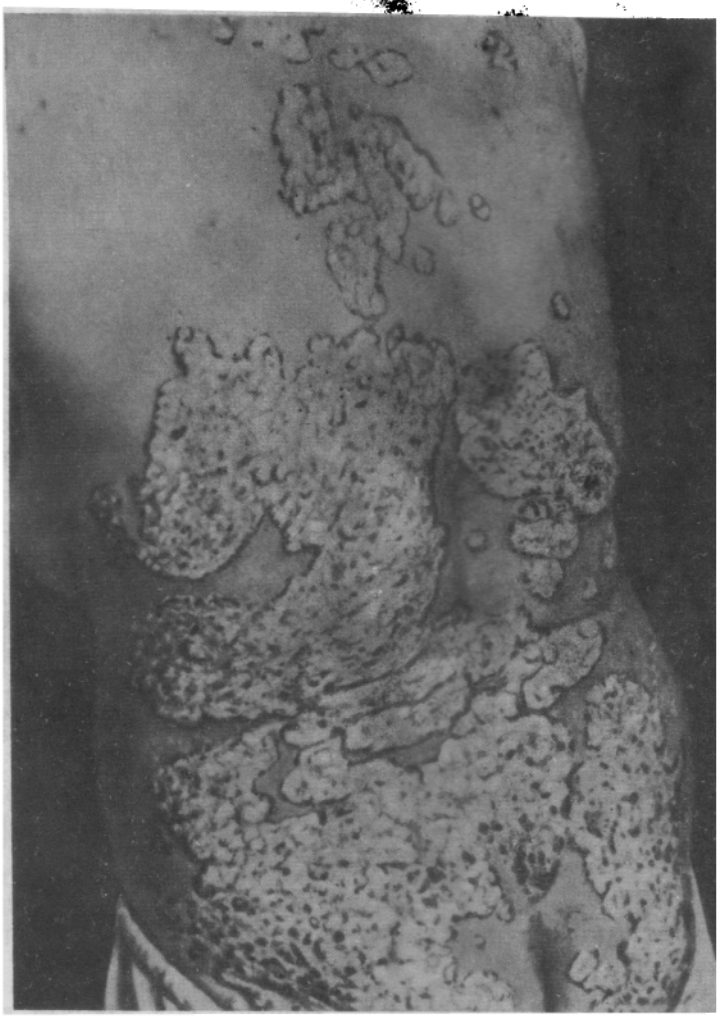

चित्र 22. सार्वदैहिक खर्जूक्लेश

की पूरी सतह को ढक लेता है। शुरू में पिटकों की परिरेखा नियमित गोल होती है और उनका व्यास 1-2 मिलिमीटर होता है। प्रक्रिया के आगे बढ़ने पर खर्जुक पिटक परिसर पर फैलने लगते हैं और काफी बड़े हो कर अजीबो-गरीब आकृतियों के चकत्तों का रूप ग्रहण कर लेते हैं (चित्र 22)। अक्सर ऐसा होता है कि रोगी के बदन पर भिन्न आकार के पिटक भी उपस्थित रहते हैं और चकत्ते भी।

कुछ लक्षण खर्जूक्लेश के निदान के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं, जैसे खर्जुक त्रिक और तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया, या केबनेर (Koebner) की संवृत्ति। खर्जुक त्रिक में तीन अनुगामी संवृत्तियां आती हैं (जब खर्जुक पिटकों को खुरचा जाता है): (1) स्टेआरिन से मिलते-जुलते रजत-श्वेत शल्कों का विपुल मात्रा में अलग होना (स्टेआरिन-धब्बा की संवृत्ति); (2) शल्कों के हटने पर आर्द्र चमकीली सतह का प्रकट होना (खर्जुक फिल्म या झिल्ली की संवृत्ति); (3) खुरचना जारी रखने पर बिंदुक रक्तस्राव (आउस्पीट्स का चिन्ह; या पोलोतेब्नोव के अनुसार – 'रक्तोस' की संवृत्ति)। इन संवृत्तियों के पीछे खर्जूक्लेश की मूल गदोतलोचनी प्रक्रियाओं (पराश्रृंगन, कंटलय, पिटकार्बक्लेश) का हाथ होता है।

खर्जूक्लेश में तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया का अर्थ है – चर्म पर खर्जुक स्फोटों का विकास, जिसकी उग्रता यांत्रिक एवं रसायनिक घटकों (खरोचों, सूई, कट-फट, घर्षण, विकिरण, दग्ध, आदि) से प्रेरित होती है। चर्म में चोट के बाद तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया के विकसित होते-होते सात से नौ दिन बीत जाते हैं, यद्यपि इसमें कम समय भी लग सकता है (जैसे 3 दिन) और अधिक भी (21 दिन)।

खर्जूक्लेश में (अक्सर प्रगामी प्रावस्था में) अलग-अलग तीव्रता की खुजली और चर्म में तनावट की अनुभूति भी हो सकती है।

क्षतियों की परिमाप और प्रकृति के अनुसार खर्जूक्लेश के निम्न तल्पिक रूप होते हैं: बिंदुक खर्जूक्लेश, जिसमें पिटक पिन के सर या बाजरे के बराबर होते हैं; बूंदिक खर्जूक्लेश, जिसमें पिटक बूंद के आकार के होते हैं; मौद्रिक खर्जूक्लेश, जिसमें पिटक सिक्के के बराबर होते हैं (व्यास 20-25 मिलिमीटर); शैवाकवत कंटल खर्जूक्लेश, जिसमें शैवाकवत पिटक होते हैं; पिटकार्बिक (पर्याय: मसेदार) खर्जूक्लेश, जिसमें पिटकार्बिक बहुलनरत अधिकेंद्र बनते हैं; वलयाकार (पर्याय: कक्षकीय) खर्जूक्लेश, जिसमें स्फोट वलय या माला के रूप में अवस्थित होते हैं; साकृतिक (पर्याय: भौगोलिक) खर्जूक्लेश, जिसमें अधिकेंद्र की परिरेखा भौगोलिक चित्र की याद दिलाती है, वपास्रावी खर्जूक्लेश, जिसमें स्फोट वपास्राव के लंछक स्थलों पर नन्हे शल्कनरत गुलाबी धब्बों के रूप में उत्पन्न होते हैं; पुराना दद्रुक खर्जूक्लेश, जो दद्रुकरण से युक्त उपेक्षित खर्जूक्लेश है; आदि।

विसरित शल्कन या शल्कों का स्पष्ट परिसीमित पटलीकरण शिरोवल्क पर हो सकता है और इसके इर्द-गिर्द के चिकने चर्म पर फैल जा सकता है, पर बाल इससे कभी भी ग्रस्त नहीं होते। खर्जूक्लेश के करीब चौथाई केस शिरोवल्क से शुरू होते हैं और शिरोवल्क की आक्रांति के 60 प्रतिशत केसों में स्फोट चर्म के अन्य क्षेत्रों पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। शिरोवल्क को आक्रांति सदा अधिकेंद्रिक प्रकृति की होती है और पश्च, पार्श्व एवं ऊपरी (शीर्ष) सतहों पर अच्छी तरह उभरे हुए चकत्तों के रूप में अवस्थित होती है। जननेंद्रियों पर खर्जूक्लेश इसके सभी केसों के पांचवें भाग में अवलोकित होता है (यह लड़कियों में सबसे अधिक होता है); वृहत पुटकों के क्षेत्र अपघर्षज प्रवाह ग्रहण कर लेता है, लेकिन अधिकेंद्रों की सीमा स्पष्ट होती है और साथ

में अंतर्स्यंदन भी होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकेंद्रों के मुख्य स्थल हाथ-पैरों पर (85 प्रतिशत तक के केसों में) और धड़ पर (70 प्रतिशत से अधिक केसों में) होते हैं। हथेलियों और तलवों के ग्रस्त होने पर (अर्थात् हथेलियों और तलवों के खर्जूक्लेश में) विस्तृत, गोल, शल्कनरत और रेखित चकत्ते विकसित होते हैं (8-10-12 प्रतिशत केसों में)।

बहुत छोटे शिशुओं और 5 वर्ष से छोटे बच्चों में खर्जूक्लेश अधिकांशतः शिरोवल्क, चेहरे, धड़ और हाथ-पैरों पर संगमित अधिकेंद्रों के रूप में व्यक्त होता है। पिटक ललामिक धब्बों से विरचित होते है और कभी-कभी रिसालु और शोफित होते हैं (रिसालु खर्जूक्लेश), जिससे निदान में बड़ी कठिनाई होती है। जंघामूलीय पुटकों के क्षेत्र में क्षतियां अक्सर जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियों तक पर फैल जाती हैं। छोटी उम्र के स्कूली बच्चों में खर्जुक स्फोट बहुत चमकीले और रिसालु होते हैं, संगम की प्रवृत्ति रखते हैं; रिसालु घटक अधिक स्पष्ट होता है, बनिस्बत की वयस्कों के स्फोट में, और इसी कारण शल्कनरत खठ्ठियों तथा सीरमी खठ्ठियों की विपुलता होती है।

अविशिष्ट तल्पिक खर्जूक्लेश के ग्रुप में निम्न की गणना होती है: मशिकीय, मसेदार, घर्षज, रिसालु और पीपिकीय खर्जूक्लेश, शिलावत खर्जूक्लेश और खर्जुक चर्मारुणता।

घर्षज खर्जूक्लेश (पर्याय: पुटकीय खर्जूक्लेश) पारश्लेषण या रूमैटिकता से ग्रस्त बहुत नन्हे पयोपा बच्चों में, मेदुर लोगों में, अधेड़ व्यक्तियों और अतिसंवेदी व्यक्तियों में विकसित होता है। यह अविशिष्ट स्थलों पर होता है, जैसे—हाथ-पैर की आकोचनी सतहों पर, संधियों पर, जंघामूलीय पुटकों व काँख में, हथेलियों व तलवों पर। यह अक्सर मौद्रिक, रिसालु, किरमिजी चकत्तों के रूप में व्यक्त होता है, जिनकी सीमाएं स्पष्ट होती हैं; उनमें हल्का शल्कन होता है, सतह आर्द्र एवं मसृणित होती है, खुजली और जलन की अनुभूति होती है। बहुत संभव है कि यहाँ रूप मारतः रिसालु (पर्याय: दद्रुक) खर्जूक्लेश ही है, जिसका तल्पिक चित्र चर्म-पुटकों में अवस्थिति के कारण परिवर्तित हो गया है। रिसालु खर्जूक्लेश में क्षतियां खठ्ठियों से ढकी होती हैं, जो भूराभ-पीली होती हैं और रिसाव से तर होने के कारण झड़ती रहती हैं।

पीपिकीय खर्जूक्लेश (पर्याय: पूयिक खर्जूक्लेश) दो प्रकार के होते हैं: फोन ट्सुंबुश (von Zumbusch) प्रकार के और बार्बर (Barbar) प्रकार के। प्रथम प्रकार का पूयिक खर्जूक्लेश (बिना किसी विशिष्ट पूर्ववर्ती चर्मक्लेशिक चित्र के) प्राथमिक क्षतियों के रूप में हो सकता है, पर अधिकांशतः यह द्वितीयक प्रकार का होता है, जो सामान्य या घर्षज खर्जूक्लेश से विकसित होता है। यह एक गंभीर सार्वदैहिक रोग है, जिसमें ज्वर, अस्वस्थता और ल्युकोसीतोसिस प्रेक्षित होता है। पहले बहुसंख्य प्रकीर्णित एवं ललामिक-शोफित अधिकेंद्र प्रकट होते हैं, जो शीघ्रता से पूरे चर्म-क्षेत्र पर फैल जाते हैं और विभिन्न आकृतियों के नमूनों और विसरित चमकीले लाल अधिकेंद्रो में परिणत होने लगते हैं। इसी पृष्ठभूमि में प्रकीर्णित पूयिक क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जो सूख कर पीली-भूरी खठ्ठियां और खठ्ठानुमा शल्क बनाती हैं। यह चर्मक्लेश दुर्दम प्रवाह ग्रहण कर लेता है और इससे मृत्यु भी हो सकती है। दूसरे प्रकार के पूयिक खर्जूक्लेश में हथेलियों और तलवों पर ललामक्लेश की पृष्ठभूमि में पीपिकीय और खर्जूरूप अधिकेंद्र बन जाते हैं। क्षतियां शुरू में नन्ही और सममित रूप से व्यवस्थित होती हैं। पीपिकाओं का अंतर्द्रव्य निष्कीटित होता है। प्रक्रिया सार्वदैहिक रूप ग्रहण कर सकती है। हथेलियों और तलवों पर उपरोक्त अधिकेंद्रों के अतिरिक्त चर्म के अन्य क्षेत्रों पर खर्जूक्लेश के विशिष्ट स्फोट भी उत्पन्न हो सकते हैं।

खर्जुक चर्मारुणता (पर्याय: व्यापक खर्जूक्लेश) प्रतिकूल बहिर्जनित घटकों व क्षोभकारी चिकित्सा (एक्सरे-चिकित्सा, ACTH या आर्सेनिक के प्रसाधनों के उपयोग, टार, पारद आदि के

प्रसाधनों के बाह्य अनुयोग आदि) से विकसित होता है और खर्जूक्लेश के 1.5-2.5-3.0 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है, जिनमें अक्सर अल्प इमूनलोचनी सूचकांक और उच्च परोर्जिक प्रतिकारिता पायी जाती है। स्त्रैसी परिस्थितियां भी चर्मारुणता को प्रेरित कर सकती हैं। अक्सर चर्मारुणता का कारण निर्धारित नहीं हो पाता। चर्म की पूरी सतह भूरी आभा के साथ चमकीली लाल और तनावपूर्ण हो जाती है। अलग-अलग चर्म-क्षेत्रों पर शोफ और अंतर्स्यंदन का स्तर भी अलग-अलग होता है। अतिशल्कन (सर पर भूसी जैसा महीन और अन्य चर्म-क्षेत्रों पर पटलीय) पाया जाता है, बाल झड़ने लगते हैं, लसपर्व बड़े हो जाते हैं, नख नष्ट होने लगते हैं और परानखशोथ विकसित होता है। यदि पहले से खर्जूक्लेश नहीं होता, तो इस प्रक्रिया को अन्य प्राथमिक और द्वितीयक चर्मारुणताओं से विभेदित करना कठिन हो जाता है।

खर्जुक स्फोट श्लेष्मल झिल्लियों पर बहुत विरले ही होते हैं। मुख-श्लेष्मला की आक्रांति स्पष्टतः तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया का प्रमाण है (धूम्रपान, मद्यपान, दंतक्षरण आदि से)। मुख-श्लेष्मला पर अधिकेंद्र गोल, अंडाकार, या अनियमित आकृति के धब्बों के रूप में होते हैं; उनका रंग भूराभ पीला होता है, परिसर पर गुलाबी आभा का लाल वलय होता है। अधिकेंद्र कभी-कभी श्लेष्मला की सतह से कुछ उभरे होते हैं।

विभेदक निदान में निम्न लक्षणों को ध्यान में रखा जाता है: चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों पर स्फोटों का साथ-साथ प्रकट होना और चिकित्सा से साथ-साथ गायब होना; ऊतलोचनी चित्र की पहचान।

नख खर्जूक्लेश के करीब 25 प्रतिशत रोगियों में आक्रांत हो जाते हैं। उनकी आक्रांति के तीन रूप पाये जाते हैं: बिंदुक नख-कुपोषण ('अंगुश्ताने का लक्षण), नखश्येनता (मोटा और बाज की चोंच की तरह टेढ़ा होना) और नखलय (अपोषज नख-कुपोषण)।

खर्जूक्लेश के 10-12 प्रतिशत रोगियों में चर्म स्फोटों के साथ-साथ अस्थि-संधियों में भी प्रगामी परिवर्तन होने लगते हैं: विकृतिकारी बहुसंधिशोथ की तरह की संधिरुग्नता, हाथ-पैरों की संधियों का अपरूपण (खर्जूक संधिशोथ) और रीढ़ की अनम्यता (संधार्तिक खर्जूक्लेश)। खर्जूक्लेश का यह तल्पिक रूप सबसे उग्र होता है, इससे आदमी कार्यक्षमता खो देता है, उसकी मृत्यु भी हो सकती है। अधिकांश रोगियों में संधियां खर्जुक स्फोट के पहली बार प्रकट होने के तीन से पांच या इससे अधिक वर्ष बाद ग्रस्त होने लगती हैं; कभी-कभी (विरलतः) खर्जुक संधिशोथ चर्म स्फोटों के साथ-साथ भी शुरू होता है, उनके पहले भी शुरू हो सकता है। खर्जुक संधिशोथ अधिकांशतः लंबी अवधी से खर्जूक्लेश द्वारा ग्रस्त लोगों (विशेषकर पुरूषों) में होता है। चर्म तथा संधियों में परिवर्तन शोथी एवं कुपोषी प्रकृति का होता है (तीव्रता और उग्रता भिन्न हो सकती है)। संधिवेदना की प्रकृति भी अलग-अलग होती है। प्रक्रिया के बहुत सामान्य लक्षण हैं हाथ-पैर की नन्ही परिसरीय संधियों की बहुसंख्य सममित आक्रांति (अस्थि-रंध्रता – मुख्यतः अंतिम पर्वों में; और संधि कोटरों का संकीर्ण होना), धीरे-धीरे वृहत संधियों का ग्रस्त होना (कभी-कभी रीढ़ का भी)। तीव्र रूपों में हाथ-पैर की उंगलियों के दूरस्थ पोरों का अपचोषण तथा एक्सोस्टोसिस और अस्थिवर्ध पाये जाते हैं। अस्थियों में परिवर्तनों के कारण संधियों में हलचल अपूर्ण खसकन, संकोचन और वक्रार्त्ति होती है। खर्जुक संधिशोथ को रूमैटी संधिशोथ से तुलनात्मक रयुमोसेरोलोचनी परीक्षणों और तीव्र आक्रमण व हृदय की आक्रांति की अनुपस्थिति से विभेदित किया जाता है।

प्रवाह. इस चर्मक्लेश के तल्पिक अभिव्यक्ति-काल में प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं: प्रगामी,

स्थावर और अवगामी। प्रगामी चरण में निम्न बातें प्रेक्षित होती हैं: नये पिटकों का प्रकट होना, पुरानी क्षतियों का परिसरीय प्रसार, पिटकों के गिर्द एक शोथी वलय की उपस्थिति, खर्जुक त्रिक, केब्नेर की संवृत्ति, पिटकों के संगम से नये चकत्तों का बनना या नये चकत्तों का वर्धन होना। स्थावर चरण में नयी क्षतियां नहीं उत्पन्न होतीं, परिसरीय शोथी वलय नहीं होता, केब्नेर की संवृत्ति अनुपस्थित होती है। अवगामी चरण में खर्जुक क्षतियां चौरस और विवर्ण हो जाती हैं, शल्कन कम हो जाता है या थम जाता है, पिटकों के गिर्द निर्वर्णकता का वलय प्रकट होता है (वोरोनोव का मिथ्या अपोषी वलय), और पिटकों का अपचोषण उनके मध्य या परिसरीय भागों से शुरू हो जाता है, जिसके अंत में निर्वर्णकित धब्बा (या विरलतः अतिवर्णकित धब्बा) बन जाता है। खर्जुक स्फोटों के गायब होने की अवस्था को उपशमन कहा जाता है। गर्म मौसम में लगभग 20 प्रतिशत केसों में स्वतःस्फूर्त उपशमन अवलोकित होता है। जब प्रक्रिया धूप के कारण उग्र हो जाती है, तब उपशमन विरल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपशमन चिकित्सा द्वारा सिद्ध हो सकता है। फिर भी, खर्जूक्लेश का पुनरावर्तन होता रहता है; इसमें अनेक घटकों का योगदान रहता है (आवोहवा, नार्वमानसिक चोटें, अंतस्रावी गड़बड़ियां, किसी चिरकालिक पैठन-केंद्र का उग्र हो उठना, आदि)। मौसमी एवं जलवायविक घटकों के अनुसार खर्जूक्लेश सबसे अधिक पाया जाता है।

कुछ वैज्ञानिक खर्जूक्लेश का एक अव्यक्त प्रकार भी मानते हैं, जिससे उनका तात्पर्य है: इस रोग के विकास के प्रति जन्मजात प्रवणता, द्रव्य-विनिमय की लंछक विशेषताएं, चर्म में संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तन। खर्जूक्लेश का यह रूप उन परिवारों में मिल सकता है, जिसके सदस्य या उनके संबंधी प्रत्यक्ष (व्यक्त) खर्जूक्लेश से ग्रस्त होते हैं।

ऊतगदलोचन. अधिचर्म में मालपीगी सतह के अंतरापिटकीय क्षेत्रों में पराश्रृंगन और कंटलय होता है, अधिपिटिकीय क्षेत्र पतले हो जाते हैं, अंतर्कोशिकीय शोफ और स्पंजता पायी जाती है, न्यूट्रोफिल सुचर्म बेध कर अंतराकोशिकीय क्षेत्र में जमा होने लगते हैं (मोन्रो की सूक्ष्म विद्रधि)। पिटक के ऊपर श्रृंगी परत मोटी और ढीली हो जाती है और मुख्यतः छड़ की तरह लमड़े नाभिकों वाली पराश्रृंगी कोशिकाओं से बनी होती है। पटलों के बीच हवा से भरे असंख्य विदार दिखायी देते हैं। इसी हवा के कारण शल्क रजत की तरह चमचमाते हैं। पुरानी क्षतियों में अंति-श्रृंगन अधिक स्पष्ट होता है बनिस्बत कि पराश्रृंगन। श्रृंगी परत में नाभिकों का पाया जाना पिटक की 'उम्र' पर निर्भर नहीं करता। कणमय परत गायब हो जाती है या इसकी जगह कोशि-काओं की एक इकहरी अवछिन्न परत होती है। तीव्र केसों में काँचर (हिआलीन) परत भी लुप्त हो जाती है। पिटिकाओं के ऊपर मालपीगी परत पतली हो जाती है और अधिचर्म के विवर्ध लमड़ जाते हैं। काँटल परत में पिटिकाओं के बीच कंटलय बहुत स्पष्ट होता है। पिटिकामय परत की कोशिकाएं बहुत विस्फारित, बहुत टेढी-मेढ़ी और अतिरक्तिल होती हैं। पिटिकाओं में और कुंभियों के गिर्द अवपिटिकीय परत में लसकोशिकाओं और ऊतकोशिकाओं का शोथी अंतस्यंद भी पाया जाता है।

निम्न ऊतलोचनी परिवर्तनों द्वारा तीन खर्जुक संवृत्तियां निर्धारित होती हैं। 'स्टेआरीन-धब्बा नामक संवृत्ति श्रृंगी परत के ढीला होने और केराटोहिआलीन-परत (श्रृंगीकाँचर परत) की अनुपस्थिति से उत्पन्न होती है। 'अंतस्थ झिल्ली' के विकसित होने का कारण यह है कि खुरचने से काँटल-परत की चपटी हुई कोशिकाओं की कतार से बनी एक चमकदार लाल सतह दिखती है। 'बिंदुक रक्तस्राव' नामक संवृत्ति पिटिकीय केशिकाओं की विछिन्नता से उत्पन्न होती है;

ी कोशिकाएं पिटिकाओं पर स्थित मालपीगी परत के बिल्कुल पतले हो गये क्षेत्रों में दिखती हैं।

एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शन मे आधारीय परत की कोशिकाओं के नाभिकों का तीव्र रंजन दिखायी पड़ता है, जो अधिचार्म कोशिकाओं की वर्धित बहुलन-क्रिया का प्रमाण है। जंतिकीय परीक्षणों से वर्धित सूचकांक और बार्र-कायों (Barr's bodies) के अवशेष मिलते हैं (बार्र के काय – x-रंजयकाय के सर्पिल एवं जंतिकीय रूप से कम सक्रिय रूप)।

खर्जुक अधिकेंद्रों में DNA और RNA जैसे घटकों की मात्रा अधिक होती है, बनिस्बत कि सामान्य चर्म में। सतही अधिचार्म परत में ग्लूकोज-6-फोस्फेट डेहिड्रोगेनाज (डिहाइड्रोजिनेज) की सक्रियता वर्धित ज्ञात होती है और आधारीय व निचली काँटल परत की कोशिकाओं में ग्लीकोलीसिस खमीरों की मात्रा अधिक होती है।

विभेदक निदान में खर्जूरूप एवं पीपिकीय सीफिलिदों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये, जिनमें स्फोट का अंतर्स्यंदन अधिक स्पष्ट होता है; और भी महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं: त्रेपोनेमा पालीडुम का अनुवेदन (सीरम में) और सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणाम। खर्जूक्लेश को चौरस लाल लैवाक से भी विभेदित करना चाहिये, जिसमें पिटक गोल नहीं, बहुभुज होते हैं, शल्कन हल्का होता है, क्षतियां बैंगनी लाल होती हैं। उपरोक्त तीनों संवृत्तियों की अनुपस्थिति और क्षतियों की विशिष्ट अवस्थिति (हाथ-पैर की ऋजुकारी नहीं, वरन् आकोचनी सतह) पर भी ध्यान देना चाहिये। जिबर्ट (Gibert) के गुलाबी बुसन, वपास्रावी दिनाइ तथा कुछ अन्य चर्मरोगों से भी विभेदित करना चाहिये, जिनका तल्पिक चित्र खर्जूक्लेश से बहुत मिलता-जुलता होता है; इनके बारे में तदनुरूप प्रकरणों में बताया गया है।

चिकित्सा. चूँकि खर्जूक्लेश के हेतुलोचन का अभी तक पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है, इसलिये इसकी चिकित्सा विविध युक्तियों और साधनों के संकुल द्वारा होनी चाहिये, जो रोगी की व्यक्तिगत शारीरिक विशेषताओं, रोग के प्रति प्रवणकारी घटकों (द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियों, मानसिक चोट, अधिकेंद्रिक पैठन, अंतस्रावी रोगों आदि), रोग के चरण, प्रवाह और मौसमी प्रकृति को भी ध्यान में रख सके।

क्षोभक दवाओं (प्लोरिआमीनुम, खीजारोबिन, पोटेंट केराटोप्लास्टिक मलहमों) को प्रगामी चरण में इस्तेमाल नहीं करते, जिसमें नये स्फोट निकलते हैं, क्योंकि इन दवाओं से प्रक्रिया तेज हो जा सकती है। इस चरण में एंटीहिस्टामीन और प्रशामक दवाएं (जो शांतिदायक प्रभाव डालती हैं), अवसंवेदी प्रसाधन (कैल्सियम क्लोराइड, कैल्सियम ग्लूकोनेट या सोडियम थायोसल्फेट के घोल का अंतर्शिरीय आधान) और विटामिन (B_1 और B_6 की सूइयां) लाभकर होते हैं। बाह्य चिकित्सा के रूप में स्टेरोइड-क्रीम (सीनालार, लोकाकोर्टेन, लोकाजालेन) लाभप्रद होते हैं (इन पर अवरोधक पट्टी बांधना वांछनीय होता है); ऊन्ना का क्रीम और 2 प्रतिशत सैलीसीलिक से युक्त मलहम भी लगाये जा सकते हैं।

अवर एवं प्रगामी चरणों में शब्दाधान से चिकित्सा, प्रशामक, विटामिन (ए, सी, ई, बी-दो, बी-छे, बी-बारह, बी-पंद्रह, नीकोटीनिक एवं फोलिक अम्ल), रक्ताधान, स्ताफिलोकोकी टाक्सोइड, गामा ग्लोबूलिन, ज्वरकारी प्रमाधन और ग्रीजोफुल्विन सुसंकेतित होते हैं। संक्रमण का प्रतिरोध करने वाले कुटाली केसों का उपचार अन्य दवाओं, मेटारेक्सेट व 6- मेर्काप्टोपुरीन जैसे कोशिका-स्तंभकों (एंटीमेटाबोलिटों) से किया जाता है। इन साधनों का उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिये। इनसे उपचार आवासीय चिकित्सा-प्रतिष्ठानों में करना अच्छा रहता है, ताकि रोगी की अवस्था पर निरंतर निगरानी रखी जा सके। इनकी एक या दो टिकिया

नित्य दी जाती है, एक दौर पाँच से सात दिनों में समाप्त होता है। लाभ और सहनशीलता (इन दवाओं के प्रति) के अनुसार पूरी चिकित्सा दो से चार दौर में अपनायी जाती है। हर दौर के बाद इतने ही समय (5 से 7 दिन) का अंतराल रखा जाता है।

ग्लूकोकोर्टिकोइडों (15-20 मिलिग्राम त्रिआमसीनोलोन या 30-40 मिलिग्राम प्रेद्नीजोलोन या मेथिलप्रेद्नीजोडोन नित्य) तथा ACTH-जिंक-फोस्फेट की (20-30U एक दिन छोड़ कर) रिसालु विमरित एवं संधांतिक खर्जूक्लेश में दी जाती है। संधियों की खर्जुक आक्रांति में निम्न दवाएं सुसंकेतित हैं: बूटाडिआ्रोन (फेनिलबूटाजोन), मेटोब्रिन, ब्रूफेन (इबूप्रोफेन), रूमालोन, सैलीसीलिक प्रसाधन और संश्लिष्ट एंटीमलेरिक दवाएं। कोर्टिकोस्टेरोइड-दवाओं के दीर्घकालीन उपयोग में उनके साथ-साथ हर्मोनिक एवं अ-हर्मोनिक क्रियाओं वाले अनाबोलिक (उत्पाचक) प्रसाधन देना अच्छा होता है।

खर्जूक्लेश की सामान्य चिकित्सा के संकुल में निम्न दवाओं से भी लाभ होता है: ज्वरकारी प्रसाधनों (पीरोगेनाल या पाइरोजेनल, प्रोडीगिओजानुम: 20-50 से 100-300 MPD; कुल 600-1000 MPD) व स्त्रेप्तो-एंटीजन व स्ताफिलोकोकी टोक्सोइड (हर तीन या चार दिन में 0.25 से 2.0 मिलिलीटर की अंतर्चार्म सूई)। खर्जूक्लेश के ग्रीष्मकालीन रूपों के लिये एंटीमालेरिक प्रसाधन उत्तम होते हैं: ख्लोरोक्वीन फोस्फेट, प्लाक्वेनिल, ख्लोरोक्वीन। वसाओं से विपन्न एवं पोटाशियम से समृद्ध शाकाहारी भोजन की सलाह दी जाती है। वसाओं से परहेज और आहार में वनस्पति-तेल एवं वसालयकारी प्रसाधनों (सेटामीफेनम, क्लोफोब्रेट, मेथिओनीन, पोलीस्पोनीनुम, 0.1 ग्राम तीन बार नित्य) का समावेशन वसा-विनिमय की गड़बड़ियों में लाभकर होता है।

खर्जूक्लेश की चिकित्सा में भौतिकीय चिकित्सा का भी विस्तृत उपयोग है। इनमें पराबैंगनी किरणें (मुख्यत: खर्जूक्लेश के शीतकालीन रूपों और अप्रगामी चरण में), अप्रत्यक्ष पास्तापन और बक्की की किरणें आती हैं। प्राकृतिक आरोग्यशालाओं में उपचार और स्नान-चिकित्सा (सल्फरिन हाइड्रोजन, रेडोन और प्राकृतिक ब्राइन के साथ स्नान) सुसंकेतित हैं। पिछले समय से खर्जूक्लेश की चिकित्सा में प्रकाशरसायन चिकित्सा में सफलता मिल रही है। यह विधि मुखमार्ग से फोटोसंवेदक प्रसाधनों (8 मेथोक्सीप्सोरालेन पर्याय मेथोक्सालेन, बेरोक्सानुम) को ग्रहण करने और 320-400 नानोमीटर तरंग-लंबाई की पराबैंगनी किरणों से विकिरणन पर आधारित है।

प्रक्रिया की चरणात्मक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए बाह्य चिकित्सा का भी उपयोग किया जाता है। प्रगामी चरण में अक्षोभकारी मलहम (2 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल या 2 प्रतिशत सल्फर, 5 प्रतिशत नाफ्थालान से युक्त मलहम, रिबाकोव का बोरिक अम्ल एवं सोलीडोल से युक्त मलहम, उन्ना का क्रीम) प्रलिखित किये जाते हैं। स्थावर एवं अवगामी चरणों में निम्न मलहमों के उपयोग की सलाह दी जाती है: इख्थामोल-नाफ्थालान, टार और सल्फरिक-टार के मलहम, प्सोरिआसीनुम, एंटीप्सोरिआटीकुम, 5 प्रतिशत पीरोगालोल, 0.5-5.0 प्रतिशत खीजारोबिन, 0.5-1.0 प्रतिशत सिग्नोलिन पर्याय डीथानोल त्रिआसेटेट (या डिआ्रक्सी आंथ्रानोल) के मलहम (बढ़ती खुराकों में)। कोर्टिकोस्टेरोइडों से युक्त क्रीम व मलहम (लोकाजालेन, फ्लूसीनार, उल्ट्रालान, सेलेस्टोडेर्म आदि) रोग-प्रक्रिया के सभी चरणों में सुसंकेतित हैं।

लाल चौरस शैवाक

लाल चौरस शैवाक के हेतुलोचन और गदजनन को पूर्णतया स्थापित नहीं माना जा सकता। इस रोग की पैठी प्रकृति के समर्थक वैज्ञानिक अपनी परिकल्पना निम्न तथ्यों पर आधारित करते हैं: प्रतिजीवकों द्वारा चिकित्सा से लाभ, पारिवारिक रोगों के केस, कुछ अन्वीक्षकों द्वारा अंतर्कोशिकीय वीरुसी समावेशन का अनुवेदन। रोग के नर्वजनक सिद्धांत के समर्थकों का तर्क भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह सिद्धांत निम्न तथ्यों पर आधारित है: अक्सर स्त्रैसी परिस्थितियों के बाद रोग होना, कुछ रोगियों को स्वापन या रिफ्लेक्स-सिगमेंटल चिकित्सा से लाभ, कुछ केसों में नर्व-शाखाओं के सहारे-सहारे स्फोटों की अवस्थिति, अनेक रोगियों में नार्विक कार्यों की क्रियात्मक गड़बड़ियां पाया जाना। लाल चौरस शैवाक के रोगियों में हर्मोनिक परिवर्तनों और द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियों पर भी ध्यान दिया गया है।

स्वकाय-प्रबलता प्रकार वाले धिरासतन से युक्त पारिवारिक प्रवणता स्थापित की गयी है।

तल्पिक चित्र गुलाबी-बैंगनी या किरमिजी-लाल बहुभुज चौरस (चपटे) पिटकों के एकरूपिक स्फोट द्वारा लंछित होता है, जिनकी सतह चमकदार होती है और बीच में 2-3 मिलिमीटर व्यास का अवनमन होता है। पार्श्व से प्रकाश डालने पर मोम जैसी विशिष्ट चमक होती है। पिटक संगम कर के चकत्ते बना ले सकते हैं, जिनकी सतह पर नन्हे शल्क बनते रहते हैं। जब पिटकों और विशेषकर चकत्तों पर वनस्पति-तेल लेपा जाता है, शृंगी परत के पार नन्हे श्वेताभ बिंदु और मकड़जाली जैसी रेखाएं दिखती हैं (विकहैम की रेखाएं); इसका कारण है—अधिचार्म कणमय परत का असमरूपता से मोटा होना। अधिकेंद्र के अपचोषित होने पर स्थायी अतिवर्णकित धब्बे बन जाते हैं। रोग के साथ-साथ खुजली होती है, जो अक्सर बहुत तीव्र होती है और रोगी को विश्राम और नींद से वंचित कर देती है।

लाल चौरस शैवाक के प्रिय स्थल हैं: प्रबाहु की आकोचनी सतह, कलाई, जांघों की मध्य सतह, पैरों (गोड़ों) की अग्र सतह, जंघामूलीय क्षेत्र, काँख और मुख-श्लेष्मला। चेहरा, शिरोवल्क, हथेलियां और तलवे प्रक्रिया से अक्सर अछूते रहते हैं। कुछ केसों में स्फोट रैखिक और कटिबंधों के रूप में होते हैं (यह नमूना अक्सर हाथ-पैरों पर पाया जाता है।

25 प्रतिशत रोगियों में श्लेष्मल झिल्लियों (मुख, लिंगपूग, योनि-द्वार) की आक्रांति की कोई चार्म अभिव्यक्ति नहीं होती। गाल की श्लेष्मला पर क्षतियां भूरे-दूधिया बिंदुक पिटकों के रूप में होती हैं, जो वलयों या जालिकाओं की तरह व्यवस्थित होते हैं। जीभ पर श्वेतसिलत्व के अधिकेंद्रों से मिलते-जुलते ओपल (लहसुनिया पत्थर) जैसे श्वेताभ चौरस चकत्ते बनते हैं, जिनकी सीमा स्पष्ट एवं दंतुरित होती है। होठ (अक्सर निचले होठ) की सिंदूरी सीमा पर नन्हे बैंगनी चकत्ते बनते हैं, जिनकी सतह पर हल्का शल्क होता है और जाल जैसी रेखाएं दिखती हैं।

कुछ रोगियों में हाथ-पैर के नख भी ग्रस्त हो जाते हैं। नखों पर मेड़ के रूप में अनुतीर घाइयाँ बन जाती हैं। नखसेज अतिरक्तिल होता है और नखों पर अपारदर्शक अधिकेंद्र बन जाते हैं।

लाल चौरस शैवाक क्षोभ के प्रति एक तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया द्वारा लंछित होता है। इसकी विशिष्ट क्षतियां अक्सर निस्त्वचन के क्षेत्रों पर उत्पन्न होती हैं (केब्नेर की संवृत्ति)। रोग प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण कर लेता है और अक्सर कई महीनों तक चलता रहता है।

सार्वदैहिक चर्मक्लेश के भी उदाहरण ज्ञात हैं, जिसमें द्वितीयक चर्मारूणता विकसित हो जाती है।

लाल चौरस शैवाक के कई अविशिष्ट रूप हैं।

अतिपोषित या मसेदार चौरस शैवाक मसानुमा अतिगठन का परिणाम होता है। इसमें बैंगनी या भूराभ-लाल चकत्ते उत्पन्न होते हैं, जो मसानुमा अतिश्रृंगित पटलीकरण से ढके होते हैं। वे अलग-थलग विशिष्ट (शैवाक के लिये सामान्य) पिटकों से घिरे हो सकते हैं। क्षतियां पैर (गोड़) की अग्र सतह पर स्थित होती हैं, अन्य चर्मक्षेत्रों पर अपेक्षाकृत कम पायी जाती हैं।

खर्जूरूप चौरस शैवाक (ब्रौक का रोग) के भी उदाहरण पाये जाते हैं।

अपोषित या कठोरित रूप (अपोषित चौरस शैवाक, कठोरित चौरस शैवाक)। अपोषी या कठोरी परिवर्तन पिटकों या चकत्तों के अपचोषण के बाद हो सकता है। इसके हल्के रंग के कारण विवर्ण दागी कुपोषण को निरंज शैवाक कहते हैं। यह गले, कलाई, वक्ष या पेट पर हो सकता है। सूक्ष्म-अधिकेंद्रिक कुपोषित खल्वाटता शिरोवल्क पर विकसित हो सकती है; यह मिथ्या खोंते-दार खल्वाटता जैसी होती है, जो हाथ-पैर की ऋजुकारी सतह पर मशिकीय श्रृंगनता का लक्षण लिये होती है (लिटिल-लासावेर का सिंड्रोम)।

बुदबुदियानुमा या बुल्लेदार रूप (बुदबुदियानुमा लाल शैवाक, पर्याय : बुल्लेदार लाल शैवाक) एक विरल रिसालु रूप है, जो सीरमी या सीरम-रक्तिल अंतर्द्रव्य वाली वस्तिकाओं की विरचना द्वारा लंछित होता है। वस्तिकाएं मटर या चेरी के बराबर होती हैं। वे स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म पर या पिटकों व चकत्तों की सतह पर (अक्सर हाथ-पैर पर) होते हैं।

कुछ केसों में लाल चौरस शैवाक की विशिष्ट पीपिकाएं भी पायी जाती हैं।

मालानुमा लाल शैवाक चेरी-स्टोन जितनी बड़ी क्षतियों द्वारा लंछित होता है, जो माला में धागों से जुड़े मनकों के रूप में होती हैं। पीपिकाएं गुंबज की तरह, गोलित, मोमवत, गुल्मवत होती हैं, जो गुल्मवत पट्टियों की याद दिलाती हैं। स्फोट विसुरित प्रकृति के हो सकते हैं, जो अक्सर ललाट, कान की पश्च सतह, कोहनी के गले, हथेली के पीछे, पेट और नितंबों पर होते हैं, जबकि गाल, नाक, अधोजत्रुक (हँसुली के नीचे) व पँखुड़ों के बीच के क्षेत्र, हथेलियां, तलवे और लिंगपूग अछूते रहते हैं। कुछ वैज्ञानिक लाल चौरस शैवाक के इस रूप को एक अलग स्वतंत्र रोग मानते हैं।

नुकीला, परिमशिकीय रूप (नुकीला चौरस शैवाक या चौरस लोमिल शैवाक). इसमें सामान्य बहुभुज पिटकों के अतिरिक्त शंक्वाकार मशिकीय पिटक भी बनते हैं, जिनके केंद्रों में श्रृंगी उत्वर्ध होते हैं। शिरोवल्क की क्षतियों के स्थल पर कुपोषणजनित दाग रह जाते हैं।

वलयाकार रूप (वलयाकार चौरस शैवाक) का कारण यह है कि अधिकेंद्र अपने मध्य क्षेत्र में उपशमित हो कर परिसर की ओर फैलने लगता है; मध्य भाग में वर्णकता रह जाती है। इससे नन्हे वलय, मेहराब, मालाओं आदि जैसी आकृतियां बन जाती हैं; ये अलग-अलग नन्ही पीपिकाओं के संगमित होने से भी बन सकती हैं। वलयाकार चौरस शैवाक ज्यादातर पुरुषों में जननेंद्रियों व हाथ की मध्य सतह पर पाया जाता है, देखने में वह सीफिलिसी पिटकों जैसा लगता है।

कटिबंधरूप लाल शैवाक और रैखिक ऋजु लाल शैवाक भी होते हैं, जिनमें पीपिकाएं नर्वशा-खाओं के सहारे-सहारे उत्पन्न होती हैं; ये कटिबंधक विसर्प से मिलते-जुलते होते हैं।

लाल चौरस शैवाक के सामान्य रूप का विशिष्ट ऊतगदलोचनी चित्र होता है। अधिचार्म परतों का मोटा होना, कंटलय और हल्की अतिश्रृंगनता पायी जाती है। कणमय परत असमरूप मोटाई से लंछित होती है: बारी-बारी से बहुत मोटी परत (अतिकणता) और सामान्य परत मिलती है।

पिटिकार्बना और एक शोथी अंतर्स्यंद मुचर्म के ऊपरी भागों में पाया जाता है; अंतर्स्यंद अधिकांतः लसकोशिकाओं से बना होता है और नीचे से स्पष्ट परिसीमित होता है। अधिचार्म और सुचार्म अंतर्स्यंद के बीच कभी-कभी झिरी जैसा अवकाश बन जाता है, जो सीरम से भरा होता है।

निदान. सामान्य केसों में निदान सरल होता है; इसके लिये निम्न लक्षणों पर ध्यान दिया जाता है: बहुभुज चमकदार पिटक (जिनके केंद्र में अवनमन होता है), क्षतियों का नीलाभ रंग, विकमैन की रेखाएं, केबनेर की तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया और लंछक स्थल। लाल चौरस शैवाक को सीफिलिसी पिटकों से विभेदित करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, विशेषकर जब रोग जननेंद्रियों और मुख-श्लेष्मला पर स्थित होता है। ऐसे केसों में रूपलोचनी निदान के अतिरिक्त सीफिलिस के लिये खून की जाँच, ट्रोपोनेमा पालीडुम के लिये रिसालु पिटकों की सीरम की जाँच और आयुर-वृत्त (रोग-वृत्त) का भी सहारा लेना पड़ता है। विकमैन की भूराभ-श्वेत रेखाएं (चकत्तों की सतह पर) और कुपोषण-जनित परिवर्तनों की अनुपस्थिति लाल चौरस शैवाक को दागी लाइकेन से विभेदित करता है (जब रोग सिंदूरी सीमा पर होता है)। कंठमालीय शैवाक (शैवाकवत चर्मयक्ष्मा) शैवाकवत पिटकों के ग्रुपों द्वारा लंछित होता है; पिटकों का रंग सामान्य चर्म जैसा ही होता है और वे धड़ के पार्श्वों पर होते हैं। ऐसे केसों में पिर्के का परीक्षण धनात्मक होता है और साथ में किसी अंग के यक्ष्मा की अभिव्यक्ति भी पायी जा सकती है।

चिकित्सा. जब भी संभव हो, सबसे पहले गदजनक घटकों को दूर करना चाहिये। चिरकालिक पैठन के अधिकेंद्रों की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये। प्रतिजीवकों (800000-1000000U तेत्रासिक्लीन, क्लोरोतेत्रासिक्लीन हाइड्रोक्लोराइड या ओलेआंडोमीसिन नित्य, या 600000U एक्मोनोवोसिलिन की सूई नित्य, 7 से 10 दिन तक) के साथ-साथ कैल्सियम क्लोराइड या सोडियम हाइपोसल्फेट के घोल का अंतर्शिरीय आधान लाभप्रद होता है। ब्रोमीन के प्रसाधन, वालेरिआन, विटामिन सी, रूटिन, निकोटीनिक अम्ल, और विटामिन बी-एक, बी-छे व बी-बारह की सूइयां दी जाती हैं। तीव्र खुजली का उपाय एंटीहिस्टामिनिक प्रसाधन हैं, जिन्हें मुखमार्ग से दिया जाता है, लेकिन सूई से भी दिये जा सकते हैं (मेबहिड्रोलिन नापाडीजीलाट, क्लोरोपीरामीत, क्लेमास्टिनफूमाराट, प्रोमेथाजीन हाइड्रोक्लोराइड, डीफेनिलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड)।

निम्न साधनों से भी अच्छा लाभ होता है: स्वाप-निद्रा में शब्दाधान, विद्युनिद्रा, पराबैंगनी विकिरण, गले की अनुकंपी गुच्छिका का पारतापन, परा-उच्च आवृत्ति से चिकित्सा, कमर के क्षेत्र में प्रेरोतापन, जिसके साथ-साथ मुखमार्ग से मेथिलडोपा (नित्य एक गोली) या राउनाटिन (सुबह-शाम एक-एक गोली) दिया जाता है।

चिरकालिक रूपों की चिकित्सा एंटीमलेरिक दवाओं (रेजोक्वीन, खिन्गामिन पर्याय क्लोरोक्वीन डीफोस्फेट आदि) से की जाती है, जिन्हें कुटाली केसों में स्टेरोइड हर्मोनों की नन्ही खुराकों के साथ प्रलिखित करने की सलाह दी जाती है, जैसे प्रेजोसिल के रूप में, जिसमें क्लोरोक्वीन डीफोस्फेट और प्रेदनीजोलोन होते हैं। हिस्टोग्लोबिन का भी सफलतापूर्वक उपयोग होता है।

बाह्य रूप से मेंथोल व कार्बोलिक अल्कोहलों, और स्टेरोइड क्रीमों का लेप प्रयुक्त होता है। लाल चौरस शैवाक के मसेदार, अतिपोषित रूप चिकित्सा का सबसे अधिक विरोध करते हैं। ऐसे केसों में निम्न उपाय प्रलिखित किये जाते हैं: परास्वेदन, अधिकेंद्रों के गिर्द खिन्गामिन क्लोरोक्वीन डीफोस्फेट के 10 या 5 प्रतिशत सांद्र घोल की सूई हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्सन, द्रव नाइट्रोजन या कार्बन डायक्साइड, पारतापीय स्कंदन (अधिकेंद्र को दागना), बक्की की किरणों से विकिरणन, आदि। बुदबुदियानुमा रूप में पहले बुल्ले का शिखर दूर किया जाता है, फिर शेक लोशन और

उसके बाद मलहम (नाफ्थालान, कोर्टिकोस्टेरोइड के) लगाये जाते हैं। श्लेष्मल झिल्लियों के ग्रस्त होने पर ल्यूगोल का घोल और पनीलीन रंजक प्रयुक्त होते हैं।

प्राकृतिक खनिज जल-स्रोतों में (सल्फ़ारित हाइड्रोजन-आयोडोन से युक्त जल में), स्नान अतीव्र अवस्थाओं में सुसंकेतित है।

बुल्लेदार चर्मक्लेश

इस ग्रुप में बहुत भिन्न महत्त्व (प्रायिकता) वाले रोग आते हैं। इसमें अपेक्षाकृत प्रायिक रोगों (ड्यूरिंग-रोग या विसर्परूपी चर्मशोथ, सामान्य बुदबुदिया) के अतिरिक्त अपेक्षाकृत कम पाये जाने वाले रोग (पनपुज बुदबुदिया, पर्णिक बुदबुदिया, वपास्रावी बुदबुदिया, बुल्लेदार बुदबुदस) भी आते हैं। इन रोगों में बनने वाली वस्तिकाएं एकरूपिक चिन्ह मानी जाती हैं। विरल केसों में ही इनके साथ अन्य प्राथमिक क्षतियां पायी जाती हैं (जैसे ड्यूरिंग के रोग में)।

इस प्रश्न का अंतिम उत्तर अभी तक नहीं मिल सका है कि सामान्य बुदबुदिया, पनपुज बुदबुदिया, पर्णिक बुदबुदिया और वपास्रावी बुदबुदिया एक ही रोग के भिन्न रूप हैं या परस्पर संबद्ध रोग हैं। अधिकांश चर्मलोचक बुदबुदिया और विसर्परूपी चर्मशोथ को बुल्लेदार चर्मक्लेशों के एक सामान्य ग्रुप का दो अलग-अलग रोग मानने की प्रवृत्ति रखते हैं, यद्यपि कुछ केसों में (विशेषकर अधेड़ व्यक्तियों में) ड्यूरिंग का रोग सामान्य बुदबुदिया में परिणत हो सकता है।

वास्तविक बुदबुदिया

ड्यूरिंग रोग की तरह इसका भी हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात हैं, यद्यपि इस संबंध में अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किये जा चुके हैं, जैसे—इमूनलोचनी, पैठनजनित, वीरुसी, द्रव्य-विनिमय का, नार्वजनक, अंतस्रावी, खमीरी, और गरलता का। आज के अधिकांश अन्वीक्षक इसे इमूनगदलोचनी स्व-आक्रामक प्रक्रिया की एक अभिव्यक्ति मानते हैं। इस धारणा के समर्थन में रोगियों के आक्रांत चर्म, बुल्ला-द्रव और रक्त सीरम में अंतराकोशिकीय द्रव्य के विरुद्ध प्रतिकायों के अनुवेदन से संबंधित आँकड़े प्रस्तुत किये जाते हैं। इमूनोसंदीप्ति से परीक्षण की विधियों द्वारा हमारी खोजें अधिचर्म की काँटल परत के अंतराकोशिकीय अवकाशों में एक संदिप्ति की उपस्थिति को सिद्ध करती हैं, जो सिर्फ बुदबुदिया के रोगियों के लिये लंछक है। बुदबुदिया में स्व-इमूनी युक्ति स्पष्टतः गदजनक महत्त्व रखती है, न कि हेतुलोचनी।

हाल में कुछ वैज्ञानिक यह मानने लगे है कि बुदबुदिया के सभी रूप किसी एक ही रोग के परिवर्त हैं, जिसका निमित्त कारण कोई छन्न वीरुस या जीवलोचनी रूप से परस्पर संबद्ध वीरुसों का ग्रुप है। वे अपने सिद्धांत के पक्ष में अनेक तथ्य प्रस्तुत करते हैं: बुल्ला के अंतर्द्रव्य द्वारा निरंज चूहों व खरगोशों में पैठन उत्पन्न करने में सफलता, बुदबुदिया के रोगी से लिये गये द्रव्य द्वारा मुर्गी के भ्रूण में पैठन कराने से उसमें बुल्लों की उत्पत्ति; बुदबुदिया व ड्यूरिंग-रोग से ग्रस्त व्यक्तियों के बुल्ला-द्रव तथा सीरम से तैयार किये गये एंटीजनों के प्रति धनात्मक पूरक-स्थिरकारी प्रतिक्रिया; एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शन से बुदबुदिया-कोशिकाओं में वीरुस जैसी संरचना की खोज, टीश्यू-कल्चर की विधि से ड्यूरिंग-रोग और बुदबुदिया से ग्रस्त व्यक्तियों के बुल्ला-द्रव एवं रक्त-सीरम में कोशिका-गदजनक प्रभाव का ज्ञापन, आदि। ये सभी तथ्य रोग की वीरुसी प्रकृति

परम प्रमाण नहीं हैं, पर इस रोग में विरुसों की भूमिका के और आगे अध्ययन की आवश्यकता की ओर इशारा अवश्य करते हैं।

बुदबुदिया की उत्पत्ति से संबंधित [illegible] अवधारणा सबसे पुरानी है। यह निकोल्स्की द्वारा [illegible] प्रस्तुत एवं विकसित की गयी थी। वे यह मानते थे कि बुदबुदिया एक नर्व- कुपोषण- [illegible], जो नर्व-कोशिकाओं के अवजनन से होता है। यह सिद्धांत उन केसों पर आधारित [illegible] रोग नार्वमानसिक चोटों और शक्तिशाली रागात्मक अनुभवों के बाद विकसित हुआ था; [illegible] के रोगी का मृत्यूपरांत अध्ययन करने पर मेरु-रज्जू और मेरु-गुच्छिकाओं की कोशिकाओं [illegible] अवजनक परिवर्तन भी पाये गये हैं। ये परिवर्तन संभवतः गदजनक महत्त्व रखते हैं।

बुदबुदिया के रोगियों में पानी, खनिज व प्रोटीन के विनिमय में स्पष्ट परिवर्तनों के आधार पर बुदबुदिया और डयूरिंग-रोग की उत्पत्ति का द्रव्य-विनिमय से संबंधित सिद्धांत प्रस्तुत किया गया। संभाव्यता के साथ यह भी सिद्ध किया गया कि सोडियम विनिमय का नियमन अधिवृक्कवल्कुट के खनिज-कोर्टिकोइड कार्य द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त, बुदबुदिया के रोगियों की चिकित्सा में स्टेरोइड हर्मोनों की कारगरता और शरीर से उनके विसर्जन से संबंधित आधुनिक तथ्य और आँकड़े इन रोगियों में अधिवृक्क- तथ्य और आँकड़े इन रोगियों में अधिवृक्क-वल्कुटी ग्लूको-कोर्टिकोइड कार्यों के दमन और यहां तक कि निःशेषण की भी पुष्टि करते हैं। अंत में, ऐसे केस लंबे समय में ज्ञात हैं, जब बुदबुदिया सगर्भता-काल में विकसित हो जाता है और प्रसव के बाद ठीक हो जाता है। ये तथ्य बुदबुदिया के हेतुलोचन की अंतर्स्रावी अवधारणा के निर्माण को प्रेरित करते हैं। लेकिन [illegible] में भी बुदबुदिया की उत्पत्ति में अंतर्स्रावी गड़बड़ियों का प्राथमिक कारण होना अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है। बहुत संभव है कि द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियों की तरह ही अंतर्स्रावी गड़बड़ियां भी द्वितीयक प्रकृति रखती हैं और किन्हीं अन्य हेतुलोचनी घटकों के प्रत्युत्तर में उत्पन्न होती हैं। यदि बुदबुदिया और डयूरिंग रोग का वीरुसी हेतुलोचन सिद्ध हो भी जाता है, उनके विकास में इमूनलोचनी, अंतर्स्रावी, नार्विक एवं मेटाबोलिक (द्रव्य-विनिमय की) गड़बड़ियों की गदजनक भूमिका रह जायेगी। विरासती रोग के रूप में भी बुदबुदिया के केस यदा-कदा मिलते रहे हैं।

वर्गीकरण. वास्तविक बुदबुदिया के चार रूप हैं: सामान्य, पनपुज, पर्णिक और वपास्रावी। वास्तविक बुबबुदिया स्त्रियों के बीच अधिक पाया जाता है। रोग अक्सर 40 से 60 वर्ष के बीच होता है; 17 वर्ष से कम के बच्चों में बहुत विरल होता है। इस रोग का प्रवाह तीव्र और कभी-कभी दुर्दम होता है, जिसके परिणाम घातक होते हैं।

सामान्य बुदबुदिया

बुदबुदिया के सभी रूप के 75 प्रतिशत केस सामान्य बुदबुदिया के होते हैं। रोग नियमतः मुख [illegible] की श्लेष्मला की आक्रांति से शुरू होता है, जिसके बाद धड़, हाथ-पैर, जंघामूलीय क्षेत्र, [illegible] चेहरा और बाह्य जननेंद्रिय भी प्रक्रिया की चपेट में आ जाते हैं। प्रवाह लंछक रूप से [illegible] चिरकालिक होता है। कोर्टिकोस्टेरोइडों की खोज से पूर्व रोगियों की मृत्यु कुछ महीनों [illegible] छ महीने से दो वर्ष के बीच हो जाया करती थी। रोग स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म पर [illegible] बुल्ला की उत्पत्ति से हठात् शुरू होता है। बुल्ले शुरू में तने हुए होते हैं, पर शीघ्र ही [illegible] हो जाते हैं। उनका आकार मटर से ले कर सेम के बीज के बराबर तक होता है, पर वे

चित्र 23. सामान्य बुदबुदिया

इससे भी बड़े हो सकते हैं। शुरू में वे स्वच्छ द्रव से भरे होते हैं, जो बाद में धुंधला सीरमी हो जाता है।

विकास-क्रम में शीघ्र ही बहुचक्रीय परिरेखाओं वाली रिसालु अपरदित सतहें बन जाती हैं। अधिचर्म के पुनर्जनन की प्रक्रिया में पटलित भूराभ खठ्ठियाँ बनती हैं, जिनके हटने पर आक्रांति क्षेत्र पर भूरी वर्णकता रह जाती है। अन्य केसों में (जब रोग स्वतः या कोर्टिकोस्टेरोइड चिकित्सा के प्रभाव से उपशमित होने लगता है) बुल्लों के शिखर अछूते रहते हैं, क्योंकि उनके भीतर का रिसाव अपचोषित होने लगता है। बुल्ले धीरे-धीरे दबने लगते हैं और पतली खठ्ठियों में परिणत हो जाते हैं, जो बाद में झड़ जाती हैं। स्वतःस्फूर्त उपशमन के बाद नियमतः पुनरावर्तन होता है। प्रक्रिया के सुदम प्रवाह में रोगी की सामान्य अवस्था में शायद ही कोई परिवर्तन होता है। दुर्दम प्रवाह शरीर क्लांत और श्लांत हो जाता है। द्वितीयक पैठन की स्थिति में रोग विशेष तीव्र हो जाता है। एओजीनोफीलिआ, ऊतकों में सोडियम और क्लोराइडों का रुका रहना और प्रोटीन की मात्रा में कमी भी प्रेक्षित होती है। रक्त में प्रोटीन के अनुपात और इमूनोग्लोबूलिन A, G व M की मात्राओं में भी परिवर्तन पाये जा सकते हैं। यकृत, वृक्क, क्लोम व हृदय के अंतर्वर्ती रोग विकसित हो सकते हैं।

बुदबुदिया से ग्रस्त रोगी को नियमतः खुजली की कोई अनुभूति नहीं होती।

कभी-कभी बहुसंख्य अपरदनों से तीव्र पीड़ा होती है, जो परिधान (ड्रेसिंग) बदलते समय या रोगी की मुद्रा (स्थिति) बदलते समय और भी तेज हो जाती है। मुँह, होठों और जननेंद्रियों पर क्षतियां और भी पीड़ाजनक होती हैं।

मालपीगी परत में होने वाले अवजनक परिवर्तन (जिन्हें कुल मिला कर 'कंटलय' कहते हैं) महत्त्वपूर्ण तल्पिक एवं निदानिक लक्षणों का रूपलोचनी आधार है, जिन्हें निकोल्स्की का लक्षण (या निकोल्स्की-संवृत्ति) कहते हैं। इस लक्षण का सार निम्न है। यदि फटी वस्तिका का शिखर पकड़ कर खींचा जाये, तो स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म से भी अधिचर्म उधड़ने लगता है। जब

बुल्लों या अपरदनों के बीच स्वस्थ प्रतीत होने वाली चर्म को रगड़ा जाता है, तो वहां का भी अधिचर्म उधड़ आता है। आक्रांति क्षेत्र से दूर स्थित स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म को रगड़ने पर अधिचर्म की ऊपरी परत सरलता से क्षत हो जाती है। इसके अतिरिक्त, साबुत बुल्ले को उंगली से दबाने पर अंतर्द्रव पसर कर संलग्न अधिचार्म क्षेत्रों में पहुँचने लगता है और बुल्ला परिसर पर फैल जाता है। यह अंतिम निदानिक परीक्षण आस्बो-हैंसेन का लक्षण कहलाता है। लेकिन निकोल्स्की-संवृत्ति के उच्च निदानिक महत्त्व की उपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि आस्बौ-हैंसेन का लक्षण बुदबुदिया के लिये विशिष्ट नहीं होता, यह अन्य चर्मरोगों में भी प्रेक्षित होता है (विशेषकर जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय, रिट्टेर के रोग और लिएल के सिंद्रोम में)। यह उग्रताकाल में बुदबुदिया के लगभग सभी रोगियों में धनात्मक होता है, लेकिन रोग की अन्य अवधियों में ऋणात्मक भी हो सकता है।

आधुनिक चिकित्सा विधियों से रोग का पुनरावर्तन अनेक रोगियों में विलंबित करने में सफलता मिल रही है, जबकि स्टेरोइड चिकित्सा को जारी रखते हुए अनेक रोगियों का जीवन-काल रोग के बाद अनेक वर्षों तक लंबा किया जा रहा है।

पनपुज बदबुदिया

विकास के आरंभ में यह तत्त्विक रूप से सामान्य बुदबुदिया की तरह होता है और अक्सर मुख-श्लेष्मला पर क्षतियों की उत्पत्ति से शुरू होता है। रोग के बिल्कुल आरंभ में, बुल्लों में नैसर्गिक छिद्रों के गिर्द, नाभि के क्षेत्र में और वृहत चर्म-पुटकों में (काँख, जंघामूलीय, नितंबों के बीच, स्तनों के नीचे, कानों के पीछे) उत्पन्न होने की प्रवृत्ति ध्यातव्य है। बुल्लों के फटने के बाद उनके स्थान पर गंदली झिल्ली से ढकी अपरदित सतह की पृष्ठभूमि में पिटिकार्बिक उत्वर्ध बनते हैं। क्षतियां संगमित होकर वृहत पनपू क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति रखती हैं, जिनपर जगह-जगह पूयिक विगृतिक अपघटन होता है। निकोल्स्की का लक्षण अक्सर धनात्मक होता है। इस रोग के साथ-साथ पीड़ा और जलन की अनुभूति होती है। तीव्र पीड़ा के कारण सक्रिय गति करना (हिलना-डुलना, चलना) कठिन होता है।

यदि चिकित्सा सफल होती है, तो पनपाव अपेक्षाकृत चपटा और शुष्क होने लगता है; अपरदन का उपकलाकरण हो जाता है। पनपुज बुदबुदिया के कुछ रोगियों में क्षय (काखेक्सिया) होने लगता है और मृत्यु भी हो सकती है।

चित्र 24. पनपुज बुदबुदिया

पर्णिक बुदबुदिया

रोग भयंकर कंटलय द्वारा लंछित होता है, जिससे ठीक शृंगी परत के नीचे सतही विदार बन जाते हैं; ये विदार बाद में बुल्ला में परिणत हो जाते हैं।

वयस्कों में पनपुज की अपेक्षा पर्णिक बुदबुदिया अधिक अक्सर पाया जाता है और बच्चों में भी सामान्य बुदबुदिया के अन्य रूपों की तुलना में अधिक होता है।

रोग के प्रारंभ में स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म पर सतह से कुछ उभरे हुए श्लथ बुल्ले बनते हैं, जिनका शिखर बहुत पतला होता है। जल्द ही वे फट जाते हैं और वहां वृहत अपरदित क्षेत्र बन डाते हैं। अधिकांशतः बुल्लों के शिखर सूख कर पतले पटलित शल्की खठ्ठियों में परिणत हो जाते हैं। खठ्ठी के नीचे अपरदन का उपकलाकरण बहुत धीरे-धीरे होता है। रिसाव के नये अंशों से इन खठ्ठियों की नयी परतें बनती हैं, जिससे पटलित शल्कों जैसी सतहें बनती हैं, इसीलिये रोग को अपशल्की बुदबुदिया भी कहते हैं। यही बुदबुदिया का वह रूप हैं, जिसमें निकोल्स्की द्वारा वर्णित चिन्ह (लक्षण) सदा तीव्र धनात्मक होता है। यह रोग वर्षों तक चलने वाला चिरकालिक होता है; बीच-बीच में स्वतः सुधार की भी अवधियां आती हैं। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है, वह चर्म के विस्तृत क्षेत्रों को ग्रस्त करता जाता है; शिरोवल्क भी आक्रांत हो जाता है, जिससे बाल झड़ने लगते हैं। रोग का विकास चर्मारुणता की तरह होता है (चित्र 25)। पर्णिक बुदबुदिया मुख-श्लेष्मला को विरले ही ग्रस्त करता है। सामान्य अवस्था किस तीव्रता के साथ बदतर होती है,

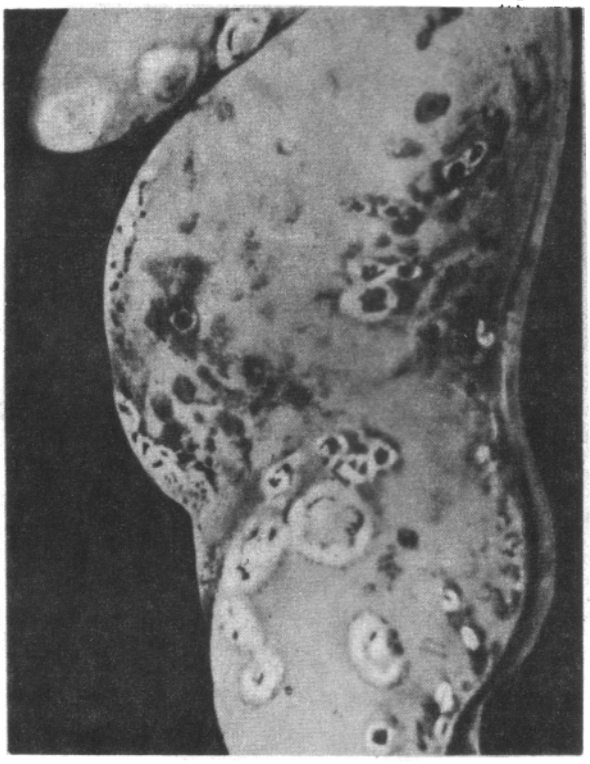

चित्र 25. पर्णिक बुदबुदिया

यह चर्माक्रांति के विस्तार पर निर्भर करता है: जब अधिकेंद्रों की संख्या कुछेक ही होती है, तो सामान्य अवस्था में शायद ही कोई विकार आता है, लेकिन सार्वदैहिक क्षतियों में, जिनमें चर्मारुणता के प्रकार की क्षतियां भी आती हैं, वह (विशेषकर बच्चों में) बदतर होने लगती है, ज्वर होता है (शुरू में अवज्वर, फिर ज्वर), जल और लवणों के विनिमय में गड़बड़ी होती है, रक्ताल्पता और एओजीनोफीलिया विकसित होने लगती है। रोगी धीरे-धीरे दुबला-पतला होता जाता है, क्षय विकसित होने लगता है।

वपास्रावी या ललामक्लेशिक बुदबुदिया (सेनेआर-ऊशेर का सिंड्रोम)

वपास्रावी बदुबुदिया वास्तविक बुदबुदिया के ही ग्रुप में आता है, क्योंकि बुदबुदिया के पर्णिक या सामान्य रूपों में इसके विकसित होने की संभावना विश्वस्त रूप से सिद्ध की जा चुकी है। अधिकांश केसों में रोग सुदम होता है, यद्यपि लंबे समय तक बना रह सकता है। क्षतियां पहले चेहरे पर होती हैं, विरलतः शिरोवल्क, वक्ष व पीठ पर भी हो सकती हैं। ललामिक पृष्ठभूमि पर पास-पास स्थित नेलचट खट्ठियां बन जाती हैं, जो चेहरे पर दागी ललामक्लेश के चित्र की याद दिलाती हैं। खट्ठियों को हटाने पर गीली अपरदित सतहें दिखती हैं। इन सतहों से लिये गये छाप-लेप (इंप्रेसन स्मियर) में कंटलयिक कोशिकाएं पायी जाती है। बुल्ले अक्सर दृष्टिगोचर नहीं होते, इसीलिये लगता है कि खट्ठियां ही प्राथमिक क्षतियां हैं। अन्य केसों में पटलित पीलाभ खट्ठियों से आच्छादित वस्तिकाएं धड़ व हाथ-पैर पर, वपास्राव के लंछक स्थलों पर बनती हैं। श्लेष्मल झिल्लियों पर क्षतियां विरले ही उत्पन्न होती हैं और यदि हो जाती हैं, तो भविष्यवाणी की दृष्टि से यह एक बुरा लक्षण है।

ललामक्लेशिक बुदबुदिया के रोगियों में कांटल परत और मुचार्म-अधिचार्म की सीमा के क्षेत्र में आधारीय झिल्ली, दोनों ही के द्रव्य में संदीप्ति दिखती है।

ऊतगदलोचन. कंटलय, अधिचार्म कोशिकाओं के बीच संयोजनों में विछिन्नता, वास्तविक बुदबुदिया के सभी रूपों में मौलिक ऊतगदलोचनी परिवर्तन है। कंटलय ही बुल्लों के बनने की परिस्थितियां उत्पन्न करता है, जो सदा कांटल परत की कोशिकाओं के बीच अंतःउपकलीय रूप से स्थित होते हैं। पर्णिक बुदबुदिया में यह विशेष स्पष्ट होता है और स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म में भी देखा जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे रोगियों में निकोल्स्की का लक्षण चर्म के लगभग हरेक क्षेत्र में धनात्मक होता है। बुदबुदिया के अन्य रूपों में यह लक्षण सिर्फ बुल्लों और उनके आस-पास के स्थलों पर धनात्मक होता है (बुल्लों से दूर स्थित क्षेत्रों पर बहुत ही कम)। मालपीगी परत के निचले भागों में अंतराकोशिकीय सेतुओं के नष्ट होने के कारण पहले विदार और फिर बुल्ले विकसित होते हैं, जिनके कोटर कोशिकाओं या उनके ग्रुपों से बिंधे होते हैं (इन कोशिकाओं में निम्न आती हैं: न्युट्रोफिल, एओजीनोफिल और अल्प संख्या में लसकोशिकाएं तथा प्लाज्मकोशिकाएं)। कांटल परत की कुछ कोशिकाओं में अवजनक परिवर्तन हो जाते हैं; उनके नाभिक गोल हो जाते हैं, खुद कोशिकाएं अतिरंजित हो कर एक समज प्रोटोप्लाज्म के स्पष्ट सीमाओं वाले वलयों से घिर जाती हैं। ये कोशिकाएं इस परत की सामान्य कोशिकाओं से बड़ी होती हैं; इनमें गाढ़ा रंजित वृहत नाभिक होते हैं, जिनमें दो या तीन बड़ी-बड़ी नाभिकाएं होती हैं। सीतोप्लाज्म (साइटोप्लाज्म) में नाभिक के गिर्द हल्का नीला कटिबंध होता है और अक्सर में वह तीक्ष्ण नीले रंग से रंजित होता है। ये ट्सांक (Tzanck) की कंटलयिक कोशिकाएं

हैं, जिनका निदानिक महत्त्व बहुत अधिक होता है, विशेषकर बुदबुदिया के बुल्लों को ड्यूरिंग-रोग के बुल्लों से विभेदित करने में।

पनपुज बुदबुदिया भी अंतःउपकलीय एओजीनोफिलिक विद्रधि से लंछित होता है।

निदान. क्लासिकल केसों में वास्तविक बुदबुदिया का निदान बिल्कुल ही कठिन नहीं होता। सामान्य बुदबुदिया का निदान निम्न लक्षणों के आधार पर सरलता से हो जाता है: मुख-श्लेष्मला की आक्रांति के साथ अक्सर पुनरावर्तन, स्फोटों की एकरूपिक प्रकृति, धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण, रोग का अपेक्षाकृत मंद विकास, सामान्य अवस्था में उत्तरोत्तर ह्रास। निदान की सत्यता जाँचने के लिये महत्त्वपूर्ण परीक्षण हैं—छाप-लेप या गीम्जा-रंजित (Giemza-stained) लेप में कंटलयिक कोशिकाओं का अनुवेदन (ट्सांक की कोशिकीय निदान-रीति) और इमूनोसंदीप्ति परीक्षण द्वारा एंटी-IgG के प्रत्युत्तर में काँटल परत के अंतराकोशिकीय क्षेत्रों में संदीप्ति का प्रकट होना। इन सबसे बुदबुदिया का हठात विकसित होने वाले अन्य बुल्लेदार चर्मरोगों से विभेदन हो जाता है, जिनमें निम्न रोगों के नाम आते हैं: बहुरूप रिसालु ललामी, बुल्लेदार चर्मगरलता, ड्यूरिंग का रोग, जन्मजात बुल्लेदार चर्मलय और ललामक्लेशिक वृका का बुल्लेदार रूप।

चिकित्सा. स्टेरोइड हर्मोनों की महत्तम खुराक प्रलिखित करनी पड़ती है (प्रेदनीजोलोन या मेथिल-प्रेद्नीजोलोन का 40-60 मिलिग्राम, त्रिआमसीनोलोन का 32-48 मिलिग्राम, डेक्सामेथाजोन का 4-6 मिलिग्राम नित्य)। बच्चों के लिये ये खुराकें उम्र के अनुसार कम की जाती हैं। उदाहरणार्थ, 5 से 15 वर्ष के बच्चों के लिये प्रेद्नीजोलोन की दैनिक खुराक 10-12 मिलिग्राम से अधिक नहीं होनी चाहिये, त्रिआमसीनोलोन का 8-12 मिलिग्राम और डेक्सामेथाजोन का 2-3 मिलिग्राम से अधिक नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त, बच्चों में अधिवृक्क-वल्कुट को उद्दीपित करने के लिये ACTH की भी 10-20U दैनिक खुराक प्रलिखित की जाती है। जब नये स्फोटों का निकलना बंद हो जाता है और अधिकेंद्र में रिसालु-संवृत्ति कम हो जाती है, कोर्टिकोस्टेरोइडों की खुराक कम की जा सकती है, पर बहुत धीरे-धीरे (प्रक्रिया को उग्र होने से रोकने के लिये और 'स्टेरोइड-औषध-व्यवधान की संवृत्ति' से बचने के लिये)।

बुदबुदिया के रोगी की चिकित्सा करने वाले डाक्टर की मुख्य समस्या होती है—हर्मोन की ऐसी खुराक 'विमापित' करना, जो विचाराधीन रोगी के लिये अल्पतम हो और रोग को पुनरावर्तित नहीं होने दे। इसे अल्पतम अनुरक्षक खुराक कहते हैं, जिसे रोगी तल्पालय से निकलने के बाद भी ग्रहण करता रहता है। अलग-थलग केसों में कई-एक वर्ष तक अल्पतम खुराक ग्रहण करते रहने के बाद रोगी उन्हें बिल्कुल छोड़ दे सकता है। लेकिन कभी-कभी स्टेरोइडों की बड़ी खुराकें भी बुदबुदिया को ठीक करने तथा उसे रोकने के लिये काफी नहीं होतीं। ऐसे केसों में खुराक तबतक बढ़ायी जाती है, जबतक कि इष्ट थेरापिक प्रभाव प्राप्त नहीं होता, यद्यपि स्टेरोइडों की खुराक तेजी से बढ़ाने पर कभी-कभी क्लिष्टताओं की संख्या और तीव्रता रोगी के लिये घातक भी सिद्ध हो सकती है। फिर भी जीवनावश्यक संकेतों के उत्पन्न होने पर खुराक बढ़ानी ही पड़ती है।

कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों की खुराक कम करके इनसे होने वाली तीव्र क्लिष्टताओं से बचने के लिये हाल में हर्मोनों के साथ कोशिका-स्तंभक दवाओं का भी सफलतापूर्वक उपयोग हो रहा है। निम्न कोशिका-स्तंभक (इमूनोदमनकारी) दवाएं प्रयुक्त होती हैं: प्रोजीडिउम क्लोराइड का नित्य 100 मिलिग्राम अंतर्शिरीय आधान कराया जाता है, पूरी चिकित्सा के लिये कुल खुराक 2000-2500 मिलिग्राम है; मेथोट्रेक्साट के 25 मिलिग्राम की अंतर्पेशीय सूई हर 5-7 दिन में एक बार, कुल 4 या 5 सूइयां, या मुखमार्ग से आधी टिकिया नित्य चार बार (अर्थात् नित्य 25 मिलिग्राम)

5 दिन तक, जिसके बाद 3 दिन का विश्राम दिया जाता है (ऐसी चिकित्सा के 4 या 5 दौर चलाये जाते हैं)। आजाथिओप्रीनुम (इमूरान) की मुखमार्ग से दैनिक खुराक 200 मिलिग्राम प्रलिखित की जाती है, यह उसे 4 सप्ताह तक दिया जाता है और इसके बाद दैनिक खुराक धीरे-धीरे घटा कर 50 मिलिग्राम तक पहुँचा दी जाती है; चिकित्सा 4 से 6 महीने तक चलती है। मेथोल भी प्रलिखित किया जा सकता है, जिसमें प्रेद्नीजोल के साथ पोटाशियम, कैल्सियम, विटामिन तथा मेथिल-आंड्रोस्टेनेडिओल होते हैं। बुदबुदिया के रोगी को निम्न प्रसाधन भी अवश्य देने चाहिये: अनाबोलिक हर्मोन (मेथांड्रोस्टेनोलोन, पर्याय मेटांडिएनोन, नेरोबोलिल, मेथिलांड्रोस्टनेडिओल, आदि), कैल्सियम व पोटाशियम के प्रसाधन, फागोसितोस (फागोसाइटोसिस) को प्रोत्साहित करने वाले प्रसाधन (पेंटोक्सिल, मेथिल-उरासिल), और विटामिन (एस्कोर्बिक अम्ल, रूटिन, आस्कोरूटिन, रीबोफ्लाविन, कैल्सियम पांटोथेनाट, फोलिक अम्ल)। द्वितीयक पैठन के विकसित होने पर प्रतिजीवक दिये जाने हैं (मुखमार्ग से या सूई द्वारा)।

लक्षणप्रधान चिकित्सा बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। इसमें रोगी की अवस्था के अनुसार निम्न कदम उठाये जाते हैं: रक्ताधान (150-200 मिलिलीटर, बूंद-बूंद कर के वांछनीय होता है), नैसर्गिक प्लाज्मा का आधान (150-200 मिलिलीटर), गामा-ग्लोबूलिन की सूई, एंटी-अनेमिन (नित्य या एक दिन छोड़ कर 2-4 मिलिलीटर की सूई पेशी में), यकृत के प्रसाधन (हेपारिन, विटाहेपानक्रेआटीन, हेपाविट की गोलियां) और स्वरक्त-चिकित्सा। बुदबुदिया के रोगी को साधारण नमक और कार्बोहाइड्रेट से परहेज करना चाहिये, लेकिन उसका आहार उच्च कैलोरी के प्रोटीन, कैल्सियम और विटामिनों से समृद्ध होना चाहिये।

जब आर्द्रता चर्म और श्लेष्मला के विस्तृत क्षेत्र पर छा जाती है, तब रोगी की सही और पूर्ण देखभाल बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। द्वितीयक कोकी पैठन को रोकने के लिये किसी निष्पैठक घोल में (जैसे पोटाशियम परमैंगनेट के घोल में) अक्सर ऊष्ण स्नान कराया जाता है और इसके बाद कोई निष्पैठक दवा लगायी जाती है; जैसे कास्तेलानी का पेंट, क्रिस्टलिक बैंगनी (पिओक्टानिन) का 1-2 प्रतिशत जलीय घोल, बोरिक अम्ल-नाफ्थालान का 5 प्रतिशतीय मलहम, आदि। खाना खाने के बाद हर बार मुंह को बहुत अच्छी तरह धोना चाहिये (कैलेंडुला के या निट्रोफूराजोन के 1:5000 सांद्र घोल से कुल्ला करना)। ग्रस्त चर्म-क्षेत्रों पर कोर्टिकोस्टेरोइडों के मलहम लगाये या मलने हैं (जैसे लोकाकोर्टेन, फ्लूसीनार, डर्माजोलोन, ओक्सीकोर्ट, हिओक्सीजोन, आदि)। कोर्टिकोस्टेरोइड एवं प्रतिबाक्तेरिक प्रसाधनों (ओक्सीसिक्लोजोल, आदि) से युक्त मलहम का छिड़काव भी किया जा सकता है।

डाक्टर और परिचारकों को चाहिये कि वे रोगी को ठीक हो जाने का निरंतर विश्वास दिलाते रहें। कोर्टिकोस्टेरोइड से चिकित्सा के फलस्वरूप अधिकांश केसों में होता भी यही है।

अकंटलयिक बुददुदिया या दागी बुदबुदियावत. इस ग्रुप के चर्मक्लेशों में भी बुल्ले उत्पन्न होते हैं पर वास्तविक बुदबुदिया के साथ इनका कोई संबंध नहीं होता। इस नाम में शब्द 'बुदबुदिया' रोग का सार नहीं दिखाता, इसका प्रयोग सिर्फ परंपरावश ही हुआ है। नीचे अकंटलयिक बुदबुदिया के कतिपय प्रकारों का वर्णन प्रस्तुत है।

बुल्लेदार बुदबुदियास. इस रोग में बड़े-बड़े, तने हुए बुल्ले निकल आते हैं, जो अक्सर खुजलाते नहीं हैं। उनमें सीरमी और कभी-कभी पूय या रक्त से मिश्रित द्रव होता है। बुल्ले मुख्यतः हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों, नाभि, जंघामूलीय एवं जांघ के क्षेत्रों और काँखों में होते हैं। बुल्लों के परिसर में चर्म अतिरक्तिल और शोफित होता है। मुख की श्लेष्मल झिल्लियां और

जननेंद्रिय एक तिहाई रोगियों में ग्रस्त हो जाते हैं। युतिका के ग्रस्त होने पर उसमें दागी परिवर्तन हो सकते हैं, जिससे दृष्टि खो सकती है। बुल्लेदार स्फोट कभी-कभी सामान्य बुदबुदिया से मिलते-जुलते होते हैं, पर वे अधिक लंबे समय तक बने रहते हैं। दोनों रोगों में मुख्य अंतर यह है कि बुदबुदियास के बुल्ले सुचर्म और अधिचर्म के बीच की सीमारेखा पर उत्पन्न होते हैं, अधिचर्म के भीतर (अंतरधिचार्म रूप से) नहीं।

बुदबुदियास के बुल्ले का इमूनोसंदीप्ति की रीति से निदान करने पर बुल्ला की तली पर फैली आधारीय झिल्ली के सहारे-सहारे एक हरिताभ संदीप्ति मिलती है (एंटी-IgG के प्रत्युत्तर में)। सामान्य बुदबुदिया के विपरीत, इस रोग में स्वतःस्फूर्त रूप से ठीक होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। कंटलय (और तदनुरूप कंटलयिक कोशिकाएं) तथा निकोल्स्की-लक्षण अनुपस्थित होते हैं। बुल्लेदार बुदबुदियास को ड्यूरिंग-रोग से निम्न लक्षणों के आधार पर विभेदित किया जाता है: क्षतियों में बहुरूपता की अनुपस्थिति, बुल्लों की ग्रुपों में उत्पन्न होने की प्रवृत्ति, पुराने स्फोटों के स्थान पर बुल्लों का पुनरावर्तन। रोग अधिकांशतः अधेड़ व्यक्तियों को होता है।

चिकित्सा. उग्रता-काल में कोर्टिकोस्टेरोइडों की बड़ी खुराकें प्रलिखित की जाती हैं (8-10 गोलियां – प्रेद्नीजोलोन, मेथिलप्रेद्नीजोलोन, डेक्सामेथाजोन या त्रिआमसीनोलोन की); स्फोटों के अपचोषण के साथ-साथ उनकी मात्रा कम करते जाते हैं और स्थायी उपशमन होने पर रोक देते हैं। सुसंकेतित होने पर प्रतिजीवक, बी- संकुल के विटामिन, आस्कोरुटिन (दिन में तीन बार एक-एक गोली), और पोटाशियम के प्रसाधन भी दिये जाते हैं। मलहम (हिओक्सोन, डेर्माटोल, लोरिंडेन-C) और अनीलीन रंजक बाह्य चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

सुदम श्लेष्मल बुदबुदियास. इस ग्रुप में सिर्फ मुख-श्लेष्मला का सुदम अकंटलयिक बुदबुदिया आता है, जिसे पाश्कोव तथा शेक्लाकोव ने एक अलग रूप की तरह विभेदित किया है। सुदम श्लेष्मल बुदबुदियास को बुल्लेदार बुदबुदियास या बहुरूप रिसालु ललामी का एक रूप माना जा सकता है। प्रारंभिक अभिव्यक्ति अक्सर नेत्र-युतिका में होती है, जहां विनाशकारी दागी युतिकीय परिवर्तन अवगामी बुल्ला के स्थल पर विकसित होते हैं, जिसके बाद शृंगिका की अपशुष्कता, अपारदर्शीकरण और व्रणन होने लगता है। मुख, ग्रासनली, ऊपरी श्वसन-मार्ग और जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियां अक्सर ग्रस्त हो जाती हैं: बुल्ले और अपरदन बनते हैं, जिनके बाद विनाशकारी संसंजक दागी परिवर्तन विकसित होते हैं। चेहरे और शिरोवल्क के चर्म की आक्रांति 50 प्रतिशत केसों में पायी जाती है। वस्तिकीय एवं बुल्लेदार क्षतियां अतिरक्तिल आधार-तल पर अवस्थित होती हैं। द्वितीयक दागी अपोषी परिवर्तन टिपिकल होते हैं।

पाश्कोव और शेक्लाकोव द्वारा विभेदित रूप सिर्फ मुख-श्लेष्मला पर पुनरावर्ती बुल्लों के विरचन द्वारा लंछित होता है। यह चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है, क्षतांकन नहीं होता। बुदबुदियास की तरह ही बुल्ले उपकला के नीचे विरचित होते हैं, पर उनमें कंटलयिक कोशिकाएं नहीं होतीं। इसकी प्रकृति सुदम होने के बावजूद भी रोग चिकित्सा का बहुत प्रतिरोध करता है, यहां तक कि कोर्टिकोस्टेरोइडों से चिकित्सा करने पर भी। फिर भी, रोगी की सामान्य अवस्था का ठीक रहना इस रोग के लिये विशिष्ट है; अपरदन का शीघ्र ही (कुछेक दिनों में) उपकलाकरण, लगभग एक ही स्थान पर बुल्लों का पुनरावर्तन, छूने में दर्द और जलन की अनुभूति भी इसकी खासियत है। निकोल्स्की का लक्षण सभी केसों में ऋणात्मक होता है। स्पष्ट थेरापिक प्रभाव 0.5 प्रतिशत प्रेद्नीजोलोन या 1.0-2.5 प्रतिशत हाइड्रोकोर्टिजोन से युक्त मलहम लगाने या खाने के 7-10 मिनट बाद (दिन में 3-4 बार) स्टेरोइडों से युक्त आएरोजोल छिड़कने से दृष्टिगोचर होता है।

इस रोग को निम्न रोगों से विभेदित करने में कठिनाई हो सकती है: लाल चौरस शैवाक के बुल्लेदार रूप से (यद्यपि लाल चौरस शैवाक के उत्पन्न होने का यह स्थल बहुत ही विरल है), बहुरूप रिसालु ललामक्लेश से (इसका प्रवाह बहुत तीव्र होता है, चर्म-क्षतियां भी पायी जाती हैं) बुल्लेदार बुदबुदियाम से (इसमें बुल्ले अपेक्षाकृत बड़े होते हैं, रोगियों की औसत उम्र 60 वर्ष होती है, अक्सर श्लेष्मल तथा चार्म क्षतियां साथ-साथ होती हैं; थेरापिक प्रभाव के लिये स्टेरोइड हर्मोनों और प्रतिजीवकों का साथ-साथ उपयोग करना पड़ता है)।

ड्यूरिंग रोग (विसर्परूपी चर्मशोथ *)

यह रोग एक चिरकालिक परोर्जिक-गरलताजनक चर्मक्लेश है, जिसमें बहुरूप स्फोट, खुजली और अक्सर प्रतिकूल (अवांछनीय, अनिष्टकारी) प्रवाह पाया जाता है। गदजनक रूप से इसका संबंध निम्न संवृत्तियों से हो सकता है: अंतस्त्रावी गड़बड़ियां, लसकणार्बक्लेश, श्विति, अंकुरार्ब, हर्मोनिक परिवर्तन (सगर्भता, रजोनिवृत्ति), रक्तगरलता, टीका, नार्विक एवं शारीरिक अति-तनाव। ड्यूरिंग-रोग से ग्रस्त लोगों में आयडीन के प्रति अतिसंवेदिता के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया गया कि रोग विविध अंतर्जनित क्षोभकों के प्रति परोर्जिक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होता है; वीरुसी हेतुलोचन की परिकल्पना भी अस्तित्व में आयी है।

रोग अधिकांशतः 25 से 55 वर्ष की उम्र में होता है। जीवन के प्रथम मासों में और बहुत बुढ़ापे में रोग बहुत ही विरल है; पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक प्रायिक है।

रोग चर्म-क्षतियों की बहुरूपता द्वारा लंछित होता है। वस्तिकाएं, बुल्ले, पिटक और पीपिकाएं एक साथ या थोड़े-थोड़े समय पर निकल आती हैं, ददोरे सीमित ललामिक क्षेत्रों पर अपेक्षाकृत पहले निकल आते हैं। स्फोटों की निम्न विशेषताएं हैं: ग्रुपों में (विसर्परूपी) सममित स्थिति, अक्सर चिरकालिक एवं पुनरावर्ती प्रवाह, और स्पष्ट आत्मगत लक्षण (खुजली, जलन और पीड़ा)।

मिआदी बुखार (आवर्त रूप से शरीर का तापक्रम ऊँचा होने) के अतिरिक्त रोगी की सामान्य अवस्था अपेक्षाकृत अच्छी रहती है।

ललामक्लेशिक, चित्तीदार-पिटकीय तथा पित्तिक क्षतियां धड़, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों और नितंबों के चर्म पर प्रकट होती हैं (चित्र 25)। बुदबुदिया जैसे वृहत बुल्ले भी बन सकते हैं। 5-10 मिलिमीटर व्यास की विवर्ण पीली पारभासी वस्तिकाएं इस रोग की विशिष्ट अभिव्यक्तियां हैं। वे संगम कर के बड़ी वस्तिकाएं बना लेती हैं, जो फट कर सूखती हैं और खट्ठियां बना लेती हैं। कुछ केसों में वस्तिकाओं, पीपिकाओं तथा बुल्लों का अंतर्द्रव रक्तिल (या रक्तस्रावी) भी [illegible] है। स्फोटों में तीव्र खुजली या जलन व पीड़ा होती है। खुजलाने से उत्पन्न निस्त्वचन, [illegible] साथ ही अपरदन, खट्ठियां, शल्क, खरोंचों के स्थल पर सतही दाग (क्षतांक) और वर्ण-[illegible] – ये सब रोग की बहुरूप प्रकृति को और भी तीव्र कर देते हैं। मुख-श्लेष्मला की आक्रांति [illegible] है (10 प्रतिशत केस), बनिस्बत कि सामान्य बुदबुदिया में, और कभी भी प्रारंभिक [illegible] के रूप में नहीं होती। लेकिन बच्चों में मुख-श्लेष्मला अक्सर आक्रांत होती है और [illegible]शतः बुल्लेदार क्षतियां ही होती हैं, जबकि बड़ों की रोग-विशेषताएं (जैसे क्षतियों का [illegible] में होना, बहुरूपता, क्षति-स्थल पर वर्णकता का उत्पन्न होना) कम स्पष्ट होती हैं।

---

* ड्यूरिंग द्वारा प्रस्तावित पुराना नाम 'चर्मशोथ' चर्मशोथों की वर्तमान अवधारणा के अनुकूल [illegible] है और इसीलिये अब इसका प्रयोग सिर्फ ऐतिहासिक सदर्भों में होता है।

निकोल्स्की-लक्षण ऋणात्मक होता है। रक्त में एओजीनोफीलिया पायी जाती है। बुल्ला के अंतर्द्रव्य में भी एओजीनोफिलों की बड़ी संख्या पायी जाती है। इमूनोग्लोबूलिन के कणमय संग्रह प्रत्यक्ष इमूनोसंदीप्ति-परीक्षण की सहायता से आधारीय झिल्ली के क्षेत्र में पाये जाते हैं।

रोग का एक वृहत बुल्लों वाला (स्थूलबुल्लेदार) रूप भी होता है, जिसमें चेरी से ले कर जंगली बेर तक के आकार के तनावपूर्ण पारदर्शक बुल्ले शोफित अतिरक्तिल चर्म पर बनते हैं। एक सूक्ष्मबुल्लेदार रूप भी है, जिसमें बाजरे से ले कर मटर तक के आकार की वस्तिकीय एवं पिटकीय-कुंभिक क्षतियां भयंकर रूप से अतिरक्तिल चर्म पर ग्रुपों में प्रकट होती है। प्रथम केसों में स्फोट अक्सर धड और हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर पाये जाते हैं और द्वितीय केसों में अधिकांशतः चेहरे, हाथ-पैर और जंघामूलीय व काक्षिक (काँखों के) चर्म-पुटकों में उत्पन्न होते हैं।

रोग में निम्न संवृत्तियां प्रेक्षित होती हैं: जल व लवण के विनिमय में गड़बड़ियां, रक्त-सीरम में प्रोटीन (आल्बूमिनों) की मात्रा में वृद्धि, अम्लक्लेश (रक्त में अम्लीय घटकों की वृद्धि), और मूत्र के साथ 17 केटोस्टेरोइडों तथा 11- ओक्सीकोर्टिकोस्टेरोइडों (कोर्टिजोन-विनिमय के उत्पादों) के विसर्जन में कमी।

चूँकि विसर्परूपी चर्मक्लेश के रोगी आयडीन के प्रति अतिसंवेदी होते हैं, इसलिये इस संवेदिता का परीक्षण मुखमार्ग से पोटाशियम या सोडियम आयोडाइड का 3-5 प्रतिशत सांद्र घोल दिया जाता है या 50 प्रतिशत पोटाशियम आयोडाइड का मलहम चर्म पर लेपा जाता है (याडास्सोन, Jadassohn का परीक्षण)। मुखमार्ग से दवा लेने पर रोग-प्रक्रिया उग्र हो उठती है; चर्म पर

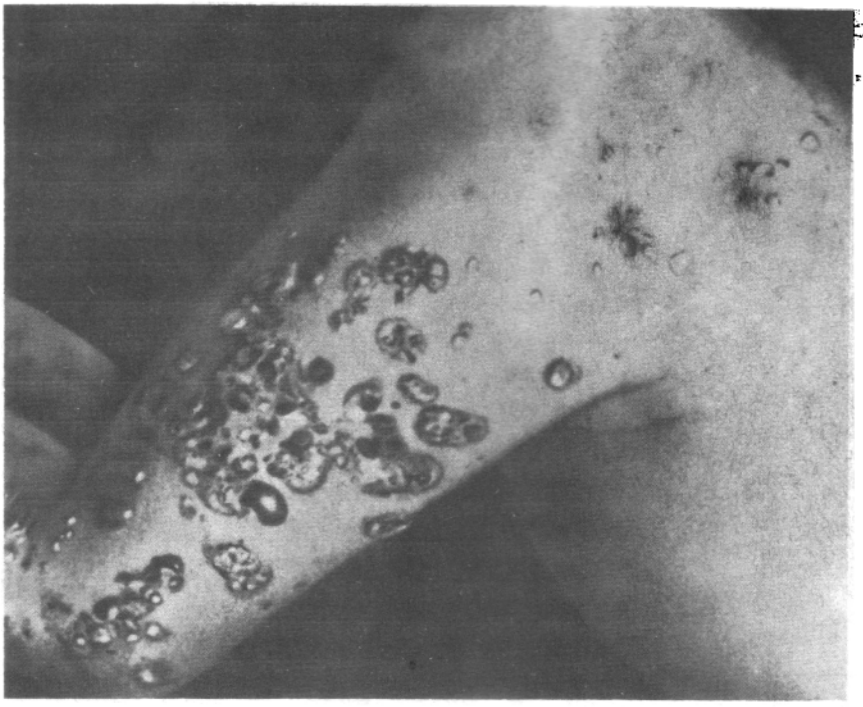

चित्र 26. ड्यूरिंग का रोग

मलहम लगाने से वहां 24-28 घंटे में नये स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन नैसर्गिक उग्रता-काल या प्रगामी चरण में आयडीन-परीक्षण नहीं करना चाहिये।

बच्चों में ड्यूरिंग रोग के स्पष्ट तल्पिक सिंड्रोम के बावजूद उनमें एओजीनोफीलिया या आयडीन-प्रसाधनों के प्रति अतिसंवेदिता अक्सर अनुपस्थित रहती है। इस आधार पर अनेक चर्मलोचक इन लक्षणों को रोग का वेशर्त्तिया (अनिवार्य) नहीं, वरन संभाव्य लक्षण ही मानते हैं।

ऊतगदलोचन. एओजीनोफीलिक श्वेतकोशिकाओं से युक्त उप-अधिचार्म (सबएपीडेर्मल) बुल्ले देखे जाते हैं। अधिचर्म और सुचार्म पिटिकामय परत में तीव्र शोथ के चिन्ह मिलते हैं। ट्सांक की कंटलयिक कोशिकाएं बिल्कुल अनुपस्थित होती हैं। सुचर्म में स्पष्ट कोशिकीय अंतर्स्यंद में एओजीनोफिल सबसे अधिक होते हैं।

निदान. रोग के टिपिकल केसों में निदान बिल्कुल ही कठिन नहीं होता। ऐसे केसों में निदान का आधार निम्न लक्षण हैं: क्षतियों की विसर्परूपी अवस्थिति और वास्तविक बहुरूपता, खुजली, रक्त तथा उप-अधिचार्म बुल्लों में एओजीनोफिलों की वर्धित मात्रा, अनेक रोगियों में आयडीन के प्रति वर्धित संवेदिता, आधारीय झिल्लियों में इमूनोसंदीप्तिक निदान द्वारा प्रदर्शित IgA के निक्षेप।

कभी-कभी इस रोग को बहुरूप रिसालु लक्षामी से विभेदित करने में कठिनाई होती है, जिसके मुख्य लक्षण हैं: एक प्राग्लक्षण-अवधि (ज्वर, संधियों, विशेषकर कोहनियों तथा पेशियों में दर्द आदि), और बहुत ठंड लगने पर या सर्दी की अवस्था के बाद विकास (अक्सर वसंत एवं शरद में)। लंछक स्फोट अक्सर हथेलियों के पीछे, प्रबाहु की ऋजुकारी सतहों, गोड़ों, जांघों, मुख-श्लेष्मला व होटों पर और कभी-कभी जननेंद्रियों पर पाये जाते हैं; खुजली नहीं होती। सामान्य बुदबुदिया को उसके निम्न लक्षणों के आधार पर विभेदित किया जाता है: स्फोट की एकरूपिक प्रकृति, तीव्र प्रवाह, स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म पर अंतर्सुचार्म बुल्लों का विकास, मुख-श्लेष्मला की अक्सर आक्रांति, ट्सांक की कंटलयिक कोशिकाओं का अनुवेदन, रक्त में एवं बुल्लों के द्रव्य में एओजीनोफिलों की सामान्य संख्या, और प्रत्यक्ष इमूनोसंदीप्ति द्वारा एंटी-इमूनोग्लोबूलिन G के प्रत्युत्तर में काँटेदार परत के द्रव्य की तीव्र संदीप्ति का दर्शन। बच्चों में रोग को कभी-कभी जन्मजात बुल्लेदार अधिचर्मलय से विभेदित करना पड़ता है, जिसमें अंतर्चार्म बुल्ले उन क्षेत्रों पर अनुवेदित होते हैं, जहां चोट लगने की संभावना होती है (जैसे कोहनी, घुटनों, एड़ियों और हस्त-पृष्ठों पर)।

चिकित्सा. डिआमीनोडीफेनिलसुल्फोन (DDS) बहुत कारगर होते हैं। ये चक्रों में प्रलिखित किये जाते हैं: 0.05-0.1 ग्राम की खुराकें 5-6 दिन तक 3 बार नित्य दी जाती हैं, फिर 2-3 दिनों तक रोक दिया जाता है। इस तरह के 3 से 6 चक्रों में एक दौर पूरा होता है। बच्चों को दिन में दो बार 0.005 से 0.025 ग्राम की मात्रा उम्र के अनुसार दी जाती है। सुल्फोन-प्रसाधनों से अवस्था में शीघ्र सुधार के कारण कुछ डाक्टर इसे निदानिक परीक्षण के रूप में प्रयुक्त करते हैं। कुछ केसों में सुल्फानीलामीडों से भी संतोषजनक प्रभाव प्राप्त होता है। अधिक तीव्र अवस्था में या कोई खास थेरापिक प्रभाव न होने पर DDS या आब्लोसुल्फोन के साथ कोर्टिकोस्टेरॉइड (मेथिलप्रेड्नीजोलोन, त्रिआमसीनोलोन, डेक्सामेथेजोन) मध्यम खुराकों में प्रलिखित किये जाते हैं (4 से 5 टिकियां नित्य)। मुखमार्ग से बी-संकुल के विटामिन, विटामिन ए, निकोटीनिक अम्ल, परा-अमीनोबेंजोइक अम्ल और कैल्सियम के प्रसाधनों की सलाह दी जाती है। लंबे समय तक सुल्फोन से चिकित्सा के कारण रक्ताल्पता विकसित हो सकती है, इसीलिये लाल रक्तकोशि-

काओं की रचना (रक्तसृजना) को प्रोत्साहित करने वाले प्रसाधन (विटामिन B_{12} की सूइयां, अवकृत लौह, हेमोस्टीमूलिन) प्रलिखित किये जाते हैं। बाह्य चिकित्सा के लिये कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोनों से युक्त एयरोजोल या मलहम (फ्लूसीनार, डेर्माजोलोन, लोरिंडेन-C, हिओक्सीजोन) और अनीलीन रंजकों के जलीय घोल प्रयुक्त होते हैं।

ड्यूरिंग-रोग के साथ हेतुलोचनी संबंध रखने वाले रोगों की चिकित्सा से इस चर्मक्लेश का उपचार और भी सफल होता है।

अक्षोभकारी आहार और ग्लूटेन, साधारण नमक और आयडीन से परहेज लाभकारी होता है।

जीवन की भविष्यवाणी अनुकूल होती है, लेकिन कुछ रोगियों में (अधिकांशतः पुनरावर्ती रोगों वाले अधेड़ व्यक्तियों में) यह चर्मक्लेश कुटाली व चिरकारी प्रवाह ग्रहण कर लेता है और अक्सर सामान्य बुदबुदिया में परिणत हो जाता है। पुनरावर्तनों के बावजूद बच्चों में यौन परिपक्वता की उम्र तक आते-आते बिल्कुल ठीक हो जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

पैठनजनित और अपैठनजनित ललामी

यह प्रकरण ऐसे रोग से संबंधित है, जिसमें चर्म-क्षतियां मुख्य लक्षण होती हैं और शरीर के अन्य अंगों एवं तंत्रों की आक्रांति नगण्य या बिल्कुल अनुपस्थित होती है। उद्भव के अनुसार ये चर्मक्लेश पैठी (पैठनजनित) और अपैठी (अपैठनजनित) दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। ये रोग ललकनिया, शोण ज्वर, खसरा और टाइफस में पायी जाने वाली पैठी ललामियों से इस बात में भिन्न हैं कि उक्त रोगों में चर्म-स्फोट सामान्य गदलोचनी अवस्था का महज एक लक्षण होता है, अतः उनका अध्ययन पैठी रोगों के क्षेत्र में होता है।

बहुरूप रिसालु ललामी (हेब्रा-रोग)

हेतुलोचन और गदजनन. अनेक चर्मलोचक रिसालु ललामी को बहुहेतुलोचनी चर्मक्लेश मानते हैं, यद्यपि इसका वीरुसी मूल का होना अधिक संभाव्य लगता है (आडेनोवीरुस इसके निमित्त कारण माने जाते हैं)। अन्य निमित्त कारण भी प्रस्तावित किये गये हैं: शरीर में स्त्रेप्तोकोकों का पैठन, दवा से परोर्जन, जठरांत्र तथा अन्य उदरस्थ आंतर अंगों के रोग, अंतस्त्रावी रोग, और कौक्सैकी के A आंत्रवीरुस। अनेक रोगियों के रोग-वृत्त के अनुसार वे अक्सर गलशुंडी, रुमैटिकता, चिरकालिक जंभी खातशोथ, चिरकालिक नासाशोथ, जठरांत्र की गड़बड़ियों से ग्रस्त रहते हैं और सुल्फानीलामीडों, प्रतिजीवकों, बार्बीचुरेट्स, आर्सेनिक, अमीदोपीरीन, टीका, सेरा आदि का उपयोग करते रहे हैं।

रिसालु ललामी एक तीव्र चर्मक्लेश है, जिसमें स्फोटों की प्रकृति बहुरूपिक और मौसमी होती है (वे अक्सर बसंत के आरंभ और शरद में उत्पन्न होते हैं) और उनमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है।

पैठी परोर्जिक रूप में स्फोट पहले हस्तपुच्छ और गोड़ की पश्च सतहों पर प्रकट होते हैं, फिर प्रवाहुओं की ऋजुकारी सतहों, पैरों और जांघों पर फैल जाते हैं। मुख की श्लेष्मल झिल्ली और जननेंद्रिय अक्सर आक्रांत हो जाते हैं। ललामक्लेशिक धब्बे, 'रिसालु' पिटक, वस्तिकाएं, बुल्ले

और पित्तिक क्षतियां प्राथमिक अभिव्यक्तियां हो सकती हैं। रोग अक्सर ललामिक, शोफित धब्बों की या शीघ्र वर्धित होने वाले रिसालु पिटकों की उत्पत्ति से आरंभ होता है, जिनका व्यास 22 मिलिमीटर तक हो सकता है। परिसर पर चकत्तों का प्रसार और मध्य में अवनमन इस रोग के लिये बहुत ही विशिष्ट लक्षण है। उनका परिसर गुलाबी-लाल और मध्य भाग बैंगनी-नीलाभ होता है। बुल्ले सीरमी या कभी-कभी रक्तस्रावी द्रव से भरे होते हैं और एक शोथी वलय से घिरे होते हैं। उनके फटने के बाद अपरदित सतह पर भूराभ-पीली और रक्तस्रावी खठ्ठियां बन जाती है। पिटक अक्सर माला, मेहराब और वलय के रूप में व्यवस्थित होते हैं। इस रोग में स्फोटों की बहुरूपता के कारण इसका नाम बहुरूप ललामी भी पड़ा है। स्फोटों के प्रकट होने से पहले और रोग के दौरान रोगी अस्वस्थता, अवलुंठन और कँपकँपी की शिकायत करते हैं, ज्वर होता है, अस्थि-संधियों में रूमैटस दर्द और कभी-कभी गलशुंडी होती है।

एक बहुत तीव्र गरलात्मक-परोर्जिक रूप को स्टेवेंस-जोंसन का सिंद्रोम कहते हैं, जो रिसालु ललामी का ही एक रूप है। इसमें हठात तीव्र ज्वर होता है, जिसके साथ संधियों, गले तथा सर में दर्द और कँपकँपी होती है; मुख की श्लेष्मल झिल्लियों, कठोर एवं मृदु तालू, युतिका, आँख की शृंगिका और जननेंद्रियों पर स्फोट निकलने शुरू हो जाते हैं। इस रोग में आंतर अंगों की आक्रांति (प्लूराक्लोमशोथ, अंतर्हृत्पेशीशोथ), संधिशोथ, सीरमी छादिकाशोथ और कभी-कभी अंतस्रावी गड़बड़ियां भी प्रेक्षित होती हैं।

अभी तक अंतिम रूप से यह तय नहीं हो पाया है कि स्टेवेंस-जोंसन का सिंद्रोम कोई वीरुसी रोग है, किन्हीं दवाओं के प्रति गरलात्मक-परोर्जिक प्रतिक्रिया है या रिसालु ललामी की एक विशेष अभिव्यक्ति है।

विभेदक निदान स्टेवेंस-जोंसन के सिंद्रोम और लिएल के सिंद्रोम के बीच किया जाता है; अंतिम को गरलात्मक-परोर्जिक अधिचार्म विमृतिलय भी कहा जाता है, जिसमें औषधज चर्मगरलता की तीव्र अभिव्यक्ति होती है। स्टेवेंस-जोंसन के सिंद्रोम में आरंभिक लक्षण श्वसन-मार्ग के तीव्र पैठन की तरह के होते हैं, जो लिएल के सिंद्रोम में नहीं होता। स्टेवेंस-जोंसन के सिंद्रोम में ज्वरावस्था आरंभ होने के 4 से 6 दिन बाद चर्म-क्षतियां प्रकट होती हैं, लेकिन लिएल के सिंद्रोम में स्फोटों के प्रिय स्थल नैसर्गिक छिद्रों की श्लेष्मल झिल्लियां और हाथ-पैर के चर्म-क्षेत्र (विशेषकर हस्तपुच्छ व गोड़ की पश्च सतहें) हैं। पूरे चर्म के क्षेत्र के प्रति आक्रांत चर्म-क्षेत्र का अंश 30-40 प्रतिशत से अधिक नहीं होता, यद्यपि विरल केसों में अधिक हो भी सकता है। अलग-थलग क्षतियां अक्सर संगमित स्फोटों के पास दिखायी देती हैं। स्फोटों की बहुरूपता के साथ-साथ बहुरूप रिसालु ललामी की विशिष्ट क्षतियां भी अलग-थलग देखी जाती हैं। बुल्ले एक विशिष्ट रूप से ग्रुपित होते हैं वे आकार में भिन्न होते हैं, उनके शिखर अक्सर तनावपूर्ण और कभी-कभी श्लथ होते हैं (बड़े बुल्लों में)।

स्फोटों का रंग, विशेषकर अपचोषण के चरण पर, लोहित बैंगनी होता है। निकोल्स्की और अस्बो-हैंसन (Asboe-Hansen) के चिन्ह ऋणात्मक होते हैं।

लिएल के सिंद्रोम में स्फोट अक्सर चेहरे, वक्ष और पीठ पर शुरू होते हैं, फिर धीरे-धीरे नीचे की ओर फैलते हैं; ये देखने में खसरा के दानों की तरह होते हैं। श्लेष्मल झिल्लियां अपेक्षाकृत कम केसों में आक्रांत होती हैं, पर व्रणन और विमृति की तीव्र प्रक्रिया से पूरा चर्म ग्रस्त हो जा सकता है। क्षतियां वृहत क्षेत्रों पर एक विशिष्ट रूप से संगमित होने लगती हैं। ललामक्लेशिक पिटकीय स्फोट शुरू में प्रकट होते हैं, इसके बाद बुल्ले (बादाम से लेकर वयस्क की हथेली तक

के आकार वाले) बनते हैं, जिनकी दीवारें लस्त और झुर्रीदार होती हैं। वे सरलता से फट जाते हैं और उनके नीचे की सतह उबलते पानी से जले चर्म की तरह दिखती है। निकोल्स्की और आस्बो-हैंसेन के लक्षण तीव्र धनात्मक होते हैं। शरीर की स्पष्ट संवेदिता (कुंभिनार्व शोफ, संधियों की सममित आक्रांति आदि) लिएल के सिंद्रोम से ग्रस्त रोगी में अक्सर पायी जाती है; उन्हें अक्सर पहले कोई परोर्जिक और पैंठी-परोर्जिक रोग (रूमैटिकता, दिनाइ, ब्रोंखी दमा आदि) हुआ रहता है, उनमें दवाओं के प्रति परोर्जिक प्रतिक्रिया भी पहले से होती है (रोग-वृत्त के अनुसार)।

स्टेवेंस-जोंसन के सिंद्रोम के विरल घातक केसों में रोगी की मृत्यु से पूर्व उसमें छादिका-मस्तिष्कशोथ और हृत्पेशीशोथ के लक्षण पाये गये हैं। लिएल के सिंद्रोम से पीड़ित बच्चे आरंभिक काल में एक सूपक प्रक्रिया विकसित कर लेते हैं।

प्रवाह. 2 या 3 सप्ताह में चर्मक्लेश की अवगति (रिग्रेसन) शुरू हो जाती है, लेकिन अक्सर पुनरावर्तन के कारण वह कई महीनों तक बना रहता है; ऐसा विशेषकर उस स्थिति में होता है, जब श्लेष्मल झिल्लियां ग्रस्त हो जाती हैं और शरीर का तापक्रम बहुत ऊँचा होने लगता है।

पुनरावर्तन बसंत एवं शरद में हो सकता है। स्टेवेंस-जोंसन के सिंद्रोम वाला रोग अधिक तीव्र होता है और भविष्यवाणी (विशेषकर बच्चों में) हमेशा अनुकूल नहीं होती।

ऊतगदलोचन. चित्तिक एवं पिटकीय क्षतियां होने पर अधिचर्म में स्पंजक्लेश तथा अंतर्कोशिकीय शोफ देखने को मिलता है और सुचर्म में शोफ व परिकुंभिक अंतर्स्यंद (विशेषकर लसकोशिकाओं में बना हुआ) पाया जाता है। वस्तिकाओं और बुल्लों के केस में प्रक्रिया उप-अधिचर्म में स्थानाबद्ध रहती है, लेकिन सामान्य बुदबुदिया के विपरीत इसमें कंटलय कभी भी नहीं होता। बुल्लेदार रिसालु ललामी, ड्यूरिंग-रोग और बुल्लेदार बुदबुदियाम के ऊतलोचनी चित्र एक जैसे होते हैं, पर अंतिम दोनों रोग बुल्लों के भीतर और उनके नीचे एओजीनोफिलों की वर्धित संख्या द्वारा लंछित होते हैं।

निदान के आधार निम्न लक्षण हैं: क्षतियों की बहुरूपता, पिटकों और चकत्तों के मध्य भागों में गड्ढा (पिटक और चकत्ते परिसर पर बैंगनी नीलाभ होते हैं), सामान्य प्राग्लाक्षणिक संवृत्तियों की उपस्थिति, रोग की मौसमी प्रकृति। कुछ दवाएं (जैसे सुल्फानीलामीड), रिसालु ललामी प्रेरित कर सकती हैं या गरलात्मक-परोर्जिक चर्मशोथ (चर्मगरलता) का वैसा ही तल्पिक चित्र उत्पन्न कर सकती हैं। श्लेष्मल झिल्लियों पर यह चर्मक्लेश होने पर इसे सीफिलिसी पिटक और सामान्य बुदबुदिया से अवश्य विभेदित करना चाहिये।

चिकित्सा. सामान्य रूपों की चिकित्सा निम्न दवाओं से की जाती है: अवसंवेदीकारी दवाएं, एंटीहिस्टामिनिक, एथोक्सीडीअमीनोआक्रीडीन लैक्टेट (0.05 ग्राम मुखमार्ग से नित्य तीन बार 10-20 दिनों तक दिया जाता है), सोडियम सैलीसीलेट (0.5 ग्राम तीन से पाँच बार नित्य), विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक (जैसे 0.3 ग्राम एरीथ्रोमीसिन नित्य चार या पाँच बार), और विटामिन। तीव्र प्रवाह वाले रोग में (विशेषकर यदि स्टेवेस-जोंसन का सिंद्रोम विकसित हो जाता है) कोर्टिकोस्टेरोइड प्रलिखित किये जाते हैं (नित्य 45-60 मिलिग्राम प्रेद्नीजोलोन या मेथिल-प्रेद्नीजोलोन); विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक, हेक्सामेथिलेनटेट्रामीन के 40 प्रतिशत सांद्र घोल (2-10 मिलिलीटर) का अंतर्शिरीय आधान और प्रति शोथी दवाओं का भी प्रयोग होता है। बाहर से निष्पैठक पेस्ट व मलहम और 30 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट के घोल का एयरोजोल प्रयुक्त होता है।

गुलाबी बुसन (जिबर्ट-रोग)

यह शायद पैठी, परोर्जिक वीरुसी मूल का एक ललामक्लेशिक शल्की चर्मरोग है। गुलाबी बुसन अक्सर ज्वरयुक्त पैठी रोगों, आँत की गड़बड़ियों और टीकों के बाद विकसित होता है। यह अक्सर वसंत या शरद में होता है; इसकी विशेषताएं हैं: इसके प्रवाह की चक्रिल प्रकृति, अक्सर उग्र हो उठना, और दद्रुकरण, अर्थात् परोर्जिक प्रतिकारिता का विकास। बच्चों में होने वाले सभी चर्मरोगों में गुलाबी बुसन की प्रायिकता 3.5 प्रतिशत है, लेकिन दो वर्ष से कम उम्र के बच्चों को यह बहुत विरले ही होता है।

तल्पिकचित्र. अस्वस्थता, कुछ केसों में अवज्वर, और अस्थियों एवं संधियों में पीड़ा की एक प्राग्लाक्षणिक अवधि होती है, जिसके बाद कुछ उभरे हुए गुलाबी-पीले या हल्के लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं। उनकी आकृतियां अंडाकार या गोल होती हैं और किनारियां अनियमित होती हैं। अधिकेंद्रों के मध्य भाग में सूक्ष्म चुनन और चोकर जैसा शल्कन पाया जाता है। परिसरीय वलय का रंग अधिक चमकीला होता है और उसपर कोई शल्क नहीं होता। धब्बे परिसर पर तेजी से फैलने लगते हैं, उनका व्यास 22 मिलिमीटर तक पहुँच जाता है और वे मेडल की तरह दिखने लगते हैं। स्फोट से 7-10 दिन पहले एक प्राथमिक मेडल (आकार 3×4 सेंटीमीटर और रंग चमकीला गुलाबी) उत्पन्न होता है, जिसे मातृक या अग्रदूत धब्बा कहते हैं।

आक्रांति अक्सर धड़, छाती, पीठ पर चर्म की तनाव-रेखा के सहारे-सहारे (लैंगर-रेखा पर) हाथ-पैर के निकटस्थ खंडों और कभी-कभी गरदन व चेहरे पर होती है। प्रक्रिया के साथ खुजली होती है, जिसकी तीव्रता का परास बहुत बड़ा हो सकता है।

बच्चों में स्फोट (धब्बे, वस्तिकाएं, कभी-कभी बुल्ले) चमकीले होते हैं और विस्तृत क्षेत्रों पर फैल जाते हैं। उनके प्रक्रिया का दद्रुकरण वयस्कों की अपेक्षा अधिक प्रायिक होता है।

प्रवाह अक्सर मौसमी होता है (अक्सर वसंत में या शरद-शीत काल में) और चक्रीय होता है हर चक्र 4-6 या कभी-कभी 8 सप्ताह का होता है। वर्णकता और दीर्घकालीन इमूनता विकसित होती है।

ऊतलोचनी चित्र अविशिष्ट चिरकालिक चर्मशोथ (शोथी अंतर्स्यंद) के अनुरूप होता है। अधिचर्म में हल्का स्पंजक्लेश, कंटलय और पराश्रृंगनता पायी जाती है।

निदान के निम्न लक्षण हैं: रोग का तीव्र आरंभ, मातृक धब्बे और विशिष्ट 'मेडलों' की उपस्थिति, स्फोटों की एकरूपिक प्रकृति (बहुरूपिक बहुत ही विरल है), स्फोटों का वक्ष, पीठ, गरदन, जांघों की लैंगर-रेखाओं पर और कभी-कभी शिरोवल्क और चेहरे पर उत्पन्न होना। इन लक्षणों और तदनुरूप त्रिक लक्षणों की अनुपस्थिति द्वारा रोग को खर्जुक्लेश से विभेदित किया जाता है। शल्कों के कवक-परीक्षण से रोग को सतही चर्मकवकताओं से विभेदित करने का आधार मिलता है। रक्त की सीरमलोचनी जाँच, लेपोनेमा पालीडुम के अनुवेदन के लिये परीक्षण, रोग-वृत्त, मातृक धब्बों की अनुपस्थिति (नियमतः) और सीफिलिस की अन्य अभिव्यक्तियों के आधार पर द्वितीयकी गुलाबिका से इसका विभेदन होता है। वपास्रावस की संभावना दूर करने का आधार है बृहत् शल्कों की अनुपस्थिति और क्षतियों के विशिष्ट स्थल (लैंगर-रेखाओं पर)।

चिकित्सा. बाह्य साधनों में कोर्टिकोस्टेरोइड क्रीम या प्रतिजीवकों से युक्त मलहम (हिड्रोकार्टिसोन, ओक्सीकोर्ट, लोरिंडेन-C, लोकाकोर्टेन) आते हैं, चर्म-क्षोभकारी दवाएं नहीं लगानी चाहिए क्योंकि इससे रोग-प्रक्रिया उग्र हो उठती है और दद्रुकरण होने लगता है। बहिर्जनित

क्षोभक (रूखड़े वस्त्र आदि, जो त्वचा के साथ घर्षण करते हैं) दूर करने चाहिये। प्रतिजीवक (एरीथ्रोमीसिन, ओलेटेट्रिन, टेट्राओलेआन, सिग्मामीसिन, रोंडोमीसिन), कैल्सियम के प्रसाधन, और सोडियम हाइपोसल्फेट के 30 प्रतिशत सांद्र घोल का आधान सुसंकेतित हैं। तीव्र खुजली में एंटीहिस्टामीनिक दवाओं से लाभ होता है (जैसे टावेगिल, फेनकारोल, डिआजोलीन, सुप्रास्टिन, डिप्रोजीन आदि से)। विटामिन (पांटोथेनिक अम्ल, आस्कोरूटिन, बी-संकुल के विटामिन), स्वरक्त-चिकित्सा और स्त्रेप्तोकोकी टीका वांछनीय होता है। कभी-कभी मखमार्ग से जेलाटिन-कैप्सुलों में एथोक्सीडिआमीनोआक्रीडीन लैक्टेट देने पर बहुत शीघ्र लाभ होता है (बड़े बच्चों को 0.01-0.02 ग्राम नित्य दो बार 8-10 दिन तक दिया जाता है, बड़ों की खुराक 0.03 से 0.05 ग्राम तक होती है)। साबुन और स्पंज से रगड़ कर नहाने से 4-7 सप्ताह तक परहेज करना चाहिये। मसालेदार, नमकीन तथा धूमित आहार त्याज्य है।

कुंभीशोथ (चर्मकुंभियों की गदलोचनी अवस्थाएं)

सामान्य सूचनाएं

चार्म और आंतर कुंभियों की दीवारों के अनेक रोग बहुत पुराने समय से ज्ञात हैं, उनका सविस्तार वर्णन भी हो चुका है। पिछले दो-तीन दशक से इन चर्मक्लेशों को एक अलग ग्रुप में रखने की प्रवृत्ति चल पड़ी है, जिसे कुंभिशोथ, चर्म के कुंभिक रोग आदि कहते हैं। तल्पिक दृष्टि से कुंभिशोथों का ग्रुप बड़ा होता जा रहा है, नये सिंद्रोमों का वर्णन हो रहा है और इनका एक सर्वमान्य वर्गीकरण विकसित करने के प्रयास चल रहे हैं। इस काम में निम्न कठिनाइयां आ रही हैं: कुंभीशोथों तल्पिक लक्षणलोचनी विविधता, प्रकृति के अनुसार उनका एक-दूसरे से बहुत दूर होना, अधिकांश केसों में उनके हेतुलोचन का सही-सही ज्ञान न होना और कुंभीशोथों के सामान्य ग्रुप में रखे गये कुछ रोगों के गदजनन में मौलिक अंतर होना।

कुंभिक चर्मक्लेश चर्म एवं अवचर्म में स्थित कुंभियों (धमनीय, शिरीय, केशिकीय) के तंत्रों की प्राथमिक आक्रांति से होते हैं। इनके विकास के पीछे निम्न कारण हो सकते हैं: परोर्जिक (अत्यूर्जिक) क्रिया, आनुवंशिक गड़बड़ियां, हर्मोनिक घटक, पैंठी रोग, गरलकारी एवं औषधि-लोचनी घटक, स्थायी (स्थैतिक) बोझ, विकिरण के प्रति अनावृति एवं तापक्रमी घटक। इमूनो-गदलोचनी युक्तियों को विशेष महत्त्वपूर्ण घटक माना जाता है। चार्म कुंभीशोथों के तीव्र प्रकीर्णित एवं विमृतिक रूपों से ग्रस्त रोगियों की इमूनलोचनी अवस्था में विचलन बहुत स्पष्ट होता है।

तल्पिक लक्षणों के अतिरिक्त गदोतलोचनी अध्ययन कुंभीशोथों के निदान में प्रमुख महत्त्व रखता है। गदोतलोचनी अभिव्यक्तियों के पीछे दो बातें होती हैं: कुंभिक दीवारों में अवसूक्ष्मदर्शी (सूक्ष्मसंचारी) प्रकृति की आक्रांति और कुंभिक बेधिता में परिवर्तन, जिसके साथ-साथ व्यवधानित रक्तसृजना भी पायी जाती है (रक्तस्रावी कुंभीशोथ)।

सोवियत संघ में अधिकांश चर्मलोचक कुंभीशोथों का शापोश्निकोव द्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण अपनाते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार चर्म की सभी कुंभिक आक्रांतियां चार ग्रुपों में बाँटी जाती हैं: कुंभीनर्वक्लेश, कुंभीरुग्नताएं, कुंभिक-अंगरुग्नताएं, कुंभिक नौवर्ध। द्वितीय ग्रुप में चर्म के सामान्य परोर्जिक कुंभिशोथ और रक्तस्रावी-वर्णकित चर्मक्लेश आते हैं, जो चर्मलोचकों के लिये सबसे अधिक व्यावहारिक महत्त्व रखते हैं।

कुंभीरुग्नताएं

कुंभीशोथों के इस ग्रुप में कुंभिक दीवारों के वे रोग आते हैं, जिन्हें परोर्जिक कुंभीशोथ कहा जाता है। इनके निमित्त कारण अनेक हैं। हेतुलोचनी सिद्धांत के अनुसार गरल-परोर्जिक, प्रतिरक्षात्मक और स्व- इमूनी कुंभीशोथों में भेद किया जाता है। कभी-कभी उन्हें आक्रांत कुंभियों के आकार के अनुसार भी बाँटा जाता है। निम्न परोर्जिक कुंभीशोथ बहुत अक्सर पाये जाते हैं।

पार्विक ललामी बहुहेतुलोचनी प्रकृति का एक तीव्रता से विकसित होने वाला चर्मक्लेश है। यह गंठिक्लेशिक, स्त्रेप्तोकोकी और कांदीदक्लेशिक पैठनों के विरुद्ध शरीर की अत्यूर्जिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। यह रोग अक्सर बहुरूप रिसालु ललामी के साथ पाया जाता है। पयोपा एवं नन्हे बच्चों में यह आंतर अंगों, लसपर्वों और अस्थियों के गंठिक्लेशिक गरण के प्रारंभ का प्रमाण हो सकता है। ऐसे केसों में इस रोग को कुछ वैज्ञानिक गंठिक्लेश के प्रति अत्यूर्जिक प्रतिक्रिया कहते हैं (इस विचार की पुष्टि ललामी के अधिकेंद्र और रक्त में गंठिक्लेशिक मीकोबाक्तेरियों के अनुवेदन, पर्विकाओं की गंठिकस (ट्युबरकुलोइड) संरचना और गीनिया पिग में आधान कराने पर धनात्मक परिणामों आदि से होती है। बड़े बच्चों और नवयुवकों में पार्विक ललामी अक्सर स्त्रेप्तोकोकी-पैठन के विरुद्ध परोर्जिक प्रतिक्रिया के रूप में विकसित होता है (जैसे गलशुंडी, ग्रसनीशोथ, रुमैटिकता आदि में)। कभी-कभी अन्य पैठी-परोर्जिक घटकों से भी होता है। पार्विक ललामी का सिंड्रोम प्रतिजीविकों, आयडीन, बार्बीचूरेट्स एवं अन्य दवाओं के प्रति शरीर के संवेदीकरण के फलस्वरूप विकसित हो सकता है। पिछले वर्षों से अधिकांश वैज्ञानिक इस रोग को तीव्र पर्विकीय कुंभीशोथों (अवचर्मशोथों) के ग्रुप में रख रहे हैं।

तल्पिक चित्र. यह रोग तीव्र प्रारंभ, तापक्रमी प्रतिक्रिया (37-38°C), संधियों व पेशियों में रुमैटिक दर्द, चक्कर, सरदर्द और मौसमी (अक्सर बसंत और शरद में) विकास द्वारा लंछित होता है। अक्सर परीसीमित एवं पीड़ाजनक पर्विकाएं मुख्यतः पैरों और प्रबाहुओं की ऋजुकारी सतहों पर चर्म व अवचार्म वसा में उत्पन्न होती हैं; अक्सर वे सममित होती हैं (चित्र 27)। जांघों और नितंबों पर क्षतियां बहुत कम प्रायकि हैं। पर्विकाएं अर्धगोलाकार या कुछ चपटी, कठोर और पीड़ाजनक होती हैं; छूने से विशेष पीड़ा होती है। पर्विकाओं का आकार बादाम के बराबर तक हो सकता है। वे संख्या में कम होती हैं और नियमतः संगम नहीं करतीं। उनके प्रकट होने के कुछ ही दिनों बाद अधिकेंद्र अवगति करने लगते हैं (दबने या शमित होने लगते हैं) और उनके रंग में विशिष्ट परिवर्तन होने लगते हैं: गुलाबी-नीला-भूरा-लाल, गुलाबी लाल से नीला-भूरा और हरिताभ पीला, जैसा कि चर्म में आंतर रक्तस्राव से होता है। क्षतियों का विकास दो या तीन सप्ताह तक होता है। पर्विकाएं कभी-कभी संगमित होती हैं, पर नियमतः व्रणित नहीं होतीं, उनके खत्म होने पर एक वर्णकता रह जाती है। पुनरावर्तन भी संभव होता है।

ऊतलोचनी आधार एक परिकुंभिक अंतर्स्यंद है, जो लसकोशिकाओं, न्युट्रोफिलों और अल्प संख्या में ऊतकोशिकाओं से बना होता है। अवचार्म शिराओं, धमनिकाओं और केशिकाओं का अंतर्कलीय (एंडोथेलियल) बहुलन और सुचर्म का शोफ (कुंभिक झिल्ली की बेधिता में वृद्धि के कारण) देखा जाता है।

विभेदक निदान मुख्यतः बाजिन की कठललामी के साथ किया जाता है, जो चर्म-यक्ष्मा का एक रूप है। इसके लक्षण हैं: अतीव्र प्रारंभ, चिरकालिक प्रवाह, प्रक्रिया का स्थायित्व, कठोर अन्तर्स्यंद, पीड़ाहीन अधिकेंद्र, रूमैटिक दर्द की अनुपस्थिति, विमृति और कभी-कभी व्रणन की

चित्र 27. पार्विक ललामी

प्रवृत्ति (हचिंसन-वर्णित रूप), क्षतांकी परिवर्तन, तापक्रमी प्रतिक्रिया (ज्वर) की अनुपस्थिति, और अधिकेंद्रों का गाढ़ी भूरी आभा से युक्त निलछौंह लाल रंग; अधिकेंद्रों की संख्या भी पार्विक ललामी से कम ही होती है।

पीड़ा की अनुपस्थिति, कई केसों में क्षतियों की भिन्न अवस्थिति और स्फोटों की उत्पत्ति का किसी दवा के उपयोग से संबंधित होना – यह सब पार्विक ललामी को औषधज चर्मगरलता से विभेदित करता है, जो पार्विक ललामी के सिंड्रोम का प्रवाह ग्रहण कर लेती है।

चिकित्सा. रोग की चिकित्सा में निम्न साधनों का उपयोग होता है: प्रतिजीवक (एरीथ्रोमीसिन, मोनोमीसिन, ओलेटेट्रिन), अवसंवेदीकारी दवाएं, कोर्टिकोस्टेरोइडों की नन्हीं खुराकें, सैलीसीलेट (आसेटिलसैलीसीलिक अम्ल, सैलीसीलामीड) विटामिन C, B_1, B_6 और B_{12}, निकोटिनिक अम्ल, रूटिन, आस्कोरूटिन, एंटीमलेरिक प्रसाधन (ख्लोरोक्वीन फोस्फेट), अनालगेजिक दवायें (बूटाडिओन पर्याय फेनिलबूटाजोन, रेओपीरीन), एस्कूजान और सिन्कूमार (आसेनोकूमारोल)। गंठिक्लेशिक आगरण के रोगियों को फ्थीवाजिड (0.5 ग्राम नित्य दो बार; कुल खुराक 80-100 ग्राम), नेओटोबेन, मेथाजिड, स्त्रेप्तोमीसिन (200000-500000U नित्य, दो या तीन सप्ताह तक) और PAS (2-5 ग्राम नित्य) प्रलिखित किये जाते हैं। यदि कोई अधिकेंद्रिक पैठन हो, तो उसका इलाज अवश्य करना चाहिये। बाह्य चिकित्सा में शुष्क ताप,

चित्र 28. विमृतिक कुंभीशोथ

5-10 प्रतिशत सांद्र इख्थामोल घोल के पुल्टिस, पराबैंगनी विकिरण और परा-उच्च आवृत्ति (UHF) का उपयोग होता है। बिस्तर में पड़े रहने की सलाह दी जाती है। भविष्यवाणी अधिकांशतः अनुकूल ही होती है।

रूइटर (Ruiter) का चार्म परोजिंक धमनीलयिक कुंभीशोथ. आम सर्दी, अधिकेंद्रिक पैठन (चिरकालिक गलशुंडी, गर्भाशय के उपांगों का शोथ, खातिकाशोथ, जंभिक खातिकाशोथ) और पैरों की कुंभियों का रोध इस रोग के गदजनक घटक माने जाते हैं। रोग अधिकांशतः लड़कियों तथा स्त्रियों को होता है। प्रक्रिया नियमतः हाथ-पैर पर और विशेषकर पैरों पर स्थानाबद्ध होती है।

स्फोट अक्सर सममित एवं बहुरूपिक होते हैं (धब्बे, पिटक, वस्तिकाएं, पीपिकाएं, व्रणन, दुष्कुभीविस्फारण, ददोरे, ये सभी प्रेक्षित होते हैं)। क्षतांकी अपोषण, तथा नन्हे दाग क्षतियों के [illegible] के बाद रह जाते हैं। रोग में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति होती है। स्फोट निकलने से पहले [illegible] अस्वस्थता, थकावट और सरदर्द की अनुभूति होती है। रोग के उत्कर्ष पर रोगी संधियों [illegible] जो कभी-कभी शोफित होते हैं) और पेट में दर्द की शिकायत करते हैं। रोग के विभिन्न [illegible] प्रकारों में बहुरूप-पर्विकीय प्रकार अधिक प्रायिक होता है। इसमें नन्हे ललामिक तथा रक्त-[illegible] धब्बे, घनी सूजन के क्षेत्र, तनावयुक्त बुल्ले और नन्ही गोल व चपटी पर्विकाएं होती हैं; [illegible]ओं का रंग शुरू में गुलाबी, फिर बाद में भूराभ लाल हो जाता है। सीरमी एवं सीरमी-[illegible]वी खट्टियां, अपरदन, व्रणन तथा द्वितीयक वर्णकताएं बाद में बनती हैं, जिससे तल्पिक

चित्र और भी बहुरंगी (विविधतापूर्ण) हो जाता है। पर्विकीय-विमृतिक रूप बहुत ही विरल है; यह पर्विकाओं के विकास द्वारा लंछित होता है, जिनमें से कुछ के मध्य भागों में विमृति शुरू हो जाती है: पहले एक रक्तस्रावी खट्ठी पड़ती है, फिर सतही व्रणन होता है, जिसके ठीक होने पर छोटे चेचक जैसे दाग रह जाते हैं (चित्र 25)। रूइटर-रोग के रक्तस्रावी रूप में एक शोफित रक्तस्फीतिज धब्बा बनता है, जो धीरे-धीरे रक्तस्रावी प्रकृति ग्रहण कर लेता है। पेट में दर्द और रक्त-मिश्रित मूत्र भी हो सकता है।

तल्पिक चित्र के आधार पर निदान हमेशा संभव नहीं होता। ऐसे केसों में ऊतलोचनी परीक्षणों के परिणाम सहायक होते हैं; ऊतलोचनी चित्र में धमनिकाओं, शिरिकाओं तथा केशिकाओं की दीवारों की तंतुवत विमृति और परिकुंभिक ऊतकों का लसवत अंतर्स्यंद पाया जाता है।

रोग की चिकित्सा अन्य कुंभिशोथों की तरह ही होती है।

शेनलाइन-हेनोख (Schönlein-Henock) की पुरपूरा रक्तस्रावी कुंभीशोथ का एक रूप है, जिसके कई तल्पिक रूप हो सकते हैं।

हेनोख की पुरपूरा अक्सर स्कूली एवं किशोरावस्था उम्र की लड़कियों में पायी जाती है। इसमें रक्तस्रावों जैसे (पेतेखिक तथा निस्सृतिक्लेशिक) आवर्ती स्फोट और साथ ही पित्तिक, पिटकीय एवं बुल्लेदार स्फोट, व्रणिक-विमृतिक परिवर्तन और कुंभिक-नार्वक्लेशिक शोफ अवलोकित होते हैं।

शुरू में स्फोट ललामिक या पिटकीय होते हैं, लेकिन बाद में वे रक्तस्रावी हो जाते हैं। इससे यह माना जा सकता है कि रोग रक्तस्रावी घटक से युक्त एक रिसालु प्रकृति द्वारा लंछित होता है। चूँकि क्षतियां एक साथ नहीं उत्पन्न होतीं, इसलिये चर्म में प्रक्रिया का तल्पिक चित्र विविधता-पूर्ण होता है और बहुरूप रिसालु ललामी से मिलता-जुलता हो सकता है। रोग अक्सर तीव्र एवं घातक प्रवाह ग्रहण कर लेता है (उदरीय गुलाबिका)।

क्षतियों के प्रिय स्थल पैरों और कभी-कभी हाथों की ऋजुकारी सतहें हैं (मुख्यतः वृहत संधियों के गिर्द)। चर्म-क्षतियों के साथ रक्ताल्पता और श्वेतकोशिकता पायी जाती है; वाम-स्थानांतरण (लेफ्ट शिफ्ट) और अतिगामाग्लोबूलिन-रक्ताल्पता प्रेक्षित होती है। अस्थि-मज्जा में जालिको-शिकाओं और एओजीनोफिलों की संख्या बढ़ जाती है।

अंतर्कला का अवजनन, परिकुंभिक गोल-कोशिकीय अंतर्स्यंद और श्वेतकोशिकलय रक्तस्रावी परिवर्तनों के आधार होते हैं। रक्तस्रावी सिंद्रोम के रोगियों के परीक्षण से रक्त-स्कंदन, रक्तस्राव के समय, प्रोथ्रोंबिन-काल और स्कंद-संकोचन-काल (क्लौट-रिट्रैक्शन टाइम) में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोंचालोव्स्की-रूंपेल-लीड का लक्षण धनात्मक होता है।

शेनलाइन की पुरपूरा (रूमैटिक पुरपूरा) मुख्यतः बड़ी उम्र के बच्चों में पायी जाती है। यह घुटने, टखने, और स्कंध-संधि की सूजन और रक्तस्फीति द्वारा लंछित होती है, जिसमें संधिवेदना होती है। सैलीसीलिक प्रसाधनों से पीड़ा शांत नहीं होती। अंतर्हृत्पेशीशोथ और परिहृत्पेशीशोथ प्रेक्षित हो सकते हैं। इसके साथ-साथ रक्तस्रावी कुंभीशोथ और रुमैटिकता के मेल वाले केसों पर अपने समय में बोत्किन ने भी ध्यान दिया था। चर्म में रोग की अभिव्यक्ति और रक्तसृजक अंगों की अवस्था वैसी ही होती है, जैसी रोग के उदरीय रूप में। चर्म में रक्तस्राव पैरों पर संधियों के क्षेत्रों में ऋजुकारी सतहों पर विशेष स्पष्ट होते हैं। गुलाबिका के अतिरिक्त ललामक्लेशिक स्फोट भी पाये जाते हैं।

श्वसन-अंगों, नर्वतंत्र व वृक्कों में अपसामान्यता (वृक्कांटीशोथ), पेट में तीव्र पीड़ा और ज्वरावस्था पायी जा सकती है। चर्म, उदर और मुख-गले की क्षतियां अक्सर मिल-जुल कर होती हैं, जिनमें ऊपर वर्णित रूपों में से किसी एक का प्राबल्य होता है।

चिकित्सा. कोर्टिकोस्टेरोइड, प्रतिजीवक, रक्ताधान, विटामिन C, K, B_1 और B_{12}, रूटिन, फोलिक अम्ल और एंटीहिस्टामीन प्रलिखित किये जाते हैं। वेदनाहर दवाएं (अमीदोपीरीन, फेनिलबूताजोन) तभी दी जाती हैं, जब संधियां भी प्रक्रिया की चपेट में आ जाती हैं।

मायोखी (Mojocchi) का रोग (मायोखी की वलयाकार दूरकुंभिविस्फारक पुरपूरा). इसमें गुलाबी रंग के बिंदुक परिमशिकीय स्फोट निकलते हैं, जो धीरे-धीरे आकार में बढ़ते जाते हैं और गोलित (राउंडेड) अधिकेंद्रों के ग्रुप बनाते हैं, जो दूरकुंभीविस्फारण द्वारा बिंधे होते हैं।

क्षतियां परिसर में बढ़ती जाती हैं और विवर्ण, झुर्रीदार, पतली तथा मध्य में आकुंचित हो जाती हैं, इसीलिये स्फोटों की आकृति वलयाकार हो जाती है। परिसर पर चर्म में रक्त-निस्सृति दिखती है (निस्सृतिक्लेश) और मध्य में हेमोसेदेरिन का निक्षेप (जमाव) हो जाता है। कभी-कभी छोटे-मोटे व्रण भी हो जाते हैं। अधिकेंद्र की सीमा में लोम (केश) झड़ जाते हैं। बाद में वर्णकित हेमोसीडेरिन के निक्षेप बनते हैं और कुपोषणजनक परिवर्तन विकसित होते हैं। स्फोट सममित रूप से गोड़ों पर उत्पन्न होते हैं, कभी-कभी जांघों, नितंबों और पेट पर भी उत्पन्न होते हैं। क्षतियां महीनों तक बनी रहती हैं। रोग अधेड़ पुरुषों में अधिक होता है और इसकी प्रकृति अभी तक स्पष्ट नहीं हुई है।

ऊतगदलोचन. ऊतलोचनी चित्र में निम्न विशेषताएं देखने को मिलती हैं: अल्प अपस्फारित सतही सुचार्म धमनिकाओं का तंतुवत अवजनन, परिकुंभिक अंतर्स्यंद, लाल रक्तकोशिकाओं का पारवलग्न, हेमोसीडेरिन के निक्षेप (जमाव), चर्म के उपांगों में अवजनक परिवर्तन, आधारीय परत की कोशिकाओं की घनाति।

शांबेर्ग (Schamberg) का रोग (शांबेर्ग का प्रगामी वर्णकीय चर्मक्लेश). यह रोग लगभग सिर्फ पुरुषों में ही होता है। बिंदुक प्रकीर्णित लाल भूरे धब्बे प्रकट होते हैं जो देखने में अक्सर पिसी हुई जैसी लगती है। संगमित धब्बे और हेमोसीडेरिन के निक्षेप मिलकर विस्तृत गोल चकत्ते बनाते हैं, जो दूरकुंभीविस्फारण से बिंधे होते हैं। डायेस्कोपी में ये धब्बे गायब नहीं होते, पर हल्के-से फीके जरूर पड़ जाते हैं। चर्म का अपोषण, पतला एवं वर्णकित होना अधिकेंद्र में विकसित होता है, पर रोग के पूरवर्ती चरणों में ही। क्षतियां पहले गोड़ों पर उत्पन्न होती हैं, फिर ऊपर टांग (घुटने और टखने के बीच) और जांघ पर फैलती हैं। कभी-कभी धड़ और हाथों का चर्म भी प्रक्रिया की चपेट में आ जाता हैं। रोग चिरकालिक प्रभाव ग्रहण कर लेता है। रोग शुरू होने के कुछ महीनों बाद स्फोटों की अवगति शुरू हो जाती है, यद्यपि पूरी प्रक्रिया अनेक वर्षों तक चलती रह सकती है। हेतुलोचन अज्ञात है। इन रोगियों में खोलेस्टेरोल-विनिमय की गड़बड़ियां ध्यान आकर्षित करती हैं।

क्षतियां केशिकाओं की भंगुरता और अंतर्कलीय बहुलन के फलस्वरूप बनती हैं। हेमोसीडेरिन का निक्षेप बनना और हल्का अधिचार्म कुपोषण प्रक्रिया के अंतिम चरण में शुरू होते हैं।

चिकित्सा. मायोखी और शांबेर्ग के रोग निम्न दवाओं से ठीक होते हैं: विटामिन बी-बारह, सी, के, पी; रूटिन, स्टेरोइड-प्रसाधन, एंटीहिस्टामिनिक, गामा ग्लोबूलिन, रक्ताधान, एस्फूसान, ट्रिबेनोजिड, वालोकास्टान और ऊतक-अर्क (थ्रोंबोप्लास्टिन पर्याय क्लाउडेन, कोआगूलेन)।

गुजेरो-ब्लूम (Gougerot-Blum) का रोग (गुजेरो ब्लूम द्वारा निरूपित पुरपूरिक एवं वर्णकीय शैवाकवत चर्मशोथ). ग्रुपों में 1-2 मिलिमीटर व्यास के नन्हे बहुभुज शैवाकवत पिटक बनते हैं, जिनके साथ-साथ प्रकीर्णित नारंगी-लाल पुरपूरिक चित्तियां, दूरकुंभीविस्फारण, हेमोसीडेरिन-वर्णकता के अधिकेंद्र और शल्कन भी अवलोकित होता है। स्फोट अक्सर गोड़ों एवं जांघों पर

सममित रूप से होते हैं। कुछ केसों में वे धड़ और हाथों पर भी पाये जाते हैं। प्रक्रिया समय-समय पर उग्र होती रहती है और वर्षों तक चलती रहती है। क्षतियों के अपचोषण के बाद कोई कुपोषण (कुपोषणजनित दाग, क्षतांक) नहीं रह जाता। रोगी की सामान्य अवस्था खराब नहीं होती। कोई खुजली नहीं होती। यह रूप चार्म हेमोसीडेरोसिस के अन्य रूपों से बहुत मिलता-जुलता होता है, जैसे दूकास-कापेतानाकिस (Doucas-Kapetanakis) की दद्रुवत पुरपूरा और लेवेंताल की कंडुक पुरपूरा से।

चार्म जालिकाक्लेश

चर्म के जालिकाक्लेश जालिकीय-अंतर्कलीय ऊतकों के सार्वदैहिक रोगों का एक ग्रुप बनाते हैं, जिनकी गदप्रक्रिया की चपेट में चर्म और श्लेष्मल झिल्लियां भी आ जाती हैं। ये अधिक विशद ग्रुप – रक्तचार्मक्लेश – में आते हैं।

कुछ केसों में जालिकाक्लेश चर्म में परिवर्तनों और तदनंतर रक्तसृजक अंगों की आक्रांति से शुरू होता है। अन्य उदाहरणों में चर्म की आक्रांति द्वितीयक प्रकृति की होती है, जो रक्तसृजक अंगों में आक्रांति-अधिकेंद्रों के परिपक्व होने के बाद विकसित होती है। कुछ रोगियों में चर्म और रक्त-सृजक अंगों की एक साथ आक्रांति भी पायी जाती है।

श्विति के एक प्रकार के रूप में जालिकाक्लेश के हेतुलोचन और गदजनन के बारे में अभी बहुत-सी बातें अनिश्चित हैं। एक समय जालिकाक्लेश (श्विति) की उत्पत्ति का पैथी सिद्धांत लोक-प्रिय था। अनेक वैज्ञानिक श्विति को गुल्मिक प्रवर्ध (प्रक्रिया) मानते हैं। अन्य लोग किन्हीं बहिर्जनित (आयनकारी विकिरण, सुगंधित कार्बोहाइड्रेट आदि) और अंतर्जनित घटकों को महत्त्व देते हैं। लेकिन श्विति (जालिकाक्लेश) के अनेक केस इनकी क्रिया से नहीं समझाये जा सकते हैं। इन रोगियों में रंज्यकाय के विपथन का भी अध्ययन किया जा रहा है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि रंज्यकाय की संरचना में गड़बड़ियों की प्रकृति प्राथमिक है या द्वितीयक। हाल में श्विति के वीरुसी सिद्धांत और क्लोनिक सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं। अंतिम सिद्धांत के अनुसार रोग-प्रक्रिया की युक्ति यह है कि मातृक (या जनक) कोशिका की क्षति के कारण उससे गददलोचनी कोशिकाओं की संतति उत्पन्न होती रहती है (क्लोनिक क्रम)।

सभी प्रकार के रक्त-कणों के स्रोत के रूप में जालिकीय कोशिका की अवधारणा में अब संशोधन हुआ है: रक्त के सभी विरचित घटकों का पूर्वज बहुशक्त मूल रक्तसृजक कोशिका है।

हाल की प्रायोगिक, तल्पिक और रूपलोचनी खोजों से पता चला है कि जालिकीय कोशिकाएं, जो रक्तसृजक एवं लसवत अंगों के घटक हैं, वास्तविक्ता में रक्तसृजक तत्त्व नहीं हैं; वे बल्कि अस्थि-मज्जा और लसवत ऊतकों के लिये आधारीय संरचना (स्ट्रोमा) का काम करती हैं। केंद्रिय चार्म-रतिज रोग संस्थान (मास्को) में तल्पिक, रूपलोचनी, ऊतरसायनिक और एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शी अध्ययन से प्राप्त पिछले वर्षों के आँकड़ों से ऊतजालिकीय कोशिकाओं के अंकुरिक बहुलन के विशेष ग्रुप का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जालिका-रक्तांकुरक्लेशों का वर्गीकरण अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है, क्योंकि इनमें से अनेक की उत्पत्ति के कारण अभी तक स्पष्ट नहीं हुए हैं। कालामकारियान द्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण सबसे अधिक मान्य है, जो नीचे दिया जा रहा है।

शब्द 'जालिका-रक्तांकुरक्लेश' इस बात पर जोर देता है कि जालिकाक्लेश का संबंध रक्तसृजक अंगों से ही नहीं, चर्म के पूरे जालिका-ऊतकोशिकीय तंत्र के साथ है।

तीव्र एवं चिरकालिक श्विति की अभिव्यक्तियों में रक्तशोण और बहुसंख्य मज्जार्ब की गणना जालिका-रक्तांकुरक्लेश के प्रथम ग्रुप में होती है, जिसका सामान्य नाम 'चर्म-श्विति' या 'चर्म-रक्तता' है। इस ग्रुप को अलग करना न्यायसंगत भी है, क्योंकि श्विति में चार्म अभिव्यक्तियां बहुत अक्सर पायी जाती हैं (20-30 प्रतिशत केसों में)। वे अक्सर श्विति के लिये रक्त की विशेष अपसामान्यता के परिप्रेक्ष्य में विकसित होते हैं (द्वितीयक प्रकृति)। ग्रुप में निम्न रोग हैं: चर्म-श्विति, लस-श्विति मज्जा-श्विति, तीव्रश्विति,, रक्तशोण, बहुलित मज्जार्ब।

दूसरे ग्रुप 'चर्मजालिकता' में दो उपग्रुप आते हैं: जालिकाकणार्बक्लेश (खुमीवत कवकता, लसकणार्बक्लेश, क्रव्यसता) और चार्म जालिकाक्लेश (प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश, चार्म जालिकाक्रव्यार्बक्लेश, और कापोजी का कुंभीजालिकाक्लेश)। रोग के ये रूप पर्याप्त अच्छी तरह से निर्धारित किये जा चुके हैं (तल्पिक, रूपलोचनी, कोशिकालोचनी, ऊतरसायनिक, इमूनलोचनी और विकासवादी रूप से); और ये सभी परस्पर स्वतंत्र हैं।

यहां हम लोग जालिकाक्लेशों के ग्रुप के कुछ रोगों को ही देखेंगे, जो स्वयं अलग प्रकार के रोग हैं और चर्मलोचनी अनुशीलन में अक्सर मिलते हैं।

प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश

पहले या मुख्यत: चर्म में होने वाला जालिकाक्लेश प्राथमिक कहलाता है। ऐसे रोगियों में इस तरह के अधिकेंद्र रक्तसृजक अंगों के भीतर या बाहर भी हो सकते हैं, पर आधुनिक परीक्षण-रीतियों से उनका पता नहीं चल पाता। चार्म जालिकाक्लेश के अधिकेंद्र चर्म के किसी भी क्षेत्र में उत्पन्न हो सकते हैं, शुरू में उनका पता नहीं लगता।

इस रोग की तल्पिक अभिव्यक्तियां निम्न हो सकती हैं: पराखर्जुक चित्तियों से मिलते-जुलते स्फोट या हाथ-पैर पर ग्रुपों में उत्पन्न पिटकीय क्षतियां, या पर्विकाएं। ये सभी तल्पिक रूप दीर्घकालीन (दसियों वर्ष लंबे) और अक्सर सुदम प्रवाह द्वारा लंछित होते हैं; बीच-बीच में कुछ वर्षों के लिये उपशमित हो जाते हैं। क्षतियों पर एक पीली आभा होती है और उनमें ऊतलोचनी परीक्षण से जालिकीय कोशिकाएं मिलती हैं।

कुछ केसों में यह एक दुर्दम प्रवाह ग्रहण कर लेता है। ऐसे रोगियों में पिटकीय, धब्बों जैसी और गुल्मिक क्षतियां बनती हैं, जिनमें अपचटन की प्रवृत्ति होती है। क्षतियों के उत्पन्न होने के बाद लसपर्व और आंतर अंग भी प्रक्रिया की चपेट में आने लगते हैं। रोग बहुत ही तीव्र प्रवाह ग्रहण कर लेता है और कभी-कभी कुछ महीनों में मृत्यु भी हो जाती है। ऊतलोचनी परीक्षणों से एक एकरूपिक अंतस्यंद मिलता है, जो अधिकांशत: अल्प विभेदित जालिकीय कोशिकाओं से बना होता है; कोशिकाओं में उनके विशिष्ट गुण नहीं होते। इस प्रकार, प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश के निदान में ऊतलोचनी परीक्षण के परिणामों का महत्त्व प्रमुख होता है।

गोट्रोन का जालिका-क्रव्यार्बक्लेश

तल्पिक, कोशिकालोचनी तथा ऊतलोचनी खोजों से पता चलता है कि प्राथमिक जालिकाक्लेश और चार्म जालिका-क्रव्यार्बक्लेश एक ही प्रक्रिया के रूप हैं चर्म के जालिकोतकोशिक तंत्र में दूर्दम परिवर्तन। चर्म के जालिका-क्रव्यार्बक्लेश में उच्च दुर्दमता और गुल्म-वर्धन की अपेक्षाकृत प्रारंभिक (प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश की तुलना में) अभिव्यक्तियां अवलोकित होती हैं।

रोग अधिकांशतः स्त्रियों को और वह भी मुख्यतः रजोनिवृति की उम्र में होता है। प्रक्रिया चर्म पर और कभी-कभी श्लेष्मल झिल्ली पर प्रसारित हो जाती है और लंबे समय तक इसी अवस्था में बनी रहती है; इसके बाद ही कहीं आंतर अंगों की आक्रांति शुरू होती है, लेकिन अपवहन से नहीं, बल्कि खुद ब खुद स्वस्थलिक रूप से।

बेर के आकार की कठोर और गहराई में स्थित असंख्य पर्विकाएं चर्म में उत्पन्न हो जाती हैं। उनके ऊपर की त्वचा निलछौंह बैंगनी होती है। गुल्म नियमतः व्रणित नहीं होते। कभी-कभी ज्वर होता है। रोग के आरंभ में रक्त तथा अस्थि-मज्जा में कोई अपसामान्यता नहीं पायी जाती। बाद में श्वेतकोशिकाओं की संख्या रक्त में बढ़ जाती है और नयी पर्विकाएं बनती हैं; जालिकीय कोशिकाएं उरोस्थिक बिदुंकितों (स्टर्नल पंक्टेट) में पायी जाती हैं। रोगी क्षयित हो कर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। मृत्यु से पूर्व गुल्म कभी-कभी स्वतः गायब हो जाते हैं, उनकी जगह सिर्फ वर्णकता रह जाती है।

चिकित्सा. वर्तमान कोशिका-स्तंभक दवाओं (थिओटेपा, डीपिन, फोस्फाजीन, फोपूरिन, फोट्रीन) में सोवियत प्रसाधन प्रोस्पीडिन (प्रोस्पीडिउम क्लोराइड) चर्मजालिकता की चिकित्सा में सबसे अधिक कारगर रहा है। यह 100 मिलिग्राम की दैनिक खुराक में अंतर्शिरीय मार्ग से दिया जाता है; कुल खुराक 3000 से 3500-4000 मिलिग्राम की होती है। प्रोस्पीडिन-चिकित्सा तीन से पाँच महीने बाद पुनः दुहराने की सलाह दी जाती है।

कुछ केसों में प्रोस्पीडिन के साथ कोर्टिकोस्टेरोइड हर्मोन देना लाभकर होता है।

कापोजी का कुंभीजालिकाक्लेश या बहुलित रक्तस्रावी क्रव्यार्ब

इस रोग का सार अभी भी विवादास्पद है। अधिकांश लोगों की धारणा है कि यह परिकुंभिक जालिकीय ऊतकोशिकीय ऊतकों (विशेषकर चर्म-ऊतकों) के घटकों से उत्पन्न एक गुल्मिक प्रक्रिया है।

हाथ-पैर (विशेषकर टांगों व गोड़ों) पर निलछौंह-बैंगनी धब्बे बन जाते हैं। ये धब्बे क्रमशः आस्यंदित होने लगते हैं और गोल या अंडाकार चकतियां व गंठिकाएं बनाने लगते हैं, जिनकी सतह शल्की होती है। कुछ केसों में रोगारंभ लाल चौरस शैवाक के स्फोटों जैसे पिटकों से होता है। गुल्म क्रमशः बेर से लेकर अखरोट के बराबर तक बढ़ जाते हैं। वे कठोर, प्रत्यास्थ या पेस्टी होते हैं, दूरकुंभीविस्फारण से बिंधे होते हैं। नियमतः उनमें दर्द भी होता है (विशेषकर दबाने पर)।

गंठिकाएं तदनंतर अपचोषित हो जाती हैं और उनकी जगह क्षतांक से मिलता-जुलता वर्णकित अवनमन रह जाता है। रोग का चिरकालिक रूप वर्षों तक बना रह सकता है। कुछ वर्षों में गंठिकाएं प्रकीर्णित हो जा सकती हैं, लसपर्वों का वर्धन, हाथ-पैर का श्लीपद और वास्तविक क्रव्यार्बक्लेश में परिणति भी हो सकती है; अंतिम प्रक्रिया अस्थियों, क्लोमों, यकृत आदि तक अपवहित होने लगती है। ऐसे केसों में ज्वर होता है, रक्तकास (रक्तमिश्रित खाँसी) और रक्तिल अतिसार होता है, क्षय विकसित होता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

ऊतगदलोचन. कणार्बिक ऊतकों में कुंभियों से निस्सृत द्रवों और हेमोसीडेरिन की उपस्थिति से कापोजी के क्रव्यार्ब के संदेहजनक केस का आरंभ में ही निदान हो जाता है। परवर्ती चरणों में कुंभार्बिक (असंख्य कुंभिक अवकाश, कभी-कभी रिसालु, अंतर्कलीय या परिकलीय कोशिकाओं से घिरे

हुए) या रेशांकुरिक अधिकेंद्र बनते हैं, जिनमें तकुए की आकृति के रेशांकुर होते हैं। ये रेशांकुर परिकलीय आगंतुक कोशिकाओं से पनपते हैं। कुंभियों से निस्सृत द्रवों और हेमोसीडेरिन की उपस्थिति कापोजी के क्रव्यार्ब में रेशांकुरिक अधिकेंद्र को तंतुक्रव्यार्ब से विभेदित करती है।

चिकित्सा. कुछ गुल्म करोर्जिक रीति से दूर किये जाते हैं। एक्सरे-चिकित्सा सुसंकेतित है। हाल में प्रोस्पीडिन से भी चिकित्सा में सफलता मिल रही है (दे. प्राथमिक चार्म जालिकाक्लेश की चिकित्सा)।

वर्णकित पित्ती, थूलकोशिकीय जालिकाक्लेश. यह एक सुदम जालिकाक्लेश है। यह गाढ़े भूरे या भूराभ धब्बों के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो धड़ और शिरोवल्क पर बाजरे के आकार के होते हैं। उन्ना का लक्षण विशिष्ट रूप से धनात्मक होता है: धब्बों को रगड़ने से वे सूज जाते हैं (जैसे तौलिये से रगड़ने पर)। इस लक्षण के आधार पर रोग को खर्जूक्लेश और सीफिलिस के पिटकों और इन पिटकों के अपचोषित होने के बाद बचे हुए वर्णकित धब्बे से विभेदित किया जा सकता है। थूलकोशिकीय जालिकाक्लेश का एक दुर्दम रूप बहुत ही विरल है, जिसमें अस्थियां, यकृत, प्लीहा और लसपर्व भी ग्रस्त होने लगते हैं (60 प्रतिशत थूलकोशिकाएं रोगी के रक्त में पायी जाती हैं); ऐसे केस घातक होते हैं।

ऊतलोचनी परीक्षण से अधिचार्म आधारीय परत और सुचर्म में थूलकोशिकाओं का जमाव मिलता है।

भविष्यवाणी. अधिकांश केसों में रोग ठीक होने के अनुकूल भविष्यवाणी शायद ही की जा सकती है। एंटीहिस्टामिनिक प्रसाधन (तावेजिल पर्याय क्लेमास्टिनफूमाराट, पेरीटोल), राउनाटिन तथा कोर्टिकोस्टेरोइड प्रलिखित किये जाते हैं पर फायदा बहुत कम होता है।

लक्षणप्रधान जालिकाक्लेश, या चर्म का द्वितीयक जालिकाक्लेश अन्य अंगों के जालिकाक्लेश, लस-श्विति और लसकणार्बक्लेश में पाये जाते हैं। इन केसों में चर्म-लक्षणों का चित्र रोग के लिये विशिष्ट नहीं होता ललामी, रक्तस्रावी धब्बे आदि पाये जा सकते हैं। निदान उन स्थितियों में बहुत सरल हो जाता है, जब आंतर अंगों में प्राथमिक अधिकेंद्र अनुवेदित हो जाता है, या जब रक्तलोचक द्वारा श्विति का निदान हो जाता है। चर्म की बायोप्सी के आधार पर भी निदान सरल होता है।

खुमीवत कवकता

इस रोग के सार से संबंधित तीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं: (1) रोग शुरू से अंत तक एक शोथी प्रक्रिया है; (2) आरंभिक चरणों में रोग शोथी प्रक्रिया होता है, पर अंत में नौवर्ध (नेओ-प्लाज्म; गुल्म) में परिणत हो जाता है; (3) रोग शुरू से ही दुर्दम प्रक्रिया है। रोग के गदजनन की व्याख्या जो भी हो, लगभग सभी वैज्ञानिक इस बात पर एकमत है कि अंतिम चरण में खुमीवत कवकता एक वास्तविक अंकुरार्बिक प्रक्रिया है।

रोग स्त्री-पुरुषों दोनों को हो सकता है, यद्यपि पुरुषों में कुछ ज्यादा पाया जाता है। यह अधिकांशतः 40 और 60 वर्ष के बीच होता है।

पिछले समय से दर्ज किये गये केसों की संख्या बढ़ी है, जो शायद विकसित निदानिकी का परिणाम है (विशेषकर प्रारंभिक चरणों पर निदान की सफलता के कारण)।

तल्पिक चित्र. अलीबेर्त-बाजिन (Alibert-Bazin) का रूप सबसे अधिक पाया जाता है। इसके तीन चरण हैं: ललामक्लेशिक, धब्बा (अंतर्स्यंदी) और गुल्मिक। ललामक्लेशिक चरण

पर पीताभ गुलाबी या निलछौंह-गुलाबी धब्बे बनते हैं, जिनपर हल्का-सा भूराभ शल्कन होता है; तीव्र खुजली होती है, जो स्फोट निकलने से पूर्व की दशा हो सकती है। क्षतियां पहले धड़ पर और हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर होती हैं, लेकिन बाद में वे संगमित हो कर वृहत चर्म-क्षेत्रों पर छा जा सकती हैं। इस चरण पर क्षतियां बहुरूपिक प्रकृति की होती हैं और अनेक चर्मरोगों से मिलती-जुलती हो सकती हैं (जैसे पराखर्जूक्लेश, कंडु, लाल चौरस शैवाक, विसर्परूपी चर्मक्लेश आदि से)। चंद वैज्ञानिकों की धारणा है कि कुछ अन्य चर्मक्लेश खुमीवत कवकता में परिणत हो सकते हैं। कुछ अन्य वैज्ञानिकों का विचार है कि इस रोग का ललामक्लेशिक चरण तल्पिक रूप से दद्रु (दिनाइ), खर्जूक्लेश तथा अन्य चर्मक्लेशों से मिलता-जुलता हो सकता है। अंतस्यंदी धब्बे का चरण विभिन्न अवधियों के बाद अनजाने ही शुरू हो जाता है। इस चरण पर धब्बों का अंतस्यंदन और मोटा होना शुरू हो जाता है, वे परिसर में प्रसार करने लगते हैं, खुजली और भी यंत्रणादायक हो जाती है। आस्यंदित धब्बे लाल ईंट की तरह चमकीले या गुलाबी रंग के हो जाते हैं और देखने में नारंगी के छिलके की ऊपरी सतह जैसे लगते हैं। अवगामी धब्बों के कारण त्वचा पर माला, मेहराब और वलय जैसी आकृतियां बनने लगती हैं। कुछ वैज्ञानिक प्रथम दोनों चरणों को प्राक्कवकता या कवकतापूर्व की अवधि कहते हैं। अंतिम चरण (गुल्मिक) अधिक विशिष्ट होता है; क्षतियां नारंगी या इससे भी बड़े आकार की हो जाती हैं, उनका रंग ललछौंह-पीला या ललछौंह-नीला होता है। इस तरह के 'टमाटर' धब्बों के चरण पर भी अंतस्यंदों के रूप में देखे जा सकते हैं।

लसपर्व सभी चरणों में वर्धित होते हैं। जांघ और वंक्षमूल के लसपर्व सबसे पहले आक्रांत होते हैं।

विडाल-ब्रोक (Vidal-Brocq) का रूप अपेक्षाकृत कम देखने को मिलता है। इसमें कवकतापूर्व की अवधि नहीं होती। गुल्म हठात बन जाते हैं, वह भी स्वस्थ प्रतीत होने वाले चर्म पर। आलोपो--बेनिये (Hallopeau-Besnier) द्वारा वर्णित रूप भी विरल है; इसमें सार्वदैहिक अपशल्की चर्मारुणता विकसित हो जाती है (आस्यंदित अंतिरक्तित चर्म वृहत-पटलीय शल्कों से आच्छादित होता है)।

ऊतगदलोचन. ललामक्लेशिक चरण पर एक सामान्य शोथी अंतस्यंद पाया जाता है; सिर्फ कभी-कभी ही अल्प संख्या में जालिकीय कोशिकाएं मिलती हैं। धब्बे के चरण पर अंतस्यंद अधिकांशतः सुचर्म के पिटिकामय भाग में स्थित होता है। इसमें विपुल मात्रा में एओजीनोफिल और एक अपनी ही तरह की अविशिष्ट जालिकीय कोशिकाएं ('कवकी' कोशिकाएं) तथा 'सूक्ष्म विद्रधियां' (मालपीगी परत में लसकोशिकाओं और ऊतकोशिकाओं के नन्हे समूह) पायी जाती हैं। जालिकीय (कवकी) कोशिकाओं की संख्या गुल्मिक चरण में बहुत अधिक बढ़ जाती है और खुद अंतस्यंद अवचार्म वसा में गहरे पैठ जाते हैं।

चर्म में पाये जाने वाले ऊतलोचनी परिवर्तनों से युक्त पर्व औटोप्सी से आंतर अंगों (क्लोमों, जठर, यकृत आदि) में भी पाये जाते हैं।

भविष्यवाणी. अधिकांश केसों में आधुनिक रीतियों से चिकित्सा करने पर दीर्घकालीन उपशमन पाया जाता है। ऐसे केसों में मृत्यु किसी अन्य क्लिष्टता या सहवर्ती रोग के कारण ही होती है। गुल्मिक चरण में भविष्यवाणी कम प्रतिकूल होती है।

चिकित्सा. यह माना जाता है कि खुमीवत कवकता के सम्यक विकास वाले रूपों के आरंभिक चरणों पर सिर्फ स्फूर्तिदायक चिकित्सा (विटामिन बी-संकुल, विटामिन सी) और स्टेरोइड-मलहमों

के बाह्य प्रयोग मे काफी लाभ होता है। प्राकृतिक निरोगालयों में भी चिकित्सा सुसंकेतित है।

अधिक स्पष्ट रूप वाले चरणों में मिश्र चिकित्सा वांछनीय होती है: कोशिकास्तंभक (सबसे पहले प्रोस्पीडिन, डीपिन, फोस्फाजीन तथा कभी-कभी साइक्लोफोस्फान) और प्रतिगुल्मिक प्रतिजीवक (ओलवोमीसिन, ब्रूनेओमीसिन, ब्रीजोमालीन)। प्रोस्पीडिन और कोर्टिकोस्टेरोइड का मेल लाभकर होता है (2-6 मिलिग्राम डेक्सामेथाजोन नित्य, 30-60 मिलिग्राम प्रेद्नीजोलोन नित्य)। ऐसे केसों में दवाओं की अल्प खुराकों से अधिक जल्द लाभ होता है और साथ ही अवांछित प्रभावों और क्लिष्टताओं की संख्या कम हो जाती है।

एक्सरे-चिकित्सा गुल्मिक चरण पर प्रयुक्त होती है; प्रतिकंडुक दवाएं, जिनमें कोर्टिकोस्टेरोइड -मलहम भी शामिल हैं, बाह्य चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

क्रव्यसता

क्रव्यसता, या बेनिये-बेक-शाउमान का रोग एक सार्वदैहिक रोग है, जिसकी चपेट में चर्म भी आ जाता है। क्रव्यसों को गंठिक्लेशिक पैठन की अभिव्यक्ति मानने का पुराना विचार वसीलियेन्को आदि की खोजों से गलत सिद्ध हो चुका है। इन वैज्ञानिकों ने निम्न बातें इंगित की हैं: (1) क्रव्यवत कणार्ब को गंठिक्लेशिक क्षतियों से विभेदित करने वाली मुख्य विशेषता है – बहुलन-प्रकृति, जो काँचरता पर समाप्त होती है; (2) गंठिक्लेशिक मीकोबाक्तेरियों का विश्वस्त अनुवेदन बहुत विरल केसों में ही हुआ है; (3) टूबेरकूलिन परीक्षण मे ऋणात्मक (नकारात्मक) परिणाम मिलते हैं। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि क्रव्यसता जालिकाक्लेशों के ग्रुप से संबंधित एक स्वतंत्र रोग है; यदि व्यापक अर्थ में देखा जाये, तो यह जालिका-अंतर्कलीय तंत्र के रोगों से जुड़ा हुआ है।

क्रव्यसता अधिकांशतः अधेड़ व्यक्तियों को और उनमें भी मुख्यतः स्त्रियों को होता है।

क्रव्यसता में क्लोम (फेफड़े), अस्थियां, संधियां, दृष्टि-अंग, अंतस्रावी ग्रंथियां, लसपर्व और नर्वतंत्र आक्रांत होते हैं। मध्याकाश-शोथ और फेफड़ों में वर्जरिक (बाजरे के आकार के दाने जैसी) क्षतियां क्रव्यसता की बहुत ही प्रायिक विशिष्टता है (95 प्रतिशत तक रोगियों में)। एक्सरे में अन्तर्कंठ लसपर्वों का वर्धन, तीव्र स्पष्ट क्लोमिक ताने-बाने और बहुसंख्य अधिकेंद्रों की छायाएं (अंधेरे स्थल) दिखाई देती हैं। निम्न प्रकार की अस्थि-क्षतियां विशिष्ट होती हैं: मोवोजोव और युंगलिन द्वारा वर्णित बहुसंख्य मिथ्याबुलबुलेदार अस्थिशोथ, पोरों में तकुए जैसी मुटाई, और स्वतःस्फूर्त विभंजन (अस्थि-भंग, अस्थि में विदार)। एक्सरे से अधिकेंद्रों के गिर्द अस्थि-ऊतकों के विरलकरण (घनापन में कमी) का पता चलता है।

आँखों की आक्रांति बहुत ही प्रायिक घटना है। परितारिकाशोथ, परितारिका-पपनीशोथ और खोरिअरेटीनाशोथ विकसित होते हैं। परितारिका-पपनीशोथ के साथ-साथ कभी-कभी पराकर्णशोथ और अश्रुग्रन्थीशोथ भी हो जाता है (हिपरफोर्ड-ज्वर का रोग)।

अनेक रोगियों में यकृत, प्लीहा, पराकर्णस और अवजंभी एवं परिसरीय लसपर्वों का वर्धन, वृक्कों की आक्रांति और पुरुष-जननग्रंथि के उपांग की सूजन पायी जाती है। सुदम लसकणार्बक्लेश भी विकसित हो सकता है।

रक्त में अतिप्रोटीनता, अतिग्लोबूलिनता, अतिकैल्सियमता, क्षारीय फोस्फेटों और ESR की वर्धित मात्रा (प्रकीर्णित क्रव्यसता में) पायी जाती है। शरीर का तापक्रम अक्सर सामान्य रहता है।

ऊतगदलोचन. चार्म क्रव्यसता के सभी रूप उपकलीय कोशिकाओं के गंठिवत (क्रव्यवत) कणार्ब द्वारा लंछित होते हैं; उपकलीय कोशिकाएं द्वीपों के रूप में जमा हो जाती हैं (उपकलावत-कोशिकीय गंठिकाएं) जिनके साथ अल्प मात्रा में लांगहांस की वृहतकोशिकाएं और लसकोशिकाएं भी मिली होती हैं। नियमतः कोई पनीरी अपघटन नहीं पाया जाता। बेक (Boeck) के क्रव्यस में उपकलावत कोशिकाओं के द्वीप मुख्यतः सुचर्म में स्थित होते हैं और डारिये-रूसी (Darier-Roussy) के क्रव्यस में – अधिकांशतः अवचार्म वसा में। वृहत कोशिकाओं में कभी-कभी आस्टेरोइड-समावेशन, या शाउमान (Shaumann) के समावेशन होते हैं, जो एक दुहरी परिरेखा वाले पिंड होते हैं; वे खंडित और कैल्सीकृत होते हैं। क्रव्यवत कणार्ब RNA से कहीं अधिक समृद्ध होता है, बनिस्बत कि गंठिवत कणार्ब, जबकि उसमें उपस्थित DNA बहुत अधिक समज अवस्था में होता है।

क्रव्यसता का निदान कठिन भी हो सकता है, इसीलिये एक्सरे-चित्रों और प्रयोगशालीय खोजों पर यथायोग्य ध्यान देना चाहिये। दलिया जैसे क्रव्यवत ऊतक से तैयार एक एंटीजन के साथ क्वाइम (Kveim) का परीक्षण सिर्फ सहायक महत्त्व रखता है। यह मंटो (Mantoux) के परीक्षण की तरह संपन्न किया जाता है। सक्रिय क्रव्यसता वाले 75 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक परिणाम पाये गये।

बेक का क्रव्यस चार्म क्रव्यसता का सर्वाधिक सामान्य रूप है। यह अक्सर चेहरे, हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों, पीठ के ऊपरी भाग, कानों और कभीकभी मुख-श्लेष्मला पर स्थित होता है; अंतिम स्थिति में भूराभ लाल कणार्बिक प्रवर्ध देखे जा सकते हैं। टूबेरकूलिन-परीक्षण ऋणात्मक होता है, क्वाइम का परीक्षण कुछ केसों में धनात्मक हो सकता है। रोग अक्सर सुदम, लेकिन सुषुप्त प्रवाह ग्रहण कर लेता है, जो कुछ महीनों से लेकर कई वर्षों तक चलता रह सकता है।

निम्न तल्पिक रूप विभेदित किये जाते हैं:

(1) पिटकीय प्रकीर्णित रूप। इसमें बहुसंख्य गोलाकार या अंडाकार पिटक उत्पन्न होते हैं, जो पिन के सर से लेकर मटर के बराबर तक हो सकते हैं; उनका रंग पीताभ लाल से गुलाबी तक हो सकता है। डायेस्कोपी से अति सूक्ष्म पीले-सुनहरे बिंदु (सूक्ष्म धब्बे) दिखाई देते हैं। स्फोट अक्सर विस्फारित केशिकाओं से बिंधे होते हैं। अंतिम प्रावस्था में पिटक चपटे, शल्की, वर्णकित या निर्वर्णकित, और दूरकुंभीविस्फारण से आच्छादित होते हैं। अधिकेंद्र के स्थल पर अभी-कभी अपोषण भी पाया जाता है।

(2) स्थूलपिटकीय रूप वृहत पिटकों द्वारा लंछित होता है, जो अखरोट के बराबर तक हो सकते हैं। अधिकेंद्र की सतह निलछौंह भूरी और हल्की सी शल्कनरत होती है। यह धीरे-धीरे सिकुड़ने लगता है और परिसर पर पीताभ लाल सूजन हो जाती है। डायेस्कोपी से लंछक नन्हे पीताभ धब्बे दिखते हैं।

(3) विसरित-अंतर्स्यंदी रूप में चपटे अंतर्स्यंदी धब्बे होते हैं। अधिकेंद्र व्रणित हो सकते हैं, उनके स्थान पर क्षतांक रह जाते हैं।

(4) नन्हे शैवाकवत, चित्तिक-पिटकीय क्षतियों या विभिन्न आकृतियों की तरह अवस्थित ग्रुपित स्फोट।

(5) शाउमान का चर्मारुण रूप, जिसमें विस्तृत सतही, हल्के-से अंतर्स्यंदित धब्बे बनते हैं; उनका रंग कुमुदनी जैसा होता है, उनपर हल्का शल्कन भी होता है।

चिकित्सा. स्फूर्तिदायक (बलवर्धक) चिकित्सा, विटामिन और आर्सेनिक के प्रसाधन सुसंकेतित हैं। अनुकूल प्रभाव प्रतियक्ष्मा (एंटी-गंठिक्लेशिक) दवाओं से भी प्राप्त होता है: पथीवाजिड, विटा-

मिन D_2, स्त्रेप्तोमीसिन और PAS से (विशेषकर यदि रोगवृत्त में यक्ष्मा का भी नाम है)। कोर्टिकोस्टेरोइड सबसे अधिक कारगर साधन हैं; ये उच्च खुराकों में प्रलिखित किये जाते हैं (नित्य 30-40 मिलिग्राम प्रेद्नीजोलोन, 3-6 मिलिग्राम डेक्सामेथाजोन, 16-24 मिलिग्राम त्रिआमसीनोलोन), फिर खुराक की मात्रा धीरे-धीरे कम कर के अल्पतम रक्षी खुराक तक पहुँचायी जाती है। प्राकृतिक जलस्रोतों तथा निरोगालयों में चिकित्सा सुसंकेतित है। पराबैंगनी किरणें, बक्की की किरणें पारतापीय स्कंदन तथा अलग-अलग अधिकेंद्रों पर शीत-चिकित्सा बाह्य उपचार के साधन हैं। आंतर अंगों की क्रव्यसता का अनुकूल प्रवाह होने पर चर्म-स्फोट एक विशेष ढंग से गायब हो जाते हैं।

क्रव्यसता के रोगी को नियमित आयुर-निगरानी के अंतर्गत रखना चाहिये और उसका परीक्षण सभी विशेषज्ञों से करवाना चाहिये।

वलयाकार कणार्ब

कुछ वैज्ञानिक इस रोग को यक्ष्मा (गंठिक्लेशिक) के ग्रुप में रखते हैं और कुछ—क्रव्यसों के। रोग अधिकांशतः बचपन में या किशोरावस्था में होता है। स्फोट 3-4 मिलिमीटर व्यास वाले गुलाबी कठोर एवं पीड़ादायक पिटक होते हैं, जो परिसरीय प्रसार करते हुए संगमित हो जाते हैं और वलयों एवं वृत्तों के ग्रुप बनाते हैं। अधिकेंद्रों का मध्य भाग अपचोषित होकर चिकना एवं सिकुड़ा हुआ बन जाता है। रोग दौरों के रूप में आक्रमण करता है। स्फोट बिना कोई निशान छोड़े स्वतःस्फूर्त गायब हो जा सकते हैं। हथेली के पीछे का भाग और गोड़ विशेषकर ग्रस्त होते हैं; प्रबाहुओं, नितंबों और सर के पीछे क्षतियां बहुत कम पायी जाती हैं। रोगी को कोई आत्मगत शिकायत नहीं होती।

ऊतलोचनी चित्र कोलाजनों के अधिकेंद्रिक अवजनन द्वारा लंछित होता है; परिसर पर परिकुंभिक शोथी अंतर्स्यंद पाये जाते हैं।

चिकित्सा. हाइड्रोकोर्टीजोन का इमल्शन अधिकेंद्र के गिर्द सूई द्वारा दिया जाता है, सामान्य बलवर्धक चिकित्सा, विटामिन C, D_2 तथा E प्रलिखित किये जाते हैं, अधिकेंद्रों को द्रव नाइट्रोजन या कार्बन डायक्साइड की बर्फ से दागा जाता है। करोर्जिक बायोप्सी तथा क्षतांकन-उपचार (परिसरीय सूजन के अलग-अलग उच्छेदन) से भी अच्छा प्रभाव प्राप्त होता है।

वपास्राव

वपास्राव जंतिकीय रूप से निर्धारित रोग है, जो वपाल ग्रंथियों के कार्य में गड़बड़ी और वपा (सेबुम) में गुणात्मक एवं मात्रात्मक परिवर्तनों द्वारा लंछित होता है। पुंसज एवं मदज हर्मोनों (ऐंड्रोजन और एस्ट्रोजन) के बीच शरीरलोचनी संतुलन में गड़बड़ी (पुंसज हर्मोन की मात्रा में सापेक्षिक वृद्धि) ही इस रोग में मुख्य गदजनक महत्त्व रखता है। वपाल ग्रंथियों की कार्यात्यक अवस्था का संबंध पीयुष, अधिवृक्क और ढालवत ग्रंथियों के कार्य, नर्वतंत्र की कार्यात्मक अवस्था तथा विटामिन B_1. B_2, B_6, बिओटिन व खमीरों (डेकार्बोक्सीलाज व प्रोटीनाज) की कमी के साथ पाया गया है।

शुष्क और तैल वपास्रावों में भेद किया जाता है। तैल वपास्राव पतला और गाढ़ा होता है; यह उसकी सघनता पर निर्भर करता है और सघनता उसकी भौतिकीय एवं रसायनिक गठन द्वारा

निर्धारित होती है। कुछ रोगियों को मिश्र वपास्राव भी हो सकता है : कुछ चर्म-क्षेत्रों पर शुष्क वपास्राव और कुछ पर – तैल।

यह ध्यान रखना चाहिये कि शुष्क रूप से दद्रुक प्रक्रिया के विकास का खतरा होता है, जबकि तैल रूप से बाल झड़ने, मुहाँसा बनने आदि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

रोग अक्सर यौन-परिपक्वता के समय होता है और लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में कुछ पहले होता है।

तैल (गीला) वपास्राव

यह रोग वपाल ग्रंथियों के वर्धित स्राव के कारण होता है, जिसका संबंध पुंसज हर्मोनों की मात्रा में सापेक्षिक वृद्धि के साथ है। चेहरे, शिरोवल्क, वक्ष और पीठ का ऊपरी भाग चिकटा और तेलचट हो जाता है, बाल चमकदार चिकट और चिपचिपे हो जाते हैं, मशिकाओं के मुँह विस्फारित हो जाते हैं। शिरोवल्क पर भूराभ पीले शल्क विपुल मात्रा में बन जाते हैं। तैल वपास्राव की पृष्ठ-भूमि में दिनाइ, मुंहासे, खीरार्ब और खल्वाटता विकसित हो सकती है। पोलीसाखारीद-अपघटन के उत्पादों के डेकार्बोक्सीलीकरण में गड़बड़ी के कारण चर्म में लैक्टिक और पीरूविक अम्ल जमा होने लगते हैं, जो मशिकीय चर्मपूयता को प्रोत्साहित करते हैं। रोग के पतले रूप में वपा बहुत पतला (कम सघन) होता है और वपाल मशिकाओं से अक्सर प्रचुरता के साथ बहता है। गाढ़े रूप में त्वचा चिकटी हो जाती है, लेकिन वपा इतना गाढ़ा होता है और अपशल्कित शृंगी परत के साथ इतना हिल-मिल जाता है कि देखने में लगता है कि चर्म बहुत शुष्क है। त्वचा पर सिकुड़नें भी पड़ती हैं।

शुष्क वपास्राव

यह चर्मरोग वपाल ग्रंथियों की अवक्रिया (अल्प सक्रियता) से संबंधित है। इसमें शुष्क चर्म, शल्कन और ललामक्लेशिक अधिकेंद्र अवलोकित होते हैं। शिरोवल्क पर बहुत ज्यादा शल्कन होता है (रूसी झड़ते हैं)। बाल शुष्क और पतले हो जाते हैं। दद्रुकरण और खल्वाटता विकसित हो सकती है।

मिश्र वपास्राव में अक्सर चेहरा भी ग्रस्त हो जाता है; इस स्थिति में तैल वपास्राव ललाट, नाक और ठुड्डी पर पाया जाता है और शुष्क वपास्राव – गालों और कभी-कभी शिरोवल्क पर।

चिकित्सा. विटामिन A के साथ विटामिन E, C तथा B- संकुल (B_1, B_2, B_6, B_{12}, B_{15}) देना लाभकर होता है। हर्मोनी दवाएं (प्रेग्नेन, डीएथिलस्टिलवेस्ट्रोल, थीरोइडिन) रोगी के अंतर्स्रावी तंत्र की अवस्था को देखते हुए ही देना चाहिये। तैल वपास्राव में एस्ट्रोजन-प्रसाधन दिये जाते हैं: स्त्रियों को रजोचक्र के मशिकीय (फोलीकुलर) चरण में सिनेस्ट्रोल की नित्य दो टिकियां (प्रत्येक 0.001 ग्राम की) दी जाती हैं; पुरूषों को 1 टिकिया दो या तीन बार नित्य, 10 से 15 दिन तक दी जाती है और इसके बाद कुछ अवधि के लिये विराम किया जाता है। प्रशामक, हल्के प्रशांतक (सेडुक्सेन, ख्लोरडिआजेपोक्सीड) और मैग्नेशियम सल्फेट की सूइयां दी जाती हैं।

शुष्क वपास्राव में बाह्य उपचार एस्ट्रोजनों के साथ अल्कोहल के मिश्रण, सल्फर के साथ अंडी का तेल और इख्थामोल के साथ कोई पाउडर प्रयुक्त होता है। भौतिकीय चिकित्सा से भी अच्छा थेरापिक प्रभाव प्राप्त होता है (d'arsonvalisation, पराबैंगनी विकिरण, सल्फरित हाइड्रोजन के साथ स्नान, आदि)।

शाकाहारी भोजन और कम मात्रा में कार्बोहाइड्रट, कच्ची चर्बी, मसाले और साधारण नमक का इस्तेमाल करना चाहिये। कुछ रोगियों की चिकित्सा सौंदर्यलोचक (कोस्मेटोलोजिस्ट) भी करते हैं – वाष्प-स्नान से (तैल वपास्राव तथा काले बिंदुओं जैसे धब्बों की स्थिति में), विभिन्न लेपों, मालिश आदि से।

बुसनवत या वपास्रावी खल्वाटता

यह रोग चर्म के शुष्क सूक्ष्मपटलीय शल्कन (शुष्क वपास्राव) या वपाल ग्रंथियों के अतिस्राव (तैल वपास्राव, वपास्रावी स्टआटोड बुसन) के साथ संबंधित है। आनुवंशिक कुयोग, अंतर्स्रावी गड़बड़ियां (अतिपुंसजता, डालवत ग्रंथि की अवक्रिया), व्यवधानित खोलेस्टरोल-विनिमय, पनपुज अस्थायित्व और शीर्षस्थ कुंभियों का संपीडन इस रोग की अभिव्यक्तियों को तीव्र बनाते हैं। रोग का उत्कर्ष जनन-हर्मोनों (सेक्स हॉर्मोन्स) के सक्रिय काल में होता है। रोग अधिकांशतः पुरुषों को होता है। पहले कनपटी और शीर्ष के क्षेत्र ग्रस्त होते हैं। चर्म अपोषित और पतला होता है, चुटकी में मुश्किल से आता है। इसके गिर्द अल्प संख्या में कोमल रोएं पाये जाते हैं। वपा और स्वेद का स्राव वर्धित होता है।

चिकित्सा. बालों की पूरी देखभाल करनी चाहिये। निम्न साधन लाभकर होते हैं। विटामिन A, B_1, B_6, B_{12}, B_{15} तथा D_2, पांटोथेनिक अम्ल, हर्मोनिक प्रसाधन (जनन हर्मोन आदि), आर्सेनिकाल, आलोए (घेंकुवार), कॉपोलोन, प्रशामक, ग्रैव अनुकंपी गुच्छिका का पारतापन, पराबैंगनी किरणें और वपास्राव-शामक आहार। सल्फर, टार, नाफ्थालान, और पांथेनोल (पांटोथेनिक अम्ल-टिंचर) बाह्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। बालों को सल्फर या सुल्सेन से युक्त साबुन से धोते हैं। शिरोवल्क में रक्त की आपूर्त्ति बेहतर करने के लिये करोर्जिक उपचार (एपीक्रानिओटोमी, फ्रोंटालोटोमी और गालेआटोमी) अकारगर सिद्ध हुए हैं।

Rp: Sulfur pp, 2.5
Dl. Rusci 2.5
MDS. वपास्राव-शामक मलहम

Rp: Resorcini 3.0
Aq. Calcis 40.0
Spiritus vini 60.0
Ap. destill. ad 200.0
MDS तैल वपास्राव के लिये घोल

Rp: Ac. salicylici 1.5
Ol. Ricini 0.5
Sul,ur colloid 15.0
Sp. Camphor ad 30.0
MDS तैल वपास्राव में बाह्य अनुयोग के लिये

Rp: Naphtae-Naphtalani
Spiritus vini āā 20.0
MDS शुष्क वपास्राव में चर्म पर मलने के लिये (बाह्य अनुयोग)

Rp: Sulfur pp.
Ol. Cadini
Ac. Sadicylici āā 2.0
Ol. Ricini 40.0
MDS. बाह्य अनुयोग. शिरोवल्क के चर्म पर मलें.

समय से पूर्व बालों का विरल होना (अकाल खल्वाटता) का कभी-कभी गलती से वपास्रावी खल्वाटता के साथ संबंध जोड़ दिया जाता है; इसका अधिक सही नाम है – ऐंड्रोजेनेटिक खल्वाटता। यह खल्वाटता का सबसे प्रायिक रूप है और पुरुषों को 20 से 25 वर्ष की उम्र में होता है। इस रोग के गदजनन में अतिपुंसजता (पुंसज हर्मोन – ऐंड्रोजन – के अतिस्राव) और जंतिकीय घटकों की भूमिका पर विशेष ध्यान दिया गया है। अकाल खल्वाटता अक्सर नार्वमानसिक गड़बड़ियों के साथ होती है। अकरोर्जिक उपचार (एस्ट्रोजन से युक्त प्रसाधन खल्वाट क्षेत्रों पर मलना, मुखमार्ग से एस्ट्रोजन की गोलियां ग्रहण करना) हमेशा अच्छा और दीर्घकालीन थेरापिक प्रभाव नहीं देता। करोर्जिक उपचार (उपरोक्त आपरेशन) भी अक्सर अकारगर रहते हैं (जैसेकि वपास्रावी खल्वाटता में)।

सामान्य मुँहासा

यह चर्म का एक सामान्य कौस्मेटिक रोग है। यह यौन परिपक्वता के आरंभ में शुरू होता है, क्योंकि इस समय गोनाडोट्रोपिक हर्मोनों के प्रभाव से वपाल ग्रंथियों की कार्यशीलता बढ़ जाती है। ऐंड्रोजन हर्मोन स्त्री-पुरुष दोनों में मुंहासों के स्फोट को तीव्र कर देते हैं। एस्ट्रोजनों की उच्च खुराकें वपाल ग्रंथियों के स्रावी कार्य को दमित कर देती हैं और क्षतियों को प्रगामी बना देती हैं। मुंहासों का निकलना मासिक धर्म शुरू होने से पूर्व तीव्र हो जाता है। सगर्भता का प्रक्रिया पर लाभदायक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि हर्मोनिक संतुलन सामान्य रहता है।

वपास्राव, साथ-साथ अनुकंपी पारमस्तिष्क-केंद्र की तदनुरूप गड़बड़ियां और वपा की संरचना में परिवर्तन – यह सब रोग के विकास में संप्रेरक घटक हैं। हेतुलोचनी घटक स्ताफिलोकोकों की गदजनक जातियां और मुंहासे के कोरीनेबाक्तेरिउम एक्ने हैं। अतिपुंसजता के अतिरिक्त रोग के प्रति प्रवणकारी घटक निम्न हैं: जठरांत्र-मार्ग की गड़बड़ियां, अविटामिनता, रक्ताल्पता, आनुवंशिक प्रभाव और आहार एवं द्रव्य-विनिमय की प्रकृति। इसके प्रिय स्थल चेहरा और वक्ष एवं पीठ के ऊपरी भाग हैं।

वपा के वर्धित स्राव और मशिकीय अतिशृंगनता के कारण वपाल ग्रंथियों के मार्ग केराटोटिक (शृंगी) प्लगों से अवरुद्ध हो जाते हैं (इन प्लगों को कीलें कहते हैं)। वपा के जमाव और पूयकारी पैठन के कारण शोथी पिटकीय एवं पीपिकीय मुंहासे जैसी क्षतियां उत्पन्न होती हैं। अधिकेंद्र सगर्मित होते हैं और अधिक गहरी परतों तक बेंध कर पहुँच जाते हैं; वे कठोरित एवं अंतर्स्यंदित हो जा सकते हैं। विद्रधियां बन सकती हैं। ऐसे केसों में निर्वर्णकित क्षतांक रह जाते हैं, जिससे चेहरे पर तरह-तरह के दाग और गड्ढे नजर आने लगते हैं। किस प्रकार की क्षतियां प्रबल हैं, इसके आधार पर निम्न प्रकार के मुंहासों में भेद किया जाता है: विम्बीक (चेचकसदृश) मुंहासे कुपोषज मुंहासे और संकुली मुंहासे (संगमरत वर्तुलाकार कीलें)।

हेतुलोचनी आधार परिमशिकीय अंतर्स्यंद और वपाल ग्रंथियों का फैलाव, रोध और कुपोषण है

विभेदक निदान पीपिकीय सीफिलिदों, आयोडाइडों व ब्रोमाइडों से उत्पन्न स्फोटों के साथ किया जाता है।

चिकित्सा. उग्रता-काल में रोगी को प्रतिजीवक दिये जाते हैं, मुख्यतः तेत्रासिक्लीन, ओलेतेत्रिन (250000U प्रति दिन तीन या चार बार, 20 दिनों तक), और एरीथ्रोमीसिन; विटामिन E, A, B_2, B_6, B_{12}, B_{16}, फोलिक व नीकोटीनिक अम्ल और मुखमार्ग से सल्फर के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं। द्वितीयक पूयकारी पैठन द्वारा उत्पन्न क्लिष्टता की स्थिति में स्ताफिलोकोकी टोक्सोइड, एंटी-स्ताफिलोकोकी गामा ग्लोबूलिन और स्वरक्त-चिकित्सा की सलाह दी जाती है। एसीडीन-पेप्सिन (एक भाग पेप्सिन और चार भाग एसीडीन की गोलियां या बेटाईन हाइड्रोक्लोराइड) पानक्रेआटिक प्रसाधन और विरेचक (दस्तावर साधन) पाचन को ठीक करने के लिये दिये जाते हैं। जनन-हर्मोन (एस्ट्रोजन) रोगी की उम्र और उसके अंतस्त्रावी तंत्र की अवस्था को देखते हुए प्रलिखित किये जाते हैं।

बाह्यतः त्वचा को निस्स्नेहित और निष्पैठित करने वाले प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं। इसके लिये निम्न के अल्कोहलिक घोल प्रयुक्त होते हैं: रेसोर्सीनोल, सैलीसीलिक अम्ल, कैंफर व पारद क्लोराइड (0.5 प्रतिशत) खीमोप्सिन (ट्रिप्सिन के साथ खीमोट्रिप्सिन) और खीमोट्रिप्सिन। वपास्राव-शामक प्रसाधन भी दिये जाते हैं: सल्फर, रेसोर्सीनोल और इख्थामोल के जलीय निलंबन (सस्पेंसन); इनकी सांद्रता धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है।

कुटाली केसों की चिकित्सा में बाक्तेरिक पीरोजन (पीरोजेनल, प्रोडीजिओजान) के साथ प्रतिजीवक का प्रयोग किया जाता है; कीलों और पीटकों को दूर किया जाता है। मूंहासे के दूर होने के बाद सल्फर-टार से युक्त पाउडर और कैंफर या ख्लोरांफेनीकोल स्पीरिट या कुम्मेरफील्ड (Kummerfield) का घोल प्रयुक्त होता है।

Rp: Camphorae tritae
Gummi arabici āā 3.0
Sulpher pp. 10.0
Aq. Calcis ad 100.0
MDS. अधिकेंद्र पर मलने के लिये बाह्य प्रसाधन

[illegible] किरणें और फोटोरसायन-चिकित्सा (PUVA-थेरापी) सुसंकेतित हैं।

लाल मुंहासा

[illegible] मुंहासा मुख्यतः तैल वपास्राव से पीड़ित रोगियों में शरीर-गठनात्मक कुंभिक नर्वक्लेश की [illegible] अभिव्यक्ति है। संप्रेरक घटक हैं: जठरांत्र की गड़बड़ियां (जठरशोथ, अक्सर अवाम्लीय या [illegible], और आंत्र शोथ), पनपू नर्वक्लेश, रजोनिवृति, और जाड़ों के समय खुले में या तप्त [illegible]-प्रक्रिया वाले कर्मालय में श्रम। डेमोडेक्स फोलीकुलोरूम (वपाल ग्रंथियों की एक कुणपतृण [illegible]) कुछ रोगियों में निर्वाहक (सस्टेनिंग) घटक का काम करती है। रोग अधिकांशतः औरतों [illegible] से 50 वर्ष की उम्र में होता है।

[illegible] नाक, गालों और ललाट के मध्य भागों, पर लाली से शुरू होता है, जो गर्म व क्षोभक [illegible] अल्कोहल तथा रागात्मक घटकों से तीव्र हो जाती है। इसके बाद दूरकुंभीविस्फारण और फिर

परिमशिकीय पिटकों की उत्पत्ति होती है। लाल मुंहासा (या रोजासिआ) शुद्ध रूप में भी हो सकता है, लेकिन अक्सर सामान्य मुंहासे और द्वितीयक पैठन से क्लिष्ट हो जाता है।

रूपलोचनी अभिव्यक्तियों के अनुसार इस रोग के निम्न रूप (चरण) होतें हैं: (1) ललामक्लेशिक रोजासिया, स्थायी रक्तस्फीति, इसकी पृष्ठभूमि में सतही दूरकुंभीविस्फारण के जाल का विकास, चर्म का मोटा और चिकटा (तेलचट) होना; अतिपोषित वपाल ग्रंथियों के मुहानों का विस्फारित होना; (2) पिटकीय रोजासिआ, सतही मुंहासा-सदृश मशिकीय पिटक; कीलों (कोमेडोनों) की अनुपस्थिति; (3) पीपिकीय रोजासिआ, पीपिकाएं, जिनके मध्य में पूयमृति होती है; (4) तंतुकुंभीविस्फारक रोजासिआ, पर्याय अतिपोषित रोजासिआ (रीनोफीमा – लुंडित नाक); लुंडित (लोबुलेटेड) बैंगनी, मुलायम लस्त गुल्म; पीपिका, दूरकुंभीविस्फारण और क्षतांक।

चिकित्सा के रूप में निमित्त कारणों को दूर किया जाता है: अंतस्त्रावी गड़बड़ियों की चिकित्सा, जनन-उपकरणों की गड़बड़ियों और रोगों को दूर करना, पेट व यकृत के रोगों का इलाज, मलविसर्जन का सामान्यीकरण। आहार में क्षोभक पदार्थ नहीं होने चाहिये; अल्कोहल, गर्म पेय और मसालों से परहेज करना चाहिये। एसीडीन-पेप्सिन और बी-संकुल के विटामिन मुखमार्ग से दिये जाते हैं।

द्वितीयक पैठन की स्थिति में मुखमार्ग से तेत्रासिक्लीन दो या तीन सप्ताह तक या एथोक्सीडिआमिनोआक्रीडीन लैक्टेट 10 दिनों तक नित्य तीन बार प्रलिखित किया जाता है।

बाह्य वपास्राव-शामक चिकित्सा हिग्रोक्सीजोन या लोरिंडेन C मलहम के साथ 30 प्रतिशत सल्फर से युक्त मलहम द्वारा होती है (अंतिम में पहले सल्फर युक्त मलहम एक-तिहाई मात्रा में रखते हैं, फिर दोनों मलहम आधा-आधा मिलाकर प्रयोग में लाते हैं); रूथामोल-रेसोर्सीनोल पेस्ट भी लाभकर होता है। बारी-बारी से गर्म और ठंडे पानी से धोना भी कुंभिक तानता बढ़ाने के लिये अच्छा होता है। धूप और फ्लुओरीडेटेड कोर्टिकोस्टेरोइड से परहेज करना चाहिये।

रीनोफीमा की चिकित्सा करोर्जिक रीति से स्काल्पेल या छूरी द्वारा या ताप-दागन (थेर्मोकाउटराइजेशन) द्वारा अतिपोषित प्रवर्ध को दूर करने से होती है। प्रारंभिक चरण में कार्बन डायक्साइड की बर्फ द्वारा शीत-चिकित्सा या केश-विद्युद (हेयर-एलेक्ट्रोड) द्वारा आयुरी पारतापन भी लाभकारी उपाय है।

Rp: Sulphur pp.
Glycerini
Aq. Amygdalarum amar.
Aq. Calcis āā 10.0
MSD. बाह्य अनुयोग के लिये

Rp: Resorcini
Sulphur pp. āā 5.0
Calcii carbonici
Zinci oxydati
Ol. Lini
Aq. Calcis āā ad 100.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

अपशल्की चर्मारुणता (लाईनर का रोग)

रोग का हेतुलोचन अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। रोग के कारणों से संबंधित कई विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, लाइनर यह मानते थे कि रोग स्व-आगरण से होता है, क्योंकि उनके अनुभव में इस रोग की चर्म-क्षतियों के साथसाथ जठरांत्र की गड़बड़ियां अवश्य मिलती थीं। अन्य वैज्ञानिकों का मानना है कि रोग द्रव्य-विनिमय के उत्पादों के प्रति स्वसंवेदीकरण, अविटामिनता (बिओटिन और विटामिन ए की कमी) और सगर्भता के अपसामान्य प्रवाह (गरलता) से होता है। रोग तीव्र होता है और घातक भी हो सकता है।

नैदानिक चित्र. रोग अवपुष्ट बच्चों में उनके जीवन के प्रथम माह में विकसित होता है। यह सार्वदैहिक दद्रुक स्फोटों के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो जननेंद्रियों, नितंबों या शिरोवल्क से शुरू होते हैं। स्वस्थ दिखती त्वचा पर थोड़ा सा उभरे हुए विसरित ललामक्लेशिक-शल्की शोफित अधिकेंद्र इस रोग की विशिष्ट क्षतियां हैं। वृहत चर्मपुटकों के क्षेत्र में रिसाव, मसृणन तथ वृहत पटलित शल्कन, और साथ ही शिरोवल्क पर वपास्रावी प्रकार के चिकटे शल्क पाये जा सकते हैं। रोग अनपच, तीव्र आंत्रशोथ, सड़ांध लिये हुए अतिसार, दुर्बलता, अवपोषण (दूध में विटामिन एच की कमी), अवरक्तोमिक रक्ताल्पता, रिसालु पारश्लेषण, और कभी-कभी क्लोमशोथ की पृष्ठभूमि में उत्पन्न होता है। लसपर्वों, यकृत और प्लीहा का वर्धन, श्वेताल्पता और अवग्लोबूलिन-रक्तता अक्सर पायी जाती है।

लाइनर के रोग में शरीर का तापक्रम या तो सामान्य रहता है, या अवज्वरीय होता है। सहवर्ती क्लिष्टताओं के कारण तापक्रम 38-39°C तक पहुँच सकता है। रक्त में एओजीनोफीलों की कमी या पूर्ण अनुपस्थिति एक लंछक चिन्ह है (तुलना करें बच्चों में रिसालु पारश्लेषण और वपास्रावी दिनाइ से, जिनमें एओजीनोफिल अवश्य होते हैं)।

विभेदक निदान वपास्रावी दिनाइ, सीफिलिसी बुदबुदिया, रिट्टर के रोग, कांदीदक्लेश और नवजात के तीव्र बहुमारिक बुदबुदिया के साथ किया जाता है, जो सीफिलिसी बुदबुदिया की तरह ही डार्कफील्डस्कोपी के धनात्मक (सकारात्मक पुष्टिकारी) परिणामों और बुल्लानुमा क्षतियों की उपस्थिति से विभेदित होता है। रिट्टर का रोग धनात्मक निकोल्स्की-लक्षण और मुँह के गिर्द शुरू होने वाली क्षतियों से लंछित होता है।

वपास्रावी दिनाइ से पीड़ित बच्चों में सामान्य अवस्था नियमतः अच्छी रहती है। कोई आंत्रशोथ, अतिसार या अवरक्तोमिक रक्ताल्पता तथा एओजीनोफीलिया नहीं होती और ऐसी स्थिति लाइनर-रोग के लिये लंछक नहीं है।

चिकित्सा. विटामिन A, B_2, B_6, B_{12}, C, H दिये जाते हैं। विटामिन एच (बिओटिन) 0.003-0.005 ग्राम की खुराकों में नित्य तीन बार दिया जाता है। रक्त-चिकित्सा और गामा ग्लोबुलिन की सूइयां वांछनीय होती हैं। प्रतिजीवकों (सेपोरिन, ओलेटेट्रिन, आदि) से, और तीव्र दशा में कोर्टिकोस्टेरोइडों तथा अनाबोलिक हर्मोनों से लाभकारी प्रभाव मिलता है। विवेकसंगत आहार और ठीक समय पर कृत्रिम दुग्ध-पान का प्रबंध करना चाहिये। बच्चे की सफाई संबंधी देखभाल में पोटाशियम परमैंगनेट या बलूत की छाल (अथवा गेंदे) के काढ़े के सुसुम (37.5-38°C) स्नान में आपादमस्तक स्नान बहुत महत्त्वपूर्ण है। त्वचा में कोर्टिकोस्टेरोइड मलहम और विटामिन ए के 5 प्रतिशत नाफ्थालान (या 3-5 प्रतिशत सोडियम बोरेट) से युक्त क्रीम लगाया जाता है।

भविष्यवाणी. यथासमय युक्तिसंगत चिकित्सा, पर्याप्त भोजनचर्या और सफाई संबंधी देखभाल से बच्चा कुछ सप्ताह में ठीक हो जाता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ (डानबोल्ट-क्लोस का रोग). यह एक जीनीचर्मक्लेश है, जो खमीरी त्रिप्तोफान के व्यवधानित विनिमय और शरीर में जस्ते की कमी से संबंधित है। यह अवगामी स्वकायिक प्रकार (रिसेसिव औटोसोमल टाइप) द्वारा विरासतित होता है। यह शायद गर्भावस्था में उत्पन्न गरलक्लेश के कारण बाह्य भ्रूणचर्म का जन्मजात कुविकास माना जा सकता है। कांदीदक्लेश और पूयकोकी पैठन रोग के तल्पिक प्रवाह को निश्चित रूप से प्रभावित करता है। रोग जीवन के प्रथम वर्ष में, अक्सर जन्मोपरांत प्रथम सप्ताहों में विकसित होता है; वयस्कों में बहुत विरल होता है।

वस्तिकीय-बुल्लेदार या ललामिक-रिसालु क्षतियां नैसर्गिक द्वारों (मुख, पृष्ठद्वार) के गिर्द, चर्मपुटकों में, मूलाधार में या हाथ-पैर के परिसरीय भागों (उंगलियों) पर उत्पन्न होती हैं (जिनपर यांत्रिक चोट लगी होती है)। नखों में कुपोषणजनित परिवर्तन प्रेक्षित होते हैं। पटलित खर्जूरूपी शल्कन अधिकेंद्रों पर बाद में विकसित होता है। मुख-श्लेष्मला अक्सर ग्रस्त हो जाती है। हाथ-पैर के नख विकृत हो जाते हैं। शिरोवल्क, पलकों तथा भौंहों पर खल्वाटता (निर्लोमता) या बालों की विरलता शुरू हो जाती है। स्फोटों के साथ-साथ जठरांत्र की गड़बड़ियां, पलकशोथ, प्रकाशभीति और दुर्बलता प्रेक्षित होती है।

औटोप्सी से आंत्र-व्रण और छोटी-बड़ी दोनों आतों का शोथ प्रेक्षित होता है।

आंत्रगादिक आक्रोचर्मशोथ का निदान करने में निम्न रोगों की संभावना दूर करनी पड़ती है: बुल्लेदार अधिचर्मलय, प्राथमिक चार्म कांदीदक्लेश (खमीरी कवकों के परीक्षण से), ड्यूरिंग का रोग और पीपिकीय खर्जूक्लेश।

चिकित्सा. ओक्सीक्वीनोलीन के उत्पाद प्रलिखित किये जाते हैं; ये हैं: एंटेरोसेप्टोल (0.125-0.25 ग्राम नित्य दो बार, 5 दिन के अंतराल के साथ 10-10 दिन के चक्रों में, कुल पाँच चक्र) और निस्टाटिन (500000U नित्य तीन या चार बार 14 से 18 दिनों तक)। विटामिन B_6, B_{15}, PP और एवीटुम प्रलिखित किये जाते हैं।

हाल में अच्छा प्रभाव जिंक के प्रसाधनों से प्राप्त किया जा रहा है: जिंकी सुल्फाराटी या जिंकी ओक्सीडाटी (जो बेहतर है) की 0.05 ग्राम मात्रा जेलाटिन के कैप्सुलों में मिलते हैं; मुखमार्ग से दिन में दो या तीन बार ग्रहण किया जाता है; 15 से 20 दिन के चक्र दुहराये जाते हैं। एंटेरोसेप्टोल की जगह इंटेस्टोपान भी दिया जा सकता है: तीन साल से कम के बच्चे को दिन में 0.1g/kg की मात्रा तीन बार में बाँट कर दी जाती है। तीन साल से अधिक के बच्चे को दिन में 0.04 ग्राम तीन बार खाने के बाद दिया जाता; चिकित्सा पाँच दिनों के अंतराल पर 10-10 दिन के चक्रों में की जाती है।

बाह्य प्रयोग की दवाएं हैं: अनीलीन रंजकों के जलीय घोल, कास्टेलानी का पेंट, और औथोसिआनिन, कोलीमीसिन (नेओमीसिन) हेलिओमीसिन, जेंटामीसिन, एरीथ्रोमीसिन, हिओक्सीजोन, लोरिंडेन C और लोकाकोर्टेन N या C के मलहम।

बालों के रोग

सेल्सस निरूपित खोंतेदार खल्वाटता

खोतेदार खल्वाटता (निर्लोमता) में शिरोवल्क, दाढ़ी, भौंहों, पलकों, काँखों और जघन के परिसीमित गोल क्षेत्रों से बाल झड़ जाते हैं। अधिकेंद्र परिसर पर प्रसार करते हुए अक्सर संगमित हो

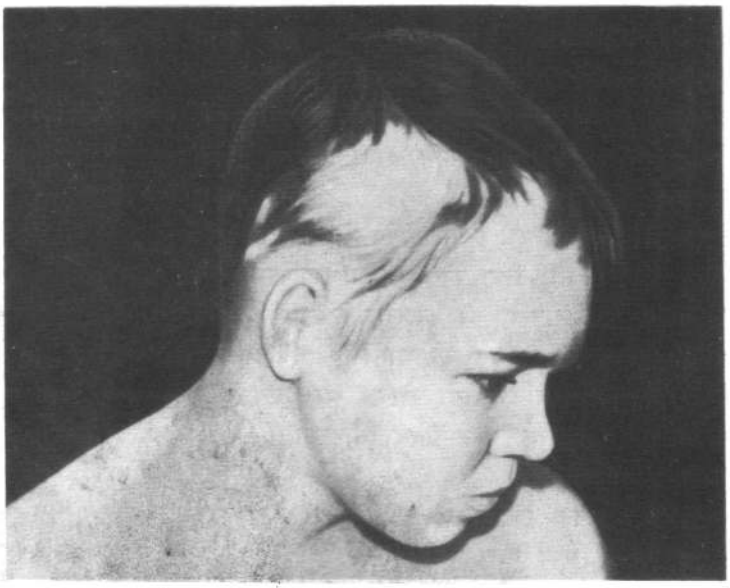

चित्र 29. खोपेदार खल्वाटता

जाते हैं और खल्वाटता के विस्तृत क्षेत्र बना लेते हैं, जिनकी किनारियां बहुचक्रीय (पोलीसाइक्लिक) होती हैं (चित्र 29)।

खल्वाटता के ताजे अधिकेंद्र ललामिक और शोफित होते हैं। बाद में आक्रांत चर्म चिकना हो जाता है और हाँथी-दाँत के रंग का हो जाता है। अक्सर अधिकेंद्र में लोमों (बालों) के कुछेक मिलिमीटर लंबे ठूँठ रह जाते; इनकी जड़ें हल्का शोफित होती हैं और इनके शिखर पतले तथा प्रश्नवाचक चिन्ह की तरह हो जाते हैं। इन बालों को सरलता से दूर किया जा सकता है। सर पर सूक्ष्म अधिकेंद्रिक खल्वाट क्षेत्रों वाली निर्लोमता कभी-कभी बच्चों में पायी जाती है। इसे सूक्ष्मचित्तिक निर्लोमता कहते हैं।

प्रवाह. रोग कई महीनों और कभी-कभी वर्षों तक चल सकता है, पुनरावर्तित होता रहता है और कुटाली होता है। ठीक होने पर पहले कोमल रोएं निकलते हैं, बाद में इनकी जगह पर मोटे (सामान्य) और वर्णकित बाल उग आते हैं।

हेतुलोचन अज्ञात है।

रोगजनक महत्त्व निम्न घटकों को दिया जाता है: शरीर की विभिन्न गड़बड़ियां (गरलताजनित, पैतृकजनित, अंतस्त्रावी, द्रव्य-विनिमय संबंधी, नार्वअंतस्त्रावी, और कुपोषणजनित नर्वक्लेशिक); परादुग्धवत एवं ढालवत ग्रंथियों की अवक्रिया, अवकोर्टिकता (हाइपोकोर्टीसिज्म); शरीर में जस्ते की कमी, त्रिप्तोफान-विनिमय में गड़बड़ी, अविटामिनता, स्व-इमूनी एवं विलंबित पैठी-परोर्जिक अतिसंवेदिता।

इस रोग के साथ-साथ निम्न संवृत्तियां प्रेक्षित हो सकती है: एओजीनोफीलिया, लिंफोसितोसिस, लिंफ ग्रंथिशोथ, नखों का कुपोषण और सरदर्द। कुछ केस ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें शिरोवल्क, भौंहें, पलकें, उपनियों और पूरे शरीर के सारे बाल (लोम, केश, रोएं) झड़ जाते हैं। पूर्ण दुर्दम निर्लो-

मता उन रोगियों में विकसित होती है, जिनमें आनुवंशिक कुयोग, अवढालवत्ता और अवकोर्टिकता होती है।

बच्चे कभी-कभी रोग के एक बहुत ही कुटाली रूप से ग्रस्त हो जाते है, जिसमें खल्वाटता की टेढ़ी-मेढ़ी पट्टी पश्चकपाल से कानों तक पहुँच जाती हैं (सेल्सस की सर्पता, सीमेन्स की सीमावंत खल्वाटता)।

कवकों के लिये बालों और शल्कों के सूक्ष्मदर्शन के नकारात्मक परिणाम, सीरमलोचनी परीक्षणों के नकारात्मक परिणाम और सीफिलिस की अन्य अभिव्यक्तियों की अनुपस्थिति द्वारा इस रोग को सीफिलिसी खल्वाटता और शिरोवल्क की कवकता से विभेदित किया जा सकता है।

चिकित्सा. निम्न औषधियां प्रलिखित की जाती है: विटामिन A, E, C, H, D_2, B- संकुल, और साथ ही निकोटिनिक, पांटोथेमिक तथा फोलिक अम्ल एवं फूरोकोउमारिन-प्रसाधन (बेरोक्सान, प्सोरालेन, आमीफूरिन, मेलाडीनीन)। हर्मोनिक चिकित्सा (ACTH, कोर्टिकोस्टेरोइड) और प्रशामक प्रयुक्त होते हैं।

बाह्य चिकित्सा में स्थानिक रक्तस्फीति उत्पन्न करने तथा तानता बढ़ाने वाले साधन प्रयुक्त होते हैं: अल्कोहल के तथा अन्य घोल (जिनमें सल्फर, सैलीसीलिक अम्ल और ख्लोरल हाइड्रेट मिले रहते हैं) स्ट्रिंग-पेप्पेर का टिंचर, आम्मीफूरिन, मेलाडीनीन आदि से मालिश, जिसके बाद पराबैंगनी विकिरण अथवा प्रोटोखेमोथेरापी (PUVA-थेरापी), स्टेरोइड क्रीम और नाफ्थालान आदि।

Rp: T-rae Cantharadis
Resorcini
Ac. Salicylici āā 5.0
T-rae Capsici 10.0
Spiritus vini 96% ad 100.0
Glycerini 3.0
Ol. Ricini 10.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

Rp: Sulphur pp. 10.0
Spiritus camphor 25.0
Glycerini 15.0
Ac. lactici 1.0
Aq. destill. 120.0
MDS. बाह्य अनुयोग के लिये

बक्की की सीमांत (बोर्डरलाइन) किरणें, पराबैंगनी विकिरण और (दार्सोनवालीकरण – उच्च आवृत्ति एवं उच्च वोल्टता की प्रत्यावर्ती विद्युत-धारा का उपयोग) भौतिकीय चिकित्सा की लाभकर रीतियां हैं। कार्बन डायक्साइड की बर्फ और वीनिल क्लोराइड से शीत-चिकित्सा, शीत-मालिश और विद्युब्रश से मालिश का भी उपयोग होता है।

चर्म-वर्णकता की गड़बड़ियां

चर्म की वर्णकता तीव्र हो जाती है (अतिवर्णकता) या क्षीण (अवर्णकता)। वर्णकता की गड़बड़ियां द्वितीयक हो सकती हैं (किसी प्राथमिक या द्वितीयक चर्म-क्षति की अवगति या उपशमन

चित्र 30. श्वित्र

के बाद) या प्राथमिक। अतिवर्णकता चर्म में मेलानिन नामक वर्णक का उत्पादन तीव्र होने से विकसित होती है। अवर्णकता मेलानिन के अपूर्ण उत्पादन या उसकी बिल्कुल अनुपस्थिति से होती है।

झाँईकाएं और क्लोआज्मा (अक्सर गर्भवति स्त्रियों के चेहरों पर कत्थई-भूरे धब्बे) सीमित अतिवर्णकता से संबंधित हैं, जबकि श्वित्र (वीटीलीगो) और विरल संवृत्ति निरंजता मेलानिन की अनुपस्थिति से संबंधित रोगों से संबंधित हैं।

श्वित्र

श्वित्र धड़ या हाथ-पैरों के चर्म-क्षेत्रों पर मेलानिन के लोप से लंछित होता है। यह किसी भी उम्र के लोगों में पाया जा सकता हैं, लेकिन अधिकांशतः बचपन और किशोरावस्था में होता है।

हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात हैं। अंतस्त्रावी गड़बड़ियों के सिद्धांत और रक्त में तांबे, लोहे व सूक्ष्म पोषक तत्त्वों (ट्रेस एलिमेंटों) की कमी या मेलानोजनन में भाग लेने वाले खमीरों की सक्रियता में कमी या उसके पूर्ण दमन का सिद्धांत अधिकांशतः मान्य हैं।

आक्रांति अक्सर हाथों (हथेलियों के पीछे) और धड़ पर सममित रूप से अवस्थित होती हैं और अक्सर वृहत क्षेत्रों पर फैल जाती हैं। अतिवर्णकित वलयों से घिरे हुए वर्णकहीन श्वेत धब्बे बन जाते हैं। श्वित्र के क्षेत्रों पर लोम (रोएं) बने रहते हैं, लेकिन अक्सर वे भी निर्वर्णकित हो जाते हैं (चित्र 30)।

निर्वर्णकित क्षेत्रों में कभी-कभी अतिवर्णकता के द्वीप भी देखे जाते हैं। श्वित्र के धब्बे संगमित हो सकते है; इस स्थिति में वे पेट, पीठ और नितंबों के वृहत क्षेत्रों पर और कभी-कभी तो पूरे धड़ पर छा जा सकते हैं। जब श्वित्र के साथ बीचबीच में सामान्य चर्म भी होता है, तो त्वचा चित-

कबरी लगती है। श्वित्र के अधिकेंद्र (आक्रांति-क्षेत्र) पराबैंगनी किरणों तथा सौर स्पेक्ट्रस के प्रति अतिसंवेदी होते हैं। कभी-कभी निर्वर्णकित क्षेत्रों के प्रकट होने से पूर्व वहां ललामक्लेशिक अधिकेंद्र भी बन जाते हैं। कोई आत्मगत अनुभूति, श्वित्र-धब्बों का शल्कन या अपोषण नहीं होता।

श्वित्र के साथ-साथ कठचर्मता, खोंतेदार खल्वाटता आदि भी हो सकती हैं।

ऊतलोचनी चित्र. श्वित्रिक अधिकेंद्रों में मेलानिन की पूर्ण अनुपस्थिति और उनकी किनारियों पर मेलानिन का विशेष जमाव होता है। अधिकेंद्रों के पीछे अधिचर्म और सुचर्म में हल्की शोथी प्रक्रिया की पृष्ठभूमि देखी जाती है।

चिकित्सा. फुरकोमारिन (furconmarin) के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं: मेलाडीनीन, आम्मीफूरिन, बेरोक्सान, प्सोरालेन, फुरालेन और प्सोबेरान। मेलाडीनीन खाने के पहले मुखमार्ग से दो या तीन बार ग्रहण किया जाता है (चिकित्सा के एक दौर में 200 से 400 टिकियां लगती हैं)। साथ ही श्वित्र के अधिकेंद्र मेलाडीनीन के अल्कोहलिक घोल (1 : 1, 1 : 2) से पेंट किये जाते हैं और दो-तीन घंटे बाद 1-2 से 15-20 मिनट के लिये पराबैंगनी विकिरण की ललामिक खुराक के प्रति अनावृत किये जाते हैं। चिकित्सा का एक दौर 15 से 20 अनावृतियों में समाप्त होता है। चार से छे सप्ताहों के अंतरालों पर इस चिकित्सा के तीन या चार दौर की सलाह दी जाती है। आम्मीफूरिन और बेरोक्सान बाह्य रूप में (टिंचर की तरह) और मुखमार्ग से (0.2 ग्राम की टिकियों के रूप में) प्रयुक्त होते हैं (चिकित्सा के एक दौर में 250 से 300 टिकियां लगती हैं); इसके साथसाथ 0.5 प्रतिशत सांद्र Sol. Cupri sulfurici के दस बूंद खाने के बाद दिन में तीन बार ग्रहण किये जाते हैं। फूरोकूमारिन से चिकित्सा के साथ-साथ धमनी-दाब पर निगरानी रखी जाती है, मूत्र व रक्त की जाँच कराई जाती है। कोर्टिकोस्टेरोइडों की हल्की खुराकें कुछ केसों में कारगर सिद्ध होती हैं। नन्हे श्वित्र-अधिकेंद्रों में 0.2-1 मिलिलीटर हाइड्रोकार्टीजोन-निलंबन की सूइयां (कुल 5-10 अवचार्म सूइयां) कुछ केसों में वर्णकता को पुनर्स्थापित कर देती हैं। विटामिन B_1 व B_2 और निकोटिनिक अम्ल प्रलिखित किये जाते हैं।

भविष्यवाणी अधिकांश केसों में प्रतिकूल ही होती है। वर्तमान चिकित्सा-रीतियां कुछ केसों में प्रक्रिया को आगे बढ़ने से रोक लेती हैं और कुछ में रोग को ठीक भी कर देती हैं। स्वतःस्फूर्त रूप से ठीक होना बहुत ही विरल है।

दुर्दम चर्म-अर्बुद

आधारार्ब या आधार-कोशिकीय कर्काब, या आधार-कोशिकीय उपकलार्ब

आधारार्ब चर्म-कैंसरों के लगभग 80 प्रतिशत केसों में पाया जाता है। यह बहुत औपचारिक रूप से ही दुर्दम चर्म-अर्बुदों के ग्रुप में शामिल किया गया है; क्योंकि अपवहन-रीति से इसका प्रसार विरल है और रोगी की इस रोग से मृत्यु कभी नहीं होती। हेतुलोचनी रूप से आधारार्ब अपभ्रूणीय (भ्रूण-विकास की) गड़बड़ियों के साथ कहीं अधिक संबंध रखता है, बनिस्बत कि कैंसरजनक क्षोभकों के साथ।

तल्पिक चित्र मंद वर्धन से लंछित होता है। आधार-कोशिकीय उपकलार्ब नन्ही चित्ती, पर्विका या गोल परिसीमित अंतिश्रृंगनता से उत्पन्न होता है। लंछक (विशेषता-सूचक) लक्षण निम्न हैं: हल्का गुलाबी रंग, शोथी घटक की अनुपस्थिति, पतली और अपेक्षाकृत कठोर, शोफित किनारी, जो

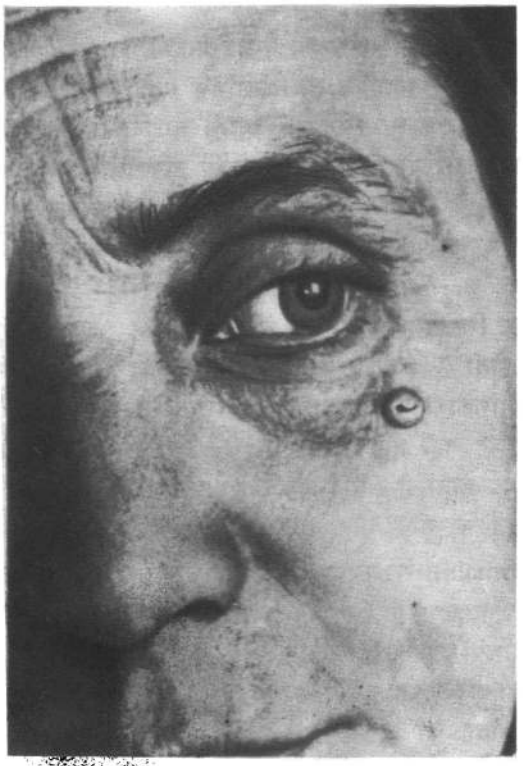

चित्र 31. आधारार्ब

चमकदार और दूरकूंभीविस्फारण से बिंधी होती है। शोफ के क्षेत्र में अलग-थलग नन्हे चमकदार मोती जैसे पिटक भी पाये जा सकते हैं, जो उपकलार्ब के लिये बहुत ही गदोचीनक लक्षण हैं। अधिकेंद्र के मध्य में एक पिटक बनता है, जिसका अपरदन होता है, फिर उस पर खट्ठी बनती है। अधिकेंद्र क्रमशः वर्धित और क्षीण होता है। अधिकांश केसों में व्रणन (जो महीनों और वर्षों की अवधि में उत्पन्न होता है) सतह पर बहुत धीरे-धीरे फैलता हुआ बढ़ता है। व्रण की तली चिकनी होती है और चारों ओर की सूजन सतत या अलग-अलग कणों के रूप में होती है; सूजन का घनत्व उपास्थि जैसा होता है।

अवांकन व्रण के केंद्र और उसकी किसी एक किनारी पर एक साथ शुरू होता है। व्रण का गहराई में जाना कम प्रायिक होता है; यदि जाता है, तो इसका अंतर्स्यंद नीचे के ऊतकों और यहां तक कि अस्थियों को भी नष्ट करने लगता है।

अणुवीक्षणी परीक्षण से पता चलता है कि कोशिकाओं में छत्ते जैसा वर्धन हो रहा है: नाभिक बहुत बड़े होते हैं, प्रोटोप्लाज्म बहुत क्षीणता के साथ व्यक्त होते हैं, जो अधिचार्म आधारीय कोशिकाओं की तरह ही होते हैं। उनमें ग्लूकोजन नहीं होता और उन्हें चंद विद्यु-प्रकाशिकीय गुणों के आधार पर पहचाना जाता है। उनका प्रोटोप्लाज्म वर्धित ओस्मिओफीलिआ द्वारा लंछित होता है। नाभिकों में विस्तृत विषमताएं नजर आती हैं।

यहां हम आधारार्ब के निम्न रूपों को संक्षेप में देखेंगे: (1) सतही आधार-कोशिकीय उपकलार्ब, जो मुख्यतः धड़ पर स्थित होता है और परिसर में बहुत धीरे-धीरे फैलने वाले धब्बे के रूप में

व्यक्त होता है ; इसके गिर्द पतले व अपेक्षाकृत कठोर पिटकों का घेरा होता है ; केंद्र में शल्की खट्ठी पड़ जाती है, जिसके गिरने पर अपोषित ललामक्लेशिक सतह नजर आती है ; (2) चपटा क्षतांकी उपकलार्ब सतही होता है और अक्सर कनपटी के चर्म पर बनता है ; यह केंद्र में क्षतांकी-अपोषज परिवर्तनों और सूजी हुई किनारियों वाले विसर्पी उत्वर्ध द्वारा लंछित होता है ; (3) कठचर्मता जैसा आधारार्ब, जो छोटे सिक्के के आकार का धब्बा होता है, इसका रंग हाथी-दाँत की तरह होता है और यह अक्सर ललाट पर उत्पन्न होता है ; (4) पर्विकीय उपकलार्ब, जो बाजरे से लेकर मटर के बराबर तक का गोल, कठोर गुल्म होता है, जो छोटी खट्ठियों और क्षतांकों से ढका होता है ; यह ललाट, पलकों और शिरोवल्क पर होता है। एक कठोर, गहरे क्रेटर जैसे व्रण भी बनते हैं, जिनकी तली असमतल होती है (छेदक व्रण, जो अक्सर चेहरे के ऊपरी अर्ध पर होता है) ; ये व्रण एक द्रुत प्रगामी विनाशकारी प्रक्रिया द्वारा लंछित होते हैं, जिसमें गहरे ऊतक की विमृति होती है ; मोती के रंग के सूजन नहीं होते, अस्थियों और उपास्थियों का विनाश होने लगता है, तीव्र रक्तस्राव और छूने में दर्द होता है, लेकिन अपवहन की प्रवृत्ति नहीं होती (इनके सामान्य स्थल नथूने, कर्ण-पालिका, मुंह के कोने और पलक हैं)।

चिकित्सा. ओमेन (Omain) के मलहम, 5 प्रतिशतीय पोडोफीलिन वाजेलीन, शीत चिकित्सा और करोर्जिक पारतापन का उपयोग (व्रण बनने से पूर्व) लाभदायक होता है। निकट नाभि वाली एक्सरे-चिकित्सा, रश्मिसक्रिय समस्थों का प्रयोग और अर्बुद को करोर्जन से दूर करना (जिसके बाद विकिरण और आवश्यकता पड़ने पर चर्मारोपण किया जाता है) – यह सब उपकलार्ब के व्रणन की अवस्था में लाभदायक होता है।

कंटकोशिकीय उपकलार्ब

कंटकोशिकीय उपकलार्ब या चर्म की काँटल कोशिकाओं का कर्कार्ब, अस्तरीय शल्क-कोशिकीय कर्कार्ब है, जो दुर्दम अंतर्स्यंदी एवं विनाशकारी प्रवर्ध एवं अपवहन द्वारा मुख्यतः लसजनक मार्ग से) लंछित होता है। यह विभिन्न रसायनिक या भौतिकीय क्षोभकों के कारण, और श्वेतसिलत्व, श्वेतश्रृंगनता, बुढ़ापे के श्रृंगार्ब, वृका के क्षतांकों तथा एक्सरेजनित व्रणों की पृष्ठभूमि पर भी उत्पन्न होता है। विवर्ण त्वचा वाले रोगियों में इस रोग के प्रति प्रवणता अधिक होती है। कंटकोशिकीय उपकलार्ब सतही शल्की पिटकों के रूप में होता है। इन पिटकों से मसानुमा प्रवर्ध तेजी से बढ़ने लगते हैं ; इनके केंद्रों में अपघटन शुरू हो जाता है और क्रेटर जैसे व्रण बनने लगते हैं। प्रारंभिक प्रसार अपवहन की विधि से क्षेत्रीय लसपर्वों तक प्रेक्षित होता है। अर्बुद चर्म के किसी भी क्षेत्र पर उत्पन्न हो सकता है, फिर भी इसके प्रिय स्थल नैसर्गिक द्वारों के गिर्द, मुख-श्लेष्मला (जीभ), गला, हथेलियों के पीछे और जबड़े हैं।

कर्कस (कैंक्रोइड) कंटार्ब का एक अंतर्स्यंदी रूप है। यह कठोर, मुश्किल से हिलने वाला पीड़ा-हीन अर्बुदों के रूप में व्यक्त होता है, जिनकी अवछिन्न (अ-सतत) किनारियां विदारों से कटी-फटी होती हैं। अर्बुद अक्सर व्रणित हो जाते हैं और सरलता से रक्तस्राव करने लगते हैं।

पिटिकीय (पनपू) कांटल (कंटकोशिकीय) कर्कार्ब एक एक्सोफीटिक चपटा मसानुमा अर्बुद है, जो फूलगोभी की तरह बढ़ता है ; इसमें अपघटन की प्रवृत्ति होती है। इसके प्रिय स्थल निचला होठ और जननेंद्रिय के क्षेत्र हैं।

ऊतगदलोचन. अविशिष्ट (अविभेदित) कंटकोशिकाओं का जाल जैसा बहुलन और मोती जैसी केराटोटिक कोशिकाओं के खोंते पाये जाते हैं। अर्बुद की कोशिकाएं सुचर्म और अवश्लेष्मला को बेध कर पहुँच जाती हैं। सीनोप्लाज्मा में रीबोनुक्लेइक अम्ल की मात्रा और खमीरी सक्रियता बढ़ती है (डीहाइड्रोजेनाज और क्षारीय फोस्फाटाज की)।

चिकित्सा. निकट-नाभि वाली एक्सरे-चिकित्सा का प्रयोग होता है। अर्बुद को विद्युकरोर्जन से स्वस्थ ऊतकों समेत उच्छेदित कर दिया जाता है, लसपर्वों को दूर किया जाता है और इसके बाद रेडिओ-चिकित्सा और 0.3 प्रतिशत ओलीवोमीसिन का मलहम प्रयुक्त होता है।

क्रव्यार्ब

चर्म का क्रव्यार्ब प्राथमिक या द्वितीयक (अपवहन से उत्पन्न) हो सकता है। क्रव्यार्ब अपरिपक्व दोषक ऊतकों का एक दुर्दम नौवर्ध है। चर्म-क्रव्यार्ब शुरू में सुचल होते हैं (अपने स्थान से हिल-डुल सकते हैं, एक जगह दृढ़ता से जमे नहीं होते) और द्रुत वर्धन द्वारा लंछित होते हैं। इसके ऊपर का चर्म भी सुचल और अपरिवर्तित होता है। बाद में ऊपर का चर्म लाल-बैंगनी हो जाता है और अर्बुद बहुत कड़ा हो जाता है, व्रणन एवं वर्धन जारी रखता है। पूयरक्तिल स्राव वाले गहरे व्रण बनते हैं। लसपर्वों तथा अस्थियों तक अपवहन होता है। क्रव्यार्ब एक मेलानोकोशिकीय तिल से शुरू हो सकता है (अक्सर चोटज क्षति के बाद, स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया बहुत विरल है)। इसके बाद उसका अवमर्दन शुरू हो जाता है, वह काला और वर्धित होने लगता है। परिसर में एक शोथी वलय पाया जाता है। तिल व्रणित होता है, लसपर्वों, यकृत तथा मस्तिष्क की ओर अपवहन होता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

तीव्र प्रवाह ग्रहण करने वाले क्रव्यार्ब में मृत्यु कुछ महीनों में हो जाती है। चिरकालिक प्रवाह में रोगी कई वर्षों तक जीवित रहता है।

गर्म देशों के कुछ चर्म रोग

पिंता (स्पेनिश pinta, अर्थात् नन्हा धब्बा) एक चिरकालिक अ-रतिज रोग है जो मुख्यतः मध्य एवं दक्षिणी अमरीका और पश्चिमी अफ्रीका के देशों में पाया जाता है। इसका निमित्त कारण ट्रेपोनेमा कारातेउम है, जो दैनंदिन निकट संपर्क से संक्रमण करता है।

[illegible] में तीन सप्ताह के अन्तर्जयन-काल के पश्चात् प्राथमिक क्षति विकसित होती है। इसकी प्रकृति [illegible] की अ-व्रणित पिटक की होती है, जो परिसर में प्रसार करता है और विस्तृत ललामिक-[illegible] बनाता है। ट्रेपोनेमा पालीडुम जैसे जीवाणु प्राथमिक अधिकेंद्रों में सरलतापूर्वक पहचान [illegible] हैं: अधिकेंद्र अक्सर शरीर का कोई भी अनावृत स्थल हो सकता है।

[illegible] क्षतियां पिंतामा (स्पेनिश 'पिंता' और हिंदी 'अस' अर्थात् 'ऐसा', 'सदृश') पैठन [illegible] 12 महीने बाद उत्पन्न होते हैं। वे विमरित कंडुक धब्बों और लाल, हल्के नीले तथा [illegible] पिटकों द्वारा लंछित होते है। शल्कन अधिकेंद्र के मध्य में और निर्वर्णकता परिसर में [illegible] है। क्षतियां खर्जूक्लेश, सीफिलिद और दिनायस से मिलते-जुलते हो सकते हैं।

[illegible] चरण कई महीनों बाद और कभी-कभी कुछ वर्षों बाद आता है। यह चर्म में अपरंजक [illegible] द्वारा लंछित होता है। गंदले रंग के धब्बों के बीच-बीच में अतिवर्णकित क्षेत्र आ-आ कर

एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। हथेलियों और तलवों पर चर्म मोटा तथा निर्वर्णकित हो जाता है। लसग्रंथिरुग्नता विकसित होती है। निमित्त कारण लसपर्वों से प्राप्त द्रव्य में अनुवेदित हो सकते हैं।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया प्रथम दो चरणों में 75 प्रतिशत और तीसरे चरण में 100 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होती हैं। त्रेपोनेमा पालीडुम का निश्चलकरण-परीक्षण पूरे रोग-काल में धनात्मक (पुष्टिकारक) होता है।

चिकित्सा. प्रतिजीवकों का उपयोग होता है।

बेजेल (अरबी सीफिलिस) एक त्रेपोनेमा-प्रेरित अरतिज रोग है, जो अरबी देशों में पाया जाता है। इसका निमित्त कारण त्रेपोनेमा बेजेल है, जो रूपलोचनी तौर पर सीफिलिस, पिंता और फ्रांबेजिया उत्पन्न करने वाले त्रेपोनेमा-जीवाणुओं से मिलता-जुलता होता है। पैठन के प्रसार (या संक्रमण) का संबंध बुरी हाइजीनिक परिस्थितियों के साथ है। यह अधिकांशतः बच्चों को होता है।

चर्म एवं श्लेष्मल झिल्लियों की रालार्बिक-व्रण्य क्षतियां, अस्थिपर्यस्थिशोथ, संधिवर्ती पर्व, मुख-श्लेष्मला पर पनपू पिटक तथा धब्बे, हथेली और तलवे का शृंगीक्लेश, खल्वाटता और श्वित्र के अधिकेंद्र विकसित होते हैं।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टिन-प्रतिक्रिया धनात्मक होती है।

चिकित्सा. प्रतिजीवक (पेनीसिलिन, तेत्रासिक्लीन, एरीथ्रोमीसिन, ख्लोरांफेनीकोल) प्रलिखित किये जाते हैं।

ट्रौपिक फ्रांबेजिया (न्युपदंश) उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों का एक रोग है। इसके निमित्त-जीवाणु त्रेपोनेमा पेर्तेनुए कास्तेलानी हैं। इसका प्रसार (या संक्रमण, पैठन) निकट दैनंदिन (अयौन, अरतिज) संपर्कों, चर्म की चोटज क्षति और कीट-दंशों से होता है। इसका अंतर्जानपदिक प्रसार सिर्फ जनता की सामाजिक एवं हाइजीनिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जो कुछ उपनिवेशी देशों में बहुत बुरी थीं। बच्चों और किशोरों में इस रोग के प्रति विशेष प्रवणता होती है।

तल्पिक प्रवाह के अनुसार फ्रांबेजिया सीफिलिस से बहुत मिलता जुलता होता है। दो से चार सप्ताह के अंतर्शयन-काल के पश्चात एक प्राथमिक अधिकेंद्र बनता है। यह अतिरक्तिल वलय से घिरे हुए नन्हे पनपू पिटकों से लंछित होता है। पिटक तेजी से बढ़ते हैं, व्रणित होते हैं और खट्ठियों से ढक जाते हैं। खट्ठी गिरने पर चौरस तथा हल्का वर्णकित क्षतांक रह जाता है। प्राथमिक आक्रांति ज्वर, संधिवेदना और सरदर्द की पृष्ठभूमि में विकसित होती है। एक से तीन महीने बाद द्वितीयक स्फोट विकसित होते हैं। ये हैं: बहुसंख्य, वृहत, संगमी, मसानुमा, पनपू पिटक, जो देखने में रास्पबेरी (रसभरी) जैसे लगते हैं (फ्रांसीसी शब्द 'फ्रांबेजिया' का अर्थ रास्पबेरी ही है)। ये पिटक आर्द्र पीली खट्ठियों से ढके होते हैं, जिनका आकार 1-2 सेंटीमीटर होता है। ललामक्लेशिक-शल्की तथा गुलाबिकीय धब्बे और शैवाकवत मशिकीय तथा केराटोटिक पिटक भी द्वितीय चरण के लिये लंछक होते हैं। चर्म-पुटकों के स्थल पर विपुल कणमय पिटिकार्बिक विरचनाएं उत्पन्न होती हैं। कुछ सप्ताहों या महीनों में क्षतियां अवगामी होती हैं और अपने पीछे निर्वर्णकित या अतिवर्णकित शल्की क्षेत्र छोड़ जाती हैं।

द्वितीयक स्फोटों से पूर्व ज्वर, लसग्रंथिरुग्नता, पर्यस्थिशोथ, अस्थिवेदना, रुमैटीवत पीड़ाजनक संवृत्तियां और पाचन में गड़बड़ी प्रेक्षित होती है।

तृतीयक चरण पैठन के सात से दस साल बाद विकसित होता है, जो फट कर अनियमित, अपरदित किनारियों वाले कणीभूत (ग्रैनुलेटिंग) पिटिकार्बिक व्रण बनाते हैं। ठीक होने पर विकृत (कुरूप) क्षतांक रह जाते हैं। अक्सर पैरों में रालार्बिक अस्थिपर्यस्थिशोथ के कारण तलवार की

तरह मुड़े हुए पैर हो जाते हैं, आदमी अपंग हो जाता है, अस्थियों में स्वतःस्फूर्त विभंजन (विदार, टूटन आदि) होने लगते हैं।

मुंह, नासाग्रसनी, नेत्र-कोटरों के ऊतकों में तीव्र विकृतकारी कणार्बिक पूयिक क्षतियां होती हैं। द्रुत विमृतिक अपघटन के कारण वे एक कोटर के रूप में संगमित हो जा सकती हैं। बहुसंख्य, घने, मंद गति से वर्धन करने वाले गुल्म कोहनियों, घुटनों तथा अन्य संधियों पर उत्पन्न होते हैं (संधि-पर्व), जो नीचे के ऊतकों के साथ संगलित हो जाते हैं; यह रोग की एक लंछक अभिव्यक्ति है।

वास्सेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसिप्टन-प्रतिक्रिया के परिणाम फ्रांबेजिया में स्थायी तौर पर धनात्मक रहते हैं। बिओप्सी से त्रेपोनेमा अनुवेदित होते हैं।

चिकित्सा. एंटी-सीफिलिसी चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। पेनीसिलिन, एरीथ्रोमीसिन, और विस्मथ के प्रसाधन प्रलिखित किये जाते हैं।

भाग II

रतिज रोग

सीफिलिस

संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण

सीफिलिस की उत्पत्ति की तीन धारणाएं या सिद्धांत हैं।

एक धारणा के अनुसार सीफिलिस क्रिस्टोफर कोलंबस के नाविकों के साथ 1493 में अमरीका (महादेश) से यूरोप में आया था। नाविक वहां के आदिवासी लोगों से गैठित हुए थे, जो इस रोग को अपनी यौन विकृति के कारण लामा (जानवर) से ग्रहण करते थे (यह बहुत पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि लामों में स्तीरोखेटक्लेश होता है)। इस सिद्धांत की पुष्टि में इसके प्रवर्तक, जिन्हें 'अमरीकावादी' कहा गया है, इस परिस्थिति की ओर इशारा करते हैं कि कोलंबस का अभियान लौटने के बाद स्पेन के बंदरगाह वाले नगरों में सीफिलिस के अनेक केस दर्ज हुए। इसके बाद फ्रांसीसी राजा चार्ल्स अष्टम के भाड़े के सैनिकों ने इसे यूरोप की गहराइयों में फैलाया (वे रोम जीतने के बाद नेपुल्स-विजय के लिये रवाना हुए थे)। समकालीन साक्षों के अनुसार इन सैनिकों के लिये स्पेन से 14000 वेश्याएं लायी गयी थी और रोम में वे सामूहिक काम-क्रीड़ा में डूबे रहते थे। लेकिन राजा को नेपुल्स की घेराबंदी छोड़नी पड़ी, क्योंकि एक भयानक बीमारी से हर दसवां सैनिक ग्रस्त हो रहा था। सैनिक-सेवा से मुक्त हो कर इन लोगों ने रोग को अनेक यूरोपीय देशों में फैलाया, जिससे वहां एक बहुमारी (एपीडेमिक) तो क्या, कुछ आँकड़ों के अनुसार महामारी (पानडेमिक) शुरू हो गयी। इस प्रकार, इस सिद्धांत के अनुसार सीफिलिस की मातृभूमि मध्य अमरीका (हाइती द्वीप) है।

दूसरा सिद्धांत सातवें दशक में प्रस्तावित किया गया कि सीफिलिस का प्रसार अफ्रीका से हुआ है। इसके प्रवर्तकों के अनुसार ट्रोपिक या अंतर्जानपदिक त्रेपोनेमाक्लेश (फ्रांबेजिया, पिंता बेजेल) और रतिज सीफिलिस के निमित्त कारण प्रारंभ में समान प्रकार के त्रेपोनेमा-जीवाणु थे। इन वैज्ञानिकों के अनुसार आदमी में त्रेपोनेमा की परजीविता नौप्रस्तर या नवाश्म (नेओलिथिक) युग के आरंभ से ही चला आ रहा है और त्रेपोनेमा का परवर्ती विकास मानव-समाज के विकास के साथ ही संबंधित रहा है। जब आदमी शुष्क और शीतल जलवायु वाले स्थानों पर बसने लगा, तो त्रेपोनेमाक्लेश बेजेल के रूप में व्यक्त हुआ और नगरों-महानगरों के विकास के साथ-साथ यह रतिज सीफिलिस में विकसित हुआ।

अफ्रीका आज भी अंतर्जानपदिक त्रेपोनेमाक्लेशों का सबसे तीव्र केंद्र बना हुआ है। हडसन का दावा है कि इन रोगों की मातृभूमि अफ्रीका ही है। इन जैसे 'अफ्रीकावादियों' के अनुसार यूरोप व एशिया के देशों में त्रेपोनेमाक्लेशों का प्रसार अराबिया से हो कर अफ्रीकावासियों के प्रव्रजन के

कारण हुआ है। सीफिलिस का प्रसार लड़ाइयों, धर्मयुद्धों, व्यापारिक संबंधों, काले गुलामों को पकड़ कर अमरीका और एशिया के देशों में बेचने, जेरूसलेम में इसाइयों और मक्का में मुसलमानों की तीर्थ-यात्रा के फलस्वरूप हुआ है। रतिज सीफिलिस उत्पन्न करने वाले त्रेपोनेमा पालीडुम और मुख्यतः अरतिज मार्ग से फैलने वाले उष्णकटिबंधीय (ट्रोपिक) त्रेपोनेमाक्लेशों के निमित्त-कारण त्रेपोनेमा-जीवाणुओं की रूपलोचनी एवं जीवलोचनी समानताओं पर ध्यान देना चाहिये। सीफिलिस तथा अन्य त्रेपोनेमाक्लेशों (फ्रांबेजिया, पिंता, बेजेल) के तल्पिक एवं गदरूपलोचनी चित्रों की समानता, इन सभी रोगों में सीरमलोचनी एवं स्थिरकारी परीक्षणों के धनात्मक परिणामों और इन सभी केसों में आर्सेनिक के प्रसाधनों से (पुराने समय में) और प्रतिजीवकों से (वर्तमान समय में) लाभ पर भी ध्यान देना चाहिये। इन समानताओं से यह संकेत मिलता है कि विकास की दृष्टि से ये सभी प्रकार के त्रेपोनेमा-जीवाणु प्रारंभ में एकसमान थे और उनमें भेद बहुत पुराने जमाने में ही जीवन-परिस्थितियों में अंतर के कारण शुरू हो गया था।

अंतिम, तीसरे सिद्धांत के अनुसार सीफिलिस यूरोप, एशिया और मध्य एशिया के देशों में संभवतः प्रागैतिहासिक काल से ही अस्तित्व में है। इस विचार को अनेक वैज्ञानिक मानते हैं (इन्हें 'यूरोपवादी' कहते हैं)। इस 'सिद्धांत के समर्थन में अनेक तथ्य हैं। प्राचीन काल के विद्वानों – हिपोक्रेटस, गेल्स, सेल्सस, सुश्रुत, डायोस्कोरीड, प्लूटार्ख, आर्खीजन और आवीसेना – ने अपनी कृतियों में अनेक रोगों (व्रणों, श्वेत व्रणों, कंडार्बुद तथा अन्य) का वर्णन किया है, जो सीफिलिसी रोगों के साथ बहुत सामंजस्य रखते हैं। उदाहरणार्थ, आवीसेना ने ऐसी क्षतियों का वर्णन किया है जो कठव्रण, कंडार्बूद, पिटकीय सीफिलिद और रालार्ब की याद दिलाते हैं। अस्थियों की ऐसी क्षतियों का वर्णन मिलता है, जो अस्थियों की सीफिलिसी क्षतियों की याद दिलाता है। इस बात के प्रमाण हैं कि सीफिलिस भारत में ज्ञात था और इसकी चिकित्सा पारद से की जाती थी (यह अमरीका की खोज से भी बहुत पहले, करीब दस शती ईसा-पूर्व की बात है)। सीफिलिस से बहुत मिलते-जुलते एक रोग का संकेत एक चीनी हस्तलिपि में मिलता है, जो 2600 ई. पू. का है। इसी तरह 808 ई. पू. की एक जापानी हस्तलिपि में भी इस रोग के ज्ञात होने के संकेत मिलते हैं।

मध्य एशिया में एक पुरालोचनी खुदाई के दौरान वोर्जोव को बर्त्तनों में ऐसे मिश्रण मिले, जिनमें प्रतिशत मात्रा पारे की थी। इसके आधार पर परिकल्पना की गयी कि पारद के प्रसाधन प्राचीन काल में सीफिलिस की चिकित्सा में प्रयुक्त होते थे। 'यूरोपवादियों' के पास उनकी परिकल्पना का एक बहुत मूल्यवान प्रमाण है: अस्थि-पंजर के ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनमें एक्सरे से सीफिलिसी परिवर्तन होने का पता चला है। वादकाल झील के पार पुरालोचनी खुदाई से सोवियत वैज्ञानिक रोक्लोन और रूबाशेवा ने एक अस्थि प्राप्त की जो कभी रालार्बिक पर्यस्थिशोथ से ग्रस्त रही थी। यह करीब 1500 वर्ष ई. पू. जीने वाले एक आदमी की बड़ी टंगास्थि (टीबिआ) थी। ब्रुसिलोव्स्की जिले में 1-ली शती ई. पू. के एक कब्रगाह की खुदाई में पुरालोचकों ने कई बड़ी हड्डियां प्राप्त कीं, जिनमें रालार्बिक अस्थिशोथ और पर्यस्थिशोथ से ग्रस्त होने के लक्षण थे, एक एक-अस्थि में बहुसंख्य सीफिलिसी विनाशकारी परिवर्तन पाये गये।

इस प्रकार, उपरोक्त सिद्धांतों के समर्थन में अनेक तथ्य ज्ञात होने पर भी उनमें से किसी को भी व्यापक मान्यता नहीं मिल पायी है। अधिक संभावना यही है कि सीफिलिस तभी से है, जब से पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव हुआ है। विभिन्न सिद्धांत महज ऐतिहासिक सूचनाओं को प्रतिबिंबित करते हैं।

शब्द 'सीफिलिस' के जन्मदाता इटली के डाक्टर, कवि और ज्योतिर्शास्त्री फ्राकास्टोरियस थे,

जिन्होंने वेरोना में सन 1530 ई. में सीफिलुस नामक एक चरवाहे के बारे में एक कविता लिखी, जिसे देवताओं ने उसकी धृष्टता के लिये जननेंद्रिय की एक बीमारी से दंडित किया था।

उस समय तक सीफिलिस को इटली, स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल या किसी अन्य देश के रोग के नाम से जाना जाता था। नाम 'सीफिलिस' किसी की भी राष्ट्रीय भावना को चोट नहीं पहुँचाता था, इसीलिये वह आज भी चला आ रहा है। (स्मरण करें कि हिंदी में इसी तरह इसका नाम 'फिरंग रोग' भी पड़ा है, जबकि 'गरमी', 'आतशक' आदि भी हैं। संस्कृत 'उपदंश' अपेक्षाकृत पुराना है। – अनु.)

सीफिलिस के इतिहास में कुछ ऐसे अंतराल थे, जिन्होंने उसके अध्ययन को काफी प्रभावित किया है। फ्राकास्टोरियस के समय और उनकी मृत्यु के बाद भी करीब तीन शतियों तक डाक्टरों, वैज्ञानिकों के बीच यही विवाद चलता रहा कि सीफिलिस एक स्वतंत्र रोग है या किसी व्यापक रोग की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है; इस व्यापक रोग में सीफिलिस, सुजाक और मृदुव्रण आ जाते हैं। प्रथम विचार के समर्थकों को 'द्वैतवादी' कहा गया और द्वितीय विचार के समर्थकों को 'ऐक्यवादी' कहा कहा गया। इस विवाद को समाप्त करने के लिये स्कौटलैंड के महान वैज्ञानिक हंटर ने 1767 में सुजाक के एक रोगी के पूय का एक बूंद अपने मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करा लिया। कुछ दिनों बाद एक स्राव होने लगा और कुछ सप्ताह बाद कठव्रण विकसित हो गया। आज हम समझ सकते हैं कि एक दुर्भाग्यपूर्ण गलती हो गयी थी: जिस रोगी का गदलोचनी द्रव्य लिया गया था, वह एक साथ सुजाक और सीफिलस दोनों से ग्रस्त था। उस समय (जब सुजाक, सीफिलिस और मृदुव्रण के निमित्त कारण ज्ञात नहीं हुए थे, सीरमलोचनी निदान की विधि अस्तित्व में नहीं आयी थी), एक विख्यात वैज्ञानिक द्वारा आत्मबलिदान के प्रयोग ने ऐसे परिणाम दिये कि ऐक्यवादियों की विजय हो गयी और इससे समस्या का सही समाधान और भी विलंबित हो गया।

सीफिलिस के लिये शब्द 'lues' को राबेलाइ (Rabelais) ने प्रयुक्त किया था लेकिन आयुर में इसका प्रयोग फर्नेल द्वारा 1554 में लिखी गयी पुस्तक में इसके प्रयोग के बाद ही शुरू हुआ।

सिर्फ 60-70 वर्ष बाद ही हंटर के प्रयोग की सही व्याख्या दी जा सकी। यह फ्रांसीसी डाक्टर रिकोर्ड (Record) की खोजों से संभव हुआ था, जिसने 1831 से 1837 के बीच 700 लोगों में सीफिलिस का पैठन कराया और 667 में सुजाक का। 'द्वैतवादियों' और 'ऐक्यवादियों' के बीच विवाद समाप्त हो गया। वैज्ञानिकगण रिकोर्ड के आँकड़ों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, पर उन्होंने उसकी अध्ययन-रीति की भर्त्सना अवश्य की।

हंटर के अतिरिक्त युवा फ्रांसीसी डाक्टर लिंडेमान (Lindeman) ने सिफिलोचन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण योगदान किया। 1851 में उन्होंने फ्रांसीसी अकादमी की एक विशेष समिति की देख-रेख में खुद को सीफिलिस से पैठित कराया (सीफिलिसी पिटक के स्राव को हाथ में एक चीरा लगे स्थल पर रख कर)। छात्र मेजेनोव ने पारद सबक्लोराइड के मलहम का निरोधक प्रभाव जाँचने के लिये खुद को सीफिलिस से पैठित किया था (यह मलहम इ. मेछनिकोव ने प्रस्तावित किया था)।

19-वीं शती के उत्तरार्ध और 20-वीं के पूर्वार्ध में रतिज रोगों का (जिसमें सीफिलिस भी शामिल है) तीव्रता के साथ अध्ययन हुआ, इन रोगों के निमित्त कारणों (जीवाणुओं) का पता चला। फुर्निये (Fournier) के कार्य उल्लेखनीय हैं; उन्होंने सीफिलिस के सभी चरणों और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों का पूर्ण तल्पिक चित्र तैयार किया जो आज भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। सोवियत वैज्ञानिक व्ला. ग्रात्सियांस्की, पी. शिर्यायेव और व्ला. फेदोरोव ने भी महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। ग्रात्सियांस्की ने 1875 में विश्व के आयुर-साहित्य में प्रथम बार प्रसवोपरांत परिवर्तनों का वर्णन किया

जो सीफिलिस से ग्रस्त मां के शिशु में होते हैं। शिर्यायेव (1881) और फेदोरोव (1903) ने इस समस्या का सविस्तार अध्ययन किया। 1903 में मेछनिकोव और फ्रांसीसी वैज्ञानिक रू (Roux) को दो चिंपैंजी बंदरों में सीफिलिस आधानित करने में सफलता मिली। 1904 में जाबोलोत्नी को बैबून में सीफिलिस आधानित करने में सफलता मिली। इन प्रयोगों से मनुष्य के साथ निकट संबंध रखने वाले जंतुओं पर प्रायोगिक सीफिलिस के अध्ययन की संभावना का उदय हुआ।

सुजाक और मृदुव्रण के निमित्त कारणों की खोज (क्रमशः 1879 और 1885-1887) के बाद ऐक्यवादी सिद्धांत का पूर्ण खंडन हो गया। सीफिलोलोचन की एक सबसे महत्त्वपूर्ण खोज मार्च 1905 में शाउडिन और होफमान (Schaudinn and Hoffmann) ने की, उन्होंने सीफिलिस के निमित्त कारण – त्रेपोनेमा – का पता लगाया और इसका नाम स्पीरोखेता पालीडुम (शब्दशः – विवर्ण सर्पिलकेश) रखा, क्योंकि सूक्ष्मदर्शन में सर्पिलाकार केश (लट) की तरह दिखने वाले ये जीवाणु किसी भी रंग से रंजित नहीं होते (विवर्ण)।

वास्सेरमान ने नाइजेर (Neisser) और ब्रूक (Brooke) के साथ मिल कर सीफिलिस के प्रति सीरमलोचनी प्रतिक्रिया की खोज की, जो एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है (1906 में)। इसका नाम वासेरमान की प्रतिक्रिया या परीक्षण रखा गया है। इससे अनेक अन्य विशिष्ट सीरमलोचनी प्रक्रियाओं की खोज में मार्ग-प्रदर्शन मिला। अमरीका के नेल्सन और मेयर (Nelson and Mayer) ने 1949 में सीफिलिस के लिये एक गुणात्मक रूप से नया परीक्षण प्रस्तावित किया – त्रेपोनेमा पालीडुम का स्थिरकरण-परीक्षण। इसका पहली बार कार्यान्वयन सोवियत संघ में सन 1959 में अ. गानामीशेव और गि. बेलेन्की ने किया। परीक्षण कहीं ज्यादा विशिष्ट निकला (सीफिलिस के लिये) बनिस्बत कि साधारण 'क्लासिकल' सीरमलोचनी परीक्षण। यह मिथ्या धनात्मक असीफिलिसी सीरमलोचनी प्रतिक्रिया की पहचान के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण निकला।

जहां तक सीफिलिस के विलंबित (परवर्ती) रूपों का संबंध है, तो प्रगामी सार्वदैहिक लकवा (परालय पैरालीसिस) का प्रथम वर्णन 1822 में बाईल (Bayle) ने किया, 1858-1859 में ड्यूशेन डे बूलोन (Duchenne de Boulogne) ने मेरुकृषता को एक स्वतंत्र रोगलोचनी रूप सिद्ध किया, 1913 में नोगूशी (Noguchi) ने अपूर्ण लकवा औलर मेरुकृषता के रोगियों के प्रमस्तिष्क-मृदूतक में त्रेपोनेमा पालीडुम की उपस्थिति ज्ञात की।

तंत्रतंत्र के सीफिलिस के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण प्रगति प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव के परीक्षण से हुई (सीफिलिस के विभिन्न रूपों से ग्रस्त रोगियों में)। द्रव लुंबर पंक्चर (स्पाइनल टैप) की सहायता से प्राप्त किया गया। क्विंक द्वारा प्रथम बार 1891 में प्रयुक्त इस अध्ययन-रीति का महत्त्व वासेरमान की प्रतिक्रिया और 1912 में लांगे के कोलोइडी परीक्षण के बाद से बहुत बढ़ गया।

सीफिलिस की चिकित्सा में दो अनमोल खोजें हैं, जिनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। जर्मन खोजकर्ता और चिकित्सक एर्लिख ने 1909 में आर्सफेनामीन और 1912 में नेओआर्सफेनामीन प्रस्तुत कर के सीफिलिस की चिकित्सा में एक नया युग आरंभ किया। यद्यपि अब सीफिलिस की चिकित्सा में पेन्टाटोमिक आर्सेनिक के जैव (कार्बनिक) यौगिकों का प्रयोग सर्वत्र रुक गया है, यह याद रखना चाहिये कि पारद और बिस्मथ के प्रसाधनों के साथ आर्सेनिक के उपयोग से सीफिलिस के विभिन्न रूपों की चिकित्सा चालीस से अधिक वर्ष तक सफलतापूर्वक होती रही। अमरीकी चिकित्सकों मैगोनी, कार्लिंग्ड और हैरिस द्वारा 1943 में पेनीसिलिन का उपयोग सीफिलिस की चिकित्सा में एक सिद्धान्ततः नयी रीति सिद्ध हुई (पेनीसिलिन की खोज अंग्रेज वैज्ञानिक फ्लेमिंग ने 1929 में की थी)। सोवियत संघ में पेनीसिलिन प्राप्त करने का श्रेय जेड. एर्मोलियेवा और टी. बाजेलीना को

है। पेनीसिलिनुम ग्लाउकुम का चिकित्सा में पहली बार उपयोग 1872 में पोलोत्नेव ने किया। वर्तमान समय में सीफिलिस के रोगियों की चिकित्सा में प्रथम स्थान प्रतिजीवकों को प्राप्त है। थेरापिक साधनों की सूची बहुत लंबी हो चुकी है। दीर्घकालीन क्रिया वाले पेनीसिलिन-प्रसाधनों (एक्मोनोवोसिलिन, बीसिलिन) की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है; सोवियत बीसिलिन पहली बार 1954 मे इ. इग्रोफे तथा फे. सुखोम्लीनोव (लेनिनग्राद) द्वारा और फिर 1955 में जो. येर्मोलियेवा तथा ए. नाजारेवा (मास्को) द्वारा संश्लिष्ट किया गया था।

सोवियत संघ में सीफिलोलोचन का विकास

रूस में सीफिलिस के प्रारंभिक इतिहास से संबंधित जो विरल सूचनाएं हैं, उनके आधार पर अक्सर यही निष्कर्ष निकाला जाता हैं कि यह रोग पश्चिमी यूरोप से आया था। रूस में सीफिलिस प्रकट होने के प्रथम लिखित संकेत 1490 के हैं। अधिकांश शोधकर्ता अक्सर सुविख्यात रूसी इतिहासकार नि. करामज़ीन को उद्धृत करते हैं, जिन्होंने 'रूसी राज्य का इतिहास' नामक पुस्तक के भाग VI में जार इवान तृतीय के शासन-काल के वर्णन में संकेत किया है कि किसी लिथुआनी इतिहासकार के अनुसार '1643 में एक औरत रोम से क्राकोव में फ्रांसीसी रोग ले आयी थी। यह भयानक रोग कई लोगों को हुआ, जिनमें कार्डिनल फ्रेडरिक भी थे....।' संभव है कि शायद इसीलिये इवान तृतीय ने लिथुआनिया में अपने राजदूत बयार शामोनोव को जो निर्देश दिये थे उनमें एक यह भी था कि लिथुआनिया की यात्रा के दौरान व्योत्स्का में रुकने वक्त यह जरूर ज्ञात करें कि 'कोई ऐसा व्यक्ति तो नहीं है, जिसे फ्रांसीसी नामक रोग हो और इस रोग को शायद विल्ना से ले आया हो।'

'रतिज प्लेग' रूस में जल्द ही फैल गया, क्योंकि यह पश्चिमी यूरोप के साथ व्यापार-संबंधों के तीव्र विकास का समय था। इंगलैंड की रानी एलीजाबेथ द्वारा अंग्रेज सौदागरों के लिये रूस के साथ व्यापार करने के विशेष अधिकारों की मांग करने पर जार फ्योदोर ने उन्हें जवाब दिया कि 'स्वतंत्र व्यापार के लिये रूस की सीमाएं जल और थल मार्गों से सभी देशों के लिये समान रूप से खुली हैं। हम सुल्तान और सीजर के व्यापारियों का भी स्वागत करते हैं और स्पेन, जर्मन, फ्रांस, लिथुआनिया, फारस, बुखारा, खीवा, शेमाखान आदि के भी, इसलिये हमारा काम अंग्रेजों के बिना भी चल सकता है और हम सिर्फ अंग्रेजों को खुश करने के लिये अन्य देशों को अपने यहां आने से रोक नहीं सकते। यही वह अवधि थी जब रूस में सीफिलिस एक राष्ट्रीय प्रकोप बना था।

रूस में सीफिलिस के अप्रत्यक्ष संकेत अत्तारी (औषध-विक्रय) से संबंधित आज्ञप्तियों में मिलते हैं, जो 1645 से 1674 में प्रकाशित हुए थे; ये उन विशेषज्ञों (हकीमों) के संदर्भ में थे जो सीफिलिस की चिकित्सा कुनैन का टिंचर और काढ़ा पिलाकर करते थे।

18-वीं शती के मध्य तक रूस में सीफिलिस के केसों का अनुपात खतरा उत्पन्न करने लगा; इसका अनुमान सिनेट द्वारा 20 मई 1763 को प्रसारित एक आज्ञप्ति से लगाया जा सकता है जिसके अनुसार 'फ्रांसीसीवेनेरिया' ग्रस्त औरतों को, जो वैश्या वृत्ति में संलग्न थीं, चिकित्सा के बाद नेर्चिंस्क नामक स्थान पर कालेपानी के रूप में भेज देना था। तरह के फैसले का आधार था सेंट पिटर्सबुर्ग सार्वजनिक अस्पताल का एक प्रतिवेदन, जिसमें लिखा था कि 'इस प्रतिष्ठान के 671 रोगियों में से दो-तिहाई लोग आवारा औरतों द्वारा फ्रांसीसी वेनेरिया से संक्रमित हैं...'।

सीफिलिस के बारे में प्रथम आयुरी पुस्तक रूस में करीब 1755 में निकली थी, जिसके बारे में कहा गया कि यह 'सार्वजनिक कल्याण के लिये तथा औरों को भी प्रोत्साहित करने के लिये'

व्ला. तार्नोव्स्की

थी। यह रूसी में वेनेचाव्स्की द्वारा प्रकाशित की गयी थी और इसका नाम था : 'विधियां और निर्देश, जो [illegible] रोग से आक्रांत किसानों तथा अन्य लोगों की जमींदारों द्वारा चिकित्सा करने और इस रो[illegible] बचने में सहायक होंगे'।

19-वीं शती का उत्तरार्ध ऐसी अवधि माना जा सकता है, जब रूस में वैज्ञानिक स्तर पर [illegible]बलोचन का विकास आरंभ हुआ। रतिज रोगों का प्रथम विभाग आयुरकरोर्जिक अकादमी [illegible] 1869 ई. में संगठित किया गया। प्रो. व्ला. तार्नोव्स्की इसके अध्यक्ष चुने गये, जो रूसी [illegible]फिलोलोचनी स्कूल के प्रणेता माने जाते हैं; वे एक कुशल शोधकर्त्ता, प्रतिभाशाली विद्वान और [illegible]विद थे। उन्होंने रतिज रोगों का निरोध अनुपम ढंग से संगठित किया, वे रतिज रोगों [illegible] रूसी में प्रथम पाठ्यपुस्तक के लेखक हैं, सीफिलिस और सुजाक पर उनकी अनेक कृतियां [illegible] मास्को चर्मलोचनी समाज की एक बैठक में अ. पोस्पेलोव ने कहा था कि सीफिलोलोचन का [illegible] भी अध्याय ऐसा नहीं है, जिसमें तार्नोव्स्की या उनके किसी शिष्य ने खोज न की हो। तार्नो-[illegible] ने 1897 में सीफिलिस पर नियंत्रण की युक्तियों को निर्धारित करने के लिये प्रथम कांग्रेस के [illegible] में योगदान दिया। कांग्रेस में सीफिलिस-प्रसार के (मुख्यतः ग्रामीण जनता के बीच) मार्गों [illegible] कारणों पर वार्त्ता हुई। इन वार्त्ताओं में इंगित किया गया कि ग्रामीण जनसंख्या के बीच इसकी [illegible] अधिक है और साथ ही वहां सीफिलिस के परवर्ती अपंगकारी रूपों के दुर्दम प्रवाह भी [illegible] देखने में आते हैं। 1885 में चार्मरतिजलोचकों का प्रथम वैज्ञानिक समाज सेंट पीटर्सबुर्ग [illegible] संगठित किया गया। तार्नोव्स्वी के बाद टी. पाव्लोव सैनिक आयुर अकादमी के चार्म-रतिज रोगों [illegible] विभाग के अध्यक्ष बने, सीफिलिस के सामान्य गदलोचन में उन्होंने ही खोजें जारी कीं।

[illegible]तिजलोचन के विकास में चर्मलोचन और रतिजलोचन के उन विभागों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान [illegible] जो कीएव (1865), मास्को (1869) तथा अन्य नगरों में संगठित किये गये। मास्को रति-

जलोचकों के स्कूल को अ. पोस्पेलोव ने जन्म दिया। अन्य सुविख्यात रूसी रतिजलोचन हैं: मि. स्तुकोवेन्कोव (कीएव), जिनके तल्पालय में पारद-प्रसाधनों से सीफिलिस की चिकित्सा की रीतियों का अध्ययन किया गया; इ. छ्लेनोव (खार्कोव), रूस में प्रथम चार्मरतिजलोचनी पत्रिका (1901) के संपादक, जिन्हों ने सीफिलिस की चिकित्सा में आर्सेनिक-प्रसाधनों के प्रभाव का अध्ययन किया; अ० गे (कजान), उन्होंने रतिज रोगों की एक पाठ्यपुस्तक लिखी (रूसी में); प्रो पेतेर्सेन (सेंट पिटर्सबुर्ग), जिन्होंने मृदुवण के निमित्त कारण (पेतेर्सेन-दुक्रे के स्त्रेप्तोबासिलों) की खोज की और सीफिलिद की बाह्य चिकित्सा में बिस्मथ-चूर्ण का उपयोग प्रस्तावित किया; मि० रोज़ेनब्लुम (ओडेसा), जिन्होंने नार्वसीफिलिस के रोगियों की चिकित्सा के लिये पहली बार ज्वरचिकित्सा (पाइरेटोथेरापी) का उपयोग किया; द्मी. जाबोलोत्नी, मि. छ्लेनोव और प्यो. ग्रिगोरियेव, जिन्होंने प्रायोगिक सीफिलिस के क्षेत्र में कार्य किया। लेकिन रतिज रोगों की रोकथाम पर सुनियोजित एवं सुसमन्वयित रूप से कार्य महान अक्टूबर क्रांति के बाद ही आरंभ हो सका। यह कार्य केंद्रिय चार्मरतिज रोग संस्थान के तहत विभिन्न तत्संबंधित स्थानीय संस्थान, आयुर शिक्षा संस्थान तथा उनके तदनुरूप विभाग इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। इनके अतिरिक्त, चर्मलोचनी एवं रतिजलोचनी तल्पालयों में (रिपब्लिकों, नगरों, गावों आदि में) कार्यरत आयुरकर्मी तथा डाक्टर आदि भी योगदान कर रहे हैं।

सीफिलिस का [illegible]

3 मार्च 1905 को सीफिलिस के निमित्त-कारण – त्रेपोनेमा [illegible] पर्याय स्पीरोखेता पालीडुम) – की खोज हुई थी। यह स्प्रिंग की तरह सर्पिल [illegible] दिखता है (प्रकाशिकीय सूक्ष्मदर्शी में; चित्र 32)। इसमें औसतन 8 से 14 समरूप [illegible] हैं, प्रत्येक की लंबाई

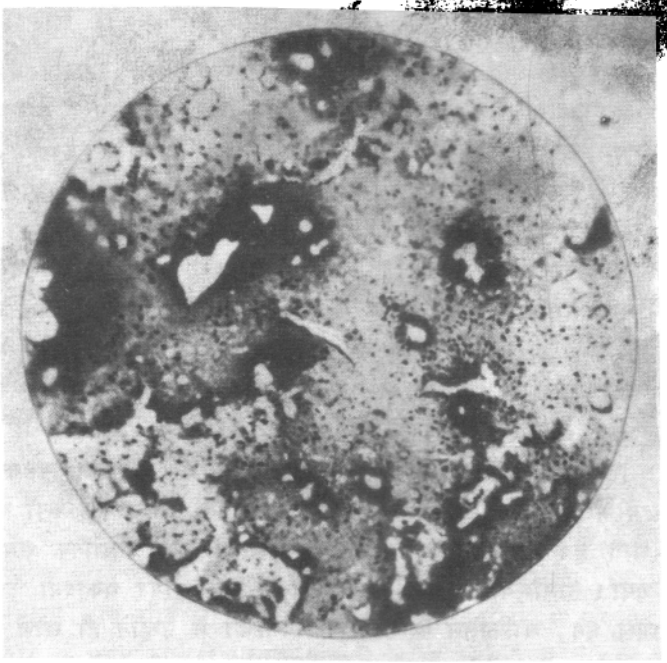

चित्र 32. अंधेरी पृष्ठभूमि पर प्रकाशित त्रेपोनेमा पालीडुम

करीब 1 मिक्रोमीटर होती है। पूरे त्रेपोनेमा की लंबाई इसी से निर्धारित हो जाती है—करीब 7 से 9 मिक्रोमीटर। मुटाई 0.2 से 0.5 मिक्रोमीटर होती है। त्रे. पालीडुम बहुत बड़ी विविधता द्वारा लक्षित होते हैं। इसकी गति के भी कई प्रकार हैं: आगे और पीछे (कभी-कभी यह धक्के से प्राप्त झूले की गति लगती है); दोलन जैसी गति, मुड़ना, सिकुड़ना (तरंग की तरह, स्पाज्मोडिक) और अपने अक्ष के गिर्द (घूर्णन)। त्रे. पालीडुम की गति में विशेष सरलता होती है (बिना झटकों की गति), बनिस्बत कि अन्य कुणपतृण स्पीरोखेताओं (स्पीरोखेता डेंटिउम, बुक्कालिस, रफिजेन्स, बालांटीडिस) में, जिनकी रूपलोचनी विशेषताएं अधिक रुक्ष हैं, उनकी गति में समरूपता नहीं होती, उनकी सर्पिल लपेटनें एक समान नहीं होतीं।

शरीर से बाहर, बाह्य वातावरण में त्रे. पालीडुम बहुत शीघ्र मृत हो जाता है। इसकी मृत्यु शुष्कता से होती है। 60°C तक गर्म करने पर यह 15 मिनट में मर जाता है। विभिन्न निष्पैदक साधन भी इतना ही शीघ्र प्रभाव डालते हैं (जैसे फेनोल का 15 प्रतिशत सांद्र घोल, 96 प्रतिशत सांद्र एथिल अल्कोहल, पोटाश युक्त साबुन, विभिन्न अम्लों के 0.3-0.5 प्रतिशत सांद्र घोल, आदि)। त्रे. पालीडुम निम्न तापक्रमों के प्रति अधिक प्रतिरोधिता रखता है। उदाहरणार्थ, —78°C पर एक साल तक रखने के बाद भी वह गदजनक बना रहता है। आर्द्र स्राव में त्रेपोनेमा 12 घंटे से भी अधिक समय तक 48 घंटे के अंदर पैठित हो जाते हैं।

एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शक त्रे. पालीडुम को 25000 से 30000 गुना अधिक बड़ा दिखता है, जिससे ओब्ह्लीन्कोव और देलेक्तोर्स्की उसकी संरचना का सविस्तार अध्ययन कर सके (चित्र 33)। ज्ञात हुआ कि उस पर तीन परतों का अस्तर होता है। परतों की संरचना और क्रिया भिन्न होती है। परतों के नीचे रेशिकाएं पायी जाती हैं, फिर सीतोप्लाज्मिक झिल्ली होती है, जिससे सीतोप्लाज्म बना होता है। रेशिकाएं ऐसे सूक्ष्म धागे हैं, जिनकी सहायता से त्रेपोनेमा गति करता है और अपने दूरस्थ हिस्सों के पलकांकुरों के साथ जोड़े रखता है। माना जाता है कि पलकांकुर सिर्फ रेशिकाओं के जुड़ने की ही जगह नहीं हैं, वे गति-प्रेरक केंद्र का भी काम करते हैं। बाहरी अस्तर की तरह सीतोप्लाज्मिक झिल्ली भी तीन अस्तरों से बनी होती है। सीतोप्लाज्म की संरचना में रीबोसोम (विभिन्न आकारों के कण, जो प्रोटीन-अणु के संश्लेषण के लिये उत्तरदायी होते हैं), नाभिकीय रसधानी और मेजोसोम (मध्यकाय) स्पष्टता से विभेदित हो जाते हैं। मेजोसोम एक महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक इकाइयां हैं, जो जटिल कार्य संपन्न करती हैं। वे सीतोप्लाज्मिक झिल्ली से उत्पन्न होते हैं और शरीर की कोशिकाओं में मिलने वाले सूत्रलवों का सदृशरूप हैं; ये उनमें उपस्थित इनज़ाइमों की सहायता से श्वसन का, द्रव्य-विनिमय का तथा अन्य कार्य संपन्न करते हैं। मेजोसोम सीतोप्लाज्मिक झिल्ली के साथ मिलकर त्रेपोनेमा के बहुगुणन (प्रजनन) और स्पोरकरण में भाग लेते हैं।

त्रेपोनेमा अनुप्रस्थ विभाजन द्वारा बहुगुणित होते हैं। इस मुख्य प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विभाजन और यौन प्रक्रिया भी संभव है (ओब्ह्लीन्कोव)। जीवन की अननुकूल परिस्थितियों में (प्रतिजीवकों के प्रभाव में, भोजन न मिलने पर, आदि) त्रेपोनेमा अपना 'जीवंत रूप' (वस्तिनुमा और L-रूप) ग्रहण कर ले सकते हैं। जब त्रेपोनेमा कुंडली के रूप में सिमट जाता है, तब वस्ति (झोरी) जैसी आकृति बन जाती है और उस पर सामान्य मूसिन (म्यूसिन) का कैप्सूल बन जाता है, जो दवाओं के लिये अभेद्य होता है (यह सारी प्रक्रिया एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शी की सहायता से अध्ययन की गयी है)। वस्ति के रूप में त्रेपोनेमा शरीर में लंबे समय तक जीवित रह सकता है, लेकिन स्पष्ट है कि वह कोई गदजनक कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह शरीर की

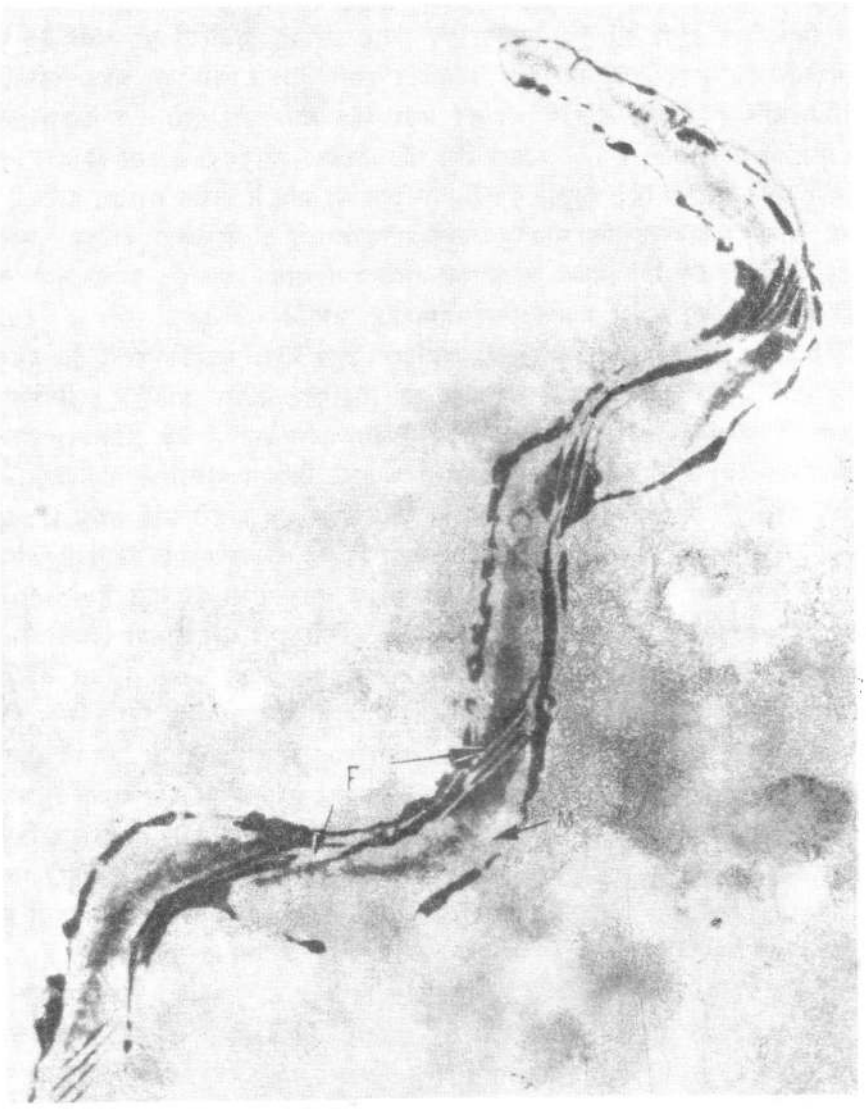

चित्र 33. एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शी में त्रेपोनेमा पालीडुम
C – अस्तर, F – रेशिकाएं, S – स्पोर जैसी संरचना

ओर से भी उसके विरुद्ध कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। कह सकते हैं कि सूक्ष्म और स्थूल जीवों के बीच एक अस्थायी संतुलन स्थापित हो जाता है। यदि शरीर की रक्षात्मक शक्तियां क्षीण पड़ जाती हैं, और जीवाणुओं पर से प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव दूर हो जाता है, तो वस्ति से पुनः गदजनक त्रेपोनेमा में (विपरीत दिशा में) परिणति हो जाती है। इसीलिये वस्ति कोई अवजनित रूप नहीं होती, यह स्थायी बचाव का रूप है (ओच्छिन्नीकोव)। इसीलिये सीफिलिस के रोगी को (विशेषकर चिकित्सा के प्रथम दौर में) प्रतिजीवकों की पर्याप्त उच्च खुराक देनी चाहिये, क्योंकि रक्त में उनकी (प्रतिजीवकों की) अल्पसांद्रता के कारण त्रेपोनेमा विचाराधीन दवा के प्रति संवे-

दिता के कारण वस्ति-रूप या L-रूप (समकोण रूप) ग्रहण कर लेते हैं, अतः रोग कुछ समय बाद पुनरावर्तित हो सकता है।

ओव्छिन्नीकोव और देलेक्तोर्स्की के प्रायोगिक अध्ययन से प्राप्त परिणाम अन्य वैज्ञानिकों के शोध-कार्यों का विरोध नहीं करते, जो यह मानते हैं कि सीफिलिस लंबे समय तक अलाक्षणिक प्रवाह ग्रहण किये रह सकता है (यदि त्रे. पालीडुम शरीर में समकोण-रूप या वस्ति-रूप में हैं) और रोग संयोगवश अव्यक्त चरण में अनुवेदित हो सकता है (सेरोधनात्मक अव्यक्त सीफिलिस, अज्ञात ल्यूज), अर्थात् जिस अवधि में त्रेपोनेमा आदमी के शरीर में वस्ति-रूप में रहता है और शायद प्रतिकायिक गुण ग्रहण कर लेता है, जिससे प्रतिकायों की उत्पत्ति को संप्रेरित करने लगता है। इस बात की पुष्टि ऐसे रोगियों के रक्त में सीफिलिस के लिये सीरमलोचनी परीक्षण के धनात्मक परिणाम से होती है, जिनमें रोग की कोई तल्पिक अभिव्यक्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त, कुछ रोगियों में अन्तर्सीफिलिस और आंतर अंगों का सीफिलिस भी ज्ञात हुए हैं; ये रोग मानो सक्रिय रूपों को 'बचा कर' विकसित होते हैं (इस विषय पर सविस्तार देखें सीफिलिस के सामान्य प्रवाह के अनुच्छेद में)।

त्रे. पालीडुम का कल्चर प्राप्त करने के लिये जटिल परिस्थितियों (विशेष पोषणकारी माध्यम, निर्वात परिस्थितियां आदि) की आवश्यकता होती है। साथ ही, त्रेपोनेमा के कृत्रिम रूप से पनपाये गये समुदाय में त्रे. (कल्चर्ड त्रेपोनेमा) जल्द ही अपना रूपलोचनी और गदजनक गुण खो देते हैं। त्रे. पालीडुम के उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त उसके कणीय और अदृश्य अंतर्स्यंदी रूप के अस्तित्व की भी कल्पना की गयी थी।

त्रेपोनेमा पालीडुम की प्रयोगशालाई पहचान

सीफिलिस की सक्रिय क्षतियों का परीक्षण सीफिलिस के प्रारंभिक रूपों (प्राथमिक और द्वितीयक रूपों) के निदान की पुष्टि हेतु उनमें त्रे. पालीडुम की उपस्थिति जानने के लिये की जाती है; ये जीवाणु मुख्यतः प्राथमिक सीफिलार्ब, अपरदित पिटकों और विस्तृत कंडार्बों में होते हैं। अभिरंजन-रीतियों का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह गया है, क्योंकि ये जीवाणु अनीलीन रंजकों से बहुत हल्का रंजित होते हैं (इसीलिये इनका नाम 'पालीडुम', अर्थात् 'विवर्ण' पड़ा है)। फिर भी इन त्रेपोनेमाओं में एक महत्त्वपूर्ण विभेदक गुण है, जिसके आधार पर इन्हें अन्य सामान्य स्पीरोखेतों से इन्रित (अलग, विभेदित) किया जा सकता है: अभिरंजन के बाद ये अपनी वैविध्यपूर्ण गतिशीलता खो देते हैं। त्रे. पालीडुम का परीक्षण सभी प्रयोगशालाओं में जीवित अवस्था में किया जाता है। इन्हें साधारण सूक्ष्मदर्शक द्वारा अंधेरी पृष्ठभूमि में प्रकाशित कर के देखा जाता है; इसके लिये परवलयज संघनक (पैराबोलोइड कंडेंसर) अथवा एक काले मोटे (फोटोग्राफिक) कागज की चकती (आर्खांगेल्स्की की विधि) का उपयोग किया जाता है।

परवलयज कंडेंसर के उपयोग और एक लैंप द्वारा पार्श्व से प्रकाश डालने पर अधिकेंद्र से ली गयी सीरमी रिसाव की बूंद में अंधेरी पृष्ठभूमि पर तरह-तरह के चमकदार कठोर कण (लसकोशिकाएं, उपकलीय कोशिकाएं, नन्ही कोशिकाएं और त्रे. पालीडुम) दिखाई देते हैं।

चर्म या श्लेष्मल झिल्लियों पर पाये जाने वाले अपरदनों, व्रणों, अपरदित पिटकों की सतह को सोडियम क्लोराइड के तुल्यतानी घोल से गीले गजी या रुई के टैंपन से पोंछते हैं। यह क्रिया कई बार दुहराई जाती है क्योंकि त्रेपोनेमा की पहचान में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रक्रिया द्वारा अधिकेंद्र की सतह से शल्क, पूय और रक्तिल खट्टियों को ही नहीं, वरन् कुणपतृण स्पीरोखेतों को

भी दूर किया जाता है, जो सतह पर ही होते हैं। इनके विपरीत, त्रे. पालीडुम अंतरूतकीय परजीवी है। इसके बाद परीक्षणाधीन सतह को प्लैटीनम के लूप या स्पैचुला से हल्के-हल्के सावधानी के साथ ठोका जाता है, जबतक कि सीरमी द्रव न निकल आये। इस द्रव का एक बूंद काँच के स्लाइड पर रख कर त्रे. पालीडुम का परीक्षण किया जाता है। ऋणात्मक (नकारात्मक) परिणाम मिलने पर परीक्षण को कई बार दुहराया जाता है। परीक्षण दुहराने से पहले सोडियम क्लोराइड के तुल्यतानी घोल में गीला परिधान क्षति की सतह पर 24 घंटे के लिये लगाया जाता है, ताकि वह अच्छी तरह साफ की जा सके। त्रे. पालीडुम के नकारात्मक परीक्षण से सीफिलिस होने की संभावना दूर नहीं हो जाती, क्योंकि ऐसा भी संभव है, कि रोगी ने विभिन्न मलहमों तथा निष्पैठक घोलों से खुद अपनी चिकित्सा का प्रयत्न किया हो।

ऐसे केसों में रोग का निदान निम्न पर आधारित किया जाता है: क्षेत्रीय लसपर्व से प्राप्त द्रव का परीक्षण, तल्पिक चित्र, सीफिलिस के लिये खून की जाँच, मैथुन में संगी की जाँच के परिणाम, आदि।

सीफिलिस के पैठन की परिस्थितियां और मार्ग

त्रे. पालीडुम मानव-शरीर में क्षत चर्म या श्लेष्मल झिल्ली के मार्ग से प्रवेश करता है। पैठन-मार्ग इतना नगण्य छोटा हो सकता है कि उस पर परीक्षक का ध्यान ही न जाये। सीफिलिस का रोग छुतहा होता है, विशेषकर रोग की सक्रिय अभिव्यक्ति की अवधि में, जब ऊतकों की गहराई मे स्रावित सीरम के साथ त्रेपोनेमा बह कर बाहर क्षति की सतह पर निकलते रहते हैं; ये क्षतियां घर्षण से (चलने या मैथुन के समय), यांत्रिक या स्नायनिक क्षोभ से उत्पन्न हो सकती हैं; त्रेपोनेमा खाद्य पदार्थ में भी फैल जाते हैं (जब सीफिलिसी पिटक मुख-कोटर में उत्पन्न होते हैं)।

स्वस्थ आदमी का सीफिलिस से ग्रस्त रोगी के साथ यौन संपर्क अब पैठन का मुख्य मार्ग के रूप में जाना जाता है। वस्तुओं (साथ खाना खाने की वस्तुओं, सिगरेट, चुरूट आदि) के माध्यम से पैठन अब विरल हो गया है, जिसका कारण है लोगों के जीवन की सफाई एवं हाइजीनिक परिस्थितियों में सुधार और स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रसार। क्रांतिपूर्व रूस में (विशेषकर गाँवों में) वस्तुओं के माध्यम से पैठन की प्रायिकता अधिक थी। पैठन चुंबन से भी हो सकता है, यदि रोगी के मुँह में अपरदित सीफिलिसी क्षतियां होती हैं। ऐसे केस बहुत ही विरल हैं, जिनमें सीफिलिसी क्षतियों के स्राव में पाये जाने वाले त्रेपोनेमों से दैनंदिन उपयोग की वस्तुएं संदूषित हो जाती हैं, फिर उनसे स्वस्थ व्यक्तियों में पैठन हो जाता है। आर्द्र माध्यम में त्रेपोनेमा शरीर से बाहर भी लंबे समय तक जीवित रह सकते हैं। डाक्टर तथा अन्य आयुर-कर्मी सीफिलिस के रोगी का परीक्षण करते वक्त या कोई उपचार कार्य करते वक्त सीफिलिस से पैठित हो जा सकते हैं। इस तरह की घटनाएं नर्सों, करोर्जकों, यूनलोचकों, प्रसूतकों, मुखलोचकों और कभी-कभी रतिजलोचकों तथा त्रे. पालीडुम से युक्त द्रव्य की जाँच करने वाले प्रयोगशाला-कर्मियों के साथ हो जाया करती हैं। ऐसे पैठनों से बचा जा सकता है, यदि बहुत सावधानी बरती जाये कि हाथ का चर्म क्षत न हो, और रोगी के परीक्षण के बाद हाथों को पारद क्लोराइड के 1 : 1000 सांद्र घोल से पोंछ कर साबुन से अच्छी तरह धो लिया जाये (विशेषकर छुतहे चरण पर सीफिलिस के रोगियों का परीक्षण करने के बाद)।

सीफिलिस से ग्रस्त डोनर के रक्त से स्वस्थ व्यक्ति के पैठित होने की घटना बहुत ही विरल है। यह माना जाता है कि रोगी का थूक तभी छुतहा होता है, जब मुंह में सीफिलिसी क्षतियां होती हैं। सीफिलिस से ग्रस्त मां का दूध उस हालत में भी छुतहा माना जाता है, जब स्तन या चुचुक के क्षेत्र में सीफिलिसी क्षतियां अनुपस्थित होती हैं।

इसी तरह सक्रिय सीफिलिस के रोगी के वीर्य को भी छुतहा माना जाता है, यद्यपि उसके जननेंद्रियों पर रोग की अभिव्यक्ति नहीं भी हो सकती है। लेकिन रोगी का स्वेद और मूत्र छुतहा नहीं माने गये हैं।

यह स्थापित किया गया है कि किसी प्रयोगाधीन जंतु में सीफिलिस का पैठन कराने में आधानित जीवाणु की मात्रा महत्त्वपूर्ण होती है। माना जा सकता है कि आदमी के लिये भी यही बात है। इसीलिये सीफिलिस के सक्रिय रूप से पीड़ित रोगी के साथ कई बार मैथुन करने वाले व्यक्ति में सीफिलिस होने की संभाव्यता अधिक होती है, बनिस्बत कि एक बार या अत्यल्पकालीन यौन संपर्क रखने वाले व्यक्ति में। साथ ही, सीफिलिस से पैठित होने का कोई निकष (क्राइटेरिया) न होने के कारण रतिजलोचकों को उन सभी लोगों की निरोधक चिकित्सा करनी पड़ती है, जो सीफिलिस के रोगी के साथ यौन संपर्क स्थापित कर चुके हैं, या उसके साथ अन्य प्रकार के निकट संबंध रखते हैं (विशेषकर बच्चों का)।

प्रायोगिक सीफिलिस

सीफिलिस के हेतुलोचन, गदजनन, उपचार आदि का अध्ययन करने के लिये विभिन्न जंतुओं में आधान द्वारा इसके पैठन के प्रायोगिक प्रतिरूप प्राप्त करने के प्रयत्न पिछली शती से ही चल रहे हैं। प्रथम प्रयोग, जिसे सबों से मान्यता प्राप्त हुई, 1903 में मेछनिकोव और रू ने संपन्न किये। ये वैज्ञानिक दो चिंपैंजी बंदरों में रोग पैठित कराने में ही नहीं, वरन् उनमें सीफिलिस के द्वितीयक चरण की अभिव्यक्तियों के विकास को देखने में भी सफल हुए (ये अभिव्यक्तियां पेट तथा पैरों पर पिटकों के रूप में थीं)। बाद में प्रयोगिक सीफिलिस के क्षेत्र में कार्यरत जाबोलोत्नी ने 1904 में) और मेछनिकोव ने (1905 में) बैबून और मकाकस नामक बंदरों में (अर्थात् विकास की सीढ़ी पर निम्नस्थ बंदरों में) पैठन कराने में सफल हुए। रोग की अभिव्यक्तियां इन बंदरों में कम स्पष्ट निकलीं, बनिस्बत कि आदमी से मिलते-जुलते बंदरों में।

बंदरों में सीफिलिस पैठित कराने की संभावना अंतिम रूप से तब सिद्ध हुई जब त्रे. पालीडुम प्राप्त हुए और सीफिलिस के सीरमलोचनी निदान की खोज हुई। इसके फलस्वरूप सीफिलोलोचन की विभिन्न समस्याओं से संबंधित महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुईं (जैसे आंतर अंगों का छुतहापन, त्रे. का चपेट में आना, मर्क्यूरस क्लोराइड से युक्त मलहमों का निरोधक महत्त्व, सीफिलिस में सक्रिय इमूनीकरण)।

अध्ययन में प्रायोगिक सीफिलिस का विस्तृत उपयोग तब शुरू हुआ, जब खरगोशों में सीफिलिस पैठन कराने की विधि ज्ञात की गयी। इसकी संभावना 1906 में बेर्टारेली (Bartarelli) ने व्यक्त की; इन्होंने छुतहा द्रव्य खरगोशों की आँख के बाह्य कक्ष तथा शृंगिका में प्रविष्ट करा के त्रे. जंतुओं को पैठित किया था। पारोडी (Parodi) ने खरगोशों के वृषण में छुतहा द्रव्य का सूई द्वारा उनमें प्राथमिक सीफिलार्ब और क्षेत्रीय लसग्रंथिशोथ उत्पन्न किया। आजकल सीफिलिसी पैठन के प्रायोगिक अध्ययन और एंटीसीफिलिसी दवाओं की जाँच में मुख्यतः खरगोशों का ही

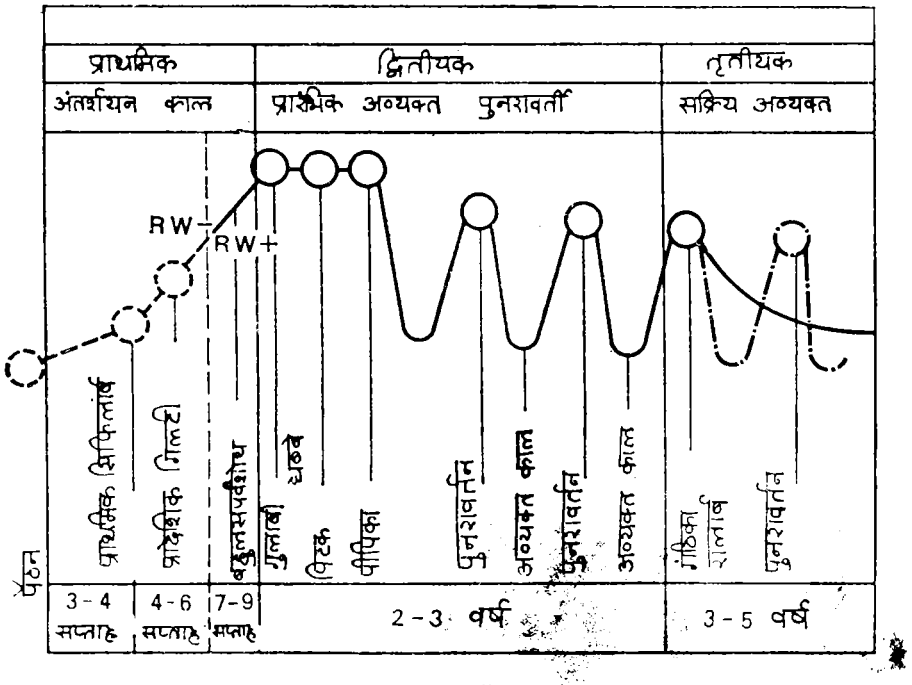

चित्र 34. सीफिलिस के प्रवाह का आरेख

उपयोग होता है। यद्यपि वे सीफिलिस के गदजनन और उपचार की समस्याओं को स्पष्ट करने में बहुत उपयोगी हैं, खरगोशों पर प्रयोग के परिणामों को आदमी पर बहुत सावधानी के साथ लागू करना चाहिये।

सीफिलिस का सामान्य प्रवाह

ट्रे. पालीडुम के प्रवेश और प्रजनन के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया नियमतः ऐसी होती है कि कभी तो रोग की सक्रिय तल्पिक अभिव्यक्ति की अवधि आती है, तो कभी चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों पर किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं दिखती है (अव्यक्त अवधियां)। लक्षणों की स्पष्टता और आक्रांति की तीव्रता समय के साथ-साथ बढ़ती जाती है; इस बीच उनका तल्पिक ही नहीं, वरन् गदो-अनाटोमिक सार भी बदलता जाता है, जो शरीर की इमूनलोचनी प्रतिक्रिया से संबंधित होता है। फ्रांसीसी सीफिलोलोचक रिकोर्ड ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि सीफिलिस के 'क्लासिकल' प्रवाह में अवधियां एक नियमितता के साथ बदलती हैं। इनके अनुसार सीफिलिस के अंतर्शयन-काल और प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक चरणों में भेद किया जाता है (चित्र 34)।

अंतर्शयन-काल पैठन और प्राथमिक सीफिलार्ब (कठव्रण) के विरचन के बीच का समय है, जो औसतन 4 से 5 सप्ताह लंबा होता है। प्राथमिक सीफिलिस 6 से 8 सप्ताह तक रहता है—प्राथमिक सफिलार्ब की उत्पत्ति के क्षण से लेकर चर्म व श्लेष्मल झिल्लियों पर ऐसी क्षतियों के बनने तक, जो सीफिलिस के द्वितीयक चरण के लिये लंछक होती हैं। यदि कोई चिकित्सा न की

जाये, तो द्वितीयक चरण कठव्रण की उत्पत्ति के 6 से 8 सप्ताह बाद शुरू हो जाता है। सीफिलिस के निदान में सीरमलोचनी परीक्षण का महत्त्व ऊपर बताया जा चुका है। वासेरमान की प्रतिक्रिया और सीरमलोचनी प्रेसीपीटिन की प्रतिक्रिया कठव्रण प्रकट होने के बाद प्रथम दो या तीन सप्ताह तक ऋणात्मक रहती हैं (नकारात्मक परिणाम; प्राथमिक, सेरो-ऋणात्मक सीफिलिस)। शुरू में सीफिलिस के लिये रक्त की सीरमलोचनी जाँच बहुत क्षीण परिणाम देती है। धीरे-धीरे उनकी विमाप इस हद तक बढ़ जाती है कि प्राथमिक चरण का अंत और द्वितीयक का आरंभ होते-होते लगभग 100 प्रतिशत केसों में तीव्र धनात्मक परिणाम (4+) मिलते हैं।

प्राथमिक सिफिलार्ब के अतिरिक्त, पैठन के प्रवेश-स्थल के निकटतम क्षेत्रों में लसपर्वों का वर्धन भी सीफिलिस की सक्रिय अवधि का एक विशिष्ट लक्षण है। क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ (अक्सर जंघामूलीय व जांघ के क्षेत्र में और कभी-कभी अवचिबुक क्षेत्र में) अक्सर प्राथमिक सिफिलार्ब बनने के एक सप्ताह बाद विकसित होता है। पैठन के सार्वदेहीकरण और शरीर की तदनुरूप इमूनलोचनी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विभिन्न लसपर्व प्राथमिक चरण के अंत में वर्धित हो जाते हैं (बहुलसग्रंथिशोथ) और सार्वदैहिक लक्षण (तापक्रमी प्रतिक्रिया, सरदर्द, पेशियों और संधियों में दर्द, कमजोरी, अस्वस्थता, शीघ्र थकान) उत्पन्न होने लगते हैं। सीफिलिसी पैठन के सार्वदेहीकरण की अवधि में ये सामान्य (सार्वदैहिक) लक्षण अक्सर इंफ्लुएंजा के लक्षण मान लिये जाते हैं और गुलाबी धब्बों या पिटकों समेत द्वितीयक चरण को गलती से खसरा, शोण-ज्वर, ललकनिया और ज्वर [illegible] कि चर्मगरलता, आंत्रगरलता जनित ज्वर या टाइफस भी मान लेते हैं।

सीफिलिस की प्राथमिक सक्रिय अवधि के बाद अव्यक्त अवधि (अव्यक्त सीफिलिस) शुरू हो सकती है, यद्यपि अक्सर रोग सीधे द्वितीयक चरण में भी प्रवेश कर जा सकता है। द्वितीयक चरण (द्वितीयक सीफिलिस) में चर्म एवं श्लेष्मल झिल्लियों पर विसरित एवं सार्वदैहिक स्फोट निकल आते हैं, जो अक्सर गुलाबी धब्बों (गुलाबिकाओं) तथा पिटकों के रूप में होते हैं; पीपिकीय अवस्थाएं अपेक्षाकृत बहुत कम होती हैं। द्वितीयक सीफिलिस, जिसमें चर्म व श्लेष्मल झिल्लियों पर स्फोट पहली बार प्रकट होते हैं, द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस (या अवधि) कहलाता है। करीब दो-तीन महीनों में स्फोट बिना किसी चिकित्सा के खुद ब खुद गायब हो जाते हैं और रोग द्वितीयक अव्यक्त अवधि में प्रविष्ट होता है (द्वितीयक अव्यक्त सीफिलिस)। द्वितीयक सीफिलिस में स्फोटों का पुनरावर्तन द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस कहलाता है।

द्वितीयक सीफिलिस में अव्यक्त अवधि की लंबाई जटिल इमूनोजीवलोचनी प्रक्रियाओं और स्पाइरोजीव (आदमी) और वे. पालेडुम की बीच संबंधों पर निर्भर करती है। यह कई महीनों तक चल सकता है, या द्वितीयक सीफिलिस के तृतीयक में परिणत होने तक भी बना रह सकता है। चिकित्सा न करने पर सीफिलिस की द्वितीयक अवधि औसतन दो या तीन वर्ष तक और कभी-कभी पाँच वर्ष तक बनी रह सकती है। एंटी-सीफिलिसी चिकित्सा न करने पर इस अवधि में स्फोटों का पुनरावर्तन होता रह सकता है (द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस)। इस तरह के तीन, चार या अधिक पुनरावर्ती सीफिलिस की क्षतियां (अक्सर गुलाबी धब्बे और पिटक) द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस से निम्न बातों में भिन्न होती हैं: कम संख्या, बड़ा आकार, अपेक्षाकृत हल्का रंग, ग्रुपों में उत्पन्न होने की प्रवृत्ति (ग्रुप मेहाराब, माला आदि की आकृतियों में होते हैं), उत्पत्ति-स्थल (अक्सर तीव्र क्षोभ वाले स्थलों पर, जैसे—पृष्ठद्वार और जननेंद्रियों के क्षेत्र, मुख-श्लेष्मला)। अन्य विभेदक लक्षण भी हैं, जिनका वर्णन पाठ्यपुस्तक के तदनुरूप प्रकरणों में किया गया है।

सीफिलिस की तृतीयक अवधि (या चरण) अक्सर पैठन के बाद तीन से पाँच वर्ष से पूर्व नहीं शुरू होती। कोई चिकित्सा न करने पर भी रोग अनेक वर्षों तक अव्यक्त बना रह सकता है और बहुत लंबे समय (कभी-कभी दसियों वर्ष) के बाद गंठिक्लेशिक या रालार्बिक क्षतियों के रूप में व्यक्त होता है। ये चर्म तथा श्लेष्मल झिल्लियों पर ही नहीं, वरन् आंतर अंगों, नर्वतंत्र, अस्थियों तथा संधियों में भी उत्पन्न होती हैं। नर्वतंत्र और आंतर अंगों की सीफिलिसी आक्रांति कुछ रोगियों में तृतीयक सक्रिय स्फोटों की अनुपस्थिति में भी संभव है। फिर भी ऐसे केस ज्ञात हैं, जिनमें एंटीसीफिलिसी चिकित्सा न करने पर भी तृतीयक सीफिलिस की अभिव्यक्तियों या आंतर अंगों व नर्वतंत्र की आक्रांति के तल्पिक लक्षण अनुवेदित नहीं हुए।

सीफिलिक पैठन के तल्पिक प्रवाह की विविधता (पुनारावर्तनों के बीच के अंतराल, सक्रिय सीफिलिस की विभिन्न अवधियों में रूपलोचनी क्षतियों की प्रकृति, तृतीयक सीफिलिस के शुरू होने का समय और उसकी प्रकृति, तथा अनेक अन्य बातें) शरीर की इमूनलोचनी अवस्था, कोशिकीय प्रतिकारिता की अवस्था, शरीर और जीवाणुओं के व्यतिसंबंध पर ही नहीं, अपितु बाह्य एवं आंतर (आंतरिक) घटकों पर भी निर्भर करती है। इनमें निम्न की गणना होती है: रोगी की उम्र, कार्य और जीवन की परिस्थितियां, विभिन्न रोग (विशेषकर तीव्र और चिरकालिक पैठन), गरलक्लेश (विशेषकर अल्कोहलिज्म), और विभिन्न प्रकार की चोटें (मानसिक, शारीरिक), जो सीफिलिसी पैठन को तीव्र करने की क्षमता रखते हैं।

रतिजलोचकों को ऐसे केस भी मिल सकते हैं, जिनमें त्रेपोनेमा सीधे रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। यह अक्सर सीफिलिस से ग्रस्त डोनर का रक्त अन्य व्यक्ति में आधान करने से होता है। इस अवस्था को आधानित सीफिलिस कहते हैं। इसमें सीफिलिसी पैठन का विकास प्राथमिक सिफिलार्ब या क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ के बिना ही शुरू हो जाता है। आठ से दस दिनों बाद चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों पर सीधा द्वितीयक सीफिलिस के स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। इन स्फोटों से पहले प्राग्लाक्षणिक संवृत्तियां उत्पन्न होती हैं (ज्वर, सरदर्द, अस्थियों व संधियों में दर्द)।

दुर्दम सीफिलिस अब विरल हो गया है। इसमें प्राथमिक चरण बहुत छोटे समय तक रहता है (तीन से चार सप्ताह तक); अन्य विशिष्ट लक्षण निम्न हैं: पीपिकीय क्षतियों की अधिकता, तीव्र सार्वदैहिक लक्षण, उच्च ज्वर, बहुलसग्रंथिशोथ की अनुपस्थिति या लसग्रंथियों की आक्रांति के बहुत क्षीण लक्षण, और कुछ केसों में रक्त की सीरमलोचनी जाँच के ऋणात्मक परिणाम। सीफिलिस के दुर्दम प्रवाह उत्पन्न करने वाले गदजनक घटक निम्न माने जाते हैं: रोगी के शरीर की प्रतिकारिता में कमी और इमूनोजीवलोचनी प्रतिरोधिता का पूर्ण या आंशिक क्षय (सार्वदैहिक रोगों, पैठन, गरलक्लेश आदि जैसी हानिकारक परिस्थितियों के कारण)।

मीलिछ 1968 से ही यह दावा करते आ रहे हैं कि सीफिलिस के विकास में एक अवधि के बाद दूसरी का नियमित रूप से आना आवश्यक नहीं है (चित्र 35)। उनका कहना है कि कुछ रोगियों में रोग प्ररक्षित अलाक्षणिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है और उसका निदान बहुत बाद में रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण द्वारा होता है (अव्यक्त सेरोधनात्मक सीफिलिस के चरण में, जो इस स्थिति में निर्दोष सीफिलिस कहलाता है, क्योंकि न तो डाक्टर को पैठन के बारे में पता होता है, न रोगी को), या नर्वतंत्र एवं आंतर अंगों के सीफिलिस के चरण पर ही निदान होता है। मीलिछ ने स्वयं के प्रेक्षणों तथा अन्य वैज्ञानिकों की खोजों से जो आँकड़े एकत्रित किये हैं, उनके अनुसार सीफिलिस के परवर्ती रूपों से ग्रस्त अधिकांश (70-90 प्रतिशत) रोगी प्रारंभिक सीफिलिस के वृत्त से अभिज्ञ रहते हैं, उनका वास्ता ही नहीं पड़ता। फुर्निये के अनुसार (कर्नेव

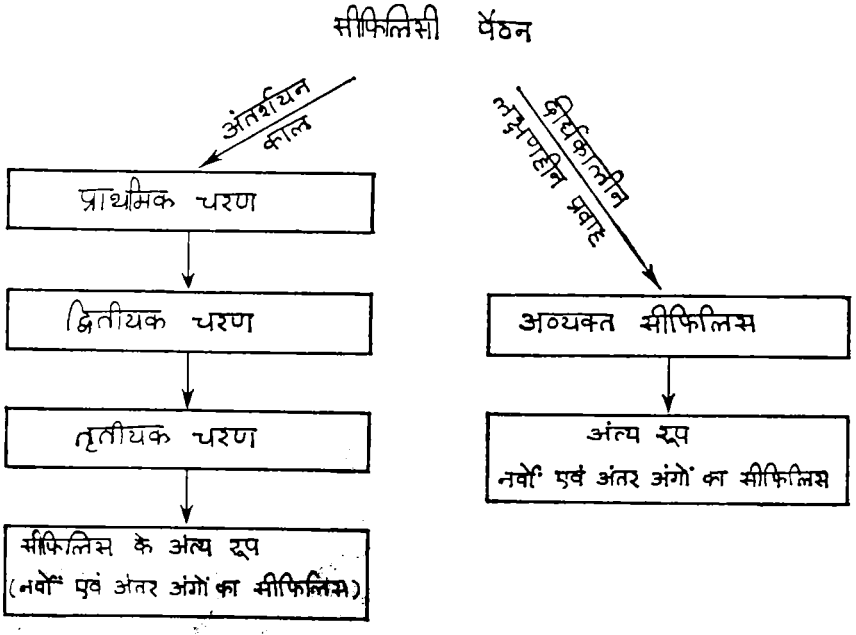

चित्र 35. अर्जित सीफ़िलिस का प्रवाह (मि. मीलिछ)

एक शताब्दी पूर्व) परवर्ती सीफिलिस के 60 से 80 प्रतिशत रोगियों में सीफिलिस के प्रारंभिक रूपों की घटनाएं नहीं हुआ करती थी। लेखक का विचार है कि ऐसी बात नहीं है रोगियों को सीफिलिस होने का पता ही नहीं चलता था, असली बात यह है कि सीफिलिस के आरंभिक रूपों से पीड़ित ही नहीं हुए थे। लेखक इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि रक्त की सीरमलोचनी जाँच के धनात्मक परिणाम द्वारा ऐसे रोगियों का भी बहुत बड़ा ग्रुप ज्ञात हुआ है, जिनके विवाहित जीवन-साथी दीर्घकालीन यौनसंपर्क के बाद भी रोग से ग्रस्त नहीं हुए और उनके बच्चे भी नियमतः स्वस्थ ही रहे। (लेखक का तर्क है: यदि रोगी ने सीफिलिस की अभिव्यक्तियों को नहीं देखा, तो क्या जीवन-साक्षी का शरीर भी अनभिज्ञ रहा और रोग को ग्रहण नहीं कर सका?) ऐसी मान्यताओं की संभाव्यता अब प्रायोगिक आँकड़ों एवं तथ्यों के भी आधार पर व्यक्त हो रही है, जो दिखाते है कि खरगोशों में भी सीफिलिस अलाक्षणिक प्रवाह ग्रहण कर सकता है।

सीफिलिस में इमूनता. अधिपैठन. पुनर्पैठन.

सीफिलिस से स्वस्थ हुआ व्यक्ति उसके प्रति इमूनता अर्जित नहीं करता; जन्मजात इमूनता भी नहीं होती। दुहरा कर पैठन (पुनर्पैठन) भी संभव है और इससे प्रमाणित होता है कि सीफिलिस ठीक हो सकता है। सीफिलिस से दुबारा और यहां तक कि तिबारा पैठन की भी घटनाएं हुई हैं।

लेकिन साथ ही सीफिलिक पैठन के दरम्यान रोगी के शरीर में इमूनता भी जरूर विकसित होती है। इस इमूनता को अनिष्पैठित, पैठी कहते हैं। यह शरीर में रोग के निमित्त कारण की उपस्थिति के विरुद्ध शरीर की प्रक्रिया है; यह तभी तक बनी रहती है, जबतक निमित्त कारण शरीर में उपस्थित रहता है। निमित्त कारण के दूर होते ही यह इमूनता भी लुप्त हो जाती है।

पैठी इमूनता के साथ-साथ परोर्जिक प्रतिक्रिया भी होती है, जो पैठी इमूनता के साथ ही लुप्त भी हो जाती है।

शरीर में प्रविष्ट त्रेपोनेमा सीफिलिस के अंतर्शयन-काल में लसमार्गों एवं रक्तमार्गों से तेजी के साथ फैलना शुरू कर देते हैं। शरीर की प्रतिक्रिया प्राथमिक सिफिलार्ब और क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ के रूप में विलंबित हो जाती है। त्रेपोनेमा का विपुल प्रजनन और पूरे शरीर में उनका प्रसार, अर्थात् एक विशेष प्रकार का स्पीरोखेतिक सृपण सीफिलिस के प्राथमिक चरण के अंत और द्वितीयक के शुरू में विकसित होता है। इससे रोग के सार्वदैहिक लक्षण (तापक्रम, कमजोरी, अस्वस्थता, अस्थियों एवं संधियों में दर्द, आदि) और बहुग्रंथिशोथ (अर्थात् बहुलसग्रंथिशोथ) उत्पन्न होते हैं। गदजनक जीवाणु (त्रे. पालीडुम) की उपस्थिति से रोगी के शरीर में इमूनोजीवलोचनी रक्षात्मक युक्तियां क्रियाशील हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप अधिकांश त्रेपोनेमा मर जाते हैं और द्वितीयक सीफिलिस की अव्यक्त अवधि शुरू हो जाती है। लेकिन बचे-खुचे त्रेपोनेमा नयी परिस्थितियों के साथ अपने को अनुकूलित कर लेते हैं और स्थूल जीव (अर्थात् आदमी) में रक्षी प्रक्रिया के धीरे-धीरे क्षीण होने पर प्रजनित होने लगते हैं और पुनरावर्तन उत्पन्न करते हैं (द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस)। इसके बाद स्थूल जीव की इमूनोजीवलोचनी शक्तियां पुनः काम करने लग जाती हैं और पुनः, यदि चिकित्सा न की जाये, बचेखुचे त्रेपोनेमा (शायद बस्ति-रूप तथा अन्य) शरीर में सीफिलिस का पैठन बनाये रखते हैं। इसीलिये रोग की द्वितीयक अवधि में पैठन का लहरों के रूप में प्रवाह स्थूल एवं सूक्ष्म जीवों (आदमी और जीवाणुओं) के जटिल व्यतिसंबंध को प्रतिबिंबित करता है। सीफिलिस की तृतीयक अवधि में (जब शरीर में त्रेपोनेमों का अनुवेदन बड़ी मुश्किल से होता है, नियमतः वे अनुवेदित नहीं होते) आकृति की प्रकृति स्पष्टतः निम्न तथ्य से समझाई जा सकती है: तृतीयक सीफिलिस में शरीर काफी कमजोर हो चुकता है, त्रेपोनेमा एवं इसके तोक्सिनों के प्रति अतिसंवेदित हो जाता है और निमित्त कारणों (जीवाणुओं) की अत्यल्प संख्या के प्रति भी एक विशेष पैठी कणार्ब (गंठिकाओं एवं रालार्बों) के रूप में प्रतिक्रिया करता है; ये कणार्ब अपघटन, विमृति, ऊतकीय क्षति और अंत में क्षतांकन द्वारा लंछित होते हैं।

जब सीफिलिक रोगी के शरीर में अतिरिक्त पैठन (नये, बाहरी त्रेपोनेमा पालीडुम की एक 'खुराक') प्रविष्ट कराया जाता है (मानो पुराने सीफिलिस पर नये पैठन का अध्यारोपण किया जाता है) तो इस प्रक्रिया को अधिपैठन कहते हैं। अधिपैठन की अभिव्यक्तियां रोग के भिन्न चरणों में भिन्न प्रकार से होती हैं। यह माना जाता है कि अधिपैठन की स्थिति में शरीर उन स्फोटों के रूप में प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, जो रोग के तत्कालीन चरण के लिये लंछित होते हैं (उदाहरणार्थ, यदि अधिपैठन द्वितीयक अव्यक्त सीफिलिस के समय हुआ है, तो द्वितीयक चरण की रूपलोचनी क्षतियां, अर्थात् पिटक, गुलाबी चित्तियां आदि उत्पन्न होती हैं)। इस प्रकार, अंतर्शयन-काल में और सीफिलिस के प्राथमिक चरण के प्रथम दस से चौदह दिन, जब पैठी इमूनता स्पष्ट रूप से विकसित नहीं होती है, दुबारा पैठन से एक नया शैंकर (व्रण) विकसित हो जाता है (10-15 दिनों में; अर्थात् अंतर्शयन-काल छोटा हो जाता है)। ऐसे व्रण को अनुक्रमिक कठव्रण कहते हैं। अधिपैठन परवर्ती तृतीयक अवधि में भी व्यक्त हो सकता है, जब पैठन-केंद्र (यहां तक कि रालार्बिक भी) शरीर की इमूनोजीवलोचनी प्रतिकारिता उच्च स्तर पर बनाये रखने में असमर्थ हो जाते हैं।

रतिजलोचक के चिकित्सानुशीलन में ऐसे केस भी मिलते हैं, जिनमें पुनर्पैठन के कारण रोग के पुनरावर्तन और अधिपैठन के बीच अंतर करना बहुत मुश्किल हो जाता है। इसका कारण है

कि सीफिलिस बिल्कुल ठीक हो गया है या नहीं, इसका कोई विश्वसनीय निकष (कसौटी) अभी तक ज्ञात नहीं है।

पुनर्पैठन का निदान देते समय निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये:

(1) प्रथम पैठन के साथ प्रारंभिक सीफिलिस का निदान हो चुका है: प्राथमिक, द्वितीयक सक्रिय (ट्रे. पालीडुम की पहचान के साथ) या प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस;

(2) सीफिलिस के प्रारंभिक रूप के लिये पर्याप्त गुणात्मक चिकित्सा प्रयुक्त हो चुकी है;

(3) ऋणात्मक सीरमलोचनी परीक्षण की स्थिति में संक्रमण और सीफिलिदों का गायब होना सामान्य अवधियों में हुआ है (विशिष्ट चिकित्सा के प्रति रोग की ओर से कोई प्रतिरोध नहीं प्रेक्षित हुआ है);

(4) क्लासिकल सीरमलोचनी परीक्षण (सभी एंटीजनों के साथ वासेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसीपीटिन की प्रतिक्रिया) रोगी पर निगरानी की अवधि में स्थायी तौर पर ऋणात्मक हैं। चिकित्सा समाप्त होने पर ट्रे. पालीडुम का इमूनीकारी परीक्षण (TPI) और इमूनोसदीप्ति परीक्षण (IFT) भी ऋणात्मक हैं;

(5) प्रथम पैठन की चिकित्सा के बाद कम से कम साल भर बीत चुका है;

(6) द्वितीय पैठन में सबसे पहले सीफिलिस के सक्रिय रूप वाला नया पैठन-स्रोत ज्ञात करना चाहिये, जिसमें ट्रे. पालीडुम अनुवेदित हुआ हो;

(7) सीफिलिस के छुतहे रूप से ग्रस्त आदमी के साथ मैथुन के क्षण से पुनर्पैठन के निदान के क्षण तक का समय प्राथमिक सेरोऋणात्मक, प्राथमिक सेरोधनात्मक, द्वितीयक ताजा, द्वितीयक पुनरावर्तन या प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस के निदान की अवधियों के अनुरूप होना चाहिये;

(8) यदि प्राथमिक सिफिलार्ब पुनर्पैठन से विकसित होता है, तो इसका स्थान प्रथम पैठन से भिन्न होता है (यह प्राथमिक स्थल से कुछ दूर हो सकता है, पर उसी स्थल पर कभी नहीं होता)। इन केसों में कठव्रण का विकास कक्ष्यग्रंथिशोथ के साथ होता है।

सीफिलिस का वर्गीकरण

सोवियत संघ में सीफिलिस के रोगियों के पंजीकरण और लेखा-जोखा के लिये एक मानक वर्गीकरण का उपयोग होता है। अंतर्शयन-काल के पश्चात निम्न रूपों में भेद किया जाता है।

1 प्राथमिक, सेरोऋणात्मक सीफिलिस।

2 प्राथमिक, सेरोधनात्मक सीफिलिस।

प्राथमिक अव्यक्त सीफिलिस। निदान उस समय किया जाता है, जब चिकित्सा रोग की प्रारंभिक अवधि में सीफिलिस की परवर्ती तल्पिक अभिव्यक्तियों की अनुपस्थिति में शुरू कर दी जाती है।

द्वितीयक नूतन सीफिलिस।

द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस।

द्वितीयक अव्यक्त सीफिलिस। निदान उन रोगियों में किया जाता है, जिनकी चिकित्सा द्वितीयक नूतन या पुनरावर्ती अवधि में इस समय की सीफिलिसी तल्पिक अभिव्यक्तियों की अनुपस्थिति में शुरू की जाती है।

तृतीयक सक्रिय सीफिलिस।

8. तृतीयक अव्यक्त सीफिलिस। यह निदान उन रोगियों में होता है, जिनमें रोग की कोई तल्पिक अभिव्यक्ति नहीं होती, लेकिन तृतीयक अवधि की सक्रिय अभिव्यक्तियां पहले ही उत्पन्न हो चुकी थीं।

9. अव्यक्त सीफिलिस।

(a) प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस;

(b) परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस।

यह निदान उन केसों में स्थापित किया जाता है, जब रोग की कोई तल्पिक अभिव्यक्ति नहीं होती, लेकिन सीरमलोचनी परीक्षण धनात्मक होता है।

10. प्रारंभिक जन्मजात सीफिलिस; यह पयोपा (1 वर्ष तक के) और बहुत छोटे (1 से 4 वर्ष तक के) बच्चों में होता है।

11. परवर्ती जन्मजात सीफिलिस।

12. परवर्तर जन्मजात सीफिलिस।

13. आंतर अंगों का सीफिलिस।

14. नर्वतंत्र का सीफिलिस।

15. मेरुकृषता।

16. प्रगामी लकवा।

प्राथमिक सीफिलिस (सीफिलिस का प्रारंभिक काल)

सीफिलिस की प्राथमिक अवधि त्रे. पालीडुम के प्रवेश-स्थल पर प्राथमिक स्फोट (कठव्रण) की उत्पत्ति से शुरू होती है और द्वितीयक चरण के लक्षणों की उत्पत्ति तक रहती है। वासेरमान की प्रतिक्रिया और प्रेसीपीटिन की प्रतिक्रिया के लिये रक्त-परीक्षणों के परिणाम के अनुसार सेरोऋणात्मक और सेरोधनात्मक अवधियों में भेद किया जाता है। सीफिलिस के क्लासिकल प्रवाह में प्राथमिक अवधि (प्रारंभिक काल) की लंबाई औसतन 6 से 8 सप्ताह होती है। इससे पहले एक अंतर्शयन-काल होता है, जिसकी लंबाई औसतन 4 से 5 सप्ताह मानी जाती है। गंठिक्लेश (यक्ष्मा), रुमैटिकता, अल्कोहलिज्म या अविटामिनता के कारण दुर्बल रोगियों में अंतर्शयन-काल तीन सप्ताह तक छोटा हो जा सकता है।

फिर भी, सीफिलिस में 4 से 5 सप्ताह तक प्रलंबित अंतर्शयन-काल अधिक प्रायिक है। गलशुंडी, ठंड, क्लोमशोथ आदि के लिये प्रतिजीवकों का उपयोग सीफिलिस का अंतर्शयन-काल लंबा करने में विशेष भूमिका निभाता है। इस तरह के केस अधिकांशतः सीफिलिस और सुजाक के साथ-साथ पैठन में देखे जाते हैं (अंतिम का अंतर्शयन काल कहीं अधिक छोटा होता है, अतः प्रतिजीवकों से उसका इलाज शुरू हो जाता है)। इन रोगियों को प्रतिजीवकों की जो खुराक मिलती है, वह सुजाक के लिये तो पर्याप्त कारगर होती है, पर सीफिलिक पैठन को अंतर्शयन-काल में भी दूर नहीं कर पाती; वह अंतर्शयन-काल को सिर्फ लंबा कर देती है (कभी-कभी तो कई महीनों तक)। कई डाक्टरों ने अंतर्शयन-काल ऐसे रोगियों में भी 52-120 दिन लंबा होते देखा है, जिन्होंने किसी भी सहवर्ती रोग के लिये कोई प्रतिजीवक ग्रहण नहीं किया था। इसीलिये सीफिलिस के छुतहे रूप से ग्रस्त रोगी के साथ मैथुन के बाद दो से चार महीना बीतने पर या सुजाक के रोगी से यौन संपर्क बनाने पर जब पैठन का स्रोत अज्ञात हो या विचाराधीन रोगी पर निगाह रखना संभव न हो, तो उसकी निरोधक चिकित्सा की जाती है।

चित्र 35. प्राथमिक सिफिलार्ब

सीफिलिस की सक्रिय प्राथमिक अवधि सीफिलार्ब (कठव्रण), क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ और कभी-कभी लसग्रंथिशोथ के रूप में अभिव्यक्त होती है, जो कठव्रण और संलग्न वर्धित लसपर्वों से विकसित होते हैं।

कठव्रण या प्राथमिक सीफिलार्ब

संक्रमण-काल के बाद प्राथमिक सीफिलार्ब त्रे. पालीडुम के चर्म या श्लेष्मल झिल्ली में प्रवेश के स्थल पर उत्पन्न होता है। कठव्रण अक्सर जननेंद्रियों (लिंगपूग, लिंगछद, समलिंगियों में पृष्ठद्वार, बृहत् एवं लघु भगोष्ठों, पश्च संयोजन, गर्भाशय की ग्रीवा) और कभी-कभी जांघ, जघन या पेट के चर्म व श्लेष्मल झिल्लियों पर स्थित होता है। जननेंद्रियेतर कठव्रण, जो बहुत कम प्रायिक है, होठों, जीभ, लुरलुरी, पलकों, उंगलियों तथा अन्य स्थलों के चर्म या श्लेष्मल झिल्लियों पर उत्पन्न हो सकता है, लेकिन उन्हीं स्थलों पर, जहां से त्रे. पालीडुम प्रवेश करता है। इन स्थलों पर तथा कंकाल की ग्रीवा में भी प्राथमिक सिफिलार्ब (जो कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार 11 से 12 प्रतिशत केसों में पाया जाता है) अधिकांशतः (औरत-रोगियों के 95 प्रतिशत केसों में) रोगी व डाक्टर की नजरों से छिपा रह जाता है। कुछ हद तक यही कारण है कि अव्यक्त सीफिलिस की प्रायिकता अधिक नजर आती है। यह सिर्फ प्राथमिक अव्यक्त सीफिलिस निदानित करने के बाद यौन-संपर्क वाले व्यक्ति के परीक्षण में ही नहीं, वरन जनसंख्या के एक विशिष्ट तबके के लोगों की निरोधात्मक जाँच करने पर तथा अस्पतालों में सोमैटिक विभागों में वासेरमान की प्रतिक्रिया देखने पर भी प्रेक्षित होता है। जहां प्रतिक्रिया देखने के बाद परवर्ती अव्यक्त या निर्दोष सीफिलिस का निदान कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार 'सीरमलोचनी' सीफिलिस की प्रायिकता पिछले नौ वर्षों में पुरुषों के बीच 5.6 गुना और स्त्रियों के बीच 2.9 गुना अधिक हो गयी है।

कठव्रण का तल्पिक चित्र नियमतः बहुत ही लंछक होता है। यह अक्सर एकल, बिल्कुल गोल या अंडाकार (चित्र 36), तश्तरी जैसा अपरदन होता है. इसकी किनारियां अवछिन्न (कटी-

छँटी) होती हैं और आकार छोटी उंगली के नख के बराबर होता है। अपरदन का रंग कच्चे मांस या खराब हो चुकी चर्बी जैसा होता है, किनारियां उभरी होती हैं और मध्य की ओर ढालू तली रखती हैं (तवे की तरह)। इससे विकीर्ण सीरमी स्राव होता है, जिसके कारण कठव्रण चमकदार दिखायी देता है। कठव्रण का सबसे विशिष्ट लक्षण यह है कि परिस्पर्शन से अपरदन के आधार में एक घनी (कड़ी) तथा प्रत्यास्थ सघनता वाला अंतर्स्यंद ज्ञात होता है (इसीलिये इसका नाम कठव्रण पड़ा है)। विव्रणित कठव्रण की किनारियां और भी अधिक उठी होती हैं, अंतर्स्यंद और भी स्पष्ट होता है। विव्रणित कठव्रण के ठीक होने पर क्षतांक रह जाता है, लेकिन सिर्फ अपरदित कठव्रण के ठीक होने के बाद कोई निशान नहीं बचना। प्राथमिक सिफिलार्ब का प्रवाह हल्की सुकुमारता (छुने में पीड़ा) या आत्मगत गड़बड़ियों की पूर्ण अनुपस्थिति द्वारा लंछित होता है। प्राथमिक सिफिलार्ब के स्राव में अंधेरी पृष्ठभूमि पर प्रकाशन की सूक्ष्मदर्शीविधि से ट्रे. पालीडुम सरलतापूर्वक अनुवेदित हो जाते हैं।

कठव्रण का तल्पिक चित्र कालांतर में बहुत बदल गया है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार इसकी एक विशिष्टता यह थी कि यह हमेशा अकेला होता था (80-90 प्रतिशत केसों में), जबकि पिछले दशक में दो या अधिक कठव्रणों वाले रोगियों की संख्या स्पष्टतः बढ़ी है (स्क्रीप्किन और ग्लोजमान के अनुसार 34 प्रतिशत और राखमानोव तथा जूदिन के अनुसार 45.7 प्रतिशत)। विव्रणित कठव्रणों और पूयजनक पैठन से उनकी क्लिष्टता के भी केसों में काफी वृद्धि हुई है। पृष्ठद्वार तथा जननेंद्रियों के क्षेत्रों में कठव्रण वाले रोगियों की भी संख्या बढ़ी है। मुख और पृष्ठद्वार पर कठव्रण की स्थिति की निश्चित संख्या यौन विकृतियों के साथ संबंधित है। उदाहरणार्थ मुंह में कठव्रण की उत्पत्ति स्त्रियों के लिये बहुत विशिष्ट रूप से प्रायिक है। पृष्ठद्वार पुरुषों में जननेंद्रियेतर कठव्रण का अधिक प्रायिक स्थल है। कुछ केसों में (स्क्रीप्किन के अनुसार 5 प्रतिशत केसों में) प्राथमिक सिफिलार्ब के आधार के स्पष्ट कठोरन की अनुपस्थिति भी आज के कठव्रणों की एक विशेषता है।

प्राथमिक सिफिलार्ब के अविशिष्ट रूप बहुत विरल हैं।

अविशिष्ट कठव्रण

अविशिष्ट कठव्रण के कई रूप हैं: गलशुंडिक कठव्रण, परिनख कठव्रण व कठोरी सूजन।

गलशुंडिक कठव्रण किसी एक टोंसिल के वर्धन एवं कठोरन द्वारा लंछित होता है, लेकिन उस पर कोई अपरदन या व्रण नहीं होता (यदि सीफिलिस की प्राथमिक अवधि का अपरदन या व्रण टोंसिल पर स्थित होता है, तो इसे टोंसिल का कठव्रण कहते हैं)। टोंसिल के गिर्द कोई स्पष्ट शोथ भी नहीं प्रेक्षित होता। तापक्रमी प्रतिक्रिया (ज्वर) या निगलने में पीड़ा हो सकती है; टोंसिल बहुत स्पष्टता के साथ परिसीमित हो जाता है। इसकी प्रत्यास्थता (लचीलापन) स्पैंचुला से अनुभव की जा सकती है। टोंसिल को प्लैटिनम के एक लूप से हल्के-हल्के ठोकने के बाद टोंसिल की सतह पर बड़ी संख्या में ट्रेपोनेमा सरलतापूर्वक अनुवेदित हो जाते हैं। चिबुक-कोण पर गले में क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ की उपस्थिति (जो सीफिलिस की प्राथमिक अवधि के लिये लंछक होता है; लसपर्व सेम के बीज के आकार से लेकर अखरोट के आकार तक के, सुचल, घने, प्रत्यास्थ, तथा चारों ओर के ऊतकों से असंलग्न होते हैं) और रक्त की धनात्मक सीरमलोचनी जाँच निदान में सहायक होती हैं।

कठव्रण उंगलियों पर सामान्य तल्पिक रूप में हो सकते हैं या अविशिष्ट रूप में भी (परिनख कठव्रण)। कठव्रण का यह स्थल अधिकांशतः आयुर-कर्मियों प्रयोशाला-कर्मियों, यूनलोचकों, मुखलो-

चकों आदि) में पाया जाता है। परिनखशोथी कठव्रण का तल्पिक चित्र स्त्रेप्तोकोकी हेतुलोचन वाले नखशोथ जैसा ही होता है (मुग्दर की तरह सूजन, दूरस्थ पोर में तीव्र सुकुमारता), लेफिन कठोर अंतर्म्यद की उपस्थिति, तीव्र शोथी ललामी की अनुपस्थिति, और (जो सबसे महत्त्वपूर्ण है) लघुक कठग्रंथिशोथ से उसे पहचानना सरल हो जाता है। इन विभेदक लक्षणों के बावजूद भी परिनखशोथी कठव्रण का निदान बहुत कठिन हो सकता है।

यदि इसका संदेह हो तो निदान में वासेरमान-परीक्षण के परिणामों को ध्यान में रखना चाहिये। ऐसे केसों की पहचान कभी-कभी तबतक के लिये विलंबित हो जाती है, जबतक द्वितीयक सीफिलिस के स्फोट नहीं प्रकट होते।

सीफिलिस की प्राथमिक अवधि की अभिव्यक्ति के रूप में कठोरी सूजन वृहत भगोष्ठ, अंडाशय या लिंगछद पर पाया जाता है (ये ऐसे स्थल हैं जहां लसकुंभियों की बहुतायत होती है)। ये क्षेत्र सूज जाते हैं। स्पष्ट कठोरता और दबाने पर भी वहां गड्ढा न बनना इसकी विशिष्टता है। लघुक क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ, आयुर-वृत्त, यौन संगी के परीक्षणों का परिणाम, तथा सीफिलिस के लिये रक्त का सीरमलोचनी परीक्षण (प्राथमिक अवधि के उत्तरार्ध में) – यह सब कठोरी सूजन के रूप में व्यक्त अविशिष्ट कठव्रणों के निदान में सहायक होते हैं।

कुछ रोगियों में प्राथमिक सिफिलार्ब द्वितीयक बाक्तेरिक पैठन द्वारा क्लिष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था को क्लिष्ट कठव्रण कहते हैं।

कठव्रण की क्लिष्टताएं

कठव्रण की निम्न क्लिष्टताएं होती हैं: पूगशोथ, पूगछदशोथ, छीकनक्लेश, पराछीकनक्लेश और विगलन व संक्रारित व्रणों का विकास।

पूगशोथ एवं पूगछदशोथ सबसे अधिक पायी जाने वाली क्लिष्टताएं हैं। ये सहवर्ती कोकी (कोकल) या त्रिकोमोनादी पैठन के फलस्वरूप विकसित होती हैं। ऐसे केसों में कठव्रण के गिर्द सूजन, चमकीला ललामी, और उपकला का मसृणन शुरू हो जाता है। कठव्रण की सतह पर स्राव पूयिक हो जाता है, जिससे त्रे० पालीडुम का अनुवेदन और इसीलिये निदान भी बहुत कठिन हो जाता है। इस से मुक्ति के लिये एक या दो दिन तक सोडियम क्लोराइड का तुल्यतानी घोल लगाया जाता है जिससे अधिकांश केसों में दुहरा कर परीक्षण करने से सही निदान स्थापित हो जाता है।

पूगशोथ से लिंगछद इतना सिकुड़ जा सकता है कि वह पूरे लिंगपूग को कस कर जकड़ ले और वापस न लौटे। इस अवस्था को छीकनक्लेश कहते हैं (छीकन – मुंह पर छीका बांधना)। छीकनक्लेश में लिंगछद के सूजन के कारण लिंग देखने में काफी बड़ा लगता है (चित्र 37); वह लाल और पीड़ाजनक हो जाता है। ऐसे केसों में पूग-किरीट पर अथवा लिंगछद की आंतरिक सतह पर स्थित कठव्रण का त्रे. पालीडुम के लिये परीक्षण नहीं किया जा सकता। सीफिलिस का निदान लघुक क्षेत्रीय लसपर्वों के परीक्षण से कहीं अधिक सरल हो जाता है; इसके लिये उनका निस्राव लिया जाता है, जिसमें निमित्त कारण (जीवाणु) अनुवेदित होते हैं। तदनुरूप चिकित्सा भी प्रलिखित की जा सकती है (जिससे सीफिलिस के निदान में विलंब हो जाता है): सुल्फानीलामीड का इन्जेक्शन, सोडियम क्लोराइड के तुल्यतानी घोल से प्रक्षालण; मुखमार्ग से सुल्फानीलामीड। इसके फलस्वरूप छीकनक्लेश की संवृत्ति दूर हो जाती है और प्राथमिक सिफिलार्ब परीक्षण के लिये उपलब्ध किया जा सकता है। छीकनक्लेश में लिंगछद को बलपूर्वक पीछे खिसकाने के प्रयत्न से पराछीकनक्लेश नामक एक अन्य क्लिष्टता उपन्न हो जा सकती है, जिसमें शोफित एंव अंतर्स्यंदित छद-

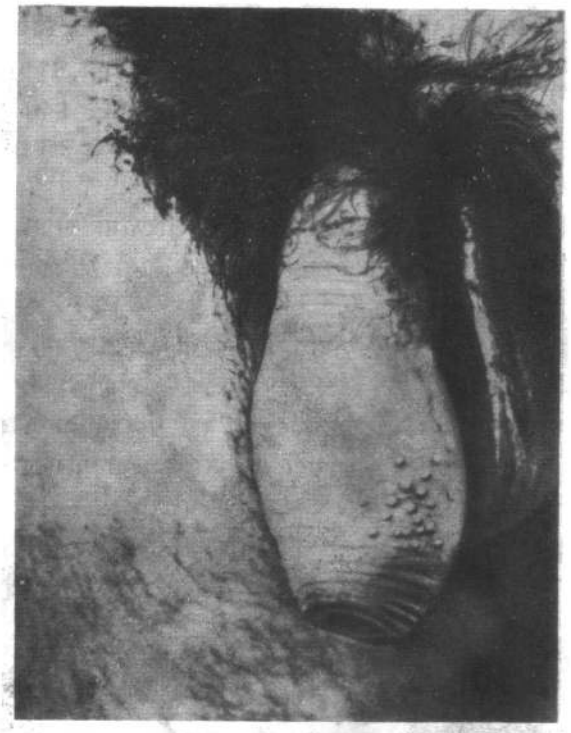

चित्र 37. छीकनक्लेश

वलय लिंगपूग को घोंटने लगता है (दबा कर)। रक्त एवं लसीका के संचार में यांत्रिक गड़बड़ियों के कारण सूजन बढ़ जाती है। यदि ठीक समय पर कोई उपाय न किया गया, तो लिंगपूग और लिंगछद के ऊतकों की विमृति शुरू हो जा सकती है। पराछीकनक्लेश के आरंभिक चरण पर डाक्टर सूजे हुए लिंगछद से सीरमीद्रव को निकाल लेता है (निष्पैठित सूई से पतले चर्म को कई बार भोंक कर) और पूग को 'छोटा' करने की कोशिश करता है। यदि यह उपचार कारगर नहीं होता, तो लिंगछद को काट कर अलग करना पड़ता है।

विगलन और संक्षारित व्रणों का विकास अधिक तीव्र होता है, पर यह कठव्रण की बहुत विरल क्लिष्टता है। यह कमजोर रोगियों तथा अल्कोहलिकों में फूजोस्पीरीलरी पैंठन के फलस्वरूप होता है। एक गंदला काला या काला खुरंड (विगलन) कठव्रण की सतह पर बनता है और उसके परे भी फैल सकता है (संक्षारित व्रण; फागेडेना)। खुरंड विस्तृत व्रण को आच्छादित रखता है; प्रक्रिया के साथ ज्वर, कँपकँपी, सरदर्द तथा अन्य सार्वदैहिक लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। विगलनकारी व्रण के ठीक होने पर एक रुक्ष क्षतांक रह जाता है। चिकित्सा तुरंत पेनीसिलिन के उपयोग से होती है।

क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ

यह प्राथमिक सीफिलिस का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह कठव्रण प्रकट होने के 7 से 10 दिन बाद विकसित होता है। इसमें कठव्रण का निकटतम (अक्सर जंघामूलीय) लसपर्व सेम के बीज से लेकर अखरोट तक का आकार ग्रहण कर लेते हैं; वे सघन प्रत्यास्थ हो जाते हैं,

पर आपस में तथा इर्द-गिर्द के ऊतकों के साथ संगलित नहीं होते। वे पीड़ाहीन होते हैं और उनके ऊपर का चर्म सामान्य रहता है। क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ लंबे समय तक बना रहता है और विशिष्ट चिकित्सा के बावजूद भी बहुत धीरे-धीरे अपचोषित होता है। जब कठव्रण गर्भाशय की ग्रीवा या ऋजु आंत की श्लेष्मला पर होता है, तब क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ तल्पिक रूप से अनुवेदित नहीं हो सकता, क्योंकि इस केस में छोटे कूल्हे का लसपर्व बड़ा हो जाता है। रिकोर्ड के समय से ही क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ को 'सहवर्ती गिल्टी' कहने की प्रथा है और यह नाम बिल्कुल सही अर्थ देता है। रिकोर्ड ने लिखा है कि कठग्रंथिशोथ सदा कठव्रण के साथ उत्पन्न होता है और कठव्रण इस गिल्टी के बिना नहीं हो सकता। फुर्निये ने प्राथमिक सक्रिय सीफिलिस के 5000 रोगियों में से सिर्फ 0.06 प्रतिशत में क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ को अनुपस्थित पाया। लेकिन कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार पिछले दस साल में क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ प्राथमिक सीफिलिस के 1.3 से 8.0 प्रतिशत रोगियों में अनुपस्थित पाया जा रहा है।

जननेंद्रियों पर कठव्रण होने से जंघामूलीय कठग्रंथिशोथ दुतरफा होता है (उस हालत में भी, जब कठव्रण किसी एक ओर स्थित होता है)। इसका कारण यह है कि लसतंत्र में शाख-संगम बहुत अधिक विकसित होता है। एकतरफा कठग्रंथिशोथ कम प्रायिक है और अक्सर उसी ओर पाया जाता है, जिधर कठव्रण स्थित होता है; सिर्फ अपवादजनक केसों में ही उल्टा होता है। एकतरफा कठग्रंथिशोथ वाले रोगियों की भी संख्या पिछले समय से बढ़ी है (स्क्रीप्किन के अनुसार कठव्रण के 27 प्रतिशत रोगियों में यह पाया जाता है)।

सीफिलिस की प्राथमिक अवधि का तीसरा लक्षण – सीफिलिसी लसकुंभीशोथ – कठोर, पीड़ाहीन रस्सी तार के रूप में विकसित होता है, जैसे घुंडीदार सींक हो। उसपर कभी-कभी नन्हे मोती जैसी मोटी विरचनाएं होती हैं। करीब 40 प्रतिशत पुरुषों में लसकुंभीशोथ लिंग की अग्र सतह पर होता है (जननेंद्रिय के कठव्रण में)।

कठव्रण का विभेदक निदान उसके विशिष्ट केसों में सरल होता है और उसके विशिष्ट लक्षणों पर ही आधारित होता है। अविशिष्ट तल्पिक चित्र वाले या क्लिष्ट कठव्रण में उसे कई रोगों से विभेदित करना पड़ता है।

जननेंद्रियों के सरल विसर्प में एक गुलाबी धब्बे पर वस्तिकाओं का एक ग्रुप प्रकट होता है। उनके फटने पर ग्रुप के रूप में अपरदन बनता है; वे संगमित हो कर विस्तृत अपरदन भी बना ले सकते हैं, जिसे प्राथमिक अपरदित सीफिलिस से विभेदित करना पड़ता है। विसर्पी अपरदन के निम्न लक्षण हैं, जो कठव्रण में नहीं होते: सूक्ष्म शुक्तिक किनारी, अधिचर्म के रेशे, अपरदन के गिर्द अंधी रक्तस्फीति, आधार में कठोरन की अनुपस्थिति या बहुत हल्का (अल्प) कठोरन, पीड़ा, ट्रेपोनेमा पालीडुम के लिये परीक्षण के ऋणात्मक परिणाम, क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ की अनुपस्थिति। लेकिन फिर भी ऐसे केसों में ट्रेपोनेमा के लिये परीक्षण कई-कई बार दुहराना चाहिये (सीफिलिस के लिये रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण की तरह), ताकि विसर्पी कठव्रण को पहचानने से चूक न जायें। विसर्पी कठव्रण सरल विसर्प में ही बन जाता है और तल्पिक चित्र के अनुसार दोनों के अपरदन बहुत मिलते जुलते हो जाते हैं।

खाज का एक्थीमा (द्वितीयक पैठन से क्लिष्ट कुटकी का बिल) जब लिंगपूग पर होता है, तो उसे भी कठव्रण से विभेदित करना पड़ता है। इसमें पूयिक स्राव होता है, आधार का कठोरीकरण नहीं होता, खाज के अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं (जैसे तेज खुजली, जो रात को तीव्र हो जाया करती है)।

छोटी बच्चियों तथा लड़कियों को ठंड लगने से या सफाई की सही आदत न होने से भग का तीव्र लिपश्वेट्स-छापिन्न का व्रण हो जाता है, जिसमें वृहत तथा लघु भगोष्ठों पर सतही व्रण बन जाते हैं। इन स्फोटों से पहले उच्च ज्वर, कँपकँपी तथा अस्वस्थता की अनुभूति विकसित होती है। व्रण की किनारियां लस्त (ढीली) व अपरदित होती हैं, तली कणमय होती है। आधार मुलायम होता है। व्रणों के गिर्द एक तीव्र शोथी प्रतिक्रिया विकसित हो जाती है। क्षतियों में पीड़ा होती है, विशेषकर स्पर्श से या चलने पर। बासिलस क्रासुस के अनुवेदन से निदान एकदम सही हो जाता है।

तीव्र अपरदित पूगछदशोथ कमजोर लोगों में अपर्याप्त हाइजीनिक आदतों के कारण उत्पन्न होता है। इसमें अवछिन्न बहुचक्रीय किनारियों वाले अपरदन बनते हैं। व्रणीय क्षतियों की तीव्र प्रकृति, ज्वर, व्रणों और क्षेत्रीय लसपर्वों की सुकुमारता (छूने में पीड़ा), स्राव में त्रे. पालीडुम की अनुपस्थिति – ये सारे लक्षण निदान में सहायक होते हैं।

कठव्रणरूपी चर्मपूयता बहुत विरल है, लेकिन कठव्रण के साथ विभेदक निदान में ढेर सारी कठिनाइयां उत्पन्न कर देती है। एक अकेला अपरदन या अधिकांशतः व्रण उत्पन्न होता है, जो तल्पिक रूप से प्राथमिक सीफिलार्ब से बहुत मिलता-जुलता होता है। इसकी परिरेखा गोल होती है, किनारियां और तली कठोर अपरदित होती हैं, बहुत अल्प मात्रा में सीरमी या सीरमी-पूयिक स्राव होता है। क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ भी अक्सर विकसित हो जाता है, जो सीफिलिसी कठग्रंथिशोथ जैसा ही होता है। अंतर्स्यंद अक्सर व्रण की सीमाओं से पार प्रसारित हो जाते हैं। निदान अंततः त्रे. पालीडुम के लिये अनेक ऋणात्मक परीक्षणों, लसपर्वों के निस्स्राव में त्रेपोनेमों की अनुपस्थिति और वासेरमान की प्रतिक्रिया के लिये रक्त की जाँच के बारंबार ऋणात्मक परिणामों पर ही आधारित होता है।

कुछ केसों में कठव्रण को कैंसरीय या रालार्बिक व्रणों से विभेदित करना पड़ता है, विशेषकर जब वे जननेंद्रियों, होठों या स्तन के चुचुक पर स्थित होते हैं। चर्म-कर्कार्ब में व्रणों के लक्षण निम्न हैं: तली की कठोर किनारियां, इर्द-गिर्द के ऊतकों का हल्का शोथ, रक्तस्राव की प्रवृत्ति, मंद एवं सुषुप्त प्रवाह, व्रण बनने के कई महीनों बाद लसपर्वों का ग्रस्त होना। रालार्बिक व्रण की किनारियां और तली भी सघनता के साथ अंतर्स्यंदित होती है, पर उसमें कर्काब जैसी उग्रता नहीं होती। रालार्बिक कोर की उपस्थिति, व्रण-विरचन की प्रकृति का सीफिलार्ब से भिन्न होना (दे. तृतीयक सीफिलिस का तदनुरूप प्रकरण) और भिन्न प्रकार की ऊतलोचनी संरचना आदि से सही निदान स्थापित करने में सहायता मिलती है।

यहां हम कठव्रण को मृदुव्रण से विभेदित करने के लक्षणों पर विचार नहीं करेंगे, क्योंकि सोवियत संघ में मृदुव्रण का व्यवहारतः उन्मूलन हो चुका है और वह सिर्फ बंदरगाह-युक्त नगरों में बहुत विरलता से पाया जाता है। मृदुव्रण का तल्पिक चित्र तदनुरूप प्रकरण में वर्णित है।

इस प्रकार, सीफिलिस की प्राथमिक अवधि का निदान प्राथमिक सीफिलार्ब के तल्पिक चित्र, क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ और कठव्रण के स्राव या क्षेत्रीय लसपर्व के निस्स्राव में त्रे. पालीडुम के अवश्यंभावी अनुवेदन पर आधारित होता है। सीरमलोचनी प्रतिक्रिया के लिये खून की जाँच (प्राथमिक सेरोधनात्मक अवधि में) और संदेहाधीन यौन संगी की जांच के परिणाम भी निदान में बहुत सहायक होते हैं।

इसके अतिरिक्त, निदान के बाद विशिष्ट चिकित्सा (अक्सर जल में घुलनशील पेनीसिलिन) के बाद उग्रता-प्रतिक्रिया या लूकाशेविच-चारिश-हेर्क्सहाइमर की प्रतिक्रिया विकसित हो जाती है; यह निदान के सही होने का अतिरिक्त प्रमाण होता है। यह माना जाता है कि इस प्रतिक्रिया के

उत्पन्न होने का कारण है—बड़े पैमाने पर त्रेपोनेमों की मृत्यु और अंतर्गरल का मुक्त होना। यह प्रतिक्रिया कँपकँपी, पेशियों, अस्थियों व संधियों में दर्द और ज्वर (40°C तक) के रूप में व्यक्त होती है। प्रतिक्रिया पेनीसिलिन की दो या तीन सूइयों के बाद शुरू होती है और कुछ घंटों में गायब हो जाती है। बहुत विरल केसों में प्रतिक्रिया अति तीव्र हो जा सकती है (चेतना डूबने लगती है, ज्वर 40°C से अधिक हो जाता है, आदि); ऐसे केस में चिकित्सा के दौर में से एक सूई छोड़ देनी पड़ती है। उग्रताप्रतिक्रिया की प्रायिकता प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस में 49 से 84 प्रतिशत और प्राथमिक सेरोधनात्मक सीफिलिस में 58 से 94 प्रतिशत है।

इस प्रकार, वर्तमान काल में प्राथमिक सीफिलिस की निम्न विशेषताएं हैं: अंतर्शयन-काल का अक्सर प्रलंबन, विव्रणित एवं एक से अधिक कठव्रणों की प्रायिकता में वृद्धि (इस स्थिति में कठव्रण अक्सर द्वितीय पैठन से क्लिष्ट हो जाते हैं, छीकनक्लेश के लक्षण विकसित होने लगते हैं), अलग-थलग केसों में कठव्रण के आधार में स्पष्ट कठोरीकरण की अनुपस्थिति और जननेंद्रियेतर कठव्रण की प्रायिकता में एक निश्चित वृद्धि। इसके अतिरिक्त, लसीकीय उपकरण की अब एक अपर्याप्त प्रतिक्रिया भी अक्सर मिलने लगी है, जो क्षेत्रीय लसपर्वों की एकतरफा आक्रांति या कठग्रंथिशोथ की अनुपस्थिति द्वारा लंछित होती है। उग्रता-प्रतिक्रिया के केसों में वृद्धि, वासेरमान की प्रतिक्रिया के कुछ त्वरित ऋणात्मक परिणाम, और प्रारंभिक द्वितीयक सीफिलिस के लक्षणों का समय से कुछ पहले उत्पन्न होना भी प्रेक्षित होने लगा है।

द्वितीयक सीफिलिस (सीफिलिस का द्वितीयक काल)

सीफिलिस की द्वितीयक अवधि अक्सर द्वितीयक सीफिलिदों के उत्पन्न होने से 7-10 दिन पूर्व एक प्राग्लाक्षणिक संवृत्तियों से शुरू होता है। ये अक्सर स्त्रियों तथा कमजोर रोगियों में पायी जाती हैं और इनका समय रोगी के शरीर में रक्तमार्ग से त्रेपोनेमों के प्रकीर्णन के समय के साथ संपात करता है। इसमें कमजोरी, कार्य-क्षमता में ह्रास, अवप्रवेगन, सरदर्द, पेशियों, अस्थियों व संधियों में दर्द (जो रात को तीव्र हो जाता है; यह सीफिलिस के लिये लंछक है), ज्वर (अक्सर हल्का, कभी-कभी ही 39-40°C) होता है। इस अवस्था को अक्सर रोगी और डाक्टर गलती से इन्फ्लुएंजा मान लेते हैं, जिससे सीफिलिस के यथासमय निदान में विलंब हो जाता है। इस अवधि में श्वेतकोशिकता और रक्ताल्पता भी पायी जा सकती है।

प्राग्लाक्षणिक संवृत्तियां, जो सभी रोगियों में नहीं होतीं, नियमतः सीफिलिस के द्वितीयक चरण के लक्षण प्रकट होते ही लुप्त हो जाती हैं।

सीफिलिस की द्वितीयक अवधि चर्म तथा बाह्य श्लेष्मल झिल्लियों पर रूपलोचनी क्षतियों की विविधता (चित्र 38), और साथ ही (कुछ कम हद तक) आंतर अंगों, नर्वतंत्र तथा गतिप्रेरक उपकरण में परिवर्तनों द्वारा लंछित होती है। गतिप्रेरक उपकरण में परिवर्तन कोई विशिष्ट प्रकार का नहीं होता, इसे सार्वदैहिक पैठन के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया माना जा सकता है। इस अवधि को द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलीस में (जब स्फोट पहली बार उत्पन्न होते हैं) और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलीस में (जब स्फोट एक अंतराल के बाद पुनः प्रकट होते हैं) बाँटा जाता है। सीफिलीस का द्वितीयक चरण पैठन के 2.5-3 और कभी-कभी 4 महीने बाद शुरू होता है। चिकित्सा न करने पर पुनरावर्तनों का चक्र 2-4 वर्ष से भी अधिक समय तक चलता रह सकता है। द्वितीयक अव्यक्त सीफिलीस स्फोटों के बीच के अंतराल को कहते हैं। द्वितीयक अवधि में स्फोटों का प्रकट

चित्र 38. द्वितीयक आरंभिक सीफिलिस

एंव लुप्त होना, उनकी संख्या और उनकी रूपलोचनी प्रकृति त्रेपोनेमों की क्रियाशीलता की अवधियों और रोगी के शरीर के साथ उनके इमुनलोचनी व्यतिसंबंधों पर निर्भर करती है।

द्वितीयक अवधि में स्फोटों (द्वितीयक सीफिलिदों) की सामान्य विशेषताएं निम्न है: पूरे शरीर पर प्रकट होना, क्षतियों की गोलित परिरेखा और अवछिन्न सीमारेखा, संगम की प्रवृत्ति, नीली आभा से युक्त गुलाबी लाल रंग, आत्मगत गड़बड़ियों की अनुपस्यिति, क्षतियों की सुदम प्रकृति (चिकित्सा नहीं होने पर भी वे कुछ समय बाद बिना कोई निशान छोडे गायब हो जाती हैं)। द्वितीयक सीफिलदों की अपरदित सतहों पर त्रेपोनेमा बहुत बड़ी तादाद में पाये जाते हैं (विशेषकर जननेंद्रियों तया मुखकोटर के अपरदित पिटकों और बिलंबित कंडाबों की सतह पर) जिसके कारण वे मैथुन और दैनंदिन संपर्क में बहुत छुतहे सिद्ध होते हैं। रक्त का सीरमलोचनी परीक्षण (वासेरमान और प्रेसीपीटिन की प्रतिक्रियाएं) द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस के सौ प्रतिशत रोगियों में तीव्र धनात्मक होता है (रिएजिन की विमाप बहुत ऊँची होती है, जैसे 1 : 160, 1 : 320) और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलीस के 96-98 प्रतिशत रोगियों में तीव्र धनात्मक होता है (रिएजिन की विमाप अपेक्षाकृत निम्न होती है)। रक्त का इमूनोसंदीप्तिक परीक्षण (IFP) लगभग शत प्रतिशत केसों में धनात्मक होता है। त्रे. पालीडुम का स्थिरकारी परीक्षण (TIP) द्वितीयक प्रारं-

भिक सीफिलिस के करीब आधे रोगियों में धनात्मक होता है (40-60 प्रतिशत स्थिरकरण) और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस के 60-80 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होता है (70-90 प्रतिशत स्थिरकरण)। द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस के 50 प्रतिशत तक रोगियों के प्रमस्तिष्कमेरुक द्रव में अपसामान्यताएं होती हैं यद्यपि छादिकाशोथ का कोई तल्पिक चित्र नहीं होता (इस अवस्था को अव्यक्त सीफिलिक छादिकाशोथ कहते हैं)।

द्वितीयक सीफिलिस (विशेषकर द्वितीयक प्रारंभिक रूप) के रोगियों की प्रतिजीवकों से चिकित्सा का आरंभ करते ही उग्रता-प्रतिक्रिया (लुकाशेविच-यारिश हेक्सेहाइमेर की प्रतिक्रिया) होने लगती है, जो प्राथमिक सीफिलिस की तरह ज्वर और अन्य सार्वदैहिक लक्षणों में ही नहीं; वरन क्षतियों की वर्धित संख्या और उनके रंग के गाढ़ेपन में भी व्यक्त होती है। कुछ रोगियों में, जो सीफिलिस के प्राथमिक सेरोधनात्मक अवधि में चिकित्सा शुरू करते हैं, पेनीसिलिन की पहली सूई से धड़ पर गुलाबी धब्बे उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे डाक्टर द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस का निदान कर देता है (ड्यूटी पर स्थित डाक्टर को रोगी की त्वचा पर निरंतर निगरानी रखनी चाहिये, खासकर सीफिलिस की प्राथमिक सेरोधनात्मक अवधि की विशिष्ट चिकित्सा शुरू होने पर)। स्त्रीप्किन तथा अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार उग्रता-प्रतिक्रिया द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस से ग्रस्त 70 प्रतिशत स्त्रियों और 80 प्रतिशत पुरुषों में पायी जाती है और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस के सिर्फ 10-20 प्रतिशत रोगियों में पायी जाती है।

ऊतलोचनी परीक्षण से द्वितीयक चरण के सीफिलिदों में विभिन्न डिग्रियों के परिकुंभिक अंतर्स्यंदन मिलते हैं, जो प्लाज्मा, लसवत, उपकलावत तथा विरल वृहत कोशिकाओं से बने होते हैं। प्लाज्मा-कोशिकाएं सबसे अधिक मात्रा में होती हैं, इसीलिये द्वितीयक अवधि के सीफिलिक अंतर्स्यंद को प्लाज्माक्लेश कहते हैं।

द्वितीयक सीफिलिद कुंभिक धब्बे (गुलाबिका), पिटक और कभी-कभी वस्तिकाएं तथा पीटिकाएं होती हैं। वर्णकित सीफिलिद (सीफिलिक चर्मश्विति) और सीफिलिक निर्लोमता (खल्वाटता) भी द्वितीयक चरण की क्षतियां हैं। वास्तविक बहुरूपता ऐसे रोगियों में पायी जाती है, जिनके शरीर पर विभिन्न प्रकार की रूपलोचनी क्षतियां एक साथ स्फुटित होती हैं (जैसे गुलाबी धब्बे और पिटक); मिथ्या (विकासपरक) बहुरूपता तब मिलती है जब एक प्रकार की रूपलोचनी क्षति (जैसे पिटक) विकास के भिन्न चरणों पर स्थित होती हैं।

द्वितीयक आरंभिक अवधि के सीफिलिद अपेक्षाकृत छोटे, विपुल और चमकदार होते हैं, उनमें शल्क की प्रवृत्ति नहीं होती और नियमतः उनका शल्कन भी नही होता। इस अवधि में कठव्रण के अवशेष और स्पष्ट क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ 22 से 30 प्रतिशत रोगियों में पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, बहुकठग्रंथिशोथ ज्यादा स्पष्ट होते हैं। वर्धित, कठोर-प्रत्यास्थ सुचल पीड़ाहीन लसपर्व कांख, गर्दन, अवचिबुक तथा कोहनी के क्षेत्रों में पाये जाते हैं। बहुलसग्रंथिशोथ द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस के 88 से 90 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है।

द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस में क्षतियां अपेक्षाकृत वृहत, संख्या में कम तथा अक्सर असममित रूप से उत्पन्न होती हैं। वे ग्रुपों में जमा होने की प्रवृत्ति रखती हैं, जिससे माला, मेहराब या कोई अन्य आकृति बन जाती है। इनका रंग भी अपेक्षाकृत फीका होता है। क्षतियां अक्सर मूलाधार, जघामूलीय पुटकों, मुहं व जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियों पर, अर्थात ऐसे स्थलों पर अवस्थित होती हैं, जहां अक्सर क्षोभ होता रहता है। गुलाबी धब्बों के एकरूपिक स्फोट द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस के 55-60 प्रतिशत रोगियों में पाये जाते हैं; इसके विपरीत, द्वितीयक पुनरावर्ती

सीफिलिस के रोगियों में यह कम प्रायिक है (करीब 25 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है); एकरूपिक पिटकीय स्फोट अधिक प्रायिक है (22 प्रतिशत रोगियों में)।

संक्रमणकालीन रूप, जब रोगी में प्रारंभिक तथा पुनरावर्ती द्वितीयक सीफिलिस के लक्षण एक साथ पाये जाते हैं, पिछले दशकों में अधिक प्रायिक हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, अल्प संख्या में ग्रुपित पिटक हथेलियों व तलवों के साथ-साथ अन्य चर्म-क्षेत्रों पर पाये जाते हैं (पुनरावर्ती अवधि के लक्षण) और साथ ही प्राथमिक सिफिलार्ब क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ तथा बहुलसग्रथिशोथ के अवशेष (द्वितीयक सीफिलिस के प्रारंभिक चरण के लक्षण) भी उपस्थित रहते हैं। इन केसों का कारण द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस का प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण करना या प्रारंभिक पुनरावर्ती सीफिलिस का समय से पूर्व शुरू हो जाना बताया जाता है (अंतिम निदान वांछनीय है, क्योंकि इस स्थिति में विशिष्ट चिकित्सा को अधिक तीव्र किया जा सकता है)। स्क्रीप्किन तथा अन्य वैज्ञानिकों को द्वितीयक सीफिलिस के संक्रमणकालीन रूप 12.5 प्रतिशत स्त्रियों में और 5 प्रतिशत पुरुषों में मिले हैं। यह माना जाता है कि द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस अधिक प्रायिक है, बनिस्बत कि द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस।

चित्तीदार सीफिलिद या सीफिलिसी गुलाबिका

चित्तिदार सीफिलिद द्वितीयक सीफिलिस की (विशेषकर उसके प्रारंभिक रूप की) सबसे सामान्य रूपलोचनी है। यह गुलाबी-लाल कुंभिक धब्बा है, जिसपर नीली आभा होती है। दबाने पर यह गायब हो जाता है। यह गोल होता है, नियमतः त्वचा से उभरा हुआ नहीं होता, इसका आकार छोटी उंगली के नख जितना बड़ा होता है। कोई शल्कन नहीं होता और धब्बों के अपचोषण के बाद कोई दाग नहीं रहता। गुलाबिका अक्सर धड़ के पार्श्वों, वक्ष, पेट और हाथों पर होती है (चेहरे, पैरों तथा कलाई से नीचे उंगलियों, तक के भाग पर कभी नहीं होती)। धब्बे धीरे-धीरे एक या दो सप्ताह तक विकसित होते हैं, एक से तीन संप्ताह तक स्थिर रहते हैं, फिर फीके पड़ जाते हैं और गायब हो जाते हैं।

गुलाबिका के उपरोक्त सामान्य तल्पिक चित्र से विचलन भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, धब्बे त्वचा से स्थायी तौर पर उभरे हो सकते है (उभरी गुलाबिका); अस्थायी तौर पर उभरी गुलाबिकाएं भी होती हैं (पित्तिक गुलाबिका)। अंतिम केस में रोगी को खुजली और जलन की अनुभूति हो सकती है, धब्बों के अपचोषित होने पर शल्कन भी पाया जा सकता है। कुछ केसों में धब्बे संगम कर सकते हैं (संगमरत गुलाबिका), जो अधिकांशतः बच्चों में पाये जाते हैं। धब्बे मिल कर वलयाकार आकृति भी बना सकते हैं (विलंबित गुलाबिका, जो बिलंबित पुनरावर्तन या यहाँ तक कि सीफिलिस की तृतीयक अवधि में भी उत्पन्न हो सकती है)। कणमय गुलाबिका उन लोगों में पायी गयी है, जो सीफिलिस के साथ-साथ गंठिक्लेश (यक्ष्मा) से भी ग्रस्त होते हैं, रक्तस्रावी गुलाबिका कुंभिक भित्तियों की वर्धित बेधिता वाले रोगियों को होती है।

सीफिलिसी गुलाबिका को कभी-कभी कुछ अन्य पैठनजति रोगों तथा चर्मक्लेशों के चित्तिक स्फोट से विभेदित करना पड़ता है। गुलाबिका विभिन्न प्रकार की दवाओं और खराब हो गये खाद्य पदार्थों को ग्रहण करने से भी हो सकती है (चर्मगरलता)। गरलताचनक गुलाबिका के धब्बे अधिक चमकीले होते हैं, सगंम की प्रवृत्ति रखते हैं, उनका प्रवाह अधिक तीव्र होता है, उनमें जलन और खुजली की अनुभूति होती है, अंत में उनपर शल्कन होता है। सावधानी से रोग-वृत्त की सूचनाएं जमा करने तथा सीफिलिस के लिये रक्त के सीरमलोचनी परीक्षण से सही निदान हो जाता है।

जिबेर्ट के बुसन में भी चित्तिक स्फोट गुलाबी या पीताभ फीके गुलाबी होते हैं। शल्कन धब्बे के मध्य में लंबे व्यास की तरह चर्म-तनाव की रेखाओं के सहारे-सहारे होता है। एक धब्बा बाकी से बड़ा होता है (मातृक धब्बा)। रोगी को हल्की खुजली की अनुभूति होती है।

टाइफस और आंत्रज्वर में गुलाबिका के साथ-साथ तीव्र सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं। स्फोट इतना विपुल नहीं होते, जितना द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस में, जिसमें सार्वदैहिक गड़बड़िया यादि प्राग्लाक्षणिक अवधि में विकसित होती भी हैं, तो गुलाबी धब्बों के उत्पन्न होने के साथ-साथ गायब हो जाती हैं।

कुटकी के दंश से उत्पन्न धब्बे उंगली से दबाने पर गायब नहीं होते; उनमें तीव्र खुजली होती है; उनका रंग नीलाभ-लाल या भूराभ होता है; वे अक्सर परजीवियों के निवास-स्थल पर उत्पन्न होते हैं।

बहुरंग बुसन में धब्बों का रंग गुलाबी से लेकर हल्का भूरा और गाढ़ा भूरा तक हो सकता है; शल्कन होता है, वे आयडीन-परीक्षण द्वारा सरलतापूर्वक विभेदित हो जाते हैं।

पिटकीय सीफिलिड

पिटकीय सीफिलिड सीफिलिस की द्वितीयक (विशेषकर पुनरावर्ती) अवधि की एक अक्सर दिखने वाली अभिव्यक्ति है। पिटक सुचार्म पिटिकामय परत में स्थित होते हैं, इनका आकार भिन्न हो सकता है। मसूर के आकार के पिटक अधिक पाये जाते हैं (मसूरिक पिटक), पिन के सर जितने बड़े पिटक (वर्जरिक पिटक या शैवाकवत सीफिलिड) विरल होते हैं। मसूरिक पिटक अर्धवर्तुलाकार होते हैं, सीमाएं अवछिन्न होती है, परिरेखा नियमित होती है। वे सूअर के मांस के रंग के होते हैं और संगम नहीं करते। शल्कन अक्सर पाया जाता है और शल्क पिटक के परिसर पर अवस्थित होते हैं (बियेट का कौलर)। वर्जरिक पिटक लोम-मशिकाओं के मुहाने के गिर्द उत्पन्न होते हैं और अधिकांशतः दुर्बल रोगियों में पाये जाते हैं, जो (उदाहरणार्थ) गंठिक्लेश से पीड़ित होते हैं। [illegible] से 20 मिलिमीटर व्यास वाले वृहत पिटक सिक्कानुमा पिटक कहलाते हैं। घर्षण और विभिन्न स्रावों से क्षोभ के कारण चर्म-पुटकों में (पृष्ठद्वार के गिर्द और जननेंद्रियों पर) स्थित पिटक वर्धित हो जाते हैं (अतिपोषित पिटक)। जब वे संगमित होते हैं, चकत्ते जैसे पिटक या विस्तृत कंडार्ब बनते हैं (चित्र 39)। घर्षण से चर्म-पुटकों में स्थित इन कंडार्बों और अतिपोषित पिटकों का अपरदन होता है (अपरदित पिटक), जिससे स्राव होता रहता है। इस स्राव में त्रेपोनेमों की भरमार होती है, इसीलिये ऐसे रोगी छूत की दृष्टि से बहुत खतरनाक होते हैं। हथेलियों और तलवों के पिटक बिल्कुल खास प्रकार के दिखते हैं: वे त्वचा से उभरे हुए नहीं होते, वरन् कठोर शृंगी शल्कों के गच्छों से ढके हुए नीले-लाल धब्बों से मिलते-जुलते होते हैं। लेकिन परिस्पर्शन से धब्बे कठोर प्रतीत होते हैं। ये पिटक कभी-कभी संगम करके विभिन्न आकार के वृहत धब्बे बना लेते हैं, जिनके ऊपर कठोर शृंगी द्रव्य की परत रहती है।

अधिकांश केसों में वर्जरिक और सिक्कानुमा पिटक सीफिलिस की पुनरावर्ती अवधि की अभिव्यक्ति होते हैं। मसूरिक तथा अपरदित पिटक द्वितीयक प्रारंभिक तथा द्वितीयक पुनरावर्ती दोनों ही प्रकार के सीफिलिस में पाये जाते हैं। मसूरिक पिटकों की सतह पर रजत-श्वेत शल्कों की बहुलता हो सकती है, जिससे वे खर्जूक्लेशिक पिटकों की तरह लगने लगते हैं (खर्जूरूपी सीफिलिड); जब इन्हें वपास्राव से ग्रस्त रोगी के चेहरे और शिरोवल्क पर उत्पन्न होते हैं, तो तैल पीताभ शल्कों से ढक जाते हैं (वपास्रावी सीफिलिक पिटक)।

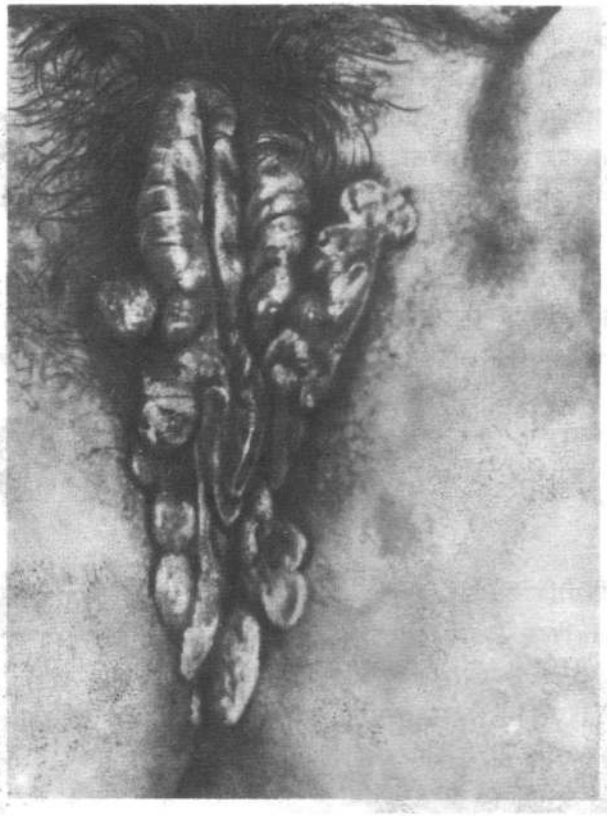

चित्र 39. चपटा कंडार्ब

सीफिलिक पिटक धीरे-धीरे गायब होते हुए तीव्र वर्णकता छोड़ जाते हैं।

ऊतलोचनी परीक्षण. सुचर्म में पिटक होने पर एक शोथी अंतस्यंदन प्राप्त होता है, जो मुख्यतः प्लाज्मा-कोशिकाओं से बना होता है; वह कुंभियों के गिर्द कौलर की तरह जम जाता है। कुंभिक अंतर्कला का स्पष्ट अतिगठन देखा जाता है।

विभेदक निदान. अंत्य झिल्ली, बिंदुक रक्तस्राव और पिटकों में संगम-प्रवृत्ति की अनुपस्थिति द्वारा खर्जूरूपी सीफिलिक पिटक खर्जूक्लेशिक पिटक से विभेदित हो जाते हैं। वपास्रावी सीफिलिक पिटकों को वपास्राव के सामान्य पिटकों से विभेदित करना कठिन है। ऐसे केसों में अन्य लक्षणों को भी ध्यान में रखना चाहिये (जैसे – धड़ और हाथ-पैर पर गुलाबिक पिटक, रक्त की सीरमलोचनी जाँच के परिणाम, रोग-वृत्त, और अंत में, विशिष्ट चिकित्सा के प्रभाव, विशेषकर विभिन्न केसों में, जब सीफिलिस और तैल वपास्राव दोनों से ग्रस्त रोगियों में सीफिलिक और वपास्रावी पिटक मिल कर उत्पन्न होते हैं)।

लाल चौरस शैवाक के पिटक सीफिलिक पिटकों से निम्न लक्षणों द्वारा विभेदित होते हैं: बहुभुज आकृति, विशिष्ट चमक, मध्य में अवनमन, संगमित होकर चकत्ते बनाने की प्रवृत्ति, खुजली (जो कुछ केसों में बहुत तीव्र होती है)। अलग-थलग वर्जरिक पिटकीय सीफिलिद शैवाकवत चर्मयक्ष्मा से बहुत मिलता-जुलता होता है; इनमें से अंतिम रोग बचपन और किशोरावस्था में अधिक पाया जाता है। निदान यक्ष्मा और सीफिलिस के सामान्य परीक्षणों के आधार पर सरल हो जाता है।

अतिपोषित पिटकों और विस्तृत कंडार्ब को निम्न से विभेदित करना पड़ता है: (1) नुकीले कंडार्ब से (जिसमें एक पतली टांग होती है; कठोर अंतर्स्यंदित आधार नहीं होता), (2) पनपू बुदबुदिया से (यह मृदु रसालु पनपाव है, जो सीरमी-पूयिक तथा रक्तस्रावी खट्ठियों से ढका होता है और अधिचर्म के रेशों या ताजे बुल्लों से घिरा होता है), और (3) रक्तस्रावसों से (इनमें रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है, सतह चिकनी होती है; पीड़ा होती है)। हथेलियों और तलवों के सीफिलिद के धब्बों को हथेलियों और तलवों के खर्जूक्लेश से विभेदित किया जाता है (जो कभी-कभी बहुत ही कठिन होता है)। तलवों और हथेलियों के पिटकीय सीफिलिद के परिसर में बैंगनी अंतर्स्यंद का एक पतला छल्ला होता है, जो शृंगी द्रव्य से ढका होता है। इसके अतिरिक्त, सीफिलिस के अन्य लक्षणों (जैसे वासेरमान की प्रतिक्रिया) और खर्जूक्लेश के अन्य लक्षणों (जैसे अक्सर नखों का ग्रस्त होना, खर्जूक नखक्लेश) को भी ध्यान में रखना चाहिये।

पीपिकीय सीफिलिद

पीपिकीय सीफिलिद चित्तिक या पिटकीय सीफिलिद की तुलना में बहुत विरलता से पाया जाता है। यह बहुत कमजोर रोगियों में और अल्कोहल का दुरूपयोग करने वाले लोगों में होता है। यह अधिकांशतः शिरोवल्क, पीठ और गोड़ों पर होता है। पीपिकीय सीफिलिदों के साथ अक्सर पिटकीय सीफिलिद भी होता है। पीपिकीय सीफिलिदों के कई रूप हैं और उन्हें अन्य पीपिकीय क्षतियों से विभेदित करना पड़ता है, जो मुख्यतः स्ताफिलोकोकी उदभिजों से उत्पन्न होती हैं।

सीफिलिक इंपेतिगो में एक पीपिका पिटक के मध्य में बनती है, जो जल्द ही सूख कर खट्ठी में परिणत हो जाती है; इसे डाक्टर साधारण इंपेतिगो से निम्न लक्षणों के आधार पर विभेदित करते हैं: क्षतियों में परिसरीय प्रसार और संगम की प्रवृत्ति अनुपस्थित होना, आत्मगत गड़बड़ियों की अनुपस्थिति, रोग-वृत्त की सूचनाएं, रक्त की सीरमलोचनी जाँच के परिणाम तथा सीफिलिस की द्वितीय अवधि की अन्य अभिव्यक्तियां।

सीफिलिक मुंहासा तल्पिकतः सामान्य मुंहासे से मिलता-जुलता होता है। निदान करने वाले को वपास्रावी संवृत्तियों (विशेषकर कोमेदोनों) की अनुपस्थिति, स्फोटों के स्थल (जो वपास्राव के लिये लंछक न हों) तथा द्वितीयक सीफिलिस के अन्य लक्षणों पर ध्यान देना चाहिये।

सीफिलिक चेचक नियमतः दुर्बल रोगियों को होता है; इसमें मटर के आकार की गोलाकार पीपिकाएं बनती हैं। इनका मध्य भाग बहुत जल्द सूख कर खट्ठी में परिणत हो जाता है और उखड़ आता है (इसी बात में यह रूपलोचनी क्षति छोटी शीतला जैसी होती है); क्षति के गिर्द भूराभ-नाल अंतर्स्यंदन का सूजन बन जाता है। क्षतियों की संख्या अक्सर बहुत कम होती है (10-20) और प्रक्रिया काफी लंबे समय तक चलती है 5-7 सप्ताह); ठीक होने पर क्षतांक नहीं बनते। चेचक और छोटी चेचक, जिसके साथ विभेदक निदान करना पड़ता है, एक तीव्र प्रवाह द्वारा लंछित होती हैं; उनमें रोगी की सामान्य (सार्वदैहिक) अवस्था बुरी हो जाती है, पीपिकाओं के गिर्द अन्तर्स्यंद नहीं होता, क्षतियां बहुत बड़ी संख्या में होती हैं, द्वितीयक सीफिलिस के अन्य लक्षण (जिनमें वासेरमान की प्रतिक्रिया के लिये रक्त की ऋणात्मक जाँच भी शामिल है) अनुपस्थित होते हैं।

सीफिलिक एक्थीमा पीपिकीय सीफिलिद की एक बहुत ही विरल, लेकिन तीव्र (उग्र) अभिव्यक्ति है। क्षतियों की संख्या अक्सर बहुत कम होती है (कोई दसेक)। वे मुख्यतः गोड़ों की अग्र सतह और कभी-कभी धड़, हाथ-पैर और शिरोवल्क पर स्थित होती हैं। सीफिलिक एक्थीमा सीफि-

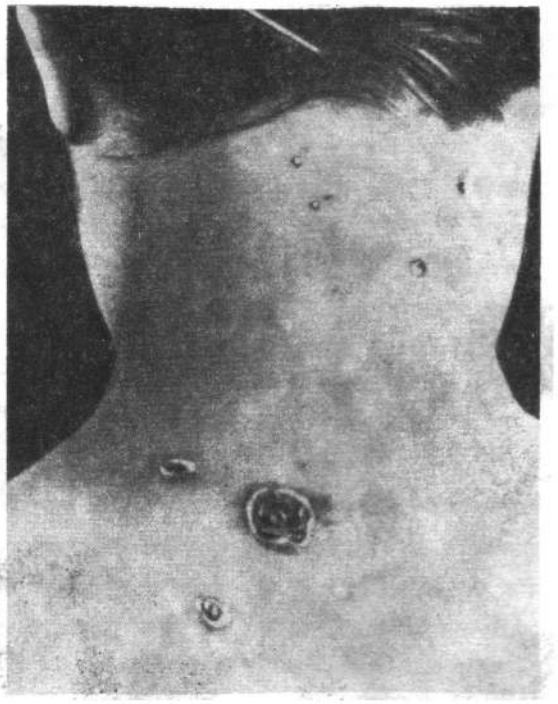

चित्र 40. सीफिलिक एक्थीमा

लिस के दुर्दम प्रवाह का प्रमाण माना जाता है और यक्ष्मा (गंठिक्लेश) से दुर्बल हुए लोगों तथा अल्कोहल का दुरूपयोग करने वालों को अपना शिकार बनाता है। यह पैठन के बाद छे महीने से पहले नहीं विकसित होता। तल्पिक चित्र गहरी पीपिका द्वारा लंछित होता है, जिसपर मोटी कत्थई-भूरी खट्ठी चढ़ी होती है, मानो उसे दबा कर चर्म में धँसा दिया गया हो (चित्र 40)। खट्ठी के नीचे-नीचे ही व्रण बनता है, जो ठीक होने पर चिकना क्षतांक छोड़ जाता है। क्षति के परिसर में कठोर व तांबे की तरह लाल अंतर्स्यंद बनता है, जो सामान्य एक्थीमा में नहीं होता। सीफिलिसी एक्थीमा के प्रिय स्थल गोड़ों की अग्र सतहें हैं, जबकि सामान्य एक्थीमा अक्सर पीठ के एक छोटे क्षेत्र और नितंबों पर पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, सामान्य एक्थीमा की क्षति के गिर्द एक विसरित लाली भी पायी जाती है लेकिन ऐसी लाली सीफिलिसी एक्थीमा में भी हो सकती है, जब वह द्वितीयक पैठन से क्लिष्ट हो जाता है। निदान इसलिये भी गठिन होता है कि सीफिलिसी एक्थीमा में सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं शरीर की अनूर्जिता के कारण अक्सर ऋणात्मक होती हैं।

सीफिलिसी रूपिआ एक्थीमा का ही एक रूप है, जिसमें पटलित शंक्वाकार खट्ठियां बनती हैं। क्षति का परिसरीय प्रसार और खट्ठी के नीचे एक वृहत व्रण की उपस्थिति रूपिआ के विशेष लक्षण हैं। यह रोग शुरू होने के बाद साल भर से पहले विकसित नहीं होता; एक्थीमा की तरह यह भी सीफिलिस के दुर्दम प्रवाह का लक्षण है।

श्लेष्मल झिल्लियों का द्वितीयक सीफिलिद

श्लेष्मल झिल्लियों के द्वितीयक सीफिलिद बहुत आम क्षतियां हैं और छादक (आवरणक) उपकला की भंगुरता तथा मसृणन के कारण पैठन के संक्रमण की दृष्टि से बहुत ही खतरनाक है ; इसकी छूत यौन संपर्क से ही नहीं, दैनंदिन संपर्कों से भी लग सकती है। इससे अधिकांशतः मुख-कोटर, कंठ, नुरलुरी, सिंदूरी सीमा और वृहत एवं लघु भगोष्ठों की श्लेष्मल झिल्लियां ग्रस्त होती हैं। इन पर (चर्म की ही तरह) चित्तिक, पिटकीय तथा पीपिकीय सीफिलिद होते हैं। बहुत से सीफिलोलोचक श्लेष्मल झिल्लियों पर सीफिलिसी गुलाबिका के उत्पन्न होने की संभावना को मानते हैं, पर श्लेष्मल-झिल्लियों के खुद गुलाबी होने के कारण इन क्षतियों (गुलाबिकाओं) को व्यवहारतः देख पाना (अलग कर पाना) संभव नहीं होता। संगमित गुलाबिक क्षतियों के वृहत ललामिक क्षेत्र टोंसिलों तथा मृदु तालु पर पहचाने जा सकते हैं (ललामिक सीफिलिक टोंसिल शोथ) ; ये एकतरफा व दुतरफा हो सकते हैं और इनमें कोई आत्मगत अनुभूति, सार्वदैहिक लक्षण या ज्वर नियमतः नहीं होता। इसके अतिरिक्त ललामिक अधिकेंद्रों की अवछिन्न सीमा और उनकी नीली आभा के कारण उन्हें स्त्रेप्तोकोकी हेतुलोचन के अतिश्यायी टोंसिलशोथ की अवस्था से विभेदित करना संभव हो जाता है। स्क्रीप्किन का कथन है कि श्लेष्मिक चित्तिक सीफिलिद के रूप में ललामिक टोंसिल द्वितीयक सीफिलिस से ग्रस्त 47 से 55 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है।

सीफिलिक पिटक श्लेष्मल झिल्लियों की सबसे आम क्षतियां हैं। अधिकांशतः मसूरिक पिटक होते हैं। वे चपटे, गोल, गाढ़ा लाल, छूने में कठोर, स्पष्ट परिसीमित तथा त्वचा से हल्का उभरे हुए होते हैं। पिटकीय टोंसिलशोथ द्वितीयक सीफिलिस के 12 से 15 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है। मुख-श्लेष्मला की उपकला के मसृणित होने के कारण पिटक दूधिया श्वेत रंग के हो जाते हैं, जिनके परिसर पर चारों ओर से गाढ़े लाल रंग का छल्ला बन जाता है ; पिटकों का बाद में अपरदन होने लगता है, वे अक्सर प्रसारित हो कर संगमित भी हो जाते हैं। टोंसिलों के अतिरिक्त मुंह में सीफिलिसी पिटकों के अन्य स्थल निम्न हैं: मृदु तालू, होठ, जीभ की श्लेष्मल झिल्ली (मुख्यतः उसकी किनारी पर) और मसूढ़े। श्लेष्मिक पिटकों से कोई आत्मगत अनुभूति नहीं होती, सुकुमारता बढ़ती है और उनके गिर्द अतिरक्तिल क्षेत्र बन जाते हैं। स्वर-यंत्र तथा कंठ पर पिटकों के अवस्थित होने के कारण आवाज रुक्ष हो जाती है, या बिल्कुल ही नहीं निकलती (पूर्ण स्वरहानि) विभेदक निदान टोंसिलशोथ के विभिन्न रूपों, कंठ की डिफ्थेरिआ और विंसेट के टोंसिलशोथ के साथ किया जाता है, जो हठात् आरंभ होते हैं ; इनका प्रवाह तीव्र होता है, इनमें पीड़ा और उग्र सार्वदैहिक संवृत्तियां प्रेक्षित होती हैं। व्रण और श्वेतव्रणीय मुखशोथ में तीव्र सुकुमारता, अपरदन की अनुपस्थिति और उनके गिर्द तीव्र रक्तस्फीति पायी जाती है। वे तेजी से शुरू होते हैं अपरदनों के गिर्द बुल्लों के अवशेष एक छल्ला सा बना लेते हैं। कभी-कभी मुंह में स्थित लाल कोशिका शैवाक के पिटकों व धब्बों को विभेदित करना मुश्किल हो जाता है, विशेषकर जब वे जीभ की श्लेष्मला पर होते हैं। ऐसे केसों में रक्त की सीरमलोचनी जाँच के परिणामों पर और साथ की क्षतियों की प्रकृति पर भी ध्यान देते हैं। (यदि वे शरीर के अन्य भागों में भी हैं, जैसे धड़, हाथ-पैर, जननेंद्रियों पर)। पीपिकीय सीफिलिद श्लेष्मल झिल्लियों पर अब नहीं पाये जाते।

सीफिलिसी खल्वाटता

सीफिलिक खल्वाटता सूक्ष्म-अधिकेंद्रिक, विसरित या मिश्र होती है। सूक्ष्म-अधिकेंद्रिक खल्वाटता सर पर बालों के विरल होने के छोटे-छोटे गोल अधिकेंद्रों के रूप में दिखती है ; उनमें कोई शोथ

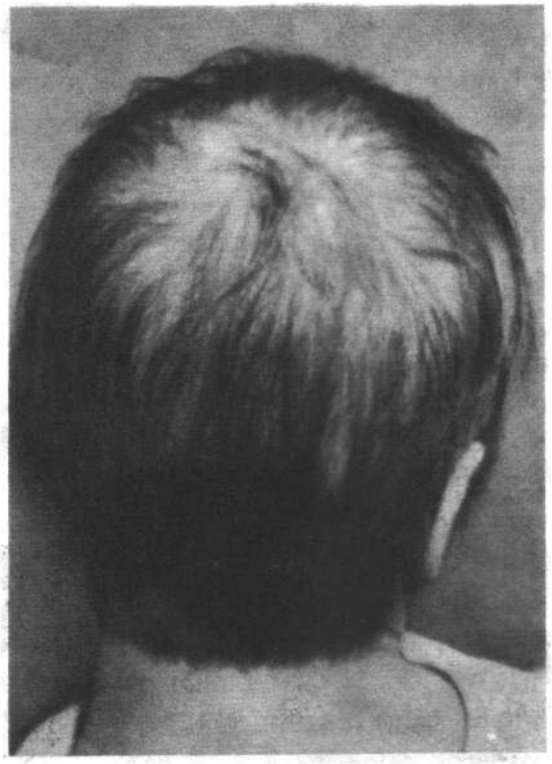

चित्र 41. विसरित सीफिलिक खल्वाटता

या शल्कन नहीं होता (चित्र 41)। विसरित खल्वाटता में बाल पूरे सर से (लेकिन विशेष कर कनपटियों की ओर से) नियमित रूप से झड़ते रहते हैं। सीफिलिस से बाल झड़ना द्वितीयक सीफिलिस के 15 से 18 प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है; इनमें भी द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस के रोगियों की संख्या अधिक होती है। दाढ़ी, भौंह और पपनी के क्षेत्रों में सीफिलिसी खल्वाटता (निर्लोमता) कम प्रायिक है (जो वैसे 'पिन्कुस के लक्षण' नाम से जानी जाती है)। सूक्ष्म-अधिकेंद्रिक खल्वाटता को सेल्सस की खोंतेदार खल्वाटता से विभेदित किया जाता है, जिसमें अधिकेंद्रों की संख्या कम होती है, लेकिन वे बड़े होते हैं और उनमें परिसरीय प्रसार और संगम की प्रवृत्ति होती है। इसे शिरोवल्क के सतही लोमतृणत्व और सूक्ष्मस्पोरता से भी विभेदित करना पड़ता है, जिनमें बाल बीच से टूटते हैं और आक्रांति-क्षेत्र में शल्कन विकसित होने लगता है। विसरित सीफिलिसी खल्वाटता को विसरित वपास्रावी खल्वाटता के साथ विभेदित किया जाता है। द्वितीयक सीफिलिस के अन्य लक्षण तथा रक्त की सीरमलोचनी जाँच के परिणाम रोग को पहचानने में सहायक होते हैं।

सीफिलिसी चर्मश्विति या वर्णकीय सीफिलिद

वर्णकीय सीफिलिद रोगियों में पैठन के बाद 5 से 6 महीना पहले नहीं उत्पन्न होता, अर्थात् वह द्वितीयक पुनरावर्ती काल में शुरू होता है। श्वेताभ (मानो निर्वर्णकित हो), गोल या अंडाकार धब्बे गरदन की पार्श्व एवं पश्च सतहों, काँख और वक्ष की अंतिवर्णकित त्वचा पर जाली

की तरह छा जाते हैं। प्रमस्तिष्क मेरुक द्रव में नियमतः अपसामान्यता उत्पन्न हो जाती है, लेकिन वर्तमान परीक्षण-रीतियों से सीफिलिक चर्मश्विति के अधिकांश रोगियों के नर्वतंत्र की तल्पिक आक्रांति के प्रत्यक्ष या विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल पाते।

चर्मश्विति के साथ कभी-कभी खल्वाटता भी पायी जाती है (पुनरावर्ती सीफिलिस के 8 प्रतिशत रोगियों में)। द्वितीय महायुद्ध के समय जब जीवन-परिस्थितियां बहुत बदतर हो गयी थीं, चर्मश्विति और खल्वाटता अधिक प्रायिक हो गयी थी। उदाहरणार्थ, 1942-43 में चर्मश्विति पुनरावर्ती सीफिलिस के 68 प्रतिशत रोगियों में पायी गयी थी, जबकि युद्धपूर्व वह सिर्फ 20 प्रतिशत रोगियों में पायी जाती थी। पिछले वर्षों से चर्मश्विति सिर्फ 10 से 15 प्रतिशत रोगियों में मिलती है और इनमें से 98 प्रतिशत केसों में वह गरदन पर पायी जाती है। यह कुछेक महीनों में गायब हो जाती है (अक्सर विशिष्ट चिकित्सा के बिना ही)।

इस प्रकार, द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस बहुरूप स्फोटों द्वारा लंछित होता है, जिनमें निम्न की बहुलता होती है: गुलाबिक तथा पिटकीय सीफिलिद, ग्रंथिक्लेशिक गुलाबिकाएं (कणीय एवं रक्त-स्रावी), हथेलियों एवं तलवों के सीफिलिदों की जल्द शुरुआत और उनकी संख्या में वृद्धि, लसीका-तंत्र की प्रातक्रिया में क्षीणता, कठव्रण और क्षेत्री कठग्रंथिशोथ के अवशेषों का अपेक्षाकृत उच्च प्रतिशत अंश, संक्रमणकालीन रूप के केसों में वृद्धि, और उग्रता-प्रतिक्रिया की उच्च प्रायिकता।

द्वितीयक प्रारंभिक सीफिलिस के बाद शुरू होने के अतिरिक्त द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस की निम्न विशेषताएं हैं: विस्फुटी की बहुरूप प्रकृति का प्राबल्य, पीपिकीय सीफिलिद की अपेक्षाकृत कम प्रायिकता, सीफिलिक खल्वाटता के केसों में कुछ वृद्धि, तलवों व हथेलियों के सीफिलिदों का कुछ पहले शुरू होना और उनके केसों में वृद्धि, बहुलसग्रंथिशोथ का बना रहना, कुछ रोगियों में कठव्रण और क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ के अवशेषों की उपस्थिति, और संक्रमणकालीन रूपों का मिलना, जिससे द्वितीयक पुनरावर्ती और प्रारंभिक सीफिलिस का विभेदक निदान कठिन हो जाता है। द्वितीयक सीफिलिस के दुर्दम प्रवाह के लक्षणों में तीव्र कमी इस बात का साक्षी है कि सीफिलिक पैठन में पिछले वर्षों से सुदम प्रवाह ग्रहण करने की प्रवृत्ति है।

आंतर अंगों, नर्वतंत्र और गतिप्रेरक (मोटर) उपकरण की आक्रांति

इस प्रकार की आक्रांतियां कम प्रायिक हैं, लेकिन वे बहुत विविध रूप और सुदम प्रवाह ग्रहण कर सकती हैं। बोत्किन के रोग (पैठनजनित यकृतशोथ) से मिलते-जुलते तीव्र यकृतशोथ का एक चित्र बहुत ही विरल केस है (इसमें पीलिया भी होती है)। यकृत वर्धित और सुकुमार हो जाता है और इसके कार्य (वर्णकीय, प्रतिगारक, कार्बोहाइड्रेट आदि) व्यवधानित हो जाते हैं। प्लीहा-वर्धन काफी अधिक केसों में मिलते हैं। इन रोगियों में रक्त का सीरमलोचनी परीक्षण नियमतः तीव्र धनात्मक होता है, जो सीफिलिस के अन्य लक्षणों के साथ मिलकर यकृतशोथ का हेतुलोचन पहचानने में सहायक होता है।

यकृत की आक्रांति के साथ वृक्कों के ग्रस्त होने के लक्षण भी पाये जा सकते हैं। इनमें सबसे पहले सुदम प्रोटीनूरिया, जो मूत्र में सिर्फ प्रोटीन की उपस्थिति द्वारा अभिव्यक्त होती है (0.1-0.3 प्रति हजार), और सीफिलिक लिपोइड नेफ्रोसिस (वसासम गुर्दक्लेश) आते हैं।

द्वितीयक अवधि में हृत्कुंभिक आक्रांति सीफिलिक पेशीशोथ के रूप में हो सकती है (हल्की थकान, सामान्य कमजोरी, हँफनी), जिसका निदान विद्युहृत्लेख की सहायता से संभव होता है।

सीफिलिक जठरशोथ (मतली, वमन, अनभुख, जठर-रस की अम्लता में कमी) और शुष्क सीफिलिक प्लूराशोथ भी बहुत विरल हैं।

सीफिलिस के द्वितीयक चरण में नर्वतंत्र की आक्रांतियां निम्न रूपों में होती हैं: अव्यक्त सीफिलिक छादिकाशोथ, तीव्र सार्विक छादिकाशोथ और सीफिलिक हाइड्रोसेफालस।

द्वितीयक सीफिलिस के कुछ रोगियों में व्यवधानित निद्रा, चिड़चिड़ापन और भूख की एक अनुभूति प्रेक्षित होती है।

यदि विशिष्ट चिकित्सा ठीक समय पर शुरू कर दी जाती है, तो द्वितीयक अवधि में नर्वतंत्र और आंतर अंगों की आक्रांतियां चिकित्सा (विशेषकर पेनीसिलिन से चिकित्सा) के प्रति पर्याप्त सही प्रत्युत्तर देती हैं और जल्द ही ठीक होने लगती हैं।

गतिप्रेरक उपकरण की आक्रांति की अधिकतम प्रायिक अभिव्यक्तियों में से एक है – अस्थियों में दर्द। यह प्राथमिक सीफिलिस के अंत में और द्वितीयक के आरंभ में होता है। यह विशेषकर पैरों की लंबी, नलीनुमा हड्डियों में महसूस होता है; रात को पीड़ा अक्सर तीव्र हो जाती है (रात्रिकालीन अस्थि-पीड़ा)। अस्थियों में कोई वस्तुगत परिवर्तन नहीं होता। पर्यस्थिशोथ और अस्थिपर्यस्थिशोथ रातों को यंत्रणादायक पीड़ा उत्पन्न करते हैं, लेकिन ऐसी आक्रांतियां सीफिलिस के द्वितीयक चरण में बहुत ही विरल हैं। वे अक्सर टीबिआ (बड़ी टंगास्थि) और कपाल में होती हैं।

विशिष्ट चिकित्सा से मोटर-उपकरण की सीफिलिसी आक्रांतियां बहुत जल्द ठीक हो जाती हैं।

तृतीयक सीफिलिस (सीफिलिस का तृतीय चरण)

सीफिलिस के तृतीय चरण का विकास बहुत कम रोगियों में होता है, जिनकी चिकित्सा उपेक्षित होती है या बिल्कुल ही नहीं होती। बहुत अधिक और बहुत कम उम्र, चोटें (शारीरिक, मानसिक, औषधज), चिरकालिक रोग और गरलक्लेश, अल्कोहलिज्म – ये सारे घटक तृतीयक सीफिलिस के विकास को संप्रेरित करते हैं। सीफिलिस की यह अवधि पैठन के तीन या चार साल बाद शुरू होती है, यद्यपि पिछले दशकों से आठ से दस वर्षों में इसके विकसित होने की प्रवृत्ति पनप रही है। सोवियत संघ में तृतीयक सीफिलिस एक विरल घटना है। जार के रूस में इसके केस अक्सर पाये जाते थे, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में।

द्वितीयक अवधि के विपरीत तृतीयक सीफिलिस की तल्पिक अभिव्यक्तियां मुख्यत: स्थानीय होती हैं; इसमें अक्सर चर्म और श्लेष्मल झिल्ली ही नहीं, बल्कि आंतर अंग, नर्वतंत्र और गतिप्रेरक उपकरण भी ग्रस्त हो जाते हैं। क्षतियों के अपचोषण के बाद क्षतांक रह जाता है। तृतीयक सीफिलिस का गदोअनाटोमिक सार एक पैठी कणार्ब है, जो अपनी अवस्थिति के कारण कुछ केसों में उस अंग के कार्य में गड़बड़ियां उत्पन्न कर देता है, जिसपर वह अवस्थित होता है।

सीफिलिस की तृतीयक अवधि सक्रिय तृतीयक सीफिलिस और अव्यक्त तृतीयक सीफिलिस में बाँटी जाती है। चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों की आक्रांति (तृतीयक सीफिलिद) चर्म पर गंठिकाओं या रालार्बों के रूप में हो सकती है; ये रूपलोचनी क्षतियां अवचार्म ऊतकों, पेशियों, अस्थियों, आंतर अंगों और नर्वतंत्र में भी होती हैं। क्षतियों की संख्या बहुत कम होती है (गंठिकाएं दर्जनों में बनती हैं, लेकिन रालार्ब इक्के-दुक्के होते हैं)। ये दुर्दम प्रवाह ग्रहण करते हैं और हमेशा क्षतांक छोड़ जाते हैं, (किसी जीवनावश्यक अंग पर होने से घातक हो जाता है)। यदि कोई चिकित्सा नहीं होती, तो क्षतियां बहुत धीरे-धीरे ठीक होती हैं। वे बहुत छुतहा नहीं होतीं (त्रेपोनेमा बहुत कम संख्या में

होते हैं और अंतर्स्यंद में बहुत गहराई पर रहते हैं)। क्षतियां एंटीसीफिलिक चिकित्सा (विशेषकर आयडीन के प्रसाधनों तथा भारी धातुओं के लवणों से ठीक हो जाती हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि तृतीयक अवधि में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं 25 से 35 प्रतिशत रोगियों में ऋणात्मक होती हैं। त्रे. पालीडुम के स्थिरकरण के लिये रक्त-परीक्षण के परिणाम बहुत विरले ऋणात्मक होते हैं, इसीलिये तृतीयक अवधि में इसका निदानिक महत्त्व बहुत अधिक है।

गंठिकीय सीफिलिद

गंठिकीय सीफिलिद अक्सर नन्हे चर्म-क्षेत्रों पर और नियमतः असममित रूप से उत्पन्न होते हैं। गंठिकाएं अर्धवर्तुलाकार, तांबे की तरह लाल (लेकिन नीली आभा के साथ) और चेरी के आकार की होती हैं। यह कठोर होती है और इसकी सीमाएं अवछिन्न होती हैं। सीफिलिक गंठिकाओं के अंतर्स्यंद की विमृति शुष्क प्रकार की होती है या उसका व्रणन हो जाता है। प्रथम स्थिति में गंठिका के अपचोषण के बाद अपोषण (अपोषणजनित क्षतांक) रह जाता है। दूसरी स्थिति में व्रणन क्षतांकों का एक संकुचित ग्रुप छोड़ जाते हैं, जिनके गिर्द वर्णकित छल्ला बन जाता है। गंठिकाएं अलग-अलग पालियों में निकलती हैं, इसलिये वे अपचोषण के अलग-अलग चरणों पर होती हैं। इसके फलस्वरूप चितकबरे क्षतांक बन जाते हैं (विशेषकर ग्रुपों में गंठिकीय सीफिलिद निकलने पर), जिससे अनेक वर्षों बाद भी पता चल जाता है कि रोगी तृतीयक सीफिलिस से ग्रस्त रहा है। ग्रुपों में गंठिकीय सीफिलिदों का निकलना सबसे प्रायिक घटना है; इसमें गंठिकाएं गुच्छों या ग्रुपों के रूप में निकलती हैं, पर संगमित नहीं होतीं। विसर्पी (रेंगने वाले) गंठिकीय सीफिलिद भी होते हैं, जो प्रसारित होते हुए संगमित होते जाते हैं; मध्य भाग के सीफिलिद ठीक होते जाते हैं और परिसर में नयी गंठिकाएं निकलती जाती हैं (चित्र 42)। आपस में संगमित हो कर एक चकत्ता बनाने वाले गंठिकीय सीफिलिद और बाजरे के आकार की 'बौना' सीफिलिक गंठिकाएं अपेक्षाकृत कम नजर आती हैं। गंठिकीय सीफिलिद कोई आत्मगत गड़बड़ी नहीं उत्पन्न करते।

गंठिकीय सीफिलिद को पहले सामान्य वृका से विभेदित करना पड़ता है, जिसमें गंठिकाएं (वृकार्ब) मुलायम होती हैं (इसी कारणवश पोस्पेलोव की 'सींक-संवृत्ति' धनात्मक होती है, अर्थात् कुंद सींक से वृकार्ब को भोंका जा सकता है या उसके मुलायम ऊतक में गड्ढा उत्पन्न किया जा सकता है) और उनका रंग डायेस्कोपी में पीली आभा से युक्त हल्का लाल होता है ('सेब की जेली' नामक संवृत्ति)। सामान्य वृका में गंठिकाएं अक्सर अधिक चपटी होती हैं, त्वचा से बहुत कम उभरी होती हैं। वे संगम कर के विस्तृत आक्रांति के अधिकेंद्र बनाने की प्रवृत्ति रखती हैं, अंत में विस्तृत अपोषज निर्वणकित क्षतांक छोड़ जाती हैं, जिसके मध्य अक्सर नये वृकार्ब विकसित हुआ करते हैं। जब वृकार्बों की विमृति होती है, अनियमित एवं अपरदित परिरेखाओं वाले व्रण बनते हैं; ये ललछौंह नीले होते हैं, इनकी किनारियां मुलायम एवं अनियमित आकृति की होती हैं, तली कणमय होती है। सामान्य वृका कई वर्षों तक रहती है। सीफिलिक गंठिकाएं कठोर, सूअर के सुखाये मांस की तरह लाल या गाढ़ा लाल होती हैं; ये अक्सर बिना संगमित हुए एक अधिकेंद्र में ग्रुपित होती हैं। यदि सीफिलिस में गंठिकाएं व्रणित होती हैं, तो व्रणों की परिरेखाएं नियमित गोल होती हैं, किनारियां ढलान के साथ एवं अपरदित होती हैं, तली साफ और चिकनी होती है और आधार में संघन-प्रत्यास्थ अंतर्स्यंद होता है। सीफिलिसी गंठिकाओं के बाद जो क्षतांक बनते हैं, वे बहुरंगी होते हैं, क्योंकि उनकी वर्णकता अनियमित और असमरूप होती हैं ('शबलित

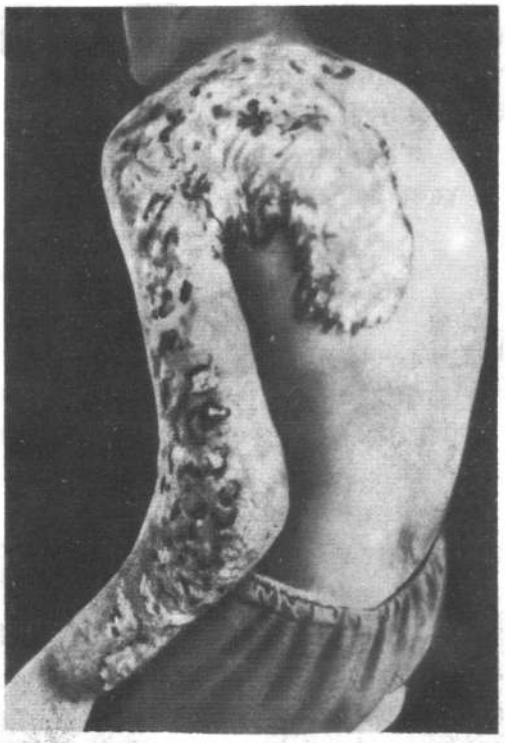

चित्र 42. तृतीयक सीफिलिस. विसर्पी सीफिलिद

क्षतांक') ; उन पर नयी गंठिकाएं कभी नहीं बनतीं। रोग सप्ताहों या महीनों तक रहता है, इससे अधिक बहुत विरल रूप से पाया जाता है।

सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं (जो कुछ रोगियों में धनात्मक होती हैं) और त्रे. पालीडुम के स्थिरकरण तथा इमूनोसंदीप्ति की जाँचें भी (जो अधिकांश रोगियों में धनात्मक होती हैं) और अंत में, आजमाइशी एंटीसीफिलिक चिकित्सा की कारगरता – ये सब गंठिकीय सीफिलिद को पहचानने में सहायक होती हैं।

कभी-कभी सीफिलिक गंठिकाओं और चार्म लेइशमैनता (बोरोव्स्की-रोग) में विकसित होने वाली गंठिकाओं के बीच भी विभेदक निदान करना पड़ता है। लेइशमैनता की गंठिकाएं पीताभ रंग, पेस्ट जैसी या हल्की सघनता और अधिकेंद्रों के परिसर में पर्विकीय लसकुंभिशोथ की उपस्थिति द्वारा लंछित होती हैं। रोग-वृत्त (लेइशमैनता के अंतर्जानपदिक क्षेत्र में रोग लगना) और स्राव के सूक्ष्मदर्शन से प्राप्त परिणामों (बोरोव्स्की-कायों के अनुवेदन) को ध्यान में रखा जाता है।

सीफिलिसी रालार्ब या रालार्बिक सीफिलिस

अवचार्म ऊतकों में बेरी के आकार की एक पीड़ाहीन पर्विका बनती है, जो चर्म या आसपास के ऊतकों के साथ संसंजित नहीं होती। यह धीरे-धीरे बढ़ती है, चर्म के साथ संगलित (फ्यूज) हो कर सुचलता खो देती है। चर्म नीला-लाल हो जाता है और सुकुमारता (छूने से पीड़ा की अवस्था) विकसित होती है। पर्विका मध्य में मुलायम हो जाती है, उसमें एक नन्हा मुँह खुल जाता है, जिससे

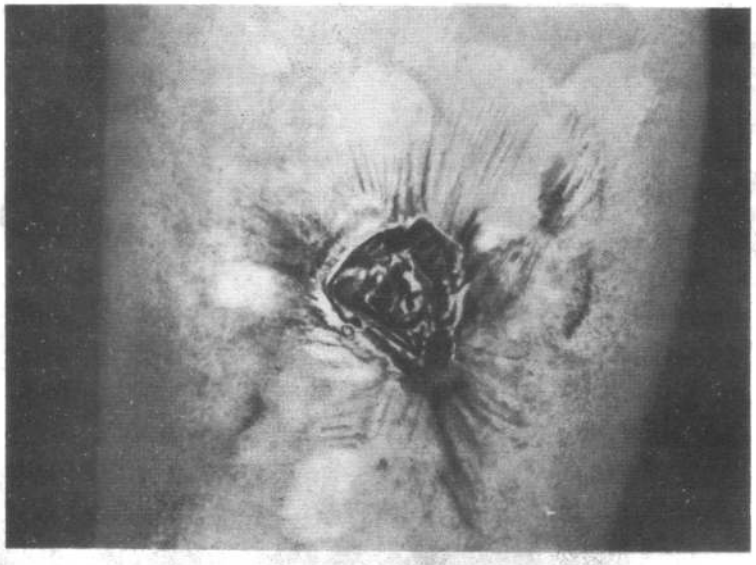

चित्र 43. रालार्बिक व्रण

राल जैसा द्रव्य स्रावित होता है; इसीलिये इसका नाम रालार्ब पड़ा है। मुँह बड़ा होता जाता है और तली के साथ खड़ी ढलान बनाने वाली कठोर किनारियों से युक्त व्रण बन जाता है (चित्र 43)। विमृतिक ऊतक – रालार्बिक क्रोड़ (हीर) – व्रण की तली में पाया जाता हैं; यह धीरे-धीरे अलग होता है, जिसके बाद व्रण का क्षतांकन होता है। एक गहराई में स्थित सिकुड़नों से भरा हुआ क्षतांक बनता है। बहुत विरल केसों में रालार्ब बिना व्रणित हुए अपचोषित हो जाता है। रोगी को अक्सर एक रालार्ब होता है, अधिक रालार्ब बहुत विरल केसों में होते हैं। रालार्ब अक्सर पैरों की सतह, ललाट और प्रबाहु पर बनते हैं। कभी-कभी रेशेदार रालार्ब, विशेषकर पर्विकीय, बनते हैं (अधिकांशतः घुटनों और कोहनियों पर)। अपचोषित हो कर रालार्ब छोटे हो जाते है (पिंघल या हैजेल-नट के आकार के) और उनके अंतर्स्यंद की जगह रेशेदार ऊतक वन जाते हैं, जिससे पर्विकाओं में उपास्थि की तरह का कड़ापन आ जाता है। वे विशिष्ट चिकित्सा का बहुत प्रतिरोध करते हैं।

तृतीयक सीफिलिद (रालार्ब और गंठिकाएं) अक्सर नाक, मृदु तालू और लुरलुरी की श्लेष्मल झिल्लियों पर उत्पन्न होते हैं। नाक की हड्डियों के ग्रस्त होने पर नासा-सेतु धँस जाता है (नाक घोड़े के जीन की तरह बीच में धँसी हुई बन जाती है) या नाक की विभाजक भित्ति के अस्थिल भाग में छेद हो जाते हैं। कठोर व मृदु तालू में छेद और लुरलुरी के विनाश के कारण आवाज में नकियाहट आ जाती है और खाते वक्त भोजन नासा-कोटर में चला जाता है। रालार्बिक अस्थिपर्यस्थिशोथ (चित्र 44) या अस्थिपेशीशोथ अक्सर बड़ी टंगास्थि और कपाल की अस्थियों में होते हैं। अस्थियां मोटी हो जाती हैं, या अंतर्स्यंद अपघटित हो कर व्रण बना देता है, जिसके बाद ऊतक का क्षतांकन हो जाता है।

रालार्ब या गंठिक सीफिलिस बनने पर ऊतलोचनी चित्र में पैठी कणार्ब जैसे शोथी अंतर्स्यंद और रक्तवाही कुंभियों में स्पष्ट परिवर्तन नजर आते हैं। रालार्ब के केस में अंतर्स्यंद अवचार्म ऊतकों में

चित्र 44. पैर के बहुसंख्य रालार्ब

पाया जाता है, फिर वह सुचर्म में फैल जाता है ; गंठिकीय सीफिलिद के केस में वह सिर्फ सुचर्म में पाया जाता है। अंतर्स्यंदों में अनेकानेक प्लाज्मा-कोशिकाएं, लसकोशिकाएं, ऊतकोशिकाएं और न्यूनाधिक रूप से काफी संख्या में वृहत एवं उपकलावत कोशिकाएं होती हैं। विमृति के अधिकेंद्र रालार्बिक अंतर्स्यंदों में पाये जाते हैं। अंतर्कला का बहुलन कुंभियों (विशेषकर बड़ी कुंभियों की दीवारों) में देखा जाता है, जिससे उनमें अवरोध उत्पन्न हो जा सकता है।

निदान रालार्ब के प्रारंभिक विकास-चरण पर बहुत कठिन होता है, लेकिन उसके व्रणन के बाद बहुत सरल हो जाता है (रालार्बिक व्रण के लंछक तल्पिक चिह्न के कारण) ; जब रोगी डाक्टर के पास तारे की आकृति जैसे क्षतांक के साथ पहुँचता है, तो इस स्थिति में भी निदान सरल होता है।

सीफिलिक रालार्ब को कंठमाल-चर्मता से विभेदित करना पड़ता है। कंठमाल-चर्मता में पर्विकाएं अधिक मुलायम होती हैं, उनका पूर्ण व्रणन होता है ; व्रणों की किनारियां मुलायम होती हैं और उनकी तली पीताभ कणीकरण से ढकी होती है। कठललामी के साथ भी विभेदक निदान किया जाता है, जिसमें पैरों पर सममित रूप से व्यवस्थित बहुसंख्य पर्विकाएं बनती हैं, कभी-कभी अपरदित किनारियों वाले व्रण भी उत्पन्न होते हैं। कर्कार्बिक व्रणों से विभेदित करने में इनके निम्न लक्षणों के साथ तुलना करते हैं : कठोर, उभारयुक्त, शोफित या 'औंधी' (बहिर्वलित, एवर्टेड) किनारियां और असमतल व सरलता से रक्तस्राव करने वाली तली।

सीफिलिस के परवर्ती रूपों में (जिनमें एकल रालार्ब या विसरित अंतस्यंदन जैसे तृतीयक सीफिलिद भी आते हैं) आंतर अंगों, नर्वतंत्र और मोटर उपकरण की आक्रांतियों का वर्णन आगे दिया गया है।

गुप्त (अव्यक्त) सीफिलिस

डाक्टरों को दैनंदिन चिकित्सानुशीलन में ऐसे रोगी भी मिलते हैं, जिनमें सीफिलिस का निदान सिर्फ धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया पर आधारित करना पड़ता है, क्योंकि रोगी के शरीर में किसी विशिष्ट पैठन की उपस्थिति का संकेत देने वाली सभी तल्पिक अभिव्यक्तियां (चर्म व श्लेष्मल झिल्लियों की क्षतियां; आंतर अंगों, नर्वतंत्र, गतिप्रेरक उपकरण या भार सहन करने वाले उपकरण की आक्रांति के लक्षण) अनुपस्थित होते हैं। बहुत से वैज्ञानिक सांख्यिकीय आँकड़े प्रस्तुत करते हैं, जिनके अनुसार अव्यक्त या गुप्त सीफिलिस के केस अनेक देशों में बढ़े हैं। उदाहरणार्थ, निरोधक परीक्षणों में, स्त्री-आयुर मंत्रणालयों और अस्पतालों में अव्यक्त सीफिलिस के 90 प्रतिशत केस मिलते हैं (सीफिलिस के कुल केसों में)। इसके कारण हैं—जनसंख्या का आपूर्ण परीक्षण (अर्थात् निदानिकी में सुधार) और रोगियों की संख्या में वास्तविक वृद्धि (इसका निम्न कारण बताया जाता है: लोगों द्वारा प्रतिजीवकों का विस्तृत उपयोग; प्रतिजीवकों से वे सहवर्ती रोगों की ही नहीं, बल्कि सीफिलिस की अभिव्यक्तियों की भी चिकित्सा कर लेते हैं, जिन्हें वे रतिज रोगों के लक्षण की बजाय ठंड, परोर्जन आदि की अभिव्यक्तियां मान बैठते हैं)।

अव्यक्त सीफिलिस का निदान वाले रोगियों का ग्रुप इमूनोजीवलोचनी एवं बहुमारीलोचनी दृष्टि से समज नहीं होता (सभी रोगी एक समान नहीं होते)।

रोगों, चोटज क्षतियों और मृत्यु के कारणों के अंतर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के अनुसार अव्यक्त सीफिलिस के दो रूप हैं—प्रारंभिक और परवर्ती; एक अव्यक्त निर्दोष सीफिलिस भी विभेदित किया जाता है।

प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस समय के अनुसार प्राथमिक सेरोधनात्मक सीफिलिस से द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस की अवधि के साथ संपात करता है; लेकिन इसमें कोई सक्रिय अभिव्यक्ति नहीं होती (पैठन के बाद औसतन दो वर्ष तक)। लेकिन रोगी प्रारंभिक सीफिलिस का छुतहा रूप किसी भी क्षण विकसित कर लेते हैं। इसी से आरंभिक अव्यक्त सीफिलिस के रोगियों को बहुमारीलोचनी दृष्टि से खतरनाक मानना चाहिये और एंटीबहुमारिक युक्तियां सतर्कता से लागू करनी चाहिये (रोगी को अलग करना, उसके यौन संगियों का परीक्षण करना, आवश्यकतानुसार बलपूर्वक चिकित्सा करना, आदि)। सीफिलिस के अन्य प्रारंभिक रोगियों की ही तरह प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस के रोगियों की भी चिकित्सा का उद्देश्य शरीर से सीफिलिक पैठन को जल्द से जल्द दूर करना होता है।

सीफिलिस के इस रूप का निदान करने में निम्न सूचनाएं सहायक हो सकती हैं: (1) सावधानी सेरोग-वृत्त तैयार करना चाहिये जिसमें पिछले एक या दो वर्ष से जननेंद्रियों पर व मुँह में अपरदित एवं व्रणित विस्फुटियां, चर्म पर विभिन्न विस्फोटों, प्रतिजीवकों के उपयोग ('गलशुंडी' और 'इनफ्लुएंजा' के लिये), सुजाक की चिकित्सा आदि जैसी घटनाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये; (2) यौन संगियों के परीक्षण के परिणाम और उनमें सीफिलिस के प्रारंभिक रूपों का अनुवेदन; (3) प्राथमिक सिफिलार्ब के स्थल पर क्षतांक या कठोरन और लसपर्वों के वर्धन (विशेषकर जंघामूल के क्षेत्र में) का अनुवेदन; अंतिम लक्षण यदि क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ के अनुरूप हो; (4) सभी सीर-

मलोचनी परीक्षणों के तीव्र धनात्मक परिणामों में रिएजिन की उच्च विमाप (1:120, 1:360); यह उन रोगियों में निम्न-स्तरीय हो सकता है, जिनकी सुजाक से चिकित्सा हुई थी या जो अपनी चिकित्सा खुद करने लगते हैं; (5) पेनीसिलिन से चिकित्सा शुरू करने पर तापक्रमी उग्रता-प्रतिक्रिया; (6) विशिष्ट चिकित्सा के ही दौरान रिएजिन की विमाप में शीघ्र गिरावट; सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं चिकित्सा के प्रथम से द्वितीय दौर में ही ऋणात्मक हो जाती हैं; (7) इन रोगियों में इमूनोसंदीप्ति-परीक्षण तीव्र धनात्मक होता है, यद्यपि त्रे. पालीडुम के स्थिरकरण का परीक्षण कुछ रोगियों में अब भी ऋणात्मक रह सकता है; (8) रोगी की उम्र (यह रोग अक्सर 40 वर्ष से कम उम्र में होता है); (9) प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव सामान्य हो सकता है (अव्यक्त सीफिलिक छादिकाशोथ में प्रमस्तिष्कमेरुक द्रव एंटीसीफिलिक चिकित्सा द्वारा पैठन से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है)। सीफिलिस की चिकित्सा संबंधी वर्तमान निर्देशों और कार्यक्रम के अनुसार प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस के सभी रोगियों को समान चिकित्सा दी जाती है। रोग के परिणामों की भविष्यवाणी तभी की जा सकती है, जब यह पता हो कि पैठन कितने समय से है; इसका निर्धारण आयुरवृत्त या यौन-संगियों के परीक्षण के आधार पर हो सकता है। स्वाभाविक है कि पैठन की अवधि जितनी कम होगी भविष्यवणी और चिकित्सा के परिणाम उतने ही अच्छे होंगे।

परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस के रोगियों को बहुमारीलोचनी दृष्टि से खतरनाक नहीं माना जाता। लेकिन ऐसे केसों में रक्त के धनात्मक सीरमलोचनी पैठन को गलती से सीफिलिस की अभिव्यक्ति मान लिया जा सकता है, जबकि वास्तविकता में वे मिथ्या धनात्मक, अर्थात् अ-सीफिलिक हो सकते हैं, जिसके अनेक कारण होते हैं (मलेरिया, रुमैटिकता, यकृत एवं फुप्फुस के चिरकारी रोग, अतीत की चिरकालिक पूयिक प्रतिक्रियाएं, उम्र के कारण द्रव्य-विनिमय में परिवर्तन, आदि)। इस अवस्था का निदान बहुत ही जटिल और बहुत गंभीर होता है और इसकी पुष्टि त्रे. पालीडुम की इमूनोसंदीप्तिक स्थिरकारी परीक्षण से करनी चाहिये (कुछ केसों में ये परीक्षण चिरकालिक पैठन के अधिकेंद्रों अथवा सहवर्ती रोगों की चिकित्सा पूर्ण होने के बाद कुछ महीनों के अंतरालों पर कई-कई बार दुहराये जाते हैं)।

परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस के निदान में निम्न सूचनाओं से सहायता मिलती है: (1) आयुर-वृत्त या रोग-वृत्त (यदि रोगी सोचता है कि पिछले दो वर्षों तक में यह छूत किसी स्रोत से लगी है); (2) क्लासिकल सीरमलोचनी परीक्षण (CST) के तीव्र धनात्मक परिणाम में अल्प रिएजिन विमाप (1:5, 1.10, 1:20) या CST के क्षीण धनात्मक परिणाम (लेकिन दोनों केसों में IFT एवं TPI से पुष्टि); (3) विशिष्ट चिकित्सा के मध्य या आरंभ में सीरमलोचनी प्रतिक्रिया का ऋणात्मक हो जाना और तीव्र एंटीसीफिलिक चिकित्सा तथा अविशिष्ट प्रसाधनों के बावजूद CST, IFT और IPI का रह-रह कर धनात्मक हो जाना; (4) पेनीसिलिन से चिकित्सा शुरू करने पर उग्रता-प्रतिक्रिया की अनुपस्थिति; ऐसे रोगियों की चिकित्सा पहले उपक्रमात्मक प्रसाधनों से करना वांछनीय होता है, जैसे आयडीन के प्रसाधनों और बिग्रोस्वीनोल (उदासीन वनस्पति तेलों में कुनैन) से; (5) प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अपसामान्यता (अव्यक्त सीफिलिक छादिकाशोथ) जो इन रोगियों में कहीं अधिक प्रायिक होती है, बनिस्पत कि प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस के रोगियों में, और वह ठीक भी बहुत धीरे-धीरे होती है। इसके अतिरिक्त यौन संगियों में भी परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस हो सकता है या (जो अधिक प्रायिक है) उनमें सीफिलिसी पैठन की कोई भी अभिव्यक्ति नहीं होती (वे व्यवहारतः स्वस्थ होते हैं और उनकी निरोधक चिकित्सा करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, जब कि प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस से ग्रस्त रोगियों के यौन संगियों की निरो-

धक चिकित्सा की जाती है)। परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस के रोगियों की विशिष्ट चिकित्सा का उद्देश्य होता है – आंतर अंगों और नर्वतंत्र के सीफिलिस के परवर्ती रूपों का निरोध।

अव्यक्त सीफिलिस का निदान ऐसी स्थिति में करना पड़ता है, जब न तो डाक्टर को, न रोगी को ही यह पता होता है कि कब या किन परिस्थितियों में पैठन हुआ था। ऐसा निदान अब बहुत कम हो गया है, क्योंकि अव्यक्त सीफिलिस को अब प्रारंभिक और परवर्ती रूपों में बाँटा जाने लगा है। परवर्ती या अव्यक्त निर्दोष सीफिलिस का निदान ऐसे केसों में किया जाता है जब रोग का इतिहास या तल्पिक परीक्षण के परिणाम ऐसे सीफिलिस की पुष्टि नहीं करते, जो शुरू से ही अलाक्षणिक अव्यक्त प्रवाह ग्रहण किया हो।

सीफिलिस में अस्थियों और संधियों की आक्रांति

परवर्ती सीफिलिस से अस्थियों की आक्रांति बहुत पुराने जमाने से ही ज्ञात है। वीगो (Vigo) ने 1544 में ही सीफिलिक रोगियों में अस्थिवर्ध और रातों को अस्थियों में दर्द का वर्णन किया था, लेकिन सीफिलिस में अस्थियों की क्षतियों के बारे में सविस्तार सूचनाएं 19-वीं शती में ही मिल सकीं, जब मुख्यतः गदलोचनी अनाटोमी और ऊतलोचन का विकास हुआ।

सीफिलिस में अस्थि की आक्रांति के निम्न रूपों में भेद किया जाता है: पर्यस्थिशोथ, अस्थिशोथ और अस्थिमज्जाशोथ। वे स्थानाबद्ध हो सकते हैं या विसरित (सार्वदैहिक)। प्रक्रिया के इस उपविभाजन का सिर्फ सापेक्षिक महत्त्व है, क्योंकि अक्सर वे मिश्र, अर्थात् मिली-जुली होती हैं (उदाहरणार्थ, अस्थिशोथ के साथ-साथ हमेशा पर्यस्थिशोथ भी होता है, जबकि अस्थिमज्जाशोथ दर-असल अस्थिशोथ ही है, जो अधिक गहराई तक पैठ जाता है)।

सीफिलिक पर्यस्थिशोथ सिर्फ अस्थियों में बहुत विरलता के साथ पाया जाता है। इन विरल केसों में, जिनमें सिर्फ पर्यस्थिका (अस्थियों पर की योजक झिल्लियां) ग्रस्त होती है, एक साथ अनेक अस्थियां ग्रस्त हो जाती हैं और यह प्रक्रिया लंबे समय तक चलती है। विसरित सीफिलिक पर्यस्थिशोथ की प्रकृति बहुत व्यापक होती है और झालरों के रूप में विकसित होती है। यह अक्सर बड़ी टंगास्थि की अग्र सतह पर होती है। रालार्बिक पर्यस्थिशोथ मुख्यतः एक स्थानाबद्ध प्रक्रिया है और रालार्ब के प्रति अस्थि की प्रतिक्रिया की एक अभिव्यक्ति है। पर्यस्थिक रालार्ब अस्थि में विनाश और विकृति उत्पन्न करता है। विनाश सिर्फ अत्यस्यंद द्वारा अस्थि-ऊतकों पर दाब से ही नहीं, बल्कि पर्यस्थिका से अस्थि पर शोथी प्रक्रिया के प्रसार से भी होता है (इसी अवस्था को अस्थिपर्यस्थिशोथ कहते हैं)। अस्थि-ऊतकों का कठोरन और पर्यस्थिका का अस्थिकरण विकृति के गिर्द होता है। तल्पिक परीक्षण से एक कठोर असीमित सूजन का पता चलता, जो कभी-कभी अस्थि की सतह से ऊपर उभर आती है। रोगी को पीड़ा होती है, जो रातों को तीव्र हो जाती है। इस तरह की रालार्बिक क्षतियां अधिकांशतः बड़ी टंगास्थि की अग्र सतह और कपाल की अस्थियों पर होती है (फुर्निये ने इन्हें 'सीफिलिस की प्रिय अस्थियों' की संज्ञा दी है)। अस्थि का अकेला रालार्ब धीरे-धीरे योजक ऊतकों से विस्थापित एवं अस्थिकृत हो सकता है, लेकिन अधिकांशतः रालार्बिक अंतस्यंद अपघटित होने लगता है; प्रक्रिया ग्रस्त अस्थि-क्षेत्र के ऊपर स्थित चर्म में प्रसारित होती है और एक लंछक गहरा रालार्बिक व्रण बन जाता है, जिसकी तली पर विमृतिक अस्थि-ऊतक होते हैं।

रालार्बिक प्रक्रिया अक्सर अस्थि के काफी विस्तृत क्षेत्र पर प्रसारित हो जाती है, उसकी गहराई में पैठते हुए उसकी पूरी मुटाई को बेध देती है, मज्जा को भी ग्रस्त कर लेती है। इस अवस्था

को रालार्बिक अस्थिमज्जाशोथ कहते हैं। ऐसी प्रक्रिया में विनाशकारी और सृजनकारी प्रक्रियाए बारी-बारी से चलती रहती हैं, यद्यपि अंतिम का प्राबल्य होता है। अस्थि मोटी और कठोर हो जाती है। वह किनारियों पर विकृत और असमतल हो जाती है। एक्सरे-चित्र में ये क्षतियां अस्थि में चिरकालिक शोथी प्रक्रिया की तरह दिखती हैं, जो अस्थि की स्पष्ट प्रतिक्रिया के साथ विकसित होती है। विशिष्ट रालार्बिक क्षतियां सृजनात्मक (या उत्पादनशील) अत्यस्थिल (या अस्थिवर्धक) परिवर्तनों के पीछे छिप जाती हैं। रोग-वृत्त, सीफिलिस की अन्य तल्पिक अभिव्यक्तियों, प्रयोगशालीय परीक्षणों (रक्त एवं प्रमस्तिष्कमेरुक द्रव के) और अनेक केसों में चिकित्सा की कारगरता के मूल्यांकन से निदान सरल हो जाता है।

छोटी अस्थियां (कशेरूक, कलाई और गोड़ की अस्थियां) विरले ही ग्रस्त होती हैं, लेकिन इन केसों में निदान और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि इन स्थलों पर रालार्बिक परिवर्तन अधिकेंद्र के गिर्द अस्थियों की अपर्याप्त प्रतिक्रिया द्वारा लंछित होते हैं। पर्यस्थिक पटलीकरण या अस्थिवर्ध की संवृत्तियां अनुपस्थित होती हैं।

सीफिलिस में संधियों की आक्रांति अस्थियों की तुलना में और भी कम प्रायिक है। सीफिलिक संधिशोथ के दो मुख्य भेद हैं: प्राथमिक सीनोविक (सीनोविया, अर्थात् संधि में अस्थिस्नेहक द्रव्य से संबंधित; यह संधि-कैप्सुल और संधि-मशक में होता है) और प्राथमिक अस्थिक (संधि-स्थल पर अस्थियों व उपास्थियों की आक्रांति)। प्राथमिक सीनोविक संधिशोथ तीव्र या चिरकालिक हो सकता है। संधि के पड़ोस में चल रही रालार्बिक प्रक्रिया के कारण (अधिवर्ध, परावर्ध में) प्रतिक्रियात्मक संधिशोथ अधिकांशतः तीव्र रूप से संबंधित होता है। चिरकालिक सीनोविक संधिशोथ (जिसे अक्सर परोर्जिक मूल का माना जाता है) अधिक प्रायिक होता है। तल्पिक रूप से यह पीड़ा, संधियों की वर्तुलाकार सूजन, अंतर्संधीय विमृति और संधियों के कार्य में हल्की गड़बड़ी के रूप में व्यक्त होता है। अस्थिसंधिशोथ अस्थियों के संधिरत सिरों की रालार्बिक आक्रांति के कारण विकसित होता है (रालार्बिक अधिवर्धशोथ)। एक्सरे-चित्र से अधिवर्ध में मधुमक्खी के छत्ते जैसा विकार और इर्द-गिर्द क्षीण कठोरी प्रतिक्रिया दिखती है। घुटने, कंधे, कोहनी, और टखने के जोड़ अधिकांशतः आक्रांत होते हैं; विकृति धीरे-धीरे विकसित होती है, लेकिन रोगी संधि में अस्थियों की सुचलता बरकरार रहती है; पीड़ा हल्की होती है। रोगी की सामान्य अवस्था में शायद ही कोई परिवर्तन होता है। ये लक्षण तथा अन्य तल्पिक एवं प्रयोगशालीय परीक्षण के परिणाम विशेषकर गंठिकीय संधिशोथ के साथ विभेदक निदान के समय ध्यान में रखे जाते हैं।

आंतर अंगों का सीफिलिस

चूंकि सीफिलिस पूरे शरीर का रोग है, इसीलिये यह अपने विकास के आरंभिक चरण में ही अनेक आंतर अंगों और तंत्रों को ग्रस्त कर लेता है। लेकिन प्राथमिक, द्वितीयक तथा प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस में ये आक्रांतियां अधिकांशतः प्रकार्यात्मक प्रकृति की होती हैं, तल्पिकतः बहुत हल्के से व्यक्त होती हैं, अस्थायी होती हैं और एंटीसीफिलिक प्रसाधनों से अच्छी तरह प्रभावित होती हैं।

सीफिलिस के परवर्ती रूपों में (जिनमें तृतीयक सीफिलिस भी है) रालार्बिक प्रक्रियाएं विभिन्न आंतर अंगों में मिल सकती हैं; ऐसे रोग मिलते है, जिन्हें आंतर अंगों का वास्तविक सीफिलिस कहा जा सकता है।

हृत्कुंभिक तंत्र और यकृत ऐसे आंतर अंग हैं, जो ग्रस्त होने की सबसे अधिक प्रवणता रखते हैं। सीफिलिस के द्वितीयक और विशेषकर तृतीयक अवधियों की सीफिलिक हृत्पेशीशोथ के लक्षण हैं: हँफनी, शीघ्र थकान, अस्वस्थ मन, लयहीनता (धड़कन में), धड़कन की दबी हुई आवाज और हृदय की सीमा में विशेषकर बायीं ओर प्रसार। सीफिलिक हृत्पेशीशोथ की कोई विशिष्ट तल्पिक अभिव्यक्ति नहीं होती और वह अन्य मूलों के हृत्पेशीशोथ से भिन्न नहीं होता। इसका निदान सीफिलिस के अन्य तल्पिक एवं प्रयोगशालीय लक्षणों पर आधारित होता है (विशेषकर जब हृत्पेशीशोथ के साथ-साथ महाधमनीशोथ भी होने लगता है)।

सीफिलिक महाधमनीशोथ आंतर अंगों के सीफिलिस की सबसे सामान्य अभिव्यक्ति है। मुख्य परिवर्तन महाधमनी के मध्य अस्तर में होता है, इसीलिये इसे मध्यौर्टाशोथ (मध्यमहाधमनीशोथ) कहते हैं (महाधमनी – आओर्टा – और्टा; संधि के नियम से)। इसमें महाधमनी की दीवारें कठोर हो जाती हैं और ऊर्ध्वगामी महाधमनी का विस्फारण होने लगता है (यह अंतिम लक्षण महाधमनी की सीफिलिक आक्रांति के लिये बहुत गदोचीनक है)। ऊर्ध्वगामी महाधमनी की परिमाप सामान्यत: 3 से 3.5 सेंटीमीटर होती है, लेकिन मध्यमहाधमनीशोथ में वह 5 से 6 सेंटीमीटर की हो जाती है और उसमें फ्लास्क की तरह विस्फारण हो जाता है। सीफिलिक मध्यौर्टाशोथ के साथ अक्सर और्टिक कपाटों की अपर्याप्ति भी देखी जाती है, जो रेशेदार कपाट के छल्ले के विस्फारण और किरीटी कुंभियों के अवरोध के कारण होती है। कपाटों की आक्रांति से संकोचन और प्रसारण की खसखसाहट सुनायी देती है, जिसमें और्टिक ध्वनि प्रबल होती है, वह धातु पर चोट जैसी आवाज उत्पन्न करती है। और्टिक ध्वनि के ये लक्षण हृत्पेशी-तंत्र की सीफिलिक आक्रांति के लिये गदोचीनक हैं। ऐसे रोगी हँफनी, हृदय में पीड़ा और तेज धड़कन की शिकायत करते हैं।

सीफिलिक और्टाशोथ से खतरनाक क्लिष्टताएं उत्पन्न होती हैं, और्टिक प्रसारण होता है; जिसके फटने से तिहाई से चौथाई केसों में मृत्यु हो जाती है।

सीफिलिस की तृतीयक अवधि में यकृत की आक्रांति आंतर अंगों के सीफिलिस के सभी केसों में 2 से 4 प्रतिशत तक पायी जाती है। अधिकेंद्रिक रालार्बिक, वर्जेरिक रालार्बिक या विसरित अंतस्यंदी और चिरकालिक उपकलीय सीफिलिक यकृतशोथ में भेद किया जाता है। प्रथम केस में विभिन्न आकार की रालार्बिक पर्विकाएं यकृत में बन जाती हैं, जिससे वह वर्धित हो जाता है (कभी-कभी उसे परिस्पर्शित भी किया जा सकता है)। इससे यकृत पर्विकीय हो जाता है। रोगी पसलियों से नीचे के क्षेत्र में दायीं ओर दर्द महसूस करता है और उसे ज्वर आता है (37-38°C, कभी-कभी 39°C)। पीलिया का विकास विरल होता है। विशिष्ट चिकित्सा से अवस्था में तेजी से सुधार होती है। वर्जेरिक रालार्बिक यकृतशोथ यकृत में रालार्बिक संरचना के अनेक नन्हे अधिकेंद्रों के विरचन द्वारा लंछित होता है। इससे यकृत में अनियमित वृद्धि होती हैं; पीलिया विकसित नहीं होता, लेकिन पेट में पसलियों के नीचे दायीं ओर दर्द होता है। रक्त-कुंभियों के गिर्द विसरित रालार्बिक अंतस्यंदन से भी ऐसा ही तल्पिक चित्र प्राप्त होता है। विशिष्ट चिकित्सा यथासमय शुरू न करने पर यकृत का तंतुक्लेश विकसित होने लगता है (यकृत छोटा व कठोर होने लगता है, इसके कार्य में गड़बड़ियां होती हैं, रोगी अस्वस्थ महसूस करता है), जो घातक सिद्ध हो सकता है। उपकलीय यकृतशोथ बहुत विरल आक्रांति है; इससे कुछ वर्षों में यकृत की अपूर्णता या अपर्याप्ति विकसित हो जाती है और रोगी मर जाता है। कुछ केसों में आक्रांति में कोई विशिष्टता नहीं होती और इसका सीफिलिसी मूल सीफिलिस के अन्य लक्षणों या रोग-वृत्त के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

अन्य आंतर अंग (गुर्दे, क्लोम, जठर, आँत आदि) तृतीयक सीफिलिस में अब बहुत कम आक्रांत होते हैं (इनकी आक्रांति के कुल केस तृतीयक अवधि में आंतर अंगों की कुल आक्रांति के 1.0 से 1.5 प्रतिशत से अधिक नहीं होते)।

नर्वतंत्र का सीफिलिस

द्वितीयक सीफिलिस में नर्वतंत्र की आक्रांति का वर्णन पाठ्यपुस्तक के तदनुरूप प्रकरणों में किया गया है। यहां हम नर्वतंत्र की उन क्षतियों पर विचार करेंगे, जो तृतीयक सीफिलिस में अधिकांशतः परवर्ती सीफिलिस की स्वतंत्र एवं पृथक आक्रांति के रूप में प्रकट होती हैं। इन क्षतियों का स्थान है – मस्तिष्क या मेरुरज्जू की कुंभियां, छादिकाएं (मध्यस्रवी नार्वसीफिलिस) या मस्तिष्क द्रव्य (मृदूतकीय नार्वसीफिलिस)।

वर्तमान समय में मध्यस्रवी नार्वसीफिलिस के निम्न मुख्य रूप पाये जाते हैं: छादिकीय-कुंभिक या शुद्ध कुंभिक नार्वसीफिलिस, जिसमें प्रमस्तिष्क की कुंभियां ग्रस्त होती हैं (प्रमस्तिष्क-सीफिलिस) या प्रमस्तिष्क और मेरुरज्जू (प्रमस्तिष्कमेरुक सीफिलिस)।

छादिकाओं के शोथ (अक्सर चिरकालिक) के कारण हल्का सरदर्द, चक्कर और कान में स्वनन प्रेक्षित होता है। मुख्य तल्पिक लक्षण मस्तिष्क या मेरुरज्जू की विभिन्न कुंभियों की आक्रांति से संबंधित होते हैं, जिसमें एक विशिष्ट अंतर्स्यंद निक्षेपित होता है। इसके फलस्वरूप गतिप्रेरक गड़बड़ियां (अपूर्ण या विरलतः पूर्ण लकवा), अनुभूति में गड़बड़ियां, वाक् और मानसिक कार्यों में व्यवधान देखे जाते हैं। कई केसों में इन्हें खीरकठोरन (आथेरोस्क्लेरोसिस) से ग्रस्त व्यक्तियों में अतितान-संकट से विभेदित करना पड़ता है। कुंभियों की सीफिलिक आक्रांति रोगी की कम उम्र के आधार पर निदानित हो सकती है (यद्यपि कभी-कभी अतितान-संकट भी कम उम्र के लोगों में पाया जाता है); अन्य आधार हैं: सामान्य धमनी दाब, अक्सर रोग की सुदम शुरूआत, बिना चिकित्सा के भी उपशमन (अवस्था में सुधार), 'बिखरे हुए' लक्षण (जैसे दायें पैर का अपूर्ण लकवा, बायें प्रबाहु में परिसंवेदना, लड़खड़ाती बोली आदि), सीरमलोचनी परीक्षणों के धनात्मक परिणाम (विशेषकर IPI के, जो कुंभिक सीफिलिस के अधिकांश केसों में धनात्मक ही होते हैं, जबकि CST 50 प्रतिशत से अधिक केसों में ऋणात्मक परिणाम देते हैं), छादिकीय-कुंभिक सीफिलिस में प्रमस्तिष्कमेरुक द्रव की अपसामान्यताएं (शुद्ध कुंभिक नार्वसीफिलिस में यह द्रव सामान्य रहता है), कुछ केसों में रोगवृत्त, और अंत में – विशिष्ट एंटीसीफिलिक चिकित्सा की कारगरता का मूल्यांकन।

सीफिलिक कुंभिक क्षतियों के परवर्ती रूप नर्वतंत्र के परवर्ती सीफिलिस के 70 प्रतिशत से अधिक केसों में अनुपस्थित होते हैं। उनका ठीक समय पर निदान बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सही निदान से भविष्यवाणी की दिशा प्रतिकूल हो सकती है (कुंभियों की सीफिलिक आक्रांति एंटीसीफिलिक चिकित्सा के प्रत्युत्तर में बहुत जल्द ठीक होने लगती है, ग्रस्त क्षेत्रों के कार्य लगभग या पूर्णतया ठीक हो जाते हैं)।

प्रमस्तिष्क द्रव्य की (मृदूतकीय नार्वसीफिलिस में) आक्रांति के मुख्य रूप हैं – मेरुकृषता और सामान्य (सार्वदैहिक) अपूर्ण लकवा। मेरुकृषता अब विशेष रूप से बहुत कम लक्षण उत्पन्न करती है, आत्मगत गड़बड़ियां अक्सर अनुपस्थित होती हैं (रीढ़ का दर्द, संकट, परिसंवेदना और कूल्हे के आंतर अंगों के कार्य में विकार नहीं पाये जाते)। इसीलिये ऐसे रोगी डाक्टर के पास स्वेच्छा

से नहीं आते हैं। वे संयोगवश ही नर्वलोचनी परीक्षण के समय या अस्पताल में किसी अन्य रोग की चिकित्सा के समय अनुवेदित होते हैं।

कठिनाई यह भी है. कि 40 प्रतिशत रोगियों में क्लासिकल सीरमलोचनी परीक्षण ऋणात्मक परिणाम देता है। मेरुकृषता के निदान में निम्न लक्षण महत्त्वपूर्ण होते हैं: कनीनिकीय गड़बड़ियां (संकोचनक्लेश, प्रसारणक्लेश, अर्थात् पुतलियों का स्थायी संकोचन या स्थायी प्रसारण; उनका छोटा-बड़ा होना; अर्जित रोबर्टसन की पुतली, जो विशेष रूप से गदोचीनक होती है), घुटने और आखीलेस के प्रतिवर्त, रोंबर्ग की मुद्रा में झूलना, कृषताजनक अपघटन, पोषण संबंधी गड़बड़ियां, पीठ में ठंड के प्रति अतिसंवेदना, वक्ष में पीड़ा के प्रति अवसंवेदना (हिट्सिंग-मेखला), आदि। इनमें से अधिकांश लक्षण रोगी को कोई खास कष्ट नहीं देते और विभिन्न अंगों के कार्य में कोई खास गड़बड़ी भी नहीं उत्पन्न करते। इसीलिये, जैसा कि ऊपर बताया गया है, रोगी अपने मन से डाक्टर के पास नहीं आते।

सार्वदैहिक अपूर्ण लकवा का निदान हो जाता है, रोगी को पंजीकृत कर दिया जाता है और उसकी चिकित्सा अधिकांशतः मनोचिकित्सक द्वारा शुरू कर दी जाती है। कुछ केसों में आरंभिक चरण पर रोगी की चिकित्सा रतिजलोचक द्वारा भी होती है (मुख्यतः ऐसे रोगियों की, जिनके सीफिलिस का उपचार लंबे समय से चल रहा था, लेकिन अपर्याप्त रूप से)। यह रोग हो सकता है, ऐसा संदेह करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है; CST और IPI के तीव्र धनात्मक परिणामों द्वारा 100 प्रतिशत केसों में निदान की पुष्टि हो जाती है (स्थिरकरण-परीक्षण से 90-100 प्रतिशत केसों में)। प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अपसामान्यता ज्ञात होना निदान के सही होने का एक और प्रमाण है (लांगे का परीक्षण एक पारालीटिक कर्व (वक्र) द्वारा लक्षित होता है, जैसे 6665433210)। रोगी के व्यक्तित्व में परिवर्तन (चरित्र में, अन्य लोगों के साथ व्यवहार तथा उनके प्रति रूख में अकारण परिवर्तन), स्मरण-हानि, वाक्-भंग, लिखावट व गिनती में गड़बड़ियां, आदि रोग के आरंभिक लक्षण हैं।

जन्मजात सीफिलिस

सामान्य सूचनाएं. गदजनन

15-वीं शति के अंत और 16-वीं के आरंभ में ही इस बात पर ध्यान दिया गया था कि सीफिलिस संतति को भी पारप्रेषित हो सकता है। लेकिन पारप्रेषण की युक्ति कई शतियों तक विवादास्पद रही। कुछ डाक्टरों का विश्वास था कि भ्रूण में सीफिलिस का पैठन सीफिलिस से ग्रस्त मां से जेरा के अंदर प्रविष्ट होता है; कुछ डाक्टर बीजीय परिकल्पना में विश्वास करते थे, जिसके अनुसार पैठन सिर्फ पिता के शुक्राणु के साथ सीधे डिंब में चला आता है। यह माना जाता था कि रोगाणु वीर्य में उपस्थित होते हैं और निषेचन के समय (या उससे पूर्व) शुक्राणु में पैठित हो जाता है। इस विचार के अनुसार, यदि मां स्वस्थ है और पिता सीफिलिस से ग्रस्त है, तो बच्चा सीफिलिक हो सकता है। यह मान्यता असंख्य तल्पिक प्रेक्षणों पर आधारित थी (क्योंकि उस समय सीफिलिस का निमित्त कारण ज्ञात नहीं था और रोग का सीरमलोचनी निदान भी अज्ञात था): जन्मजात सीफिलिस से ग्रस्त बच्चों को जन्म देने वाली मांओं के दीर्घकालीन प्रेक्षण से भी उनमें सीफिलिस की कोई अभिव्यक्ति दिखाई नहीं दी।

यह माना जाता है कि सीफिलिस से ग्रस्त भ्रूण अपने अंतर्गर्भाशयी विकास-काल में मां को इस रोग से इमूनित कर देता है, इसीलिये रोगी बच्चे को स्तनपान कराने से भी उसे यह रोग नहीं होता। इस मान्यता को 'कौलेस-बाउमेस (Colles-Baumes) के नियम' नाम से जाना जाता है। प्रोफेटा (Profeta) के नियमानुसार (यह भी संतति को सीफिलिसी प्रेषण की बीजीय परिकल्पना की ही पुष्टि करता है) सीफिलिस से ग्रस्त मां से उत्पन्न बच्चा बाद में भी इस रोग के प्रति अप्रवण होता है, कभी-कभी तो यौन वयस्कता-काल तक भी। 1903 में विएना के वैज्ञानिक माट्सेनग्रावेर (Matzenauer) ने दीर्घकालीन तल्पिक प्रेक्षणों के आधार पर संतान को सीफिलिसी प्रेषण के मातृक, जेरिक (प्लासेंटल) सिद्धांत की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। लेकिन यह सिद्धांत तभी सर्वमान्य हुआ, जब सीफिलिस के लिये सीरमलोचनी परीक्षण-विधियों (वासेरमान की प्रतिक्रिया) का व्यावहारिक उपयोग शुरू हुआ। इन विधियों से ज्ञात हुआ कि सीफिलिक बच्चे को जन्म देने वाली 'स्वस्थ' मां में दरअसल अव्यक्त (सीरमलोचनी) सीफिलिस होता है और सीफिलिक मां से जन्म लेने वाले अनेक 'स्वस्थ' बच्चों में अव्यक्त जन्मजात सीफिलिस होता है। उदाहरणार्थ, सोवियत संघ की आयुर अकादमी के अधीनस्थ बालरोग संस्थान के अनुसार सीफिलिसी बच्चे को जन्म देने वाली 90 प्रतिशत से अधिक मांओं में (जिनमें रोग की कोई अभिव्यक्ति नहीं होती) वासेरमान की प्रतिक्रिया धनात्मक पायी जाती है (अन्य स्रोतों के अनुसार 97 से 100 प्रतिशत के केसों में)। त्रे. पालीडुम भ्रूण में गर्भकाल के उत्तरार्ध में ही अनुवेदित होता है (जब जेरिक परिसंचरण काम करने लगता है)। सीफिलिक स्त्रियों के आरंभिक अकाल-प्रसव के केसों में भ्रूण सीफिलिक आक्रांति से मुक्त पाये गये। यह विश्वास किया जाता है कि त्रेपोनेमा भ्रूण में या तो रक्त-मार्ग से प्रविष्ट होते हैं (नाभिक शिरा से) या लसमार्ग से (नाभिरज्जू या आँवलनाल की लसीकीय झिरियों के सहारे)।

जन्मजात सीफिलिस में मृत्यु-दर बच्चे की उम्र के साथ व्युत्क्रमानुपाती होता है, इसीलिये जन्मजात सीफिलिस के निरोध के लिये सामाजिक एवं आयुरी कदम इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं। कुछ आँकड़ों के अनुसार क्रांतिपूर्व रूस में सीफिलिस के कुल रोगियों में बच्चों की संख्या 20-25-35 प्रतिशत होती थी। इसके विपरीत, जन्मजात सीफिलिस (विशेषकर इसका प्रारंभिक रूप) सोवियत संघ में बहुत विरल हो गया है, जो सोवियत जनता की और विशेषकर रतिजलोचनी सेवाओं की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जन्मजात सीफिलिस से मृत्यु की दर कई देशों में आज भी बहुत ऊँची है।

यह संभव माना जाता है कि जन्मजात सीफिलिस से ग्रस्त मां (दूसरी या तीसरी संतति के सीफिलिस में) रोगी बच्चे को ही जन्म देगी। लेकिन ऐसी घटनाएं दुर्लभ हैं।

अनुपचारित सीफिलिस से ग्रस्त स्त्री का गर्भ उत्तरार्ध में भी गिर सकता है या मृत शिशु का अकाल-प्रसव हो सकता है। जिस स्त्री की विशिष्ट चिकित्सा हुई है (सगर्भता के पूर्व और पश्चात भी), वह स्वस्थ शिशु परवर्ती (बाद की) सगर्भताओं से भी जन्म ले सकते हैं (संतान को सीफिलिस प्रेषित करने के गुण मां में पैठन के तीन-चार वर्ष बाद बहुत कम हो जाते हैं, लेकिन बिल्कुल लुप्त नहीं होते)। स्त्री में सीफिलिस के पैठन के बाद जितना ही अधिक समय बीतता है, बच्चे में जन्मजात सीफिलिस की अभिव्यक्तियां उतनी ही क्षीण होती हैं।

वास्तविक जन्मजात सीफिलिस के निम्न रूपों में भेद किया जाता है: जेरा का सीफिलिस, भ्रूण का सीफिलिस, पयोपा का जन्मजात सीफिलिस (ये सब प्रारंभिक जन्मजात सीफिलिस के रूप हैं), और परवर्ती सीफिलिस।

कुछ वैज्ञानिक (सुखारेव, गुरेविच, साजोनोवा, याव्किन तथा अन्य) यह दावा करते हैं कि सीफिलिस पैठन माता-पिता की जनन-कोशिकाओं के रंज्यकायिक उपकरण को भी प्रभावित कर सकता है। सीफिलिक युग्मकरोग (निषेचन से पूर्व जनन-कोशिकाओं में अवजनक परिवर्तन), अंकुरार्ति (अंकुरजनन-काल में भ्रूण की आक्रांति) और सीफिलिक भ्रूणार्ति (गर्भकाल के चौथे सप्ताह से लेकर चौथे या पाँचवें माह के बीच भ्रूण में गदलोचनी परिवर्तन) में भेद किया जाता है। इन रोगी बच्चों में तरह-तरह के शारीरिक, नर्वलोचनी, मानसिक एव बौद्धिक गड़बड़ियां पायी जाती हैं। परवर्ती जन्मजात सीफिलिस से मिलते-जुलते अस्थि-तंत्र का कुपोषण शारीरिक गड़बड़ियों में आता है। नर्वतंत्र की आक्रांति के आंतरिक (आंगिक) एवं कार्यात्मक सूक्ष्मलक्षण नर्वलोचनी गड़बड़ियां हैं। मानसिक गड़बड़ियों में विभिन्न तीव्रताओं का अल्पमतित्व, मनोरोगी जैसा व्यवहार, मस्तिष्क-दुर्बलता या मति-छिन्नता जैसा सिंद्रोम, आदि आते हैं। इन रोगियों में जन्मजात गदलोचनी अभिव्यक्तियां भ्रूण-काय में त्रे. पालीडुम के प्रत्यक्ष प्रवेश से संबंधित नहीं हैं, अतः इन्हें जन्मजात सीफिलिस की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। चूँकि ऐसे केसों में बच्चे के शरीर में रोग का निमित्त कारण उपस्थित नहीं होता, इसलिये रक्त और प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में सीरमलोचनी परीक्षण सदा ऋणात्मक होता हैं। प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में कोई अपसामान्यता नहीं होती, IPI और IFI ऋणात्मक होते हैं और रोग बढ़ता नहीं है और ऐंटीसीफिलिक दवाओं का कोई खास लाभकारी प्रभाव भी नहीं पड़ता। मनोचिकित्सक और चंद रतिजलोचक यह मानते हैं कि ये क्षतियां 'कभी नहीं होतीं' यदि माता-पिता या पूर्वज सीफिलिस से पीड़ित नहीं रहे होते। ये क्षतियां उन बच्चों में ही अधिकतर विकसित हो सकती हैं, जिनके माता-पिता सीफिलिस के परवर्ती रूपों से ग्रस्त थे या हैं। गदजनन का अध्ययन अभी जारी है। अधिक संभावना इस बात की है कि ऐसे केस भी हो सकते हैं, जिनमें वास्तविक जन्मजात सीफिलिस के साथ-साथ परासीफिलिस के भी लक्षण होते हैं। परासीफिलिस को कभी-कभी कुपोषी सीफिलिस भी कहते हैं।

जन्मजात सीफिलिस के प्रवाह का एक निम्न आरेख प्रस्तावित किया गया है (मी. मीलिछ):

मां के रोगी होने से भ्रूण की आक्रांति हो सकती है (भ्रूण का सीफिलिस)। यह जन्मजात सीफिलिस (जन्मोपरांत से आरंभिक बाल्य काल के बीच) और परवर्ती (यौन परिपक्वता-काल में) जन्मजात सीफिलिस के रूप में विकसित हो सकता है। परवर्ती जन्मजात सीफिलिस से पूर्व के रूप (भ्रूण के और आरंभिक जन्मजात सीफिलिस) अनुपस्थित भी हो सकते हैं, इस काल में सीफिलिस दीर्घकालीन अलाक्षणिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है।

माता-पिता या किसी पूर्वज को सीफिलिस होने से जन्मजात सीफिलिस होने के फलस्वरूप जन्मजात सीफिलिस का एक अन्य रूप भी प्रेक्षित होता है—परासीफिलिस, जिसमें शिशु (भ्रूणावस्था से लेकर) कभी भी त्रेपोनेमा द्वारा पैठित नहीं होता। इससे मानसिक गड़बड़ियां (अल्पमतित्व, मनोरोगी-सा व्यवहार, मतिछिन्नता जैसा सिंद्रोम, एपीलेप्टीफौर्म सिंद्रोम, मस्तिष्क-दुर्बलता के सिंद्रोम, आदि), केंद्रिय नर्वतंत्र की आंतरिक आक्रांति (अपूर्ण लकवा, कनीनिकीय गड़बड़ियां, कंडरा-प्रतिवर्त में गड़बड़ियां) और अस्थि-कुपोषण (जन्मजात सीफिलिस का मुख्य लक्षण) विकसित हो सकता है।

जन्मजात सीफिलिस में जेर की आक्रांति

जेर (आँवल या भ्रूणावरण) की सीफिलिक आक्रांति शोफ और कोशिकीय तत्त्वों के बहुलन द्वारा व्यक्त होती है, जिसके कारण जेर का द्रव्यमान और आकार बढ़ जाते हैं। अपसामान्यता

की अनुपस्थिति में जेर और भ्रूण के द्रव्यमानों का अनुपात 1:5 या 1:6 होता है। शोथ के कारण यह बदल कर 1:4 या 1:3 भी हो जा सकता है। कुंभियों की और रोमों (विल्ली) के मध्य भागों की क्षतियां जेर के भ्रूणीय भाग में अधिक स्पष्ट होती हैं। ऊतलोचनी परीक्षण से अंतर-, मध्य- तथा परिकुंभिशोथ और रोमों का कठोरन ज्ञात होता है। जेर का सीफिलिस योजक ऊतकों की कोशिकाओं (ऊतकोशिकाओं, रेशांकुरों आदि) के अतिगठन, अर्थात् कणीकरण के ऊतकों के बहुलन और रोमों की कुंभियों में विद्रधियों के विरचन द्वारा लंछित होता है (अंतिम का कारण है कुंभियों के अवरोध के फलस्वरूप उनमें विमृतिक अधिकेंद्रों का विरचन)। ये परिवर्तन जेर के मातृक भागों में नहीं पाये जाते। तीव्र अनाटोमिक-रूपलोचनी क्षतियों को जेर की सीफिलिक आक्रांति का शुद्ध एवं पर्याप्त गदोचीनक नहीं माना जा सकता। नाभि-रज्जू और भ्रूणकाय में त्रे. पालीडुम का अनुवेदन निदान में निर्णायक महत्त्व रखता है। माँ के शरीर में इमूनता संवृत्ति के कारण खुद जेर में त्रेपोनेमा की उपस्थिति दुर्लभ होती है। जेर से निचोड़े हुए द्रव का परीक्षण किया जाता है, पर उसमें त्रेपोनेमा विरले ही पाये जाते हैं। कुंभिक दीवारों का श्वेतकोशिकीय अंतर्स्यंदन, जो नाभि--शिरा में सबसे अधिक प्रबल होता है, नाभिक रज्जू में पाया जाता है।

भ्रूण का सीफिलिस

सीफिलिक पैठन से भ्रूण की क्षति आंतर अंगों तथा अस्थि-तंत्र में भयानक परिवर्तनों के रूप में व्यक्त होती है। वे गर्भस्थ जीवन के पाँचवे महीने में ज्ञात होती हैं और बड़ी तादाद में त्रेपोनेमों द्वारा जेर के बेधन से संबंधित होती हैं। त्रेपोनेमों की सबसे बड़ी संख्या यकृत, प्लीहा और अधिवृक्कों में पायी जाती हैं। सीफिलिस से आक्रांत मृदूतकीय भ्रूणांग वर्धित एवं दृढ़ हो जाते हैं; यह तथ्य विसरित बहुलनजनित अंतर्स्यंदन के विकास और तदोपरांत योजक ऊतकों के वर्धन से संबंध रखता है। यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त क्लोम (फेफड़े), वृक्क, अधोजठर एवं जनन ग्रंथियों के ऊतकों में भी इसी तरह के परिवर्तन देखे जाते हैं (विसरित शोथी परिवर्तन)। प्रबल विसरित अंतरावकाशीय अतिगठन, फेफड़े के वर्त्सों (वायुकोशों) की उपकला का विपुल अपशल्कन और अंतरावर्त्सी अवकाशों में कोशिकाओं का वर्धन—यह सब एक ऐसी अवस्था को जन्म देते हैं, जिसे श्वेत क्लोमशोथ कहते हैं।

कई जीवनावश्यक मृदूतकीय अंगों की आक्रांति के कारण भ्रूण की मृत्यु हो जाती है। ऐसे केसों में गर्भपात पाँचवे या छठे महीने हो जाता है, या आठवें महीने मृत शिशु का जन्म होता है। मसृप्ति झुर्रीदार और लस्त त्वचा के कारण मृत शिशु बूढ़े जैसा लगता है।

कुछ केसों में, जब सीफिलिक प्रक्रिया स्थानाबद्ध हो जाती है और विसरित की जगह अधिकेंद्रिक शोथी प्रकृति ग्रहण कर लेती है, तब ग्रस्त अंग के मृदूतक के भीतर या कुंभियों के गिर्द कोशिकीय तत्त्वों के गुच्छे दिखते हैं (वर्जरिक सीफिलार्ब)। ऐसे केसों में बच्चा जीवित पैदा हो सकता है, लेकिन उसमें पैठनों के विरुद्ध प्रतिरोधिता बहुत क्षीण होगी, क्योंकि शरीयर के रक्षी बल बहुत घट जाते हैं। चिकित्सा की अनुपस्थिति में उसकी मृत्यु जीवन के प्रथम सप्ताहों या प्रथम महीनों में हो जाती है।

अस्थियों का तीव्र वर्धन अक्सर गर्भस्थ जीवन के अंतिम महीने में होता है, इसलिये अस्थियां मृदूतकों के बाद ही आक्रांत होती हैं, अक्सर छठे मास में। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ग्रेड का विशिष्ट अस्थि-उपास्थिशोथ लंबी नलीनुमा अस्थियों में अक्सर अधिवर्ध और पारवर्ध पर होते हैं; जहा अस्थियां लंबाई में वर्धित होती हैं; अस्थिपर्यस्थिशोथ भी कुछ केसों में होता है।

पयोपा बच्चों का जन्मजात सीफिलिस

जन्मजात सीफिलिस का यह रूप या तो जन्म से व्यक्त होने लगता है (अक्सर प्रथम दो महीनों में), या दो से चार महीने की उम्र से प्रकट होता है। चर्म, श्लेष्मल झिल्लियों, अस्थियों, आंतर अंगों, नर्वतंत्र और ज्ञानेंद्रियों की विभिन्न क्षतियां इस चरण पर पायी जाती हैं। ऐसे बच्चों का विकास भार और लंबाई दोनों ही में मंदित होता है, वे कमजोर, बेचैन और अवपोषित होते हैं। उनका चर्म झुर्रियों से भरा हुआ शुष्क और पीला होता है। कपाल की अस्थि में पर्यस्थिशोथ, हाइड्रोसेफालस और करोटिक शिराओं का विस्फारण अक्सर प्रेक्षित होता है।

चेहरे, हथेलियों, तलवों और नितंबों पर एक खास तरह की क्षतियां उत्पन्न होती हैं, जिसे होखजिंगर (Hochsinger) का विसरित पिटकीय अंतर्स्यंदन कहते हैं। चेहरे पर इस प्रक्रिया के प्रिय स्थल हैं मुँह के गिर्द, ठुड्डी, ललाट और भौंहों के ऊपर। यह पयोपा के जन्मजात सीफिलिस की एक सबसे आरंभिक और सामान्य आक्रांति है (जीवन के प्रथम माह के अंत और द्वितीय के आरंभ में शुरू होती है)। पहले ग्रस्त क्षेत्रों पर कई धब्बे या विसरित ललामी प्रकट होता है। यहां चर्म कठोरित, मोटा और गाढ़ा लाल हो जाता है। ग्रस्त क्षेत्र धीरे-धीरे पटलित शल्कों से ढक जाते हैं। एक विस्तृत अंतर्स्यंद अक्सर बन जाता है; मुंह के गिर्द यह गहरे विदारों से बिंधा होता है क्योंकि बच्चा रोता और चूसता है। विदार के स्थलों पर विज्य क्षतांक जीवन-भर के लिये बन जाते हैं (रोबिंसन-फुर्निये के क्षतांकों का चिन्ह)। उनके आधार पर अनेक वर्ष बाद भी अतीत के जन्मजात सीफिलिस का निदान किया जा सकता है। यदि संगमित पिटकों से विरचित विसरित अंतर्स्यंदन पलकों, भौंहों और शिरोवल्क के चर्म को ग्रस्त करता है, तो पपनियां भौंहें और बाल उड़ जाते हैं। नासा-श्लेष्मला के सीफिलिक अंतर्स्यंद से नासा-मार्ग संकीर्ण हो जाता है, जिससे साँस लेने में कठिनाई होती है, विशेषकर जब बच्चे को स्तनपान कराया जाता है। विसरित अंतर्स्यंदन की क्षतियों में असंख्य त्रेपोनेमा पाये जाते हैं।

सीफिलिक बुदबुदिया पयोपा बच्चे के जन्मजात सीफिलिस का एक अन्य आरंभिक एवं अनुपम लक्षण है (चित्र 45)। मटर या मसूर के आकार की वस्तिकाएं बनती हैं, जिनका अंतर्द्रव्य सीरमी-पूयिक होता है; वे अंतर्स्यंदन के एक छल्ले से घिरी होती हैं।

एक अंतर्स्यंदित आधार पर (अक्सर तलवों तथा हथेलियों पर) सममित रूप से अवस्थित तनी हुई वस्तिकाएं सीफिलिक बुदबुदिया के विशेष लक्षण हैं। कभी-कभी वस्तिकाएं हाथ-पैर की ऋजुकारी सतहों पर बनती हैं; धड़ पर वे और भी कम प्रायिक होती हैं। उनमें संगम की प्रवृत्ति नहीं होती और उनसे कोई आत्मगत गड़बड़ियां भी नहीं होतीं। वस्तिकाओं के अंतर्द्रव्य में अनेक त्रेपोनेमा सरलतापूर्वक अनुवेदित हो जाते हैं। सीफिलिक बुदबुदिया (होखजिंगर के अंतर्स्यंदन की तरह ही) आरंभिक जन्मजात सीफिलिस के विशिष्ट लक्षण हैं और अर्जित सीफिलिस से ग्रस्त बच्चे में कभी उत्पन्न नहीं होते।

सीफिलिक पिटक पयोपा के जन्मजात सीफिलिस में अक्सर पाये जाते हैं और वे अर्जित सीफिलिस की द्वितीयक अवधि के मसूरी पिटकों से मिलते-जुलते हैं, लेकिन उनके विपरित, ये संगम की प्रवृत्ति रखते हैं। कभी-कभी धड़ और हाथ-पैरों पर भूराभ लाल धब्बे बन जाते हैं, जिनके आधार में हल्का अंतर्स्यंदन होता है। वे बाद में नन्हे शल्कों से ढक जाते हैं। एक विशिष्ट प्रवाह की गुलाबिका पयोपा बच्चों में बहुत विरल है।

नासा-श्लेष्मला अक्सर ग्रस्त हो जाती है (सीफिलिक नासाशोथ)। यह आक्रांति गर्भस्थ जीवन में ही विकसित हो जाती है अतः बच्चे में जन्म से ही पायी जाती है। अपेक्षाकृत कम केसों में यह

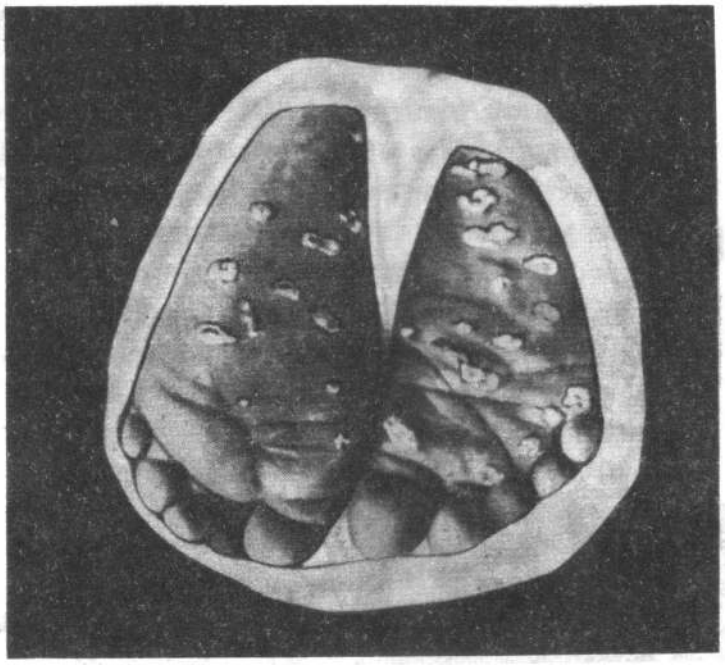

चित्र 45. सीफिलिक बुदबुदिया

जीवन के प्रथम महीने में भी विकसित हो सकती है। सीफिलिक नासाशोथ के तीन चरण हैं। प्रथम (ललामिक) चरण में श्लेष्मल झिल्लियां हल्की शोफित और कठोरित हो जाती हैं, जिसका शिशु की सामान्य अवस्था पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। द्वितीयक (स्रावी) चरण काफी अधिक सूजन और प्रचुर पूयिक स्राव द्वारा लंछित होता है। यह सबसे अधिक प्रायिक चरण है। नाक से साँस लेना कठिन हो जाता है; खरखराहट जैसा शोर सुनायी देने लगता है। कभी-कभी बच्चा नाक से बिल्कुल साँस नहीं ले पाता, जिससे स्तनपान भी कठिन हो जाता है। फलस्वरूप बच्चा दुबला होने लगता है। तीसरे (व्रणन) के चरण पर (जो बहुत ही विरल है) विनाशकारी प्रक्रिया शुरू हो जाती है: नाक की विभाजक भित्ति के अस्थिल एवं उपास्थिल ऊतक नष्ट होने लगते हैं और नाक घोड़े की जीन जैसी आकृति ग्रहण कर लेती है; कभी-कभी नाक बकरे की नाक या दूहरे दूरबीन जैसी आकृति भी ग्रहण कर लेती है। सीफिलिक नासाशोथ जन्मजात सीफिलिस का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है, क्योंकि यह अक्सर अन्य अभिव्यक्तियों से पूर्व उत्पन्न होता है और कभी-कभी बच्चे में सीफिलिस का एकमात्र लक्षण होता है। इसके साथसाथ अन्य लक्षण और अस्थियों व आंतर अंगों की आक्रांतियां भी पायी जा सकती हैं; त्रे. पालीडुम अक्सर नासा-श्लेष्मला के स्राव में बहुत बड़ी तादाद में अनुवेदित होते हैं। कंठ की श्लेष्मला बहुत विरले ही ग्रस्त होती है; यदि होती भी है (विसरित शोथी अंतर्स्यदन), तो आवाज रुक्ष हो जाती है और वाक्-हानि, तथा कभी-कभी संकीर्णता (स्टेनोसिस) विकसित हो जाती है। मुख और गले में श्लेष्मला की आक्रांति और भी कम प्रायिक है; ऐसे केसों में अपरदन और सतही व्रण विकसित होने लगते हैं।

पयोपा के जन्मजात सीफिलिस में अस्थियां अक्सर आक्रांत होती हैं (कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार 80 प्रतिशत केसों में)। पयोपा बच्चों को सीफिलिक अस्थि-उपास्थिशोथ, पर्यस्थिशोथ और अस्थि-पर्यस्थिशोथ हो सकता है। सीफिलिक अस्थि-उपास्थिशोथ अक्सर हाथों की लंबी नलीनुमा अस्थियों में होता है और यह पयोपा के जन्मजात सीफिलिस के लिये बहुत ही लंछक आक्रांति है। आरंभिक चरणों में (प्रथम या द्वितीय ग्रेड के अस्थि-उपास्थिशोथ में) प्रक्रिया को रेडिओलेखों से जाना जा सकता है। इससे अधिवर्ध में उपास्थि के साथ की सीमारेखा पर प्राथमिक कैल्सीकरण के क्षेत्रों का अनियमित प्रसार पाया जाता है (2.0-2.5 मिलिमीटर चौड़ा; सामान्यतः यह एक नियमित आकृति की स्पष्ट पट्टी के रूप में होता है, जिसकी चौड़ाई 0.5 मिलिमीटर होती है)। यह प्रथम कोटि का अस्थि-उपास्थिशोथ है। द्वितीय ग्रेड के अस्थि-उपास्थिशोथ में यह क्षेत्र 2-4 मिलिमीटर तक फैल आता है, उस पर मोटे रेशों जैसे उत्वर्ध और अधिवर्ध की ओर वाले हिस्से पर दंतुरण उग आते हैं। जीवन के प्रथम महीने में बच्चे के अधिवर्धों की संरचना उपास्थि जैसी होती है और इसीलिये रेडिओलेख पर नहीं दिखते। अस्थि-पंजर का रेडिओलेख जीवन के प्रथम तीन महीने के बाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि तबतक ये परिवर्तन लुप्त हो जा सकते हैं। सीफिलिस के अन्य लक्षणों की अनुपस्थिति में सिर्फ प्रथम ग्रेड के अस्थि-उपास्थिशोथ के आधार पर जन्मजात सीफिलिस का निदान नहीं किया जा सकता, क्योंकि अस्थियों में ये परिवर्तन अन्य गदलोचनी अवस्थाओं में भी पाये जा सकते हैं (विटामिन D की कमी, अवपोषण, अविटामिनता आदि में)। प्रक्रिया के बहुत आगे बढ़ने पर (तृतीय ग्रेड के अस्थि-उपास्थिशोथ में) प्राथमिक कैल्सीकरण के क्षेत्र गायब हो जाते हैं, मानो धुल गये हों। परावर्ध में विनाश की एक काली पट्टी (2-5 मिलिमीटर चौड़ी) दिखती है। अस्थियों की जगह कणीकरण के ऊतक ले लेते हैं, जिससे अंतर्परावर्ध में विभंजन (फ्रैक्चर) हो सकते हैं और पैरट (Parrot) का मिथ्या लकवा विकसित हो सकता है: इस अवस्था में बच्चा रोगी हाथों को धड़ के साथ दबाता है, रोगी पैर को घुटनों और कमर के पास मोड़ता है, सक्रिय (अपनी ओर से) गति से बचता है, जब दूसरों की ओर से गति (निष्क्रिय गति) होती है (अर्थात् जब कोई अन्य व्यक्ति उसका हाथ या पैर हिलाता है), तो वह रोना शुरू कर देता है (नार्विक अवस्था सुरक्षित रहती है, इसीलिये हाथ-पैर की उंगलियों की गति अव्यवधानित रहती है)।

सीफिलिक पर्यस्थिशोथ और अस्थिपर्यस्थिशोथ बच्चों में अधिकांशतः लंबी नलीनुमा अस्थियों में होता है (जिससे अस्थि की सतह पर हल्का स्पष्ट एवं सुकुमार सूजन हो जाती है)। कभी-कभी कपाल की चपटी अस्थियों में भी हो जाता है (जिससे उनकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है: आगे की ओर उभरा हुआ शिरोवल्क, ओलिंपिक ललाट बन जाता है)। पर्यस्थिशोथ और अस्थि-पर्यस्थिशोथ अक्सर विसरित होते हैं (रिसालु-बहुलन की प्रक्रिया), लेकिन रालार्बिक भी हो सकते हैं। वे बहुत ही स्पष्ट (प्रबल) हो जाते हैं, जब अस्थि-उपास्थिशोथ खत्म हो जाता है (3 से 6 महीने की उम्र में या इसके बाद)। कभी-कभी सीफिलिक पोरशोथ या अंगुलशोथ भी हो सकता है, जो जन्मजात सीफिलिस की बहुत ही लंछक विशेषता है। मुख्यतः निकटवर्ती पोर ग्रस्त होते हैं; प्रक्रिया के प्रबल होने पर वह दूरस्थ पोरों की ओर बढ़ती है। विसरित या रालार्बिक शोथी प्रक्रिया के कारण हाथ-पैर की उंगलियां बेलनाकार या तर्कुरूप में (तकुवे की आकृति में) मोटी हो जाती हैं; वे सूज कर बोतल की आकृति ग्रहण कर लेती हैं। अक्सर अनेक पोर ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ केसों में प्रक्रिया एकतरफा होती है; सुकुमारता (छूने से पीड़ा) अथवा नासूर नहीं होते और यह सीफिलिक अंगुलशोथ और गंठिक्लेशिक अंगुलशोथ के बीच एक मुख्य अंतर है। अंगुलशोथ

जन्मजात सीफिलिस का एकमात्र लक्षण भी हो सकता है और 1 से 4-5 और यहां तक कि 6 वर्ष तक की भी उम्र में हो सकता है।

ज्ञानेंद्रियों में आँखों की आक्रांति सबसे अधिक प्रायिक है। इस उम्र के जन्मजात सीफिलिस में आँखों के कुंभिक अस्तर और रेटिना की आक्रांति (खोरिओरेटीनाशोथ) सबसे अधिक पायी जाती है। आँख की तली के परिसर पर नमक-मिर्च के चूर्ण की तरह की एक पीताभ बिंदुक वर्णकता इसका विशेष लक्षण है। इससे बच्चे की दृष्टि पर नियमतः कोई असर नहीं पड़ता।

एक कठोरनकारी विसरित शोथी प्रक्रिया अनेक आंतर अंगों में पायी जाती है, जैसे—यकृत, प्लीहा, वृक्क, क्लोम (कुप्फुस), वृषणों में। आक्रांति गर्भस्थ जीवन से ही शुरू हो जाती है, उस समय वह गोल-कोशिकीय अंतर्स्यंदन और कुंभिक दीवारों के योजक ऊतकों के बहुलन के रूप में होती है। बाद में अंग के ऊतकों की विसरित आक्रांति होती है। नाभि-शिरा के सहारे भ्रूण-काय में त्रे. पालीडुम के प्रवेश से सबसे पहले यकृत आक्रांत होती है, जिससे वह वर्धित तथा दृढ़ हो जाता है (यद्यपि चिकना बना रहता है)। जलोदर और पीलिया (पित्त की व्यवधानित गति और यकृत के कठोरन के कारण) फिर भी विरल हैं। यकृत की आक्रांति से कमजोरी, त्वचा में पीलापन, रक्ताल्पता, और क्षय का विकास होता है। इसी तरह की एक प्रक्रिया प्लीहा (तिल्ली) में भी होती है, जिससे प्लीहा वर्धित हो जाती है, परितिल्लीशोथ में इसकी अनियमित एवं रुक्ष सीमापट्टी परिस्पर्शित होती है। अंतरावकाशिक विसरित क्लोमशोथ विकसित हो सकता है, जिससे जन्मोपरांत प्रथम दिनों में ही बच्चे की मृत्यु हो जाती है। ऐसे बच्चे कुछ महीनों से अधिक विरले ही जीवित रह सकते हैं। उन्हें हँफनी होती है, उनके होठ और सारी त्वचा नीलाभ हो जाती है। हृत्पेशीशोथ, अंतर्हृत्शोथ और परिहृत्शोथ हृत्कुंभिक तंत्र की आक्रांति में विकसित होते हैं; हृदय के कपाट, धमनियां और शिराएं भी ग्रस्त हो सकती हैं। वृक्क की आक्रांति वृक्कार्ति-वृक्कशोथ के रूप में व्यक्त होती है। ऐसे केसों में प्रोटीन-निक्षेप, वृक्कीय उपकला और लाल कोशिकाएं मूत्र में प्रकट होती हैं। रक्त अक्सर रक्ताल्पता, श्वेतकोशिकार्ति और न्युट्रोफीलिया द्वारा लंछित होता है। ढालवत, अधोजठर, जनक, पीयुष तथ अधिवृक्कीय ग्रंथियों के काय गदलोचनी प्रक्रिया की चपेट में आ जाते हैं। उनकी अपक्रिया से उत्पन्न अपसामान्यताएं बच्चे में तदोपरांत विकास की गड़बड़ियों और कुपोषी परिवर्तनों द्वारा या ओटोस्कोपी से निदानित होती हैं। अंडकोषों की आक्रांति एक अपेक्षाकृत अधिक प्रायिक घटना है (एक विशिष्ट वृषणशोथ), जिसमें वृषण दृढ़ (कठोर, सघन) तथा वर्धित हो जाते हैं, पर चिकने बने रहते हैं; कभी-कभी हाइड्रोसील विकसित हो जाता है।

बहुकठग्रंथिशोथ अक्सर पाया जाता है: जंघामूल, कोहनी तथा ग्रीवा के और अन्य लैसपर्व वर्धित तथा कठोर हो जाते हैं।

पयोपा में जन्मजात सीफिलिस से नर्वतंत्र की आक्रांति छादिकाशोथ, छादिका-प्रमस्तिष्कशोथ और मस्तिष्क में जलशोफ के रूप में व्यक्त होती हैं। सीफिलिक छादिकाशोथ तीव्र अथवा चिरकालिक हो सकता है। गरदन की अँकड़न, बेचैनी और कभी-कभी वमन तथा वितान (विलक्षण तान; हुकहुकी; कनवल्सन) भी इन बच्चों में पाया जाता है। वे बिना कारण रोते रहते हैं। छादिका-प्रमस्तिष्कशोथ में उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त अपूर्ण लकवा, लकवा और कनीनिकीय गड़बड़ियां भी पायी जाती हैं। मस्तिष्क में जलशोफ फोंटानेल्ले में तनाव और कपाल की सीवनों के विशाखन द्वारा लंछित होता है। वमन और आँखों का फूलना भी प्रेक्षित होता है। नर्वतंत्र की विशिष्ट आक्रांति की पुष्टि के लिये प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव के परीक्षण (लुंबर पंक्चर) पर ध्यान दिया जाता है। द्रव

में प्रोटीन की मात्रा और कोशिका-गणना (लसकोशिकाओं की) अक्सर वर्धित होती है। द्रव के सीर-मलोचनी परीक्षण और IFT, TPI के धनात्मक परिणामों को भी ध्यान में रखा जाता है।

पयोपा के जन्मजात सीफिलिस को औपचारिक तौर पर दो अवधियों (चरणों) में बाँटा जा सकता है : जन्म से 3-4 महीने तक और 3-4 महीने से एक साल तक। प्रथम अवधि में निम्न लक्षण देखे जाते हैं : चर्म और श्लेष्मल झिल्लियों पर व्यापक (सार्वदैहिक) प्रक्रियाओं की प्रबलता, विसरित अंतर्स्यंद का प्रकट होना, सीफिलिक बुदबुदिया, अस्थितंत्र की आक्रांति (अस्थि-उपास्थि-शोथ, पर्यस्थिशोथ, अंगुलशोथ, और आंतर अंगों (विशेषकर यकृत तथा प्लीहा) एवं नर्वतंत्र में विविध परिवर्तन विशेष स्पष्ट (प्रबल) होते हैं। चार्म एवं श्लेष्मल क्षतियां अधिकांशतः स्थनाबद्ध होती हैं (इक्के-दुक्के पिटकीय स्फोट)। अस्थियों में पर्यस्थिशोथ और रालार्बिक क्षतियां अधिक होती हैं। आंतर अंगों और नर्वतंत्र की आक्रांति विरल हो जाती है। पयोपा के सीफिलिस की द्वितीय अवधि पयोपा के जन्मजात सीफिलिस और आरंभिक बाल्य काल के सीफिलिस की एक अंतरिम (बीच की) अवस्था है।

आरंभिक (पूर्व) बाल्य काल का सीफिलिस

जन्मजात सीफिलिस की यह अवधि बच्चे को 4 से 1 वर्ष के बीच होती है ; इसमें अभिव्यक्तियां बहुत विरल होती हैं। अक्सर आर्द्र एवं अपरदित पिटक या चपटे (विस्तृत) कंडार्ब पृष्ठद्वार के गिर्द और जननेंद्रियों पर उत्पन्न होते हैं। चूँकि चपटे कंडार्ब इस अवधि का प्रबल लक्षण हैं, इसलिये इसे कंडार्बिक अवधि भी कहते हैं। पिटकीय स्फोट (यदि होते हैं) जननेंद्रियों, हाथ-पैर, नितंबों और कभी-कभी चेहरे पर वृहत क्षतियों द्वारा लंछित होते हैं। जंघामूल, काँख तथा अन्य नैसर्गिक चर्म-पुटकों में अपरदन होने लगता है। कुछ रोगियों के चर्म पर कठोर रालार्बिक पर्विकाएं बन जाती हैं।

कभी-कभी मुख, कंठ, स्वरयंत्र तथा नाक की श्लेष्मल झिल्लियों की भी आक्रांतियां देखी जाती हैं ; मुख में अपरदित पिटक उत्पन्न हो जाते हैं, स्वर रुक्ष हो जाता है। सीफिलिक नासाशोथ और पूयिक स्राव विकसित होते हैं, यद्यपि इस अवधि में ये पयोपा के जन्मजात सीफिलिस की अपेक्षा अधिक विरल होते हैं।

उपरोक्त चार्म एवं श्लेष्मल क्षतियों के अतिरिक्त इस अवधि में अस्थि-तंत्र की आक्रांति (मुख्यतः लंबी नलीनुमा अस्थियों की ; अक्सर बड़ी टंगास्थि की, कभी-कभी प्रबाहु की भी) देखी जाती है ; नेत्र-अस्तर भी ग्रस्त होते हैं। यकृत और प्लीहा की आक्रांति कम प्रायिक है ; इन अंगों का वर्धन या दृढ़करण नहीं होता। सिर्फ कुछ अपवादजनक केसों में (विशेषकर जब चिकित्सा बहुत उपेक्षित होती है) यकृत-ऊतकों के कुपोषण के साथ-साथ उसकी पीतार्ति (सिरोसिस) शुरू हो जाती है, जिससे भविष्यवाणी गंभीर हो जाती है।

सीफिलिक छदिकाशोथ, छादिकामस्तिष्क शोथ, बौद्धिक ह्रास तथा नर्वतंत्र की अन्य आक्रांतियों के भी वर्णन मिलते हैं।

अनेक बच्चों में जन्मजात सीफिलिस बिना किसी लक्षण के एक अव्यक्त प्रवाह ग्रहण कर लेता है, इसीलिये निदान सिर्फ रक्त की धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया के आधार पर होता है, लेकिन वह भी 15 से 20 प्रतिशत बच्चों में ऋणात्मक हो सकती है।

परवर्ती जन्मजात सीफिलिस

परवर्ती जन्मजात सीफिलिस का निदान 4 से 15 वर्ष या इससे अधिक उम्र के बच्चों में होता है। पाश्कोव के अनुसार परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के 70 प्रतिशत से अधिक केसों में उसके प्रथम लक्षणों के प्रकट होने से पूर्व आरंभिक जन्मजात सीफिलिस की कोई अभिव्यक्ति नहीं हुई होती है। इससे संकेत मिलता है कि जन्मजात सीफिलिस लंबी अवधि तक अलाक्षणिक (लक्षणहीन) प्रवाह रख सकता है (जैसा कि अर्जित सीफिलिस में होता है)।

प्रवाह के अनुसार परवर्ती जन्मज़ात सीफिलिस अर्जित तृतीयक सीफिलिस से मिलता-जुलता होता है, क्योंकि उसमें रोगी निम्न अंगों के रालार्ब या रालार्बिक अंतस्यंदन विकसित कर लेता है: चर्म, श्लेष्मल झिल्लियों और अस्थियों के (रालार्बिक पर्यस्थिशोथ और अस्थिपर्यस्थिशोथ), संधियों, आंतर अंगों और नर्वतंत्र के (रालार्बिक छादिकाशोथ)। चर्म पर गंठिकीय सीफिलिद भी हो सकते हैं। कुछ रोगियों में अंतस्रावी ग्रंथियां आक्रांत होती हैं। मस्तिष्क या मेरुरज्जू की कुंभियां भी परवर्ती जन्मजात सीफिलिस की चपेट में आ सकती हैं (जिससे अपूर्ण लकवा, लकवा और मिरगी जैसे दौरे शुरू हो सकते हैं)। मेरुकृषता या कैशोर्य सार्वदैहिक अपूर्ण लकवा बहुत विरल है।

परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त, जो अर्जित सीफिलिस के तृतीयक सीफिलिदों से मिलते-जुलते हैं, कुछ ऐसे लक्षण भी हैं, जो सिर्फ परवर्ती जन्मजात सीफिलिस में ही पाये जाते हैं। ये लक्षण तीन ग्रुपों में बाँटे गये हैं। प्रथम ग्रुप में विश्वसनीय या अपरिस्थितिज लक्षण आते हैं, जो परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के पक्के (गदोचीनक) लक्षण हैं। दूसरे ग्रुप में सहायक लक्षण आते हैं; ये जन्मजात सीफिलिस का संकेत देते हैं, लेकिन उस अवस्था में ही, जब सीफिलिक पैठन की पुष्टि करने वाले अन्य लक्षण मौजूद होते हैं, जैसे – रक्त की सीरमलोचनी जाँच, प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अपसामान्यता, माँ तथा बच्चे के परीक्षणों के परिणाम तथा उनका आयुरी वृत्त। तीसरे ग्रुप में कुपोषणताएं आती हैं (क्षतांक), जो कई चिरकालिक पैठी रोगों में पायी जाती हैं और सिर्फ जन्मजात सीफिलिस के लिये विशिष्ट नहीं होतीं। लेकिन पैठन के अन्य प्रमाणों (जैसे माँ-बच्चे के रक्त में वासेरमान-परीक्षण के धनात्मक परिणाम) के साथ कई कुपोषणताएं प्रेक्षित होने पर डाक्टर रोग का सही निदान कर सकता है।

हचिंसन (Hutchinson) का त्रिक (अंतरावकाशिक शृंगीशोथ, सीफिलिक आंतर कर्णशोथ और हचिंसन के दाँत) परवर्ती जन्मजात सीफिलिस का एक विश्वसनीय लक्षण है। अंतरावकाशिक शृंगीशोथ की निम्न विशेषताएं हैं: शृंगिका की लाली और अपारदर्शीकरण, प्रकाशभीति, अश्रुकरण और दृष्टि की स्थायी कुंदता। अधिकांश केसों में पहले एक आँख, फिर दूसरी आँख ग्रस्त होती है। प्रक्रिया लंबे समय तक चलती है और उसका अपचोषण बहुत धीरे-धीरे होता है। सीफिलिक शृंगीशोथ के साथ-साथ अक्सर परितारिकाशोथ, परितारिका-पलकशोथ और आँख के कुंभिक आवरण तथा रेटीना का शोथ होता है। आंतर कर्णशोथ (लैबीरिंथ-शोथ) या लैबीरिंथी वधिरता में 'ठीक हालत' से अचानक कुछ बधिरता शुरू हो जाती है; यह अक्सर दुतरफा होती है, कान में स्वनन (शोर) भी होता है। यह प्रक्रिया लैबीरिंथ के अंतर्स्यंदी शोथ और श्रवण-नर्वों के अवजनन से संबंधित होती है। यथि लैबीरिंथ-शोथ ऐसे बच्चे में होता है, जिसने बोलना नहीं सीखा है, तो उसे स्वनों के उच्चारण में कठिनाई हो सकती है, या बच्चा मूक-बधिर हो सकता है। 'हचिंसन के दाँत' में ऊपर के (सामने के, कुतरने या फाड़ने वाले) दो स्थायी दाँत कुपोषित रह जाते हैं, उनकी कर्तक किनारियां खाँचेदार हो जाती हैं (चित्र 43)। स्थायी दाँतों के निकलने से पहले, हचिंसन

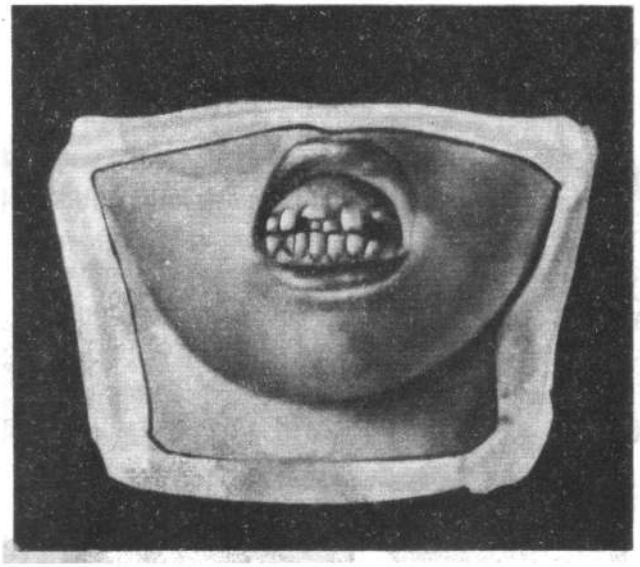

चित्र 46. दांतों का विशिष्ट कुपोषण

के दाँत रेडिओलेख द्वारा पहचाने जाते हैं। हचिंसन के पूरे त्रिक (तीनों लक्षणों) का मिलना एक विरल घटना है। अंतरावकाशिक शृंगीशोथ और हचिंसन के दाँत अक्सर पाये जाते हैं; वे परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के 30 से 48 प्रतिशत रोगियों में निदानित हो जाते हैं।

परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के सहायक लक्षण निम्न हैं: तलवार की तरह मुड़ी हुई टांगें (साब्रे शिन), सीफिलिक खोरिओ-रेटीनाशोथ (कुंभियों से बने आवरण और रेटीना का शोथ), घुटना-शोथ, रोबिंसन-फुर्निये का त्रिज्य क्षतांक, कपाल में सामने की ओर उभार, नाक का अपरूपण (घोड़े की जीन या काठी, बकरे की नाक, दूरबीन आदि जैसी आकृति), कतिपय दाँतों की कुपोषणताएं (गुर्दे जैसी या 'तांबाकू के बटुए' जैसी आकृति) तथा नार्वसीफिलिस के कुछ रूप।

साब्रे-शिन से रातों को दर्द होता है, बचपन में अस्थि-उपास्थिशोथ होने के कारण बड़ी टंगास्थि (घुटने से लेकर नीचे टखने तक की दो नलीनुमा अस्थियों में से मोटी वाली) तलवार की तरह मुड़ जाती है। सुखंडी में टांग वर्ण '0' की तरह मुड़ जाती है। ऐसा अपरूपण पेजेट (Paget) के रोग तथा अर्जित सीफिलिस में भी मिलता है, लेकिन बहुत विरले। इसीलिये साब्रे शिन को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। अर्जित सीफिलिस में मिथ्या साब्रे शिन पूर्वकालीन अस्थिपर्यस्थिशोथ के फलस्वरूप होता है, जिसमें बड़ी टंगास्थि की अग्र सतह पर अस्थियों का व्यापक पैमाने पर पटलीकरण होने लगता है। साब्रे फोर आर्म (असि-प्रबाहु; तलवार की तरह टेढ़ी प्रबाहु) अपेक्षाकृत कम प्रायिक है।

खोरिओ-रेटीनाशोथ से आँख की तली (फंडस) पर नमक-मिर्च के चूर्ण जैसी वर्णकता उत्पन्न होती है। प्रक्रिया कुंभियों से बने नेत्र-आवरण (खोरिओन) तथा प्रकाशिकीय (ऑप्टिक) डिस्क को ग्रस्त करती है। सीफिलिक खोरिओ-रेटीनाशोथ अक्सर आरंभिक जन्मजात सीफिलिस (पयोपा के जन्मजात सीफिलिस) में पाया जाता है, लेकिन परवर्ती चरणों पर भी मिल सकता है। खोरिओ-रेटीनाशोथ गंठिक्लेशिक (याक्ष्मिक) हेतुलोचन का भी हो सकता है, इसीलिये इसे परवर्ती जन्मजात सीफिलिस का सहायक लक्षण माना जाता है। क्लटन (Clutton) द्वारा निरूपित स्निग्धिकाशोथ

(सीनोवीटिस) चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है, जिसमें घुटनों की सुचलता बिगड़ने लगती है; इस तरह का शोथ कभी-कभी कोहनी तथा टखने की भी संधि में अस्थियों के बीच स्नेहक झिल्ली (स्निग्धिका; सीनोविआ) में पाया जाता है। स्थानीय तापक्रम नहीं बढ़ता, सुकुमारता (छूने में पीड़ा) भी नहीं होती। चिरकालिक सीफिलिक अस्थि-जलशोफ अक्सर अंतरावकाशिक शृंगी शोथ या हचिंसन के दाँत के साथ होता है, इसीलिये कुछ सीफिलोलोचक सीफिलिक घुटनाशोथ को परवर्ती जन्मजात सीफिलिस का एक विश्वसनीय लक्षण मानते हैं।

सीरमलोचनी परीक्षण (जो घुटनाशोथ के लगभग सभी केसों में धनात्मक पाया जाता है) और विशिष्ट चिकित्सा की कारगरता के मूल्यांकन से निदान में सहायता मिलती है।

रोबिंसन-फुर्निये के क्षतांक मुंह के गिर्द (ठुड्डी पर, होठों के गिर्द) त्रिज्य रूप से अवस्थित होते हैं; वे होखजिंगेर के विसस्ति पिटकीय अंतस्यंदन के कारण उत्पन्न होते हैं, जो पयोपा-काल में ही हो चुका होता है। कुछ केसों में ये क्षतांक गोलित होते हैं या अंगुश्ताने की तरह गड्ढों से युक्त हो जाते हैं। इस तरह के नन्हे क्षतांक उस स्थिति में भी बन सकते हैं, जब बच्चा कांदीदक्लेश, चर्मपूयता या दग्ध से ग्रस्त हो चुका होता है, इसीलिये कभी-कभी निदान में गलती भी हो जाती है।

जन्मजात सीफिलिस में कपाल का आगे की ओर उभार जीवन के प्रथम माह में ही बन जाता है, जबकि सुखंडी में यह अपरूपण जीवन के दूसरे या तीसरे वर्ष स्पष्ट होने लगता है। यह कपाल की अग्र एवं शीर्षस्थ हड्डियों में विसरित रूप से अस्थिकारी अंतस्यंद के निक्षेप के कारण होता है, जिससे अग्र उत्वर्ध (ललाट पर) और भी अधिक उभर आते हैं और उनके बीच नाले जैसा गड्ढा रह जाता है। स्थानाबद्ध सीफिलिक मस्तिष्क-जलशोफ इस प्रक्रिया में एक सहायक घटक है। जन्मजात सीफिलिस से ग्रस्त कुछ बच्चों का कपाल पिरामिड जैसा हो जाता है।

आरंभिक पयोपा-काल में सीफिलिक नासाशोथ हो चुकने के कारण नाक के अस्थिल या उपास्थिल भाग का विकास अपर्याप्त रह जाता है, जिससे नाक का अपरूपण हो जाता है; यह परवर्ती सीफिलिस के लिये बहुत विशिष्ट लक्षण है। इसमें नाक की आकृति घोड़े की जीन (काठी), दूरबीन (बाइनोक्यूलर) या 'बकरे की नाक' जैसी ही जाती है। अर्जित सीफिलिस में रालार्बिक प्रक्रिया से भी नाक में इस तरह की अपरूपताएं उत्पन्न हो सकती हैं।

दाँत की कुपोषणताओं में निम्न की गणना होती है (जो परवर्ती जन्मजात सीफिलिस का सहायक लक्षण हो सकते है): (1) गुर्दे (या तंबाकू के बटुए) जैसी आकृति के दाँत; इसमें प्रथम चह (डाढ़) के चार चर्वणक (चबाने वाले) ऊपरी सिरे पतले प्रवर्धों की तरह अविकसित रह जाते हैं और खुद चह बहुत छोटी रह जाती है, उसकी चर्वणक सतह उसकी ग्रीवा से छोटी रहती है, इसीलिये दाँत देखने में गुंबज जैसी लगती है; (2) बर्छी जैसा दाँत; इसमें रदनक दाँत की नोक का अतिगठन हो जाता है, जिससे वह मछली के दाँत जैसे पतला व शंक्वाकार हो जाता है।

परवर्ती जन्मजात सीफिलिस में नर्वतंत्र की आक्रांतियां बहुत विविध प्रकार की होती हैं और उनके साथ-साथ त्रे. पालीडुम के स्थिरकरण का परीक्षण अवश्य ही धनात्मक होता है; वासेरमान की प्रतिक्रिया कुछ केसों में ऋणात्मक भी हो सकती हैं। कुछ रोगियों में प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव्य हो सकता है, पर अधिकांश केसों में अपसामान्य ही रहता है। नार्वसीफिलिस के निम्न रूप संभव हैं: मतिभ्रंशता (प्रमस्तिष्क की कुंभियों के सीफिलिस से), जैक्सोनी (Jacksonian) मिरगी, अर्धांग में अपूर्ण लकवा, अर्धांग में लकवा (पक्षघात; हेमीप्लेगिया), वाक्-व्यवधान, स्थायी (कुटाली) सरदर्द (सीफिलिक मस्तिष्क-जलशोफ के कारण) और मेरुकृषता। मेरुकृषता से ग्रस्त बच्चों में

घुटनों का प्रतिवर्त लंबे समय तक बना रहता है, गति के लिये पेशियों के प्रयत्नों में समन्वयहीनता विरले ही होती है; विभिन्न प्रकार की कनीनिकीय गड़बड़ियां अधिकांशतः पायी जाती है (जैसे पुतलियों के आकारों में असमानता, अर्जित रोबेर्ट्सन की पुतली आदि)। सार्वदैहिक अपूर्ण लकवा के बाल्य रूप पाये जा सकते हैं: स्मृति-क्षीणता, वाक्-व्यवधान, विक्षिप्ति (डेलीरियम) और पुतलियों की (कनीनिकीय) गड़बड़ियों के विकास के बाद वितान और लकवा होता है; तल्पिक चित्र सदा धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं तथा प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव की अपसामान्यताओं के साथ मिलता है, जिसमें वासेरमान की प्रतिक्रिया सदा तीव्र धनात्मक रहती है।

माता-पिता में विभिन्न प्रकार के पैठी रोगों (जैसे यक्ष्मा) या अपैठी रोगों (जैसे अल्कोहलिज्म) के कारण बच्चे में असंख्य प्रकार की कुपोषणताएं हो सकती हैं; यहां हम उन्हीं से परिचय करायेंगे, जो परवर्ती जन्मजात सीफिलिस में बहुत आम तौर पर पाये जाते हैं, यद्यपि वे सीफिलिस के लिये विशिष्ट नहीं हैं। ये कुपोषणताएं (रोगांक या रोगचिन्ह; स्टिग्माटा) आरंभिक काल में भी (कभी-कभी पयोपा-काल में ही) उत्पन्न हो सकते हैं; इनकी उत्पत्ति का कारण द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां, अंतस्त्रावी अपक्रिया, हृत्पेशी-तंत्र और नर्वतंत्र के कार्यों में गड़बड़ियां हो सकती हैं। परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के निम्न रोगचिन्ह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं: (1) आव्सीतीदीस्की का चिन्ह – विसरित अत्यस्थिता के कारण हँसुली के सिरे का मोटा होना (वक्ष की ओर के सिरे का); अधिकांशतः दायी हँसुली आक्रांत होती है; रेडिओलिक तल्पिक निदान की पुष्टि करता है; (2) 'बर्छी जैसा' ऊँचा कठोर तालू; (3) पयोपा शिशु जैसी छोटी उंगली – ड्युबुआ-गिस्सार (Dubois--Gissard) का चिन्ह; छोटी उंगली बहुत छोटी रह जाती है (ड्युबुआ का चिन्ह) और इसकी दूरस्थ संधि की शिकन मध्य उंगली की मध्य संधि की शिकन से नीचे रहती है, जबकि छोटी उंगली कुछ अपरूपित तथा भीतर की ओर मुड़ी होती है (गिस्सार का चिन्ह); (4) आक्सीफोइडिआ, अर्थात् वक्ष के असिवत (क्सीफोइड) उत्वर्ध की अनुपस्थिति (ध्यान में रखना चाहिये कि यह उत्वर्ध भीतर की ओर भी मुड़ा हो सकता है, जिससे लगता है कि वह अनुपस्थित है); (5) काराबेली (Carabelli) का कस्प (cusp) – ऊपरी प्रथम चह की चर्वणक सतह पर पाँचवे कस्प की उपस्थिति; (6) डायेस्टेमा – ऊपरी अग्र दाँतों के बीच फाँक; (7) अतिलोमता (लड़के-लड़कियों दोनों में) – पूरे ललाट पर भौंहों तक बाल; (8) कपाल की अस्थियों का कुपोषण, अग्र एवं शिखरस्थ उभारों का और भी अधिक उभरना, लेकिन उनके बीच खाँचे का नहीं बनना।

इन कुपोषणताओं का निदानिक महत्त्व तभी हो सकता है, जब वे सीफिलिस के अन्य चिन्हों (कम से कम हचिंसन के त्रिक से एक विश्वसनीय लक्षण या एक से अधिक सहायक चिन्हों) के साथ होती हैं या जब साथ-साथ बच्चे या माता-पिता में सीरमलोचनी परीक्षण तथा आयुरी वृत्त से सीफिलिक पैठन की पुष्टि हो जाती है।

रक्त का सीरमलोचनी परीक्षण, जो सक्रिय अभिव्यक्तियों वाले 70 से 80 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होता है, और विशेषकर TPI, जो लगभग 100 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होता है, परवर्ती जन्मजात सीफिलिस के निदान में सहायता करते हैं।

जन्मजात सीफिलिस का निरोध

स्त्रियों में सीफिलिस का यथासमय अनुवेदन और उनकी सही चिकित्सा बच्चों में जन्मजात सीफिलिस के निरोध का आधार है। गर्भवती स्त्रियों का परीक्षण विशेष महत्त्वपूर्ण होता है, ताकि उनकी

चिकित्सा जल्द से जल्द की जा सके। सोवियत संघ में स्त्री-मंत्रणालयों में सभी गर्भवती स्त्रियों का पंजीकरण अनिवमार्य रूप से किया जाता है और वहां सीफिलिस के लिये उनका तल्पिक एवं सीरमलोचनी परीक्षण अवश्य किया जाता है। सीरमलोचनी परीक्षण दो बार होता है – प्रथम सगर्भता-काल में (प्रथम चार सप्ताह) और द्वितीय सगर्भता-काल में (चार सप्ताह के बाद)। यदि गर्भवती स्त्री में सीफिलिस का सक्रिय या अव्यक्त रूप पाया जाता है, तो उसे विशिष्ट चिकित्सा (सिर्फ प्रतिजीवकों से) सुलभ करायी जाती है। यदि स्त्री को पहले सीफिलिस था और उसकी एंटीसीफिलिक चिकित्सा पूरी हो चुकी है, तो भी उसे विशिष्ट चिकित्सा दी जाती है, जिसे प्रत्त (प्रदत्त) परिस्थितियों में निरोधक कहा जाता है। इससे स्वस्थ संतान के जन्म लेने की गारंटी रहती है।

प्रसव से एक या दो सप्ताह पूर्व अविशिष्ट, मिथ्या धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं प्रकट हो सकती है। इसीलिये यदि वे प्रसव से दो सप्ताह पूर्व प्रकट होती हैं, तो भावी मां को विशिष्ट चिकित्सा नहीं दी जाती है, लेकिन दो सप्ताह बाद जच्चा-बच्चा दोनों का परीक्षण किया जाता है। यदि सीफिलिस के निदान की पुष्टि हो जाती है, तो एंटीसीफिलिक चिकित्सा दोनों को प्रदान की जाती है। यदि मां को पहले सीफिलिस हुआ है, लेकिन उसकी चिकित्सा सगर्भता से पूर्व एवं उसके दौरान पर्याप्त रूप से हो चुकी है, तो बच्चे का सविस्तार परीक्षण किया जाता है और उसपर निरंतर निगरानी रखी जाती है। यदि मां की चिकित्सा पहले पर्याप्त रूप से नहीं हुई है और सगर्भताकाल में भी किसी कारणवश चिकित्सा नहीं हो सकी, तो बच्चे की निरोधक चिकित्सा सोवियत संघ के स्वास्थ्य मंत्रणालय द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार पूरी की जाती है।

आरोग्यशालीय देखभाल की सोवियत प्रणाली से जन्मजात सीफिलिस के छुतहे रूपों के केसों में तीव्र कमी हुई है। इस प्रणाली के अनुसार सीफिलिस के हर रोगी को अनिवार्य रूप से पंजीकृत किया जाता है, उस पर निरंतर निगरानी रखी जाती है, पैठन के हर स्रोत का अनुवेदन और इलाज किया जाता है, इसके संपर्क में आये सभी व्यक्तियों का परीक्षण और इलाज होता है, गर्भवती स्त्रियों, खाद्य पदार्थ की दूकानों व सार्वजनिक भोजनालयों के कार्यकर्त्ताओं का निरोधक परीक्षण किया जाता है; चिकित्सा निःशुल्क और कानुन से अनिवार्य होती है। इसमें स्त्री एवं बाल मंत्रणालयों, प्रतिष्ठानों के साथ रतिजलोचनी आरोग्यशालाओं के स्थायी संपर्क का भी योगदान होता है।

सीफिलिस में सीरमलोचनी (तक्रलोचनी) प्रतिक्रिया

क्लासिकल तक्रलोचनी प्रतिक्रिया

सीफिलिस के लिये मानक या क्लासिकल सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं का सार्वजनिक स्वास्थ्य-प्रणाली में विस्तृत उपयोग होने लगा है। ये रोग के निदान में प्रयुक्त होती हैं (रोग की तल्पिक अभिव्यक्तियों के उपस्थित होने पर या त्रे. पालीडुम का अनुवेदन होने पर एक सहायक विधि के रूप में, और सीफिलिस के अव्यक्त रूपों में मुख्य विधि की तरह)। ये एंटीसीफिलिक चिकित्सा की कारगरता के मूल्यांकन में भी सहायक होती हैं: सीरमलोचनी प्रतिक्रिया का ऋणात्मक होने की दर को देखते हुए डाक्टर यह निर्णय कर सकता है कि चिकित्सा कितनी कारगर रही है। अन्य संकेतों (सूचकों) के साथ-साथ तक्रलोचनी प्रतिक्रियाएं पूर्ण चिकित्सा का भी निकष होती हैं। और अंत में, सीरमलोचनी परीक्षण उन सभी व्यक्तियों का किया जाता है, जो बाल-प्रतिष्ठानों, भोजनालयों आदि जैसे स्थानों पर काम करने को इच्छुक होते हैं। ऐसे प्रतिष्ठानों में काम करने वाले लोगों की जाँच नियमित रूप से होती रहती है। सीरमलोचनी परीक्षण उन लोगों का भी अनिवार्य रूप

से किया जाता है, जो रक्तदान करते हैं या कायिक (नर्वलोचनी, मानसिक, आंतर अंगों के) अस्पतालों में भरती होते हैं।

मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया में निम्न की गणना होती है: वासेरमान की प्रतिक्रिया (विभिन्न एंटीजनों के साथ), कान (Kahn) और जाख्स-वितेब्स्की (Sachs-Vitebsky) के सीतोखोलिक (cytocholic) प्रेसीपीटिन परीक्षण। इनके अतिरिक्त, कोल्मेर का परीक्षण (ठंड में वासेरमान की प्रतिक्रिया) अब व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहा है। वासेरमान की प्रतिक्रिया और कोल्मेर का परीक्षण दो रूपों में प्रयुक्त होता है (गुणात्मक एवं मात्रात्मक रीतियां)।

मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं के अनेक रूप हैं, क्योंकि त्रे. पालीडुम की प्रकृति विविध एंटीजन प्रस्तुत करती है और सीफिलिस-ग्रस्त रोगी के रक्त सीरम में उनके अनुरूप विविध एंटीकाय उत्पन्न होते हैं (जैसे रिएजिन, पूरक-स्थिरकारी प्रोटीन, बहुसाखारीद एंटीकाय, अग्लूटीनिन, इंमो बीलीजिन, इमूनी संदीप्ति उत्पन्न करने वाले एंटीकाय, आदि)। सीफिलिस के हर चरण पर भिन्न प्रकार के एंटीकाय प्रबल हो सकते हैं, इसीलिये कुछ एंटीजनों के साथ प्रतिक्रिया धनात्मक हो जा सकती है और कुछ के साथ ऋणात्मक बनी रह सकती हैं। इसके अतिरिक्त, मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं की सापेक्षिक विशिष्टता के कारण भी एक प्रतिक्रिया नहीं, वरन् प्रतिक्रियाओं का एक संकुल ही संपन्न करना पड़ता है, ताकि निदान में गलती न हो जाये। ध्यातव्य है कि पूरा संकुल भी एक मिथ्या धनात्मक और कुछ केसों में अ-विशिष्ट परिणाम उत्पन्न कर सकता है। रक्त में धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया निम्न परिस्थितियों में भी पायी जा सकती है: मलेरिया, टाइफस, पुनरावर्ती ज्वर, कुष्ठ, ब्रुसेलोसिस, क्लोमशोथ, शोण ज्वर, दुर्दम नौवर्ध में, ऋतुकाल में, प्रसव के दो सप्ताह पूर्व और दो सप्ताह बाद, अल्कोहल ग्रहण करने के बाद, वसायुक्त भोजन, कुछ दवाएं ग्रहण करने के बाद, चिरकालिक पूयकारी प्रक्रियाओं में, यकृत के रोगों में, आदि। इन बातों के कारण कुछ केसों में सीरमलोचनी परीक्षण के परिणामों की व्याख्या बहुत लोच-समझ कर सावधानी के साथ करनी चाहिये; ये दरअसल तल्पिक चित्र, अन्य प्रयोगशालीय परीक्षणों (त्रे. पालीडुम के अनुवेदन, प्रमस्तिष्क द्रव की जाँच), तथा रोगी व्यक्ति से यौन संपर्क के परिणामों की पुष्टि के लिये मूल्यवान सहायक रीति के रूप में ही प्रयुक्त हो सकते हैं।

वासेरमान की प्रतिक्रिया अपनी जटिलता के लिये विख्यात है; यह विशेष सीरमलोचनी प्रयोगशाला में संपन्न की जाती है। प्रतिक्रिया पूरक-स्थिरकरण संवृत्ति पर आधारित है। त्रे. पालीडुम के विशिष्ट और अ-विशिष्ट दोनों ही प्रकार के एंटीजन प्रयुक्त होते हैं (ये स्वस्थ जंतुओं के अंगों, जैसे बड़े मवेशी की हृत्पेशी से निकाले जाते हैं)। पूरक (कंप्लीमेंट) का एक संकुल (परीक्षणाधीन सीरम के लीपोइड एंटीजन और रिएजिन) द्वारा स्थिरकरण (फिक्सेशन) होता है। विरचित संकुल के सूचक के रूप में एक रक्त-विश्लेषक या रक्तलयक तंत्र (भेड़ की लाल रक्त-कोशिकाएं और रक्तलयक तंत्र) प्रयुक्त होता है। वासेरमान की प्रतिक्रिया अधिक संवेदी होती है, जब वह कार्डिओलीपिन नामक एंटीजन के साथ संपन्न की जाती है। वासेरमान की प्रतिक्रिया का विकसित रूप (शीत में कोल्मेर की जाँच) और भी अधिक संवेदी सिद्ध हुआ है। कोल्मेर का परीक्षण दुप्रावस्थी तापक्रम-विधान द्वारा लंछित होता है (प्रथम प्रावस्था – 30 मिनट के लिये 18-20°C पर; द्वितीय प्रावस्था 18-20 घंटे के लिये फ्रीज में +4 से —6°C पर)। पूरक का स्थिरकरण इन्हीं परिस्थितियों में होता है। कोल्मेर का परीक्षण उन सीरमों में भी रिएजिन दर्शाता है, जिनमें वासेरमान की प्रतिक्रिया ऋणात्मक परिणाम देती है (उनमें रिएजिनों की अत्यल्प सांद्रता के कारण) लेकिन अनेक सीफिलोलोचकों का कहना है कि कार्डिओलीपिन एंटीजन के साथ कोल्मेर का परीक्षण

और वासेरमान की प्रतिक्रिया अधिक संवेदी तो हैं, पर वासेरमान-प्रतिक्रिया के अन्य विकसित रूपों की तुलना में कम विशिष्ट हैं। इसीलिये कार्डिओलीपिन एंटीजन के साथ कोल्मेर-परीक्षण तथा वासेरमान-प्रतिक्रिया के पृथक धनात्मक परिणाम को सतर्कता के साथ अपनाना चाहिये।

प्रेसीपीटिन प्रतिक्रियाएं (कान और जाख्स-वितेव्स्की के परीक्षण) तकनीकी रूप से वासेरमान--प्रतिक्रिया की तुलना में कहीं अधिक सरल हैं। इसमें अधिक सांद्रता के एंटीजन (अधिक मात्रा में खोलेस्टेरोल से युक्त) का उपयोग किया जाता है। इन परीक्षणों में उत्पन्न अवक्षेप नंगी आँखों से या कभी-कभी विशालक शीशे से देखे जा सकते हैं; कुछ केसों में अग्लूटिनोस्कोप का भी उपयोग हो सकता है।

वासेरमान की प्रतिक्रिया, कोल्मेर के परीक्षण और प्रेसीपीटिन प्रतिक्रिया की धनात्मकता निम्न स्तर के होते हैं: 4+ (तीव्र धनात्मक), 3+ (धनात्मक), 2+ या 1+ (क्षीण धनात्मक), ± (संदेहजनक), – (ऋणात्मक)। वासेरमान की प्रतिक्रिया या कोल्मेर-परीक्षण (मात्रात्मक विधि) में सीरम का वह तनुकरण (डायल्यूशन) दर्ज कर लिया जाता है, जो तीव्र धनात्मक परिणाम देते हैं (जैसे 1:10, 1:20 ... 1:320)

उल्लेखनीय है कि विभिन्न आँकड़ों के अनुसार कान के परीक्षण और वासेरमान की प्रतिक्रिया के परिणाम 93 से 96 प्रतिशत केसों में संपात कर सकते हैं (इसके अ-विशिष्ट परिणाम 1.6 प्रतिशत केसों में मिले हैं)। जाख्स-वितेव्स्की के परीक्षणों के परिणाम वासेरमान-प्रतिक्रिया के साथ 95 से 99 प्रतिशत केसों में संपात करते हैं, इसके अ-विशिष्ट परिणाम 1.3 प्रतिशत केसों में मिले हैं। यह पहले भी इंगित किया गया था कि वासेरमान की प्रतिक्रिया भी अ-विशिष्ट परिणाम उत्पन्न कर सकती है (विशेषकर कार्डिओलीपिन एंटीजन के उपयोग में, या जब प्रतिक्रिया ठंड में संपन्न की जाती है)।

त्रे. पालीडुम का निश्चलकरण-परीक्षण (TPI)

TPI सीफिलिस के सभी वर्तमान परीक्षणों में सबसे अधिक विशिष्टता रखता है (अर्थात् इसके परिणाम सीफिलिस के लिये विशिष्ट या विश्वसनीय होते हैं)। इसका मुख्य उद्देश्य होता है – मानक (क्लासिकल) सीरमलोचनी प्रतिक्रिया के मिथ्या धनात्मक परिणामों को ज्ञात करना। यह उन रोगियों में विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जिनमें सक्रिय सीफिलिस की सक्रिय अभिव्यक्तियां नहीं होतीं या जिनमें आंतर अंगों अथवा नर्वतंत्र की कोई क्षति होती है, जिसका कारण सीफिलिस भी हो सकता है और कोई अन्य पैठी या अपैठी घटक भी। गर्भावस्था में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं के मिथ्या धनात्मक को ज्ञात करने में TPI की भूमिका का अवमूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि भावी बच्चे का भाग्य (स्वास्थ्य) दर असल त्रेपोनेमा के निश्चलकरण-परीक्षण पर ही निर्भर करता है।

TPI का सार निम्न है: परीक्षणाधीन सीरम के इंमोबीलीजिनों की और सक्रिय पूरक की उपस्थिति में त्रेपोनेमा पालीडुम अपनी गतिशीलता खो देते हैं (निश्चल, इंमोबाइल हो जाते हैं)। परीक्षण निर्वात जीवन की परिस्थितियों में होता है (अनेक गदजनक जीवाणु परिवेशी हवा से नहीं, बल्कि रासायनिक प्रतिक्रियाओं से आक्सीजन प्राप्त करते हुए जीते हैं; शब्द 'निर्वात जीवन' इन्हीं के लिये प्रयुक्त होता है)। तकनीक बहुत जटिल होती है, इसीलिये इसे विशेष प्रयोगशाला में संपन्न किया जाता है। इंमोबीलीजिन रोगी के रक्त-सीरम में अन्य एंटीकायों के बाद उत्पन्न होते हैं और इसीलिये TPI के धनात्मक परिणाम मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं और इमूनोसंदीप्ति-परीक्षण के धनात्मक परिणामों के बाद मिलते हैं।

परीक्षण को ऋणात्मक माना जाता है, यदि 20 प्रतिशत तक त्रेपोनेमा निश्चल हो जाते हैं; 21 से 50 प्रतिशत तक त्रेपोनेमा के निश्चल होने पर प्रतिक्रिया को क्षीण ऋणात्मक कहा जाता है; 51 से 80 प्रतिशत त्रेपोनेमा के निश्चल होने पर परिणाम धनात्मक माना जाता है। त्रेपोनेमा के निश्चलकरण का प्रतिशत अंश विशेष सारणियों की सहायता से निर्धारित किया जाता है। कुछ प्रयोगशालाओं में TPI आजकल एक अपेक्षाकृत सरल रीति से संपन्न किया जाता है; यह ओच्छिन्नीकोव द्वारा प्रस्तावित मिश्र रीति है।

TPI के परिणाम निम्न रोगों में भी धनात्मक हो सकते हैं: उष्णकटिबंधीय त्रेपोनेमाक्लेश (पिंटा, बेजेल) और कभी-कभी क्व्यार्बसक्लेश (सर्कोइडोसिस), ललामक्लेश, गंठिक्लेश, यकृत की पीतार्ति, खीरकठोरन (आथेरोस्क्लेरोसिस), आदि में। उम्र के साथ-साथ TPI के मिथ्या धनात्मक परिणामों की संख्या बढ़ती जाती है।

इमुनोसंदीप्ति-परीक्षण (IFT)

सीफिलिस के तक्रनिदान (सीरम की सहायता से निदान, सेरोनिदान) में संदीप्ति-परीक्षण का उपयोग सोवियत संघ में सातवें दशक के अंत में शुरू किया गया (बेद्नोवा)। मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया की तुलना में यह उच्च संवेदिता और सीफिलिस के प्रति उच्च विशिष्टता रखता है (इसीलिये कुछ रोगियों में यह सीफिलिस की प्राथमिक सेरोऋणात्मक अवधि में भी धनात्मक होता है)। लेकिन कुछ तत्पविदों का कहना है कि यह विशिष्टता की दृष्टि से TPI की तुलना में निकृष्ट है, इसीलिये उसके बदले में प्रयुक्त नहीं हो सकता है, यद्यपि तकनीकी तौर पर यह अधिक सरल है। प्रतिक्रिया एक से अधिक विकसित रूपों में संपन्न करायी जाती है: IFT-10 (जो अधिक संवेदी है), IFT-200 तथा IFT-abs (जो अधिक विशिष्ट हैं)।

परीक्षण का सिद्धांत यह है कि मदजनक त्रेपोनेमा के एंटीजन सीफिलिक रोगी के रक्त सीरम में उपस्थित एंटीकायों के साथ संयुक्त हो जाते हैं। इस तरह से प्राप्त संकुल को खरगोश के सीरम में उपस्थित संदीप्त एंटीकायों के साथ संयुक्त कराया जाता है (आदमी के ग्लोबूलिन के विरुद्ध)। धनात्मक परिणामों वाले केसों में संदीप्तिकारी घटक त्रे. पालीडुम की एक पीताभ हरी संदीप्ति उत्पन्न करता है, जिसे संदीप्ति-सूक्ष्मदर्शी से देखा जा सकता है। यदि रोगी को सीफिलिस नहीं है, तो संदीप्ति नहीं दिखती है। संदीप्ति का स्तर मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया की ही तरह धन-चिन्ह द्वारा दर्शाया जाता है: 4+, 3+ तथा 2+ धनात्मक परिणाम द्योतित करते हैं, 1+ और ऋण-चिन्ह संदीप्ति की अनुपस्थिति को द्योतित करते हैं।

सीफिलिस के विभिन्न रूपों में तक्रलोचनी परीक्षण

सबसे अधिक संवेदी सीरमलोचनी (तक्रलोचनी) प्रतिक्रियाओं के रूप में IFT और कोल्मेर-परीक्षण सीफिलिस की प्राथमिक सेरो ऋणात्मक अवधि में भी धनात्मक हो सकते हैं। फिर भी नियमानुसार इसे प्राथमिक सेरोधनात्मक सीफिलिस के निदान का आधार नहीं बनाया जा सकता। कुछ रोगी इस अवधि में त्रेपोनेमिक या कार्डिओलीपिन एंटीजन के साथ अलग-थलग धनात्मक वासेरमान-प्रक्रिया उत्पन्न कर सकते हैं।

प्राथमिक सीफिलोमा प्रकट होने के बाद तीसरे सप्ताह के अंत में या चौथे सप्ताह के दौरान मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं धनात्मक हो जाती हैं। सीफिलिस की प्राथमिक सेरोधनात्मक अवधि इसी क्षण से शुरू होती है। प्राथमिक सेरोधनात्मक अवधि के प्रथम सप्ताह से द्वितीय सप्ताह के बीच

सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं के परिणाम धनात्मक हो जाते हैं (1-2-3-4+) और रिएजिन की विमाप बढ़ती है (1:5, 1:10, 1:20, आदि)। इस क्षण तक IFT और कोल्मेर का परीक्षण तीव्र धनात्मक हो जाते हैं; TPI ऋणात्मक रहता है, नियमतः निश्चलकरण का प्रतिशत अंश बहुत कम रहता है। प्राथमिक सेरोधनात्मक सीफिलिस का निदान उन रोगियों के लिये भी किया जाता है, जिनमें प्रेसीपीटिन की प्रतिक्रियाओं (कान और जाख्स-वितेब्स्की के परीक्षण) और अ-विशिष्ट एंटीजन के साथ वासेरमान की प्रतिक्रिया से कम से कम एक क्षीण धनात्मक परिणाम भी मिल जाता है। प्राथमिक सीफिलिस के आगे विकास से सभी सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं तेजी से धनात्मक होने लगती हैं। रिएजिन की विमाप बढ़ती है (1:80, 1:160 तक), IFT तीव्र धनात्मक रहता है, लेकिन TPI अनेक रोगियों में अब भी ऋणात्मक या क्षीण धनात्मक रहता है।

द्वितीयक आरंभिक सीफिलिस में सभी मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं लगभग शत प्रतिशत केसों में तीव्र धनात्मक होती हैं। रिएजिन की माप उच्चतम होती है (1:160, 1:240, 1:320), IFT का परिणाम 4+ होता है, TPI आधे से अधिक रोगियों में धनात्मक होता है, लेकिन ट्रेपोनेमा--निश्चलकरण का स्तर नीचा होता है (60-80 प्रतिशत)।

द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं 96 से 98 प्रतिशत केसों में धनात्मक होती हैं (ऋणात्मक परिणाम एकलाक्षणिक पुनरावर्ती सीफिलिस और अत्यंत कृश एवं दुर्बल रोगियों में मिल सकते हैं), रिएजिन की विमाप घटने की प्रवृत्ति रखती है (1:60, 1:80), IFT 85 से 90 प्रतिशत रोगियों में धनात्मक होता है, स्थिरकरण अधिक प्रबल होता है (80-90-100 प्रतिशत)।

तृतीयक सीफिलिस में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं 50 से 90 प्रतिशत रोगियों में तथा TPI 98 से 100 प्रतिशत केसों में धनात्मक होता है (उच्च निश्चलकरण-प्रतिशत)।

जैसा कि बताया जा चुका है परवर्ती अव्यक्त सेरोधनात्मक सीफिलिस का निदान सिर्फ रक्त की धनात्मक सीरमलोचनी प्रतिक्रिया के आधार पर किया जाता है, लेकिन उसकी पुष्टि TPI द्वारा अवश्य की जाती है, क्योंकि मुख्यतः यही परीक्षण (और कुछ हद तक IFT) वास्तविक सीफिलिक (2+ या 3+ को भी) और मिथ्या धनात्मक या अ-सीफिलिसी सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं के बीच अंतर बता सकता है।

नर्वतंत्र और आंतर अंगों के सीफिलिस के विभिन्न रूपों में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाओं की आवृत्ति एवं प्रबलता भी भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, सामान्य (सार्वदैहिक) अपूर्ण लकवा में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं 100 प्रतिशत केसों में तीव्र धनात्मक होती हैं; मस्तिष्क की कुंभियों के सीफिलिस, मेरुकृशता और हृत्कुंभिक तंत्र की सीफिलिक आक्रांति में ये प्रतिक्रियाएं सिर्फ 40-50-60 प्रतिशत केसों में धनात्मक होती हैं। लेकिन TPI लगभग सभी ऐसे रोगियों में तीव्र धनात्मक होता है (90 से 100 प्रतिशत निश्चलकरण)।

जन्मजात सीफिलिस में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं जीवन के प्रथम दो माह तक निर्णायक नहीं होतीं, क्योंकि वे जेर के पार रिएजिनों के निष्क्रिय संक्रमण से भी धनात्मक हो जा सकती हैं। TPI के धनात्मक परिणाम का भी कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि मां से भ्रूण को निष्क्रिय रूप से संप्रेषित इंमोबीलीजिन जन्म के बाद छे महीने के अंदर स्वतःस्फूर्त्त रूप से गायब हो जाते हैं। जब पैठन ठीक जन्म से पहले होता है, तो TPI तब भी ऋणात्मक ही रहता है (क्योंकि इस केस में इंमोबीलीजिन बाद में बनते हैं), यद्यपि बच्चे के शरीर में पैठन उपस्थित रहता है। सक्रिय अभिव्यक्तियों वाले जन्मजात सीफिलिस में मानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं 1 प्रतिशत पयोपा बच्चों में

ऋणात्मक होती है और आरंभिक बाल्य काल के सीफिलिस में वे 15 से 25 प्रतिशत बच्चों में ऋणात्मक होती हैं (लेकिन TPI अंतिम केस में 90 से 98 प्रतिशत बच्चों में धनात्मक होता है)। परवर्ती जन्मजात सीफिलिस में सक्रिय अभिव्यक्तियों के बावजूद भी पानक सीरमलोचनी प्रतिक्रियाएं सिर्फ परीक्षणाधीन 70 से 80 प्रतिशत रोगियों में ही धनात्मक होती हैं, जबकि TPI लगभग 100 प्रतिशत केसों में धनात्मक होता है।

प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव का परीक्षण

प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव के परीक्षण का विस्तृत उपयोग है; इसके निम्न उद्देश्य होते हैं: नर्वतंत्र की सीफिलिसी आक्रांति निर्धारित करना और चिकित्सा की कारगरता की जाँच करना (जिन लोगों में चिकित्सा से पूर्व द्रव में अपसामान्यताएं पायी गयी थीं); यह पूर्ण चिकित्सा के एक निकष के रूप में भी प्रयुक्त होता है। कुछ केसों में द्रव की अपसामान्यता की प्रकृति के आधार पर नार्व-सीफिलिस के रूप का निदान भी संभव है।

लुंबर पंक्चर अक्सर रोगी को बैठा कर किया जाता है। इसके लिये सूक्ष्म सूई का उपयोग होता है: व्यास 0.8-1.5 मिलिमीटर (या बेहतर है 0.4-0.5 मिलिमीटर) और लंबाई 10-12 सेंटीमीटर। पंक्चर दो रेखाओं के कटान-बिंदु पर किया जाता है। एक रेखा तो मेरुक उत्वर्ध के सहारे-सहारे शाहुल-रेखा पर होती है और दूसरी रेखा क्षैतिज रेखा होती है, जो कमर के पास से श्रोणि-फलक (कूल्हे की ऊपरी किनारी) के सहारे-सहारे दो कशेरुकी उत्वर्धों के बीच से गुजरती है। पंचर (पंक्चर) करने के बाद 7-8 मिलिलीटर (लेकिन 10 मिलिलीटर से अधिक नहीं) द्रव एक परख-नली में जमा किया जाता है, फिर उसे दो परख-नलियों में ढाल लिया जाता है। एक को तत्पिक प्रयोगशाला में भेजा जाता है, प्रोटीन का निर्धारण होता है, ग्लोबूलिन के लिये नोन्ने-आपेल्ट (Nonne-Apelt) की प्रतिक्रिया और पैंडी (Pandy) का परीक्षण संपन्न किया जाता है। दूसरी परख-नली सीरमलोचनी प्रयोगशाला भेजी जाती है, जहां वासेरमान की प्रतिक्रिया, लांगे (Lange) का कोलोइडल स्वर्ण परीक्षण या पाराफिन, मास्टिक आदि के साथ प्रतिक्रियाएं संपन्न की जाती हैं।

प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अल्पतम पृथक अपसामान्यता निम्न है: प्रोटीन, 0.4 प्रति हजार से ले कर; कोशिकीय गणना, 8 कोशिकाएं प्रति घन मिलिमीटर से ले कर; ग्लोबूलिन के लिये परीक्षण: नोन्ने-आपेल्ट की प्रतिक्रिया 2+ से लेकर; पैंडी की प्रतिक्रिया 3+ से लेकर (शुरू हो कर), लांगे का परीक्षण दो दुक्कों (two twos) से अधिक, और वासेरमान की धनात्मक प्रतिक्रिया। द्रव को उस स्थिति में भी अपसामान्य माना जाता है, जब इसके कई परामितकों के मान सामान्य परास की ऊपरी सीमा पर रहते हैं (जैसे प्रोटीन 0.33 प्रति हजार, 6 कोशिकाएं प्रति घन मीटर, पैंडी का परीक्षण ++, लांगे का परीक्षण 0011221000)।

नार्वसीफिलिस के किस रूप से ग्रस्त होने पर प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं और उनकी आवृत्ति कैसी होती है, यह नर्वतंत्र के सीफिलिस से संबंधित प्रकरण में दिया गया है।

सीफिलिसी थेरापी के सिद्धांत और रीतियां

सीफिलिस के रोगियों की चिकित्सा में प्रयुक्त दवाएं विशिष्ट, एंटीसीफिलिक कहलाती हैं। ये निदान के बाद चिकित्सा के लिये रोग के विकास का निरोध करने के उपाय के रूप में प्रलिखित किये जाती हैं। इनका उपयोग चिकित्सा की कारगरता के मूल्यांकन द्वारा संदेहजनक केसों में निदान के लिये भी होता है (इस रूप में एंटीसीफिलिक दवाओं का उपयोग अधिकांशतः तब होता है, जब आंतर अंगों या नर्वतंत्र के सीफिलिस का संदेह होता है)। यदि सीफिलिस निदानित हो जाता है, तो चिकित्सा जल्द से जल्द शुरू कर देनी चाहिये (सक्रिय रूपों में 24 घंटों के अंदर)। चिकित्सा जितनी जल्द शुरू की जायेगी, वह उतनी ही कारगर होगी और भविष्यवाणी उतनी ही अच्छी होती है। सोवियत संघ के स्वास्थ्य-मंत्रणालय द्वारा 10 मार्च 1976 को पंजित निर्देशों के अनुसार, ट्रे. पालीडुम पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले एंटीसीफिलिक साधनों के अतिरिक्त (मुख्यतः सक्रिय प्रजनन-काल में), अ-विशिष्ट साधनों का भी विस्तृत उपयोग होता है, जो सामान्य स्फुर्तिदायक प्रभाव डालते हैं, पैठन से लड़ने में शरीर की सहायता करते हैं। अविशिष्ट चिकित्सा विशिष्ट एंटीसीफिलिक दवाओं के साथ या उनके दौरों के बीच के अंतरालों में दी जाती है। चिकित्सा जितनी ही देर से शुरू होती है, निमित्त कारण (जीवाणु) रोगी के शरीर में उतना ही अधिक समय से रहते हैं और अ-विशिष्ट चिकित्सा की उतनी ही अधिक जरूरत पड़ती है।

पेनीसिलिन और इसके व्युत्पाद सीफिलिस की चिकित्सा में मुख्य दवाएं हैं। पेनीसिलिन सोडियम या पोटाशियम के लवणों की तरह प्रयुक्त होता है। इसके व्युत्पाद दीर्घकालीन प्रभाव डालते हैं। इनमें से प्रमुख हैं: एकमोनोवोसिलिन, बीसिलिन-1, बीसिलिन-3 और बीसिलिन-5। पेनीसिलिन और बीसिलिन सहन नहीं होने पर एरीथ्रोमीसिन का उपयोग किया जाता है। जिन रोगियों को पेनीसिलिन के प्रसाधनों या एरीथ्रोमीसिन की सूई नहीं दी जा सकती है, उन्हें मुखमार्ग से फेनोक्सीमेथिलपेनीसिलिन दिया जाता है (जल में घुलनशील पेनीसिलिन से दुहरी खुराक में)।

जल में घुलनशील पेनीसिलिन (चौबीसों घंटे) हर तीन घंटे पर एक-एक अंतर्पेशीय सूई द्वारा दिया जाता है; एक सूई में मात्रा: 50000 U (60 किलोग्राम से कम भार वाले रोगी के लिये), 75000 U (60-80 किलोग्राम भारी रोगी के लिये) और 100000 U (80 किलोग्राम से अधिक भारी रोगी के लिये)। एकमोनोवोसिलिन की सूई 24 घंटे में एक बार दी जाती है; एक सूई में खुराक की मात्रा: 600000 U (60 किलोग्राम से कम भारी रोगी के लिये), 750000 U (60 से 80 किलोग्राम) और 9000000 U (80 किलोग्राम से अधिक भारी रोगी के लिये)।

बीसिलिन-1 और बीसिलिन-5 की सूई पाँच दिन में एक बार दी जाती है और बीसिलिन-3 की चार दिनों में एक बार। यदि रोगी के शरीर का भार 60 किलोग्राम से कम है, तो 1200000 U की सूई दी जाती है; 60 से 80 किलोग्राम में 1500000 U की, और 80 किलोग्राम से अधिक में 1800000 U की। लोष्टन (लोष्ट या रोड़ा – रुकावट – पड़ना; एंबोलिज्म) से बचने के लिये (जो किसी रक्तवाही कुंभी में दवा के संयोगवश चले जाने से होता है) दीर्घकालीन प्रभाव वाले प्रसाधनों की सूई नितंबों के ऊपरी पार्श्व चतुर्थांश की पेशी में दी जाती है; घोल को एक विराम के साथ प्रविष्ट कराया जाता है।

एरीथ्रोमीसिन मुखमार्ग से दिया जाता: 300000 U (0.3g) दिन में पाँच बार, चार घंटे पर, रात में एक बार छोड़ कर

किलोग्राम से कम होने पर खुराक 30 ग्राम होती है, 60 से 80 किलोग्राम और किलोग्राम से अधिक होने पर 40 ग्राम।

बच्चों के लिये पेनीसिलिन, एक्मोवोसिलिन और वीमिलिन की खुराकें उम्र के हिसाब से वर्तमान निर्देशों के अनुसार निर्धारित की जाती है।

सीफिलिस की चिकित्सा में प्रतिजीवकों के अतिरिक्त बिस्मथ के लवणों और आयडीन के प्रसाधन भी प्रयुक्त होते हैं। आयडीन के प्रसाधन सीफिलिस के परवर्ती रूपों में मुख्य चिकित्सा के दौरों के बीच दिये जाते हैं (जैसे तृतीयक सीफिलिस, आंतर अंगों एवं नर्वतंत्र के सीफिलिस, परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस, परवर्ती जन्मजात सीफिलिस में)।

बिस्मथ के प्रसाधनों में बिग्रोक्वीनोल, बिस्मोवेरोल और जल में घुलनशील प्रसाधन पेंटाबिस्मोल की गणना होती है। बिग्रोक्वीनोल सतालू के उदासीन तेल में कुनैन आयोडोबिस्मथ का 8 प्रतिशतीय निलंबन है; इसमें 25 प्रतिशत बिस्मथ, 56 प्रतिशत आयडीन और 19 प्रतिशत कुनैन होता है; 1.0 मिलिलीटर निलंबन में 0.02 ग्राम धातुई बिस्मथ होता है। दैनिक खुराक 1 मिलिलीटर है (2 मिलिलीटर हर दूसरे दिन या 3 मिलिलीटर हर तीसरे दिन सूई से दी जाती है)। कुल खुराक 40 से 50 मिलिलीटर होती है। बिस्मोवेरोल सतालू के उदासीन तेल में मोनोबिस्मोटार्टरिक अम्ल के भस्मीय बिस्मथ-लवण का 9.5 प्रतिशत सांद्र निलंबन है (1 मिलिमीटर निलंबन में 0.05 ग्राम धातुई बिस्मथ होता है); 1.5 मिलिलीटर (दैनिक खुराक 0.5 मिलीलीटर) सप्ताह में दो बार सूई से दिया जाता है; एक दौर में 16 से 20 सूइयां होती हैं। पेंटाबिस्मोल के 1.0 मिलिलीटर जलीय घोल में 0.01 ग्राम धातुई बिस्मथ होता है; 2 मिलिलीटर की सूई हर दूसरे दिन दी जाती है; कुल खुराक 40-45 मिलिलीटर की होती है। बिग्रोक्वीनोल या बिस्मोवेरोल को उपयोग करने से पहले उसके फ्लास्क को 40-45°C तक पानी में गर्म करना चाहिये और अंतर्द्रव्य को अच्छी तरह हिलाना चाहिये, ताकि समज निलंबन प्राप्त हो। दीर्घकालीन प्रभाव वाले पेनीसिलिन प्रसाधनों की ही तरह बिग्रोक्वीनोल और बिस्मोवेरोल भी नितंब के ऊपरी पार्श्व चतुर्थांश की पेशियों में विरामों के साथ सूई से दिये जाते हैं।

आयडीन के प्रसाधन के रूप में पोटाशियम आयोडाइड या सोडियम आयोडाइड के घोल प्रलिखित किये जाते हैं। प्रथम दिन एक बड़ा चम्मच दिया जाता है, द्वितीय दिन दो बड़े चम्मच दिये जाते हैं, तीसरे और इसके बाद के दिनों तीन चम्मच दिन में तीन बार में दिये जाते हैं। घोल को भोजन के बाद आधा गिलास दूध में मिला कर ग्रहण किया जाता है। घोल की सांद्रता धीरे-धीरे बढ़ाते जाते हैं (2-3 से 7-8 प्रतिशत तक)। चिकित्सा 3 से 4 सप्ताह चलती है।

आर्सेनिक के प्रसाधन (नोवार्सेनोल, सीरासेनोल, ओसारोल) और पारे के प्रसाधन आजकल व्यवहारतः प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि वे गरलकारी होते हैं और तीव्र क्लिष्टताएं उत्पन्न कर सकते हैं फिर भी वर्तमान निर्देशों के अनुसार ऐसी चिकित्सा-चर्य्याएं भी हैं, जिनमें ये प्रसाधन प्रयुक्त हो सकते हैं (चिकित्सा के सामान्य दौर में)। ऐसी चिकित्सा उन रोगियों के लिये वांछनीय है, जो पेनीसिलिन या एरीथ्रोमीसिन को सहन नहीं कर पाते और बिस्मथ के लवण भी प्रतिसंकेतित होते हैं। जब ट्रे. पालीडुम प्रतिजीवकों के विरुद्ध अपनी प्रतिरोधिता विकसित कर लेते हैं, तब भी इन प्रसाधनों का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन व्यवहार में ऐसे केस बहुत विरल होते हैं।

सोवियत संघ के जनस्वास्थ्य-मंत्रणालय के निर्देशों के अनुसार एंटीसीफिलिक चिकित्सा की कई धारणियां हैं। मुख्यतः दो रीतियां अपनायी गयी हैं—समय के अनुसार विश्राम के साथ [illegible] के, सिर्फ प्रतिजीवकों से।

प्रथम रीति में प्रतिजीवकों (पेनीसिलिन, एकमोनोवोसिलिन, बीसिलिन) के दौर बिस्मथ-लवणों के साथ या बगैर दुहराये जाते हैं। बिस्मथ के प्रसाधन प्रतिजीवकों के साथ दिये जा सकते हैं या उनके दौरों के बीच अंतरालों में। अकेले प्रतिजीवक देने पर उनके दौरों के बीच अंतराल दो से तीन सप्ताह लंबे होते हैं; साथ-साथ बिस्मथ के लवण देने पर ये अंतराल चार सप्ताह रखे जाते हैं। चिकित्सा के दौरों की कुल संख्या रोग के चरण द्वारा निर्धारित होती है। पैठन जितने ही अधिक समय होता है, चिकित्सा के उतने ही अधिक दौर चलाये जाते हैं। सिर्फ पेनीसिलिन (एकमोनोवोसिलिन या बीसिलिन) के तीन दौर प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस में ही चलाने पड़ते हैं; प्राथामिक सेरोधनात्मक सीफिलिस में पाँच दौर, द्वितीयक आरंभिक में छे और द्वितीयक पुनरावर्ती में आठ दौर चलाये जाते हैं। आठ दौर ही तृतीयक, परवर्ती जन्मजात, अव्यक्त तथा अन्य परवर्ती रूपों में प्रयुक्त होते हैं।

विश्राम के साथ प्रतिजीवक व बिस्मथ-लवणों से (साथ-साथ या बारी-बारी से) चिकित्सा के दो दौर प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस में, चार दौर प्राथमिक सेरोधनात्मक में, पाँच दौर द्वितीयक आरंभिक एवं छे दौर द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस में प्रलिखित किये जाते हैं। प्रारंभिक अव्यक्त सीफिलिस में प्रतिजीवकों के साथ बिस्मथ-प्रसाधनों के छे दौर प्रलिखित किये जाते हैं। परवर्ती अव्यक्त सीफिलिस, तृतीयक परवर्ती जन्मजात सीफिलिस, तल्पिक या सीरमलोचनी पुनरावर्तन, परवर्ती सीफिलिस के सीरम-प्रतिरोधी तथा भारी धातुओं के लवणों से चिकित्सा के छे दौर चलाये जाते हैं, लेकिन क्रमानुगत रीति से। हर दौर में बिस्मथ का प्रसाधन बदलने की सलाह दी जाती है। एक दौर में प्रतिजीवक की कुल मात्रा रोग के चरण (उसकी अवधि) और रोगी के वजन द्वारा निर्धारित होती है। प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस के रोगियों को 100000 U पेनीसिलिन या उसका व्युत्पाद प्रति किलोग्राम शारीरिक वजन के हिसाब से प्रलिखित किया जाता है। प्राथमिक सेरोधनात्मक या द्वितीयक आरंभिक सीफिलिस के रोगी को 120000 U प्रति किलोग्राम, तृतीयक सीफिलिस और आंतर अंगों एवं नर्वतंत्र के सीफिलिस के परवर्ती रूपों के रोगी को 140000 U प्रति किलोग्राम शारीरिक वजन के हिसाब से प्रलिखित किया जाता है।

सिर्फ प्रतिजीवकों से लगातार चिकित्सा की रीति प्राथमिक एवं द्वितीयक आरंभिक सीफिलिस और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस के सिर्फ कुछ केसों में प्रयुक्त होती है। इस रीति में प्रतिजीवकों की कुल खुराक का तिहाई भाग जल में घुलनशील पेनीसिलिन के रूप में सूई द्वारा दिया जाता है और बाकी दो तिहाई भाग दीर्घकालीन क्रिया वाली दवाओं (जैसे बीसिलिन) के रूप में। प्रतिजीवकों की खुराक रोग की अवधि (चरण) और रोगी के वजन पर निर्भर करती है। यथा, प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस में 300000 U प्रति किलोग्राम, द्वितीयक आरंभिक सीफिलिस में 600000 U प्रति किलोग्राम और द्वितीयक पुनरावर्ती सीफिलिस में 800000 U प्रति किलोग्राम की खुराकें प्रलिखित की जाती हैं।

गर्भवती स्त्री को (अव्यक्त या सक्रिय सीफिलिस में) तथा सीफिलिस के साथ यक्ष्मा के सक्रिय रूपों से ग्रस्त रोगियों को बिस्मथ के प्रसाधन नहीं दिये जाते हैं। रोग का चाहे जो चरण हो, गर्भवती स्त्रियों को 140000 U प्रति किलोग्राम पेनीसिलिन (या इसका व्युत्पाद) दिया जाता है; कुल खुराक 840000 U से कम नहीं होनी चाहिये।

सीफिलिस के परवर्ती रूपों और गर्भावस्था में पेनीसिलिन की सूई की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ायी जाती है, ताकि तीव्र प्रतिक्रिया न हो (उन रोगियों में, जिनकी पहले चिकित्सा नहीं हुई थी): प्रथम दिन हर तीन घंटे पर 20000 U की सूई दी जाती है, दूसरे दिन 30000 U की, तीसरे दिन

40000 U की, चौथे दिन 50000 U की, आदि। 60 किलोग्राम से अधिक वजन के रोगी को पाँचवे दिन 75000 U की सूई हर तीन घंटे पर दी जाती है; 80 किलोग्राम से अधिक वजन वाले रोगी को 100000 U की सूई तीन बार दी जाती है:

6 महीने तक के बच्चों की चिकित्सा पेनीसिलिन (एक्मोनोवोसिलिन) से होती है; चिकित्सा के छे दौर होते हैं। एक दौर में कुल खुराक 500000 U प्रति किलोग्राम होती है, लेकिन 2000000 U से कम नहीं होनी चाहिये। पेनीसिलिन की सूइयां हर चार घंटे पर 30000 U की मात्रा में बिना विश्राम के दी जाती है (कुल दैनिक खुराक 180000 U)। तीव्र प्रतिक्रिया से बचने के लिये चिकित्सा के प्रथम दौर में पेनीसिलिन की मात्रा दो या तीन दिनों के दौरान थोड़ा-थोड़ा बढ़ा कर सामान्य तक लायी जाती है (2500-5000-10000-20000, फिर 30000 U तक)। दौरों के बीच 2 सप्ताह का रिक्त अंतराल (चिकित्सा से विश्राम का समय) रखा जाता है। 6 से 12 महीने के बच्चों को भी बिस्मथ के प्रसाधन नहीं दिये जाते। एक दौर में कुल खुराक 400000 U प्रति किलोग्राम होती है, पर 3000000 U से कम किसी भी हालत में नहीं होनी चाहिये। पेनीसिलिन की सूई हर चार घंटे पर 40000 U की खुराक में दी जाती है (दैनिक कुल खुराक 240000 U होती है)। दौरों की कुल संख्या और उनके बीच के रिक्त अंतराल वैसे ही होते हैं, जैसे छे महीने से कम के बच्चे के लिये। इन बच्चों को एक्मोनोवोसिलिन देना सिर्फ दूसरे दौर से शुरू किया जा सकता है; 120000 U की सूई दिन में दो बार दी जाती है। तीव्र प्रतिक्रिया से बचने के लिये प्रथम दौर में पेनीसिलिन की खुराक धीरेधीरे बढ़ाते हैं (हर चार घंटे में 5000 U; हर दो या तीन दिन पर खुराक में 5000 U की वृद्धि करते हैं, जब-तक कि वह सामान्य मात्रा तक नहीं पहुँच जाती)। 1 से 5 वर्ष के बच्चों की चिकित्सा या तो सिर्फ पेनीसिलिन के प्रसाधनों से की जाती है (छे दौर) या पेनीसिलिन के साथ बिस्मथ भी दिया जाता है (छे दौर), यदि प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अपसामान्यताएं पायी जाती हैं या दृष्टि-अंग आक्रांत होते हैं, आदि। एक दौर की कुल खुराक 300 000 U/kg है, लेकिन 1-3 वर्ष के लिये 3 000 000 U और 3-5 वर्ष के लिये 4 000 000 U से कम नहीं। एक खुराक 40000 U (1 से 3 वर्ष की उम्र के लिये) और 50000 U (3 से 5 वर्ष की उम्र के लिये) होती है; सूइयां हर चार घंटे पर दी जाती हैं। एक्मोनोवोसिलिन दूसरे दौर में शुरू किया जाता है (150000 U दो बार प्रतिदिन)। बिस्मथ का प्रसाधन चौथे दौर से साथ-साथ देते हैं। दौरों के बीच के अंतराल इस केस में एक महीना तक बढ़ाये जा सकते हैं। 5 से 15 वर्ष के बच्चों की एंटीसीफिलिक चिकित्सा या तो सिर्फ पेनीसिलिन अथवा एक्मोनोवोसिलिन से की जाती है (8 दौर) या पेनीसिलिन (एक्मोनोवोसिलिन) के साथ बिस्मथ के प्रसाधनों द्वारा की जाती है (आठ दौर)। बिस्मथ के प्रसाधन पाँचवे दौर से शुरू किये जाते हैं। वे उन बच्चों के लिये प्रलिखित किये जाते हैं, जिनके प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव में अपसामान्यताएं या दृष्टि-अंगों की आक्रांतियां होती हैं। 5 से 10 वर्ष की उम्र के बच्चे के लिये पेनीसिलिन की खुराक 300000 U प्रति किलोग्राम होती है, लेकिन 5 000000 U से कम नहीं होनी चाहिये; 11 से 15 वर्ष के बच्चे की खुराक 200000 U प्रति किलोग्राम है, पर 6000000 U से कम नहीं होनी चाहिये। 5 से 10 वर्ष के बच्चे को 60000 U पेनीसिलिन की सूई हर चार घंटे पर (लगातार, अविराम) दी जाती है। 11 से 15 वर्ष के बच्चे को 70000 U की मात्रा हर चार घंटे पर दी जाती है। तीव्र प्रतिक्रिया से बचने के लिये प्रथम दौर में पेनीसिलिन की खुराक धीरे-धीरे बढ़ा कर सामान्य तक लायी जाती है (10000-

20000-40000 U, आदि; खुराक में वृद्धि हर दिन की जाती है)। बिस्मथ के प्रसाधन बच्चों के लिये विशेष सारणी के अनुसार प्रलिखित किये जाते हैं।

चिकित्सा-रीति का चयन रोगी की उम्र, सामान्य अवस्था, सहवर्ती रोगों की उपस्थिति (जो कुछ दवाओं के लिये प्रतिसंकेत का काम कर सकते हैं), दवा के प्रति सहनशीलता आदि पर निर्भर करता है। उदाहरणाथ, यकृत एवं वृक्कों के रोग में बिस्मथ के प्रसाधन नहीं प्रलिखित किये जाते।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विशिष्ट एंटीसीफिलिक दवाओं के अतिरिक्त अ-विशिष्ट साधन भी सीफिलिस के रोगियों के लिये प्रयुक्त होते हैं। उनमें निम्न की गणना होती है: ज्वर से चिकित्सा (ज्वरकारी साधन, प्रोडीजिओजान), विटामिन, पराबैंगनी विकिरण, स्वरक्त-चिकित्सा, ओक्सीजन से चिकित्सा, रक्ताधान, जीवज उद्दीपकों (आलोए, जेरिक और काचर पिंडों के अर्क, स्प्लेनिन आदि) की सूई, प्राकृतिक निरोगालय, गाहचिकित्सा (प्राकृतिक खनिज जलों में स्नान)। ज्वर से चिकित्सा का बहुत विस्तृत उपयोग है। ज्वरकारी साधन 50-100mpd (अल्पतम ज्वरजनक खुराक) से आरंभ किये जाते हैं। इस आरंभिक खुराक को 200-300mpd तक धीरे-धीरे हर सूई के साथ बढ़ायी जाती है और 1200-1500mpd तक पहुँचा दी जाती है (शरीर की प्रतिक्रिया के अनुसार)। दवा की सूई दो या तीन दिन में एक बार दी जाती है; चिकित्सा के एक दौर में 8-12 सूइयों का प्रयोग होता है। प्रोडीजिओजान 4 दिन में एक बार 25 से 125 मिक्रोग्राम की खुराकों में अंतर्पेशीय सूई से दिया जाता है; एक दौर में 5 से 8 सूइयां लगती हैं।

निरोधक चिकित्सा उन लोगों को दी जाती है, जो सीफिलिस के सक्रिय रूप से ग्रस्त व्यक्ति के साथ निकट या दैनंदिन संपर्क में रहते है। बच्चों के मामले में यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है, जिनके माता-पिता को छुतही सीफिलिक क्षतियां होती हैं। यदि संपर्क के बाद दो सप्ताह से अधिक समय नहीं बीता है (जैसे मैथुन या दैनंदिन संपर्क के बाद से), तो पेनीसिलिन, एक्मोनोवोसिलिन या बीसिलिन से चिकित्सा का एक दौर संपन्न किया जाता है; 100000 U प्रति किलोग्राम प्रलिखित किया जाता है, पर यदि रोगी का वजन 60 किलोग्राम से कम है, तो भी उसे 6000000 U से कम की खुराक नहीं मिलनी चाहिये। यदि रोगी के साथ यौन संबंध के बाद 2 सप्ताह से 4 महीने तक बीत चुके हैं, तो निरोधक चिकित्सा प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस के लिये निर्दिष्ट चिकित्सा का उपयोग होता है। निरोधक चिकित्सा (एक दौर में पेनीसिलिन से चिकित्सा) उन तीव्र सुजाक के रोगियों को भी दी जाती है, जिनके लिये संदूषण (छूत) के स्रोत का पता नहीं चल सका है और जिन्हें (विभिन्न कारणों से) लंबे समय के लिये निगरानी में नहीं रखा जा सकता।

सीफिलिस के रोगी की चिकित्सा के दौरान क्लिष्टताएं भी उत्पन्न हो सकती हैं। पेनीसिलिन और इसके व्युत्पाद परोर्जिक प्रतिक्रिया और गरलात्मक संवृत्तियां उत्पन्न कर सकते हैं। परोजिक प्रतिक्रियाएं निम्न प्रकार की हो सकती हैं: प्रतिनिरोधक (प्रतिरक्षी) घात, चर्मगरलता, तीव्र शोफ, विभिन्न स्फोट। सरदर्द तथा रक्तसृजक गड़बड़ियां गरलात्मक संवृत्तियों के अंतर्गत आती हैं। पेनीसिलिन की दवाएं आंत्र-उद्भिजों का कार्य व्यवधानित कर सकती हैं, जिससे निर्वाक्तेरिक-क्लेश (विशेषकर ए. कोली की कार्यशीलता का दमन) संप्रेरित हो सकता है। निर्वाक्तेरिक-क्लेश से [illegible] कांदीदक्लेश विकसित हो सकता है। बिस्मथ के प्रसाधन वृक्कों में क्लिष्टताएं उत्पन्न कर सकते [illegible] (मूत्र में प्रोटीन, निक्षेप, 'बिस्मथ-कोशिकाएं' मिलने लगती है) और मुख-श्लेष्मला में [illegible] उत्पन्न कर सकता है ('बिस्मथ-माजिन; मुखशोथ, मसूढ़ाशोथ)।

आयडीन-युक्त दवाओं से नासाशोथ, आयडीन-जनित मुंहासा और युतिकाशोथ विकसित हो सकता है।

एंटीसीफिलिक चिकित्सा में क्लिष्टताओं से बचने के लिये चिकित्सा शुरू करने से पूर्व रोगी का सावधानीपूर्वक परीक्षण करना चाहिये; पहले प्रतिजीवकों के प्रति सहनशीलता कैसी थी, यह ज्ञात करना चाहिये, चिकित्सा के दौरान भी हर दवा के प्रति सहनशीलता पर निगाह रखनी चाहिये। रोगी द्वारा हाइजीन के नियमों का पालन (शारीरिक कार्य और विश्राम, अल्कोहल व मसालेदार आहार से परहेज, आदि), कैलोरी व विटामिनों से प्रचुर आहार, दाँतों और मसूढ़ों की सही देख-भाल भी क्लिष्टताओं को रोकने के उपाय हैं।

स्वस्थ होने के निकष और पंजी से पूर्णतया स्वस्थ रोगों के नाम काटने के लिये सुसंकेत

एंटीसीफिलिक चिकित्सा पूर्ण होने के बाद रोगी को दो से दस वर्षों तक आरोग्यशाला की निगरानी में रखा जाता है। नियंत्रण की अवधि सीफिलिस की उस अवधि द्वारा निर्धारित होती है, जिसमें चिकित्सा शुरू हुई थी। उदाहरणार्थ, जिन्हें सिर्फ निरोधक चिकित्सा दी जाती है, उनका नाम पंजी से साल भर बाद हटा लिया जाता है; प्राथमिक सेरोऋणात्मक सीफिलिस की चिकित्सा होने पर रोगी का नाम पंजी से दो साल बाद काटा जाता है; प्राथमिक सेरोधनात्मक, द्वितीयक आरंभिक एवं पुनरावर्ती, अव्यक्त सेरोधनात्मक, तृतीयक सक्रिय या तृतीयक अव्यक्त, या जन्मजात सीफिलिस (सभी रूपों) की चिकित्सा के उपरांत पाँच साल बाद नाम काटा जाता है। आंतर अंगों के परवर्ती सीफिलिस और परवर्ती नार्वसीफिलिस की चिकित्सा के बाद रोगी को दस वर्ष तक निगरानी के लिये पंजीकृत रखा जाता है।

निगरानी (या नियंत्रण) की अवधि में रोगी तीन या छे महीने में एक बार डाक्टर के पास आवृत्ति परीक्षण और सीरमलोचनी परीक्षण के लिये आता है (प्रथम वर्ष के दौरान तीन महीने में एक बार, दूसरे-तीसरे वर्ष के दौरान छे महीने में एक बार, इसके बाद 12 महीने में एक बार) नियंत्रण की अवधि बीतने पर पंजी से नाम काटने का निर्णय लिया जाता है।

रोगी को निगरानी से मुक्त करने का आधार यह धारणा है कि सीफिलिस निस्संदेह ठीक किया जा सकता है। इसकी पुष्टि पुनर्पैठन के केसों, जंतुओं पर प्रयोगों के परिणाम, सही चिकित्सा के बाद अनेक रोगियों में सीफिलिस की किसी भी अभिव्यक्ति की आजीवन अनुपस्थिति और पिछले दशक में मृत्यूपरांत परीक्षणों के सांख्यिकीय आँकड़ों से होती है।

पूर्ण चिकित्सा के किसी परम निकष की अनुपस्थिति के कारण रोगी का नाम काटने से पूर्व कई निकषों को नापना-जोखना पड़ता है। ये निकष निम्न हैं: (1) सीफिलिस की किस अवधि में चिकित्सा शुरू की गयी है (चिकित्सा जितनी ही पहले शुरू होती है, भविष्यवाणी उतनी ही अच्छी होती है); (2) सीफिलिदों के गायब होने का समय (कठव्रण के उपकलाकरण या क्षतांकन, गुलाबी धब्बों के लोप, पिटकों तथा कंडावों के अपचोषण आदि का समय); सीफिलिदों के लुप्त होने में विलंब रोग द्वारा विशिष्ट चिकित्सा के प्रतिरोध का प्रमाण माना जा सकता है; इससे भविष्य-वाणी प्रतिकूल हो सकती है; (3) सीरमलोचनी परीक्षणों के ऋणात्मक होने की अवधियां (यह जितना जल्द होता है, भविष्यवाणी उतनी ही अच्छी होती है); (4) चिकित्सा की कोटि (निर्देशों के अनुसार); (5) तलिपक एवं एक्सरे परीक्षणों के परिणाम; नर्वतंत्र, आंतर अंगों, आँख

की तली, तथा हृत्कुंभिक तंत्र का परीक्षण विशेष महत्त्वपूर्ण होता है; (6) प्रयोगशाला में सीरम-लोचनी परीक्षणों तथा प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव के परीक्षणों के परिणाम। यदि आंतर अंगों तथा नर्वतंत्र में कोई सीफिलिक परिवर्तन नहीं हुए हैं, तो सही चिकित्सा के बाद TPI का धनात्मक से ऋणात्मक होना सीफिलिस के पूर्णतया ठीक हो जाने का प्रमाण माना जा सकता है। दूसरी ओर, जिस रोगी की चिकित्सा बहुत देर से शुरू हुई है, उसका TPI आजीवन धनात्मक बना रह सकता है, लेकिन यदि अन्य परीक्षणों के परिणाम अनुकूल हैं, तो रोगी का नाम काटने में यह बाधक नहीं बन सकता।

जिन रोगियों को प्राथमिक सेरोधनात्मक, द्वितीयक, अव्यक्त, तृतीयक, सेरोपुनरावर्ती, सेरोप्रतिरोधी तथा जन्मजात सीफिलिस और आंतर अंगों तथा नर्वतंत्र के सीफिलिस की चिकित्सा प्रदान की जाती है, उनका नाम निगरानी-सूची से काटने के लिये उनके प्रमस्तिष्क-मेरुक द्रव का परीक्षण अवश्य कराया जाता है (निर्देशों के अनुसार)।

जिनकी बचपन में चिकित्सा हुई है या जिन बच्चों को निरोधक चिकित्सा दी गयी है, उनके नर्वतंत्र और ज्ञानेंद्रियों का परीक्षण दुबारा यौन परिपक्वता के समय अवश्य किया जाता है।

मृदुव्रण

मृदुव्रण डुक्रे के बासिलों (Ducrey's bacillus या Haemophilus ducreyi) से होता है, जो पूय में चेन की तरह या मछलियों के झुंड की तरह व्यवस्थित रहते हैं। पैठन मैथुन के वक्त होता है, जब बासिल जननेंद्रियों की क्षत त्वचा और श्लेष्मल झिल्ली से हो कर प्रवेश कर जाते हैं। मृदुव्रण का सोवियत संघ में व्यवहारतः उन्मूलन हो गया है, यद्यपि बंदरगाह वाले शहरों में इक्के-दुक्के केस मिल सकते हैं।

इसके बासिल ग्राम-ऋणात्मक होते हैं, मुख्य रंजकों से सरलतापूर्वक रंजित हो जाते हैं (केंद्रिय भागों में विशेष तीव्रता के साथ)। बासिल 1.5-2.0 मिक्रोमीटर लंबे और 0.4-0.5 मिक्रोमीटर मोटे होते हैं। इसके सिरे गोलित होते हैं, बीच में कुछ संकुचित होते हैं।

अरतिज संक्रमण अत्यंत विरल है। बासिलों के वाहक भी पाये जाते हैं (ऐसे लोग जो बासिलों को वहन करते हैं, पर खुद उनसे रुग्न नहीं होते)। बासिलों की स्त्री-वाहक पुरुषों को संदूषित कर सकती है। रोग के विरुद्ध इमूनता नहीं विकसित होती।

तल्पिक चित्र. बासिलों के प्रवेश-स्थल पर दो या तीन दिन बाद एक चमकीला लाल धब्बा उत्पन्न होता है, जो एक गंठिका और तदुपरांत नन्ही विद्रधि में विकसित हो जाता है। विद्रधि फट जाती है और एक व्रण बन जाता है जो बहुत जल्द बढ़ कर 10-15 मिलिमीटर चौड़ा हो जाता है। नियमतः अनेक व्रण बनते हैं, जो विभिन्न विकास-चरणों पर होते हैं। उनकी आकृति अनियमित होती है, किनारियां अपरदित होती हैं और सघनता मुलायम होती है (इसीलिये इसका नाम मृदुव्रण पड़ा है)। कठव्रण के विपरीत, मृदुव्रण की तली असमतल एवं प्रचुर पूयिक स्राव से आच्छादित होती है। व्रणों की तीव्र सुकुमारता इसका अन्य लंछक चिन्ह है। दो या तीन महीनों में व्रण ठीक हो जाता है और क्षतांक रह जाता है। मृदुव्रण के रोगियों में छीकनक्लेश, पराछीकनक्लेश, विगलन और विसर्पी व्रण जैसी क्लिष्टताएं विकसित हो सकती हैं, जिनका वर्णन प्राथमिक सीफिलार्ब की क्लिष्टताओं से संबंधित प्रकरण में किया गया है। जंघामूलीय लसपर्व 30 से 40 प्रतिशत रोगियों में आक्रांत हो जाते हैं; पर्वों का शोथ और पूयन होने लगता है, जो फटते हैं और ठीक होने पर क्षतांक छोड़ जाते हैं।

मृदुव्रण और क्षेत्रीय लसग्रंथिशोथ के उपरोक्त वर्णन के आधार पर इन्हें सीफिलिक कठव्रण और सीफिलिक क्षेत्रीय कठग्रंथिशोथ से सरलतापूर्वक विभेदित किया जा सकता है। ट्रे. पालीडुम और डुक्रे के बासिलों के लिये परीक्षणों और सीरमलोचनी परीक्षणों के परिणाम निदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मृदुव्रण और सीफिलिस से साथ-साथ पैठन होने पर मिश्रव्रण उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसे केसों में तल्पिक निदान बहुत कठिन हो जाता है, यद्यपि मृदुव्रण बहुत पहले बन जाते हैं, बनिस्बत कि प्राथमिक सीफिलार्ब या बहुसंख्य कठव्रण। ऐसे केसों में धनात्मक सीरमलोचनी परीक्षण और द्वितीयक सीफिलिस के स्फोट चार से पाँच महीने बाद ही प्रकट हो सकते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए मृदुव्रण की चिकित्सा के बाद रोगी को कम से कम छे महीने तक तल्पिक एवं सीरमलोचनी निगरानी के अंतर्गत रखा जाता है।

चिकित्सा. सुल्फानीलामीड और प्रतिजीवकों से मृदुव्रण की चिकित्सा सफलतापूर्वक हो जाती है। सुल्फानीलामीड 3-4 ग्राम की खुराक में 8 से दस दिनों तक दिये जाते हैं। पेनीसिलिन या स्त्रेप्तोमीसिन के उपयोग से परहेज करना चाहिये, यद्यपि वे बहुत कारगर होते हैं, क्योंकि यदि साथ-साथ सीफिलिस का भी पैठन होगा, तो उसके लक्षण दब जायेंगे। सुल्फानीलामीड या सुल्फाथिआजोल को पनीला लुगदीनुमा रूप में व्रण पर लगाया जा सकता है। मृदुव्रण बूबो (bubo) के रोगियों को बिस्तर में विश्राम करना चाहिये, उन्हें स्वरक्त-चिकित्सा दी जाती है, जबतक कि पर्व मुलायम नहीं हो जाते, या नन्हे चीरे लगाये जाते (जब विस्तृत एवं तीव्र मृदुकरण हो जाता है); इससे बने कोटर में 10 प्रतिशत सुल्फानीलामीड का तैल निलंबन प्रविष्ट कराया जाता है।

सूजाक (गनोरिया)

सामान्य सूचनाएं

सूजाक एक रतिज रोग है, जो नाइसेर के गोनोकोकों द्वारा उत्पन्न होता है (Neisseria gonorrhoeae से)। विकास प्रक्रिया में ये जीवाणु ऐसे परजीवियों के रूप में अनुकूलित हो गये हैं, जो मुख्यतः थुणमय (कौल्यूम्नर) उपकला से आच्छादित श्लेष्मल झिल्लियों में रहते हैं। सीफिलिस के विपरीत, सूजाक-प्रक्रिया अक्सर मूत्र-जननेंद्रियों पर सीमित रहती है, अक्सर ऋजु आंत को भी और कभी-कभी युनिका को भी आक्रांत करती है। इलीन का विचार है कि बहुत विरल केसों में ही सूजाक का पैठन सार्वदैहिक प्रकृति ग्रहण करता है (संधियों तथा अन्य अंगों तक बाक्तेरिक अपवहन के साथ गोनोकोकी सूपन)।

पुरुषों में मूत्र-मार्ग और स्त्रियों में मूत्रमार्ग तथा गर्भाशय की ग्रीवा के तीव्र शोथ के साथ-साथ उनमें पूय-स्राव भी होता रहता है। शायद इसी के आधार पर गालेन (Galen) ने दूसरी शती में गोनोरेआ (अर्थात् बीजस्राव) नाम दिया था। यह नाम रोग के सार के बारे में गलत धारणा उत्पन्न करता है, फिर भी आज तक चला आ रहा है और पुराने नाम 'ब्लेनोरेआ' को भी मात कर दिया है। यदि सच पूछा जाये, तो पुरुषों में मूत्रमार्ग से पूयस्राव का छुतहा रोग गालेन से पूर्व भी ज्ञात था। यथा, ईसा पूर्व पाँचवी शती में हिप्पोक्रेटस ने इसके बारे में लिखा था और स्त्रियों के जननेंद्रियों से एक श्वेत स्राव का वर्णन किया था। वैसे, ठीक इसी प्रकार का स्राव जननेंद्रियों के विभिन्न प्रकृति के शोथी रोगों में भी पाया जाता है (जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न पैठी शोथ भी और अपैठी भी)। जर्मन वैज्ञानिक नाइसेर द्वारा 1879 में मूत्रमार्ग के शोथ से ग्रस्त पुरुषों के पूय में एक विशेष प्रकार के जीवाणुओं की खोज के बाद ही सूजाक को एक स्वतंत्र रतिज रोग के रूप

में मान्यता दी गयी, क्योंकि ये जीवाणु आदमी के जननेंद्रियों में हमेशा शोथ उत्पन्न करते हैं।

सूजाक आजकल सबसे अधिक फैला हुआ बाक्तेरिक रोग है। WHO-विशेषज्ञों के अनुसार पृथ्वी पर प्रतिवर्ष 15 करोड़ के लगभग लोग सूजाक से ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ देशों (संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, स्वीडेन आदि) में सूजाक के केसों की प्रायिकता पैंठी रोगों में इन्फ्लुएंजा के बाद दूसरे स्थान पर है। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में सूजाक के केस अपेक्षाकृत कम हैं, फिर भी उनकी संख्या शोचनीय है। रतिज रोग के रूप में सूजाक का सामाजिक महत्त्व सिर्फ उसकी उच्च प्रायिकता और चिकित्सा में आर्थिक व्यय तथा कठिनाइयों द्वारा ही नहीं निर्धारित होता; यह रोग क्लिष्टताएं भी उत्पन्न करता है जिसमें एक है – बाँझपन। सुल्फानीलामीड और विशेषकर प्रतिजीवकों के उपयोग से इस रोग की प्रायिकता तथा क्लिष्टताओं की तीव्रता में सचमुच कमी आयी है, लेकिन रोग का तल्पिक चित्र पहले से बहुत बदल गया है। ये परिवर्तन निम्न हैं: अंतर्शयनकाल में औसतन वृद्धि, शोथी प्रक्रिया का हल्का उपशमन, आदि (इलीन)। फिर भी तीव्र एवं उग्र सूजाक के केसों की संख्या अब भी बहुत अधिक है; चिकित्सा का प्रतिरोध करने वाले रूप भी डाक्टरों (रतिजलोचकों, मूत्रेंद्रियलोचकों, यूनलोचकों; करोर्जकों, थेरापकों, नेत्रलोचकों, नर्वलोचकों) को बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं।

हेतुलोचन. सूजाक ग्राम-ऋणात्मक डिप्लोकोकों से होता है। गोनोकोक मसूर की आकृति के कोक (cocci) हैं; इनकी लंबाई 1.5 मिक्रोमीटर और चौड़ाई 0.7 मिक्रोमीटर होती है; ये जोड़ों में होते है, इनकी उत्तल सतहें आपस में सटी होती हैं। ये अनीलीन रंजकों से सरलतापूर्वक रंजित हो जाते हैं। गोनोकोक अपने रूपलोचनी और रंजक गुण (कोई खास रंग आत्मसात करने के गुण) बदल लेते हैं (L आकृति या समकोण आकृति ग्रहण करने के क्षण तक प्रतिकूल घटकों के प्रभाव मे)। समकोण आकृति के ये कोक प्रयोगशालीय कल्चर में ही नहीं, वरन् मानव-शरीर में भी प्रकट हो सकते हैं, जब रसायनिक चिकित्सा-प्रसाधन प्रयुक्त होते हैं या जब रोग चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है।

एलेक्ट्रोनी सूक्ष्मदर्शी से गोनोकोकों की परासूक्ष्म काट का अध्ययन करने पर पता चला कि यह दो लमड़े हुए कोकों के रूप में होता है, जिनके बीच एक विभाजक झिल्ली (सेप्टम) होती है। बाहर से यह छे परतों की लहरदार (शुक्तिक) दीवार से ढका होता है, जो जीवाणु की आकृति को सुरक्षित रखने के लिये फ्रेम का काम करती है। बाहरी दीवार के बाद तुरंत तीन परतों वाली सीतोप्लाज्मिक झिल्ली होती है, जो सीतोप्लाज्म को कस कर लपेटे रहती है। सीतोप्लाज्म में अनेक कण, रीबोसोम और नाभिकीय रसधानिकाएं होती है।

गोनोकोक मानवीय प्रोटीन की उपस्थिति में कृत्रिम पोषक माध्य पर शरीर के तापक्रम 37°C पर पनपते हैं। 1885 में बुम्म (Bumm) ने पहली बार गोनोकोकों को एक शुद्ध कल्चर के रूप में अलग किया, जिससे उन्होंने स्वस्थ व्यक्तियों को पैठित करा के मूत्रजनोंद्रियों का सूजाक विकसित कराने में सफलता प्राप्त की। गोनोकोक की कुछ जातियां पेनीसिलिनाज उत्पन्न करती हैं, जिससे पेनीसिलिन और इसके व्युत्पादों के विरुद्ध उनकी सापेक्षिक प्रतिरोधिता समझायी जा सकती है।

अन्य रतिज रोगों के जीवाणुओं की तरह गोनोकोक भी सिर्फ मानव के [illegible] शरीर से बाहर वे बहुत जल्द मर जाते हैं [illegible] उपयोग करने पर, सुखाने से और सीधे धूप के प्रभाव से [illegible] में गोनोकोक अपनी जीवनशीलता और गदजनकता [illegible] चनी उपादान सूख नहीं जाता (30 मिनट से 4-5 घंटे तक

नैसर्गिक परिस्थितियों में कोई जंतु गोनोकोकों से पैठित नहीं हो सकता। सूजाक का कोई प्रयोगशालीय प्रतिरूप भी (अनेक वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद) नहीं प्राप्त किया जा सका है, जो आदमी के रोग से मिलता जुलता हो। असंख्य प्रयत्नों के बाद गोनोकोकी सूपन चूहों में अंतर्परिता-निका-सूई द्वारा बहुत बड़ी संख्या में जीवाणुओं का मूसिन (mucin) और डेक्स्ट्रोज के साथ आधान करा के उत्पन्न किया जा सका। यह प्रायोगिक प्रतिरूप एंटीसूजाक दवाओं की कारगरता अध्ययन करने में उपयोगी सिद्ध हुआ, लेकिन इससे आदमी में पैठन के गदजनन की सभी विशेषताएं स्पष्ट करने में अधिक सहायता नहीं मिली। सिर्फ हाल में कुछ वैज्ञानिक नर चिंपैंजी में गोनोकोकी कल्चर का आधान करा के उसमें सूजाकी मूत्रमार्गशोथ उत्पन्न करने में सफल हुए, फिर इस चिंपैंजी ने एक मादा चिंपैंजी को मैथुन से पैठित किया।

पैठन के संक्रमणमार्ग. चूँकि गोनोकोक मानव-शरीर से बाहर अत्यंत अटिकाऊ होते हैं, इसलिये पैठन अक्सर बीमार आदमी से यौन संपर्क से ही होता है (बीमार आदमी से या गोनोकोक के स्वस्थ वाहक से)। वयस्क पुरुष लगभग हमेशा यौन मार्ग से नैसर्गिक या विकृत (अनैसर्गिक) यौन क्रिया के दौरान पैठित होते हैं। अंतिम केस में ऋजु आँत (रेक्टम) और नासाग्रसनी का सूजाकी पैठन भी विकसित हो सकता है। बहुत विरल केसों में वयस्क आदमी की आँखें. गोनोकोकी पैठन से आक्रांत हो सकती हैं, जब मूत्रजननेंद्रियों के स्राव से संदूषित हाथ से आँखें छुआ जाती हैं। नवजात शिशु की आँखें बीमार माँ द्वारा प्रसव के समय पैठित हो जा सकती हैं। अ-रतिज पैठन बहुत विरल केसों में पाया जाता है – संदूषित स्पंज, तौलिये आदि के माध्यम से (अक्सर छोटी लड़कियों में)। अप्रत्यक्ष संपर्क से पैठन संभव है, क्योंकि गोनोकोक तबतक जीवित और गरलकारी (गारक) रहता है, जबतक पूयिक रिसाव सूख नहीं जाता।

गदजनन. आदमी में गोनोकोकों के प्रति जन्मजात इमूनता नहीं होती। रोग ठीक होने पर भी वास्तविक इमूनता उत्पन्न नहीं होती, इसीलिये सूजाक से दुबारा-तिबारा पैठन भी संभव है। सूजाक होने पर रक्त में विभिन्न एंटीकाय (पूरक-स्थिरकारी, आग्लूटिन, आदि) बहुत शीघ्र उत्पन्न होते हैं, लेकिन वे क्लिष्टताओं या दुबारा पैठन से रक्षा नहीं करते। इन एंटीकायों का स्पष्टतः कोई रक्षी कार्य नहीं होता, पर ये वर्तमान या विगत पैठन के प्रमाण अवश्य होते हैं (इलीन)।

सूजाक में फागोसीटिक (फागोसाइटिक) इमूनता भी विकसित नहीं हो पाती। तीव्र सूजाक से पीड़ित रोगी के पूयिक स्राव में बहुनाभिकीय न्युट्रोफिलों के भीतर-बाहर अक्सर असंख्य गोनोकोक गुच्छों के रूप में व्यवस्थित पाये जाते हैं। फिर भी फागोसीटोसिस अपूर्ण ही रहता है। फागोसीतों (भोजी कोशिकाओं) में गोनोकोक मरते नहीं हैं, वरन् उल्टा वे प्रजनित होने लगते हैं। इसलिये ऐसा फागोसीटोसिस शरीर को पैठन से बचाता नहीं है, वरन् जीवाणुओं की विशिष्ट इमूनी रसीय (ह्यूमोरल) घटकों (एंटीकायों) और शरीर के नैसर्गिक प्रतिरोध से रक्षा ही करता है। बहुनाभिकीय कोशिकाओं को वेध कर उनमें प्रविष्ट हो चुके गोनोकोक इन कोशिकाओं द्वारा पड़ोस के (संलग्न) ऊतकों तथा अंगों में पहुँचा दिये जाते हैं। फागोसीटोसिस उस स्थिति में पूर्ण हो सकता है (अर्थात् जीवाणु मृत हो जाते हैं), जब गोनोकोक पहले दवाओं से कमजोर बना दिये जाते हैं (जैसे पेनीसिलिन से)।

पुरुषों में सूजाक के जीवाणु नियमतः मूत्रमार्ग में प्रविष्ट होते हैं। मूत्रमार्ग की श्लेष्मला पर गोनोकोक तेजी से बहुगुणित (प्रजनित) होने लगते हैं, फिर उसमें फैल कर उपकलीय कोशिकाओं के बीच, योजक ऊतकों की परत, मूत्र-ग्रंथियों और नन्हे गड्ढों (लाकूने, lacunae) में पहुँच जाते हैं। वे धीरे-धीरे मूत्रमार्ग के पश्च भाग पर फैलते हैं (कुछ केसों में बहुत शीघ्रता से)

और वहां से असंख्य अपवाही नलिकाओं के सहारे-सहारे वृषण में पहुँच जाते हैं और ग्रंथि में शोथ उत्पन्न करते हैं। बहुत विरल केसों में गोनोकोक पुरुष जननेंद्रियों के उपांगों (एपीडीडीमुस) में शोथ उत्पन्न करते हैं, जहां वे विवाही नलिका के सहारे प्रविष्ट होते हैं (नलिका के क्रमाकुंचन के कारण)। जीवाणुओं का लसमार्ग से प्रसार भी संभव है।

स्त्रियों में गोनोकोक पहले मूत्रमार्ग व गर्भाशय की ग्रीवा में प्रवेश करते हैं, फिर गर्भाशय से होते हुए डिंबवाही नली और डिंबाशय में पहुँच जाते हैं। मूत्रजननेंद्रियों के मार्ग (मूत्रमार्ग और गर्भाशय की ग्रीवा) के दूरस्थ भागों के शोथ के साथ कभी-कभी सार्वदैहिक संवृत्तियां भी उत्पन्न होती हैं जैसे अस्वस्थता की अनुभूति, अवज्वर, पेशियों तथा संधियों में पीड़ा, आदि। इसका कारण किसी अंतर्गरल (एंडोटोक्सिन) की क्रिया द्वारा समझाया जा सकता है (गोनोकोक वास्तविक टोक्सिन नहीं उत्पन्न करते)। गोनोकोक रक्त-धारा में बहुत विरलता से प्रजनित होते हैं (यदि होते हैं, तो सूपन विकसित होता है)।

गोनोकोकी शोथ से मूत्रांगों एवं जननांगों की उपकला में अवजनक प्रक्रियाएं शुरू हो जाती हैं। कुछ क्षेत्रों में अपरदन उत्पन्न होता है। चिरकालिक शोथ में थुणमय उपकला कभीकभी पटलित शल्की उपकला में परिणत हो जाती है, जिसमें श्रृंगनता होती है। रोग के तीव्र चरण पर योजक ऊतकों की अवश्लेष्मल परत में लसवत तत्त्वों का सतही विसरित अंतर्स्यंद बन जाता है। चिरकालिक रूप के विकसित होने पर अंतर्स्यंद और गहरे पैठते जाते हैं, सीमित अधिकेंद्रिक प्रकृति ग्रहण कर लेते हैं और क्षतांकी ऊतकों द्वारा विस्थापित हो जा सकते हैं।

पुरुषों में सूजाक

पुरुषों में गोनोकोकी पैठन अक्सर मूत्रमार्ग की आक्रांति के रूप में होता है (मूत्रमार्गशोथ)। रोग औसतन 5 से 7 दिन की एक अव्यक्त अवधि के बाद विकसित होता है। यह अवधि वास्तविकता में एक दिन से ले कर दो-तीन सप्ताह या इससे भी अधिक लंबी हो सकती है। जब रोग को दो महीने से कम समय होता है, तो इसे ताजा या नया सूजाक कहते हैं। दो महीने से अधिक समय से चलने वाला रोग चिरकालिक माना जाता है। सुषुप्त तल्पिक लक्षणों वाला अज्ञात अवधि का रोग भी (जिसमें शोथ के कुछेक लक्षण होते हैं) चिरकालिक ही माना जाता है: नया और चिरकालिक गनोरिक मूत्रमार्गशोथ कमोबेश रूप से सदा वस्तुगत लक्षणों के साथ होता है, यद्यपि आत्मगत गड़बड़ियां अनुपस्थित भी रह सकती हैं। लेकिन हाल में अधिकाधिक केस ऐसे मिलने लगे हैं कि पुरुषों में मूत्रजननांग के सूजाक में न तो वस्तुगत परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, न आत्मगत ही। इस अवस्था का मूल्यांकन अव्यक्त सूजाक के रूप में या गोनोकोकी वाहन की अवस्था के रूप में करना चाहिये (इलीन)।

पुरुषों में जननमूत्रांगों के सूजाक के निम्न रूप हैं: (1) नया सूजाक: (a) तीव्र, (b) अवतीव्र (c) सुषुप्त; (2) चिरकालिक सूजाक; (3) अव्यक्त सूजाक। ये सभी रूप विविध स्थानीय (चित्र 47) तथा दूरस्थ (अपवाही, सूपक) क्लिष्टताओं के साथ हो सकते हैं।

गनोरिक मूत्रमार्गशोथ मूत्रमार्ग से एक शोथी रिसाव के स्राव तथा विभिन्न तीव्रताओं की पीड़ा द्वारा लक्षित होता है। तीव्र शोथ में मूत्रमार्ग के बाह्य द्वार के ओष्ठ काफी सूजे हुए तथा अतिरक्त हो जाते हैं। कुछ केसों में वे काँचर और हल्के से बाहर की ओर उल्टे हुए लगते हैं। मूत्रमार्ग से प्रचुर पीताभ-हरा या श्वेताभ पीला पूय निरंतर स्रावित होता रहता है। परिस्पर्शन से लिंग

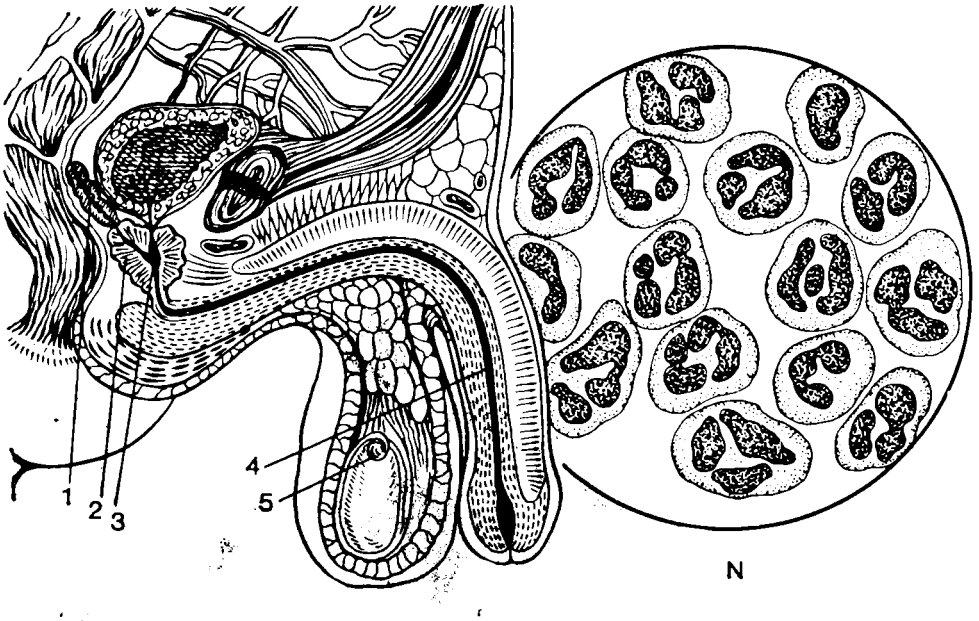

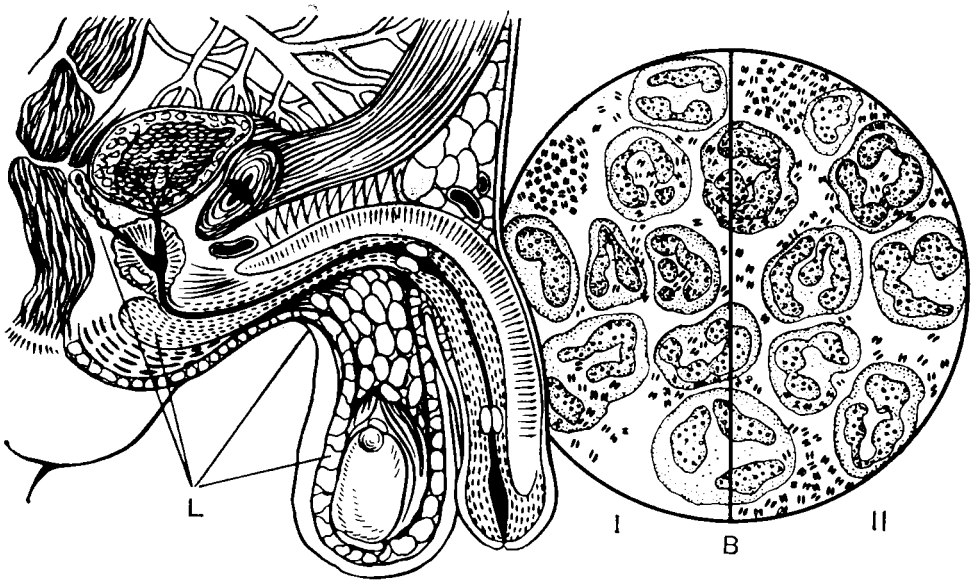

चित्र 47. पुरुष-जननेंद्रिय (आरेख) और सूजाक की प्रायिक क्लिष्टताओं के स्थल 1. वीर्य-वस्तिका ; 2. वृषण ; 3. पश्च मूत्रमार्ग ; 4. अग्र मूत्रमार्ग ; 5. एपीडीडीमुस (अध्यंड) ; N. नौर्मल पूय-लेप ; G. गनोरिक पूय-लेप ; I. ग्राम-रंजक ; II. मेथीलीन नीला रंजक ; L. सूजाक की प्रायिक क्लिष्टताओं के स्थान

कंदरामय पिंड अपेक्षाकृत कड़ा और सुकुमार (छूने में पीड़ाजनक) लगता है। यदि शोथी प्रक्रिया अग्र मूत्रमार्ग (बाह्य मुहाने से लेकर झिल्लीदार मूत्रमार्ग की बाह्य अवरोधनी तक के भाग) की श्लेष्मला तक सीमित रहती है, और जब रोगी एक के बाद एक दो गिलासों में मूत्र-विसर्जन करता है, तो मूत्रमार्ग में संचित पूय के धुलने से प्रथम गिलास में मूत्र धुंधला हो जाता है और दूसरे गिलास में साफ रहता है (दो गिलासों का परीक्षण)।

अग्र मूत्रमार्ग के तीव्र गनोरिक शोथ के रोगी अक्सर मूत्र-विसर्जन के आरंभ में काटने जैसी पीड़ा की शिकायत करते हैं, जब तेज मूत्र-धारा जगहजगह पर अपरदित एवं शोथित मूत्रमार्ग-श्लेष्मला को लमड़ाने लगती है। कुछ रोगी पीड़ाजनक लिंग-स्तंभन से परेशान रहते हैं और बहुत तीव्र शोथ में (जो बहुत विरले ही होता है) लिंग निरंतर अर्ध स्तंभन की अवस्था में रहता है। इन केसों में पूयिक स्राव रक्त-मिश्रित हो सकता है। चिकित्सा न करने पर भी तीव्र शोथी संवृत्ति धीरे-धीरे दो या तीन सप्ताह में उपशमित हो जाती है, मूत्रमार्ग से स्राव कम हो जाता है, आत्मगत गड़-बड़ियां भी उपशमित होती हैं और मूत्रमार्गशोथ तीव्र से अवतीव्र रूप में संक्रमण कर जाता है। तीव्र एवं पूर्ण गनोरिक मूत्रमार्गशोथ उस स्थिति में विकसित होता है, जब अग्र मूत्रमार्ग से पश्च मूत्रमार्ग में फैल जाता है। ऐसे केसों में पश्च मूत्रमार्गशोथ (मूत्रमार्ग-मूत्राशयशोथ) के भी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं (अग्र मूत्रमार्गशोथ के साथ)। रोगी को बार-बार मूत्रण की इच्छा होती है, जिसके अंत में तीव्र पीड़ा होती है। दो गिलासों के परीक्षण में दोनों गिलास का मूत्र धुंधला होता है, क्योंकि पूय पश्च मूत्रमार्ग से बह कर मूत्राशय में आने लगता है (पूर्ण पूयमूत्रण)। कुछ केसों में मूत्रण के अंत में रक्त की कुछ बूंदे भी निकल आती हैं (अंत्य रक्तमूत्रण), जिससे दूसरे गिलास में मूत्र का रंग ऐसा हो जाता है मानो गोश्त धोया गया हो।

अनेक केसों में गनोरिक पैठन के साथ हल्के शोथी परिवर्तन शुरू में ही अवलोकित होते हैं। अग्र मूत्रमार्ग के नये सुषुप्त शोथ में मूत्रमार्ग के बाह्य मुहाने के ओष्ठों की रक्तस्फीति और सूजन मुश्किल से दिखती है या बिल्कुल अनुपस्थित होती है। मूत्रमार्ग से स्राव अल्प मात्राओं में तथा श्लेष्मल-पूयिक प्रकृति का होता है। कभी-कभी यह सिर्फ सुबह को प्रेक्षित होता है, जब रोगी रात को मूत्र-विसर्जन नहीं करता या जब स्राव को मूत्रमार्ग से दबा कर निकाला जाता है। प्रथम गिलास में मूत्र साफ रहता है, उसमें चंद भारी पूयिक धागे और फाहे होते हैं, जो तली पर अवक्षेपित हो जाते हैं। कभी-कभी प्रथम गिलास का मूत्र हल्का धुंधला भी हो सकता है। नये सुषुप्त मूत्रमार्ग-शोथ में आत्मगत गड़बड़ियां बहुत हल्की होती हैं: मूत्रण के आरंभ में हल्की पीड़ा या मूत्रमार्ग में खुजली की अनुभूति। कभी-कभी नये सुषुप्त मूत्रमार्गशोथ में कोई आत्मगत गड़बड़ी नहीं होती और रोगी अपने रोग से अनजान बना रहता है। सुषुप्त मूत्रमार्गशोथ में पश्च मूत्रमार्ग तक शोथी प्रसार के भी लक्षण बहुत विपन्न होते हैं। पश्च मूत्रमार्गशोथ का निदान तभी संभव होता है, जब दो गिलासों वाले परीक्षण में दूसरे गिलास में अपसामान्य अधिमिश्रण (पूयिक धागे और फाहे) अवलो-कित होते हैं।

नया अवतीव्र गनोरिक मूत्रशोथ अधिक प्रायिक होता है, बनिस्बत कि तीव्र तथा सुषुप्त रूप। वस्तुगत एवं आत्मगत लक्षणों की दृष्टि से इसका स्थान बीच का है।

चिरकालिक गनोरिक मूत्रमार्गशोथ नये सुषुप्त मूत्रमार्गशोथ से मिलता-जुलता होता है: इसमें भी स्राव अल्प होता है और आत्मगत गड़बड़ियां हल्की होती हैं। लेकिन इसके प्रवाह में अल्कोहल, कामोद्दीपन आदि से उग्रता के क्षण आ सकते हैं। उग्रता-काल में यह रूप तीव्र या अवतीव्र मूत्रमार्गशोथ से मिलता-जुलता होता है (तल्पिक चित्र के अनुसार)। सही निदान में आयुर्वेद-

(दो महीने से अधिक समय से रोग) और ऊरेथ्रोस्कोपी (मूत्रमार्ग के अवलोकन) से सहायता मिलती है (दे. ऊरोलोचन की पाठ्यपुस्तक)। चिरकालिक सूजाक में अधिकेंद्रिक अंतर्स्यंद (मुलायम और कठोर), मेटाप्लास्टिक श्लेष्मल क्षेत्र और कभी-कभी मूत्र मार्ग का संकोचन प्रेक्षित होता है। क्लिष्टताओं के कुछ प्रकार, विशेषकर चिरकालिक वृषणशोथ सिर्फ पुरुषों में विकसित होते हैं।

पुरुषों में गनोरिक मूत्रमार्गशोथ की क्लिष्टताएं. तीव्र गनोरिक मूत्रमार्गशोथ, विशेषकर यदि लिंगछद लंबा और मँकरा है, इसके आंतरिक पुटक और लिंगपूग के शोथ (बालानोपोस्थीटिस) और शोथी छीकनक्लेश से क्लिष्ट हो सकता है, जिसका प्रवाह वैसा ही होता है, जैसा अगनोरिक स्थितियों में। लिंगछद की ग्रंथि की विद्रधियां एक विरल स्थानीय क्लिष्टता है, जो लिंगपूग की छोटी लगाम (फ्रेनूलुम) में हल्की लाल सूजन और सुकुमारता द्वारा व्यक्त होती है। कभी-कभी गोनोकोक परामूत्रमार्गों में प्रविष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार दवाओं की पहुँच से बाहर हो जाते हैं; ऐसी स्थिति में चिकित्सा कारगर नहीं हो पाती। परामूत्रमार्गों का शोथ लिंग के पूर्ण परीक्षण से अनुवेदित होता है, क्योंकि उनके मुहाने बाह्य मूत्र-द्वार के गिर्द, लिंगपूग पर या ग्रंथि-किरीट में या किसी भी अन्य स्थल पर खुले हो सकते हैं। आक्रांत परामूत्रमार्ग एक दृढ़ तार के रूप में परिस्पर्शित होता है। इसे दबाने पर पूय की बूंद निकल आती है। कुछ केसों में शोथित परामूत्रमार्ग का हल्का अंतर्स्यंदित और अतिरक्तिल बिंदुक मुहाना मूत्रद्वार के ओष्ठों पर खुला होता है।

मूत्रमार्ग में लिट्रे (Littre की वर्त्तिकीय) नल्याकार श्लेष्मल ग्रंथियां और मोर्गाग्नी (Mor gagni) की गर्तिकाएं गोनोकोकों से व्यवहारतः हमेशा आक्रांत हो जाती हैं (लिट्रेशोथ और मोर्गाग्नीशोथ)। लिट्रेशोथ में मूत्र के प्रथम भाग में अर्ध विराम की आकृति के पूयिक धागे प्रेक्षित होते हैं, जो दरअसल मूत्र-ग्रंथियों के मार्ग की छाप होते हैं। शोथी अंतर्स्यंद द्वारा विसर्जक नलिकाओं (मार्गों) के अवरुद्ध होने पर मिथ्या विद्रधियां बन जाती हैं। वे शलाका या ऊरेथ्रोस्कोप की नली पर देखने में पिन के सर जैसी मोटी और सुकुमार लगती हैं। कुछ केसों में ये मिथ्या विद्रधियां काफी बड़ी हो जाती है। समय पर सही चिकित्सा से शोथी अंतर्स्यंद अक्सर अपचोषित हो जाते हैं लेकिन कुछ केसों में पूयिक द्रवण शुरू हो जाता है, जिसके साथ परिमूत्रमार्गीय विद्रधि बनती है। जब यह विद्रधि खुलती या फटती है, तो इससे निकलने वाले पूय में गोनोकोक नहीं पाये जाते। संभव है कि गोनोकोक के साथ अन्य पूयकारी बाक्तेरी भी इस क्लिष्टता की उत्पत्ति में योगदान करते हैं।

काउपर (Cowper) की बल्बोऊरेथ्रिक ग्रंथियों के विसर्जक मार्ग में गोनोकोकों का पैठन (अतिश्यायी अथवा मशिकीय काउपरशोथ) अक्सर रोगी से छिपा रह जाता है। यदि कोई चिकित्सा नहीं होती, तो ग्रंथि के तीव्र शोथ से विद्रधि बन जाती है, जिससे मूलाधार में टभक के साथ पीड़ा होती है, अक्सर मूत्रण होता है और मल-विसर्जन पीड़ा के साथ होता है। 38°C या इससे अधिक बुखार हो जाता है। पुरुषों में काउपर की ग्रंथियों और अन्य सहायक जनन-ग्रंथियों के वस्तुगत परीक्षण की रीतियां ऊरोलोचन की पाठ्यपुस्तकों में सविस्तार वर्णित की जाती हैं।

अध्यंडशोथ (एपीडीडीमीटिस) आज से पहले गनोरिआ (सूजाक) में अधिक प्रायिक था। गोनोकोक स्पष्टतः अध्यंड में पश्च ऊरेथ्रा (मूत्रमार्ग) से अधोवाही या वीर्यवाही नलियों के सहारे प्रविष्ट हो जाते हैं, यद्यपि यह भी संभव है कि पैठन-तत्त्व वहां रक्त या लसीका द्वारा लाये जाते हों। खुद अधोवाही मार्ग का शोथ (अधोवाहीशोथ, डेफेरेंटीटिस) अध्यंडशोथ के सभी केसों में नहीं विकसित होता। इसीलिये माना जाता है कि वृषणीय मूत्रमार्ग की और विशेषकर वीर्य-वप्र (सेमीनल कोलीकुलुस) की आक्रांति में अधोवाही मार्ग का प्रतिपर्याकुंची संकोचन ही गदजनन में योगदान कर-

ता है। अध्यंडशोथ के साथ कभी-कभी वृषणीय अस्तर में निस्सृति (हाड्रोसील, वृषणशोथ) भी पायी जाती है।

गनोरिक अध्यंडशोथ अक्सर तीव्रता से विकसित होता है। आक्रांत अध्यंड में पीड़ा (खुद वृषण या अंड देखने में नियमतः अपरिवर्तित रहते हैं), अंडाशय के तदनुरूप अर्ध में रक्तस्फीति (प्रक्रिया अक्सर एकतरफा ही होती है), 38-39°C बुखार, अस्वस्थता और सरदर्द एक साथ शुरू होते हैं। तीव्र एवं अवतीव्र गनोरिक ऊरेथ्राशोथ (मूत्रमार्गशोथ) के लक्षण इस केस में काफी उपशमित हो जाते हैं। सभी गादिक संवृत्तियां दो या तीन दिनों में विकसित हो जाती हैं और उनके उपशमित होते तीन से चार सप्ताह बीत जाते हैं। ऐसा हमेशा नहीं होता कि अध्यंड के पुच्छ में अंतर्स्यंद पूर्णतः अपचोषित हो जाये। यह अक्सर क्षतांकी ऊतकों द्वारा विस्थापित हो जाता है, जो अध्यंड की नलिका के भीतर दबाव डालते हैं। दुतरफा शोथ के केसों में शुक्राणु मृत हो जाते हैं, जिससे बाँझपन आ जाता है।

पुरस्थ ग्रंथि का शोथ (पुरस्थशोथ) पुरुषों में सूजाक की सबसे सामान्य क्लिष्टता है। इसके साथ-साथ अक्सर वीर्यवस्तिका का भी शोथ होता है (वस्तिकशोथ)। पुरस्थ ग्रंथि की पालिकाएं या लुंडिकाएं बहुसंख्य 30-40 विसर्जक नलिकाओं द्वारा पश्च ऊरेथ्रा (मूत्रमार्ग) में खुलती हैं। पुरस्थ नलिकाओं का पैठन अक्सर पश्च ऊरेथ्रा की गनोरिक आक्रांति से होती है। जब शोथी प्रक्रिया विसर्जक नलिकाओं में ही सीमित रहती है (अतिश्यायी पुरस्थशोथ) तो कोई आत्मगत गड़बड़ी नहीं होती और रोग अलाक्षणिक (लक्षणहीन) प्रवाह ग्रहण करता है। ग्रंथि की लुंडिकाओं में आक्रांति फैलने और उनमें मिथ्याविद्रधियों के बनने (मशिकीय पुरस्थशोथ) और उस पर से तीव्र रोग में अंतरावकाशिक ऊतकों के ग्रस्त होने (मृदूतकीय पुरस्थशोथ) से न्यूनाधिक स्पष्ट सार्वदैहिक गड़बड़िया उत्पन्न होती हैं; साथ में पश्च मूत्रमार्ग के तीव्र शोथ के लक्षण भी होते हैं। रोगी अस्वस्थता, मूलाधार में और जघन से ऊपर पीड़ा की शिकायत करते हैं, ज्वर और अमूत्रण होता है। ऋजु आँत के परीक्षण से सुकुमार व दृढ़ अंतर्स्यंदन और पूरे पुरस्थ या उसकी आक्रांत लुंडिका का वर्धन प्रेक्षित होता है। अंतर्स्यंद के पूयिक द्रवण से पुरस्थ-विद्रधि बनती है। ऐसे केसों में गदलोचनी संवृत्तियां बहुत तीव्र हो जाती हैं और तीव्र अमूत्रण विकसित हो सकता है। जब नये सूजाक की समयोचित चिकित्सा में आधुनिक रीतियों का उपयोग होता है, तो तीव्र पुरस्थशोथ और पुरस्थ-विद्रधि अक्सर विकसित नहीं हो पाती। ये कभी-कभी ऐसे रोगियों में ही विकसित होते हैं, जिनकी किन्हीं कारणों से चिकित्सा नहीं हुई थी।

चिरकालिक पुरस्थशोथ प्ररक्षित नये या चिरकालिक सूजाक के रोगियों में एक सामान्य घटना है। यह तीव्र पुरस्थशोथ का परिणाम हो सकता है या सीधे चिरकालिक शोथ का रूप ग्रहण कर सकता है (प्राथमिक चिरकालिक पुरस्थशोथ)। सूजाक में चिरकालिक पुरस्थशोथ का गदजजनन क्लिष्ट होता है। आक्रांत पुरस्थ से स्राव में गोनोकोक बहुत विरलता से अनुवेदित होते हैं (चिकित्सा न होने पर भी)। एंटीबाक्तेरिक साधनों से रोगी के शरीर में गोनोकोकों को पूर्णतया नष्ट कर देने पर भी पुरस्थ (ग्रंथि) में शोथी प्रक्रिया समाप्त नहीं होती। ऐसा माना जाता है कि ऐसे सूजाकोपरांत रोगों में शोथ द्वितीयक पैठन, ऊतकों में नार्वकुपोषी परिवर्तनों और स्वाक्रमण (औटो-अग्रेसन) की संवृत्ति के कारण बना रहता है (इलीन तथा अन्य)।

चिरकालिक पुरस्थशोथ में अक्सर कोई आत्मगत लक्षण नहीं होता। अपसामान्यताएं सिर्फ आंकिक परीक्षण और स्राव के परीक्षण से ज्ञात हो सकती हैं (इनमें श्वेतकोशिकाएं दृष्टि-क्षेत्र में 10-15 से अधिक होती हैं, वे गुच्छों के रूप में जमा होती हैं, लीपोइड या वसावत कण कम होते हैं, स्राव

का क्रिस्टलीकरण व्यवधानित होता है)। अन्य केसों में चिरकालिक पुरस्थशोथ के साथ पश्च मूत्र-मार्ग के लक्षण भी मिलते हैं: अल्प ऊरेथ्रिक स्राव, परिसंवेदना, बार-बार मूत्र-त्याग की इच्छा, मूत्र में गदलोचनी द्रव्यों की उपस्थिति। कभी-कभी पुरस्थस्राव विकसित हो जाता है: मल या मूत्र विसर्जन के बाद धुंधले, तरल ग्रंथिक स्राव की कुछ बूंदें स्वतंत्रतापूर्वक निकल आती हैं; यह विसर्जक नलिकाओं की चिकनी पेशियों की तानता में गड़बड़ी के कारण होता है।

चिरकालिक पुरस्थशोथ के रोगियों में (विशेषकर लंबी अवधि एव असफल चिकित्सा की स्थिति में) विभिन्न नर्वक्लेशिक अवस्थाएं बहुत सामान्य घटनाएं हैं, जिनसे बहुसंख्य एवं विविध शिकायतें तथा यौन गड़बड़िया उत्पन्न होती हैं।

लड़कियों में सूजाक

छोटी लड़कियों में सूजाक का पैठन नियमतः अरसिज मार्ग से होता है; इसका कारण होता है—बीमार वयस्क व्यक्ति के साथ सीधे संपर्क में हाइजीनिक नियमों की उपेक्षा या गोनोकोक-युक्त स्राव से संदूषित वस्तुओं के माध्यम से। बड़ी लड़कियों में (10-14 वर्ष) कभी-कभी पैठन रतिक्रिया की कोशिश में हो जाता है। लड़कियों में सूजाक के तीन रूप होते हैं—नया, चिरकालिक और अव्यक्त। उम्रगत अनाटोमिक एवं शरीरलोचनी विशेषताओं के कारण गोनोकोक भग, योनि, मूत्रमार्ग और कभी-कभी ऋजु आँत में एक साथ शोथ पैदा कर देते हैं। बड़ी लड़कियों में सूजाक अक्सर वयस्क स्त्रियों में पैठन से मिलता-जुलता होता है।

तीव्र गनोरिक भगयोनिशोथ पैठन के पाँच से सात दिन बाद होता है; यह वृहत भगोष्ठों, योनि-प्रद्वार की श्लेष्मल झिल्लियों और मूलाधार में चमकदार लाल रक्तस्फीति तथा सूजन द्वारा लंछित होता है। योनि की दीवारों की रक्तस्फीति और सूजन योनिस्कोपी से ज्ञात होती है। योनि से प्रचुर पूयिक या पूयश्लेष्मल स्राव से अक्सर मूलाधार और जांघों के भीतरी चर्म का मसृणन और शोथ शुरू हो जाता है। रोगी जननेंद्रियों और पृष्ठद्वार के क्षेत्र में खुजली और जलन से परेशान होते हैं, तीव्र मूत्रमार्गशोथ से मूत्रोत्सर्जन में पीड़ा होती है।

जब रोग शुरू-शुरू में बहुत कम लक्षण उत्पन्न करता है (सुषुप्त नया सूजाक), और चिरकालिक गनोरिक भगयोनिशोथ के केस में, रोगी लड़की को कोई आत्मगत गड़बड़ी अनुभूत नहीं होती माता-पिता का ध्यान सिर्फ अंतर्वस्त्र पर पीताभ पूयिक धब्बों पर जाता है।

गनोरिक गुदाशोथ और ग्रसनीशोथ

ऋजु आँत (रेक्टम) में गोनोकोकों का प्रवेश स्त्रियों तथा लड़कियों में भग-विदर से रिसते पूयिक स्राव के साथ और पुरुषों में समलैंगिकता जैसी विकृत यौन क्रिया के कारण होता है। रेक्टम का सिर्फ दूरस्थ (डिस्टल) खंड और अवरोधनी का क्षेत्र आक्रांत होता है; यहां गोनोकोकों के लिये अनुकूल परिस्थितियां होती हैं। गनोरिक गुदाशोथ विरले ही तीव्र शोथ ग्रहण करता है। कतिपय लक्षणों के साथ चिरकालिक प्रवाह अधिक आम घटना है। यह अधिकांशतः लड़कियों और स्त्रियों में पाया जाता है, पुरुषों में विरल होता है।

तीव्र गोनोकोकी गुदाशोथ से मलोत्सर्जन में पीड़ा और पृष्ठद्वार में खुजली होती है; अवरोधनी के क्षेत्र में विदारों और अपरदनों के कारण मल में रक्त का अधिमिश्रण पाया जा सकता है। पृष्ठ-

द्वार के गिर्द रक्तस्फीति होती है, पुटकों में पूय संचित होता है। गुदाशोथ के चिरकालिक एवं नये सुषुप्त रूपों में रोगी को कोई शिकायत नहीं होती और रोग की कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती। रक्तस्फीति, सूजन, गोनोकोकों से युक्त श्लेष्मल-पूयिक स्राव और कुछ केसों में ऋजु आँत की श्लेष्मला पर अपरदन – ये सारे लक्षण सिर्फ गुदास्कोपी से ज्ञात होते हैं।

मूत्रजननेंद्रियेतर क्षेत्रों के गोनोकोकी पैठन के अन्य प्राथमिक अधिकेंद्रों के रूप में ग्रसनीशोथ और टोंसिलशोथ का संकेत पिछले समय से मिल रहा है। इन पर विदेशी वैज्ञानिकों ने विशेष ध्यान दिया है, क्योंकि ग्रसनिक (टोंसिलिक) गोनोकोकी पैठन अक्सर विकृत (मुख-जननेंद्रिक) यौन क्रिया के दौरान पैठन से संबंधित होता है। तल्पिक रूप से यह साधारण कारणों से उत्पन्न अतिश्यायी शोथ से मिलता-जुलता होता है और इसका पता सिर्फ बाक्तेरीलोचनी परीक्षण से चल सकता है। यदि चिकित्सा न की जाये, तो ऐसे अलाक्षणिक अधिकेंद्र प्रकीर्णित पैठन (गोनोकोकी सूपन) का कारण बन सकते हैं।

प्रकीर्णित गनोरिक पैठन

संभवतः गोनोकोक रक्त-धारा में सूजाक के ऐसे अधिकांश केसों में प्रविष्ट हो जाते हैं; जिनमें ग्रैव कैनल व मूत्रमार्ग की श्लेष्मल झिल्ली क्षत हो जाती है। लेकिन रक्त में वे नैसर्गिक इमूनी घटकों के कारण शीघ्र ही मृत हो जाते हैं। बहुत विरल केसों में ही गोनोकोकों का रक्तमार्ग से प्रकीर्णन होता है, जब वे रक्त में प्रजनित होते हैं (गोनोकोक-रक्तता) और विभिन्न अंगों एवं ऊतकों तक पहुँचाये जाते हैं; इससे संधियों, अंतर्हृदय, छादिकाओं, चर्म व यकृत आदि की आक्रांति होती है (विद्रधियां, परियकृतशोथ)।

गोनोकोकों के प्रकीर्णन में निम्न घटक सहायक होते हैं: लंबे समय तक रोग का पहचाना न जाना, अपर्याप्त चिकित्सा, रजोधर्म और सगर्भता, सहवर्ती रोग और गरलक्लेश (जो शरीर की प्रतिरोधिता घटा देते हैं), मूत्रमार्ग व ग्रैव कैनल की श्लेष्मल झिल्लियों की क्षतियां (राछ-प्रयोग या यौन अतिक्रियाओं के कारण)। गोनोकोकरक्तता पिछले समय से स्त्रियों में कुछ अधिक पाया जा रहा है।

प्रकीर्णित गनोरिक पैठन के दो मुख्य रूप हैं। अपेक्षाकृत विरल रूप है – तीव्र, समय-समय पर कौंधी सूपन, जो तल्पिक रूप से अन्य बाक्तेरियों (स्ताफिलोकोकों, मेनिंगोकोकों आदि) से उत्पन्न रक्तसूपन या पूयरक्तसूपन से मिलता-जुलता होता है। मुख्यतः यही वह रूप है, जिसमें तीव्र सार्वदैहिक अवस्थाएं, तेज बुखार, हृदय की धड़कन में तीव्रता, कँपकँपी, अत्यधिक स्वेदन तथा विभिन्न चर्म-स्फोट (ललामी, पार्विक, वस्तिकीय-रक्तस्रावी तथा विमृतिक क्षतियों जैसे स्फोट) प्रबल हो उठते हैं। संधियों में पूयिक निस्सृति के साथ बहुसंधिशोथ भी नियमतः उसी समय शुरू हो जाता है।

प्रकीर्णित गोनोकोकी पैठन का एक अपेक्षाकृत हल्का प्रवाह अधिक प्रायिक है। ऐसे केसों में रक्त-गरलता की संवृत्तियां हल्की होती हैं, बुखार भी हल्की या अल्पकालीन होती है और संधियों की आक्रांति तल्पिक चित्र में प्रबलता रखती है। इस रूप को कभी-कभी 'सुदम गोनोकोकी सूपन' भी कहते हैं। संभव है कि कुछ केसों में बात सिर्फ अस्थायी रक्तबाक्तेरिकता की होती है, जिसके बाद संधियों की अपवहन से आक्रांति होती है (एक या कुछेक संधियों में शोथ, चर्म-स्फोट), जबकि अन्य केसों में सूपन का हल्का रूप शरीर की एक विशेष प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है। गोनोकोक--रक्तता की 'सुदम प्रकृति' बहुत औपचारिक होती है, क्योंकि इसके साथ अंतर्हृत्पेशी शोथ भी हो

सकता है, साथ-साथ महाधमनी और फुप्फुस के कपाटों की आक्रांति, छादिकाशोथ, यकृत की विद्रधि तथा अन्य शोचनीय क्लिष्टताएं भी हो सकती हैं।

प्रकीर्णित गोनोकोकी पैठन की प्रकृति और प्रवाह प्राथमिक अधिकेंद्र की अवस्था पर निर्भर नहीं करता, जो सूपन के सभी रूपों के लिये सामान्य बात है। वे जीवाणुओं की विशेष गरलकारी जातियों पर भी नहीं निर्भर करते। इसके विपरीत, अनेक वैज्ञानिक तो इस बात पर जोर देते हैं कि पेनीसिलिन तथा अन्य एंटीगोनोकोकी दवाओं के प्रति उच्च संवेदी जीवाणु नियमतः प्रकीर्णित गोनोकोकी पैठनों (और गनोरिक संधिशोथों) में पृथक्कृत हो जाते हैं।

इस प्रकार गनोरिक संधिशोथ गोनोकोकी सूपन की एक अभिव्यक्ति या अल्पकालीन रक्तबाक्तेरिकता का परिणाम है, अर्थात् यह परिसंधिक ऊतकों तथा संधि-कोटरों में जीवाणुओं के प्रत्यक्ष प्रवेश से होता है। तल्पिक रूप से यह अन्य हेतुलोचन के बाक्तेरिक संधिशोथ से मिलता-जुलता होता है। आक्रांत संधि में पूयिक निस्सृति होती है, जिसमें निमित्त कारण (जीवाणु) पाये जा सकते हैं। संधि के स्नेहक तरल में गोनोकोकों की उपस्थिति से गनोरिक संधिशोथ का निर्विवाद निदान किया जा सकता है। मूत्रजननेंद्रिक अधिकेंद्रों तथा वस्तिकीय-रक्तस्रावी चर्मस्फोटों में गोनोकोकों की उपस्थिति से संधिशोथ के गनोरिक मूल के होने का संदेह उत्पन्न हो सकता है। गनोरिक संधिशोथ में पेनीसिलिन-चिकित्सा से अच्छा लाभ होता है। ठीक समय पर चिकित्सा शुरू करने पर रोगी कुछ दिनों में ही पूरी तरह स्वस्थ हो जाता है, उसके अंगों के सारे कार्य ठीक हो जाते हैं। चिकित्सा का विनाश हो सकता है, उनमें जड़ता आ सकती है।

रेइटर (Reiter) का सिंद्रोम (ऊरेथ्रा-नेत्र-संधिस्नेहक सिंद्रोम) और साथ में कुटाली (या चिरकारी) बहुसंधिशोथ अधिक प्रायिक है, बनिस्बत कि पुरुषों में गनोरिक संधिशोथ, जो गनोरिक मूत्रमार्गशोथ से मुक्त हो चुके हैं। यह सिंद्रोम हेतुलोचनी रूप से गोनोकोकों से असंबद्ध है (दे. पुरुषों में अगनोरिक मूत्रमार्गशोथ से संबंधित प्रकरण)।

गनोरिया का निदान

गनोरिआ या सूजाक (नये, चिरकालिक या अव्यक्त) का निदान तभी किया जा सकता है, जब गदलोचनी द्रव्य के लेप में निमित्त कारण (जीवाणुओं) का अनुवेदन हो जाता है। सीरमलोचनी परीक्षण (बोर्डे-गेंगो की संवृत्ति, गोनोकोकी एंटीजनों के लिये परीक्षण) और साथ ही गोनोकोकी टीका से चर्म-परोर्जिक परीक्षण महज सहायक महत्त्व रखते हैं, ये विचाराधीन रोगी में न तो गोनोकोकी पैठन के प्रमाण हो सकते हैं, न रोग के ठीक होने का निकष ही।

नये तीव्र सूजाक में जीवाणु लेप को ग्राम-विधि तथा मेथीलीन-नीला से समांतर रूप से रंजित करके सरलतापूर्वक अनुवेदित किया जा सकता है (गोनोकोक ग्राम-ऋणात्मक होते हैं)। सुषुप्त तथा चिरकालिक सूजाक में बाक्तेरीस्कोपी के परिणाम कम विश्वसनीय होते हैं। तदनुरूप आयुरी वृत्त तथा तल्पिक चित्र के केस में सूक्ष्मदर्शी परीक्षण से प्राप्त ऋणात्मक परिणाम के आधार पर सूजाक की संभावना को बिल्कुल छोड़ा नहीं जा सकता। बाक्तेरीस्कोपी की विश्वसनीयता कुछ हद तक बढ़ जाती है, जब दुहरा-दुहरा कर परीक्षण करते है, विशेषकर शोथी प्रक्रिया को कृत्रिम रीति से उग्र कर के परीक्षण करने पर (उकसावन)। मिश्र उकसावन (गोनोकोकों का टीका सूई से दे कर जीवलोचनी, आहारीय, तापीय, रसायनिक, यांत्रिक) भी विश्वसनीय चिकित्सा के लिये आवश्यक होता है। कृत्रिम पोषक माध्यम में कल्चर के पनपाव और सूक्ष्मदर्शन की रीतियों से सूजाक

के अनुवेदित रोगियों की संख्या दुगुनी हो गयी है, विशेषकर ऐसे रोगी भी अनुवेदित हो जाते हैं, जो चिरकालिक रूप से ग्रस्त हैं, जिनकी पहले चिकित्सा हो चुकी है, जिनकी ऋजु आँत आक्रांत है, आदि।

सूक्ष्मदर्शी से (और कल्चर में) गोनोकोकों की पहचान के लिये गदलोचनी द्रव्य पुरुषों के मूत्रमार्ग, पुरस्थ तथा वीर्य-वस्तिका से और स्त्रियों के मूत्रमार्ग, योनि-ग्रैव कैनल, ऋजु आँत तथा (यदि सुसंकेतित हो, तो) योनि के प्रद्वार पर स्थित ग्रंथियों से जमा किया जाता है। लड़कियों के केस में द्रव्य योनि, मूत्रमार्ग तथा ऋजु आँत से जमा किया जाता है।

अक्सर स्राव के लेप में गोनोकोकों के साथ अन्य गदजनक जीवाणु भी पाये जाते हैं, जो रतिक्रिया के दौरान संक्रमण कर सकते हैं (मूत्रजननेंद्रिक त्रीखोमोनाद, कांदीदा फंगी, हेमोफीलिक वैजीनल बासिली आदि)।

मिश्र पैठन से गोनोकोकों का अनुवेदन कठिन हो जाता है; यह अवस्था सूजाक के तल्पिक चित्र में भी प्रतिबिंबित होता है: अंतर्शयन-काल की लंबाई बढ़ जाती है, क्लिष्टताएं अधिक प्रायिक हो जाती हैं। मूत्रजननेंद्रिक त्रीखोमोनाद द्वारा फागोसीतोसित (फागोसाइटोज्ड) गोनोकोक प्रोटोजोआन में मरते नहीं, बल्कि कुछ हद तक एंटीगनोरिक दवा से सुरक्षा पा लेते हैं। इसीलिये गनोरिया की चिकित्सा कभी-कभी असफल हो जाती है। पेनीसिलिन-प्रतिरोधी त्रीखोमोनाद, हेमोफीलिक वैजिनल बासिल, कांदीदा फंगी तथा ख्लामीदिआ जैसे जीवाणु गोनोकोकों की मृत्यु के बाद भी शोथ बनाये रह सकते हैं (सूजाकोपरांत रोग)।

गनोरिया की चिकित्सा

गनोरिया (सूजाक) की चिकित्सा एंटीगोनोकोकी साधनों (प्रतिजीवकों तथा सुल्फानीलामीदों), विशिष्ट व अविशिष्ट इमूनता को प्रोत्साहित करने वाली रीतियों तथा स्थानीय चिकित्सा की रीतियों से होती है, जिनकी प्रकृति ऊतकों तथा ग्रस्त अंगों में अधिकेंद्रिक परिवर्तनों के स्थलों और प्रकारों द्वारा निर्धारित होती है। सिर्फ प्रतिजीवकों का उपयोग तीव्र, नये तथा अक्लिष्ट सूजाक की चिकित्सा में होता है। प्ररक्षित, क्लिष्ट तथा चिरकालिक रूपों में उपायों का पूरा संकुल प्रयुक्त होता है।

एंटीगनोरिक दवाओं के प्रकार और उनकी मात्राएं सोवियत संघ में यहां के स्वास्थ्य-मंत्रणालय द्वारा गनोरिया की चिकित्सा एवं निरोध से संबंधित निर्देशों द्वारा निर्धारित होती हैं; ये निर्देश समय-समय पर संशोधित भी होते हैं (पिछले निर्देश 1976 में जारी किये गये थे)। सोवियत संघ के सभी डाक्टर इन निर्देशों का पालन करने के लिये बाध्य होते हैं; ये निर्देश नवीनतम वैज्ञानिक आयुरी आँकड़ों और तल्पिक प्रतिष्ठानों के अनुभवों पर आधारित होते हैं।

निम्न दवाओं में एंटीगोनोकोकी असर होता है: बेंजिलपेनीसिलिन (तीव्र अक्लिष्ट सूजाक में पहले 600000 U की अंतर्पेशीय सूई दी जाती है, फिर हर चार घंटे पर 300000 U की; कुल खुराक 3000000 U है); एक्मोनोवोसिलिन-1 (हर 12 घंटे पर 600000 U; कुल खुराक 3000000 U); बीसिलिन-1, बीसिलिन-3 तथा बीसिलिन-5 (600000 U हर चौबीस घंटे पर; कुल खुराक 3000000 U); आंपीसिलिन (मुखमार्ग से 0.5 ग्राम हर चार घंटे पर, कुल खुराक 3.0 ग्राम); तेत्रास्क्लीन, ख्लोरतेत्रासिक्लीन, ओक्सीतेत्रासिक्लीन (0.3 ग्राम नित्य पाँच बार प्रथम दो दिनों तक, फिर 0.2 ग्राम नित्य पाँच बार; कुल खुराक 5.0 ग्राम); एरीथ्रोमिसिन (400000 U नित्य छे बार दो दिनों तक, फिर 400000 U नित्य पाँच बार; कुल खुराक 8800000 U), ओलेतेत्रिन (प्रथम दिन 500000 U मुख-

मार्ग मे, फिर तीन बार 250000 U की खुराकों में; बाकी दिन 250000 U नित्य चार बार; कुल खुराक 4000000 U); कानामीसिन (500000 U की अंतर्पेशीय सूइयां हर 12 घंटे पर; कुल खुराक 3000000 U)।

कुटाली, चिरकालिक तथा क्लिष्ट सूजाक के रोगियों के लिये प्रतिजीवकों से चिकित्सा के एक दौर की कुल खुराक को दुगुना कर दिया जाता है; गोनोकोकी सृपन, गनोरिक संधिशोथ और श्रोणिक-परितानिकाशोथ में 6000000-10000000 U बेंजिलपेनीसिलिन की सूइयां 7 से 10 दिन तक नित्य दी जाती है (रोगी की अवस्था के अनुसार)।

प्रतिजीवक सहन न होने पर दीर्घकालीन प्रभाव वाले सुल्फानीलामीद, सुल्फामोनोमेथोक्सिन और सुल्फाडीमेथोक्सिन प्रलिखित किये जाते हैं। गनोरिया के चिरकालिक, क्लिष्ट एवं सुषुप्त रूपों में विशिष्ट इमूनोथेरापी के लिये (प्रतिजीवकों से चिकित्सा असफल होने पर) बहुसंयोजी गोनोकोकी टीका की सूई लगायी जाती है, अविशिष्ट प्रतिकारिता बढ़ाने के लिये लैक्टो- व स्वरक्त-थेरापी और ज्वरकारी दवाएं प्रयुक्त होती हैं। चिकित्सा की स्थानीय रीतियों में निम्न की गणना होती है: मूत्र-मार्ग का प्रक्षालण, सिल्वर नाइट्रेट (0.25 प्रतिशत) और प्रोतार्गोल पर्याय सिल्वर प्रोटीन (1-2 प्रतिशत) के घोल टपकाना, धातु की विस्फारक सींके, टैंपोनेड, विभिन्न प्रकार की भौतिकीय चिकित्साएं (पाराफिन तथा ओजोसेरीत का प्रयोग, पारतापन, विद्युप्रवहन, पराउच्च आवृत्ति मे चिकित्सा, मालिश आदि)।

गनोरिया की चिकित्सा के निकष. चिकित्सा के बाद रोग के बाह्य लक्षणों का लुप्त हो जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि जीवाणु मर चुके हैं, क्योंकि वे किन्हीं संवृत (बंद) अधिकेंद्रों में लंबे समय तक जीवित रह सकते हैं (अव्यक्त सूजाक)।

पूर्ण चिकित्सा का निर्धारण चिकित्सा का दौर समाप्त होने के 7 से 10 दिन बाद होता है। इसके लिये मिश्र उकसावन किया जाता है, फिर 24, 48 तथा 72 घंटे बाद बाक्तेरीलोचनी परीक्षण के लिये मूत्रमार्ग से पुरुषों का लेप, मूत्र और पुरस्थ-स्राव लिया जाता है; स्त्रियो में मूत्रमार्ग, योनि-ग्रीवा के कैनल तथा अन्य ग्रस्त अंगों से लेप लिया जाता है। जब भी संभव हो साथ-साथ कल्चर भी बनाये जाते हैं। बाक्तेरीलोचनी परीक्षणों के अतिरिक्त ऊरोलोचनी (या स्त्रियों में यूनलोचनी) परीक्षण किया जाता है, ताकि मूत्रजननेंद्रियों में शोथी अधिकेंद्र ज्ञात किये जा सकें। उकसावन और तल्पिक परीक्षण एक महीने बाद दुहराये जाते हैं; स्त्रियों का परीक्षण अगले ऋतुकाल के समय किया जाता है। गनोरिया से पीड़ित रह चुके व्यक्तियों को चिकित्सा के बाद आरोग्यशाला और प्रयोगशाला की निगरानी में दो महीने तक रखा जाता है (स्त्रियों को कम से कम दो रजोचक्र तक)।

गनोरिया (सूजाक) से पीड़ित रह चुके लोगों को पूर्णतया स्वस्थ मान कर उन पर से निगरानी सिर्फ निम्न परिस्थितियों में हटायी जा सकती है: लेपों और कल्चरों में गोनोकोकों की स्थायी अनुपस्थिति; पुरुषों में मूत्रमार्ग और सहायक जनन-ग्रंथियों (पुरस्थ ग्रंथि, वीर्य-वस्तिकाओं, काउपर की ग्रंथियों) में शोथी परिवर्तनों की अनुपस्थिति; स्त्रियों में रजोचक्र की पीड़ा या गड़बड़ी और आंतर जननेंद्रियों में परिस्पर्श से ज्ञात होने वाले स्पष्ट परिवर्तनों की अनुपस्थिति।

जननमूत्र-अंगों की त्रीखोमोनिक आक्रांति

जननमूत्र-अंगों की त्रीखोमोनिक आक्रांति (त्रीखोमोनता) एक बहुत प्रचलित रोग है, जो डोन (Donne, 1836) के त्रीखोमोनास वाजीनालिस (Trichomonas vaginalis) द्वारा उत्पन्न

होता है ; यह एक एकल-कोशिकीय जीवाणु है जो वंश प्रोटोजोआ, क्लास फ्लाजेलाटा (Flagellata) से संबंध रखता है। इसकी आकृति नाशपाती जैसी होती है और लंबाई 13-18 मिक्रोमीटर या इससे अधिक 30-40 मिक्रोमीटर तक) होती है। यह रोमों (कशाओं, फ्लाजेला) और एक लहराती झिल्ली की सहायता से सक्रिय गति करता रहता है। अपने अत्यंत सुनम्य काय के कारण वह मिथ्यापादी बनकर अंतराकोशिकीय अवकाश में पहुँच सकता है।

त्री. वाजीनालिस आदमी का परजीवी है और उसके जननमूत्र-अंगों के सिवा और कहीं नहीं जी सकता है। अन्य अंगों (जठर, आँत आदि) में तथा आदमी के शरीर से बाहर ये जीवाणु बहुत शीघ्र मर जाते है, क्योंकि वे सुरक्षा का कोई साधन नहीं बनाते और प्रतिकूल परिवेशी घटकों का प्रतिरोध भी नहीं कर पाते। सूखने, 45°C से ऊपर गर्म करने, सीधी धूप और ओस्मिक दाब में परिवर्तनों का उस पर विशेष घातक प्रभाव पड़ता है। इसीलिये जननमूत्रांग के त्रीखोमोनाद बाह्य परिवेश में, अर्थात् खुले जलाशयों में, बहुत से लोगों के इकट्ठा होने के स्थलों पर, सार्वजनिक स्नान-गृहों में, अनुवेदित नहीं हो पाते। नैसर्गिक परिस्थितियों में वे उन जंतुओं में भी रोग उत्पन्न नहीं करते, जिनमें त्रीखोमोनाद की अन्य जातियां परजीवी बन कर रहती हैं। त्री. वाजीनालिस के शुद्ध कल्चरों की सूई से प्रयोगाधीन जंतुओं में अवचार्म विद्रधियां, परितानिकाशोथ और योनीशोथ विकसित किये जा सके हैं।

पैठन के प्रसार-मार्ग. पैठन अक्सर सिर्फ यौन मार्ग से होता है। विरल केसों में अरतिज संदूषण छोटी लड़कियों में रोगी व्यक्तियों के स्राव से संदूषित वस्तुओं (स्पंज, तौलिया, आदि) के सहारे होता है। ऐसा इसलिये संभव होता है कि त्री. वाजीनालिस पूय एवं श्लेष्मा के थक्कों में कई घंटों तक जीवन-क्षम रहता है (जबतक कि थक्के सूख नहीं जाते या पानी में पूर्णतः घुल नहीं जाते)। लेकिन बाह्य परिवेश में त्रीखोमोनाद गोनोकोकों से भी बहुत कम जीवन-क्षम होते हैं। यही कारण है कि त्रीखोमोनता का अरतिज पैठन अपेक्षाकृत बहुत विरल है, बनिस्बत कि गनोरिया का।

प्रसार की समान रीति के कारण त्रीखोमोनाद अक्सर गोनोकोकों तथा अन्य जीवाणुओं के साथ मिश्र पैठन अंतर्प्रेरित करते हैं।

गदजनन. जननमूत्र-अंगों में परजीवी की तरह रहने वाले त्रीखोमोनादों में प्राथमिक गदजनकता होती है और वे सभी लोगों में व्यक्त या अव्यक्त पैठन उत्पन्न कर सकते हैं। इनके प्रति जन्मजात अप्रवणता नहीं होती, लेकिन कुछ व्यक्तियों में पैठन से वे इन जीवाणुओं का सिर्फ अल्प काल के लिये वाहक बने रह जाते हैं। पुरुषों में त्रीखोमोनाद मूत्रमार्ग, परामूत्रमार्गों, लिंगछद, अध्यंड और सहायक जनन-ग्रंथियों में परजीवी बन कर रहते हैं। स्त्रियों में वे मूत्रमार्ग, योनि-प्रद्वार की ग्रंथियों, योनि, योनिक ग्रैव कैनल में रहते हैं। बहुत विरल केसों में ही ये परजीवी गर्भाशय में पहुँचते हैं, या मूत्रमार्ग का आरोही (उद्गामी) पैठन (मूत्राशयशोथ, पिएलोनेफ्रीटिस) उत्पन्न करते हैं। त्रीखोमोनाद ऋजु आँत में परजीवी बन कर नहीं रह सकते, इसीलिये गुदाशोथ नहीं उत्पन्न करते। रक्त-मार्ग से पैठन का प्रकीर्णन नहीं होता। इस प्रकार, त्रीखोमोनिक पैठन से कई आक्रांति-केंद्र बन सकते हैं, पर सभी जननमूत्र-तंत्र में ही स्थानाबद्ध होते हैं। क्षतियों की ऐसी प्रकृति के बावजूद त्रीखोमोनिक पैठन के साथ रक्त-सीरम में विविध एंटीकाय उत्पन्न होने लगते हैं। लेकिन ये एंटीकाय कोई रक्षी प्रभाव नहीं डालते और त्रीखोमोनता से दुबारा पैठन भी संभव है।

तलिक चित्र, प्रवाह, क्लिष्टताएं. प्रवाह के अनुसार नयी त्रीखोमोनता (तीव्र, अवतीव्र और सुषुप्त), चिरकालिक त्रीखोमोनता (दो महीने से अधिक की) और त्रीखोमोनिक वाहनता में भेद किया जाता है। अंतर्शयन काल औसतन 7 से 10 दिन होता है, यद्यपि कुछ केसों में यह कम

(तीन दिन) या अधिक (एक महीना या इससे अधिक) भी हो सकता है। पुरुषों में त्रीखोमोनिक मूत्रमार्गशोथ का तल्पिक चित्र तदनुरूप गनोरिक शोथ से बहुत कम भिन्न होता है, लेकिन रोग और इसकी क्लिष्टताएं (अध्यंडशोथ, पुरस्थशोथ, वीर्याशयशोथ, आदि) अधिकांशतः हल्के शोथी परिवर्तनों के साथ होते हैं, यहां तक कि लक्षण भी बहुत कम होते हैं, और कोई आत्मगत गड़बड़ी भी नहीं होती।

तीव्र त्रीखोमोनिक मूत्रशोथ में पश्च मूत्रमार्ग तक शोथ के प्रसार से मूत्रमार्ग एवं मूत्राशय के शोथ के वैसे ही लक्षण उत्पन्न होते हैं (बार-बार मूत्रण की इच्छा, मूत्रण के अंत में पीड़ा, पूर्ण पूय-मूत्रण, अंत्य रक्तमूत्रण), जैसे तीव्र गनोरिक मूत्रमार्गशोथ में होते हैं। चिरकालिक त्रीखोमोनिक मूत्रमार्गशोथ कभी-कभी उग्र हो उठता है, जो रोग के तीव्र एवं अवतीव्र रूपों से मिलता-जुलता होता है। ऊरेथ्रिक श्लेष्मला में गनोरिया के जैसे उपकलीय परिवर्तन, अंतर्स्यंदी अधिकेंद्र और क्षतांकी संरचनाएं बन जाती हैं।

त्रीखोमोनिक पैटन के लक्षण अक्सर स्त्रियों में अधिक स्पष्ट होते हैं, बनिस्बत कि पुरुषों में। योनिशोथ के लक्षण (योनि तथा योनिक ग्रीवा की श्लेष्मल झिल्ली की रक्तस्फीति और उसमें हल्का रक्तस्राव, पतला, पूयिक, अक्सर फेनिल स्राव) नियमतः प्रबल होते हैं और इसके साथ-साथ मूत्र-मार्गशोथ, अंतग्रैवशोथ, (योनिक) ग्रैव अपरदन और योनि-प्रद्वार की ग्रंथियों की आक्रांति भी होती है। तीव्र योनिशोथ में विपुल स्राव से बाह्य जननेंद्रियों के चर्म में जलन और खुजली अंतर्प्रेरित होती है। लड़कियों में श्लेष्मला की रक्तस्फीति और स्राव के साथ भगयोनिशोथ विकसित होता (एक या बहुत कम लक्षणों के साथ)।

निदान लेप में और (अथवा) कल्चर में जीवाणुओं की पहचान पर आधारित होता है। पुरुषों में स्वतंत्र बहते स्राव का नहीं, बल्कि गदलोचनी द्रव्यों का सूक्ष्मदर्शक से परीक्षण होता है: मूत्रमार्ग से ली गयी खुरचन या प्रक्षालण से प्राप्त द्रव्य, जनन-ग्रंथियों के स्राव (जैसे पुरस्थ का स्राव, स्खलन) और ताजा मूत्र के अवक्षेप। स्त्रियों में योनिग्रैव कैनल, मूत्रमार्ग और योनि के पश्च द्वार के स्रावों का परीक्षण होता है। लड़कियों में योनि के गहरे भागों से प्राप्त द्रव्य का परीक्षण किया जाता है। नैसर्गिक (निलंबित या चूर बूंदों) तथा रंजित दोनों ही प्रकार के नमूनों का सूक्ष्मदर्शी से परीक्षण होता है। कल्चर कृत्रिम पोषक माध्यम में पनपाये जाते हैं। लेकिन परीक्षण की कोई भी रीति निमित्त कारणों (जीवाणुओं) की पहचान की गारंटी नहीं देती, इसीलिये परीक्षण कई बार दुहराया जाता है और जब भी संभव होता है, सूक्ष्मदर्शन के साथ-साथ कल्चर का भी उपयोग किया जाता है।

चिकित्सा तीव्र एवं अक्लिष्ट केस में मुखमार्ग से एक विशेष एंटीत्रीखोमोनिक दवा मेत्रोनीदाजोल (त्रीखोपोल, फ्लाजिल या फ्लागिल) अथवा इसके व्युत्पाद दिये जाते हैं: 0.5 ग्राम (दो टिकियां) दिन में दो बार 7 से 10 दिन तक। क्लिष्ट एवं चिरकालिक केस में उपायों का पूरा संकुल प्रयुक्त होता है (अविशिष्ट इमूनोथेरापी और स्थानीय युक्तियां)। तीव्र गनोरिक-त्रीखोमोनिक पैटन में एंटीगनोरिक और एंटीत्रीखोमोनिक प्रसाधन एक साथ दिये जाते हैं। चिरकालिक एवं प्ररक्षित रूपों में पहले मेत्रोनीदाजोल (त्रीखोपोल) दवा के साथ इमूनोथेरापी (ज्वरकारी साधन, लैक्टोथेरापी) का उपयोग होता है, फिर एंटीगनोरिक प्रतिजीवक प्रलिखित किये जाते हैं।

जबतक रोगी बिल्कुल ठीक नहीं हो जाता और निमित्त कारण स्थायी तौर पर नष्ट नहीं हो जाते, रोगी को संभोग की मनाही होती है। इन रोगियों को आरोग्यशाला की निगरानी में रखा जाता है और इनके साथ यौन संपर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों का परीक्षण और उपचार किया

जाता है (गनोरिया की तरह ही निरोधक कदम)। चिकित्सा की पुष्टि के लिये परीक्षण चिकित्सा समाप्त होने के सात से दस दिन बाद खाद्य तथा यांत्रिक उकसावन के साथ शुरू किया जाता है (लेप और कल्चरों का परीक्षण, ऊरोलोचनी और यूनलोचनी परीक्षण) ; इन परीक्षणों को पुरुषों में दो महीना बाद और स्त्रियों में तीन रजोचक्र के बाद दुहराया जाता है। लड़कियों का परीक्षण तीन महीने तक हर महीने किया जाता है। लेपों में त्रीखोमोनाद की अनुपस्थिति और जननमूत्र-अंगों में शोथी परिवर्तनों की अनुपस्थिति के बाद रोगी का नाम रजिस्टर से काट दिया जाता है।

पूरुषों में अगनोरिक (अविशिष्ट) मूत्रनलीशोथ

पुरुष के ऊरेथ्रा (मूत्रमार्ग या मूत्रनली) में जब शोथ का कारण न तो गोनोकोक होते हैं, न त्री-त्रीखोमोनाद ही, तो ऐसी अवस्था को अ-गोनोकोकी ऊरेथ्राशोथ (मूत्रमार्गशोथ या मूत्रनलीशोथ) कहते हैं। इसके अपैठी प्रकृति के अनेक कारण हो सकते हैं (ऊरेथ्रिक श्लेष्मला की यांत्रिक या रसायनिक क्षति, परोर्जन, नौवर्ध आदि)। लेकिन अधिकांशतः ऐसे शोथ यौन संबंध के समय ऊरेथ्रा में जीवाणु के प्रवेश से होते हैं (रतिज मूल के ऊरेथ्राशोथ) या ऊरोजनित अवरोही पैठनं, के कारण होते हैं, जिनके निमित्त कारण (जीवाणु) रक्तमार्ग या लसमार्ग से पैठित पुरस्थ ग्रंथि से आते हैं (अरतिज ऊरेथ्राशोथ)।

अब इसमें कोई संदेह नहीं रहा है कि अगनोरिक ऊरेथ्राशोथ के अधिकांश केस रतिज मूल के ही होते हैं। ऐसे रोगों में ख्लामीडिआस मशहूर है, अगोनोकोकी ऊरेथ्राशोथ के 30 से 40 प्रतिशत केस इसी के होते हैं। हेमोफिलिक कोरीनेबाक्तेरी, II सेरोटाइस-विसर्पी सरल वीरुस और कांदीदा वंश के कवकों से उत्पन्न ऊरेथ्राशोथ अपेक्षाकृत बहुत कम प्रायिक हैं। यह भी अंदाज किया जाता है कि मीकोप्लाज्मा के चंद नियत रूप भी कुछ प्रकार के ऊरेथ्राशोथ उत्पन्न करते हैं।

सभी प्रकर के अगोनोकोकी ऊरेथ्राशोथ की विशेषताएं हैं: अधिकांशतः सुषुप्त प्रवाह, बहुत कम लक्षण, प्ररक्षित प्रवाह ग्रहण करने की प्रवृत्ति। तीव्र गनोरिक ऊरेथ्राशोथ के तल्पिक चित्र से मिलते-जुलते तीव्र प्रकृति के केस भी पाये जाते हैं। अगोनोकोकी ऊरेथ्राशोथ से अक्सर क्लिष्टताएं भी उत्पन्न होती हैं: पुरस्थशोथ, वीर्याशयशोथ, अध्यंडशोथ ; ये क्लिष्टताएं गनोरिक मूल की तदनुरूप क्लिष्टताओं की तुलना में अपेक्षाकृत हल्का प्रवाह रखती हैं। अगनोरिक ऊरेथ्राशोथ का निदान तब किया जाता है, जब गोनोकोकों और त्रीखोमोनादों के अनुवेदन के लिये बार-बार दुहराये गये बाक्तेरीस्कोपी और बाक्तेरिक परीक्षणों से स्थायी ऋणात्मक परिणाम मिलते हैं और यौन संगियों में गनोरिया अथवा त्रीखोमोनता अनुपस्थित होती है। अगनोरिक मूत्रमार्गशोथ (कांदिदी मूल वाले केसों को छोड़ कर) तेत्रासिक्लीन से ठीक हो जाते हैं (7 से 10 दिन तक नित्य 1.5 ग्राम दिया जाता है)। कुटाली, प्ररक्षित तथा क्लिष्ट केसों की चिकित्सा अविशिष्ट इमूनोथेरापी और स्थानीय उपचार से स्थलाकृतिक निदान के अनुसार की जाती है।

ख्लामीडिक ऊरेथ्राशोथ पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि प्रायिकता अधिक है, प्रवाह तीव्र एवं क्लिष्ट होता है। ख्लामीडिआस एक प्रकार के जीवाणु है, जिन्हें रिकेट्सिया और वीरुस के बीच का स्थान प्राप्त है। इनमें त्राखोमा, वेनेरियल लसकणार्ब (लिंफोग्रानुलोमा) तथा आदमी व जंतुओं के कुछ अन्य रोगों के निमित्त कारण शामिल हैं। आदमी के जननमूत्र-अंग ख्लामीडिआ ओकुलोजेनीटालिस से आक्रांत होते हैं, जो त्राखोमा के जीवाणुओं से मिलते-जुलते होते हैं। इन जीवाणुओं के रूपलोचन और जीवलोचन का वर्णन सूक्ष्मजीवलोचन की पाठ्यपुस्तकों में मिल सकता है। संभोग

के दौरान जननमूत्र-अंग में प्रविष्ट हो कर ख्लामीडिआस मूत्रमार्ग, ऋजु आँत, योनि तथा गर्भाशय की ग्रीवा की उपकलीय कोशिकाओं में (आँख के संदुषित होने पर युतिका में) बहुगुणित (प्रजनित) होते हैं और शोथी प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। पुरुषों में दो या तीन सप्ताह लंबे अंतर्शयन-काल के बाद विकसित होने वाला मूत्रमार्गशोथ अक्सर अवतीव्र या सुषुप्त होता है। स्त्रियों में ख्लामीडिक पैठन की कोई तल्पिक अभिव्यक्तियां अवलोकित नहीं होतीं; सिर्फ विरल केसों में अंतर्ग्रैवशोथ (योनि में) विकसित होता है। ख्लामीडीआस तेत्रासिक्लीन, एरीथ्रोमीसिन तथा चंद जल में घुलनशील सुल्फानीलामीदों से दमित हो जाते हैं; पर पेनीसिलिन या इसके व्युत्पादों से अप्रभावित रहते हैं। यह माना जाता है कि ख्लामीडिआस मिश्र पैठन के केसों में पेनीसिलिन से चिकित्सा के बाद मूत्राकोपरांत ऊरेथ्रिक शोथ और साथ ही संधियों की क्लिष्टताएं उत्पन्न करते हैं।

ख्लामीडिक ऊरेथ्राशोथ के 2 से 4 प्रतिशत रोगियों में जननमूत्र-अंगों की एक सामान्य क्लिष्टता ऊरेथ्रो-ओकुलोसीनोविआलिस सिंद्रोम (रेइटेर का सिंद्रोम) है। इस सिंद्रोम का गदजनन बहुत जटिल है, जिसमें आनुवंशिक प्रदणता और शरीर की क्षीण रोग-प्रतिरोधिता महत्त्वपूर्ण है। रेइटेर-सिंद्रोम के अनेक केसों में ख्लामीडिआस ऊरेथ्रा की खुरचनों, आक्रांत संधियों के स्नेहक द्रव तथा चर्म-क्षतियों में पाये हैं। इस सिंद्रोम में एक साथ या एक के बाद एक जननमूत्र-अंग, संधियां और आँखें आक्रांत होती हैं (तदनुरूप रोग हैं: ऊरेथ्राशोथ, पुरस्थशोथ... बहु-तथा अल्पसंधिशोथ... युतिकाशोथ, परितारिकाशोथ, कुंभिलावरणशोथ...)। श्लेष्मास्रावी चर्मशृंगनता, वृत्ताकार पूगशोथ जैसे चर्मस्फोट हो सकते हैं। कभी-कभी मुख-श्लेष्मला भी ग्रस्त हो जाती है। रेइटेर का सिंद्रोम कभी-कभी बहुत ही सुषुप्त एवं कुटाली प्रवाह ग्रहण कर लेता है, जिसपर किसी भी दवा का असर नहीं होता। कुछ केसों में एक अल्पकालीन आक्रमण के बाद खुद ब खुद पूर्णतया ठीक भी हो जाता है।

लिंग-चर्म के रोग

लिंग, लिंगपूग और लिंगछद की भीतरी सतह का चर्म विभिन्न चार्म रोगों का स्थल है, जैसे लाल चौरस शैवाक, खर्जूक्लेश, विसर्प, रिसालु ललामी, दिनाई, औषधज चर्मशोथ, आदि। क्षतियां अन्य चर्म-क्षेत्रों पर भी स्फोट के साथ या उनके बिना भी उत्पन्न हो सकती हैं। लिंग पर रतिज रोग से संबंधित क्षतियां विशेष प्रायिक हैं। लेकिन लिंगपूग और लिंगछद पर अक्सर ऐसी क्षतियां भी उत्पन्न होती हैं, जो अन्य चार्म अथवा रतिज रोगों से संबंधित नहीं होतीं।

लिंगपूगशोथ के साथ-साथ अक्सर लिंगछद की आंतरिक सतह का शोथ लिंगछदशोथ भी होता है। साफ-सुथरा नहीं रहने वाले पुरुषों में लिंगछद के नीचे ढेर सारा स्मेग्मा (वहां पर वसाग्रंथियों का स्राव) जमा हो जाता है, विशेषकर यदि छद लंबा और संकरा (बंद प्रकार का) होता है। छद के नीचे रिस कर आने वाला मूत्र स्मेग्मा को अपघटित कर देता है, जिससे मूत्र में उपस्थित बाक्तेरी सक्रिय हो जाते हैं। शोथ का विकास होता है, जिससे खुजली व जलन होती है, पूग और छद का चर्म लाल एवं शोफित हो जाता है। मसृणित चर्म की सतह पर पूयिक स्राव वाले अपरदन बनते हैं। यदि साथ-साथ फूजोस्पीरीलरी सहजीविता विकसित होती है, तो सतही व्रणन शुरू हो जाता है। छद-चर्म की सूजन बढ़ने पर शोथी छीकनक्लेश विकसित हो जाता है। लिंगछद को पीछे खिसकाना शुरू-शुरू कठिन और बाद में असंभव हो जाता है। लिंगछद के नीचे से विपुल मात्रा में पूय-स्राव होता है। लिंग में लसकुंभीशोथ और जंघामूल में लसग्रंथिशोथ अक्सर छीकनक्लेश के साथ होने लगता है। आदमी में रक्त के परिसंचरण से संबंधित गड़बड़ियों और उसकी रोग-प्रतिरोधिता में

ह्रास होने पर (चिरकालिक अल्कोहलिज्म, मधुमेह आदि के कारण) विरल केसों में विगलनकारी पूयशोथ और कभी-कभी छद का बिजली जैसा द्रुत विगलन शुरू होता है, जो लिंग और अंडकोष के चर्म पर फैलने लगता है। ऐसे केसों में प्रबल सार्वदैहिक गड़बड़ियां और ज्वरावस्था उत्पन्न होती है।

छीकनक्लेश विकसित होने से पूर्व ही पूयशोथ का कारण सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि द्वितीयक छदपूयशोथ निम्न रोगों में विकसित होता है: सूजाक, त्रीखोमोनता, सीफिलिस, रेइटेर का सिंड्रोम, नुकीला कंडार्व आदि। छीकनक्लेश विकसित हो जाने पर विभेदक निदान कठिन हो जाता है, क्योंकि सीफिलिक कठग्रंथिशोथ जंघामूल के सामान्य लसग्रंथिशोथ से बाह्य लक्षणों के आधार पर विभेदित नहीं किया जा सकता। इसी तरह विशिष्ट लसग्रंथिशोथ को अविशिष्ट लसग्रंथिशोथ से और लिंगछद के भीतर परिस्पर्शित होने वाला स्थानीय शोथी मोटापन प्राथमिक सीफिलार्व से विभेदित नहीं हो पाता। इसीलिये छदपूयशोथ का सही कारण जानने के लिये पहले छीकनक्लेश को दूर करने की सलाह दी जाती है। ऐसे केसों में रतिज पैठनों को दबाने (दमित करने) वाली दवाएं नहीं देनी चाहिये। लिंगछद के भीतरी भाग को पूय और स्मेग्मा से मुक्त करना चाहिये; इसके लिये निम्न द्रव्यों के उष्ण घोलों की धार से प्रक्षालण करते हैं: पोटाशियम परमैंगनेट (1:6000), सिल्वर नाइट्रेट (1:1000) परहाइड्रोल (एक गिलास पानी में एक बड़ा चम्मच), 3 प्रतिशतीय बोरिक अम्ल या 1 प्रतिशतीय रेसोर्सीनोल। प्रक्षालण के बाद डेर्माटोल (बिस्मथ) सबगैलेट या क्सेरो फोम के पाउडर के साथ गजी की पट्टियां छद के भीतर दिन में दो बार प्रविष्ट करानी चाहिये यदि छीकनक्लेश का अपचोषण विलंबित होता है और सूजन बढ़ता है, तो छद में आपरेशन से चीरा लगाना पड़ता है या उसे अलग करना पड़ता है।

हल्की रक्तस्फीति, चर्म के मसृणन और श्वेताभ पनीर जैसे स्राव के संचय से युक्त चिरकालिक छदपूयशोथ कांदीदक्लेश के फलस्वरूप भी हो सकता है, जो रतिज या अरतिज दोनों ही मार्गों से हो सकता है।

सोवियत संघ में चार्म-रतिजलोचनी जनसेवा का संगठन

सोवियत संघ में रतिज एवं चार्म रोगों पर नियंत्रण का संगठन निम्न सिद्धांतों पर आधारित है: सभी युक्तियों का पूरे देश के पैमाने पर उपयोग; आयुरी सेवा की निरोधात्मक प्रकृति; सबों के लिये निःशुल्क सक्षम आयुरी सहायता; सिद्धांत और व्यवहार का एकत्व, सोवियत जनता और श्रमिकों द्वारा निरोधक कार्यों में सक्रिय सहयोग। पूरे राज्य के स्तर पर रतिज एवं चार्म रोगों के लिये निरोधात्मक युक्तियों को लागू करना सार्वजनिक स्वास्थ्य विभागों का मुख्य लक्ष्य है।

इस काम के निरीक्षण के लिये मंत्रणालयों की थेरापिक-निरोधक समितियों के अधीन विशेष विभाग विशेषज्ञ तथा निरीक्षक नियुक्त किये गये हैं। रतिज रोगों पर नियंत्रण के लिये राज्य की ओर से विशेष अधिनियम लागू किये गये हैं। कोई भी आदमी यदि जानता है कि उसे रतिज रोग है, फिर भी वह इस रोग को फैलाता है, या चिकित्सा नहीं करा कर अन्य लोगों के लिये खतरा उत्पन्न करता है, तो उसे दंड-संहिता के अनुसार सजा का भागी होना पड़ता है। तदनुरूप अनुच्छेद हर संघीय गणतंत्र की दंड-संहिता में है।

रूसी संघ के सार्वजनिक स्वास्थ्य जन-कमीसारियात के अधीन राजकीय रतिजलोचनी संस्थान 17 दिसंबर 1931 को स्थापित किया गया था। इसका लक्ष्य था चार्म एवं रतिज रोगों पर नियंत्रण

मे संबंधित समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना और इस क्षेत्र के लिये कुशल आयुर-कर्मियों को प्रशिक्षित करना। सन् 1921 ई. में इसका नया नाम रखा गया: सार्वजनिक स्वास्थ्य मंत्रालय, सोवियत संघ, के अधीनस्थ केंद्रिय चार्म-रतिजलोचनी अनुसंधान संस्थान। इस तरह के संस्थान कई संघीय गणतंत्रों में भी स्थापित किये गये। पूरे सोवियत संघ में विशेष चार्म-रतिजलोचनी आरोग्य-शालाओं का जाल बिछाया गया, जो लोगों को आयुरी एवं निरोधक सहायता पहुँचा सकें। इस तरह की आरोग्यशालाओं का संगठन 1921 में ही शुरू हो गया था और पहली आरोग्यशाला मास्को में खुली थी। चार्म-रतिजलोचनी प्रतिष्ठानों के थेरापिक एवं निरोधक काय निम्न सिद्धांतों पर आधारित हैं।

(1) रतिज रोगों मे पीड़ित सभी व्यक्तियों का अनुवेदन और पंजीकरण।

(2) सीफिलिस तथा सूजाक के छुतहे रूपों से ग्रस्त सभी रोगियों को अस्पताल में रख कर चिकित्सा करना।

(3) उनलोगों का अनुवेदन और चिकित्सा, जो पैठन के स्रोत हैं। अनेक चार्म-रतिजलोचनी प्रतिष्ठानों का अनुभव है कि सीफिलिस के 70 से 80 प्रतिशत पैठनजनित केसों में और गनोरिया के कम में कम 65 प्रतिशत केसों में पैठन के स्रोत ज्ञात हो ही जाते हैं और उन्हें चिकित्सा के लिये भरती करे लिया जाता है।

(4) रोगी के परिवार के सदस्यों तथा अन्य संपर्कों का परीक्षण। एक परीक्षण काफी नहीं होता। परीक्षण और निगरानी कम से कम छे महीने तक रखनी चाहिये और गनोरिया के केस में तीन महीने तक।

(5) रतिज रोगों मे ग्रस्त व्यक्तियों की चिकित्सा की शुद्धता पर नियंत्रण। निदान स्थापित करने के बाद डाक्टर अपने रोगी को रोग की प्रकृति, दूसरों को पैठित करने के खतरे, आचरण में शुद्धता, सफाई एव हाइजीनिक नियमों का पालन करने की आवश्यकता और रोग पर नियंत्रण से संबंधित कानूनी स्थितियां अवश्य समझाये।

(6) चिकित्सा पूर्ण होने के बाद भी रोगी पर तल्पिक एवं सीरमलोचनी नियंत्रण। निगरानी की अवधि विशेष निर्देशों द्वारा निर्धारित होते हैं।

(7) सभी गर्भवती स्त्रियों का सीरमलोचनी परीक्षण। सोवियत संघ में 1939 से ही दो अनिवार्य परीक्षण किये जाते हैं—सगर्भता-काल के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में।

(8) सीरमलोचनी परीक्षण सामान्य कायिक तल्पालयों (सोमेटिक क्लिनिक्स) में भरती होने वाले रोगियों का भी अनिवार्य रूप से किया जाता है। आंतर अंगों के अव्यक्त सीफिलिस, नार्वसीफिलिस, सीफिलिस के परवर्ती जन्मजात एवं अन्य रूपों का शीघ्र से शीघ्र अनुवेदन आंतरविदों, थेरापकों, नर्वलोचकों, बालरोग-विशेषज्ञों, मनोचिकित्सकों और डाक्टरों के सहयोग से ही संभव है। जिन इलाकों में रतिज रोगों की प्रायिकता अधिक हो, वहां सिर्फ अस्पताल में आंतर रोगों तथा नार्विक रोगों के लिये भरती रोगियों का ही नहीं, वरन् अस्पताल के हर विभाग में सभी रोगियों के लिये वासेरमान-परीक्षण संपन्न कराया जाता है।

(9) रतिज रोगों के अनुवेदन के लिये अनिवार्य निरोधक आयुरी परीक्षण। वर्तमान निर्देशों के अनुसार विभिन्न प्रकार के पेशों की एक सूची है, जिसमें हर पेशे के लोगों के लिये तदनुरूप आयुरी निरोधक-परीक्षण इंगित किये गये हैं। चार्म-रतिजलोचनी रोगों के अनुवेदन के लिये निम्न पेशों के लोगों का नियमित परीक्षण अनिवार्य होता है: ट्रक-ड्राइवरों, रेलगाड़ी के डब्बों में कंडक्टरों, सार्वजनिक भोजनालयों में काम करने वालों और बाल-प्रतिष्ठानों के कायकर्त्ताओं का।

(10) जनसंख्या के बीच स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रसार (व्याख्यान, वार्ताएं, फिल्म आदि के माध्यम से)। सोवियत संघ में चार्म-रतिज रोगों की रोक-थाम के लिये सभी उपाय एक सामान्य योजना और एक केंद्रिय नेतृत्व के अधीन लागू किये जाते हैं। सोवियत संघ के सार्वजनिक स्वास्थ्य मंत्रणालय के अधीन थेरापिक-निरोधक सहायता समिति अन्य संघीय गणतंत्रों के कार्य-अनुभवों का विश्लेषण एवं व्यापकीकरण करती है; उनके कार्य का निरीक्षण एवं नेतृत्व गणतंत्रों के स्वास्थ्य मंत्रालयों द्वारा होता है। मंत्रालय की तरफ से ही उन्हें आवश्यक निधियां और विशेषज्ञ प्राप्त कराये जाते हैं। निरोधक कार्यों की कारगरता का विश्लेषण हर वर्ष होता है।

पिछले वर्षों में रोग-निरोध के संगठन के नये रूप अपनाये गये हैं: रोगियों के लिये आवासीय तल्पालय, जहां अन्य लोगों की पहुँच न हो, और बहुमारीलोचनी ग्रुप। इनकी सहायता से रोगी व्यक्ति के संपर्क में आ चुके अन्य लोगों के परीक्षण में पहले से आधा समय लगता है। जिस व्यक्ति में किसी भी छुतहे रतिज या चार्म रोग का पहली बार निदान होता है, डाक्टर उसके नाम से एक विशेष सूचना-कार्ड तैयार करता है। ऐसे कार्ड निम्न रोगों से ग्रस्त सभी रोगियों के नाम से बनाये जाते हैं: सीफिलिस (सभी और विशेषकर छुतहे रूप), सोमिता, लोमतृणत्व, सूक्ष्मस्पोरता, खाज, सूजाक। इस कार्ड की सूचनाओं का क्षेत्रीय, गणतंत्रीय आदि विभिन्न स्तरों पर विश्लेषण होता है (स्वास्थ्य-मंत्रालयों में)।

सोवियत संघ में किसी चार्म-रतिज रोग से पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा अस्पताल में भरती होने पर तो निःशुल्क की ही जाती है, सीफिलिस व तीव्र चिरकालिक चर्मक्लेशों (बुदबुदिया, सावदैहिक लसामिक वृक्का, चर्मकवकता आदि) के रोगियों को अस्पताल में भरती न करने पर भी उन्हें दवाएं निःशुल्क दी जाती हैं।

चार्म एवं रतिज रोगों से ग्रस्त लोगों को निदान एवं चिकित्सा में सहायता विशेष आरोग्यशालाओं, डाक्टरखानों, स्त्रीरोग-मंत्रणालयों, यूनलोचनी तल्पालयों, मनोनर्वलोचनी आरोग्यशालाओं आदि प्रतिष्ठानों से प्राप्त होती है।

सोवियत संघ में रतिज रोगियों की चिकित्सा सभी आयुर प्रतिष्ठानों में 1932 से ही एक मानक कार्यक्रम या समय-सारणी के अनुसार की जाती है, जो सोवियत-संघ के स्वास्थ्य मंत्रालय के निर्देशों पर आधारित है। इन कायक्रमों में चिकित्सा के मुख्य सिद्धांत और रीतियां, दैनिक एवं कुल खुराकों, दवाओं के सुसंकेत एवं प्रतिसंकेत प्रतिबिंबित हैं। उनमें चिकित्सा के बाद रोगी पर निगरानी की भी अवधियां शामिल हैं, पूर्ण रूप से स्वस्थ होने के निकष भी उनमें बताये गये हैं। इस मानक चिकित्सा-सारणी के कारण सभी रोगियों को उच्च कोटि की चिकित्सा मिलती है, क्योंकि निर्देशों में उन दवाओं को शामिल नहीं किया गया है, जो कम कारगर हैं या जिनका पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। लेकिन इस मानकीकरण का यह अर्थ नहीं है कि रोगी की चिकित्सा में व्यक्तिगत अभिगम (ऐप्रोच) की उपेक्षा की जाती है। रोगियों की चिकित्सा कई प्रकार से होती है; यह उनकी सामान्य शारीरिक अवस्था और दवाओं के प्रति सहनशीलता पर निर्भर करती है।

रतिज रोगों की चिकित्सासारणियां (कवक-रोगों की ही तरह) चार्म-रतिजलोचनी संस्थानों अस्पतालों व उच्च आयुर शिक्षा संस्थानों के तदनुरूप विभागों, तदनुरूप विशेष आयुर प्रतिष्ठानों द्वारा दीर्घकालीन अध्ययन एवं खोजकार्यों पर आधारित हैं। समय-समय पर इन चिकित्सा-क्रमों में नयी खोजों के अनुसार सुधार भी लाये जाते हैं। वर्तमान समय में सीफिलिस और सूजाक के रोगियों की चिकित्सा के लिये 1976 की चिकित्सा-सारणियां प्रयुक्त हो रही हैं। सोवियत संघ में सीफिलिस के छुतहे रूपों से ग्रस्त रोगियों को निदान के बाद 24 घंटों के अंदर अस्पताल में भरती कर दिया

जाता है, ताकि अन्य लोगों को छूत न लग सके। रोगी में जिस जगह (शहर या इलाके में) निदान होता है, उसे वहीं के अस्पताल में भरती कर दिया जाता है; इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह कहां रहता है।

अस्पताल में निम्न प्रकार के रोगियों को भी भरती किया जाता है: जो रोगी बीच-बीच में चिकित्सा कराना छोड़ देते है; जिनके लिये एंटीसीफिलिक चिकित्सा अपेक्षाकृत प्रतिसंकेतित है; गर्भवती स्त्री, जिसमे सीफिलिस या अन्य रतिज रोग का संदेह है, पर जिनमें रोग का निदान स्पष्ट नहीं हो सका है।

जो चार्म-रतिजलोचनी डाक्टर या विशेषज्ञ किसी रोगी में रतिज रोग का निदान करता है, उसका कर्त्तव्य है कि रोगी के सभी संपर्कों की छान-बीन एवं परीक्षण करे, छूत (पैठन) के स्रोत का पता लगाये।

सोवियत संघ में जन्मजात सीफिलिस की रोकथाम के लिये भी विस्तृत पैमाने पर कार्य निरंतर चलते रहते हैं, जिससे आरंभिक सक्रिय जन्मजात सीफिलिस की प्रायिकता व्यवहारतः शून्य हो गयी है। विभिन्न सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा संगठन बाल-प्रतिष्ठानों में चार्म एवं रतिज रोगों के निरोध पर विशेष ध्यान देते हैं। इन प्रतिष्ठानों में डाक्टर बच्चों के स्वास्थ्य पर निरंतर निगरानी रखते हैं। इनमें बच्चे को भरती करने से पूर्व बालरोग-विशेषज्ञों द्वारा उसकी सावधानीपूर्वक जाँच होती है। चार्म या रतिजरोग का थोड़ा भी संदेह होने पर उसे चार्म-रतिजलोचक की निगरानी में रखा जाता है। बाल-प्रतिष्ठानों में सभी बच्चों की नियमित रूप से जाँच अनिवार्य है।

ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों को चार्म-रतिजलोचनी सेवाएं तदनुरूप जिला प्रतिष्ठानों में अनावासी (आउट डोर) तौर पर उपलब्ध करायी जाती हैं। स्थानीय डाक्टर यदि ऐसे रोगों का संदेह किसी रोगी में करते हैं, तो उसे तदनुरूप जिला आयुर-केंद्रों में भेज देते हैं, ताकि पूर्ण परीक्षण और सही निदान हो सके।

गांव के डाक्टर भी अपने क्षेत्र के बाल-प्रतिष्ठानों के बच्चों तथा वहां के सभी सहकर्मियों की जाँच नियमित ढंग से करते रहते हैं कि उन्हें कोई छूत की बीमारी तो नहीं है। गर्भवती स्त्रियों में वासेरमान की प्रतिक्रिया का दो बार परीक्षण और लोगों के बीच आयुरी शिक्षा का प्रचार भी इन्हीं डाक्टरों की जिम्मेवारी है।

इस क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञों के ज्ञान और कुशलता में निरंतर वृद्धि के लिये 'चर्मलोचन और रतिजलोचन के समाचार' नामक पत्रिका (रूसी में), और बहुसंख्य पुस्तक-पुस्तिकाएं प्रकाशित की जाती हैं। इससे विशेषज्ञ एक-दूसरे के अनुभवों और सफलताओं से वाकिफ होते रहते हैं; नयी खोजों की सूचनायें प्राप्त करते रहते हैं। बड़े चार्म-रतिजलोचनी तल्पालयों में एक डाक्टर की विशेष रूप से नियुक्ति की जाती है, जिसका काम व्याख्यान, वार्ताएं आदि संगठित करना होता है।

चार्म एवं रतिज रोगों की चिकित्सा और निरोध में सोवियत संघ में विज्ञान की उपलब्धियों की विशेष भूमिका रही है।

सोवियत संघ में चार्मरतिजलोचनी खोज-कार्य 11 चार्म-रतिजलोजनी शोध-संस्थानों व 95 आयुर शिक्षा संस्थानों के तदनुरूप विभागों द्वारा होता है, जिनमें 952 वैज्ञानिक व अध्यापक कार्यरत हैं; इनमें 114 व्यक्ति डाक्टर की उपाधि (डी. एम.) से विभूषित हैं, 622 व्यक्ति 'आयुर विज्ञानों के प्रत्याशी' (पी-एच. डी.) हैं। वैज्ञानिक कार्यों में लगभग 1200 शोधार्थी और डाक्टर संलग्न हैं।

निरोधक उपायों के कारण सोवियत संघ में अब मृदुव्रण और जंघामूलीय लसकणार्बुदशोथ के केस दर्ज नहीं हो रहे हैं। सीफिलिस एकोनोमिका के केस भी व्यहारतः नहीं मिलते; सीफिलिस का यह

तीव्र रालार्बिक रूप बिल्कुल छुतहे एवं सक्रिय तृतीयक सीफिलिस, मोमिता और चर्म-यक्ष्मा बहुत विरल हो गये हैं।

विशेष आरोग्यशालाओं की सेवाओं के कारण रोगियों को कुशल चिकित्सा, चिकित्सा के दौरान और उसके बाद उनकी सार्वदैहिक अवस्था पर निगरानी तथा ठीक होने पर स्वास्थ्य के अनुकूल जीविका की गारंटी रहती है। हर रोगी की व्यक्तिगत शारीरिक विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा करने के कारण खर्जूक्लेश, दिनाइ नार्वचर्मशोथ तथा अन्य चिरकालिक चर्मक्लेशों की प्रायिकता में कमी आयी है। रोगियों की कार्य-क्षमता की हानि के दिनों की संख्या कम हुई है।

वृत्तिज (पेशे से उत्पन्न) चर्मक्लेशों, दिनाइ, नार्वचर्मशोथ, खर्जूक्लेश, ललामिक वृका, बुदबुदिया, आदि के रोगियों पर भी आरोग्यशाला की ओर से निगाह रखी जाती है।

चर्मरोग से ग्रस्त व्यक्तियों के लिये किसी काम के लिये आवेदन करते वक्त आयुरी परीक्षण के दौरान, स्वास्थ्य के लिये हानिकर कामों पर लगे लोगों को या चार्म-रतिजलोचनी तल्पालय में मंत्रणा एवं चिकित्सा के इच्छुक सभी व्यक्तियों को पूरी चिकित्सा प्रदान की जाती है।

आरोग्यशाला में चिकित्सा के लिये नाम दर्ज कराने वाले को नियत अवधियों पर परीक्षण तथा निरोधक चिकित्सा के लिये आमंत्रण भेज दिया जाता है (ललामिक वृका आदि के केसों में)। रोगी का हमेशा आयुर के संलग्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों (थेरापकों, प्रसूतकों, यूनलोचकों, कर्णनासाग्रसनीलोचकों आदि) द्वारा भी परीक्षण कराया जाता है। जब भी कोई आक्रांति या पैठन का केंद्र (दाँतों का संक्षरण, टोंसिलशोथ आदि) या यकृत, जठरांत्रमार्ग, भगेंद्रियों आदि के कोई रोग पाये जाते हैं, उनका तदनुरूप विशेषज्ञों द्वारा अनिवार्य रूप से उपचार किया जाता है। जब भी आवश्यक होता है, चार्म-रतिजलोचनी प्रतिष्ठानों की तरफ से रोगी के कार्य-स्थल पर उसे उसके स्वास्थ्य के अनुकूल काम देने की सिफारिश की जाती है; उसकी जीवन-परिस्थितियों में सुधार का प्रयत्न किया जाता है, प्राकृतिक निरोगालयों में चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है – जिस कारखाने में (उदाहरणतया) रोगी काम करता है, उसके खर्च से। ऐसे निरोगालयों की कारगरता बढ़ाने के लिये सोवियत संघ में सैनेटोरियमों का जाल बिछा हुआ है; बच्चों के लिये विशेष सैनेटोरियम अलग से बनाये गये हैं। रोगी को निरोगालय के स्थान की जलवायविक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही उसे वहां भेजा जाता है। जलवायविक घटकों का रोग पर किस प्रकार और कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन किया जाता है। इसमें तदनुरूप विशेषज्ञों के अतिरिक्त थेरापक और नर्वलोचक भी भाग लेते हैं।

सोवियत संघ में वृत्तिज चर्मरोगों के निरोध के लिये विस्तृत पैमाने पर उपाय किये जाते हैं। सोवियत आयुर अकादमी के तहत श्रम-हाइजीन और वृत्तिज रोग संस्थान एक वैज्ञानिक एवं रीतलोचनी (मेथडोलोजिकल) केंद्र है, जो वृतिज रोगों के नियंत्रण का निर्देशन करता है। चार्म-रतिजलोचकों का 'वैज्ञानिक समाज' भी निरोध-कार्य में सक्रिय सहयोग देता है: वह तदनुरूप डाक्टरों व विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करता है, युवा डाक्टरों को वैज्ञानिक कार्यों की ओर आकर्षित करता है।

परिशिष्ट

विरल चर्मक्लेश

पराखर्जूक्लेश (ब्रौक-रोग) एक चिरकालिक ललामिक-शल्की चर्मक्लेश है, जिसका प्रवाह कुटार्ल और प्रगामी होता है; हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात हैं। इसके निम्न रूप हैं: बूंदिक पराखर्जूक्लेश चित्तीदार शैवाकवत पराखर्जूक्लेश और तीव्र शीतलावत पराखर्जूक्लेश।

बूंदिक पराखर्जूक्लेश परोर्जिक चार्म वस्तिकाशोथ का एक रूप है। यह ललछौंह भूरे पिटकों के रूप में व्यक्त होता है, आकार बाजरे से मसूर तक का हो सकता है। पिटक की सतह चिकनी और शल्कों से ढकी होती है, जो सरलता से अलग हो सकती है; शल्क खुरचने पर सरलता से उधड़ सकते हैं (विलंबित शल्कन का लक्षण)। खुरचना जारी रखने पर पुरपूरा लक्षण विकसित होता है, अर्थात् पिटक पर तथा संलग्न स्वस्थ चर्म पर नन्हे रक्तस्राव बन जाते हैं। क्षतियों के लुप्त होने के बाद कुछ केसों में चर्मश्वितिक धब्बे रह जा सकते हैं। स्फोट चेहरे, हथेलियों और तलवों को छोड़ कर किसी भी चर्म-क्षेत्र पर विकसित हो सकते हैं। रोग में कभी-कभी हल्की खुजली होती है। स्त्रियों में इस रोग के प्रति अधिक प्रवणता होती है। खर्जूक्लेश के विपरीत, इसकी क्षतियां संगमित नहीं होतीं और कोई आकृति नहीं बनातीं।

शैवाकवत पराखर्जूक्लेश में अक्सर हाथों पर मसूर के आकार के शल्कनरत पिटक बनते हैं। पिटक ग्रुपों में होते हैं, जो पाशों या जाल की आकृति बनाते हैं। बाद में दूरकुंभीविस्फारण, वर्णकता और अपोषण विकसित होता है। पिटक शुरू में गुलाबी या भूराभ होते हैं, लेकिन अवगमन (ह्रास) के साथ-साथ वे क्रिम्सन आभा ग्रहण कर लेते हैं। यह रोग वयस्क स्त्री-पुरुषों और कभी-कभी बच्चों को भी होता है। पराखर्जूक्लेश का यह रूप अधिक प्रायिक है और यह शीघ्र ठीक नहीं होता। इस रोग के तीव्र एवं अवतीव्र रूप वर्णित किये गये हैं।

चित्तीदार या चकत्तेदार पराखर्जूक्लेश में गोल या अंडाकार ललछौंह भूरे या पीताभ भूरे तथा हल्के शल्कनरत धब्बे उत्पन्न होते हैं (औसतन 3×5 सेंटीमीटर आकार के)। ये अलग-अलग परिसीमित होते हैं। अंतर्स्यंदन या तो बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं। ये धब्बे हाथ-पैर पर स्थित होते हैं। आत्मगत अनुभूतियां नहीं होतीं।

धब्बें की संख्या कुछेक से अनेक हो सकती है। वे लंबे समय तक अपरिवर्तित रह सकते हैं, संगम कर के अजीबोगरीब आकृतियां बना सकते हैं। खुरचने पर शल्कन हल्के से अधिक हो जाता है, चुभाने पर बिंदुक रक्तस्राव की संवृत्ति दिखती है। रोग अधिकांशतः पुरुषों को होता है। ऊतलोचनी परीक्षण में कंटलयक्लेश और अधिचर्म में हल्की अंतर्कोशिकीय सूजन पायी जाती है (बूंदिक पराखर्जूक्लेश में स्पष्ट पराशृंगनता पायी जाती है)।

पराखर्जूक्लेश के शैवाकवत एवं चित्तीदार रूप हेमोडेर्मिया में परिणत हो जा सकते हैं, जो ऊतलोचनी परीक्षण से ज्ञात होता है।

तीव्र शीतलावत पराखर्जूक्लेश (हाबेरमान-मूखा का रोग) परोर्जिक चार्म वस्तिकाशोथ है (पाव्लोव, शापोश्निकोव), जो किशोरावस्था में विकसित होता है। इसमें धब्बे तेजी से फैलते हैं; गुलाबी-भूरे पिटक और चेचक के दानों जैसी गहरी पीपिकाएं होती हैं। पिटकों में रक्तस्रावी एवं विमृतिक घटक भी हो सकता है। अपचोषण के बाद वे पतले वर्णकित अपोषित अधिकेंद्र छोड़ जाते हैं। रोग कुछ सप्ताह से कई महीनों तक लंबा हो सकता है। ऊतलोचनी परीक्षण से लसकोशिकीय अंतर्स्यंदन के साथ धमनिकाओं एवं शिरिकाओं की दीवारों की आक्रांति, अंतर्कलीय कोशिकाओं का अतिगठन और अवजनन (परोर्जिक कुंभीशोथ) पाया जाता है।

पराखर्जूक्लेश की अभिव्यक्तियां कई चर्मक्लेशों से मिलती-जुलती होती हैं, इसलिये इनका विभेदक निदान कठिन होता है। बूंदिक पराखर्जूक्लेश की क्षतियां पिटकीय-गुलाबिकीय सीफिलिदों जैसी लगती हैं, जबकि शैवाकवत पराखर्जूक्लेश के स्फोट लाल चौरस शैवाक तथा पोइकिलोडेर्मा जैसे होते हैं। चकत्तेदार पराखर्जूक्लेश को जिबेर्ट के रोग, वपास्रावी दिनाइ और खुमीवत कवकता से विभेदित

करना पड़ता है। तीव्र शीतलावत पराखर्जूक्लेश को चिकेन-पौक्स के रक्तस्रावी एवं विगलनकारी रूप से विभेदित करना पड़ता है।

चिकित्सा. विटामिन (ए, बी-एक, बी-दो, बी-बारह, सी, ई) तथा निकोटीनिक अम्ल प्रलिखित किये जाते हैं। विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवक एवं कोर्टिकोस्टेरोइड (2.0-2.5 मिलिग्राम डेक्सामेथाजोन, 10-12 मलिग्राम प्रति अहर्निश त्रिआमसिक्लोन) सुसंकेतित हैं। तीव्र शीतलावत पराखर्जूक्लेश में कोर्टिकोस्टेरोइडों तथा विशेषकर एंटीमलेरिक दवाओं, रूटिन तथा अवसंवेदक प्रसाधनों से लाभ होता है। उदासीन मलहमों और स्टेरोइड-क्रीमों का बाह्य चिकित्सा में उपयोग होता है। पराबैंगनी किरणों से चिकित्सा सुसंकेतित है।

वर्णकीय पित्ती या थूलकोशिकीय जालिकाक्लेश एक सुदम जालिकाक्लेश है। इसमें मसूर के आकार के गाढ़े भूरे धब्बे धड़ व शिरोवल्क पर उत्पन्न होते हैं। उन्हा का लक्षण विशेष रूप से दिखता है: तौलिये से रगड़ने पर धब्बों की सूजन नजर आती है। इस लक्षण के आधार पर ही स्फोट को खर्जूक्लेश तथा सीफिलिस के पिटकों से और इन पिटकों के अपचोषण के बाद बचे वर्णकित धब्बों से विभेदित किया जा सकता है। इस रोग का एक बहुत ही विरल दुर्दम रूप अस्थियों, यकृत, प्लीहा तथा लसपर्वों को आक्रांत करता है (रोगी की 60 प्रतिशत थूलकोशिकाएं रक्त में आ जाती हैं); ऐसे केस घातक होते हैं। ऊतलोचनी परीक्षण से आधारीय अधिचार्म परत में थूलकोशिकाओं के गुच्छे मिलते हैं।

चिकित्सा की दृष्टि से भविष्यवाणी अधिकांश केसों में शायद ही अनुकूल होता है। एंटीहिस्टामिनिक (टावेगिल, पेरीटोल), राउनाटिन तथा कोर्टिकोस्टेरोइडों का चिकित्सा में उपयोग होता है, पर कोई खास लाभ नहीं होता।

पोर्फीरिन रोग का हेतुलोचन स्पष्ट नहीं है। इसके गदजनन में अल्कोहल के दुरूपयोग तथा पेट्रोल के प्रति अनावृति की भूमिका बतायी जाती है। द्रव्य-विनिमय की गड़बड़ियां, पैठी रोग, विटामिनों की कमी और आर्सेनिक, सीसा, आस्पीरिन तथा अन्य दवाओं का गरलकारी प्रभाव भी गदजनक घटक माना जाता है। मलमूत्र में पोर्फीरिन की वर्धित मात्रा इस रोग का मुख्य लक्षण है। उदाहरणार्थ, रोग के उत्कर्ष-काल में, मूत्र में पोर्फीरिन की दैनिक मात्रा 800 मिक्रोग्राम या इससे भी अधिक हो जाती है (जबकि सामान्यतः इसे करीब 100 मिक्रोग्राम होना चाहिये); दुसरी ओर, रक्त में अ-हेमोग्लोबिनिक लौह का स्तर 200 मिलिग्राम प्रति 100 मिलिलीटर हो जाता है (जबकि सामान्यतः उसे 100 मिलिग्राम प्रति 100 मिलिलीटर होना चाहिये)। पोर्फीरिन शरीर में हेमोग्लोबूलिन के अपघटन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है; यह चर्म तथा अस्थियों में जमा होता है, फिर मल-मूत्र के साथ विसर्जित होता है। चर्म में पोर्फीरिन की अधिकता के कारण धूप (पराबैंगनी किरणों) के प्रति चर्म में अतिसंवेदिता विकसित हो जाती है।

पोर्फीरिन के अनेक रूपों में एक वयस्को का चार्म बुल्लेदार रूप चर्मलोचक के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें शरीर के खुले अंगों (हथेली के पीछे, चेहरे, कानों, गरदन और कभी-कभी वक्ष) पर क्षतियां उत्पन्न होती है। वस्तिकाएं और बुल्ले ललामिक चर्म पर बनती हैं। प्रक्रिया अक्सर बसंत एवं ग्रीष्म में शुरू होती है, क्योंकि जैसा बताया गया है, इन रोगियों का चर्म धूप के प्रति अतिसंवेदी होते हैं। बुल्लों के फटने पर क्रमशः अपरदन, खठ्ठियां और शल्क बनते हैं। प्रक्रिया का अंत क्षतांकी अपोषण से होता है। वस्तिकाओं और बुल्लों की उत्पत्ति रह-रह कर होती है, इसलिये ग्रस्त चर्म बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करता है (क्षतियों की उम्र में भिन्नता के कारण)। चर्म में चोटज क्षतियों (खुरचन, खरोंच, कट-फट) से ऐसे स्फोट विशेष प्रेरित होते हैं। अक्सर श्वेत मुंहासों से मिलते-

जलन अंतर्चर्म अधिचर्म मिस्ट पाये जाते हैं। चर्म पर (विशेषकर चेहरे पर) हल्की किरमिजी आभा आ जाती है मानो चिरकालिक पियक्कड़ हो। रोगी आक्रांति-स्थल पर हल्की खुजली और जलन से परेशान होते हैं। अक्सर रोगी का ध्यान खुद ब खुद मूत्र के लाल (बियर जैसे) रंग पर चला जाता है, जो निदान के लिये महत्त्वपूर्ण होता है। कई रोगियों में यकृत की क्रियात्मक गड़बड़ियां पायी जाती हैं। कुछ केसों में यकृत की अल्कोहलिक पीतार्ति विकसित हो जाती है। बुल्ले विगत स्फोटों के स्थल पर उत्पन्न हो सकते हैं और क्षतांकी अपोषण के क्षेत्रों पर भी, जिससे चर्मक्लेश का तल्पिक चित्र अधिक बहुरंगी हो जाता है।

विशिष्ट (टिपिकल) केसों में निदान सरलतापूर्वक हो जाता है। खुले चर्म-क्षेत्रों की आक्रांति, क्षतांकी अपोषण और क्षतांकों का बनना, मूत्र में पोर्फीरिन की वृद्धि—इन लक्षणों के आधार पर इसे ड्यूरिंग के रोग से विभेदित किया जा सकता है।

चिकित्सा. कार्बोलिन (सक्रियकृत कार्बन), बीटा-कारोटेन, आस्कोरूटिन, फोलिक अम्ल 0.05-0.03 ग्राम की खुराकों में नित्य तीन बार (कई महिनों के लिये), रेसोर्सीनोल का घोल (दो प्रतिशत सांद्र) एक बड़े चम्मच में नित्य दो या तीन बार (तीन से चार सप्ताह तक के लिये), कोर्टिकोस्टेरोइड (मध्यम खुराकों में), विटामिन बी-बारह की सूइयां, निकोटिनिक अम्ल 0.05 ग्राम की खुराकों में नित्य तीन बार और 0.5 ग्राम पानक्रेआटिन नित्य तीन बार प्रलिखित किये जाते हैं। बाह्य चिकित्सा के रूप में निम्न दवाओं का उपयोग होता है: लोशन (1 प्रतिशत सांद्र रेसोर्सीनोल-घोल आदि), फिर मलहम और क्रीम। विटामिनों से प्रचुर आहार प्रलिखित किया जाता है। अल्कोहल निषिद्ध किया जाता है; शरीर के खुले अंगों को धूप से बचाने की सलाह दी जाती है (विभिन्न क्रीमों की सहायता से)।

भविष्यवाणी' रोग एक चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है, बसंत और ग्रीष्म में उग्र होता है। जठरांत्र-रक्तस्राव, उच्च ज्वर, पीड़ा तथा नार्व-मानसिक गड़बड़ियों के केस में भविष्यवाणी बदतर हो जाती है।

डारियेर का रोग (मशिकीय पनपू अपश्रृंगनता) स्वकायिक-प्रबल (औटोसोम-डोमिनेंट) द्वारा विरासतित होता है। पुरुषों में रोग अधिक प्रायिक है। यह बचपन में शुरू होता है, पर तीस वर्ष से अधिक उम्र में भी शुरू हो सकता है। इसके अनेक रोगी बौद्धिक रूप से अल्पविकसित होते हैं, कुछ को मनार्ति होती है। रोग अशोथी प्रकृति की मसूरी पीपिकाओं द्वारा लंछित होता है। वे भूराभ खट्टियों से ढकी होती हैं, जो संगम कर के मसानुमा चकते बना सकती हैं। क्षतियां अक्सर वक्ष पर, पँखुड़ों के बीच, नासा-ओष्ठ शिकनों पर तथा अन्य क्षेत्रों पर सममित रूप से उत्पन्न होती हैं। अलग-थलग पिटकीय क्षतियां मुख एवं जननेंद्रियों की श्लेष्मल झिल्लियों पर भी पायी जाती हैं; कुछ केसों में मसूरी पिटक मशिकाहीन स्थलों पर भी बन जाते हैं (जैसे हथेलियों और तलवों पर)। इसीलिये 'मशिकीय अपश्रृंगनता' नाम बहुत उपयुक्त नहीं है। शिरोवल्क पर पिटक तैलीय खुरंडों से ढके होते हैं और बाल विरल हो जा सकते हैं। नख अक्सर मोटे, विकृत और भंगुर हो जाते हैं; उन पर अनुतीर खांचे पड़ जाते हैं।

डारियेर-रोग का ऊतगदलोचनी चित्र बहुत विशिष्ट होता है: 'गोल काय', 'कण' तथा लैकुने श्रृंगी, कणमय तथा कंटकोशिकीय परतों में पाये जाते हैं, कंटलयक्लेश प्रेक्षित होता है। अतिश्रृंगनता और पिटिकार्बक्लेश भी मिलते हैं। गोल काय अक्सर मालपीगी तथा कणमय परतों में कोशिकाओं की अकाल परिपक्वता और श्रृंगी परत में पहुँचने से पूर्व ही उसके आंशिक श्रृंगीकरण के फलस्वरूप बनते हैं। वे सामान्य कंटकोशिकाओं से बहुत बड़े होते हैं, और उनमें वृहत समज गोल

नाभिक (जो बाजोफिलिक रंजक ग्रहण करते हैं) और समज (काँचरकृत) प्रोटोप्लाज्म (जो एओजिनोफिलिक रंजक ग्रहण करते हैं) पाये जाते हैं; प्रोटोप्लाज्म एक झिल्ली द्वारा स्पष्ट रूप मे परिसीमित होते हैं। कण शृंगी परत में स्थित होते हैं और पराशृंगी कोशिकाओं से मिलते-जुलते होते हैं, लेकिन उनके नाभिक अधिक स्पष्ट एवं लमड़े हुए होते हैं। कण गोल कायों से कई गुना छोटे होते हैं। लैकुने नन्ही, झिरी जैसी अंतरधिचार्म वस्तिकाएं हैं, जो अक्सर आधारीय परत में पायी जाती हैं। उनमें परित्यक्त कंटलयिक अधिचार्म कोशिकाएं होती हैं, जो अंतराकोशिकीय सेतुओं, गोल कोशिकाओं तथा कणों से विहीन होती हैं। अंतर्स्यदी कोशिकाओं (लसकोशिकाओं, रेशांकुरों तथा अलग-थलग बहुनाभिकीय श्वेतकोशिकाओं) की सूजन (शोफ) और उनके गुच्छे मुख्यतः सुचार्म में कुंभियों के गिर्द देखे जाते हैं।

निदान विशिष्ट तल्पिक चित्र एवं ऊतलोचनी परीक्षण के विशिष्ट परिणामों पर आधारित होता है। पुटकों में रिसावयुक्त पिटिकार्बिक प्रवर्धों के होने पर रोग को पनपू बुदबुदिया से विभेदित करना पड़ता है। डारियेर-रोग के प्रारंभिक रूप अतिशृंगित, तिलों और कीलकों से मिलते-जुलते हो सकते हैं।

चिकित्सा. विटामिन बी-बारह और विटामिन बी-छे की सूइयां दी जाती हैं। विटामिन ए, ई, बी-पंद्रह (पानगामिक अम्ल का 50 मिलिग्राम नित्य तीन चार बार) मुखमार्ग से दिये जाते हैं। कुछ मसानुमा क्षतियां पारतापीय स्कंदन, द्रव नाइट्रोजन, कार्बन डायक्साइड की बर्फ तथा करोर्जिक रीतियों से दूर की जाती हैं। 3-5 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल से युक्त मलहम और पोटाशियम परमैंगनेट के क्षीण घोल से स्नान का उपयोग किया जा सकता है। एक्सरे व बक्की की किरणों से भी कभी-कभी चिकित्सा की जाती है। चर्मपूयता से बचने के लिये व्यक्तिगत सफाई के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करना चाहिये।

भविष्यवाणी. रोग पूरे जीवन भर बना रह सकता है। उग्रता ग्रीष्म ऋतु में सौर किरणों के प्रभाव से होती है। क्षय (कृशता और दुर्बलता) और आंतर अंगों के रोग विकसित हो सकते हैं।

मीबेली-रोग (रंध्रशृंगनता) एक अपेक्षाकृत विरल खानदानी तिलवत रोग है, जो अधिकांशतः प्रबली आनुवंशिकता वाले पुरुषों को होता है। चेहरे, हाथ-पैर, जननेंद्रियों तथा (अधिक अक्सर) हाथ-पैर की पश्च सतहों पर गोल या अनियमित आकृतियों के धब्बे उत्पन्न होते हैं, जो ऐंठनयुक्त या वलयाकार कौलर से घिरे होते हैं। कौलर भूरे शृंगी पटलीकरण से बनते हैं। धब्बे या तो शल्कों से ढके होते हैं या उनसे मुक्त होते हैं और केंद्रिय अपोषित भाग अवनमित होता है। समय के साथ-साथ अधिकेंद्र परिसर पर प्रसार करते हैं और संगम कर के बच्चे की हथेली के आकार के या इससे भी बड़े धब्बे बना लेते हैं। आत्मगत अनुभूति नहीं होती; रोग वर्षों तक चल सकता है।

ऊतगदलोचनी परीक्षण करने पर हल्की अतिशृंगनता, मालपीगी जालिका का अपोषण और अधिकेंद्र के मध्य में सुचर्म के ऊपरी भाग में तंतुक्लेश ज्ञात होता है। अधिकेंद्र के गिर्द एक शृंगिक कौलर दिखता है। यहां स्पष्ट अतिशृंगनता और कंटलयक्लेश पाया जाता है, कौलर के केंद्र में गहरा खाँचा होता है (शृंगी पटल), जिसके नीचे कोई कणमय परत नहीं होती। चिरकालिक शोथी अंतर्स्यंद शृंगी पटल के नीचे दिखता है। हाइपरलेइडोसिस (अधिचार्म एलेइडिन परत का अतिपोषण) बहुत लक्षक विशेषता है।

डेवेर्जी-रोग (लाल लोमिक बुसन) का प्रवाह बहुत प्ररक्षित होता है, यह उंगलियों के दूरस्थ पोरों, प्रबाहुओं की पश्च सतहों तथा जांघ व नितंबों की बाह्य सतहों पर होता है। वर्जरिक लाल-छौंह भूरे पिटक प्रकट होते हैं, जो लोमकूपों (मशिकाओं) से जुड़े तथा शल्कों से ढके होते हैं

उनके केंद्र में साबुत या टूटा हुआ लोम होता है। चर्मक्लेश अक्सर किसी भी चर्म-क्षेत्र पर फैल सकता है और कभी-कभी कोहनियों, घुटनों, त्रिकास्थि तथा नितंबों के चर्म पर अंतर्स्यंद युक्त चर्मारूणता की प्रकृति ग्रहण कर लेता है; नख ग्रस्त होते हैं और नख के नीचे अतिश्रृंगनता पायी जाती है। शिरोवल्क की आक्रांति में बाल विरल हो जाते हैं और टूटने लगते हैं। हथेलियों तथा तलवों की श्रृंगी परत काफी मोटी हो जाती है। उन पर विदार बहुत पीड़ाजनक होते हैं। इस काल में रोगी कँपकँपी महसूस करता है।

इस चर्मक्लेश का हेतुलोचन अज्ञात है। ऊतलोचनी परीक्षण से मशिकाओं के मुंहानों पर भयंकर अतिश्रृंगनता पायी जाती है। पराश्रृंगनता के अधिकेंद्रों से युक्त विसरित अतिश्रृंगनता प्रेक्षित होती है। गुचर्म के ऊपरी भाग में वस्तिकाओं के गिर्द साधारण चिरकालिक शोथ और साथ ही आर्जीरोफिल रेशों का अपकोलाजनीकरण और प्रत्यास्थ जालिका-रूपों में विनाशी परिवर्तन दिखायी देते हैं।

चिकित्सा. निम्न दवाएं प्रयुक्त होती हैं: आर्सेनिक विटामिन ए, एविट (0.5 मिलिलीटर की अंतर्पेशीय सूई हर दूसरे दिन; कुल 20 सूइयां; अथवा एक गोली नित्य दो या तीन बार एक महीने के लिये; चिकित्सा का दौर दुहराया जाता है)। विभिन्न स्नान प्रलिखित किये जाते हैं। प्राकृतिक निरोगालयों में खनिज जलों से चिकित्सा सुसंकेतित है। मृदुकारी मलहम और क्रीम बाह्य चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं; इनके साथ 3-5-10 प्रतिशत सैलीसीलिक अम्ल मिलाया जाता है (उच्च प्रतिशत का उपयोग परिसीमित अतिश्रृंगित क्षेत्रों पर होता है)।

ब्रौक की मिथ्या निर्लोमता दरअसल खोंतेदार खल्वाटता (निर्लोमता) का एक क्षतांकी रूप है। असंख्य नन्हे (10 मिलिमीटर तक आकार के) स्पष्ट परिसीमित भूराभ पीले क्षतांकी धब्बे बन जाते हैं। उनकी सतह चिकनी और हल्की-सी दबी होती है। अधिकेंद्र से लोमकूप (मशिकाएं) लुप्त हो जाते हैं। स्थानीय अवसंवेदना प्रेक्षित होती है।

रोग अनजाने में धीरे-धीरे विकसित होता रहता है। क्षतांकी अधिकेंद्र प्रसारित हो कर संगम कर जाते हैं। मुख्यतः शीर्ष एवं कनपटी के पास का चर्म ग्रस्त होता है। प्रक्रिया अनुत्क्रमणीय होती है। ऊतलोचनी चित्र में कठोरनी अपोषण और मशिकाओं व वपाल ग्रंथियों की अनुपस्थिति प्रेक्षित होती है।

चिरकालिक मुदम पारिवारिक (खानदानी, विरासती) बुदबुदिया (गूगेरो-हेली-हेली रोग). यह प्रबली (डामिनेंट) द्वारा विरासतित होता है। इसमें एक साथ ढेर सारे बुल्ले और वस्तिकाएं विस्फुटित होती हैं। परिसरीय प्रसार के कारण वृहत गोल अधिकेंद्र बनते हैं। बुल्ले फट कर रिसालु अपरदन बनाते हैं, जो बाद में शल्की खठ्ठियों से ढक जाते हैं। जबतक अधिकेंद्र के मध्य में वर्णकता के साथ अवगति (ह्रास) होती है, परिसर पर नये अधिकेंद्र उग आते हैं। मूलाधार, काँख, जांघों की मध्य सतहें और गरदन इसकी प्रिय जगहें हैं। अधिकेंद्र के निकट पड़ोस में निकोल्सकी का लक्षण धनात्मक होता है। यदि द्वितीयक पिओकोकी पैठन विकसित होता है, तो अधिकेंद्र का इंपेतिगीकरण होने लगता है और वहां के क्षेत्रीय लसपर्व वर्धित हो जाते हैं। रोगी की सामान्य अवस्था में अक्सर कोई परिवर्तन नहीं होता। रोग एक चिरकालिक प्रवाह ग्रहण कर लेता है और ग्रीष्म में उग्र हो जाया करता है। श्लेश्मल झिल्लियां भी ग्रस्त हो सकती हैं। कुछ वैज्ञानिक इसके दो भेद मानते हैं: गूगेरो (Gougerot) प्रकार, जो बहुत आरंभ में ही विकसित होता है और अनेक केसों में आनुवंशिक अभिव्यक्तियां प्रकट करता है; और हेली-हेली प्रकार (Hailey-Hailey type) जिसमें स्फोट सीमित प्रकृति के होते हैं और अक्सर बुढ़ापे में उत्पन्न होते हैं।

ऊतलोचनी दृष्टि से रोग वास्तविक बुदबुदिया (आंतर उपकलीय कंटलयिक बुल्ले) से मिलता-

जुलता होता है। विभेदक निदान डारियेररोग के बुल्लेदार रूप से किया जाता है (कुछ वैज्ञानिकों का दावा है कि यह रोग डारियेर की मशिकीय अपश्रृंगनता का वस्तिकीय रूप है)। इसे ड्यूरिंग के रोग तथा वपास्रावी दिनाइ से भी विभेदित किया जाता है।

चिकित्सा. कोर्टिकोस्टेरोइड प्रलिखित किये जाते हैं। सांद्रित विटामिन ए कुछ केसों में संतोषजनक परिणाम देता है (राइ-ब्रेड के टुकडे पर 10 बूंदें नित्य तीन बार खाना खाने के समय ग्रहण की जाती हैं; 6 से 8 सप्ताह तक)। इंपेतिगीकरण में प्रतिजीवकों का उपयोग होता है। बाह्य चिकित्सा में निम्न दवाएं प्रयुक्त होती हैं: अनीलीन रंजकों के अल्कोहलिक घोल, कास्तेलानी-पेंट, प्रतिसृपक मलहम (हिग्रोक्सेजोन, डेमोजोलोन, लोरिंडेन C, सिनालार N या C)।

वलयाकार अपकेंद्री ललामी (डारियेर की ललामी). यह एक अपैठी परोर्जिक स्फोट है, जिसे कुछ वैज्ञानिक शरीर में गरलक्लेश (या गरलता) की उपस्थिति से संबंधित करते हैं। इसके निमित्त घटक निम्न हैं: अधिकेंद्रिक पैठन (टोंसिलशोथ, अस्थिमज्जाशोथ, खोलेसिस्टीटिस, गास्त्रोडुओडेंटीटिस, दंतकणार्ब), तीव्र ल्युकोसिस, खुमीवत कवकता और कांदीदक्लेश।

रोग अक्सर पुरुषों में पाया जाता है (और अधिकांशतः वयस्कों में)। चर्म पर 1-2 सेंटीमीटर चौड़े गोल गुलाबी-पीले धब्बे उत्पन्न होते हैं। उनका परिसर कठोरित होता है, मध्य स्थल अवनमित तथा हल्का नीलाभ होता है। धब्बे अपकेंद्री ढंग से फैलते हैं। वे संगम करते हैं और और बहुचक्रीय आकृतियां (माला, वृत्त, वलय के भीतर वलय) बना सकते हैं। शल्कन, खुजली एवं अपोषण नहीं होता, क्षतांक नहीं रहते। स्फोट बार-बार (कुछ सप्ताह तक) होते हैं। चर्मक्लेश कुछ महीनों से लेकर कुछ वर्षों तक चलता रहता है। धड़ इसका प्रिय स्थल है, हाथ-पैर अपेक्षाकृत कम ग्रस्त होते हैं। रोग को वलयाकार कणार्ब (कठोरित अधिकेंद्र, सुचर्म में कोलाजन का अवजनन), जिबेर्ट के बुसन, फुनिंये की तृतीयक सीफिलिक ललामी तथा चिरकालिक पित्ती से विभेदित करना पड़ता है।

चिकित्सा. पहले विस्तृत तल्पिक निरीक्षण किया जाता है, ताकि अधिकेंद्रिक पैठन, आंत्र-गड़बड़ियों और अन्य रोगों का अनुवेदन एवं उपचार किया जा सके। अवसंवेदी दवाएं दी जाती हैं। प्रतिजीवक, एंटीहिस्टामिनिक, सैलीसीलेट, विटामिन बी-संकुल और कुटाली केसों में कोर्टिकोस्टेरोइड सुसंकेतित होते हैं।

आफजेलियस-लिप्शूट्स की चिरकालिक स्थानांतरणशील ललामी. यह रोग जंगली कुटकी के दंश से रिकेट्सिया के कारण उत्पन्न होता है। चर्म पर रक्तस्फीति का एक डिस्काकार अधिकेंद्र बनता है, जिसकी किनारी हल्की उभरी होती है; यह परिसर पर शीघ्रता से फैलता जाता है। रोग कई महीनों तक बना रह सकता है और कभी-कभी सारे चर्म को आक्रांत कर देता है। तीव्र खुजली होती है। हाथ-पैर और धड़ इस रोग के प्रिय स्थल हैं। ऊतलोचनी परीक्षण से एक परिवस्तिकीय लसोतकोशिकीय अंतर्स्यंद ज्ञात होता है।

चिकित्सा. प्रतिजीवक, सुल्फानीलामीद, पराबैंगनी विकिरण और प्रतिशोथी मलहम प्रलिखित किये जाते हैं।

वेंडे की कुटाली साकृतिक ललामी के भी हेतुलोचन और गदजनन अज्ञात हैं। गुलाबी चित्तिक स्फोट बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के धड़, हाथों व पैरों पर उत्पन्न हो जाते हैं। क्षतियां परिसर पर प्रसार करके संगम करती हैं; मध्य में अवनमन बन जाता है, जिसके फलस्वरूप वलयाकार चक्कराकार वृहत (10 सेंटीमीटर तक) धब्बे बन जाते हैं। क्षतियां अंतर्स्यंदित नहीं होतीं, कोई भी आत्मगत अनुभूति नहीं उत्पन्न करतीं। आक्रांति टिकाऊ होती है, वह कई वर्षों तक पुनरा-

वर्तित होती रहती है, कुटाली होती है, जिसके कारण इसे ललामी के अन्य रूपों से विभेदित किया जा सकता है।

लक्षणात्मक चिकित्सा प्रयुक्त होती है पर कोई विशेष लाभ नहीं होता।

रेक्लिंगहाउजेन-रोग या नर्वरेशार्बक्लेश यह एक जन्मजात एवं अक्सर खानदानी रोग है। लक्षण बचपन में ही व्यक्त होने लगते हैं, लेकिन कभी-कभी बाद में भी होते हैं। रोग धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और समय के साथ-साथ और भी स्पष्ट होता जाता है। क्लासिकल केसों में चर्म पर हल्के भूरे वर्णकित धब्बे बनते हैं, गुल्म (रेशार्ब) बनते हैं (चर्म, अवचार्म ऊतकों और नर्व-शाखाओं में) और विविध मानसिक (साइकिक) गड़बड़ियां विकसित होती हैं। रोग के ऐसे भी रूप पाये जाते हैं, जिनमें कुछ लक्षण अनुपस्थित भी हो सकते हैं।

वर्णकित धब्बों के आकार भिन्न होते हैं। अतिवर्णकता कभी-कभी इतनी विस्तृत हो जाती है कि एडीसोन-रोग से मिलती-जुलती हो जाती है। चर्म-गुल्म बहुत बड़े भी हो सकते हैं (पंडुक के अंडे जितने, या इससे भी बड़े)। वे मुलायम तथा पेस्टी होते हैं, नीचे टांग की तरह कुछ पतले होते हैं (पादिका)। ऊपर की त्वचा का रंग सामान्य रहता है या वह बैंगनी आभा ग्रहण कर लेती है। गुल्मों की संख्या दसियों से लेकर सैकड़ों तक हो सकती है। अवचार्म ऊतकों में स्थित गुल्म परिस्पर्शन से हर्निया की तरह सरलता से दब जाता है (मृदु संरचना के कारण)। नर्व-शाखाओं के गुल्म (नर्वार्ब) अक्सर गरदन, प्रबाहु और धड़ की पार्श्व सतहों की नर्व-शाखाओं के सहारे-सहारे परिस्पर्शित होते हैं। साइकिक गड़बड़ियां अल्पमतित्व, अवसाद (डिप्रेसन) के रूप में व्यक्त होती हैं। अस्थियों की तरफ से भी क्लिष्टताएं (कीफोस्कोलिओसिस) विकसित हो सकती हैं।

यह एक चिरकालिक रोग है, जो चिकित्सा से ठीक नहीं होता। कुछ बड़े चर्म-गुल्मों को करोर्जिक रीति से दूर करना पड़ता है।

प्राक्कैंसरिक चर्मरोग

बोवेन की प्राक्कैंसरिक अपभृंगनता. अधिकांश वैज्ञानिक आज इसे वास्तविक अंतरधिचार्म कर्कार्ब मानते हैं। अलग-अलग गोल या अंडाकार गुलाबी परिसीमित धब्बे चर्म पर (लुंबर क्षेत्र में, पीठ पर) बनते हैं। वे लाल चौरस शैवाक, खर्जूक्लेश या एक्जेमाटिड के धब्बों से मिलते-जुलते होते हैं। धब्बों की सतह शल्कों और अधिकांश केसों में रक्तिल खठ्ठियों से ढकी होती है, जिनके नीचे एक आर्द्र गुलाबी सतह दिखती है। अधिकेंद्र परिसर में बहुत मंद गति से प्रसार करते हैं। कभी-कभी वे संगम कर के अजीबो-गरीब बहुचक्रीय परिरेखाओं वाली आकृतियां बनाते हैं। अधिकेंद्र का मध्य भाग अवनमित व अपोषित होता है और बाद में अपरदित हो सकता है, फिर वह पनपाव से ढकने लगता है। शुरुआत के अनेक महीनों के बाद रोग आधारीय-कोशिकीय या शल्की-कोशिकीय कर्कार्ब में परिणत हो जाता है; साथ में लसपर्व वर्धित होते हैं और आंतर अंगों तक अपवहन होता है।

विभेदक निदान के लिये बायोप्सी का उपयोग होता है। रोग का प्रारंभ में अनुवेदन और चिकित्सा से भविष्यवाणी अनुकूल होती है।

चिकित्सा. गहन शीत-चिकित्सा से प्रारंभिक अवधि में लाभ होता है। अधिक विकसित केसों में विकिरण-चिकित्सा और करोर्जिक या विद्युकरोर्जिक उच्छेदन का सहारा लिया जाता है।

वर्णकीय चर्मशुष्कता. यह रोग जीवन के प्रथम वर्ष में शुरू होता है। इसे आनुवंशिक रोग माना जाता है, जो अवगामी विशेषताओं की तरह प्रसारित होता है। स्त्री-पुरुष में इसकी प्रायिकता समान

होती है। उन बच्चों में इसकी प्रायिकता उच्च होती है, जिनके माता-पिता के बीच रक्त-संबंध होता है।

पराबैंगनी किरणों के प्रति वर्धित संवेदिता इसका मुख्य लक्ष्य होता है। रोग नन्हे, अतिवर्णकित धब्बों से शुरू होता है, जो झौंरिकाओं से मिलता-जुलता होता है। क्षतियों की संख्या और उनका आकार बढ़ता जाता है। वे ललछौंह भूरी हो जाती हैं; दूरकुंभीविस्फारण, कुंभिकार्ब और अपोषित क्षेत्र प्रकट होते हैं। चर्म की ये सभी क्षतियां, जिनपर पिटिकार्ब और मसानुमा प्रवर्ध उत्पन्न हो जाते हैं, एक बहुरंगी तल्पिक चित्र उत्पन्न करती हैं। चर्म (अक्सर चेहरे, गरदन और हाथों पर) रुक्ष हो जाता है। क्षतांकन की वजह से नाक चोंच की भाँति पतली हो जाती है, कभी-कभी मुंह का एंट्रोपिओन और आट्रेजिया भी हो जाता है। पिटिकार्बों का अक्सर दुर्दम अवजनन होता है। वर्णकीय चर्मशुष्कता अक्सर दुर्दम अभिव्यक्तियों (स्पीनोसेलूलर कार्सिनोमा, मेलानोसार्कोमा आदि) के साथ होती है। 10-15 वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुँचते रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा से अक्सर कोई लाभ नहीं होता। सामान्य स्फूर्तिवर्धक उपाय किये जाते हैं। पराबैंगनी किरणों से बचना चाहिये।

पाजेट का रोग. इसकी आक्रांति चुचुक और उसके प्रभामंडल पर होती है। रोग अधिकांशतः स्त्रियों को 40 वर्ष की उम्र से होता है। पुरुषों में यह बहुत विरल है (चुचुक, मूलाधार और अंडकोष ग्रस्त होते हैं)। रोग हमेशा एकतरफा होता है। चुचुकों में विदार, चोटज क्षतियों तथा चिरकालिक शोथ जैसे घटक रोग को और भी प्रोत्साहित करते हैं। प्रक्रिया लंबे समय तक दद्रुक प्रक्रिया से मिलती-जुलती होती है, लेकिन उससे अधिकेंद्र की अवछिन्न परिरेखाओं द्वारा विभेदित होती है (और अधिकेंद्र पर सीरमीरक्तिल खठ्ठी द्वारा)। खठ्ठी हटाने पर चिकनी या हल्की बैंगनी और सरलतापूर्वक रक्तस्राव करने वाली सतह दिखती है। इसके बाद प्रक्रिया अक्सर चुचुक के गिर्द चर्म पर फैलने लगती है। जीवाणुज दिनाइ से यह रोग अपने निम्न लक्षणों द्वारा विभेदित होता है: घना अंतर्स्यंद (मानो चर्म के नीचे कार्डबोर्ड हो), उभरी किनारियां, मंद प्ररक्षित प्रवाह, और चुचुक का पहले छोटा होना, फिर आकुंचित होना। 3 से 10 साल में एक अंतर्स्यंदी कर्कार्ब का चित्र विकसित होता है, जो अपवहन द्वारा लसपर्वों, यकृत और फेफड़ों तक पहुँच जाता है।

आरंभिक अवधि में रोग को जीवाणुक दिनाइ, सतही कांदिदक्लेश और चिरकालिक स्त्रेप्तोचर्मता से विभेदित करना पड़ता है। निरोधात्मक युक्तियों में चुचुक के विदारों और इस क्षेत्र में चर्मशोथों की चिकित्सा (विशेषकर स्तनपान कराने की अवधि में) प्रमुख है।

चिकित्सा. यथासमय स्तन-ग्रंथियों को क्षेत्रीय लसपर्वों समेत पूर्ण रूप से दूर करने पर रोगी की जीवन रक्षा हो सकती है।

श्वेतसिलत्व, श्वेतश्रृंगनता में मालपीगी परतों का श्रृंगीकरण होता है। यह रोग होठों तथा मुख व भग की श्लेष्मला पर होता है। अंडाकार, या भिन्न आकारों और आकृतियों के दूधिये धब्बे बनते हैं, जिनकी परिरेखाएं झालर जैसी होती है। श्वेतश्रृंगनता या अतिश्रृंगिक श्वेतसिलत्व में घने मोती जैसे श्वेत-गुलाबी धब्बे की सतह पर विपुल पिटिकाएं, विदार और व्रणन उत्पन्न होते हैं।

चोट, दग्ध, रसायनिक दग्ध और अत्यधिक धुम्रपान गदजनक भूमिका निभाते हैं।

रोग चिरकालिक प्रवाह ग्रहण करता है। दुर्दम अवजनन 20 से 30 प्रतिशत केसों में पाया जाता है। इस रोग को श्लेष्मल झिल्लियों के लाल चौरस शैवाक से विभेदित करना बड़ा कठिन होता है। ऊतलोचनी परीक्षण दिखाते हैं कि श्वेतसिलत्व में अंतर्स्यंद कम स्पष्ट होता है, जिसमें प्लाज्मा-कोशि-

काएं बहुत अधिक होती है। इन दोनों रोगों (श्वेतसिलत्व और श्वेतशृंगननता) का विशेष लक्षण है: मालपीगी परत की कोशिकाओं की अविशिष्ट प्रकृति।

चिकित्सा. बक्की की किरणें प्रयुक्त होती हैं। पनपाव को करोर्जिक रीति से अलग किया जाता है। चटपटेदार-मसालेदार आहार से परहेज करना चाहिये। रोगी को धूम्रपान अवश्य त्याग करना चाहिये। मुँह में किसी भी प्रकार के रोग के अधिकेंद्र हों, तो उनकी चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये। मुखमार्ग से विटामिन ए, ई, बी-पंद्रह, ऐस्कोर्बिक अम्ल (लंबे समय तक के लिये) और अल्प खुराकों में स्टेरोइड हर्मोन दिये जाते हैं।

अनुवादकीय: आयुर में हिंदी शब्द ; विदेशज शब्दों का उच्चारण

पाठ्यपुस्तक किसी भी भाषा में हो, छात्रों को उसमें नये अवधारणावचक शब्द सीखने ही पड़ते हैं और यह काम अन्य विषयों के अवधारणावचक शब्दों के ही माध्यम से होता है, जिनका ज्ञान पहले से होना आवश्यक है। हिंदी में होने मात्र से गंभीर वैज्ञानिक पुस्तक स्वतःस्फूर्त रूप से सुगम नहीं हो जाती। फिर आयुर की पढ़ाई हिंदी में पूरी तरह होती भी नहीं है। इसीलिये प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम सौ-एक पृष्ठों पर हिंदी आयुरी शब्दों के साथ उनके अंग्रेजी पर्याय प्रचुरता के साथ दिये गये हैं। आशा है कि इस पुस्तक में हिंदी शब्दों का अभ्यस्त होने के लिये यह काफी रहेगा। पुस्तक के अंत में अनुक्रमणिका को विशद हिंदी-अंग्रेजी शब्दावली का रूप देने की चेष्टा की गयी है। चंद अन्य सूचनाएं भी हैं, जिनकी जानकारी पुस्तक को आत्सात करने में सहायक होगी :

(1) पूरी पुस्तक में बिल्कुल नये हिंदी शब्दों व शब्दांशों की संख्या पचास-साठ से अधिक नहीं होगी। अन्य अधिकांश शब्द इनकी या अन्य सुज्ञात शब्दों की सहायता से बने हैं।

(2) हिंदी शब्द अधिकांशतः उसी पैटर्न पर बनाये गये हैं, जिनपर उनके लातीनी पर्याय बने हैं। (आयुर के छात्र जानते हैं कि यह पैटर्न "लौहपथगामिनी" से बहुत भिन्न नहीं है।) फिर भी पारिभाषिक शब्दों के इस 'अनुकरण-अनुवाद' में लातीनी पैटर्न और वैज्ञानिक अर्थवत्ता के बीच संतुलन रखने की चेष्टा की गयी है।

(3) समास में प्रयुक्त होने से पूर्व कुछ शब्दों को संक्षिप्त कर दिया गया है, जैसे: विद्युत – विद्यु ऊतक – ऊत, अर्बुद – अर्ब, आदि।

(4) किसी भी भाषा की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है – विदेशी शब्दों को ग्रहण करना, लेकिन इस तरह कि वे विदेशी ही न बने रहें, जैसे हिंदी में आकर हिंदी नियमों के अनुसार विकारी हों, अन्य हिंदी शब्दों या शब्दांशों (प्रत्ययों, उपसर्गों) के साथ हिलमिल सकें। (स्मरण करें कि अभी भी हिंदी में विजातीय शब्दों को – जैसे एक संस्कृत मूल के और एक अरबी मूल के शब्दों को – 'और' से भी जोड़ना निकृष्ट माना जाता है; यह मात्र पूर्वाग्रह नहीं है, दरअसल यह हमेशा संभव नहीं होता!) विदेशी शब्द को 'विदेशज हिंदी' शब्द बना लेना चाहिये। यदि हम संज्ञा 'सिनाप्स' को अपनाते हैं, तो विशेषण 'सिनाप्टिक' नहीं, सिनाप्सिक होगा (हिंदी साधनों से)। 'रेशा' से 'रेशिका', रेशांकुर, 'नर्व' से 'नार्व' या 'नार्विक' जैसे शब्द बनाने में संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह सक्रिय आत्मसातन की विधि है। इसीलिये अनुवादक ने लातीनी शब्दों के प्रातिपदिक रूपों को ही अपनाने की चेष्टा की है, जैसे 'मेनिस्कस' की जगह 'मेनिस्क'।

(5) वैज्ञानिकों के नामों का हिंदी-प्रतिलेखन उनकी अपनी भाषा के उच्चारण पर आधारित किया गया है (हिंदी की स्वनिक क्षमताओं का अतिक्रमण नहीं करते हुए)।

(6) जो कुछ यहां कहा जा रहा है, उसे व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं निकला: प्रस्तुत अनुवाद में अनेक त्रुटियां देखी जा सकती हैं। कुछ के प्रति अनुवादक सचेत है, लेकिन अधिकांश का पता उसे पाठकों से ही चल सकेगा। अनुवादक को उनके सुझावों की भी प्रतीक्षा है।

(7) लातीनी शब्दों या शब्दांशों के हिंदी प्रतिलेखन में अधिकांशतः निम्न नियम उपयुक्त पाये गये हैं:

(a) स्वर वर्ण a, y, i, u संवृत या व्यंजनांत अक्षर (सिलेबल) में क्रमशः अ, इ, इ, उ हैं; खुले (विवृत, स्वरांत) अक्षर में – आ, ई, ई, ऊ। (लातीनी में उल्टा है)

(b) स्वर y, i, u किसी अन्य स्वर के पूर्व क्रमशः इ, इ, उ हैं।

(c) ae, oe – ए; o – ओ (सदा), au, ou – औ।

(d) शब्दांत में e से पहले यदि कोई अकेला व्यंजन है, तो e अनुच्चरित रहता है और व्यंजन से पूर्व का स्वर दीर्घ हो जाता है (ए और ओ को दीर्घ करने का कोई लिपिगत साधन नहीं है)। अन्यत्र e सदा ए है।

(e) अक्षर के रूप में eu का उच्चारण यू है, लेकिन व्यंजन वर्ण के बाद आने पर यु हो जाता है।

(f) b-ब्, ch–ख्, d–द्, f–फ्, g–ग्, h–ह्, j–य्, k–क्, l–ल्, m–म्, n–न्, ngu–ङ्ग्व्, p–प्, ph–फ्, r–र्, rh–र्, t–त्, th–थ्, v–व्, x–क्स्, z–ज्।

(g) c का उच्चारण e, i, y से पूर्व आने पर स है, अन्यत्र क है; सर्वत्र भी क रखा जा सकता है।

(h) शब्दांत में que, cle, ble का उच्चारण क्, कुल्, बुल् है (लिखने में हलंत छोड़ देते हैं), अन्यत्र क्व, क्ले, ब्ले है।

(i) स्वर वर्ण के पूर्व ti का उच्चारण शि है, अन्यत्र ति या ती है (दे. i का उच्चारण)।

(j) s का उच्चारण दो स्वरों के बीच होने पर (इनमें से एक की जगह l, m या n होने पर भी) ज है, अन्यत्र स है।

(k) दुहरे वर्ण (ll, ss आदि) को इकहरा ही मानेंगे।

चंद उदाहरण: amino – अमीनो, ciliospore – सीलिअोस्पोर, cyanite – सिआनीत, cyahin – सिआनिन, dinosaur – दीनोजौर, diode डिओड, दिओद, eukaryon – यूकारिओन, follicle – फोलीकुल, neoplasma – नेओप्लाज्मा, neutron – न्युट्रोन, oenothera – एनोथेरा।

जैसा की देख रहे हैं, t, d के लिये ट्, ड् भी संभव है (अंग्रेजी के प्रभाव से)।

(l) किसी एक शब्दांश (जैसे syn)) का प्रतिलेख 'सिन' है (संवृत अक्षर होने के कारण); तो उसे विवृत (स्वरांत) अक्षरों के भी केस में 'सिन' ही लिखेंगे, जैसे: synapse – 'सिनाप्स' न कि 'सीनाप्स'।

लातीनी से हिंदी में प्रलेखन की यह प्रणाली पूर्ण नहीं मानी जा सकती, इसमें अनेक सुधारों की संभावनाएं हैं।

अनुक्रमणिका/शब्दावली

अंकुर bud 40
अंकुरक परत stratum germinativum 28
अंकुर-कवकता, गहरी blastomycosis profunda 205—6
अंकुरजनन blastogenesis 431
अंकुरदायी germinative 26
अंकुरन budding 193
अंकुर-रुग्नता embryopathy 255
अंकुरनशील sprouting 29
अंकुरार्त्ति blastopathy 431
अंकुरार्ब blastoma
अंकुरार्बिक उत्वर्ध blastomatous process 257
अंगसोझक orthopaedic
अंगुलशोथ dactylitis
अंटीनमा glomerular
अँठई crab louse 215
अंडकोष scrotum 26, 43
अंडाकार oval 64
अंतरंगी visceral 195
अंतरावकाशीय inlerstitial 432
अंतस्थाग्राहक proprioceptor 35
अंतरांगुलिक पुटक interdigital fold 165
अंतराकोशिकीय सेतु intercellular bridge 28, 54
अंतरानितंबिक intergluteal 172
अंतरानभूति proprioceptive sensation 35
अंतरापिटकीय उपकलीय उत्वर्ध interpapillary epithelial process 71
— क्षेत्र i. areas 330
अंतरालुंडिक interlobar
अंतरालुंडिकीय inlerlobular
अंतरास्थिक interosteal 220
अंतर्कलीय endothelial 353
अंतर्गरल endotoxin 407
अंतर्चर्मि insradermal 78
— मार्ग से intracutaneously 94
अंतर्जनित endogenous 15, 45
अंतर्जानपदिक endemic 169
अंतर्तम जीवन intimate life 83
अंतर्त्वक (दे. अंतर्चर्मि) 78
अंतर्द्रव्य content 150
अंतर्धमनीशोथ, अपरोधक endarteritis obliterance 58
अंतर्पेशिक intramuscular 89
अंतर्प्रेरित induced 45
अंतर्लोमिक endothrix 181-4
अंतर्वर्ती रोग intercurrent disease 132, 138
अंतर्वेशन inclusion 245
अंतर्शयन-अवधि (-काल) incubasion period 184
अंतर्शिरीय intravenous 89
अंतस्यंद infiltrate 64
—, परिमशिकीय perifollicular i, 131
अंतस्यंदन infiltration 64
—, परीत circumscribed i. 70
अंतस्यंदी घटक infiltrative component 60
अंतस्रावी स्तर (अवस्था) endocrine status 14
अंतर्हृत्पेशीशोथ endocarditis 267
अक्षत intact; free of lesion 49
अगनोरिक मूत्रनलीशोथ 470
अग्र anterior; ventral
अटोपिक (अनस्थलिक) प्रतिकारक atopic reagin 94
अटोपिया atopia
अटोपेन (अटोपियाकारी परोर्जिक द्रव्य) atopen
अड्डा (पैठन का) focus 128
अड्डाल क्षेत्र focal area 198-9
अतिढालवत्ता (घेघा) hyperthyroidism 63

अतितान, स्टेरोइडजनित steroid hypertension 100
अतितानी घोल hypertensive solution 133
अतनिदान hyperdiagnosis 166
अतिपुंसजता hyperandrogeny 367
अतिपीड़िता hyperalgesia 44
अतिपोषित hypertrophied 64
— hypertrophic 277
अतिमदजनन hyperoestrogenism
अतिरक्तता hyperaemia 42, 48
अतिरक्तिल hyperaemic 126, 137
अतिलोम hypertrichosis 116
अतिवर्णकता hyperpigmentation 63, 68
अतिवेदिता hyperpathia 44
अतिशृंगन(ता) hyperkeratosis 55, 60, 68
अतिसंवेदना hyperaesthesia 217, 219
अतिसंवेदिता hypersensitivity 125
अतिसार diarrhoea 148
अतिस्वेदन hyperhydrosis 116
अत्यस्थिल hyperostotic 426
अत्यूर्जन hyperergia 198
अत्यूर्जिक hyperergic 352
अधरशोथ cheilitis 50, 320
—, कांदीदा-प्रेरित candidal induced c. 196
अधरस्थूलता macrocheilia 198
अधिकेंद्र (अधिक्षेत्र) focus
अधिकेंद्रिल (अधिकेंद्रों से युक्त)
अधिकेंद्रीय (अधिकेंद्र से संबंधित)
अधिचार्म epidermis 28
—, ढीला loose e. 141
अधिचर्मतृणत्व epidermophytosis; epidermophytia 20, 162
—, गोड़ का e. of feet 164
—, नखों का e. of nails 166
—, अपरसी dyshydrotic e. 165
—, घर्षज e. intertriginous 165
अधिचर्मतृणस epidermophytid 167
अधिचर्मलय epidirmolysis 66, 72
—, कुपोषी 260
—, के रूप 260
—, जन्मजात 260
—, बल्लेदार e. bullosa 119
— —, विरासती e. b. hereditaria 260
अधिचार्मर्ध प्रवर्ध epidermal process (protrusion) 31
अधिजंभी supramaxillary 233
अधिजत्रुक supraclavicular 233
—गर्त्त s. fossae 100
अधित्वक (परित्वक) epicutaneous 78
अधिदिवसीय ephimeral 67
अधिनख (-चर्मिका) eponychium 39, 171
अधिमिश्रण admixture 69
अधिवर्ध epiphysis 426
अधिवृक्कीय adrenal 92
अधिशोषण adsorbtion
अधो-अधिचार्म subepidirmal 66
अधोचार्म वसा subcutaneous fat 33
अधोवर्ध hypophysis 92
अधोवल्कुटी subcortical 42
अध्यंकुर epiblast
अध्यंडशोथ epididymitis 461
अननुवेदित undetected 179
अनपच dyspepsia 139
अनपीड़ा analgesia 219
अनपीड़िता analgesia 45
अनभूख anorexia 140
अनरस achylia 202
अनसंवेदना anaesthesia 219
अनाटोमी (स्त्री.) anatomy 26
अनाटोमिक anatomic(al) 39
—अपूर्णता a. deficiency 51
अनावृतन exposure 133
अनावृति exposure 112
अनिद्रा insommia 87
अनिष्पैठित non-sterile 397
अनिस्सरण (संधारण) retenfion 39

अनुकंपतान (अनुकंपीतानता) sympathicotonia 89
अनुकंपी गुच्छिका symathetic ganglion 46
अनुकूलन-रोग adaptation disease 325
अनुगामी subsequent
अनुप्रस्थ transverse 389
अनुबंधित bound 36
अनुभूति sensation 35, 59
–, चुभन की stinging s. 59
–, जलन की burning s. 59
अनुयुक्त applied 89
अनुयोग application 211
अनुरक्षक खुराक maintenance dose 97, 342
अनुवेदन detection 79
अनुर्जिक anergic 179
अनुर्जिता anergy; anergia 236
अनोक्सिता (अवाक्सिता) hypoxia 149
अपकेंद्रित centrifuged 200
अपक्रिया dysfunction 57
अपघटित disintegrated 146
अपथ्य abnormal diet 109
अपनोदक repellant 244
अपभ्रूणीय dysembryonal 376
अपरंजक dyschromatic 379
अपरदन erosion 64, 70
–, अंतरांगुलिक खमीरी interdigital yeast e. 195
अपरदक erosive 64
अपरदनोत्तर posterosive 146
अपरदिक (अपरदन से संबधित) erosive
अपरदित eroded 71
अपरस dyshydrosis 70, 166
–, शुष्क परतदार d. lamellosa sicca 166
अपरसी dyshydrotic 165
अपरिपक्व immature 140
अपरिस्थितिज क्षोभ unconditioned stimuli 55
अपवर्णकता depigmentatian 63
अपवहन metastasis 57, 131, 378
अपवाही efferent 32
–नली e. duct 135
अपशल्कन desquamation 31
–, रूसीदार burfuraceous d. 68
अपशुष्कता xerosis 344
अपशोषण absorption
अपसामान्यता abnormality 149
अपस्थिति dystopia; malposition
अपूर्ण खसकन subluxation 329
अपूर्ण लकवा paresis 246, 385
अपूर्णता insufficiency 62
अपूर्त्ति decompensation 122
अपैंटी non-infectious 108
अपोषण atrophy
अभिगम approach 18, 83, 97
अभिग्राहक (ग्राहित्र) receptor
अभिग्राही (संवेदी ; संवेदग्राही) क्षेत्र receptor field 3
अभीग्लूतन agglutination 79
अभिग्लूतिनिन agglutinin 79
अभिरंजक dye 105
–रीति staining method 391
अभिरंजित stained 200
–नमूना s. specimen 200
अभिलुंद agglomerate 79
अभिलुंदन agglomeration 79
अभिलेख (न) registration 175
अभिवाही afferent 32
अभिसंजक adhesive 79
अभिसंजन adhesion 75
अमर्षण intolerance 89
अमोनीकृत (अमोनित) पारा ammoniated mercury 107, 133
अम्ल-भस्म-संतुलन acid-base equilibrium 41
अम्लीय प्रतिक्रिया, क्षीण weak acid reaction 47
अम्लीय व्यवधान acid barrier 113
अम्हौरी heat rash; miliaria 283
–, पीत m. flava 283
–, श्वेत m. alba 283
–, स्वच्छ m. crystallina 283

अर्क infusio 89
अर्जित इमूनता acquired immunity 51
अर्धवर्तुल semispherical 125
अर्धसंश्लिष्ट semysynthetic 101
अर्बुद tumour 15
(सामासिक शब्दों में – अर्ब:-oma)
अलाक्षणिक asymsomatic 160
अल्पविटामिनता hypovitaminosis 55
अवकरण reduction
अवकुंचन contracture 220
अवक्रिया hypofunction 257
अवक्षेषण precipitation 79
अवरुग्रोमिक hypochromic 371
अवगति (अवनति) regression 155
अवगामी recessive 58, 255
– प्रकार r. type 255
अवगामी regressive 103
अवगारक detoxifying 93
अवघटन decomposition 36
अवचर्म hypoderm 32
अवचिबुक submandibullar 197
अवचेतक hypothalamus 92
अवछिन्न inturrupted 171
अवजंभी submaxillary 233
अवजत्रुक subclavicular 233
अवजनक, परिवर्तन degenerative changes 54
अवजनन degenaration 36
अवजन्य degenerative 66
अवज्वर subfibrile temperature 199, 266
अवढालवत्ता hypothyroidism 173
अवतल depressed 71
अवतल्पिक रूप subclinical form 210
अवतान hypotension 89
अवथेनार hypothenar 220
अवनख subungual 166, 258
अवनमन depression 26
अवपाचन catabolism
अवपीड़िता hypalgesia 45
अवपुष्ट undernourished 371
अवपोषित बच्चे hypotrophic children 185
अवप्रोटीनता, रक्त की dysproteinaemia 93
अवरंगी रक्ताल्पता hypochromic anaemia 224
अवरोही चरण regressive stage 117
अवलुंठन prostration 134
अवलुंठित prostrated, exhausted 148
अवशोषण resorption 48
अवश्लेष्मला submucosa 379
अवसंवेदक (अवसंवेदीकारी) desensitising 89, 93
अवसंवेदन (अवसंवेदीकरण) desensitisation 93
–, अविशिष्ट non-specific d, 93
–, विशिष्ट specific d. 90, 93
अवसन्नता malaise 155
अवसीमा threshhold 45, 115
अवांछित प्रभाव (परिणाम) side effect 87
अवाक्सी प्रतिक्रिया redox reaction 96
विटामिनता hypovitaminosis 152
विभेदिता non-differentiation 51
अविशिष्ट लक्षण atypical feature 73
अव्यक्त (गुप्त) latent 89
अंशुकवक actinomycocete 203
अंशुकवकता actinomycosis 203
अंशुविलायक actinolysate 204
अशोथी non-inflamatory 58
असंस्रावी non-confluent 137
असममित asymmetric 76
असि-प्रबाहु sabre forearme 439
अस्थिकरण ostification 425
अस्थिल bony 425
अस्थिवर्ध exostoses 425
अस्थिवेदना ostealgia 380
अस्थिपर्यस्थिशोथ osteoperiostitis 380
अस्थि-पेशीय osteomuscular 81
अस्थि-संरध्रता osteoporosis 99
अस्वस्थता indisposition 59

आंतर (विशेषकर उदरस्थ) अंग viscera 23, 57

आंतर रोग internal disease 18
आंतरविद internist 80
आंत्र-ऐशेरीखिया esherichia coli 149
आंत्रशोथ enteritis 138
आकुंचक तानता flexor tonus 220
आकुंचित retracted 71
आकोचनी सतह flexor surface 28, 165
आक्नित acnitis 239
आक्रांति affection 179
–, प्रकीर्णित disseminated a. 179
आक्रोचर्मशोथ, आंत्रगादिक acrodermatitis ente ropathic
आक्सीकरण oxydation
आगरण intoxication 98
आचारशास्त्र, चर्मलोचनी dermatological deontology 82
आतपघात insolation 245
आतशक : सीफिलिस
आत्मसातन assimilation 50
आधान infusion 89
–, शब्द- suggestion 87
आधार-कोशिकीय basal-cellular 230
आधारभूमि basement 38
आधारार्ब basaloma 376
आधारीय झिल्ली basement membrane 31
आनुवंशिकता heredity 39
आयन-विनिमायक दूध ion-exchanger milk 110
आयुर medicine
आयुरविज्ञान medical seiences 85
आयुर-वृत्त medical history 73
आरोगिक hygienic 81
आरोगिकी hygiene
आरोग्यशाला dispensary 24
आरोही चरण progressive stage
आलवेओलिक alveolar 147
आवर्ती recurrent 25, 63
आविर्नकल phenocopy 255
आस्कोकवकता ascomycosis 206
इंपेतिग impetiginous
– क्षति i. lesion 127
– स्फोट i. eruptions 149
इंपेतिगीकरण impetiginisation 197
इंपेतिगो impetigo 67
–, छुतहा i. contagiosa 150
–, नख-पुटकों का 145
–, पिटकीय सीफिलवत papular syphiloid i. 146
–, बुल्लेदार i. bullosa 145
– –नवजात में i. b. neonatorum 143
–, वलयाकार (गोल) i. annular (circinata) 144
–, सामान्य i. vulgaris 150
–, स्ताफिलोकोकी staphylococcal i. 126
–, स्ताफिलोजनित i. staphylogenes 126
–, स्त्रेप्तोकोकी streptococcal i. 144
–, स्त्रेप्तो-स्ताफिलोजनित i. strepto-staphylogenes 150
इतरित अभिगम differentiated approach
–क. differentiate 71
इमूनता, अपूर्ण imperfect immunity 40
–, जन्मजात congenital i. 51
इमूनन immunisation 21
इमूनी अभिसंजक प्रतिक्रिया की जाँच immune adhesion reaction test 79
इमूनो-जीवलोचनी गुण immunobiological properties 51
इमूनोपरोर्जिक immunoallergic 58
इमूनोलोचन immunology 25
इमूनोसंदीप्ति-परीक्षण immunofluorescence test 445
– -प्रतिक्रिया i. reaction 79

उंडुकशोथ appendicitis 58
उग्र turbulent 41
उग्रता severity 60
उग्र (तीव्र) हो . exacerbate
उच्च नार्विक कार्यशीलता higher nervous activities 52
उत्परिवर्तन mutation 255

उत्पाचक anabolic 101
उत्पाचन anabolism
उद्दीपक stimulant 81
उद्दीपन stimulation (irritation) 29
उद्दीप्यता excitability 98
उद्भिज flora 149
उप-अधिचार्म subepidermal 234
उपकला epithelium 28
उपकलार्व epithelioma 116
–, आधार-कोशिकीय bosal-cell e. 376
–, कंटकोशिकीय e. spinocellulare 378
उपकलावत कोशिका epitheloid cell 54
उपकलीय epithelial 54
– प्रवर्ध e. process 27
उपक्वाथ (उबलता पानी ढाल कर सत्त्व निकालना) infusion 95
उपदंश : सीफिलिस
उपद्रव-केंद्र (आक्रांति-केंद्र) focus of affection 60, 103
उपरोध, शरीरलोचनी physiological barrier 125
उपललामिक suberythemic 94
उपास्थिक cartilaginous 219
उपशमन relieve 87, remission 74 (शैथिल्य या विमोचन)
उपशमित remitted 112
उपांग appendage 43
उपादान, कोशिकीय cell element 41

उबर-खाबर uneven 71
उरोस्थि sternum 36

ऊँचायन anion 115
ऊतक tissue 33
–, कणमय granulation t. 134
–, अधोचार्म वसीय subcutaneous fatty t. 32
– -द्रव t. fluid 35
–, योजक connective t. 33
– -रस (ऊतरस) t. juice 221
ऊतकोशिका histocyte 32, 41
ऊतगदलोचन histopathology
ऊतरसायनिक histochemical 77
ऊतरूपलोचनी परिवर्तन histomorphological changes 52
ऊतलोचन histology 26
ऊतलोचनी histological 39, 77
ऊर्जा, किरणी radiant energy 55
ऊर्णी मिक्रोस्पोर microsporum lanosum 182

ऋजु आँत rectum 307
ऋजुकारी पेशी extensor muscle 137
– सतह e. surbace 137
ऋतुकष्ठ dysmenorrhoea 245
एंटीकुष्ट antileprotic 225
एंटीजनिक सक्रियता antigenic activity 99
एओजीनोफिल eosinophil 66
एकयुग्मी monozygotic 254
एकरूपिक monomorphic 71, 333
एकल कोटरीय unilocular 143
एक्थीमा ecthyma 67
–, बेधक e. terebrance 148
–, सामान्य 147
एक्सरे x-rays 116
एक्स-संपर्की 255
एधक cambrium 28-9

ऐपगार-पैमाना Apgar scale 81

औपचारिक conditional 56
औषधजता medicamentous origin 74
औषधलोचनी pharmacological 95

कंटकोशिकाएं spinocellular 230
कंटक्लेश acanthosis 54, 150
–, काला a. nigricans 255
कंटलय acantholysis 55, 66
कंटलयक ; कंटलयिक acantholytic 80, 341

कंटशृंग (वि) लय (न) acanthokeratolysis 258
कंठ larynx 219
कंठमालचर्मता scrofuloderma 232
कंडरा tendon 273
कंडार्ब (कंडार्बुद) condyloma 15
कंडार्ब, चपटा (विस्तृत) condylomata lata 411
–, नुकीला c. acuminatum 250, 413
कंडु prurigo 16, 314
–, पर्विका-prurigo nodulares 74
कंडुक pruritic 89
कंडुकारी कुटकी itch mite 208
कटि zone
कटिका zonule
कटिबंध zone 45, 148
कठग्रंथिशोथ scleradenitis 395
–, क्षेत्रीय 404
कठचर्मता scleroderma 101, 270
–, क्रमिक s. systematica 74
–, रैखिक linear s, 272
–, परिसीमित circumscribed s.; morphoea 271
–, विसरित diffused s. 273
–, सतही superficial s. 273
कठर्मता sclerema 276
–, नवजात शिशुओं में 227
कठललामी erythema induratum 76, 237
कठव्रण hard chancre, ulcus durum 70, 401
–, अविशिष्ट atypical 402
–की क्लिष्टताएं 403
–, गलशुंडिक chancre amygdalitis 422
–, परिनख chancre-paratium 402
कठशोफ, वयस्क का scleroedema adultorum 276
कठांगुलता sclerodactylia 273
कठीला ligneous 201
कठोरन sclerosis; hardening 41, 119
कठोरमा sclerema 42
कड़ा (लोम) bristly
कण granules 29
कणमय granular 28
कणार्ति granulosis 55
कणार्ब granuloma 53
–, वलयाकार (छल्लाकार) g. annulare 80, 365
कणार्बी granulomatous 195
कणिकायन (कणीकरण) granulation 70, 152
कनार glanders 73
कणीनिकीय pupillary 429
कपाट valve 427
कफ phlegm 15
कफोणिक ulnar 219
करोर्जक surgeon 89
कर्कार्ब carcinoma 15, 194, 230
–, आधारकोशिकीय basal-cell c. 376
कर्णकुहर acoustic meatus 130
कर्णगारक ototoxic 102
कर्णपालि lobule of the ear 218
कर्णिक auricular 219
कलिलोस्मिक colloido-osmotic 125
कवक fungi
–, नरजंतुप्रेमी zooanthrophilic f. 157
–, नरप्रेमी (मानुषप्रेमी) anthropophilic f. 157
–, मोजेक mozaic f- 167
कवकज (खुमीज) रोग fungus disease 69, 157
कवकता mycosis 157
–, अंकुरी blastomycosis 152
–, खुमीवत m. fungoides 361
–, मदूरा maduromycosis 73
–, लाल rubromycosis 168
– –, गोड़ की 169
– –, नखों की 170
– –, सार्वदैहिक generalised r. 171
– –, हाथ-पैर की 170
कवकताएं mycoses 157
–, गहरी deep m. 203
कवकलोचन mycology 21
कवकस्तंभक fungistatic 194
कशेरुक vertebra 45
काँचपीडन vitropression 77

काँचरकरण hyalisation 256
काँटल spinulosa 327
कांदीदक्लेश candidiasis 193
–, अंतरंगी 199
–का निरोध 202
–का प्रयोगशालीय निदान 200
–की चिकित्सा 201
–, घर्षज चर्मशोथी intertriginous c. 194
–, चार्म cutaneous c. 195
–, नखों का 197
–, बच्चों में (कणार्बिक) 198
–, मुखकोणों का c. of mouth angles 196
–, वृहत चर्म-पुटकों का c. of large skin folds 195
–, श्लेष्मल झिल्लियों का 196
–, सतही superficial c. 195
–, सार्वदैहिक (कणार्बिक) generalised (granulomatous) c. 201
कांदीदस candids 195, 198
कादीदा candida 158
कांदीदी candidal
काउचुक caoutchouc 107
काजकर working 116
काट section 38
काय body; corpus 29, 39
–, पटलित (अस्तरित) laminated c. 34-5
कायिक रोग systemic disease 134
कारक agent
कारगरता effectiveness 74
कार्यशीलता activity
किण scar; cicatrix 65, 70
किणन cicatrisation 64
किणिक अपोषण (कुपोषण) cicatrical atrophy
किरणें, अवरक्त infrared rays 117
–, दृश्य visible r. 117
–, पराबैंगनी ultraviolet r. 117
–, बुक्की- Bucky's r. 116
किरीट crown 37
किरीटी कुंभियां 37
किलनी (किल्ली) 215
कीमुख्त shagreen 71
कीलक wart(s), verruca(e) 248
–, चौरस कैशोर्य plane juvinile w. 248
–, तलवों के v. plantares 249
–, सामान्य v. vulgaris 248
कुंडली coil 35
कुंद dull 44
कुंभायन vascularisation 51
कुंभार्ब angioma
कुंभार्बिक angiomatous 360
कुंभिक vascualar 58
–नर्वक्लेशिक शोफ angioneurotic oedema 67
–भित्ती vascular wall 63
कुंभिका vesicle 17
कुंभिकार्ब : कुंभार्ब
कुंभियां vessels 40, 62
–, रक्त-(रक्तवाही) blood v.
– लस- lymph v.
कुंभीजालिकाक्लेश, कापोजी का Kaposi-angioreticulosis 360
कुंभीप्रेरक (ीय) vasomotor
कुंभीरुग्नताएं (कुंभीरोग) angiopathies 353
कुंभीशोथ vasculitides 63, 352
–, परोर्जिक allergic v, 353
–, रक्तस्रावी haemorrhagic v. 356
कुकुरमाछी gadfly 56
कुक्रिया dysfunction
कुगठन dysorganisation
कुटकी mite; tick 57, 208
कुटाली persistent
कुणपतृण saprophyte 129, 161, 253
कुतान dystonia 118
कुपरिवर्तन alteration 53
कुपोषण dystrophy 50, 138
(कु) पोषणजनित trophic 57
कुपोषणजनित पट्टियां stria atrophica 100

कुपोषणज (कुपोषणजनित) परिवर्तन dystrophic changes 56
कुपोषज (कुपोषित) dystrophic (atrophic) 40
कुमिश्रण dyscrasia 16
कुशिंगवत्ता cushingoid 99
कुश्रृंगन dyskeratosis 55
कुष्ठ (कोढ़) leprosy 15, 216
–, अनिश्चित प्रकार के . 223
–, कुष्ठार्बिक lepromatous l. 217
–, गंठिवत tuberculoid l. 216, 222
कुष्ठार्ब leproma 65
कुष्ठाश्रम leprosaria 216
कृमि , नखों का वलयाकार ringworm of nails 166
कृमिक्लेश helmininthiasis 112
कृष्णिकांकुर melanoblast 41
कृष्णिका melanin 44
कृष्णिकावाही melanophore 41
कृश emaciated 148
कृशता emaciation 144
केंद्रिका nucleolus 54
केंद्रिकाए nucleoli 29
केब्नेर-संवृत्ति Koebners phenomenon 77
केराटोप्लास्टिक Keratoplastic 108
केशलुंचन epilation 191
केशिका capillary 62
– -जाल c. network 62
–, धमनीय arterial c. 33
–, शिरीय venous c.
केस case
कैल्सिनक्लेश calcinosis 273
कैशोर मुहासे juvenile warts 116
कैशोर्य adolescence
कोक coccus 125
कोकी उद्भिज coccal flora 125, 132
कोटर, परानासीय paranasal sinuses 204
कोटरीय locular
कोप affection 76
कोपकाल duration of affection 52
कोपक्षेत्र focus of a. 77
कोमलता tenderness
कोलफुंसी , आंथ्राक्स anthrax carbuncle 15, 133, 134
कोलाजनक्लेश collagenoses 22, 58, 262
कोलाजनीकरण collagenisation 41
कोलाजनी तंतु collagen fibres 40
कोशिका cell 79
–चर्बिल (वसीय) fat c. 16
– -पोषण trophics 115
कोशिकाजंतिकीय cytogenetic 254
कोशिकाद्रव्य cytoplasm 28
कोशिकालोचकी cytological 79
कोशिकास्तंभक cytostalic 194
कोशिकाएं आधारस्थ basal c. 32
–, कंट prickle c.
–, थुण- mast c.
–, दैत्य giant c. 54
–, द्रुमाकार dendritic c
–, प्लाज्मिक plasma c. 32
–, बल्लाकार collumnar c. 28
क्रव्यसता sarcoidosis 363
क्रव्यार्ब sarcoma 20, 378
–रक्तस्रावी , बहुलित multiple haemorrhagic s. 260
क्रियात्मक (फलनात्मक) functional 52
क्रीम cream 107
क्रोड़ core 130
क्लांति (हरारत) jaded condition 59
क्लिष्ट complicated 128
क्लिष्टता complication
–, छादिकीय menigeal c. 134
क्लोम lung
क्लोमशोथ (क्लोमसता) pneumonia 102
–, तीव्र pneumonitis 199
क्लोमिक pulminary
क्वाथ (उबाल कर निकाला हुआ सत्त्व) decoction

क्षतांकन scarification 78
क्षति lesion
–, कार्यात्मक impaired function 60
–, वलयाकार annular l. 144
क्षतिकारी (प्रभाव) damaging 44
क्षतियां lesions 16
–, अमशिकीय non-follicular l. 126
–, रूपलोचनी (द्वितीयक) secondary morphological l. 68
– –(प्राथमिक) primary m. l. 60
– – –, अंतर्स्यंदी infiltrative p. m. l. 60
– – –, रिसालु exudative p. m. l. 65
–, संतान-daughter l. 172, 236
क्षय ; क्षयित्व cachexia 98
क्षारवत alkaloid 115
क्षोभ irritation (stimulation) 29
–की अभिक्रिया action of s. 52
–, तुल्यरूपिक isomorphic i. 77
–, नार्विक nerve s. 52
–, यांत्रिक mechanical i. 67
क्षोभक (क्षोभकारी) stimulous; stimulant; irritant 17, 81
क्षोभक स्पंद stimulating impulses 52
क्षोभिता irritability 43

खंड (उंगली का) phalanx
खट्ठी crust 69
–, चट्टानी rupia 69
खनिज जलस्रोत spa 113
खमीर yeast
खमीर (खमीरज द्रव्य के अर्थ में) ferment; enzyme 29, 79
खमीरज क्षतियां yeast lesions
खमीरन fermentation 104
खमीरस levurid 195
–कवक yeast-like fungi 158
खमीरी कुक्रिया enzymatic dysfunction 63
–पैठन yeast infection 114
–रुग्नता enzymopathy 255
खर्जुक psoriatic 97, 327
–, चर्मारुणता p. erythroderma 328
खर्जूक्लेश (खर्जू ; छाजन) psoriasis 15, 322
–के अविशिष्ट प्रकार 328
–, घर्षज intertriginous p. 328
–, पीपिकीय pustular p. 328
–, संधार्त्तिक p. arthropathia 329
खल्वाटता alopecia 15
–, बुसनवत या वपास्रावी a. pityroides seu seborrhoiga 367
–, खोंतेदार a. areata 372
खाँचे furrows 26
खाज scabies 15, 208
–, अवछिन्न s. discreta 210
–, नौर्वेजियन 213
खीटीनी chitinous 214
खीरकठोरन atherosclerosis 120
खीरार्ब atheroma
खुजली itch 59
–, अन्नजीवी grain itch
–के वस्तुगत चिन्ह 59
खुमी fungi 56
खुमीज रोग fungus disease 17
खुरचन (खोदन) curettage 207, 250
खुराक, उपललामिक 94
–, जैव 117
–, बंधित dosaged 112
–, ललामिक 94, 117
खोलिनोर्जिक cholinergic 47
ख्लोआज्मा chloasma 63

गंठिक tubular 226
गंठिक आक्रांति tuberculous afbection 228
–परोर्जीकरण t. allergization 227
गंठिका tubercle 61, 64
गंठिक्लेश (गंठिकाक्लेश ; यक्ष्मा) tuberculosis 65, 76

–, चर्म-skin t. 226
–, पिटकमृतिक t. papulonecrotica 138
–, वर्जरिक miliary t. 78
–, वृकीय चार्म t. cutis luposa 228
–, शैवाकवत lichenoid t. 238
–, संगलक t. colliquativa 65, 78, 136
गजी gauze 104
गठनात्मक constitutional 16, 39
गड़बड़ियां disorders 123
गदजनक (रोगकारी) pathogenic 86
–जीवाणु p. microbes 56
गदजनकता pathogenicity 125
गदजनन pathogenesis 25, 55
गदलोचन pathology 18
गदलोचनी प्रक्रिया pathoological process 70
गदस्वांग pathomimesis 76
गदो-अनाटोमिक patho-anatomic 394
गदोचीनक pathognomonic 170, 258
गदोतलोचनी परिवर्तन pathohistological changes 53
गदोस्थैतिक morbidostatic 98
गनोरिक गुदाशोथ gonorrhoeal proctitis 463
–ग्रसनीशोथ g. pharyngitis 463
–पैठन, प्रकीर्णित g. disseminated infection 464
गनोरिया gonorrhoca 455
–का निदान 465
–की चिकित्सा 466
गरमी syphilis
गरल toxin 66, 95
गरणकारी (गारक) toxic substances 47
गरलक्लेश (गरण, गरणता) toxicosis 80, 130
गरलताजनित चर्मकृष्णिका toxic melanoderma 300
गराक्रांति intoxication; intoxicosis 98
गरारा gargle 246
गर्त्त fossa
गर्भलोम lanugo 42
गर्भस्थ जीवन intrauterine life 40
गलशुंडी (तुंडिशोथ) tonsilitis 58
–, कवकज mycotic t. 196
–, मशिकीय follicular t. 196
गहन कीट tinea profunda 74
गाद silt 121
गादिक morbid 19, 51
गादिकता morbidity 169
गाह-चिकित्सा balneotherapy
गाहन (अंग को द्रव में डुबा कर स्नान) balneum
गाह्य (स्नान लायक) balneal 120
गुंफ plexus 33
–, धमनीय arterial p. 33
–, लसकुंभियों का lymphatic p. 33
–, शिरीय venous p. 33
गुच्छकवकता botryomycosis 150
गुच्छिका-रोधक ganglion blocking 89
गुठ्ठल नाक rhinophyme 74
गुदा (पृष्ठद्वार) anus 43
गुर्दक्लेश nephrosis 120
गुलाबिका roseola 62
गुलिका granule 29
गुल्म tumor 60
–, दुर्दम malignant t. 57
गुल्मवत मुंहासा acne keloid 74
गेंदा marigold
गोड़ feet
गोलियां granule 29
गोल्गी-माजोनी काय Golgi-Mazzoni bodies 35
ग्रंथि gland 26, 36
–, अंतस्रावी endocrine g. 59
–, अधिवृक्क-वल्कुटी adrenocortical g.
–, अपस्रावी apocrine g. 36, 42
–, जनन- gonad; sex g. 37
–, टायजन- Tyson g. 36
–, ढालवत thyroid g. 373
–, पराढालवत parathyroid g. 98, 373
–, पीयुष pituitary g. 48, 57
–, पुरस्थ prostate g.

–, पूर्णस्रावी holocrine g. 36
–, माइबोमी Meibomi g. 36
–, वपाल sebaceous g. 16, 33, 35
–, विस्रावी eccrine g. 36
–, स्वेदक (स्वेद-) sweat g. 16, 33, 35.
ग्रंथिकोशिकाएं glandulocytes 36
ग्रंथिल उपकरण glandular apparatus 35
ग्रासनली oesophagus; pharynx 261
ग्वाल-पर्विकाएं milker's nodules 303
घटक factor 52
घट्ठा callus 56
घनवत cuboid 29
घनापन consistency 61
घर्षज चर्मशोथ intertrigo 162
घर्षज चर्मशोथीय intertriginous 165
घर्षण friction 43
घाई, पश्च-केंद्रीय post-central gyrus 46
घुंडी, क्राउज की Krause's bulb 34
घुच्ची collete 69
घेराबेदी (घेराव) blockade 136, 247
घोल solution 89
चंद्रक lunula 39
चकत्ता plaque 64
चकतीनुमा discoid
चक्कर dizziness 89
चरण stage
चरणगत थेरापी stage therapy 143
चर्बी fat 32
चर्बिल falty 32
–कोशिकाएं fat cells 32
–लुंडिकाएं fat lobules 32
चर्म (चमड़ी) cutis; skin 26
– -अर्बुद s. tumours 376
–और केंद्रीय नर्वतंत्र 50
– –द्रव्य-विनिमय 48
–के कार्य (बच्चों में) 51
– –गहन अंग 32
– –रक्षी कार्य protective functions of s. 43
– –विसर्ज कार्य (excretory f.) 46
– -क्षतियों का चित्रण 76
– -खुजली s. pruritus 307
– -चिकित्सा के सिद्धांत 85
–ज्ञानेंद्रिय के रूप में 44
–द्वारा श्वसन (respiration) 4
– -पट्टिका skin fascia 32
– -वर्णकता की गड़बड़ियां 374
– -हाइजिन s. hygine 113
चर्मकंठमाल scrofuloderma 65
चर्मकठोरन scleroderma 21, 42
चर्मकवकताएं dermatomycoses 162
– :वर्गीकरण 158
चर्मकवकस dermatomycid 186
चर्मकृष्णिता, गरणकारी toxic melanoderma 73
चर्मक्लेश dermatosis 14, 17, 48, 57
–, वीरुसज 244
–, बुल्लेदार bullous d. 336
–, वर्णकीय d. pigmentosa 357
चर्मगरणता toxicodermia 74, 278, 285
चर्मग्राफी dermographia 75
चर्मजालिकता reticulodermia 359
चर्मतृण dermatophytes 158
चर्मतृणस dermatophytid 186
चर्मपूयता pyodermia; pyoderma 21, 123
–, कठव्रणरूपी chancriform p. 154
– :गदजनन pathogenesis of p. 123
–, चिरकालिक व्रण्य chronic ulcerous p. 151
– :निरोध prevention 155
– :वर्गीकरण 124-5
–, व्रण-पनपू ulcerovegetative p. 151
–, स्ताफिलोकोकी staphylococcal p. 125, 150
–, स्रेप्तोकोकी streptococcal p. 144
– :हेतुलोचन aetiology of p. 123
चर्मपेशीशोथ dermatomyositis 97, 275
चर्मपूयस pyodermatides 233
चर्मयक्ष्मा tuberculosis cutis 21, 226
–की चिकित्सा (बच्चों में) 240

– के प्रकीर्णित रूप 238
–, पिटिका-विमृतिक t. c. papulonecrotic 239
–, मसेदार t. c. verrucosa 234
–, व्रणित ulcerative t. c. 236
–, शैवाकवत t. c. lichenoides 64
–, संगलक t. c. colliquativa 232
चर्मरतिजलोचन dermato-venerology 14
चर्मरुक्षता pellagra 50, 58
चर्मरोग, गर्म देशों के 379
–, प्राक्कैंसरिक 483
चर्मरोगी का परीक्षण 72
चर्मलेख (न) (चर्मालेख), श्वेत dermatographia alba 67, 289
चर्मलोचन dermatology 15
चर्मलोचनी अवस्था dermatological status 75
चर्मशोण erysipelas 15
–, शूकर- swine e. 302
चर्मशोणवत्ता (चर्मशोणस) erysipeloid 73, 302
चर्मशोणिक erysypelatous 62
चर्मशोथ dermatitis 22, 277
–, अपशल्की, नवजात शिशु में d. exfolitiva neonatorum 141
–, औषधज drug d. 66
–, खमीरी घर्षज yeast intertrigo 194
–, गरण-परोर्जिक toxic-allergic d. 285
–, घर्षज intertrigo 69
–, तृणज phytodermatitis 281
–, परोर्जिक संसर्गज allergic contact d. 284
–, पित्तिक urticarial d 282
–, विसर्परूपी d. herpetiformis 72, 345
–, शाद्वल meadow d. 73
–, शोणरूपी scarlatiniform d. 68
–, सरल संसर्गज या कृत्रिम simple contact or artificial d. 278
–, सौर solar d. 279, 280
चर्मशुष्कता xeroderma 17, 256
–, वर्णकीय x. pigmentosum 118
चर्मशूल sore skin 279
चर्मश्विति leucoderma 68
–, मिथ्या (द्वितीयक) pseudoleucoderma 63, 160
चर्माकुर dermatomere 77
चर्माक्रांति skin affections 340
चर्मारुणता, अपशल्की erythrodermia desquamativa 371
–, मीनचर्मतावत e. ichthyosiforme 258
चर्मारुणिक erythrodermal 142
चर्मोतक skin (dermal) tissue 64
चार्म नर्व skin nerves 32
– बंधनी retinaculum cutis 32
– रक्तश्वेतन leucaemia cutis 20
चार्मशोथवत्ता (चार्मशोथस) dermatitide 86
चिंगट lobster 74
चिंचड़ी scabies mite 56
चिकनी पेशियां therapy; treatment
चिकित्सा smooth muscles 39
–, अवसंवेदीकर से 90
–, एक्स-किरणों से 116
–, ओजोसेरीत से 122
–, की भौतिकीय विधियां 115
–, नपथालान तेल से 121
–, पंक- fangotherapy; mud therapy 121
–, पराबैंगनी विकिरण से 94
–, पैराफिन से 122
–, प्रकाश- 117
–, प्रतिजीवक- 101
–, प्राकृतिक घटकों से tr. with spa factors 119
–, फोटो- phototherapy 117
–, बाह्य external tr. 103
–, बुक्की-किरणों से 116
– विद्यु- electrotherapy
–, शांतिद sedative 87
–, शीत- cryotherapy
–, सामान्य (वर्गीकरण) 86
–, सौर heliotherapy 117
–, स्थलिक topical tr. 103

–, स्वरक्त- autohaemotherapy 92
–, हर्मोनिक hormonal th. 97
चिकित्सानुशीलन medical practice 72
चित्ती macula 17, 61
–, अपशल्कनजनित m. desquamative 63
–, रक्तस्रावी (आंतर रक्तस्रावजनित) haemorrhagic m. 62
–, कुंभिक vascular m. 62
–, वर्णकित pigmented m. 60
–, वर्णिक pigmentation m. (spot) 62
चिन्ह sign
–, निकोल्सकी का धन 141
चिबुक-कोण mandibular angle
चिरकारी long-acting
–अवस्था persistent condition 128
चिरकाली chronic 21, 25
चिरस्थायी persistent 133
चिल्लड़क्लेश pediculosis
चीरा incision 135
चुचुक nipples 36
चुनन plication 351
चुभन pricking; stabbing 44, 128
चूर्ण powder 101, 103-4
चेचकसदृश varioliformis 368
चोट trauma 84
चोटकरण traumatisation 279
चोटग्रस्त हो. traumatise 87
चौरस कंडरा aponeurosis
छत्ता, सेल्सस का kerion Celci 180
छद-वलय preputial ring 403-4
छन्य वीरुस filtrate viruses 56
छादिकाशोथ meningitis 206, 436
छादिकीय menigeal 48
– -कुंभिक meningovascular
छाले thrush 196
छिटका हुआ disseminated 65
छीकनक्लेश phimosis 403
छतहा contagious 21, 139
–मोलस्क molluscum contagiosum 250
छुतहापन contagiousness
छूत contamination
छोटी शीतला chickenpox 66

जंतुक चर्मरोग dermato-zoonosis 208
जंतुक वसा animal fat
जंतिकी genetics 25
–, आयुरी medical g. 254
जंतिकीय घटक genetic factor
जंतुप्रेमी zoophilic 180
जघन pubis 43, 163
जटिलता (सहविकार ; क्लिष्टता) complication
जठर stomach 22, 58
– -रस gastric juice 77
– -व्रण gastric ulcer 97
जठरांत्र-मार्ग gastro-intestinal tract 59
जननांग genital 73
जननेंद्रियेतर extragenital 401
जनसेवा, चार्मरतिजलोचनी 472
जमघट, नियमित regular grouping 76-7
जल, कार्बनित 120
–, थेरापिक खनिज (प्रकार) 120
–, रेडोन-युक्त 121
–, सिलिकन-युक्त 121
–, हाइड्रोजन सल्फाइड से युक्त 120
जलन color 60, 128
जल-वसीय झिल्ली water-lipid mantle 51
जलशोषी hygroscopic 104
जल-स्फीति turgor 42
जलासक्ति hydrophilia
जानपदिक endemic 241
जालिका-क्रव्यार्बक्लेश reticulosarcomatosis 359
जालिकाक्लेश reticulosis 58
–, चार्म cutaneous r. 358
– –, प्राथमिक primary c. r. 359
जालिका-रक्तांकुरक्लेश reticulohaemoblaslosis 358
जालिकीय अवजनन reticular degeneration 245

जालिकोशिका reticulocyte 41
जीनचर्मक्लेश genodermatosis 254, 372
जीननकल (जीनप्रति) genocopy 255
जीवदर्शन biopsy 79
जीवदर्शी bioptic 153
जीवदर्शीय bioptical 73
जीवरसायनिक प्रक्रिया biochemical process 48
जीवलोचन biology 25
जीवलोचनी दस्ताने biological gloves 156
जीविकापरक (वृत्तिज) रोग proffessional disease 78
जूँ louse 56
जेनशिआन, बैगनी gentian violet
जेर placent
जेरिक placental 430
जैतून olive 107
जैवखुराक biodose 117
जैवमरणात्मक (जैवमृतिक) necrobioitc
जोंड-लक्षण 'probe' sign 21
ज्ञानेंद्रिय sense organ 33
ज्वर, तंद्राभ typhoid fever 62
–, शोण- scarlet f. 62
ज्वरद (ज्वरकारी; ज्वरजनक) pyrogen 91

झिरीनुमा अवकाश slit-like space 2[illegible]
झिल्ली membrane 26
–, अंत्य terminal film 412
–, विभाजक septum 65
–, श्लेष्मल mucous m. 59
– –की क्षतियां: चित्रण 76
झुर्रियां wrincles 26
झुलसन burn 279
झौंराना tan 145
झौंरिका freckles 68

टंगास्थिक, छोटी peroneal; fibular 219
टांग leg 150
टिंचर tincture
टिनबंद भोजन tinned food 73, 109
टिनबंदी, खाद्य food tinning 73
टीका, बहुसंयोजी polyvalent vaccine 202
टीकाक्लेश vaccinia 252
टीकाजनित रोग = टीकाक्लेश 113
टोंसिल tonsil 402
ठेला corn 15, 56
ठालगरलता thyrotoxicosis 118
डाकटर physician
ड्रुजेन drusen 204

तंत्रिका fibrile 41
तंतु fibre 33
तंतुकव्यार्ब fibrosarcoma 361
तंतुक्लेश fibrosis 427
तंतुवद्द विमृति fibrinoid necrosis 356
तंत्रिक (तंत्रीय, सार्वदैहिक) systemic 264
तक्कलोचनी (सीरमलोचनी) प्रतिक्रिया serological reaction 542
तक्रिका (सीरमी झिल्ली) serosa
तनावट tautness 327
तनाव रेखा tension line 351
तनुता dilution 361
तन्यता tensibility 75
तरुणाई puberty
तर्कुरूप fusiform 435
तलवा sole
तल्पक clinician 18, 57
तल्पालय clinic 17, 75
–, अनावासी ambulatory (out-patient) c. 72
तल्पिक clinical 19
– अवलोकन c. observation 46
– उपशमन c. remission 113
– चित्र c. picture 59, 72
– विशेषताएं c. characteristics 77
तल्पिकत: clinically 62
ताजगी turgor 60
तान tone 98

तानता tonus
–, पेशियों की tone of the muscles 75
तानुतंतिका tonofibrils 29
तापचालकता heat conductivity 51
ताप नियमन thermo-regulation 36
–, चर्म द्वारा 46
–, रसायनिक 46
–, स्वेदन से 46
ताप-विकिरण heat radiation 46
ताप-संवहन heat conduction 46
तापानभूति temperature sensitivity 45
ताराकृतिक stellate 71
तालमापी metronome 87
तिल lentigo; naevus 63
तीव्र acute 44
तुंडिका tonsil 204
तुंडिशोथ tonsilitis
तुल्यतानी isotonic 102
तुल्यरूपिक प्रतिक्रिया isomorphic reaction 77
तुषारण frostbite; congelation 55, 279
तूलारेमिया (तूलारी रक्ताल्पता) tularaemia 78
तेलचट greasy 114
तैल पुल्टिस oil-compress
तोरूलोसिस torulosis 206
त्रिक triad
त्रिकास्थिक sacral 211
त्रिशाखी trigeminal 247
त्रीखोमोनिक आक्रांति trichomonal affection 467
त्रेपोनेमा (मुरसूत) treponema 65
–पालीडुभ की प्रयोगशालाई पहचान 391
– –का निश्चलकरण परीक्षण 544
त्वरित क. accelerate 101

थिराव (ट) stagnation 16
थुलथुल untidy 161
थूलकोशिकाएं mastocytes 42
थेनार thenar 220
थेरापिक therapeutic 83
–उपाय t. measures 19
थेरापी therapy 82
–, वैद्युत electric t. 115

दंतक्षरण caries
दंतीय कणार्ब dental granuloma 58
दग्ध (झुलसन) burn; combustio 142, 279
–, तापीय thermal b. 55
ददौड़ा wheal 61, 67
दद्रु eczema 287
–, पयोपा- 282
दद्रुक eczematous 50
दद्रुकरण eczematisation 128, 163
दमित क. inhibit 29
दमन, रक्षी protective inhibition 52
दरक fissure 59, 68
–, गहरी rhagade 68
–, रैखिक linear f.
दवाएं (साधन ; प्रसाधन) agents, preparations
–, अपतानलयक spasmolytic a. 92
–, अवसंवेदीकारी hyposensitising a. 89
–, कवकमारक fiungicidal a. 160
–, कसैल astringent a. 104
–, तंद्रापक soporifics 87
–, दमनकारी inhibiting 92
–, दीर्घ अभिकारी long acting
–, नर्वघातक neuroplegic
–, नर्वपर्यायी neurotropic 246
–, नर्वशामक neuroleptic 92
–, निरुत्तेजक sedatives 92
–, निष्पैठक disinfectant
–, प्रतिकंडक antipruritic 105, 116
–, प्रतिखोलीनोर्जिक anticholinergic 92
–, प्रतिगारक antitoxic 89, 96
–, प्रतिजीवक antibiotics 78, 101
–, प्रतिजूड़िक (प्रतिमलेरिक) antimalerial a.
–, प्रतिशोथी anti-inflamatory 89, 105
–, प्रतिसुखंडिक antirachitic 97

–, प्रतिहिस्टामीनिक 91
–, प्रशांतकारी tranquillizer 92
–, प्रशामक sedatives 129
–, प्रसूतिक obstetric 81
–, मतिवर्धक nootropic
–, मनोद्दीपक psychostimulator
–, मनोवर्धक : दे. मतिवर्धक
–, म्लानिहर thymoleptic; antidepressant 92
–, संजीवक analeptic 92
–, स्थलिक topical 104
– –: अभिक्रिया की प्रकृति 108
दहलीज (अवसीमा) threshold 45
दागना cauterise 25
दाब pressure 62
दाहक क्षार caustic alkali 186
दिनाइ eczema 15, 287
–, अपशल्की e. squamous 289
–, इंपेतिग e. impetiginosum 289
–, उदुंबर-सदृश sycosiform e. 292
–, कंडक pruriginous e. 289
–, खुरीदार e. crustosum 289
–, गीला e. madidans 289
–, घट्टेदार e. tyloticum 289
–, चुचुक और स्तनमंडल पर 292
–, जीवाणुज microbial e. 290
–, टीकाजनित e. vaccinatum 251
–, दरकदार e. craquele 289
–, पिटकीय e. papilosum 289
–, पिटकीय-वस्तिकीय e. papulovesiculosum 289
–, पीपिकीय e. pustulosum 289
–, ललामिक erythematous e. 289
–, वपास्रावी seborroeic e. 292
–, वस्तिकीय e. vesiculosum 289
–, वारिक्सी varicose e. 291
–, वास्तविक true (idiopathic) e. 288
–, विसर्पी e. herpeticum 251
–, वृत्तिज occupational e. 301
–, सममित symmetric e. 289
–, सिक्कानुमा nummular e. 291
दिनायस eczematid 379
दीर्घकृत prolonged 87
दुग्ध-चिकित्सा lactotherapy 93
दुरूपिया dimorphous 223
दुर्दम malignant 116
दुश्चक्र viscous circle 51
दूधिया पर्पटी milk-crust 114
दूरकुंभी-विस्फारण teleangiectation 62
दूरवर्ती distal 26, 39
दृढ़-प्रत्यास्थ fism elastic 65
दृश्य visible 201
– -स्मृति visual memory 72
द्रव्यमान mass 26, 96
द्रव्य-विनिमय metabolism 25, 31
द्रमाकार dendritic 28
द्वियुग्मी (दुयुग्मी) dizygotic 254
धमसन contusion 56
धमनिकाएं arterioles 353
धमनीकठोरन arteriosclerosis 97
धमनीलयिक कुंभीशोथ arteriolytic vasculitis 355
धातुवत melalloid 115
धारा, पारप्रवेगिक diadynamic current 115
–, गैल्वेनी Galvanic c. 115
–, परावृत्तिक ultrahigh frequency c. 116
–, धारा alternating c. 116
–, स्थिर direct c. 115
धूमित smoked 109
धूसर कंद tuber cinereum 46

नत्रता (नाकशोथ) rhinitis 89
नख nail; unguis 39
–का मातृक्स matrix u. 39
नखकवकता onychomycosis 107
–, लालतृणिक rubrophytic o. 170
नखकीट tinea unguim 166
नखक्लेश onychia 170
नख-चर्मिका nail cuticle 39

नखचूण nail fold 39
नख-पुटक nail fold 147
नखलय onycholysis 170, 329
नखशोथ, लालकवकी rubromycotic onychia 170
नखश्येनता onychogryposis 329
नखसज्जा manicure 194
नखसेज nail bed 39
नखहीनता anochia 261
नखांकुर onychoblast 39
नर्व, अनुकंपी sympathetic nerve 29, 33
–, पनपू vegitative n. 33
– -कुपोषज गड़बड़ियां neurotrophic disorders 152
नर्वक्लेशिक neurotic
– प्रतिक्रिया n. reaction 62
नर्वक्लेशी अवस्थाएं neurotic states 50
नर्वगुंफ nerve plexus 33
नर्वज (नर्वजनित) neurogenic 86
नर्वतंतु nerve fibres 33
–, अभिवाही afferent n. f. 45
नर्वतंत्र nervous system 14
–, अनुकंपी sympathetic n. s. 89
–, केंद्रीय central n. s. 43
–, परानुकंपी parasympathetic n. s.
नर्व-दुर्बलता neurasthenia 118
नर्वशूल neuralgia
नर्वशूलिक वेदना neuralgic pain 134
नर्वशोथ neuritis 57
नर्वसिरा (अभिग्राहक) nerve end; receptor 33
– -उपकरण n. e. apparatus 33
–, कुंडली-सदृश coil-shaped n. e. 33
–, कोषयुक्त capsulated n. e. 33
–, कोषहीन noncapsulated n. e. 33
–, द्रुमाकार dendriform 33
नर्व-स्पंद nerve impulse 37
नर्वायन innervation 33
–, अनुकंपी sympathetic i. 76
–, कुंभीप्रेरक vasomotor i. 75
नवजनक प्रक्रिया regenerative process 50, 142
नवजनन regeneration
नवजात neonatus; newborn 40
नाकोष्ठ nasolabial 376
नाड़ा (नाभिनाल) umbilical cord 81
नाभि umbilicus 37, 81
नाभिक nucleus 54
–, छड़ाकृतिक रंजित stained rod-shaped n. 55
नाभिल umbilical
नार्व-अंतस्त्रावी गड़बड़ियां neuroendocrine disorders 63
नार्वग्राहक तंत्र (चर्म का) neuro-receptor system
नार्वग्राही उपकरण neuro-receptive apparatus 103
नार्वचर्मक्लेश neurodermatosis 22, 306
नार्वचर्मशोथ neurodermatitis 57, 309
–, परिसीमित n. circumscripta 116
नार्वप्रवेगिक neurodynamic 325
नार्वयौन neurosexual
नार्वरसीय युक्तियां neurohumoral mechanism 57
नार्विक nervous 25, 59
नासाग्रसनी nasopharynx 75
नासा-सेतु bridge of the nose 266
नासूर fistula 136
निःशल्कन scaling 142
निकटवर्ती proximal 39
निकास-नली draing duct 37
निक्षेप deposits 100
निछुरी किनारियां scrappy edges 153
निदान diagnosis 25, 66
–, प्रदीप्ति luminescence d. 162
–, विभेदक differential 128
निदानिक diagnostic 59
निदानित diagnosed 86
निद्रालुता somnolence 152
निमित्त कारण cousative agent 129
निम्नाण्विक low molecular

नियंत्रणकारी regulating 45
नियमन regulating 45
नियामक regulating 115
– प्रभाव r. effect 43
निरंज albino 63
निरंजता albinism 63
निरूपण (विरचन) formation 40
निरोगन healing 130
निरोगालय sanatorium; health resort 119
निरोध prevention; profylaxis 25, 109
निरोधक prophylactic 18
निर्कणन degranulation 79
निर्कणिलता agranulocytosis 103
निर्गारक detoxicating 95
निर्जलीकरण dehydration 147
निर्तंतुकृत defibrinated 264
निर्बाक्तेरिकता dysbacteriosis 194, 199
निर्मिएलिनित demyclinated 33
– अक्षीय बेलन d. axial cylinder 35
निर्लोमक प्रभाव epilation effect
निर्लोमता, सूक्ष्मचित्तिक alopecia parvimaculata 373
निर्लोमन epilation 21, 191
निर्वणकता depigmentation 69
निर्वातजीवी anaerobic 203
निलंबन suspension 106
निलय, तृतीय third ventricle 46
निशल्कन desquamation 44
निश्चलकरण परीक्षण immobilisation test 79
निष्कीटक गण sterilising property 44
निष्क्रिय रक्त-स्कंदन परीक्षण passive haemagglutination test
निष्पंदता asphyxia 58
निष्पैठक disinfectant
निस्त्वचन excoriation 68, 69
निस्यंद्य filtrate 54, 201
निस्सार extract
निस्सारक extractive 111
निस्सृति effusion 63
निस्सृतिक्लेश ecchymosis 63
निस्स्नेहित degrease 104
निस्स्राव (रिसाव) exudate 66
नीचायन cation 115
नीलपर्यंगता acrocyanosis 58, 175
नीलाभूरा lividness 60
नेटा (नासा-स्राव) nasal smear 141
नेत्रलोचन opthalmalogy
नैसर्गिक प्लाज्मा native plasma 143
नोविकोव का घोल 156
नौवर्ध new growth; neoplasma 80, 116
न्यट्रोफिल (संज्ञा) neutrophil
न्यट्रोफील (विशेषण) neutrophile 127
पंखुड़े shoulder blades 36
पक्षाघात hemiplegia 540
पच्चीकारी-जैसा (दाग) tesselated 71
पटलिकाएं lamellar 68
पटलित laminated; stratified, 69
पट-विभाजित septate
प्रलेख prescription
पथ्य (आहार-संयम) diet 109
पनपाव vegetation 71
पनपुज vegetoneurogenous 118
– कुतान vegetodystonia 118
– क्लेश (पनपूक्लेश) vegetative neurosis 118, 123
पनपू vegetative 152
– नर्वतंत्र v. nervous system 17
पनपूनर्वता vegetoneurosis 159
पनसिका, सामान्य acne vulgaris 50
पनीरी (छेने जैसा) caseous 233
– अपघटन c. disintegration 236
– चिकनई vernix caseosa 40
पपड़ी जैसा wafer-like 69
पपनियां eye lashes 43
पयोपा (दूधमुहा) infant 40
परजीविक parasitic 56

परजीविज रोग parasitic disease 22
परजीवी parasite 103
परत layer; stratum 26
–, अवपिटिकामय subpapillary l. 32
–, आधारीय s. basale 28
–, कणमय granular l. (s. granulosum) 30
–, काँटल prickle-cell l (s. spinosum) 29
–, जालिकामय reticular l (s. reticulare) 31
–, पिटिकामय s. papillare 31
–, मालपीगी Malpighian l. 30
–, शृंगी s. corneum (horny layer) 16, 30
–, श्लेष्मल mucosal 161.
परवर्तर later 400
परवर्ती late 400
परांत्रमार्ग parenteral way 78
परांश metamere 45
परा-अपकेंद्रन ultracentrifugation 263
पराकर्णशोथ parotitis 363
पराकर्णस parotid 363
पराखर्जू, बूंदिक guttate parapsoriasis 77
परागक्लेश pollinosis 90
पराचोटज स्त्रप्तोचर्मता paratraumatic strepto-derma 149
पराचोटिल paratraumatic 290
पराछीकनक्लेश paraphimosis 403
पराटीका paravaccine 303
परापरोर्जिक para-allergic 285
पराबैंगनी किरणें ultraviolet rays 44
परामर्श consultation 80
परामशिकीय पीपिका parafollicular pustule 147
परारंज्य metachrrmatic 276
परालय paralysis 385
परावर्ध metaphysis 426
पराशृंगन parakeratosis 55
परासंवेदना paraesthesia 219
परास्राव transudate 66
परास्वन ultrasonics 247
परिकलीय perithelial
परिकुंभिक perivascular 245
परिचर्म pertderm 41
परितारिका iris
परितारिकशोथ iritis 219
परिधमनीशोथ periarteritis
परिधान dressing
परिनखशोथ paronychia 170
परिनर्व perineurium 223
परिपक्वता maturity
परिपूरक supplementary
परिरंजक paint 105
परिरंध्रशोथ periporitis 138
परिरेखा contour 39, 62
परिवर्त varients 336
परिवर्धित increased 64
परिश्वेतपटलशोथ episcleritis
परिस्पर्शन palpation 59, 77
परिहृतशोथ pericarditis
परीक्षण-विधियां, चर्मलोचनी 77
परोर्जक allergen 58, 86
परोर्जन allergy 18
परोर्जिक allergic 39
– प्रतिक्रिया a. reaction 22, 41
परोर्जीलोचक allergologist 86
पर्यस्थिका periosteum 32, 425
पर्यस्थिशोथ periostitis 380
पर्व node 133
पर्विका nodule 61, 65
पलक eyelid 36
पलकशोथ blepharitis 372
पलकांकुर blepharoblast 389
पलकों का विदार palpebral fissure 145
पल्लवन budding 158
पल्लवनरत budding 167
पशम (जघन) pubis 37
पश्च dorsal 26
– सतह d. surface 39
पांस peat 121

पाइकिन की विधि Paikin's method 156
पाद-कीट tinea pedis 72
पाद-चाप arch of the feet 165
पादप plant 90
पादिकित pediculated 251
पारगम्यता (वेधिता) permeabitity 63
पारतापन diathermy 247
परतापीय स्कंदन diathermocoagulation 201
पारदर्शन diascopy 73, 77
पारप्रवेगिक diadynamic 247
पारभासी translucent 345
पारमस्तिष्क diencephalon 47, 325
पारमेह diabetes 55, 98
पारवर्ध diaphysis 432
पारवल्गन diapedesis 357
पारश्लेषण diathesis 16, 111
पारस्राव transudate 66
पारोष्मन diathermy 116
पारोष्मस्कंदन diathermocoagulation 116
पार्विक nodal
– परिधमनीशोथ periarteritis nodosa 97
पार्विकीय nodular
पालना-छादन cradle cap 114
पाश loop 33
पिंता pinta 379
पिटक papule 17, 63
–, रिसालु exudative p. 64
–, वर्जरिक miliary p. 64
पिटकवस्किाएं papulovesicle 155
पिटकार्ब papilloma 64
पिटिकाएं papillae 33
पिटिकार्बक्लेश (पिटिकार्बता) papillomatosis 53, 335
पिटकोमृतिक papulonecrotic 70
पित्त bile 15
पित्तिक urticarial 75
पित्ती urticaria 317
–, वर्णकीय u. pigmentosa 80
पिस्सू flea 56
पीताभ yellowish 68
पीतार्त्ति cirrhosis 437
पीतार्ब xanthoma 8
पीपिका pustule 61, 67
–, वस्तिक vesiculopustule 137
पुंसज androgenis 101
पुस्ग्रंथि male sex gland
पुटक (चूण) fold 146
–, अंतरांगुलिक interdigital fold
पुनरावर्ती recurrent 117
पुरपुरा purpura 63
–, [illegible] हेनोख की 356
पुरःस्थशोथ prostatitis 462
पुरस्थार्ब adenoma of prostates 101
पुलिन strands 31
पुल्टिस compress 103
–, गीली wet dressing 105
पूग-किरीट corona glandis 403
पूगछदशोथ balanoposthitis 195, 403
पूगशोथ balanitis 403
पूछताछ (पृच्छा) anamnesis 74
पूयकोकी pyococci 151
पूयता abscess 116
पूयन suppuration 127
पूयएरोर्जस pyoallergid 155
पूयमृतिक pyonecrotic 130
पूयरक्तिल ichorous 379
पूयव्रण्य गलन pyo-ulcerous melting 152
पूयिक purulent 60
पूर्वपाती abortive 259
पूर्ववर्ती prodromal
– लक्षण p. symptom 142
पूलिकाएं fasciculi 41
–, अकांचरित non-hyalinized f. 41
पृथक क. (भेद क.) distinguish 64
पृथक्कृत isolated 44
पृष्ठद्वार anus 69

पेतेखिया petechia 63
पेर्लेख perleche 145
–, कवकज mycotic p. 196
पेशियां, चिकनी स्वैच्छिक muscles (musculi) smooth voluntary
–, लोमहर्षक m. arrectores pilorum
पेस्ट paste 103, 106
पैठज ; पैठनजनित ; पैठी infectious 86, 101
–रोग i. disease 51
पैठन infection 44
– -केंद्र focus of affection 107
–, कोणिक angulus i. 145
–, शुद्धरूपी puriform i 105
–, रोगाण- infection 58
– -स्रोत source of i. 83
पैठी infectious 22, 109
पैर lower limb 152
पोरशोथ phalangitis 435
पोषक तत्त्व trace elements 49
पोषज ; (कु)पोषणजनित trophic 50
प्रकाश-असंवेदन photodesensitisation 50
प्रकाशभीति photophobia 372
प्रकाश-संवेदन photosensttisation 264
प्रकीर्णित disseminated 118
प्रक्रिया का प्रकीर्णन dissemination of process 171
प्रक्षेप projection 54
प्रगतिमान चरण progressive state 77
प्रगामी progressive 103
प्रतिकाय antibody 42, 93
–, एंटीवीरुसी antivirus a. 245
–, एकसंयोजी monovalent a.
प्रतिकारिता reactivity 14, 39
प्रतिकार-शक्ति reactive force 141
प्रतिजन antigen 42
प्रतिजनिक संरचना antigenic structure 246
प्रतिजीवलेख (न) antibio(tico)gramm 132
प्रतिदिष्ट contraindicated 87
प्रतियक्ष्मा-टीका antituberculosis vaccine 22
प्रतिरक्षा anaphylaxia
प्रतिरक्षावत प्रतिक्रिया anaphylactoid reaction 102
प्रतिरोधिता, शरीर की organism's resistance 93
प्रतिवर्त reflex 36
–आचरण r. act 44
–, कंडराई tendon r. 75
– -कार्य r. activity 98
–, चार्म skin r. 75
– -सिद्धांत r. theory 50
प्रतिसंकेतित contraindicated 93
प्रत्यास्थ elastic 38
प्रत्यास्थता elasttcity, resilience 402
प्रत्युत्तर response 52
–, स्थानिक local r. 55
प्रदीप्ति luminiscence
प्रबल dominant 58
प्रबाहु forearm; antebrachium 36, 37, 171
प्रभामंडल nimbus
प्रमस्तिष्क-गोलार्ध cerebral hemisphere 50
प्रमस्तिष्क-मेरुक cerebrospinal 33
– –द्रव का परीक्षण
प्रमस्तिष्क-वल्कुट cerebral cortex 47
प्रमस्तिष्कीय केंद्र cerecral centre 50
प्रसंक्षित (प्रलंबित) protracted 80
प्रलिखित क. prescribe 89
प्रलेख prescription
प्रवणकारी predisposing 57, 123
–घटक p. factors 17, 135
प्रवणता predisposition 56
प्रवाह (रोग का) course 53
प्रवेगिक dynamic
–संबंध d. relations 43
प्रसव labour 80
प्रसाधन preparation 78
प्रसार spread 76
प्रसार-पथ routs of spread 55

प्रसूतिक obstetric(al) 81
प्रसूतिकी obstetrics
प्रसूति-गृह maternity home 141
प्रस्वेदिका sudamina 283
प्राक्कैंसरिक चर्मरोग precancerous skin diseases 483
सूक्ष्मप्राग्जंतु protozoon 241
प्राग्लक्षण prodrome
प्रायिक frequent 41, 82
प्रावस्था phase
प्रेर-तापन inductotherapy 335
प्रोटोप्लाज्म (आदिद्रव्य ; आदिरूप) protoplasm 39
प्लाज्मा, प्राकृतिक native plasma 93
प्लाज्माक्लेश plasmosis 409
प्लाज्मिक कोशिकाएं plasma cells 54
प्लास्टर plaster 103, 107
प्लीहा spleen 75
प्लीहावर्धन splenomegaly 417
प्लूराशोथ pleurisy 267
प्लैट (पुलिंग) : पत्तर
प्लेट (स्त्रीलिंग) : तश्तरी 116
प्लेवाशोथ (क्लोमछदशोथ)

फटाव crack 142
फलन, स्थैतिक static function 81
फलनात्मक functional 39, 52
फिब्रिनवत fibrinoid
फिरंग रोग syphilis
फुंसी furuncle; furunculus; boil 129
फुंसीक्लेश furunculosis 15, 57, 129, 131
फुरेरी ; सींक probe 16
फलायमान अवजनन ballooning degeneration 66
फोड़िया vesicle 32
फोलीक्लिस folliclis 239
फांब्रेजिया (न्युपदंश) 380
फ्लिक्तेना phlyctena 67
फ्लेबोतोमा-दंश phlebotoderma 73

बच्चों का परीक्षण 80
बफरी क्षमता buffer capacity 48
बरुनियां cyelashes 43
बलवर्धक invigorating 148
बहिरंकुर ectoblast 26
बहिर्चर्म ectoderm 26, 40
बहिर्जनित exogenous 15
बहुकक्षीय multilocular 165
बहुकठग्रंथिशोथ polyscleradenitis 436
बहुकुवर्धक polydysplastic 261
बहुचक्रीय polycyclic 245
बहुजनन proliferation 60
बहु-तंत्रिकाशोथ polyserositis 268
बहुतंत्रिशोथ polyneuritis 22
बहुनाभिकित कोशिकाएं multinucleate cells 54
बहुभुजाकार polygonal 64
बहुमारिक epidemic
बहुमारी epidemy 137
बहुमारीलोचन epidemiology
बहुरंगी versicolor 16
बहुरूपता polymorphism, pleomorphism 128, 167
बहुरूपनाभिकीय polymorphonuclear 54
— श्वेतकोशिकाएं p. leukocytes 127
बहुरूपिक pleomorphic
बहुरूपिकता polymorphism
—, मिथ्या false p. 72
—, सच्ची true p. 72
बहुलक polymer 106
बहुलकन polymerisation 29
बहुलन proliferation 53
बहुलनरत proliferative 76
बहुलसग्रंथिरुग्नता poly-adenopathy
बहुलुंडिक multilobate 293
बहुशृंगनता, टूरेन की Tourain's polykeratosis 260
बहुशक्त मूल polypotent stem 358
बहुसंयोजी polyvalent 86
बहुसंवेदीकरण polysensitisation 86, 90

बाक्तेरिक bacterial 56
– ज्वरकारी b. pyrogen 93
बाक्तेरियाभोजी bacteriophagin 90
बाक्तेरी bacteria 79
बाक्तेरीदर्शन bacterioscopy 79
बाक्तेरीलोचनी bacteriological 79
बाजरा (वर्जरी) millet 64
बाल-चर्म 39
बालपन, उत्तर early school age
–, पूर्व preschool age 40
बालुका-मक्खी sandfly 242
बाल्यग्रंथि thymus 51
बासिल, नीलपूयिक blue pus bacillus 123
–, योनिक vaginal b.; b. crassus 253
बाह्यजनित (दे. बहिर्जनित) 45
बिंदुक रक्तस्राव pin point bleeding 330
बिंदुकत दाग punctate scar
बीजिकाएं seedlings 172
बीमारी (गादिकता) morbidity 180
बुदबुदस pemphigoid 338
बुदबुदिया pemphigus 16
–, अकंटलयिक p. non-acantholytic 343
–, चिकित्सा 342
–, नवजात का, तीव्र अधिचार्म pemphigus neonatorum, acute epidermal 66
–, पनपुज p. vegetans 339
–, पर्णिक p. foliaceus 340
–, नवजात में बहुमारिक p. epidemicus ne onatorum 140
–, ललामक्लेशिक p. erythematosus 341
–, वपास्रावी p. seborrhoicus 341
–, वास्तविक p. vere (true) 336
–, सामान्य p. vulgaris 66, 337
बुदबुदियावत (बदबदस), दागी cicatrical pemphigoid 343
बुदबुदियास (बुदबुदस), बल्लेदार pemphigoid bunlosc 343
–, श्लेष्मल mucosal p. 334
बुल्ला (बड़ा फोड़ा) bulla 32, 65, 66
–, अंतरधिचार्म intraepidermal b. 66
–, अधोशृंगी subcorneal b. 66
बुल्लेदार bullous; bullosa 72
बुसन, गुलाबी pityriasis rosea 351
–, बहुरंगी p. versicolor 22, 159
–, लाल केशीय p. rubra pilaris 17
–, सरल p. simplex 145
बूंद-परीक्षण (बूंदिक परीक्षण) drop tests 22, 78
बेजेल 380
बेधक perforating; terebrans 57
बेधिता permeability 95, 121
ब्रोंखीशोथ bonchitis 198

भंगुरता fragility 95, 125
भगयोनिशोथ vulvovaginitis 195, 197
(भग-)शेफ clitoris 43
भगोष्ठ pudendal lips 26, 36
भववत्ति ontogenesis 26
भस्मप्रेमी basophil 37
भीतिक अनभूति phobic experiences 85
भूसी bran 112
भेकचर्मता phrynoderma 50
भोजनचर्या dietary regimen 371
भौगोलिक जीभ geographical tongue 197
भौंहे eyebrow 43, 63
भ्रूणरुग्नता foetopathy 255
भ्रूण-विकास embryonal development 40
भ्रूणांकुर embryonal buds 40
भ्रूणार्त्ति embryopathy 431

मज्जार्ब myeloma 359
मज्जाहीन unmedulated 40
मतली nausea 89
मतिभ्रंशता dementia 540
मतिछिन्नता schizophrenia 87
मदजनक प्रावस्था oestrogenic phase 101
मद्याभ्यस्त (मद्यप) alcohalics 148

मधुमेह diabetes mellitus 47, 49, 56, 100
मध्यकाय mesosome 389
मध्यचर्म mesoderm 40
मध्य भ्रूणचर्म mesoderm 26
मध्यस्रवा mesenchyma
– मूल का of mesenchymal origin 29
मध्यांकुर mesoblast 26-27
मनोक्लेशी प्रतिक्रिया psychotic reaction 51
मनोचिकित्सा phychiatry 87
मनोपचार (मनोथेरापी) psychotherapy 87
मफ muff 183
मलहम ointment 103, 106
–, व्हिटफील्ड का 168
मशिकाशोथ folliculitis 125-6
–, ग्रास्यक ostial f. 126
–, गहरा f. profunda 127
मसा verrucous 152
मसूर lentil 64
मसूरिका measles 62
मसूरी lenticular 64
मसृणन maceration 112, 123
मसृत macerated 167
मसेदार प्रवर्ध verrucose growths 300
मस्सा wart 15
महामारी 137
माइस्नेर-कण Meisner's corpuscles 34
माथा scalp 190
माध्यम medium 226
मानुषप्रेमी anthrophilis 176
मालारूप moniliid 195
मिएलिन ग्रावरण myelin sheath 33
मितोसन mitosis 29
– -संख्या number of mitoses 54
मितोसिक विभाजन mitotic division 41
– सूचकांक m. index 331
मिथ्याकवकता pseudomycosis 161
मिरगीनमा epileptiform
मिसेलियम mycelium 157
मीकूलीक्ज का मलहम 148
मीनचर्मता ; मीनत्व ichthyosis 30, 50, 255
–, चमकदार i. nitida 256
–, जन्मजात i. congenita 257
– –गंभीर i. c. gravis 258
– –विलंबित i. c. tarda 258
–, सरल i. simplex 256
–, सामान्य i. vulgaris 255
–, साहीनमा i histrix 256
मीनत्व (दे. मीनचर्मता) 15
मी-यक्ष्मा (यक्ष्माकारी मीकोबाक्तेरी) mycobacterium tuberculosis 226
मुहासा, लाल acne rosacea 62, 369
–, संकंदुक a. conglobata 122
–, सामान्य a. vulgaris 368
मुखमार्ग से orally
मुखलोचक stomatologist 89, 392
मुखशोथ stomatitis 50, 194
–, कोणिक angular s. 145
– -श्लेष्मला oral mucosa 66
मुहाना orifice 38
मूढ़ता idiotism 260
मूत्रनलीशोथ, ग्रगनोरिक 470
मूत्रमार्ग urethra 73
मूत्रोत्सर्जन micturition 75
मूलाधार perinium 409
मूलावरण root sheat 38
– -चर्मिका r. s. cuticle 38
मृत्यु (पूरे शरीर की) death
मृत्यु (ग्रंग, ऊतकों, कोशिकाग्रों की : विमृति) necrosis
मृदूतक parenchyma 385
मृदूतकीय parenchymatous
मृदुव्रण soft chancre 454
मेड़ें ridges 26
मेदसक्लेश lipoidosis 325
मेदुरता (मोटापा) obesity 130
मेनिस्क meniscus 35

मेरुकृषता tabes dorsalis 57, 429
मेरुखंड spinal segment 45
मेरुमज्जा medulla spinalis 47
मेरुरज्जू spinal cord 47
मेरुसुषिरता syringomyelia 57, 213
मेलानोभोजी melanophages 32
मेलानोजनन melanogenesis 373
मोटा (मेदुर) obese 26
मोमिता (मोमी चर्म) favus 15, 184
– का निरोध 192
– का सूक्ष्मदर्शी निदान 180
– की चिकित्सा 189
–, नख की 170
मौद्रिक nummular 64
मौसमलोचनी metereological

म्लानि depression 100
यकृत liver 22
यकृतशोथ hepatitis 75
यक्ष्मा (गंठिक्लेश) tuberculosis 226
यक्ष्माकारी बासिल tuberculosis bacillus 17
युक्ति mechanism 55
युग्मकरोग gametopathy 431
युतिका (नेत्र-) conjunctiva 113
युतिकाशोथ conjunctivitis 29
यूका louse 28
–, जघन की phthirus pubis 215
–, लिबास की 215
–, शरीर की 215
यूकार्त्ति pediculosis 208, 214
यूनलोचन gynaecology
यौनगदलोचनी sexopathological 82
यौन-परिपक्वता sexual maturation 37
रंग-बिरंगा (बहुरंगा) motley
रंजित stained 154
रंज्यकायिक विपथन choromosomal aberration 255
रंध्र pore 26
रंध्रशृंगिता porokeratosis 30
रक्त-अतिमधुता hyperglykaemia 123
रक्तकुंभियां (रक्तवाही कुंभियां) blood vessels
रक्तगरलता toxaemia 345
रक्तजनक haematogenous 57
रक्तपूयस pyaemid 155
रक्तमधुता glykaemia
रक्त में प्रोटीनी कुसंतुलन dysproteinaemia
रक्तश्विति leukaemia 79
रक्तसंचार blood circulation 75
– -तंत्र (बच्चों में) 42
रक्तस्फीतिज cogestive 62, 185
रक्तस्रावस haemorrhoids 413
रक्तातिरेक hyperaemia 60
रक्ताधान blood transfusion 93
रक्ताभिग्लूतन haemoagglutination 79
रक्तार्बुद haematoma 63
रक्तोत्कास (रक्तकास) haemoptysis 360
रक्तोत्पादक (रक्तसर्जक) haematopoietic 59
रक्तोत्पादन (रक्तसर्जन) haemopoiesis 95
रक्षी protective 94
रगडंबर(-ता) hysteria 87
रजतप्रेमी argyrophil 38, 131
रजोचक्र menstrual cycle 101
रजोधर्म menses; menstruation
रजोनिवृत्तिक climacteric 92
रजोरोध amenorrhoea 100
रजोस्राव menstruation 75
रतिज venereal 14
रतिजलोचक venerologist 72
रश्मिकवकता actinomycosis 152
रस humours 15
रसधानी vacuole 54
– -अवजनन vacuolar degeneralion 54
रसनाशोथ glossitis 50, 196
रसाल succulent 60, 142
रसीय humoral 119
रागात्मक अस्थिरता emotional lability 309
रागात्मकता emotional colouring 44

रालार्ब gumma 95
रालार्बिक gummatous 233
—व्रण्य क्षतियां g. ulcerative lesions 380
रिट्टर का रोग Ritter's disease 141
रिसाल oozing: exudative 17, 60
रिसाव exudation; exudate 53
रीति mettod 72
रीतलोचन methodology
रुमैटस ; रुमैटीवत rheumatoid 349, 380
रुमैटिकता rheumatism
रूपलोचन morphology 143
रूपलोचनी morphological 16, 73
—परिवर्तन m. changes 142
रूफीनी-काय Ruffini's body 34-5
रूसी branny scales; dandruff; pityriasis simplex capitis 68, 114
रेखित पेशियां musculi striated 32
रेशा (तंतु) fibre 33
रेशांकुर (तंत्वांकुर) fibroblast 32, 41
रेशार्ब fibroma 116
रेशिकाएं fibrils 389
रोंबवत rhomboid 26, 41
रोग, (अधि-) केंद्रबद्ध focal disease
—, आंतर internal d. 74
—, एडीसन- Addison's d. 57
—, कवकज fungus d. 157
—, कृशकारी emaciating d. 125
—, गोउगेरोट-ब्लूम का 357
—, जानपदिक endemic d. 137
—, जिबर्ट- Gibert's d. 351
—, ड्यूरिंग- Duhring's d. 345
—, बाजिन- Bazin's d. 237
—, बालों के 372
—, बुस्से-बुश्के का 206
—, बोरोव्स्की- Borovsky's d. 241
—, योजक ऊतकों के d. of the connective tissues 262
—, रोजेनबाख का Rosenbach's d. 302
—, लाइनर का Leiner's d. 371
—, लिंगचर्म के 471
—, वृत्तिज professional d. 73
—, शांबेर्ग का 357
—, सांयोगिक (अंतर्वर्ती ; सहवर्ती) intercurrent 144
—, हेब्रा- Hebra's disease 348
रोगमोचन (निरोगजनन) sanogenesis 55
रोगलोचनी (गदलोचनी) pathological 40
रोगवृत्त case history 73
रोगोद्भवन (गदजनन) pathogenesis 55
रोधक resistant 43
रोमकूपशोथ, आस्यक ostial folliculitis 67
रोमप्रेरक प्रतिवर्त pilomotor reflex 75
रोमल villow 71
रोमल प्रक्षेप follicular projection 77
रोहिणी diphtheria

लंछक characteristic(s) 88, 131
—रंग c. colour 65
लंछित marked; characterised 220
—करना characterise 145
लक्षण, आत्मगत subjective symptoms 59, 148
—, वस्तुगत objective. 59, 60
लक्षणशास्त्र symptomology 59
लक्षण-शामक (लक्षण-प्रधान) चिकित्सा symptomatic treatment 86
लयहीनता arhythmia 427
ललकनिया rubella 63
ललामक्लेश, क्षताकी (दागी) cicatrising erythematosis 63, 262
—, चिरकालिक क्षतांकी chronic c. e. 264
ललामिक erythematous 66
ललामी erythema 27, 62, 348
—, अपैठनजनित 348
—, क्षणिक e. fugax 62
—, पार्विक e. nodosum 73, 353
—, पैठनजनित 348

—, बहुरूप रिसाल e. exudative multiforme 348
ललौंसी erythrasma 22, 62, 161
लसकणार्बुद lymphogranuloma 78
—, जंघामूलीय l. inguinale 78
—, रतिज l. venereum 78
लसकणार्बुदक्लेश lymphogranulomatosis 194, 257, 345
लसकुंभिया (लसवाही कुंभियां) lymphatic vessels 33, 243
लसकुंभीशोथ lymphadenitis 166
लसकोशिका lymphocyte 41
लसक्रव्यार्बुद lymphosarcoma 257
लसग्रंथिरुग्नता lymphadenopathy 320
लसजनक lymphogenous 57
लसतंत्र lymphatic system
लसपर्व (लसीका-पर्व) lymph nodes 71
लसवत lymphoid 409
रसाल्पता lymphopenia
लसीका-तंत्र (लसतंत्र), चर्म का 33
लसीकीय कार्य lymphatic activities 117
लस्त flabby 125, 144
लहरदार (-शिकनदार) crimped 68
लहूचर्मक्लेश haemodermatosis 10
लाइलाज non-healing 115
लार (लाला) saliva 64
लालतृणत्व rubrophytia 168
लालाजनन salivalion 245
लाली redness; ruber 60
लिंगछद prepuce; preputial sac 26, 36, 402
लिंगछद-वपा (-स्मेग्मा) sebum praeputii (smegma) 154
लिंगपूग glans penis 36, 26
लीख; लिक्ष (-ा) nits 224
लीजोल lysol 244
लुंडित lobulated 370
लुंडिकाएं lobules 32
लुरलुरी uvula
लेइशमैनता, चार्म cutaneous leishmaniasis 241
लेइशमैनार्बुद leishmanioma 232, 241
लेप (ना) application 78
लेप-छाप impression smears 80
लोम hair 37
लोमकंद hair bulb 32, 38
लोमकवकता, काक्षिक trichomycosis axillaris 159
लोमकूप (मशिका) hair follicle 16, 33, 37-8
लोमकूपशोथ (मशिकाशोथ) folliculitis; sycosis 125-6
—, आस्यक ostial f. 125
—, परजीविज parasitic sycosis 17
लोमक्लेश trichosis
—, स्पोरज sporotrichosis 235
लोम-चर्मिका hair cuticle 38
लोम-छिद्र infundibulum of hair 38
लोम-डंठल hair shaft 38
लोमतृण trychophyton 131
—, अंतरांगुलिक t. i
—, क्रेटररूपी t. crateriforme 157
—, खड़ियानुमा t. gypsum 157
—, मोमी t. faviform 157
—, बैंगनी t. violaceum 21, 157
लोमतृणत्व trichophytosis 16, 176, 180
—का निरोध 192
—का सूक्ष्मदर्शी निदान 186
—की चिकित्सा 189
—, चिरकालिक chronic t. 177
—, जंतुप्रेमी zoophilic t. 180
—, नखों का t. unguium 177
—, शिरोवल्क का t. capitis 177
—, सतही superficial 176
लोम-पिटिकाएं hair papillae 38
लोम का मज्जा hair medulla 38
लोम-मूल hair root 38
लोम, रोमल downy hair 37
—का वल्कुट hair cortex 38
लोमस्पोरता; पार्विक trichosporosis nodosa 159
लोम-शैवाक lichen pilaris 257, 259

लोमांकुर hair bud 40
लोमांकुरित सतह villous surface 64
लोशन lotion 104
–, शेक shake lotion 105
लोहित 63

वक्रार्त्ति ankylosis 329
वत्सरिका 241, 243
वपा sebum 36
–की रसायनिक संरचना 47
वपाल ग्रंथियां sebacious glands 26
–पुटिका s. follicle 48
–मुहासा ancne sebacea 239
वपास्राव seborrhoea 26, 365
–, तैल (चिटचिटा) s. oleosa 68, 366
–, शुष्क s. sicca 366
वपास्रावस seborrhoids 267, 292
वयज age caused
वयसंगत शराक age dose
वयानुसार बचपन की अवधियां 40
वरीय लोग elderly persons 149
वर्जरिक miliary 64
वर्णक pigment 26, 29, 63
वर्णकता pigmentation 68
वर्ण-कवकता chromomycosis 207, 235
वर्णांकुरकवकता chromoblastomycosis 207
वर्तुल sphere 64
वर्तुली (वर्तुलाकार) spherical
वलनिका tourniole 145
वलय ring 131
वलयाकार annulare 118
वल्कुट, अधिवृक्कीय adrenal cortex 22, 97
वल्कुटी cortical 42
वसा, अधोचार्म subcutaneous fat 26
वसाभ lipids 48
वसालयकारी lipolytic 332
वसासम ipids; lipoids 44
वस्ति cyst 389
वस्तिका vesicle 54, 61, 65
वस्तिकायन vesiculisation 284
वाक्सीन vaccine 78
वाक्सीनता viccinia 252
वातजीवी aerobic 203
वानस्पत-रूपलोचनी botanico-morphological 18
वारिक्स varix 291
वारिक्सी varicose 76
वार्निश varnish 103, 108
विकार, मानसिक psychic disorders 100
विकिरण (ir-) radiation 117
विकिरणजनित चर्मशोथ r. dermatitis 280
विकीर्ण dispersed 111, 402
विक्षिप्ति delirium 134
विक्षोभ, मानसिक psychic disturbances 57
–, रागात्मक emotional d. 57
विक्षोभन (उग्र होना) exacerbation 99
विगलन gangrene 149, 403
विगलनक्लेश gangrenosis
विटामिन ई 96
–ए 95
–'के' 97
–डी 97
–पी 95
–बी-संकुल 96
–सी
–से चिकित्सा 94
वितान convulsion 441
विदार crack 197
विद्युकरोर्जन electrosurgery 379
विद्युद electrode 116
विद्युनिद्रा electric sleep 50, 87
विद्युप्रवहन electrophoresis 115
विद्रधि abscess; phlegmonous furuncle 130
–, पयोपा में बहुलित multiple a. of infants 137
–, मशिकीय follicular a. 180
विधान logislation
विधि law; method

विनिमय (द्रव्य-) metabolism 49
–, कार्बोहाइड्रेट- carbohydrate m. 49
–, खनिज- mineral m. 49
–, गैस- gas exchange 49
–, द्रव्य-, के उत्पाद metabolites 49
–, प्रोटीन- protein m. 49
विन्यास pattern 76
विपत्रित बुदबुदिया pemphigus foliaceus 23
विपर्यास-उद्दीपन contrast stimulation 113
विभाजनरत dividing 36
विभेद variety 145
विभेदक गणन (रक्त-गणना) differential blood count 174
विभेदन differentiation 52
विभेदित क. diffentiate
विमरण (दे. विमृति)
विमाप titre 94
विमृत क्षेत्र necrotic area 134
विमृति necrosis 69, 91
विमृतिक (सामासिक शब्दों में : -मृतिक) necrotic
विमृतिक क्रोड़ necrotic core 130
विमृतिलय necrolysis 287
विमेल (विलक्षण मेल) idiocyncrasy 58, 284
विरचन formation 98, 127
विरल scanty 256
–चर्मक्लेश rare dermatoses 476
विराम-सिंद्रोम syndrome of discontinuation 100
विरासतित inherited 256
विरासती चर्मरोग inheritable skin disease 254
विलंबित (प्रलंबित) protracted 82
delaydd 221
विलयकारी (अपचोषक) resolving 116
विवर्तन ectropion 230
विवर्ध outgrowth 330
विवाही deferent 458
विशल्की परत desquamating layer 55
विशाखन branching 34
विशाखनरत branching 28
विशिष्ट typical 185
विश्लेषक, परिसरीय peripheral analyser 52
विषमज heterogenous
विषाक्त (गरणकारी, गारक) virulent 55
विसंगति anomaly 143
विसरण diffusion 48
विसरित diffused 70
विसर्ज excretion 150
विसर्जन-पात्र (शौचनी) chamber pot 114
विसर्प herpes 15, 54
–, सरल h. simplex 245
–, कटिबंधक h. zoster 246
विसर्परूपी चमशोथ dermatitis herpetiform 79
विस्थापित displaced 75
विस्फारण dilation 62
विस्फारित dilated 46
विस्फुटी efforscence; skin rash 60
वीबेक्स vibex 63
वीरुस, छन्य filttrable virus 17, 244
वीरुसी प्रकृति virus nature 24
वृका, यक्ष्मज (सामान्य वृका) lupus tuberculosis 228
–, ललामक्लेशिक (लाल वृका) lupus erythematosus 80, 97, 232, 262
– –अवतीव्र 267
– –गहरा l. e. profundus 264
– –तीव्र (सार्वदैहिक) 266
–, विकलांगकारी l. mitilans 230
–, विव्रणित l. exulcerans 230
–, वक्कशोथी l. nephritis
–, शीतशोथी l. pernio 78
–, सामान्य l. vulgaris 21
वृकार्बु lupoma 229
वृक्क kidney 92, 97
वृक्कशोथ nephritis 120
वृक्कांटीशोथ glomerulonephritis
वृक्कार्त्ति-वृक्कशोथ nephrosonephritis 436
वृत्तांत history 74

वृत्ति profession 89
वृत्तिक occupational 112
– घटक o. factor 298
– कवकताएं 303
वृत्तिज चर्मरोग occupational skin diseases 298
– –, पैठनजनित 302
– –, भौतिकीय घटकों से 301
– –, रसायनजनित 299
– – का निरोध 305
– व्रणन o. ulceration 300
वृषण testis 393
वेदना dolor 60
वेधिता permeability 40
वैद्यज रोग iatrogenic diseases 85
व्यंजनशीलता expressivity 264
व्यतिक्रिया interaction 50
व्यतिसंबंध interrelation 186
व्यायाम, रोगहर therapeutic exercises
व्युत्पाद dirivative 101
व्रण ulcer; (ulcus) 57
–, कुपोषज trophic u. 70; 154
–, भग का तीव्र acute u. of thd vulva 253
–, सिबीरी siberian u.; anthrax 73, 101
व्रणन ulceration 69
व्रणीय ulcerative 21

शंकुल conic 125
शबल ; शबलित variegated 288
शबलचर्मता poikiloderma
शबलचर्मपेशीशोथ poikilodermatomyositis 275
शब्द-प्रवणता suggestibility 23
शब्दाधान suggestion 50
शरीरलोचन physiology 16, 40
–, चर्म का 43
शल्क scale; squame 68
शल्की scaly; squamous 38, 165
शव-गंठिका cadaver tubercle 234
शाख-संगम anastomosis 32, 405
शांतिद sedative 87
शारीर तंत्र body system 20, 74
शिरा vein 33
–, कफोणिक ulnar v. 92
– -विस्फारण vacricosis 237
शिराशोथ phlebitis 267
शिरोयूका pediculus capitis 214
शिरोवल्क scalp 42, 127, 179
शीतशोथ chilblaim 56
शुक्ताभ mother of pearl (colour) 195
शुक्तिक scalloped 172
शुष्कचर्मता xeroderma 50
शुष्कर प्रभाव drying effect 105
शूल stabbing pain 44
शृंगन keratinisation
शृंगक्षयकारी keralolytic 108, 160
शृंगार्व, वयज age keratoma 118
शृंगिका cornea 79
शृंगित keratinised 256
शृंगी horny 26
शृंगीकवकताएं keratomycoses 159
शृंगीकांच keratohyalin 30
शृंगीक्लेश (शृंगनक्लेश) keratosis 68
–, विरासती 255
शृंगीगठक keratoplastic 133
शृंगी पट्टा horny plate 39
शृंगीभवन keratinisation 28, 41, 58
शैथिल्य atony 133
शैवाक, कंठमालीय lichen scrofulosorum 238
–, कांटल l. spinosum 257
–, चौरस l. planus 19
–, नकीला l. accuminate 334
–, परिमशिकीय l. perifollicullar 334
–, मालानुमा l. moniliformis 334
–, लाल चौरस l. ruber planus 333
–, विवर्ण l. albus 334
शैवाकीकरण lichenisation 68, 71
शैशव, उत्तर nursory age 40

शोणकारी erythorgenic 125
शोथ, अतीव्र inflamation, non-acute 60
–, अवतीव्र subacute 52
–, चिरकालिक 53
–तीव्र 53, 60
–, सीरमी serous i. 54
शोथज परिवर्तन inflamatory changes 53
शोथी प्रकृति inflamatory nature 52
शोधित अल्कोहल rectified alcohal 127
शोफ oedema; swelling 53, 60
–, अंतराकोशिकीय intercellular o. 54
–, अंतर्कोशिकीय intracellular o. 54
–, श्लेष्मल myxoedema 57, 98
शोफकारी द्रव oedematous fluid 54
शोफित swollen 54, 62
श्लीपद elephantiasis 16, 58
श्लेष्मल mucous
–झिल्ली m. membrane 43
श्लेष्मला (श्लेष्मा) mucosa 36, 196
श्लेष्मावत mucoid 57
श्लेष्मिक mncosal
श्वित्र vitiligo 63, 375
श्विति leucosis 359
श्वेतकण lecocytes 29
श्वेतकोशलय (श्वेतकोशिकालय) leucocytolysis 79, 356
श्वेतकोषाल्पता परीक्षण leucopenia test 79
श्वेतकोशिकता leucocytosis 356
श्वेतकोशिका leucocytes 29, 94
श्वेतकोशिकाक्लेश leucocytosis 139
श्वेतपटलशोथ scleritis 219
श्वेतव्रण aphthae 15
श्वेतव्रणीय aphthous 415
श्वेतसिलत्व leucoplakia 197
श्वेताल्पता leucopenia

संकुल complex 18
संकेती तंत्र, द्वितीय second signalling system 50
संकोचन stenosis
–, क्रमबद्ध (क्रमाकुंचन) peristalsis
संक्षरित व्रण phagedena 403
संगलन, पूयिक purulent melting 136
संगलित fused 134
संचय (संमेल) combination 52
संजीवन resucitation 81
संत जोन की बूटी st. Tohn's wort 112
संदीप्ति fluoroscence 160
संदूषित अपरदन contaminated erosion 104
संद्रवित colliquativa 71
संधार्त्तिक arthropathic 97
संधिरोग, खर्जुक psoriatic arthropathia 117
संधिवेदना arthralgia 329
संपीडन compression 43
संपीडित compressed 39
संपुंजित agminated 136
संपूरक स्थिरण की जाँच complement fixation test 79
संप्रेरक घटक conducive factor 42
संमेल combination 202
संघात blow 43
संयत restraint 59
संरचना composition 47
संरोपण inoculation 79
संलयन coalescence 62
संलीन हो. coalesce 135
संवलित convolute 41
संवहन पथ conduction pathway 46
संवेदनाग्राही उपकरण 34 (चित्र 2)
संवेदिता sensitivity 18
–का विघटन splitting of s. 46
संवेदीकरण sensitisation 67
संवेदी तंत्र sensory system 46
–नर्व s. nerves 33
संसंजक adhesive 344
संस्रावी confluent 64
सक्रियता activeness

सक्षम competent 72
सघन (संहत) dense (compact) 39
सतही परिनखता superficial panaris 144
समज homogenous 31
समजभवन homogenisation
समन्वयकारी प्रभाव coordinating effect 43
सममित symmetrical 235
समात्मिक identical 246
सरेस glue 103
सर्पी serpiginous 152
सलवट (पुटक ; चूण) fold 26
सहनशीलता tolerance
सहलुंद conglomerate
सहवर्ती concomitant 67
सहस्रपर्णा milfoil 112
सामाजिक संवृत्ति social phenomenon 56
सामान्य अवस्था का वर्णन, रोगी की 74
सामान्यपोषी normotrophic 170
सार्वदैहिक लक्षण general symptoms 167
सिग्राटिक sciatic 57
सिंदूरी सीमा vermillion border 36
सिंद्रोम, सेनेग्रार-ऊशेर का 341
सिकोस, परजीविक parasytic sycosis 128
–, सरल s. simplex 127
–, सामान्य s. vulgaris 127
–, स्ताफिलोजनित s. staphylogenes 127
सिहरन fluctuation 135
सीनोविक synovial
सीफिलवत्ता, अपरदनोत्तर posterosive syphiloid 146
सीफिलार्ब syphiloma 391
–, प्राथमिक s. primary 401
सीफिलिक चेचक varicella syphilitica 413
सीफिलिद syphilid 409
–, गंठिकीय tubercular s. 419
–, चित्तीदार macular s. 410
–, द्वितीयक, श्लेष्मल झिल्ली की 415
–, पिटकीय papular s. 411
–, पीपिकीय pustular s. 413
–, वर्णकीय pigmentary s. 416
–, वर्णकित pigmented s. 416
सीफिलिस syphilis 14
–, अव्यक्त (गुप्त) latent s. 423
–, आंतर अंगों का 426
–, आरंभिक बाल्य 437
–का इतिहास 382
–का पैटन 392
–का प्रवाह 394
–का वर्गीकरण 399
–का हेतुलोचन 388
–, जन्मजात 429
– –का निरोध 441
– –के रूप (पयोपा में) 433
–, परवर्ती जन्मजात 438
–, द्वितीयक 407
–, तृतीयक 418
–, नर्वतंत्र का 428
–, प्राथमिक 400
–, प्रायोगिक experimental s. 393
–, भ्रूण का 432
–में इमूनता 397
–में जैर की आक्रांति 431
–में तक्रलोचनी परीक्षण 445
–में सीरमलोचनी प्रतिक्रिया 542
–, रालार्बिक gummatous s. 420
–से अस्थि-आक्रांति 425
–से संधि-आक्रांति 425
–से स्वस्थ होने के निकष 453
सीफिलिसी अधिपैठन syphilitic superinfection 397
सीफिलिसी आक्रांति, आंतर अंगों की 417
– –, गतिप्रेरक उपकरण की 417
– –, नर्वतंत्र की 417
–खल्वाटता s. alopecia 415
–गुलाबिका s. roseola 410
–चर्मश्विति s. leucoderma 416

– थेरापी 448
– पुनर्पेठन s. reinfection
– रालार्ब s. gumma 420
सीफिलोलोचन, सोवियत संघ में syphylology in the USSR 386
सीमांकित demarketed 60
सीरम (तक्र) serum 65
सीरमलोचनी (तक्रलोलोचनी) serological 77
सीरमी serous 60
– कूप s. wells 149, 172
सीरमीतंतुक serofibrinous 54
सुकुमार (छूने से पीड़ादायक) tender 417
सुकुमारता tenderness
सुखंडी rickets 81
सुखभ्रांति euphoria 100
सुखौरी atrophy 60, 220
सुग्राही susceptible 114
सुचर्म dermis; trus skin 26, 31, 33
सुचलता mobility 75
सुचार्म रजतप्रेमी तंतिकाएं dermal argyrophil fibrils 31
सुदम benign 141
सुदिष्ट (दे. सुसंकेतित)
सुन्न numb
सुप्त torpid 85
– प्रवाह t. course 147
सुरंगित undermined 204
सुरक्षात्मक restorative 51
सुल्सेन sulsen 114
सुव्यक्त pronounced 79
सुषप्त torpid 203
सुषम्ना spinal cord 47
सुसंकेत (-न) indication 93
सुसुम warm 371
सुस्पष्ट pronounced 42
सूई injection 89
सूक्ष्मतृण microflora 143
सूक्ष्मदर्शी, शुष्क तंत्र वाला dry system microscope 167
सूक्ष्मदर्शीय चित्र microscopic picture 53
सूक्ष्मशक्तिक microscalloped 197
सूक्ष्मस्पोर, ऊर्णी microsporium lanosum 157
–, जंकी m. ferrugineum 157
सूक्ष्मस्पोरता microsporosis 182
– का निरोध 192
– का सूक्ष्मदर्शी निदान 186
– की चिकित्सा 189
सूक्ष्मस्पोरन microsporia 17
सूक्ष्मस्पोरस microsporid 184
सूखना atrophy 42
सूजन swelling
सूजित swollen
सूजाक gonorrhoea 455
–, लड़कियों में 463
सूत्रण mitosis 29
सूत्रलव mitochondria 389
सूर्यातपन insolation 117
सृपक septic
सृपन sepsis 102
–, सांगोपांग general s. 51
सेज sage; salvia officinales 112
सेतुवत bridge-like 136
सोपाधिक conditional 95
सौरदग्ध sunburn 63
स्कंदकोशिका thrombocyte 101
स्कंदकोशिकाल्पता thrombocytopenia 79
स्कंदक्लेश thrombosis 100, 131, 238
स्कंदन-प्रतिक्रिया agglutination reaction 198
स्कंशिराशोथ thrombophlebitis 154
स्कंदाल्पता thrombopenia
स्कंध-मेखला shoulder girdle
स्कर्विक रक्तस्राव
स्कर्वी 50
स्कूतुला scutula 185
स्ताफिलोकोक staphylococcus 90

स्ताफिलोकोकी staphylococcal 90
स्ताफिलोचर्मता staphyloderma 129
स्त्रेप्तोकोकी अधरशोथ streptococcal cheilitis 144, 147
स्त्रेप्तोचर्मता, घर्षज intertriginous streptoderma 144, 146
–, चिराकालिक सतही विसरित chronic superficial diffused s. 149
स्थानाबद्ध localised
– नार्वचर्मशोथ l. neurodermatitis 312
– पैठन l. infection 58
स्थानाबद्धता localisation 136
स्थानिक topical 82
स्थावर stationary 103
स्थूल-पटलित macrolaminated 149
स्थूलरसना macroglossia 276
स्नान, वायु- 119
–, समुद्र- 120
स्निग्धिकाशोथ sinovttis 540
स्पंजिता spongiosis 54, 150
स्पंदी प्रकृति pulsatile nature 47
स्पर्शकोशिकाएं tactile cells 35
–, मेर्केल की Merkel's t. c. 34
स्पर्शवेदी कोशिकाएं tactile cells 35
– कण t. corpuscles 35
स्पर्शीय विश्लेषक tactile analyser 46
स्पोर spore 157
–, संधित arthrospore 188
स्पोरतृणत्व sporotrichosis 152
स्फूर्तिदायक stimulating 93
– विधि s. method 93
स्फूर्तिदायन, अविशिष्ट specific stimulation 129
–, अविशिष्ट non-specific s. 129
स्फोट eruption 59
– -क्षति erupted lesion 60
–, गंठिक tubercular e. 118
– -वितरण rash distribution 72
स्मेग्मा smegma 36
स्राव secretion 36
स्रावी कार्य, अधिचर्म का secretory function of epidermis 48
स्वकायिक autosomal 255
– प्रबल autosomo-dominant 255
स्वच्छ परत stratum lucidium 30
स्वटीका autovaccine 129
स्वनन tinnitus 428
स्वन-प्रवहन phonophoresis 117, 247
स्वपैठन autoinfection 240
स्वप्रतिकाय auto-antibody
स्वरयंत्र vocal cords 219
स्वसंरोपण autoinoculation 151
स्वस्थलिक रूप से autochthonously 360
स्वानुरूप autologous 91
स्वाप-चिकित्सा hyphotherapy 22
स्वापन hypnosis 23, 49, 87
स्वापित hypnotised 50
स्वामग्राहक proprioceptor 35
स्वारोपण self-inoculation 203
स्वावगामी प्रकार autorecessive type 250
स्वेक्षण autopsy 362
स्वेद की रसायनिक संरचना 47
स्वेदक ग्रंथियां, अपस्रावी apocrine sweat glands 47
– –, विस्रावी eccrine s. g. 47
स्वेदग्रंथिशोथ hydradenttis 116, 135
स्वेदन, अदृश्य insensible perspiration 42, 47

हँफनी dyspnoea 427
हथेली palm
हर्मोन hormone 48, 93
हर्मोनी hormonal 119
हिस्टाग्लोबूलिन 94
हिस्टामीन hystamine
हृत्कुंभिक तंत्र cardiovascular system 118
हृत्फ्लोमिक अपूर्णता cardiopulminory insufficiency 120

हृत्पेशीशोथ myocarditis 267
हेतुगदजनन aetiopathogenesis 85
हेतुताड़क aetiotropic 85
हेतुपर्ययी aetiotropic 96
हेतुलोचन, चर्मरोगों का aetiology of the skin diseases 55
हेतुलोचनी वर्गीकरण aetiological classification 17
हेब्रा-कंडु 76
हेमोसीडेरिनक्लेश haemosiderosis 68